WWW.GRADESETTER.COM

भारती भवन (पी एण्ड डी)

प्रतियोगिता दर्पण

राजनीतिक सिद्धान्त

गाँधीजी राय

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

राजनीतिक सिद्धांत

[POLITICAL THEORY]

(भारत के सभी विश्वविद्यालय के लिए)

गाँधीजी राय
एम०ए०, बी०एल०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०
पूर्व प्रधानाचार्य, महाराजा कॉलेज, आरा
वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, (बिहार)
[पूर्व यूनिवर्सिटी प्रोफेसर, स्नातकोत्तर राजनीतिशास्त्र विभाग
मगध विश्वविद्यालय केंद्र, आरा (बिहार)]

पूर्णत: संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

भारती भवन
पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स

KRISHNA BOOK
WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

भारती भवन (पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स)

पटना— ठाकुरबाड़ी रोड, पटना-800 003
नई दिल्ली— 4271/3 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002
नोएडा— ए-61 बी/2 सेक्टर 63, नोएडा-201 307
कोलकाता— 10 राजा सुबोध मल्लिक स्क्वेअर, कोलकाता-700 013
बेंगलुरु— नं॰ 98 सिरसी सर्किल, मैसूर रोड, बेंगलुरु-560 018

© लेखक

द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण 1994
पुनःमुद्रण 2019

राजनीतिक सिद्धांत
बी॰ बी॰ प्रिंटर्स, पटना-800 006 द्वारा मुद्रित

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

आमुख

राजनीतिक सिद्धांत का यह तृतीय संस्करण **त्रिवर्षीय स्नातक स्तर** (Three-years' Degree Course) के नए पाठ्यक्रम पर आधृत **पार्ट-I** के सामान्य (General), पूरक (Subsidiary) एवं ऑनर्स (Honours) के छात्रों तथा अन्य भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है। विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठनेवाले छात्रों के लिए भी यह पुस्तक उपयोगी बनी रहे, इसका ध्यान रखा गया है। पुस्तक में भरपूर सामग्री देकर बाजार में उपलब्ध पुस्तकों की कमियों को पूरा किया गया है। हिंदी में राजनीतिक सिद्धांत के मानक ग्रंथ के रूप में राजनीतिक सिद्धांत से संबद्ध समस्याओं को सहज भाषा-शैली में तमाम तथ्यों का न्यायसंगत विश्लेषण ही इस पुस्तक की पहचान है।

राजनीतिशास्त्र एक नए अनुशासन के रूप में विगत वर्षों में अपनी पहचान बनाने में लगा है। इसीको संदर्भ में रखकर राजनीतिक सिद्धांत के अध्येताओं को पुस्तक के प्रथम अध्याय में ही 'राजनीति क्या है?' की जानकारी दी गई है। इसके अंतर्गत राजनीति के कुछ मौलिक प्रश्नों की तार्किक विवेचना की गई है। राजनीति का उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण का परिचय पुस्तक के द्वितीय अध्याय में कराया गया है। इसी कड़ी में राजनीतिशास्त्र की परंपरागत प्रकृति एवं क्षेत्र की जानकारी तीसरे अध्याय में दी गई है। कुछ लोगों ने राजनीतिशास्त्र को विज्ञान का दर्जा देने का हरसंभव प्रयास किया है। अब भी राजनीतिशास्त्र एक कला है और एक कला के रूप में ही इस अनुशासन का दिनोंदिन विकास हो रहा है। इस रूप में राजनीतिशास्त्र का विश्लेषण कर भावी राजनीतिक समस्याओं का समाधान संभव है। राजनीतिशास्त्र के विज्ञान होने और नहीं होने के परस्परविरोधी तर्कों से बचने के लिए ही एक वर्ग ने इसे विज्ञान और कला दोनों मानकर इसकी अध्ययन की उपयोगिता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि एक स्वतंत्र अध्याय में आधुनिक राजनीतिशास्त्र की दिशाओं तथा उदीयमान प्रमुख धाराओं का वर्णन कर परंपरागत और आधुनिक राजनीतिशास्त्र में संबंध दर्शाया गया है। कोई भी विषय अकेले अपनी पूर्णता का दावा नहीं कर सकता। इसी ख्याल से राजनीतिशास्त्र का अन्य सामाजिकशास्त्रों से संबंध बताकर अंतरअनुशासनात्मक दृष्टिकोण की विवेचना की गई है। किस तरह यह अनुशासन अपनी विभिन्न अध्ययन-पद्धतियों के साथ अपनी पूर्णता को सिद्ध कर रहा है, यह वर्णन इसके अध्ययन की प्रमुख प्रणालियों के अंतर्गत किया गया है। बात चाहे जो भी हो, राजनीतिशास्त्र का प्रारंभ और अंत राज्य के साथ होता है और कोई राज्य सरकार के बिना अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए, एक स्वतंत्र अध्याय में राज्य और उसके मूल तत्त्वों तथा सरकार के साथ इसके संबंधों की चर्चा की गई है। राज्य के स्वरूप को लेकर आज राजनीतिशास्त्र के विद्वानों में काफी मत-भिन्नताएँ हैं और राज्य एक साध्य है या साधन, यह विवाद का विषय बना हुआ है। ऐसी मतभिन्नता और विवाद का समाधान इस पुस्तक में किया गया है। इसी प्रकार, राज्य के उदारवादी, समाजवादी एवं लोक-कल्याणकारी कार्यों की आलोचनात्मक व्याख्या कर आधुनिक राज्य के प्रमुख दायित्वों से छात्रों को परिचित कराया गया है। राज्य-जैसी महत्तम संस्था का विकास कोई एक दिन में नहीं हुआ है। यह सदियों से संघर्षमय अंतर्विरोधों का परिणाम है। इसकी गहन जानकारी आधुनिक राष्ट्र-राज्य का उदय और विकास नामक शीर्षक में दी गई है। संप्रभुता आज किसी भी राज्य की पहचान की प्रथम कसौटी है। अपने संप्रभु स्वभाव के चलते कहीं राज्य बर्बर और अत्याचारी न बन जाए, इसीलिए ऑस्टिन की अद्वैतवादी संप्रभुता का विरोध बहुलवादियों ने किया है और व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए राज्य-जैसी अन्य स्वतंत्र संस्थाओं के विकास की आवश्यकता महसूस की है।

कोई भी राज्य कानून के बिना अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता। व्यक्ति की स्वतंत्रता की माँग, समानता की आकांक्षा, राज्य के प्रति उसके न्यायसंगत अधिकार की प्राप्ति, कानून और न्याय के शासन में ही हो सकती है। इन तमाम तथ्यों की विवेचना इस पुस्तक में की गई है। न्याय का प्रशासन सही रूप में हो, इसी को ध्यान में रखकर प्रजातंत्र की विभिन्न अवधारणाओं, राजनीतिक दलों के कार्यों, दबाव-समूहों की जिम्मेवारियों तथा मताधिकार-संबंधी जनतंत्र के सिद्धांतों की चर्चा इस पुस्तक में करके इसे काफी रोचक बनाया गया है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

आधुनिक राजनीतिशास्त्र अपने अध्ययन में सही निष्कर्ष की खोज में लगा है। व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन किए बिना और राजनीतिक व्यवस्था के प्रति उसके रुझान को बताए बिना सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। इसी ध्यान से व्यवहारवादी उपागम, राजनीतिक-व्यवस्था-सिद्धांत, संरचनात्मक-कार्यात्मक उपागम, शक्ति, सत्ता, औचित्यपूर्णता एवं राजनीतिक संस्कृति की जानकारी छात्रों को दी गई है। राज्य का आदर्श क्या हो, वह कौन कार्य करे, यह अभी भी इस अनुशासन के विद्वानों में मतभेद का विषय रहा है। इसी दृष्टि से इस पुस्तक में व्यक्तिवाद, आदर्शवाद, मार्क्सवाद, विकासवादी समाजवाद, फासीवाद एवं गाँधीवाद जैसे विचारधाराओं का विश्लेषण आलोचनात्मक ढंग से करते हुए इस विषय की नई दिशाओं से छात्रों को परिचित कराने का हरसंभव प्रयास किया गया है। यह पुस्तक छात्रों तथा प्राध्यापकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगी—ऐसा मेरा विश्वास है।

जुलाई, 1998
प्रोफेसर कॉलनी
के० जी० रोड,
आरा-802301 (बिहार)

—गाँधीजी राय

GradeSetter

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

विषय-सूची

अध्याय — पृष्ठ संख्या

1. **राजनीति क्या है ?**
(What is Politics)
विषय-प्रवेश, 'राजनीति' शब्द का विभिन्नार्थक प्रयोग, प्राचीन यूनानी जगत और राजनीति, मध्ययुग और राजनीति, आधुनिक युग की राजनीति, राजनीति का वास्तविक स्वरूप, राजनीति का क्षेत्र, राजनीति के आवश्यक तत्त्व, राजनीति के कुछ मौलिक प्रश्न, राजनीति और राजनीतिशास्त्र में अंतर, प्रश्नावली। ... 1-8

2. **राजनीति का उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण**
(Liberal and Marxist Views of Politics)
विषय-प्रवेश, राजनीति का उदारवादी दृष्टिकोण, प्रारंभिक या नकारात्मक उदारवाद, आधुनिक जनतंत्रवाद, उदारवाद, नवउदारवाद या सकारात्मक उदारवाद, उदारवादी दर्शन के प्रमुख लक्षण, आलोचनाएँ, राजनीति का मार्क्सवादी दृष्टिकोण, उदारवादी दृष्टिकोण और मार्क्सवादी दृष्टिकोण में अंतर, प्रश्नावली। ... 9-18

3. **परंपरागत राजनीतिशास्त्र : प्रकृति एवं क्षेत्र**
(Traditional Political Science : Nature and Scope)
विषय-प्रवेश, परंपरागत राजनीतिशास्त्र का इतिहास, परंपरागत राजनीतिशास्त्र की परिभाषाएँ, नामकरण का अंतर, प्रकृति और क्षेत्र, राजनीतिशास्त्र का स्वरूप, राजनीतिशास्त्र विज्ञान नहीं है, राजनीतिशास्त्र का विज्ञान होने के पक्ष में तर्क, राजनीतिशास्त्र का अध्ययन एक कला के रूप में, राजनीतिशास्त्र विज्ञान और कला दोनों है, परंपरागत राजनीतिशास्त्र की विशेषताएँ, राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता, प्रश्नावली। ... 19-38

4. **आधुनिक राजनीतिशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र**
(Nature and Scope of Modern Political Science)
विषय-प्रवेश, आधुनिक राजनीतिशास्त्र का जन्म, आधुनिक राजनीतिशास्त्र की परिभाषाएँ, परंपरागत और आधुनिक विचारों का समन्वय, राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र का आधुनिक स्वरूप, आधुनिक राजनीतिशास्त्र की विषय-वस्तु, राजनीतिशास्त्र तथा अन्य विषयों में उदयीमान प्रमुख धाराएँ, आधुनिक राजनीतिशास्त्र के कुछ अन्य क्षेत्र, आधुनिक राजनीतिशास्त्र की विशेषताएँ, आधुनिक राजनीतिशास्त्र और परंपरागत राजनीतिशास्त्र में अंतर, परंपरागत और आधुनिक राजनीतिशास्त्र में संबंध, राजनीतिशास्त्र की प्रकृति का एक संपूर्ण दृष्टिकोण, राजनीतिशास्त्र का एक अनुशासन के रूप में विकास, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 39-58

5. **अंतर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण एवं राजनीतिशास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से संबंध**
(Inter-disciplinary Approach and Relation of Political Science with Other Social Sciences)
विषय-प्रवेश, अंतर-अनुशासनात्मक पद्धति क्या है ?, अंतर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण की उत्पत्ति, अंतर-अनुशासनात्मक पद्धति की विशेषताएँ, **राजनीतिशास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से संबंध**—राजनीतिशास्त्र और इतिहास, राजनीतिशास्त्र और मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र, राजनीति-

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय पृष्ठ संख्या

शास्त्र और भूगोल, राजनीतिशास्त्र और विधिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और नागरिकशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और लोकप्रशासन, निष्कर्ष और प्रश्नावली। ... 59-72

6. राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की प्रमुख प्रणालियाँ
(Principal Methods of the Study of Political Science)

विषय-प्रवेश, **अध्ययन की विभिन्न पद्धतियाँ**—प्रयोगात्मक पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, दार्शनिक पद्धति, समाजशास्त्रीय पद्धति, तुलनात्मक पद्धति, पर्यवेक्षणात्मक पद्धति, सादृश्यात्मक पद्धति, परिमाणात्मक पद्धति, मनोवैज्ञानिक पद्धति, आनुभविक पद्धति, वैज्ञानिक और व्यवहारवादी पद्धति, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 73-80

7. राज्य और उसके मूल तत्त्व
(State and its Essential Elements)

विषय-प्रवेश, राज्य का अर्थ एवं परिभाषा, **राज्य के मूल तत्त्व**—जनसंख्या, राज्य के लिए कितने भूभाग की आवश्यकता है, सरकार, संप्रभुता, आज्ञाकारिता और मान्यता, **राज्य और अन्य संस्थाओं में अंतर**—राज्य और समाज, राज्य और सरकार, राज्य और राष्ट्र, राज्य और समुदाय, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 81-93

8. राज्य की प्रकृति
(Nature of the State)

विषय-प्रवेश, वर्ग-व्यवस्था का सिद्धांत, शक्ति-व्यवस्था का सिद्धांत, कल्याणकारी व्यवस्था का सिद्धांत, व्यक्तिवादी सिद्धांत, नरम अराजकतावादी सिद्धांत, वैधानिक सिद्धांत, बहुलवादी सिद्धांत, समझौतावादी सिद्धांत, **राज्य का जैविक स्वरूप**—विकास, हरबर्ट स्पेंसर द्वारा अनुमोदित जैविक सिद्धांत, आंगिक सिद्धांत का मूल्यांकन, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 94-101

9. राज्य : साध्य-साधन विवाद
(State : Ends-Means Controversy)

विषय-प्रवेश, यूनानी विचारकों के अनुसार, औचित्य-संबंधी विभिन्न सिद्धांत, राज्य का उद्देश्य, विभिन्न विचार एवं आलोचनाएँ, आधुनिक विचारकों के अनुसार राज्य का उद्देश्य, राज्य के प्रति आज्ञाकारिता, राज्य : साध्य या साधन के रूप में, राज्य का महत्त्व, राज्य की सीमाएँ, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 102-112

10. राज्य के कार्य : उदारवाद, समाजवाद एवं लोक-कल्याणकारी राज्य
(Functions of the State : Liberalism, Socialism and Welfare State)

विषय-प्रवेश, **आधुनिक राज्यों के कार्य**, राज्य के अनिवार्य कार्य, राज्य के वैकल्पिक कार्य, **उदारवाद**—अर्थ तथा परिभाषा, उदारवाद का विकास, उदारवाद का परिशोधन तथा लोक-हितकारी राज्य की स्थापना; उदारवाद के मूल सिद्धांत, उदारवाद का मूल्यांकन, **समाजवाद**—समाजवाद की व्याख्या और परिभाषाएँ, समाजवाद का विकास, समाजवाद के आवश्यक तत्त्व, समाजवाद के गुण, समाजवाद की आलोचनाएँ, **लोक-कल्याणकारी राज्य**—लोक-कल्याणकारी राज्य का अर्थ एवं परिभाषा, लोक-कल्याणकारी राज्य की विशेषताएँ, लोक-कल्याणकारी राज्य का उद्भव तथा विकास, लोक-कल्याणकारी राज्य की समस्याएँ, समस्याओं को दूर करने के उपाय, लोक-कल्याणकारी राज्य के विरुद्ध तर्क, लोक-कल्याणकारी प्रशासन की आवश्यक शर्तें, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 113-133

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय पृष्ठ संख्या

11. आधुनिक राष्ट्र-राज्य का उदय और विकास
(Rise and Growth of Modern Nation-State)
विषय-प्रवेश, राज्य के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ, कबायली राज्य, प्राच्य साम्राज्य, यूनानी नगर-राज्य, वैदिक गणराज्य, रोमन साम्राज्य, मौर्य साम्राज्य, सामंती राज्य, राष्ट्रीय राज्य, औपनिवेशिक साम्राज्य, राज्य के विकासक्रम की विशेषताएँ, स्वतंत्र राज्यों के सुदृढ़ीकरण की समस्या, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 134-140

12. संप्रभुता-ऑस्टिन का अद्वैतवादी सिद्धांत
(Sovereignty—Austin's Monistic Theory)
विषय-प्रवेश, संप्रभुता का अर्थ एवं परिभाषाएँ, संप्रभुता का विकास—प्राचीन युग, मध्ययुग, आधुनिक युग, संप्रभुता के विभिन्न रूप, संप्रभुता की विशेषताएँ, संप्रभुता का निवास-स्थान, ऑस्टिन का संप्रभुता-सिद्धांत, ऑस्टिन के संप्रभुता-सिद्धांत की परिभाषा और व्याख्या, ऑस्टिन के सिद्धांत की आलोचनाएँ, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 141-152

13. बहुलवाद
(Pluralism)
विषय-प्रवेश, परिभाषाएँ, बहुलवाद की उत्पत्ति और विकास, बहुलवाद की मान्यताएँ, बहुलवाद के प्रमुख विचारक, बहुलवाद पर लॉस्की के विचार, लॉस्की के संप्रभुता-विषयक विचारों की आलोचना, बहुलवाद पर मैकिवर के विचार, बहुलवाद की आलोचनाएँ, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 153-163

14. कानून
(Law)
विषय-प्रवेश, कानून-संबंधी विभिन्न अवधारणाएँ, कानून का अर्थ, कानून की परिभाषा, कानून के आवश्यक तत्त्व, कानून के उद्देश्य, कानून का वर्गीकरण, कानून के स्रोत, अच्छे कानून की पहचान, कानून और नैतिकता, **कानून और स्वतंत्रता**—कानून स्वतंत्रता का बाधक है, कानून स्वतंत्रता का साधक है, कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 164-175

15. स्वतंत्रता की अवधारणा
(The Concept of Liberty)
विषय-प्रवेश, स्वतंत्रता का अर्थ तथा परिभाषाएँ, स्वतंत्रता के प्रकार, स्वतंत्रता-संबंधी विभिन्न अवधारणाओं का विकास, स्वतंत्रता का नकारात्मक और सकारात्मक पहलू, स्वतंत्रता की मार्क्सवादी धारणा, स्वतंत्रता के संरक्षण, **कानून और स्वतंत्रता में संबंध**—कानून स्वतंत्रता का बाधक है, कानून स्वतंत्रता का साधक है, कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 176-187

16. समानता की अवधारणा
(The Concept of Equality)
विषय-प्रवेश, समानता का अर्थ एवं परिभाषा, समानता के विभिन्न रूप, समानता की अवधारणा का विकास, समानता की कानूनी व्याख्या, समानता की राजनीतिक व्याख्या, समानता के सामाजिक तथा आर्थिक पक्ष, स्वतंत्रता और समानता में संबंध, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 188-195

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय पृष्ठ संख्या

17. **अधिकार और उसके सिद्धांत**
(Rights and its Theories)
विषय-प्रवेश, अधिकार का अर्थ एवं परिभाषाएँ, अधिकार की विशेषताएँ या आवश्यक तत्त्व, **अधिकार-संबंधी विभिन्न सिद्धांत**—नैसर्गिक या प्राकृतिक सिद्धांत, वैधानिक अधिकार का सिद्धांत, ऐतिहासिक अधिकार का सिद्धांत, लोककल्याणकारी अधिकार का सिद्धांत, आदर्शवादी अधिकार-सिद्धांत, अधिकारों का वर्गीकरण, मौलिक अधिकारों का सैद्धांतिक विवेचन, अधिकारों का उदारवादी-व्यक्तिवादी सिद्धांत, लॉस्की के अधिकारवादी सिद्धांत, अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धांत, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 196-209

18. **न्याय**
(Justice)
विषय-प्रवेश, राजनीतिक चिंतन में न्याय की धारणा, न्याय का अर्थ तथा परिभाषा, न्याय के प्रकार, न्याय और कानून, न्याय और नैतिकता, न्याय का प्रशासन; न्याय का कानूनी, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक पक्ष; उत्पादन और वितरण का न्यायपूर्ण आधार क्यों हो ? स्वतंत्रता, समानता और न्याय का परस्पर संबंध—स्वतंत्रता और न्याय, समानता और न्याय, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 210-220

19. **प्रजातंत्र की शास्त्रीय, बहुलवादी, विशिष्ट वर्गीय और मार्क्सवादी धारणा**
(The classical, Pluralist, Elitist and Marxist Views of Democracy)
विषय-प्रवेश, प्रजातंत्र का अर्थ एवं परिभाषाएँ, शास्त्रीय या उदारवादी प्रजातंत्र का अर्थ, शास्त्रीय या उदारवादी प्रजातंत्र के भेद, अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र, उदारवादी प्रजातंत्र के दोष, उदारवादी प्रजातंत्र के गुण, प्रजातंत्र की सफलता की आवश्यक शर्तें, भारत में प्रजातंत्र की स्थिति, लोकतंत्र की बहुलवादी धारणा, बहुलवादी लोकतंत्र की प्रमुख बातें, **लोकतंत्र का अभिजनवादी सिद्धांत**—अर्थ एवं व्याख्या, अभिजनवर्ग की विशेषताएँ, अभिजनवर्ग के उद्देश्य, अभिजनवर्ग के कार्य, अभिजनवर्ग के प्रकार, निष्कर्ष, **लोकतंत्र की मार्क्सवादी अवधारणा**—मार्क्सवादी अवधारणा की सफलता की आवश्यक शर्तें, मार्क्सवादी लोकतंत्र की विशेषताएँ, लोकतंत्र की मार्क्सवादी अवधारणा का मूल्यांकन, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 221-240

20. **राजनीतिक दल**
(Political Parties)
विषय-प्रवेश, राजनीतिक दल की परिभाषाएँ, राजनीतिक दलों का विकास, राजनीतिक दल के आवश्यक तत्त्व, राजनीतिक दलों के निर्माण के आधार, राजनीतिक दलों के कार्य, **दल-पद्धति**—दल-पद्धति के गुण, दल-पद्धति के दोष, दल-पद्धति के दोषों को दूर करने के उपाय, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 241-249

21. **दबाव-समूह**
(Pressure Groups)
विषय-प्रवेश, दबाव-समूहों का बढ़ता महत्त्व, दबाव एवं हित-समूहों का विकास, दबाव-समूह से संबद्ध शब्दावली, हित एवं दबाव-समूह का अर्थ, परिभाषा तथा प्रकृति, दबाव-समूह तथा राजनीतिक दल, **दबाव एवं हित-समूहों का वर्गीकरण**—कार्ल फ्रैडरिक का वर्गीकरण, ऑमण्ड का वर्गीकरण, सदस्यता और साधन की दृष्टि से दबाव-समूहों का वर्गीकरण, ब्लौण्डल का वर्गीकरण, दबाव-समूहों के साधन और तरीके, दबाव-समूहों के बढ़ते हुए महत्त्व के लिए उत्तरदायी तत्त्व, दबाव-समूहों के

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

पृष्ठ संख्या

अध्याय

कार्य, दबाव-समूहों की सफलता की शर्तें, दबाव-समूहों की आलोचनाएँ : उनके भ्रष्ट तथा अलोकतांत्रिक तरीके, भारतीय दबाव-समूह की प्रकृति और पाश्चात्य दबाव-समूहों से उनकी भिन्नता के उत्तरदायी कारण, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 250-266

22. मताधिकार और प्रतिनिधित्व की पद्धतियाँ
(Franchise and Methods of Representation)

विषय-प्रवेश, प्रतिनिधित्व प्रणाली का विकास, प्रतिनिधित्व का अर्थ, प्रतिनिधित्व के विभिन्न सिद्धांत, प्रतिनिधियों की योग्यताएँ, मताधिकार का सिद्धांत, मताधिकार के लिए आवश्यक शर्तें, मताधिकार-संबंधी सिद्धांत, **वयस्क-मताधिकार**—वयस्क मताधिकार का अर्थ, वयस्क मताधिकार के पक्ष में तर्क, वयस्क मताधिकार के विपक्ष में तर्क, भारत में वयस्क मताधिकार, **महिला मताधिकार**—महिला मताधिकार के पक्ष में तर्क, महिला मताधिकार के विपक्ष में तर्क, निष्कर्ष, **निर्वाचन प्रणाली**—प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण, प्रत्यक्ष निर्वाचन के अवगुण, अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण, अप्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष, **अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की विभिन्न प्रणालियाँ**—आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली, सूची-प्रणाली, सीमित मतदान-प्रथा, संचित मतदान-प्रणाली, वैकल्पिक मत-प्रणाली, सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली, द्वितीय मतदान-प्रणाली, **पेशागत प्रतिनिधित्व**—गुण, दोष, आदर्श प्रतिनिधित्व-प्रणाली की आवश्यक शर्तें, प्रश्नावली। ... 267-287

23. व्यवहारवाद या व्यवहारवादी उपागम
(Behaviouralism or Behavioural Approach)

विषय-प्रवेश, व्यवहारवाद की उत्पत्ति के कारण, व्यवहारवाद का अर्थ एवं व्याख्या, व्यवहारवाद की विशेषताएँ, व्यवहारवाद का उद्देश्य, व्यवहारवाद की प्रविधियाँ, व्यवहारवाद की सीमाएँ, व्यवहारवाद की आलोचनाएँ, उत्तर-व्यवहारवादी क्रांति और डेविड ईस्टन, प्रश्नावली। ... 288-296

24. राजनीतिक व्यवस्था-सिद्धांत और डेविड ईस्टन
(Political System-theory and David Easton)

विषय-प्रवेश, अर्थ और परिभाषा, ईस्टन की अवधारणा का विकास, राजनीतिक व्यवस्था : अवधारणात्मक ढाँचा, डेविड ईस्टन के व्यवस्था-उपागम की विशेषताएँ, व्यवस्था-सिद्धांत का मूल्यांकन, महत्त्व, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 297-303

25. संरचनात्मक-कार्यात्मक उपागम
(Structural-functional Approach)

विषय-प्रवेश, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम की आवश्यकता, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मवाद का अर्थ, टॉलकोट पारसंस द्वारा निर्दिष्ट चार प्रकार्यात्मक आवश्यकताएँ, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम की विशेषताएँ, ऑमण्ड के विचार एवं आलोचनाएँ, डेविड ईस्टन के विचार, एप्टर के विचार, हैरी एक्सटीन द्वारा संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण एवं आलोचनाएँ, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 304-317

26. शक्ति, सत्ता, औचित्यपूर्णता एवं राजनीतिक संस्कृति
(Power, Authority, Legitimacy and Political Culture)

शक्ति की अवधारणा—विषय-प्रवेश, शक्ति का विकासात्मक दृष्टिकोण, शक्ति-अवधारणा का महत्त्व, शक्ति का अर्थ एवं व्याख्या, शक्ति के स्रोत, शक्ति के प्रकार, शक्ति-अन्वेषण के उत्तरदायी कारण, शक्ति-संबंधों के प्रकार, शक्ति-प्रयोग और सीमाएँ, शक्ति पर नियंत्रण, निष्कर्ष, **प्रभाव**—विषय-प्रवेश, प्रभाव का अर्थ एवं

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय

पृष्ठ संख्या

प्रकृति, प्रभाव के स्रोत, प्रभाव के लक्ष्य, प्रभाव-संबंधी दो विभिन्न दृष्टिकोण, प्रभाव-मापन, प्रभाव और शक्ति में अंतर और समानताएँ, प्रभाव और सत्ता, निष्कर्ष, **सत्ता**—विषय-प्रवेश, सत्ता का अर्थ, सत्ता का विकास, सत्ता की विशेषताएँ, सत्ता की प्रकृति, सत्ता के प्रकार, सत्ता के कार्य, सत्ता के आधार एवं सीमाएँ, **औचित्य-पूर्णता**—विषय-प्रवेश, औचित्यपूर्णता के स्रोत, औचित्यपूर्णता का वर्गीकरण, औचित्यपूर्णता की अवधारणा का विकास, औचित्यपूर्णता एवं राजनीतिक दायित्व, औचित्यपूर्णता की उपयोगिता, निष्कर्ष, **राजनीतिक संस्कृति**—विषय-प्रवेश, अर्थ एवं व्याख्या, संस्कृति और राजनीतिक संस्कृति का दृष्टिकोण, राजनीतिक संस्कृति के आयाम, राजनीतिक संस्कृति के रूप, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 318-336

27. **व्यक्तिवाद**
(Individualism)

विषय-प्रवेश, व्यक्तिवाद का विकास, व्यक्तिवाद की व्याख्या, व्यक्तिवादी सिद्धांत के आधार, व्यक्तिवाद की आलोचनाएँ आधुनिक व्यक्तिवाद, आधुनिक व्यक्तिवाद के विकास के उत्तरदायी कारण, आधुनिक व्यक्तिवाद के प्रणेता, आधुनिक व्यक्तिवाद की विशेषताएँ, आधुनिक व्यक्तिवाद और 19वीं शताब्दी के व्यक्तिवाद में समानता एवं अंतर, प्रश्नावली। ... 337-341

28. **आदर्शवाद**
(Idealism)

विषय-प्रवेश, आदर्शवाद की व्याख्या, आदर्शवाद का विकास, आदर्शवाद का स्वरूप, आदर्शवाद के गुण, आदर्शवाद की आलोचनाएँ, **आदर्शवादी दार्शनिक**—इमेनुअल काण्ट, फिक्टे, ब्रैडले, हीगेल, टॉमस हिल ग्रीन, बर्नार्ड बोसांक्वे, प्रश्नावली। ... 342-347

29. **मार्क्सवाद**
(Marxism)

विषय-प्रवेश, मार्क्स के पूर्ववर्ती विचारक, कार्ल मार्क्स का जीवन-परिचय, कार्ल-मार्क्स की रचनाएँ, मार्क्स के विचारों के स्रोत, मार्क्सवाद के मूल तत्त्व—द्वंद्वात्मक, **भौतिकवाद**—द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का अर्थ, जड़-प्रकृति का स्वरूप और विशेषताएँ, हीगेल और मार्क्स के द्वंद्वात्मक प्रणाली में अंतर, द्वंद्वात्मक विकास के नियम, आलोचनाएँ, **इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या**—विषय-प्रवेश, सिद्धांत की व्याख्या, आलोचनाएँ, निष्कर्ष, **वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत**—विषय-प्रवेश, अर्थ एवं अवधारणा, आलोचनाएँ, **मार्क्स की राज्य-संबंधी धारणा**—विषय-प्रवेश एवं विश्लेषण, मार्क्सवादी राज्य की विशेषताएँ, आलोचनाएँ, निष्कर्ष, **मार्क्स का मूल्य और अतिरिक्त-मूल्य का सिद्धांत**—विषय-प्रवेश एवं विश्लेषण, आलोचनात्मक मूल्यांकन, निष्कर्ष, **लेनिनवाद** —विषय-प्रवेश, लेनिनवाद मार्क्सवाद का संशोधित रूप, लेनिन की साम्राज्यवादी-पूँजीवादी विचारधारा, क्रांतिकारी मार्क्सवाद पर बल, लेनिन की दल-संबंधी धारणा, सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता, मार्क्स और लेनिन के सिद्धांतों में अंतर, निष्कर्ष, **स्टालिनवाद, माओवाद**—माओवाद के प्रमुख सिद्धांत, निष्कर्ष, **साम्यवादी सिद्धांत,** प्रश्नावली। ... 348-373

30. **विकासवादी समाजवाद**
(Evolutionary Socialism)

विषय-प्रवेश, विकासवादी समाजवाद की व्याख्या, परिभाषाएँ, **फेबियनवाद**—विषय-प्रवेश, फेबियनवाद के स्रोत, पद्धति और कार्यक्रम, फेबियनवाद और मार्क्सवाद, राजकीय समाजवाद, पुनर्विचारवाद, बर्न्सटाइन द्वारा मार्क्स की आलोचना, संसदीय

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय पृष्ठ संख्या

समाजवाद, लोकतांत्रिक समाजवाद, **प्रजातांत्रिक समाजवाद के प्रमुख प्रतिपादक**— आर० एच० टॉनी, क्लेमेंट आर० एटली, हैरोल्ड जे० लॉस्की, इवान एफ० एम० डर्विन, फ्रांसिस विलियम्स, नार्मन थॉमस, जवाहरलाल नेहरू, प्रजातांत्रिक समाजवाद के मूल सिद्धांत एवं विशेषताएँ, प्रजातांत्रिक समाजवाद के साधन, प्रजातांत्रिक समाजवाद का मूल्यांकन, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 374-390

31. फासीवाद
(Fascism)

विषय-प्रवेश, स्रोत, फासीवाद का विकास, फासीवाद का अर्थ तथा परिभाषा, फासीवाद के दार्शनिक आधार, फासीवाद की आलोचनाएँ, महत्त्व, निष्कर्ष, फासीवाद और साम्यवाद, प्रश्नावली। ... 391-399

32. गाँधीवाद
(Gandhism)

विषय-प्रवेश, गाँधीवाद क्या है ?, गाँधीजी के विचारों के स्रोत, गाँधीवाद की धार्मिक विचारधारा, महात्मा गाँधी के राजनीतिक विचार, सत्याग्रह क्या है ?, सत्याग्रह की प्रविधियाँ, सत्याग्रह के विभिन्न रूप, सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध, सत्याग्रह और युद्ध, मूल्यांकन, राज्य के प्रति दृष्टिकोण, मूल्यांकन, गाँधीजी के सामाजिक विचार, गाँधीजी के आर्थिक विचार, गाँधीवाद की आलोचनाएँ, निष्कर्ष, प्रश्नावली। ... 400-410

33. ग्रंथ-सूची
(Bibliography) ... 411-416

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 1

राजनीति क्या है ?

[WHAT IS POLITICS ?]

राजनीति नैतिकता का ही व्यापक रूप है—अर्नेस्ट बार्कर

राजनीति संभावना की कला है—बिस्मार्क

दुर्भाग्यवश राजनीति-जैसे विषय में हर आदमी अपने को माहिर समझता है, चाहे उसने इसका क्रमबद्ध अध्ययन किया हो या नहीं—जे० एच० प्राइस

विषय-प्रवेश (Introduction)

राजनीति की अवधारणा को लेकर राजनीतिशास्त्र के विद्वानों में मतभेद रहा है। इसीलिए, प्रारंभिक काल से ही यह जानने का प्रयास किया जाता रहा है कि राजनीति का असली स्वरूप क्या है, लेकिन अभी तक इस संबंध में किसी ठोस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सका है। चूँकि राजनीति की प्रकृति सदैव परिवर्तनशील रही है, इसलिए इसकी सही सीमा और परिभाषा का अभी तक निर्धारण नहीं हो पाया है। इसके वास्तविक स्वरूप की अस्पष्टता का एक कारण यह भी है कि हर व्यक्ति अपने भिन्न स्वभाव के चलते अभी तक अपने को राजनीति में दक्ष ही समझता आया है। **जे० एच० प्राइस** ने इस मत का समर्थन किया है और बताया है, "दुर्भाग्यवश राजनीति-जैसे विषय में हर आदमी अपने को माहिर समझता है, चाहे उसने इसका क्रमबद्ध अध्ययन किया हो या नहीं।"[1] राजनीति की अस्पष्टता का दूसरा कारण इसका परिवर्तनशील स्वभाव है, जिसके चलते इसकी प्रकृति और परिभाषा सदैव के लिए निर्धारित नहीं की जा सकती और इसीलिए राजनीतिशास्त्र के विद्वानों में इसके सही स्वरूप के संबंध में परस्पर विरोध बना हुआ है। राजनीति के अध्ययन के संबंध में एक अन्य दिक्कत राजनीतिक समस्याओं का निष्पक्ष दृष्टिकोण से विश्लेषण नहीं किए जाने के कारण पैदा होती है। सचमुच जो राजनीति प्रत्येक व्यक्ति के दिन-प्रतिदिन के जीवन पर किसी-न-किसी रूप में प्रभाव डालती हो तो कोई भी व्यक्ति राजनीतिक मामले के प्रति भला निष्पक्ष दृष्टिकोण कैसे रख सकता है ? चूँकि हम सभी लोग किसी-न-किसी रूप में राजनीति-रूपी जाल में उलझे हुए हैं और हमारे व्यक्तिगत दृष्टिकोण में समानता नहीं है, इसलिए राजनीति के प्रति हम सही दृष्टिकोण नहीं रख सकते।

'राजनीति' शब्द का विभिन्नार्थक प्रयोग

चूँकि राजनीति-रूपी घोड़े की लगाम किसी एक तथा निश्चित सिद्धांत के अंतर्गत नहीं है, इसलिए विभिन्न लोगों ने 'राजनीति' शब्द का प्रयोग अपने-अपने ढंग से किया है। यही कारण है कि अधिकांश विद्वानों ने वैज्ञानिक परिभाषा के खतरों से बचने के लिए इसकी कार्यकारी परिभाषा देना ही उचित समझा है। इस संबंध में एक रोमन विधिज्ञ ने कहा है, "सभी परिभाषाएँ खतरनाक हैं, क्योंकि उनका क्षेत्र पर्याप्त रूप से विस्तृत कभी नहीं होता और तथ्यों से उन्हें गलत साबित किया जा सकता है।" **एस० एल० वास्बी** ने औपचारिक परिभाषा से अधिक उपयोगी कार्यकारी परिभाषा को ही समझा है, क्योंकि उनके अनुसार, इसमें राजनीति के विभिन्न तत्त्वों को स्थान मिल सकता है और भविष्य में भी इसके विस्तार के दरवाजे खुले रह सकते हैं।[2] प्रारंभ से हो रहे राजनीति के विभिन्नार्थक प्रयोग को हम अग्रांकित रूप में स्पष्ट कर सकते हैं—

1. "Politics, unfortunately, suffers from being the one subject in which everybody considers himself an expert, whether he has made a systematic study of the subject or not."
—J. H. PRICE : *Comparative Government* (Bombay, B. I. Publications, 1974), p. 9

2. STEPHEN L. WASBY : *Political Science, The Discipline and its Dimensions* (Calcutta, Scientific Book Agency, 1970), p. 3

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्राचीन यूनानी जगत और राजनीति (Ancient Greek World and Politics)

प्राचीन यूनानी जगत के राजनीतिक दार्शनिकों ने राजनीति को एक सर्वव्यापी विषय के रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि से राजनीति एक सर्वोच्च विज्ञान (master science) है जिसमें राजनीतिक मानव, समाज, राज्य, नैतिकता, इत्यादि का सामूहिक अध्ययन होता है। मानव भले ही राजनीतिक कार्यों में सक्रिय रूप से भाग ले या तटस्थ रहे, वह राजनीति के प्रभाव से वंचित नहीं रह सकता। इसीलिए, प्राचीन यूनानी दार्शनिकों ने मानव को एक राजनीतिक प्राणी के रूप में देखा है। राजनीति के अध्ययन का प्रारंभ **प्लेटो** और **अरस्तू** की रचनाओं से होता है। इन दोनों विचारकों ने राजनीति के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया, वह आधुनिक राजनीतिक विचारकों के दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न है। **अरस्तू** ने अपने ग्रंथ का नाम **पॉलिटिक्स** *(Politics)* रखा था, जो यूनानी शब्द **पॉलिस** (Polis) से बना है और जिसका अर्थ 'नगरराज्य' होता है। उस समय नगरराज्य के हर पहलू से संबंधित विषय को राजनीति कहा गया। अरस्तू ने कहा था, "वह व्यक्ति जो समाज में नहीं रह सकता या जिसकी अपनी कोई आवश्यकता नहीं हो, क्योंकि वह अपने-आपमें पूर्ण है; अवश्य ही या तो पशु है अथवा परमात्मा।" अतः, यह स्पष्ट होता है कि यूनानी जगत में समाज या समाज से दूर रहनेवाले व्यक्ति को निम्नकोटि की श्रेणी में गिना जाता था। **पेरिक्लस** (Pericles) ने भी कहा था, "हम उस व्यक्ति को जो राज्य-कार्य में हिस्सा नहीं लेता है, न केवल हानिकारक समझते हैं, बल्कि बेकार भी मानते हैं।" लेकिन, इतना होने पर भी यूनानी जगत में राजनीति करने का अधिकार अर्थात, राजनीति में भाग लेने का अधिकार केवल नागरिकों को प्राप्त था जो राज्य के कार्य में भाग लेकर राजनीति के हकदार थे। गुलाम उत्पादक के सभी कार्यों को संपन्न करते थे, जबकि नागरिक राज्य-कार्य में लगे रहते थे। प्राचीन यूनानी दार्शनिक राजनीति के आदर्शवादी रूप को स्वीकार करते थे। अरस्तू स्वीकारता है कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। चूँकि इसका अपना अलग अस्तित्व है इसलिए मनुष्य का राज्य या समाज से अलग कोई अधिकार नहीं है।

गुलामों को राजनीति करने का कतई अधिकार नहीं था। उनका कार्य सिर्फ मालिकों, अर्थात राज्य-कार्य में भाग लेनेवाले नागरिकों की सेवा करना था। इसके साथ ही, प्लेटो और अरस्तू-जैसे यूनानी दार्शनिकों ने राजनीति के आदर्शवादी स्वरूप को भी स्वीकार किया था। **अरस्तू** ने कहा था, "राजनीति कानूनी तौर पर यह स्पष्ट करती है कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।"[1]

मध्ययुग और राजनीति (Middle Age and Politics)

मध्ययुग के प्रमुख आदर्शवादी दार्शनिकों में **संत टॉमस एक्वीनॉस, संत ऑगस्टाइन, जॉन ऑफ सेलिसबरी, दाँते, जॉन ऑफ पेरिस, मार्सीलियो ऑफ पेडुआ, विलियम ऑफ ओकम, कांट, बोसांक्वे, हीगेल** तथा **टी॰ एच॰ ग्रीन** आदि के नाम प्रमुख हैं। यूनानी राजनीतिक दार्शनिकों की तरह मध्ययुग के इन आदर्शवादी दार्शनिकों ने भी राजनीति को सार्वभौम और नैतिकतावादी माना है और कहा है कि राजनीति आदर्श और सर्वोच्च राज्य का पर्यायवाची है, जो मानव की नैतिक स्वतंत्रता की सहायता करती है।

आधुनिक युग की राजनीति (The Politics of the Modern Age)

आधुनिक राजनीतिक दार्शनिकों ने राजनीति को आदर्शवादी तथा नैतिकतावादी परिधि से अलग करने का प्रयास किया है। आधुनिक युग के विद्वानों में **जेलीनेक, सिजविक, होल्टनजडॉर्फ, ट्रीट्स्के** इत्यादि के नाम प्रमुख हैं। इन विद्वानों ने राजनीति को राज्य और सरकार से संबद्ध माना है। इनके विचारानुसार, वे सारे विषय जो राज्य और सरकार से संबद्ध हैं, राजनीति की परिधि में आ जाते हैं। इन विद्वानों के अनुसार राजनीति के निम्नलिखित दो रूप होते हैं—

1. सैद्धांतिक राजनीति (Theoretical Politics)—इसमें राज्य की आधारभूत समस्याओं का अध्ययन किया जाता है; जैसे—राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति, उद्देश्य, राजनीतिक संगठन, प्रशासन-संबंधी सिद्धांत इत्यादि।

2. व्यावहारिक तथा प्रयोगात्मक राजनीति (Practical or Applied Politics)—यह राज्य के क्रियात्मक रूप का अध्ययन करती है। यह विभिन्न सरकारों की कार्यपद्धति तथा राजनीतिक जीवन की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करती है।

फिर भी, आज की 20वीं शताब्दी में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग इतने विस्तृत अर्थ में नहीं किया जाता है। वर्तमान युग की राजनीति ने अपने को सैद्धांतिक पहलू से बिल्कुल अलग कर लिया है और इसका

1. "Politics legislates as to what we are to do and what we are to restrain from doing."—ARISTOTLE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

आधार आज पूर्णतः व्यावहारिक हो गया है। आज राजनीति यह स्पष्ट करती है कि निर्वाचन, नामजदगी तथा किसी पद पर व्यक्तिविशेष की नियुक्ति कैसे हो जाती है, अर्थात व्यावहारिक जीवन के रणकौशल में सफलता पाना ही राजनीति की एकमात्र सक्रियता है। आज की राजनीति का रूप देश, काल और परिस्थिति से प्रभावित होता है। जिस प्रकार, बंगाल की राजनीति पंजाब की राजनीति से भिन्न होती है, उसी प्रकार भारत की राजनीति चीन की राजनीति से भिन्न है। तात्पर्य है कि राजनीति समय, परिस्थिति, देश और प्रदेश के अनुसार अपना स्वरूप बदलती है।

वर्तमान युग की राजनीति का रूप भयावह हो गया है और यह भले और शरीफ लोगों के लिए नहीं रह गई है। समाज के भ्रष्ट व्यक्तियों ने आज राजनीति पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया है। चूँकि राजनीति का संबंध आज दलबंदी, शासनकला और सरकार की दैनिक गतिविधियों से है, इसलिए भले लोग आज राजनीति से तटस्थ होते जा रहे हैं। धोखाधड़ी, पैरवी, राजनीतिक हत्याओं, हड़तालों इत्यादि ने राजनीति को विषाक्त कर दिया है।

राजनीति का वास्तविक स्वरूप
(Real Nature of Politics)

राजनीति-संबंधी उपर्युक्त विवरण से राजनीति का सही चित्र हमारे सामने उपस्थित नहीं होता है, क्योंकि सभी लोगों ने अपने-अपने ढंग से राजनीति का विश्लेषण किया है। कुछ लोगों ने सर्वव्यापी मानकर इसे एक आदर्श तथा नैतिकतावादी संस्था के रूप में स्वीकार किया है, जबकि कुछ लोगों ने इसे आदर्श और सर्वोच्च राज्य का पर्यायवाची स्वीकार किया है। कुछ लोगों ने इसे एक पेशा माना है, तो कुछ लोगों ने इसे राज्य और सरकार से संबंधित विधा। लेकिन, ये सारे-के-सारे तर्क दोषपूर्ण हैं। **आर० एच० शॉल्टाऊ** ने इस संबंध में ठीक ही कहा है, "आज राजनीति वैसे प्रत्येक व्यक्ति से संबंधित है जो अपने में उत्तरदायित्व की भावना रखता है।"[1] 'आज का कोई भी व्यक्ति,' जैसा **जे० एच० प्राइस** ने कहा है, "यह दावा नहीं कर सकता कि वह राजनीति में अभिरुचि नहीं रखता है।"[2] आज राजनीति सर्वव्यापी है तथा यह शक्ति के लिए संघर्ष तथा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत में विश्वास करती है। आज का व्यक्ति इतना चालाक हो गया है कि वह प्रत्येक क्षण बैठे-बैठे राजनीति की गोटी खेलता रहता है। आज का मानव राजनीति में सोता है और राजनीति में ही जागता है। इस संबंध में **मिलर** ने ठीक ही लिखा है, "आज राजनीति समिति-कक्ष से लेकर अंतर्विभागीय बैठक तथा 'डॉग-लवर्स संघ' में भी समा गई है।"[3]

राजनीति का क्षेत्र
(Jurisdiction of Politics)

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि राजनीति का क्षेत्र काफी व्यापक है। इस संबंध में **हर्बर्ट जे० स्पिरो** का कथन सही है कि "राजनीति वह प्रक्रिया है जिसमें मानव-समुदाय अपनी समस्याओं को सुलझाता है।"[4] इसी से राजनीति का अधिक तथा व्यापक प्रभाव राज्य और उसकी विभिन्न संस्थाओं के बाहर रहता है। इसीलिए, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से 'राजनीति का अध्ययन राज्यों के बिना' प्रारंभ हो गया है। मार्क्सवादियों के 'राज्यविहीन समाज' में राजनीति का निवास है। राजनीति के क्षेत्रों का अध्ययन हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. एक मानवीय क्रिया के रूप में राजनीति का अध्ययन (Study of politics as a fundamental human activity)—राजनीति विभिन्न मानव-समूहों तथा उसके पारस्परिक संबंधों का परिणाम है। समस्त मानवीय क्रियाओं में राजनीति की मौलिकता पाई जाती है। लेकिन, राजनीति का अस्तित्व तभी है जब व्यक्ति

---

1. "Politics is the concern of everybody with any sense of responsibility."—R. H. SOLTAU : *An Introduction to Politics* (1954), pp. 2-3
2. ".....No one should ever pride himself on being not interested in politics."—J. H. PRICE
3. J. D. B. MILLER : *The Nature of Politics*, p. 15
4. "Politics is the process by which community of human beings deal with their problem."
—HERBERT J. SPIRO

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

क्रियाशील रहता है। निष्क्रियता राजनीति का सबसे बड़ा अभिशाप है। चुनाव, वाद-विवाद तथा नीति-संबंधी क्रियाएँ ही राजनीतिक सक्रियता के परिणाम हैं। **बर्नर्ड क्रिक** (Bernard Crick) ने राजनीति की तुलना स्त्री और पुरुष के शारीरिक संबंध से की है,[1] जिसके बिना मानव-समाज का अस्तित्व असंभव है। अर्थात, राजनीति और स्त्री-पुरुष-संबंध ऐसी चीजें हैं जिनसे अलग रहकर व्यक्ति या तो जानवर हो सकता है, नहीं तो देवता। अतः, राजनीति का अध्ययन एक मौलिक मानवीय क्रिया के रूप में किया जाता है। इसका समर्थन **जे० डी० बी० मिलर** ने भी किया है।[2]

2. सामाजिक संघर्ष के निवारण के रूप में राजनीति का अध्ययन (Study of politics as a solution means of social conflicts)—राजनीति करनेवाला व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी होता है। समाज से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक संघर्ष के कारण सामाजिक संघर्ष तथा विवाद उत्पन्न होते हैं। यह सर्वविदित है कि समाज में विद्यमान भौतिक तथा अन्य साधन सीमित होते हैं। समाज का प्रत्येक व्यक्ति, संस्था और संगठन अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त अधिकतम प्रयास करता है। चूँकि सभी अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील रहते हैं, इसलिए समाज में हमेशा संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। इस सामाजिक संघर्ष की स्थिति का समाधान राजनीति से संभव है, क्योंकि समस्या के समाधान के लिए यह एक विशेष प्रक्रिया अपनाती है। इस संबंध में **एल० लिप्सन** ने कहा है, "राजनीति विवाद की एक निरंतर प्रक्रिया है।"[3]

3. राजनीतिक क्रिया को समझने के रूप में राजनीति का अध्ययन (Study of politics for the understanding of political activity)—राजनीतिक क्रिया के स्वरूप को समझने के लिए भी राजनीति का अध्ययन किया जाता है। राजनीतिक क्रिया की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप में की है। **माइकेल ओकशॉट** के अनुसार, "राजनीतिक क्रिया एक ऐसी क्रिया है जिसमें मानव एक नागरिक होने के नाते, अपने समुदाय की व्यवस्थाओं और दशाओं के संबंध में सोचता-समझता है, उनमें परिवर्तन के लिए सुझाव देता है, प्रस्तावित सुझावों को स्वीकारने हेतु दूसरों को मनाता है तथा परिवर्तन को आगे बढ़ाने के लिए स्वयं उसके अनुकूल व्यवहार करता है।"[4] जहाँ **डेविड ईस्टन** ने इसे मूल्यों के अधिकतम विनियोजन के लिए कार्य के रूप में प्रयोग किया है, वहाँ **हैरोल्ड डी० लॉसवेल, रॉबर्ट ए० डैल** आदि विद्वानों ने इसे शक्ति के प्रयोग का एक विशिष्ट रूप बताया है। इसीलिए, **ओकशॉट** ने पुनः कहा है, "राजनीतिक क्रिया एक भयावह और असीम सागर की तरह है, जिसमें न सुस्ताने का स्थान है और न इसकी कोई निश्चित दिशा है।"[5]

4. राज्य और सरकार की एक कला के रूप में राजनीति का अध्ययन (Study of politics as an art of state and government)—आधुनिक विद्वानों, जैसे—**जेलीनेक, ट्रीट्स्के, होल्टजनडॉर्फ** तथा **सिजविक** ने राजनीति का अध्ययन राज्य और सरकार की एक कला के रूप में किया है। इन विद्वानों के अनुसार वे सारे विषय जो राज्य और सरकार के अंतर्गत आते हैं, राजनीति के अभिन्न अंग हैं। इनके अनुसार, जहाँ सैद्धांतिक राजनीति राज्य की आधारभूत समस्याओं का अध्ययन करती है वहाँ व्यावहारिक राजनीति राज्य के क्रियात्मक पहलू से संबंधित है। राज्य से संबंधित समस्त समस्याएँ इसके अंतर्गत आ जाती हैं। अतः, राजनीति राज्य और सरकार से संबंधित एक कला है, जो राज्य और सरकार दोनों का अध्ययन करती है।

5. अंतरराष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के रूप में राजनीति का अध्ययन (Study of politics as a solution of international conflicts)—चूँकि राजनीति का क्षेत्र विश्वव्यापी है और आज राज्यों के बिना राजनीति का अध्ययन प्रारंभ हो गया है, इसलिए सारा विश्व ही राजनीति का क्षेत्र हो जाता है। ऐसी राजनीति अंतरराष्ट्रीय जगत में उठनेवाली समस्याओं का अध्ययन करती है और उन समस्याओं को सुलझाकर विश्व-शांति का मार्ग प्रशस्त करती है। संयुक्त राष्ट्र की विभिन्न समस्याओं में क्रियान्वित राजनीति को हम उदाहरण के रूप में ले सकते हैं।

---

1. BERNARD CRICK : *The American Science of Politics, Its Origin and Conditions* (Berkeley University Press, 1959), p. 26
2. J. D. B. MILLER : *op.cit.*, p. 288
3. "By politics I mean a process of active controversy."
   —L. LIPSON : *The Great Issue of Politics* (Bombay, 1970), p. 51
4. MICHAEL OAKESHOTT : *Political Education* (Cambridge, 1952), p. 15
5. *Ibid.*

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

राजनीति के आवश्यक तत्त्व
(Essential Elements of Politics)

राजनीति-संबंधी उपर्युक्त तथ्यों के स्पष्टीकरण से यह स्पष्ट है कि राजनीति का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता है। सभी विद्वानों ने अपने-अपने संदर्भ और हित की दृष्टि से राजनीति को प्रभावित करने का प्रयास किया है। राजनीति का वास्तविक स्वरूप क्या है, इसकी जानकारी निम्नलिखित तथ्यों के अध्ययन से हो सकती है—

1. राजनीति एक प्रक्रिया है—राजनीति मानव की सामाजिक क्रिया से संबद्ध है। समाज में रहकर मानव सामाजिक विवाद और संघर्ष दूर कर उसमें सुव्यवस्था लाने का प्रयास करता है। समाज में रहने के चलते यह स्वाभाविक क्रिया हो जाती है। **मिलर** ने भी कहा है, "राजनीति मूलतः एक मानवीय क्रिया है (Politics is a basic human activity)।"

2. सक्रियता राजनीति का प्राण है—राजनीति का निवास सक्रियता में है। सक्रियता से रहित राजनीति निरर्थक होती है। इसमें भाग लेनेवाले को हमेशा सचेत और सक्रिय रहना पड़ता है।

3. यह सर्वव्यापी तथा परिवर्तनशील क्रिया है—राजनीति एक अविरल, सर्वव्यापी तथा परिवर्तनशील क्रिया है। इसमें तनाव तबतक रहता है जबतक उसका समाधान नहीं हो जाता। एक देश के विभिन्न स्थानों में विभिन्न प्रकार की राजनीति पाई जाती है। उसका स्वरूप हमेशा बदलता रहता है।

4. राजनीति की उत्पत्ति संघर्ष से हुई है—जहाँ संघर्ष है, वहाँ राजनीति पनपती है और जैसा संघर्ष का रूप होता है, वैसा ही राजनीति का भी रूप होता है। यदि संघर्ष बड़ा है तब राजनीति भी बड़ी है और यदि संघर्ष छोटा है तो राजनीति भी छोटी है। जब सामाजिक संघर्ष होते हैं तब संबंधित पक्ष न्याय और समझौता चाहते हैं। अतः, राजनीति संघर्ष के समाधान का एक साधन है।

5. राजनीति राज्य और सीमाओं से प्रतिबंधित नहीं है—आज तक राजनीति का अध्ययन राज्य और सरकार की एक कला के रूप में किया जाता था, लेकिन आज राजनीति के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन होने से यह सिर्फ राज्य और उनकी सीमाओं से प्रतिबंधित नहीं है। आज राजनीति का अध्ययन राज्य के बाहर भी हो सकता है। इसका स्पष्टीकरण खानाबदोश तथा आदिम जातियों की राजनीतिक व्यवस्थाओं से होता है। आज राजनीति के अध्ययन के लिए राज्य की अवधारणा का कोई स्थान नहीं है। यह आज विश्वव्यापी और सार्वभौम क्रिया हो गई है। **कैटलिन** ने लिखा है, "राजनीति संगठित मानव-समाज के सामुदायिक जीवन के राजनीतिक पहलुओं का अध्ययन करती है।" **लिप्सन** ने भी राजनीति को राज्य से विस्तृत माना है और स्पष्टतः यह स्वीकार किया है, "राज्य राजनीति की तुलना में सीमित है।" आज राजनीति का निवास विभिन्न अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं, गिरजाघरों, शराबघरों, मंदिरों तथा श्रमसंघों में हो गया है।

6. राजनीति शक्ति के लिए संघर्ष है—राजनीति का मूलाधार शक्ति की प्राप्ति है। यह उसका चरम उद्देश्य है। आज के सभी राजनेता राजनीति को अपनी शक्ति-लिप्सा से संबंधित करते हैं। इसीलिए कुछ विद्वानों ने राजनीति को शक्ति का विज्ञान (science of power) कहा है।

7. राजनीति में स्थायित्व नहीं है—राजनीति का स्वरूप अविरल, अनवरत तथा परिवर्तनशील होता है। उसमें स्थायित्व नहीं होता। 1947 ई० में भारत की जो राजनीति थी, वह निश्चित रूप से आज नहीं है। यह सभी देशों तथा राजनेताओं के साथ लागू है।

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि राजनीति का आधार संघर्ष, मतभेद, स्वार्थ तथा दलबंदी है। राजनीति और दलबंदी में चोली-दामन का संबंध है। दलबंदी का आधार विवाद है और जहाँ विवाद नहीं है, वहाँ राजनीति नहीं है।[1] **जे० डी० बी० मिलर** ने भी कहा है, "राजनीति का संबंध मतभेद और संघर्ष है।"[2] **लिप्सन** का कहना है "राजनीति के कुछ मूलभूत प्रश्न होते हैं, जो बदलते

---

1. "Where there is politics, it is said, there is controversy, where there are issues, there is politics. Where no controversy exists, where no issues are being debated, politics does not exist."
—S. L. WASBY : *op. cit.*, p. 14

2. "Politics is concerned with conflict and disagreement; if these are not present in some measure, the situation is not political, and any action taken will not be political."
—J. D. B. MILLER : *The Nature of Politics* (A Pelican Book, 1965), p. 288

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

नहीं हैं, वरन उनके समाधान बदलते रहते हैं।''[1] **लिप्सन** के विचार में नागरिकता का विस्तार, राज्य के कार्यक्षेत्र, सत्ता के विभिन्न स्रोत तथा संगठन, राज्य का विस्तार तथा उसका वैदेशिक संबंध आदि राजनीति के मूलभूत प्रश्न हैं, जो कभी भी नहीं बदलते। ये सब ऐसे मूल प्रश्न हैं जिन्हें हम कभी भी एक-दूसरे से अलग कर सकते हैं। उनका विश्लेषण कर एक सही और ठोस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है। राजनीति के विद्वानों ने इसी संदर्भ में आज अपना निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है।

अतएव, हम पुनः कह सकते हैं कि संघर्ष तथा मतभेद के बीच रहते हुए भी राजनीति मूलतः एक मानवीय क्रिया है। यह समाज का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। आवश्यक नहीं कि ''राजनीति हमेशा उग्र और स्पष्ट ही हो'', जैसाकि **मिलर** (Miller) ने स्वीकार किया है, क्योंकि ''राजनीति तो समिति कक्ष, अंतर्विभागीय सम्मेलन, स्कूल स्टाफ बैठक, 'डाग-लवर्स एसोसियेशन' की वार्षिक बैठक में भी होती है।''[2] राजनीति का एकमात्र उद्देश्य समझौता कराना है, जिसके लिए यह अभिव्यक्ति तथा भाषण की प्रणाली अपनाती है।[3] मिलर ने राजनीति के स्वरूप के संबंध में निम्नलिखित बातें कही हैं—

(क) राजनीति का संबंध संघर्ष तथा मतभेद से है (Politics is concerned with conflict and disagreement.)।

(ख) राजनीति की उत्पत्ति सामाजिक विविधता तथा अनंत मानवीय इच्छाओं से होती है (The origin of the politics lies in social diversity and the immitability of human wishes.)।

(ग) राजनीति अधिकांशतः स्वार्थों के वशीभूत होती है (Politics is very much a matter of interests.)।

(घ) राजनीति को सरकार से अलग नहीं किया जा सकता (Politics is inseparable from government.)।

(ङ) राजनीति में व्यक्तिगत पहलू अधिक शक्तिशाली होता है (Politics has a strongly personal aspect), क्योंकि व्यक्ति ही राजनीति में सक्रिय भूमिका निभा सकता है।

(च) राजनीति उद्भावात्मक तथा आदर्शात्मक दोनों है (Politics is both ideational and ideological.)।

(छ) राजनीति मूलतः एक मानवीय क्रिया है (Politics is a basic human activity), जो अपना पदार्पण वहीं करती है जहाँ मानव और कानून हैं।

(ज) राजनीति अपने साथ मूल्यों का वहन नहीं करती (Politics does not carry value with it.)।[4]

राजनीति के कुछ मौलिक प्रश्न
(Certain Fundamental Issues of Politics)

राजनीति की प्रकृति और परिभाषा के संबंध में भले ही आपस में मतभेद हो, हम इस तथ्य से मुँह नहीं मोड़ सकते कि राजनीति के अपने कुछ मूलभूत प्रश्न भी हैं, जो कभी भी नहीं बदलते। महान विचारक **लिप्सन** ने भी इसे स्वीकार किया है और बताया है कि राजनीति के कुछ मूलभूत सवाल होते हैं जो नहीं बदलते, किंतु उनके समाधान बदलते रहते हैं। इस संदर्भ में कुछ निम्नलिखित सवालों का जिक्र किया जा सकता है—

1. नागरिकता का विस्तार अर्थात सभी नागरिक माने जाएँ या कुछ गिने-चुने लोग ?
2. राज्य के कार्यों का क्षेत्र सीमित हो या असीमित ?
3. सत्ता का स्रोत जनता है या सरकार ?
4. सत्ता का संगठन अर्थात शक्ति केंद्रित है या बिखरी हुई ?
5. राज्य का विस्तार एवं उसका वैदेशिक संबंध।
6. सरकार की कौन-सी इकाई अच्छी तथा चलनेवाली है ?

---

1. "Politics consists of certain fundamental issues. These do not change, but their solutions do."
—L. LIPSON : *op.cit.*, p. 12

2. "Politics is not necessarily always violent and clear-cut. There is politics in the board room, in the inter-departmental annual conference, in the school staff meeting and the annual conference of the dog-lover's association."—MILLER : *op. cit.*, p. 15

3. "Politics is a matter of the expression, advocacy, settlement and modification of disagreement."
—*Ibid.*, p. 288

4. *Ibid.*, pp. 288-90

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

7. कौन-सी अंतरराष्ट्रीय प्रणाली उपयुक्त है ?

उपर्युक्त सारे-के-सारे प्रश्न एक-दूसरे से संबंधित हैं और किसी भी स्थिति में इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। फिर भी, राजनीति एक मौलिक मानवीय क्रिया है। यह बहुत-से विकल्पों और मूल्यों में से चुनने की एक असाधारण कला है, जिसका अंतिम लक्ष्य उत्तम जीवन की प्राप्ति है।

राजनीति और राजनीतिशास्त्र में अंतर
(Distinction between Politics and Political Science)

आमतौर से राजनीति और राजनीतिशास्त्र को एक ही समझ लिया जाता है। इस गलतफहमी का मुख्य कारण सिर्फ एक ही है कि इन दोनों शब्दों को सामान्य तौर से ढीले-ढाले अर्थ में प्रयोग किया जाता रहा है और दोनों का एक-सा अर्थ लगाया जाता रहा है। अमेरिका और इंगलैंड-जैसे विकसित देशों के विश्वविद्यालयों में राजनीति से संबंधित विभागों को प्रायः **राजनीति** (Politics) या **सरकार** (Government) के नामों से पुकारा जाता है। भारत-जैसे विकासशील देश में उन्हें **राजनीतिशास्त्र** या **राजनीतिविज्ञान** आदि नामों से पुकारा जाता है। इसी से छात्रों या सामान्य लोगों में यह गलतफहमी पाई जाती है और इस गलतफहमी का शिकार होकर वे राजनीति और राजनीतिशास्त्र को एक-दूसरे के पर्यायवाची और समानार्थी मान लेने की भूल कर बैठते हैं।

राजनीतिशास्त्र में इन दोनों के नामकरण को लेकर काफी मतभेद रहा है। विभिन्न विद्वानों ने इसे विभिन्न नामों से पुकारा है। कुछ लोगों ने इसे सिर्फ **राजनीति** नाम दिया है, तो कुछ लोगों ने **राजनीतिशास्त्र** या **राजनीतिविज्ञान**। कुछ अन्य लोगों ने इसे **राजनीतिक दर्शन** की संज्ञा अधिक उपयुक्त माना है। प्राचीन यूनानी दार्शनिकों ने राजनीति के अध्ययन से संबद्ध विधा के लिए **राजनीति** शब्द का प्रयोग किया है जिसके अंतर्गत राज्य, शासन, समाज और नैतिकता से संबद्ध सारे तत्त्व आ जाते थे। आधुनिक विद्वानों जैसे—**जेलीनेक, होल्टजनडॉर्फ, ट्रीट्स्के, सिजविक** इत्यादि ने भी इस विषय को राजनीति ही कहा है। इन आधुनिक विद्वानों के अनुसार राजनीति ज्ञान की एक शाखा है, जिसके अंतर्गत राज्य और सरकार से संबंधित सभी सैद्धांतिक और व्यावहारिक बातें आ जाती हैं। इस प्रकार, यूनानी विद्वानों की भाँति आधुनिक विद्वानों ने भी राजनीति का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है।

'राजनीति' शब्द को व्यापक अर्थ देने और उसे एक अनुशासन के रूप में देखे जाने के चलते **राजनीति** और **राजनीतिशास्त्र** के अर्थ और प्रयोग में गलतफहमी पैदा हो गई है। आमलोग **राजनीति** और **राजनीतिशास्त्र** को एक ही मानते हैं। अपने व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर ही एक आम आदमी अपने को इस विषय का ज्ञाता समझने लगता है। लेकिन वास्तविकता है कि राजनीति के पेशेवरों और राजनीतिशास्त्र के पेशेवरों में अंतर है। एक अपने व्यावहारिक जीवन में राजनीति की कलाओं का अभ्यास करता है, सरकार और शासन चलाता है तथा नीतियों का निर्माण करता है, तो दूसरा विश्वविद्यालयों और अन्य संस्थाओं में राजनीति के विभिन्न पहलुओं का वैज्ञानिक अध्ययन करता है और ज्ञान की शाखा के रूप में इस विषय का विकास करता है। सचमुच, जहाँ राजनीति एक सामाजिक क्रिया है वहाँ राजनीतिशास्त्र उस क्रिया के अध्ययन का क्रमबद्ध ज्ञान।

अंतर (Difference)—राजनीति और राजनीतिशास्त्र में अंतर निम्नलिखित हैं—

1. राजनीति एक क्रिया है और राजनीतिशास्त्र उस क्रिया का क्रमबद्ध ज्ञान—राजनीति मनुष्य की एक मौलिक क्रिया है, क्योंकि सामाजिक और आर्थिक क्रियाओं की भाँति मनुष्य राजनीतिक क्रियाओं में भी भाग लेता है। चूँकि राजनीति समाज में शक्ति या हित के लिए संघर्ष की उपज है, इसलिए कोई भी मनुष्य राजनीति से अछूता नहीं है। राजनीति समाज की व्यावहारिक क्रियाओं में से एक है।

राजनीतिशास्त्र राजनीतिक क्रियाओं का एक शैक्षणिक क्षेत्र है। हर आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक क्रियाओं के पीछे कुछ निश्चित सिद्धांत होते हैं। इन तमाम क्रियाओं में भाग लेनेवालों के व्यवहार में कुछ एकरूपता और ज्यादा भिन्नता पाई जाती है। इस क्रम में एकरूपता और भिन्नता के पीछे पाए जानेवाले सिद्धांतों और नियमों की खोज की जाती है। इस खोज के आधार पर हर क्रिया का एक क्रमबद्ध ज्ञान तैयार किया जाता है। राजनीतिशास्त्र एक ऐसा ही शैक्षणिक विषय है जो राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययन कर क्रमबद्ध ज्ञान का एक अनुशासन बन गया है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

2. राजनीति और राजनीतिशास्त्र के उद्देश्यों में भी अंतर है—जहाँ **राजनीति** का उद्देश्य शक्ति और सत्ता को प्राप्त करना रहता है, सत्ता के लिए हर स्तर पर संघर्ष करना पड़ता है, वहाँ **राजनीतिशास्त्र** राजनीति की गतिविधियों का विश्लेषण करने और उनके विषय में जानकारी देने की एक विधा है। यह राजनीति के कार्य-कारण के संबंध में जानकारी देता है। अपने इस अर्थ में राजनीतिशास्त्र नीतिविज्ञान का रूप धारण कर लेता है।

3. राजनीतिशास्त्र राजनीति का शैक्षणिक पक्ष है—चूँकि राजनीति राजनेताओं के कार्यों और गतिविधियों का दूसरा नाम है जो घर, गाँव, स्कूल तथा देश-विदेश में दिन-प्रतिदिन चलती रहती है, इसलिए इसका रूप ही बदल जाता है। राजनीतिशास्त्र इन क्रियाओं के अध्ययन का एक शैक्षणिक पक्ष है। इसके अंतर्गत राजनीतिक क्रियाओं का विश्लेषण कर उनमें एकरूपता खोजने का प्रयास किया जाता है। राजनीति में नियमों और सिद्धांतों के अध्ययन पर जोर नहीं दिया जाता है, जबकि अन्य विज्ञानों की तरह राजनीतिशास्त्र भी नियमों और सिद्धांतों की खोज में लगा रहता है।

4. राजनीति और राजनीतिशास्त्र अलग-अलग पेशा है—**राजनीति** के पेशेवरों को राजनीतिज्ञ और **राजनीतिशास्त्र** के पेशेवरों को राजनीतिशास्त्री कहा जाता है। राजनेताओं को किसी प्रकार के वैज्ञानिक प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती, वे आमतौर पर अनुभव के आधार पर राजनीति की कलाबाजियों को सीख लेते हैं। इसके विपरीत, एक राजनीतिशास्त्री के लिए एक विशेष ज्ञान की आवश्यकता है जिसके लिए उसे विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है।

5. दोनों की पद्धतियों में अंतर है—राजनीतिज्ञ एक व्यावहारिक पेशेवर है, जो संघर्ष में विजय पाने के लिए किसी भी तरीके को अपना सकता है, क्योंकि यह कहा भी जाता है कि **राजनीति और युद्ध में कुछ भी गलत नहीं है।** राजनीतिशास्त्र ज्ञान की एक शाखा है, जो राजनीतिक क्रियाओं और घटनाओं के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक पद्धतियों का सहारा लेता है। आज के व्यवहारवादियों ने राजनीतिशास्त्र को एक विज्ञान का दर्जा दिलाने के लिए हरसंभव प्रयास किया है।

6. मूल्यों के संबंध में राजनीति और राजनीतिशास्त्र के विभिन्न दृष्टिकोण हैं—राजनीति में आमतौर से मूल्यों की प्रधानता रहती है, क्योंकि राजनेता नीतियों का निर्माण करते समय परंपरागत मूल्यों, जनता की भावनाओं, कमजोर वर्गों के कल्याण आदि लोकतांत्रिक अवधारणाओं आदि का विशेष ख्याल रखता है। इससे भिन्न राजनीतिशास्त्र 'अलौकिक शिक्षा का मान्य पेशा' है, अर्थात यह निष्पक्ष भाव से अपने विषय का अध्ययन-अध्यापन करता है। राजनीतिक क्रियाओं या घटनाओं का विश्लेषण करते समय एक राजनीतिशास्त्री को वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है।

उपर्युक्त विभिन्नताओं के बावजूद राजनीति और राजनीतिशास्त्र को एक ही सिक्के का दो रूप कहा जा सकता है, क्योंकि एक दैनिक क्रिया है तो दूसरा उसके अध्ययन का क्रमबद्ध ज्ञान। इन दोनों का विकास साथ-साथ होता है। प्रारंभ में, चूँकि, राजनीति का संबंध राज्य और सरकार से माना जाता था, इसलिए राजनीतिशास्त्र को राज्य और सरकार के अध्ययन का विषय कहा जाता था। आज तो राजनीति के क्षेत्र में काफी व्यापकता आई है। आज इसमें सिर्फ राज्य और सरकार की ही क्रियाएँ शामिल नहीं हैं, बल्कि 'राज्यविहीन राजनीति' की चर्चा आज इसका मुख्य विषय हो गया है।

प्रश्नावली

1. राजनीति क्या है ? इसकी परिभाषा दें।
   (What is Politics ? Define it.)
2. "राजनीति संभावना की एक कला है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
   ("Politics is an art of probability." Discuss this statement.)
3. राजनीति की अवधारणा तथा क्षेत्र की विवेचना कीजिए।
   (Discuss the concept and scope of Politics.)
4. राजनीति के मौलिक प्रश्नों की विवेचना कीजिए।
   (Discuss the fundamental issues of Politics.)
5. राजनीति और राजनीतिशास्त्र में अंतर को स्पष्ट कीजिए।
   (Point out the main distinctions between Politics and Political Science.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 2

राजनीति का उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण
[LIBERAL AND MARXIST VIEWS OF POLITICS]

मानव ने जबसे राजनीतिक चिंतन प्रारंभ किया, वह दो परस्पर नितांत विरोधी दृष्टिकोणों के बीच जूझता रहा है। प्रथम विचार के अनुसार राजनीति ऐसा संघर्ष या द्वंद्व है, जहाँ शक्ति-तत्त्व सदैव अपने नियंत्रक के हितों की रक्षा करने और समाज पर उसका प्रभुत्व बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है। दूसरे विचार के अनुसार राजनीति मानव-समाज में व्यवस्था और न्याय-स्थापना से संबंधित है, जहाँ शक्ति का प्रयोग निजी हितों के विरुद्ध सार्वजनिक हितों के लिए किया जाता है।—डूवरजर

विषय-प्रवेश (Introduction)

राजनीतिक चिंतन के प्रारंभिक काल से लेकर आज तक राज्य और राजनीति के प्रति विभिन्न विचार और दर्शन प्रतिपादित किए गए हैं। इन दर्शनों में प्रमुख स्थान उदारवादी दर्शन, कल्याणकारी दर्शन, समाजवादी दर्शन, फासीवादी दर्शन तथा मार्क्सवादी दर्शन का रहा है। आज की 20वीं शताब्दी में **उदारवादी** और **मार्क्सवादी** दर्शन ही प्रमुख हो गए हैं। उदारवादी विचारक इस तथ्य को मानते हैं कि व्यक्ति समाज में रहकर ही अपना विकास कर सकता है, क्योंकि वह समाज का एक अभिन्न अंग है। इसके विपरीत, मार्क्सवादी दर्शन राजनीति को एक संघर्ष के रूप में देखता है। वह आधुनिक सभ्यता के स्थान पर नए समाज की स्थापना चाहता है। समकालीन राजनीति में इन दोनों विचारधाराओं में संघर्ष चल रहा है। इन दोनों दृष्टिकोणों पर हम निम्नलिखित रूप में विचार कर सकते हैं।

राजनीति का उदारवादी दृष्टिकोण
(Liberal View of Politics)

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन पर उदारवादी विचारधारा का प्रभाव 17वीं सदी से लेकर आज तक रहा है। इस विचारधारा का सबसे अधिक प्रभाव पश्चिमी यूरोपीय देश और अमेरिका पर रहा है, हालाँकि इसका व्यवस्थित विकास इंगलैंड में हुआ है। आधुनिक युग में यह विश्व के अधिकांश देशों की राजनीति को प्रभावित करती रही है। यह सिर्फ एक राजनीतिक विचारधारा ही नहीं है, वरन जीवन का एक संपूर्ण दर्शन भी है। इसने व्यक्ति, समाज और राजनीति की विशेष व्याख्या की है। राजनीति के संबंध में इसके विचार तो बदलते रहे हैं, लेकिन व्यक्ति और समाज के संबंध में उसकी मान्यताएँ पहले जैसी बनी हुई हैं। 19वीं सदी में उदारवादी विचारधारा की लोकप्रियता अपनी पराकाष्ठा पर थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद साम्यवादी और फासीवादी चुनौतियों के परिणामस्वरूप इस विचारधारा के स्वरूप में परिवर्तन के आसार दिखने लगे। इसके बावजूद आज भी यह सबसे अधिक व्यापक और लोकप्रिय विचारधारा है। विश्व के अधिकांश राज्यों, जैसे—इंगलैंड, अमेरिका, फ्रांस, स्वीडेन, पश्चिमी जर्मनी, कनाडा, भारत, इंडोनेशिया, फिलीपीन इत्यादि ने अपनी शासनप्रणाली में उदार लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपनाया है।

उदारवादी दर्शन का विकास—उदारवादी दर्शन को भलीभाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसे विकासक्रम की दृष्टि से दो भागों में बाँट दिया जाए, क्योंकि उदारवादी दर्शन के आज दो रूप दीख पड़ते हैं—

1. प्रारंभिक उदारवाद या नकारात्मक उदारवाद (Negative Liberalism) तथा
2. आधुनिक जनतंत्रात्मक उदारवाद या सकारात्मक उदारवाद (Positive Liberalism)।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्रारंभिक या नकारात्मक उदारवाद (Negative Liberalism)

प्रारंभ में उदारवाद सिर्फ मध्यम वर्ग, अर्थात व्यापारी वर्ग के हितों का दर्शन था। सही अर्थ में यह यूरोप की दो महान क्रांतियों—**सांस्कृतिक पुनर्जागरण** और **धर्मसुधार** का परिणाम था। 17वीं सदी में **हॉब्स** और **लॉक** के राजनीतिक चिंतन के साथ इसका उदय हुआ। **हॉब्स** ने अपनी पुस्तक **लेवियाथम** में मानव-समाज का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए व्यक्ति को स्वार्थी और एकांतप्रिय बताया। वह स्वार्थी व्यक्ति ही प्रारंभिक उदारवादी चिंतन की मूल प्रेरणा बना। बाद में **लॉक** ने इस उदारवादी दर्शन को आगे बढ़ाया। **लॉक** का कहना था कि एक संवैधानिक सरकार के अंतर्गत ही व्यक्तियों की इच्छाओं की पूर्ति अच्छी तरह से हो सकती है। वह संवैधानिक सरकार एक ऐसी सरकार हो, जो व्यक्तियों की संपत्ति और स्वतंत्रता की रक्षा कर सके। **हॉब्स** और **लॉक** की मान्यता है कि लोगों ने सामाजिक समझौता के आधार पर और अपने कुछ विशेष लक्ष्यों को पाने के लिए ही राज्य की स्थापना की। इस प्रकार, **हॉब्स** और **लॉक** के समस्त चिंतन का केंद्रबिंदु व्यक्ति है और राज्य संपूर्ण अंशों में तथा कुछ सीमा तक समाज की कृत्रिम संस्था है। **जे० एस० मिल** ने इस उदारवादी विचारधारा के राजनीतिक पक्ष का विश्लेषण करते हुए कहा कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को विचार-स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए और उसे इसकी उम्मीद होनी चाहिए कि व्यक्ति की इस स्वतंत्रता में राज्य और समाज के अन्य व्यक्तियों द्वारा कभी भी हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा। बाद में **मॉण्टेस्क्यू, टॉमस पेन, डेविड ह्यूम** इत्यादि विद्वानों ने अपने राजनीतिक सिद्धांतों में उदारवाद के विकास में योगदान किया।

नकारात्मक उदारवाद का आर्थिक पहलू—उदारवाद के उपर्युक्त राजनीतिक विश्लेषण के साथ-साथ आर्थिक पक्ष कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। 1760 ई० से 1830 ई० की औद्योगिक क्रांति के दौरान फ्रांस के अधिकांश दार्शनिकों, जैसे—**एडम स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो** इत्यादि ने व्यक्ति के आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप *(Laissez faire)* के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसके अंतर्गत स्वतंत्र समझौते, व्यापार, प्रतियोगिता, अर्थव्यवस्था, बाजार इत्यादि की आर्थिक आवश्यकता पर जोर देकर आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध किया गया। उनका यह आर्थिक सिद्धांत इस विचार पर आधारित था कि आर्थिक जीवन और राज्य एक-दूसरे से स्वतंत्र होते हैं।

प्रारंभिक, परंपरागत या नकारात्मक उदारवाद का मूल्यांकन—उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि प्रारंभिक उदारवाद के गुण और दोष दोनों थे।

गुण—इसके गुणों की विवेचना निम्नलिखित आधारों पर की जा सकती है—

1. दास-प्रथा पर प्रहार—प्रारंभिक उदारवाद ने दास-प्रथा पर प्रहार कर मानवीय स्वतंत्रता और समानता के मार्ग को प्रशस्त किया।

2. संसदीय संस्थाओं में सुधार और वयस्क मताधिकार पर बल—उदारवादी विचारकों ने संसदीय संस्थाओं में सुधार की माँग कर वयस्क मताधिकार को अपनाने पर बल दिया। 18वीं एवं 19वीं सदियों में उन्होंने इंगलैंड में 1832, 1867 और 1884 ई० के सुधार-अधिनियम पारित करवाए। इन सुधार-अधिनियमों के आधार पर मताधिकार को व्यापक किया गया, चुनाव-क्षेत्रों का पुनर्गठन हुआ तथा मजदूरों की दशा में सुधार के लिए अनेक प्रयास किए गए।

3. बड़े-बड़े उद्योग-धंधों की स्थापना के लिए प्रोत्साहन—आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप के सिद्धांत के चलते पूँजीपतियों को बड़े-बड़े उद्योग-धंधों को स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन मिला। इससे उत्पादन में वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप, इंगलैंड तथा पश्चिमी यूरोप के कुछ क्षेत्रों में समृद्धि आई।

आलोचनाएँ—उपर्युक्त गुणों के बावजूद परंपरागत उदारवादी विचारधारा में अनेक कमियाँ थीं। इन कमियों के चलते ही परंपरागत उदारवाद की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है—

1. असामाजिक व्यक्ति—आलोचकों की राय में मानव-प्रकृति और उसकी प्रेरणाओं के संबंध में उदारवादी दृष्टिकोण ठीक नहीं था। इस संबंध में **आइंस्टीन** ने लिखा है, "समाज के प्रति समर्पित होकर ही व्यक्ति अपने जीवन को सार्थक बना सकते हैं।" सचमुच में व्यक्ति की असामाजिकता पर बल देकर एक स्वस्थ चिंतन का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

2. राज्य एक कृत्रिम संस्था नहीं है—उदारवादी राज्य को एक कृत्रिम संस्था और समझौते का परिणाम मानते हैं, लेकिन आलोचकों का कहना है कि राज्य न तो किसी समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है और न ही कोई व्यावसायिक ढंग की साझेदारी है, जिसे इच्छानुसार भंग किया जा सकता है। सही यह है

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

कि राज्य उच्चतम मानवीय गुणों के विकास और महानतम आदर्शों की प्राप्ति में क्रियाशील एक शाश्वत संस्था है।

3. अराजकता की संभावना—परंपरागत उदारवाद में व्यक्ति को जिस प्रकार की पूर्ण स्वतंत्रता देने की बात कही गई है, वह मानवीय जीवन को एक प्रकार की पूर्ण अराजकता में बदल देगी।

4. स्वतंत्रताओं को सीमित करना आवश्यक है—समस्त समाज के विकास और सामूहिक जीवन की पूर्णता के लिए व्यक्तियों की स्वतंत्रताओं को सीमित करना नितांत आवश्यक है। इसके साथ ही, परंपरागत उदारवादी चिंतन में प्रतिपादित स्वतंत्रता अधूरी भी है। यह व्यक्ति के **निषेधात्मक स्वतंत्रता** की ही बात करता है, **सकारात्मक स्वतंत्रता** की नहीं।

5. आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप का सिद्धांत सही नहीं है—आलोचकों की राय में पूँजीपति और असंगठित मजदूरों के बीच स्वतंत्र प्रतियोगिता मजदूर वर्ग के लिए कष्टकारी परिणामों एवं शोषणों को जन्म देनेवाली हो सकती है। इस संबंध में अमेरिकी लेखक **एस० एविनेरी** ने लिखा है, "स्वतंत्र प्रतियोगिता की परिस्थितियों में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लिए भेड़िया बन जाता है, जैसाकि रोमन कवि प्लॉटस ने बहुत पहले कह दिया था।"[1] प्रारंभिक उदारवाद की आलोचना करते हुए **सेबाइन** ने कहा है कि प्रारंभिक उदारवाद ने अपनी धारणाओं तथा निष्कर्षों को कभी नहीं परखा। यह मुख्य रूप से एक अस्थायी दर्शन था और अधिकांशतः एक विशेष हित का हिमायती। उसके पास सामाजिक हित की कोई सकारात्मक संकल्पना नहीं थी।

उपर्युक्त कमियों के चलते ही परंपरागत उदारवाद 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही अपनी साख खोने लगा। आज परंपरागत उदारवाद के लिए कोई स्थान नहीं है।

आधुनिक जनतंत्रवाद, उदारवाद, नव उदारवाद या सकारात्मक उदारवाद

1860 ई० तक परिस्थितियाँ काफी बदल गई थीं। आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति के अपनाने के चलते श्रमिक वर्गों की स्थिति बहुत बुरी होने लगी थी, जिसके चलते 'अहस्तक्षेप की नीति' को अधिकांश लोग 'अमानवीय दर्शन' के नाम से पुकारने लगे थे। परिणामस्वरूप **कारलाइल, रस्किन, विलियम मौरिस** इत्यादि साहित्यकारों ने औद्योगिक समाज के नैतिक आधार पर प्रहार करना प्रारंभ कर दिया। इसके साथ ही, **सेंट सिमन, चार्ल्स फेरियर, रॉबर्ट ओवेन, कॉलरिज** इत्यादि दार्शनिकों ने मजदूरों पर पूँजीपतियों द्वारा किए जा रहे अत्याचारों की ओर आम जनता का ध्यान आकर्षित करना प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार, न सिर्फ आदर्शवादियों ने इसकी आलोचना की, वरन **कार्ल मार्क्स** और उसके समर्थकों द्वारा भी इस पर प्रबल प्रहार किए गए। उदारवाद की इस नवीन धारा के मुख्य प्रणेता **जे० एस० मिल, टी० एच० ग्रीन, हॉबहाउस** तथा **हैरोल्ड जे० लॉस्की** माने जाते हैं।

जे० एस० मिल ने वैसे तो अपनी विचारधारा का प्रारंभ एक परंपरागत उदारवादी के रूप में किया था, लेकिन शीघ्र ही उसने अनुभव किया कि जनसाधारण के लिए उचित प्रकार की सामाजिक स्थितियाँ विद्यमान होने पर ही व्यक्तियों की स्वतंत्रता की रक्षा संभव है। अतः; उसने इस बात पर बल दिया कि राज्य के द्वारा उचित वेतन, सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था और समानता की स्थापना के लिए प्रयास किया जाना चाहिए। 19वीं सदी के मध्य तक उदारवाद इस पक्ष में था कि राज्य का कार्यक्षेत्र संकुचित होना चाहिए, लेकिन इसके बाद **टी० एच० ग्रीन** द्वारा राज्य के कार्यक्षेत्र में क्रमिक वृद्धि का प्रतिपादन किया गया। **ग्रीन** ने राज्य को कभी भी एक साध्य नहीं माना। उसके अनुसार, राज्य एक साध्य की प्राप्ति का साधनमात्र है और साध्य है राज्य में रहनेवाले व्यक्तियों का पूर्ण नैतिक विकास। वह राज्य को एक नैतिक संगठन मानता है। उसके विचार में राज्य का प्रमुख कर्तव्य व्यक्ति द्वारा उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना है। **ग्रीन** ने राज्य द्वारा सद्जीवन के मार्ग में सभी बाधाओं को दूर करने की जो बात कही है, उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि **टी० एच० ग्रीन** का दृष्टिकोण परंपरागत उदारवाद से नितांत भिन्न है और यह लोक-कल्याणकारी राज्य का मार्ग प्रशस्त करता है। इस प्रकार, **ग्रीन** के उदारवाद में यह मान लिया गया है कि राज्य एक सकारात्मक अभिकरण है, जो कानून के माध्यम से व्यक्ति की सकारात्मक स्वतंत्रता में योगदान कर सकता है। **ग्रीन** के पहले उदारवाद का दर्शन बड़ा संकीर्ण था और वह एक वर्ग-विशेष के

1. "In the circumstances of free competition, man will be a wolf to other man, as Roman poet Plautus long ago maintained."

—S. AVENERI : *The Social and Political Thought of Karl Marx* (London, 1968), p. 16

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

हितों का ही प्रतिपादन करता था। **ग्रीन** के उदारवाद में समाज के सभी महत्त्वपूर्ण हितों का प्रतिनिधित्व हो जाता है।

उदारवादी दर्शन के प्रमुख लक्षण (Main Features of Liberal Philosophy)

आधुनिक उदारवाद 'सकारात्मक राज्य' की धारणा का प्रतिपादन करता है। यह परंपरागत उदारवाद की भाँति आर्थिक क्षेत्र में 'अहस्तक्षेप के सिद्धांत' को स्वीकार नहीं करता। इस असमानता के बावजूद उदारवादी दर्शन के कुछ मूलभूत लक्षण हैं, जिन्हें परंपरागत एवं आधुनिक उदारवाद में समान रूप से देखा जा सकता है। ये प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. व्यक्तिप्रधान दर्शन—उदारवादी दर्शन का केंद्रीय तत्त्व व्यक्ति है। **हॉब्स** तथा **लॉक** ने अपने चिंतन का प्रारंभ व्यक्ति से ही किया है। इन विद्वानों ने समाज से पृथक व्यक्ति और उसकी प्रकृति को अपने दर्शन का आधार बनाया है। उदारवाद न तो व्यक्ति को संपूर्ण नैतिक के रूप में देखता है और न ही उसे समाज के अंग के रूप में। वह व्यक्ति को स्वयं के स्वामी के रूप में देखता है।

2. मानवीय विवेक में विश्वास—उदारवाद मानवीय विवेक और बुद्धि में अपनी आस्था व्यक्त करता है। मध्ययुग में ईसाईधर्म ने मानवीय बुद्धि को कठोर बंधनों में जकड़ दिया था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि चर्च के अधिकारी शास्त्रों का जो अर्थ बताते हैं, वही प्रामाणिक है। लेकिन, 17वीं एवं 18वीं सदी में नवजागरण के साथ प्रमुख उदारवादी विचारकों ने स्वयं अपने विवेक के आधार पर सोचना प्रारंभ किया। **जॉन लॉक** और **टॉमस पेन** ने इस दिशा में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। **टॉमस पेन** ने समस्त रूढ़िवादियों को चुनौती देते हुए कहा कि 'मेरा अपना मन ही मेरा चर्च है'। उदारवाद ने इस दृष्टिकोण को अपनाकर स्वतंत्र चिंतन को प्रभावित किया। इस प्रकार, उदारवाद इतिहास तथा परंपराओं का हिमायती नहीं है।

3. व्यक्ति साध्य तथा समाज और राज्य साधन हैं—उदारवादी व्यक्ति को साध्य मानकर ही अपनी दिशाओं में आगे बढ़ते हैं। वे व्यक्ति के भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक कल्याण को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार, समाज और राज्य तो साधनमात्र हैं और उनका महत्त्व उसी सीमा तक है जहाँ तक वे उस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होते हैं। **सी॰ बी॰ मैकफर्सन** ने कहा है, "उदारवादी व्यक्ति को साध्य और समाज को साधन मानकर चलते हैं। इस प्रकार, वे व्यक्तियों के हितों से पृथक समाज के हितों को अस्वीकार करते हैं।"

4. धर्मनिरपेक्ष राज्य का आदर्श—उदारवादी दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष राज्य के आदर्श में विश्वास करता है। इसके अनुसार, राज्य का कोई धर्म नहीं होना चाहिए। राज्य द्वारा अपने सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता दी जानी चाहिए।

5. राजनीति की उत्पत्ति सामाजिक विविधताओं में होती है—उदारवाद राजनीति को किसी वर्ग-विशेष की बपौती नहीं मानता। इसकी मान्यता है कि राजनीति की जड़ें सामाजिक विविधताओं में है। इसके अनुसार, समाज के विभिन्न सदस्यों की विभिन्नताओं का प्रतिबिंब ही राजनीति में परिलक्षित होता है। **जे॰ डी॰ बी॰ मिलर** का कहना है कि विभिन्नता कभी समाप्त नहीं होती, वरन स्थायी होती है। उसके अनुसार, "राजनीति जारी रहेगी, क्योंकि विविधताएँ समाप्त होनेवाली नहीं हैं। राजनीति का अस्तित्व इन सामाजिक विविधताओं में निहित है।"[1] इन तमाम विविधताओं के बीच एकता स्थापित करना ही राजनीति है।

6. मानवीय स्वतंत्रता और अधिकारों में अटूट विश्वास—उदारवाद मानवीय स्वतंत्रता और अधिकारों में अटूट आस्था व्यक्त करता है। यदि हम यह कहें कि उदारवाद का उदय ही मानवीय स्वतंत्रता और अधिकारों की रक्षा के निमित्त हुआ है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। उदारवादियों ने प्रारंभ से ही मानव पर निरंकुश सत्ता का विरोध किया है। उन्होंने राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में व्यक्ति की स्वतंत्र गरिमा का समर्थन किया है। **लॉस्की** के अनुसार उदारवादी दर्शन का मानवीय स्वतंत्रता के साथ अटूट संबंध है।

7. लोकतंत्र और लोकतांत्रिक पद्धति में अटूट विश्वास—उदारवादी दर्शन लोकतंत्र और लोकतांत्रिक पद्धति में अटूट विश्वास प्रकट करता है। लोकप्रिय संप्रभुता इसका आधार है। उदारवाद यह

1. "Politics will continue, because diversity is not going to stop....The origin of politics lies in social diversity."—J. D. B. MILLER : *The Nature of Politics* (London, Penguin, 1962), p. 288

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

मानकर चलता है कि सभी मनुष्य स्वतंत्र होते हैं। अतएव, किसी को भी दूसरों पर उनकी सहमति के बिना शासन करने का अधिकार नहीं मिलना चाहिए। जबतक शासन की शक्ति जनता के हाथों में न होगी तबतक व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा नहीं हो सकती। उदारवादी विचारों से उत्प्रेरित होकर ही फ्रांस में 'मानवीय अधिकारों की घोषणा' में कहा गया—"राष्ट्र ही तत्त्वतः संपूर्ण प्रभुता का स्रोत है। कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह किसी ऐसी सत्ता का अधिकारी नहीं हो सकता, जो राष्ट्र से न प्राप्त हुई हो।"[1]

8. अंतरराष्ट्रीयता और विश्वशांति का समर्थन—उदारवाद अंतरराष्ट्रीयता का समर्थन करता है और अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य की निरंकुशता का विरोध करता है। अंतरराष्ट्रीय जगत में यह विश्वशांति तथा भ्रातृत्व जैसे आदर्शों को स्वीकार करता है। यह इस आदर्श को लेकर चलता है कि प्रत्येक राष्ट्र को शनैः-शनैः और शांतिपूर्वक प्रगति करनी चाहिए। इसके अनुसार राज्यों द्वारा अंतरराष्ट्रीय नैतिकता तथा सामान्य अंतरराष्ट्रीय नियमों का पालन करना चाहिए।

9. कानून की सर्वोच्चता का प्रतिपादन—उदारवाद शासकीय स्वेच्छाचारिता का विरोध करता है और शासन में व्यक्ति के स्थान पर कानून की सर्वोच्चता के सिद्धांत का प्रतिपादन करता है। यदि शासकवर्ग मनमानी करता है और जनता के हितों पर ध्यान नहीं देता है तो उदारवाद ऐसी स्थिति में जनता को अत्याचारी शासन के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार देता है।

10. उदारवाद सुधारवादी दर्शन है—उदारवाद परिवर्तन के लिए क्रांति या बल-प्रयोग का समर्थन नहीं करता। वह परिवर्तन के लिए शांतिपूर्ण और वैधानिक उपायों को अपनाए जाने पर बल देता है। यह एक ऐसा सुधारवादी दर्शन है जो अवस्था के मूल ढाँचे को बनाए रखते हुए सामान्य सहमति के आधार पर क्रमिक परिवर्तन के मार्ग को प्रशस्त करता है। प्रसिद्ध उदारवादी विचारक **कार्ल पॉपर** इस विचार से सहमत नहीं हैं कि एक ही झटके, क्रांति या किसी और तरीके से समूचे समाज को बदल दिया जाए।

11. राज्य के कार्यक्षेत्र में अनावश्यक विस्तार नहीं—उदारवाद राज्य के कार्यक्षेत्र में अनावश्यक विस्तार नहीं चाहता है। लेकिन, राज्य का उचित कार्यक्षेत्र क्या हो, इस संबंध में **परंपरागत उदारवाद** और **नव उदारवाद** में अंतर है। जहाँ **परंपरागत उदारवाद** इस बात पर बल देता है कि राज्य के द्वारा व्यक्तियों के आर्थिक जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए, वहाँ **नव उदारवादी** टी० एच० ग्रीन और हैरोल्ड जे० लॉस्की तथा कुछ सीमा तक जे० एस० मिल भी आर्थिक क्षेत्र में राज्य के अहस्तक्षेप के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते, फिर भी इनके अनुसार, राज्य का लक्ष्य अपने सभी नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए। **नव उदारवाद** आर्थिक दृष्टिकोण से मिश्रित अर्थव्यवस्था या पर्याप्त सीमा तक नियंत्रित अर्थव्यवस्था पर आधारित है। अतएव, यह स्पष्ट है कि राज्य के कार्यक्षेत्र की दृष्टि से जहाँ **परंपरागत उदारवाद** एक 'निषेधात्मक राज्य' या 'पुलिस राज्य' की धारणा का प्रतिपादन करता है, वहाँ **नव उदारवाद** एक लोक-कल्याणकारी राज्य का।

12. मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है—उदारवादी, व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी मानते हैं। उनका विचार है कि व्यक्ति का अध्ययन उसकी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से अलग करके नहीं किया जा सकता। समाज में रहकर ही व्यक्ति अपना विकास कर सकता है। **अरस्तू** ने भी कहा है, "व्यक्ति स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है।"[2] **आइंस्टीन** के विचार में, "व्यक्ति समाज पर अपनी निर्भरता के संबंध में पहले से कहीं ज्यादा सजग है।"[3] व्यक्ति आज यह महसूस कर रहा है कि वह पूर्णतः एक 'संगठित मनुष्य' है। वह हर समय और हर क्षेत्र में एक संगठन का अंग है।

13. समाज का आधार प्रतिस्पर्द्धा है—उदारवाद की यह मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्र समझौता तथा विनिमय का अधिकार है। मुक्त प्रतियोगिता को उदारवादी आर्थिक, राजनीतिक और वैचारिकी तीनों क्षेत्रों में देखते हैं।

14. व्यक्ति और समाज के हित में सामंजस्य आवश्यक है—उदारवादियों ने समाज में व्यक्तियों द्वारा सहयोग तथा मेलजोल को बनाए रखने के सिद्धांत को अपनाया। समाज की स्थिरता बनाए रखने के

---

1. "The nation (People) is essentially the source of all sovereignty; not can any individual or any body of men be entitled to any authority which is not expressly deprived by it."
—*Declaration of the Rights on Men and of Citizens*, Article III

2. "Man by nature is a social animal."—ARISTOTLE

3. "The individual has become more conscious than ever of his dependence upon society."
—ALBERTE INSTEIN

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

लिए उन्होंने प्रतियोगिता पर प्रतिबंध लगाना उचित समझा। आज व्यक्ति और समाज एक-दूसरे के विरोधी नहीं, वरन एक-दूसरे पर आश्रित माने जाते हैं।

15. राजनीति समाज में व्यवस्था तथा सामान्य हितों की सुरक्षा का अध्ययन है—उदारवादियों के विचार में राजनीति सिर्फ समाज से विवाद या संघर्ष को दूर करने की प्रक्रिया मात्र नहीं है, वरन यह व्यवस्था तथा न्याय स्थापित करने का प्रयास भी है। राजनीति एक ऐसे यंत्र के रूप में काम करती है जो एक निश्चित सामाजिक व्यवस्था को कायम रखता है तथा व्यक्ति को सामान्य हित के लिए सामूहिकता में बाँधता है।

16. राजनीति शांतिपूर्ण तरीकों से सामाजिक परिवर्तन लाने की प्रक्रिया है—चूँकि उदारवादी राजनीति का जन्म इतिहास और परंपरा के विरुद्ध एक विद्रोह के रूप में हुआ है, इसलिए यह शांतिपूर्ण तरीकों से शनैः-शनैः सामाजिक परिवर्तन लाने की प्रक्रिया में विश्वास करती है।

17. खुली बातचीत और ऐच्छिक सहयोग उदारवादी राजनीति का सिद्धांत है—उदारवादी शासन की तमाम व्यवस्थाएँ इस विश्वास के आधार पर संचालित हैं कि मतभेद को पारस्परिक बातचीत के द्वारा दूर कर संघर्षपूर्ण हितों के संबंध में समझौता हो सकता है।

आलोचनाएँ—आलोचकों ने निम्नलिखित आधारों पर उदारवादी विचारधारा का खंडन किया है—

1. आर्थिक आधार पर आलोचना—नव उदारवाद की प्रमुख रूप से आलोचना आर्थिक आधार पर की जाती है। आलोचकों के अनुसार, नव उदारवादी भी पूँजीवाद का ही राजनीतिक दर्शन है, क्योंकि यह पूँजीवादी आर्थिक संबंधों और राजनीतिक व्यवस्था को बनाए रखने का समर्थन करता है। **लॉस्की** के अनुसार उदारवाद ने निर्धन वर्ग को हमेशा इस दृष्टिकोण से देखा है, मानो जीवन में सिर्फ अपनी गलतियों के चलते ही वह गरीब है।

2. उदारवादी दर्शन लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा पर आधारित नहीं—उदारवादी दर्शन को लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा का आधार बताया गया है, लेकिन लोक-कल्याणकारी राज्य की यह धारणा वास्तविक अर्थ में लोक-कल्याणकारी नहीं बन पाई है। इसका कारण यह है कि लोक-कल्याणकारी राज्य ने सामान्य नागरिकों को बेरोजगारी और जीवन-यापन की सामान्य चिंताओं से मुक्त नहीं किया है। यह अमीर और गरीब के बीच विद्यमान आय तथा संपत्ति की असमानता को भी दूर नहीं कर पाया है। **सी० राइट मिल्स** के अनुसार, "उदारवाद आधुनिक युग में एक वर्ग-विशेष की विचारधारा रही है और वह वर्ग है शहरों में रहनेवाला मध्यमवर्ग।"

3. क्रमिक परिवर्तन के सुधारवादी मार्ग असंतोषप्रद—उदारवादी राजनीति क्रमिक परिवर्तन के सुधारवादी मार्ग में विश्वास करती है, लेकिन उदारवाद के आलोचकों का विचार है कि क्रमिक परिवर्तन के मार्ग को अपनाकर समस्त व्यवस्था में मामूली परिवर्तन भले ही लाया जा सकता है, इसके द्वारा समाज का कायापलट कर पाना कतई संभव नहीं है। आलोचकों की राय में उदारवादी राजनीति ऐसा रूढ़िवादी तथा यथास्थितिवादी दर्शन है जिसके पास आधुनिक युग की समस्याओं का कोई समाधान नहीं है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि राजनीति का उदारवादी दर्शन संकट की घड़ी से गुजर रहा है। आज इसका प्रभाव विश्व के सिर्फ एक-तिहाई राज्यों में रह गया है। आज इसे साम्यवादी और फासीवादी विचारधाराओं की चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। आज विश्व के अधिकांश देशों ने साम्यवाद को अपना लिया है और इस प्रकार उदारवादी देशों में सरकारें लड़खड़ा रही हैं। सिद्धांत में अंतर्निहित दोषों तथा परिवर्तित परिस्थितियों के चलते उदारवादी राजनीति के दावे गलत सिद्ध हो चुके हैं। परिणामस्वरूप, आज यह माँग की जा रही है कि उदारवाद की मूलधाराओं में परिवर्तन लाया जाए। आज का उदारवाद बदली हुई परिस्थितियों में समाजवाद और मार्क्सवाद की चुनौती के सम्मुख एक विशिष्ट विचारधारा के रूप में बना रहेगा या नहीं, यह भविष्य के लिए एक बड़ा प्रश्न-चिह्न है।

राजनीति का मार्क्सवादी दृष्टिकोण
(Marxist View of Politics)

राजनीति के मार्क्सवादी दृष्टिकोण के हिमायती **कार्ल मार्क्स** हैं, जो पश्चिमी राजनीतिक विचारधारा के महान चिंतकों में एक हैं। विद्वानों ने मार्क्स को आधुनिक युग का प्रथम वैज्ञानिक समाजवादी या वैज्ञानिक

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

समाजवाद का जनक कहकर पुकारा है। मार्क्स एक क्रांतिकारी चिंतक है जो आधुनिक सभ्यता को समाप्त कर नए समाज की स्थापना चाहता है। मार्क्स पश्चिम की उदारवादी राजनीतिक विचारधारा के सर्वथा विपरीत विचार रखता है। उदारवादियों की भाँति वह राजनीति को न्याय और व्यवस्था की स्थापना तथा सर्वसाधारण की भलाई का साधन नहीं मानता। वह राजनीति को एक संघर्ष के रूप में देखता है। 'विश्व के मजदूरों एक हो जाओ'—मार्क्स के इस उद्घोष ने पूर्वी यूरोप के विभिन्न राज्यों, सोवियत रूस, चीन, वियतनाम, क्यूबा इत्यादि देशों में एक नवीन व्यवस्था को जन्म दिया है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण क्या है ?—राजनीति के मार्क्सवादी दृष्टिकोण का उदय **कार्ल मार्क्स** के दो ग्रंथों—**1. साम्यवादी घोषणापत्र** और **2. पूँजी** में अभिव्यक्त विचारों का परिणाम है। लेकिन, अब मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने विभिन्न आयामोंवाली एक व्यापक धारणा का रूप ले लिया है, जिसकी गहराई में प्रवेश करने के लिए **एंजिल्स, लेनिन, बुखारिन, स्टालिन, ग्रास्सी, माओ** इत्यादि के साथ-साथ यूरोपीय साम्यवाद, न्यूलेफ्ट तथा फ्रेंकफर्ट स्कूल द्वारा अभिव्यक्त विचारों को भी समझना होगा। उदारवाद की भाँति मार्क्सवादी राजनीति में भी संघर्ष और मतभेद केंद्रीय तत्त्व हैं, लेकिन संघर्ष की प्रकृति के संबंध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण उदारवादी दृष्टिकोण से असहमत है। मार्क्सवादी मानते हैं कि यह ऐसा संघर्ष है जिसके बीज वर्ग-विभाजन में देखे जा सकते हैं। मार्क्स के अनुसार, समाज में व्यक्ति अकेले नहीं होते, वरन वे अपने जैसे समुदाय के सदस्य होते हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार, भूतकालीन तथा आज की समाज-व्यवस्था में स्पष्ट रूप से दो वर्ग विद्यमान हैं। इनमें जो वर्ग उत्पादन के साधनों का स्वामी है, उसे **बुर्जुआ-वर्ग** कहा जाता है। दूसरा वर्ग ऐसा है जिसके पास सिर्फ अपना श्रम है और इस वर्ग को **सर्वहारा-वर्ग** के नाम से पुकारा जाता है। इन दोनों वर्गों में अनवरत संघर्ष की स्थिति बनी हुई है। यह अनवरत संघर्ष ही वर्ग-संघर्ष की स्थिति है।

राजनीति सामाजिक प्रक्रिया का एक पक्ष है—मार्क्स इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या द्वारा राज्य और राजनीति के बदलते स्वरूपों की चर्चा करता है। उसके अनुसार, प्रारंभिक साम्यवाद के युग में राज्य नाम की कोई संस्था नहीं थी। उस समय व्यक्ति के पास संपत्ति नाम की कोई वस्तु नहीं थी, जिसके चलते समाज वर्गहीन था। उस समाज में न कोई शासक था और न कोई शासित। परिणामस्वरूप, उस युग में 'राजनीति' जैसी कोई चीज नहीं थी। बाद में जब समाज के आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन हुआ तब समाज दो वर्गों—1. **स्वामीवर्ग** (masters) और 2. **दासवर्ग** (slaves) में बँट गया। यहीं से राज्य का प्रारंभ हुआ और इसने राजनीति को जन्म दिया। पुनः, उत्पादन के साधनों और सामाजिक संबंधों में परिवर्तन के चलते पूँजीवादी युग का आगमन हुआ। पूँजीपतिवर्ग ने मजदूरवर्ग का शोषण करना प्रारंभ किया। परिणामस्वरूप, पूँजीवादी व्यवस्था धीरे-धीरे जटिल होती गई। इसके चलते राज्य और राजनीति का रूप भी जटिल होता गया। अतः, स्पष्ट है कि राज्य या राजनीति मानव की सामाजिकता का एक पहलू है। इसका विकास और स्वरूप समाज के आर्थिक ढाँचे पर निर्भर करता है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण का विशेष लक्षण—राजनीति के मार्क्सवादी दृष्टिकोण की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन हम निम्नलिखित रूपों में कर सकते हैं—

1. मार्क्सवादी दृष्टिकोण व्यक्ति पर समग्र सामाजिक संबंधों के संदर्भ में विचार करता है—व्यक्ति की सामाजिक प्रवृत्ति को स्वीकार कर मार्क्सवाद यह मानता है कि सामाजिक परिवेश के संदर्भ में ही व्यक्ति को समझा और जाना जा सकता है। मार्क्स व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित में कोई अंतर नहीं करता। **एच॰ लेफेबरे** के अनुसार, ''मार्क्स का विषय हमेशा ही सामाजिक मानव रहा है और वह मानव को हमेशा समूह, वर्ग और समाज के संदर्भ में ही देखता है।'' मार्क्सवादी दृष्टिकोण इस बात का भी हिमायती है कि सामाजिक जीवन के विविध पक्ष एक-दूसरे के साथ गहरे रूप से गुँथे हुए हैं। मनुष्य को सामाजिक परिस्थितियों और सामाजिक तत्त्वों से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

2. समाज-व्यवस्था का आधार व्यक्ति नहीं, वरन वर्ग है—मार्क्स के विचार में समाज की व्याख्या के लिए आधारभूत इकाई व्यक्ति नहीं, वर्ग है और समाज इन वर्गों का समग्र रूप है। समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। हर युग में दो परस्परविरोधी वर्ग पाए जाते हैं। उन वर्गों के आपसी संघर्ष से ही उस युग का निर्माण होता है। जहाँ उदारवादी दृष्टिकोण समाज को स्वतंत्र, स्वार्थपूर्ण और महत्त्वाकांक्षी इच्छाओं के धनी व्यक्तियों की भीड़ के रूप में देखता है, वहाँ मार्क्स समाज को एक विकासोन्मुख निकाय के रूप में देखता है, जिसका स्वरूप सावयव है और जिसके विकास का आधार उत्पादन के साधनों एवं उत्पादन की प्रक्रिया पर निर्भर है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

3. आर्थिक व्यवस्था राजनीति और समस्त व्यवस्था का निर्णायक तत्त्व है—मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार, राजनीति और समस्त व्यवस्था उत्पादन-प्रक्रिया और आर्थिक तत्त्वों से संचालित होती है। उत्पादन की इस प्रक्रिया में निरंतर विकास होता रहता है। उत्पादन की व्यवस्था में होनेवाले परिवर्तनों के चलते ही सारी व्यवस्था में परिवर्तन होता है। मार्क्स अपने इस विचार का विश्लेषण करते हुए कहता है कि जब उत्पादन के साधन बहुत सरल थे और शिकार ही जीवन-यापन का मुख्य साधन था, तब **आदिम साम्यवादी अवस्था** थी। खेती और पशुपालन के युग ने **दास अवस्था** को जन्म दिया। जब छोटे-मोटे उद्योग विकसित हुए तब **सामंती अवस्था** आई। इसके बाद औद्योगिक क्रांति ने पूँजीवादी अवस्था को जन्म दिया। पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्विरोध श्रमिक वर्ग के अधिनायकवाद को जन्म देंगे और पूँजीवादी तत्त्वों के पूर्ण विनाश के बाद मानवीय इतिहास की अंतिम अवस्था साम्यवादी या राज्यविहीन और वर्गहीन समाज की होगी। मार्क्सवादी दृष्टिकोण की मान्यता है कि प्रत्येक युग की समस्त सामाजिक अवस्था पर उसी वर्ग का आधिपत्य होता है, जिसे उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व प्राप्त हो। वर्तमान समय में पूँजीपतियों ने अपनी धन-संपदा के बल पर राजनीति और राजनीतिक व्यवस्था पर आधिपत्य स्थापित कर लिया है और इस प्रकार राजनीति संपत्तिशालीवर्ग की दासी हो गई है।

4. वर्ग-संघर्ष इतिहास की कुंजी है—मार्क्स इतिहास की अनिवार्यता में विश्वास करता है। इतिहास में अपना ओज तथा प्रवाह होता है। व्यक्ति अपने प्रयत्नों द्वारा इतिहास के प्रवाह को रोक नहीं सकता। इतिहास में परिवर्तन का दूसरा नाम 'क्रांति' है। मार्क्स के अनुसार, समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। अपनी प्रसिद्ध कृति **साम्यवादी घोषणापत्र** में मार्क्स ने लिखा है, "अब तक के समस्त मानव-समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। स्वतंत्र व्यक्ति तथा दास, अमीर तथा सामान्य जन, भूस्वामी तथा भूदास, श्रेणीपति तथा दस्तकार, संक्षेप में उत्पीड़क तथा उत्पीड़ित निरंतर एक-दूसरे का विरोध करते हैं तथा अनवरत कभी लुक-छिपकर तथा कभी खुलकर संघर्ष चलाते रहते हैं। इस संघर्ष की परिणति प्रत्येक बार या तो समाज के क्रांतिकारी पुनर्निर्माण में हुई है या संघर्ष करनेवाले वर्गों के सर्वनाश में।"

स्पष्ट है कि कार्ल मार्क्स के समस्त चिंतन में वर्ग-संघर्ष ही मूलभूत तत्त्व है। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार, भूतकालीन तथा वर्तमान की समाज-व्यवस्था में स्पष्ट रूप से दो वर्ग विद्यमान हैं—जिन्हें हम **बुर्जुआ** एवं **सर्वहारा वर्ग** के नाम से जानते हैं। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार, राज्य एवं राजनीति को वर्ग-संघर्ष के संदर्भ में ही उचित रूप से समझा जा सकता है। **बी० फ्योडोरोव** के अनुसार, "राज्य और राजनीति अंततः विभिन्न सामाजिक समूहों के आर्थिक संबंधों के समायोजन के प्रतिबिंब मात्र हैं।"[1]

5. राज्य और शासन शोषण के यंत्र हैं—**प्लेटो, अरस्तू** एवं अन्य विचारकों के अनुसार, राज्य एक स्वाभाविक और नैतिक संस्था है, जो मानव-जीवन के साथ जुड़ी हुई है। इसके विपरीत, मार्क्स राज्य को एकवर्गीय संस्था मानता है। राज्य का उदय वर्ग-विभेद के चलते हुआ है और राज्य-संस्था हमेशा ही शोषकवर्ग के सहायक के रूप में कार्य करती रही है। सामंती युग में राज्य की शक्ति और साधनों पर सामंतों का अधिकार होता था और उसके द्वारा वे बहुसंख्यक किसानों का शोषण किया करते थे। आज के पूँजीवादी युग में राज्य संस्था पर पूँजीपतिवर्ग का आधिपत्य है और यह वर्ग राज्य की सहायता से श्रमिकवर्ग का शोषण करता है।

6. मार्क्सवादी दृष्टिकोण क्रांतिकारी पद्धति में विश्वास करता है—मार्क्स लोकतांत्रिक संस्थाओं को 'धनिकों की संस्थाएँ' कहकर उनका उपहास करता है। वह कहता है कि लोकतांत्रिक प्रणाली से श्रमिकों के हितों की कदापि रक्षा नहीं हो सकती। यह क्रांतिकारी राजनीति में विश्वास करता है। उसके विचार में, पूँजीपतियों द्वारा निरंतर शोषित रहने से श्रमिकवर्ग में क्रांतिकारी भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। **साम्यवादी घोषणापत्र** में **मार्क्स** और **एंजिल्स** ने लिखा है—"साम्यवादियों को अपने विचारों और उद्देश्यों को छिपाने से घृणा है। वे खुले तौर पर घोषणा करते हैं कि उनके लक्ष्य की प्राप्ति वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का बलपूर्वक उन्मूलन करके ही की जा सकती है।"

7. राजनीति आर्थिक शोषण का साधन है—मार्क्सवादी राजनीति के दो चरणों पर विचार करते हैं—1. क्रांति से पहले की राजनीति और 2. क्रांति के बाद की राजनीति। क्रांति से पहले की राजनीति शोषण का साधन है। समाज में हमेशा एक वर्ग शक्तिशाली होता है और दूसरा वर्ग कमजोर। शक्तिशालीवर्ग

1. "The state and politics are in the final analysis, an expression of economic re-adjustments of society and social groups."—B. FYODOROV : *Theory of Politics and Lenin's Legacy*, p. 34

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

के नियंत्रण में उत्पादन के साधन रहते हैं। उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण के साथ-साथ वह वर्ग मानसिक उत्पादन पर भी नियंत्रण कर बुद्धिजीवियों को खरीद लेता है और इस प्रकार राजनीति को अपने शोषण का साधन बना लेता है। ऐसी राजनीति को मार्क्स ने 'राजनीतिक मिथ्या' (political lie) या 'बुर्जुआ राजनीति' के नाम से पुकारा है।

8. राजनीति सामाजिक पुनर्स्थापना का साधन है—मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार, पूँजीवादी समाज में राजनीति का रूप अ-राजनीतिक (anti-politics) होता है। लेकिन, क्रांति के बाद राजनीति सामाजिक विकास और पुनर्स्थापना का साधन बन जाती है। राजनीति का मुख्य काम हो जाता है—समाज में परिवर्तन लाने के लिए चेतना को जागृत करना। इस कार्य को राजनीति क्रांति के बाद तो करती ही है, क्रांति के पूर्व भी बुर्जुआ समाज में पूँजीपतियों द्वारा शोषण के विरुद्ध श्रमिकों में क्रांति की चेतना पैदा करती है। **लेनिन** ने पूँजीवादी समाज में आर्थिक समाज में लगे मजदूर-वर्ग में चेतना फैलाने के लिए राजनीति का उपयोग किए जाने का विचार किया है। राजनीति श्रमजीवी-वर्ग में चेतना का संचार करती है। इस चेतना से वर्ग-संघर्ष का जन्म होता है। यह वर्ग-संघर्ष राजनीति का तीव्र रूप बन जाता है।

9. सर्वहारा क्रांति के बाद श्रमजीवी तानाशाही की स्थापना—सर्वहारा क्रांति के बाद श्रमजीवी तानाशाही की स्थापना होती है। ऐसे संक्रमणकाल में राजनीति बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस काल में राज्य या राजनीति शोषण के साधन नहीं रह जाते, वरन वे सर्वहारा क्रांति को दृढ़ बनाने, उसके शत्रुओं का विनाश करने तथा समाज में परिवर्तन लाने का साधन बन जाते हैं। इस प्रकार, क्रांति के बाद राजनीति समाज के मुख्य सवाल के रूप में नहीं रह जाती। उसका वर्ग-चरित्र समाप्त हो जाता है और वह सत्ता के खेल के रूप में नहीं, वरन एक वर्गविहीन समाज की स्थापना के माध्यम के रूप में काम करने लगती है। राजनीति सामाजिक परिवर्तनों में बाधा नहीं डालती।

आलोचनाएँ—राजनीति के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण की आलोचनाएँ निम्नलिखित आधारों पर की गई हैं—

1. वर्ग-संघर्ष राजनीति का केंद्रीय तत्त्व नहीं है—आलोचकों का यह विचार सत्य है कि वर्ग-संघर्ष राजनीति का केंद्रीय तत्त्व नहीं है, क्योंकि धर्म, सत्ता के लिए संघर्ष और शासकवर्ग की महत्त्वाकांक्षाएँ आदि तत्त्व राजनीति में वर्ग-संघर्ष की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

2. राज्य के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण स्वीकार योग्य नहीं है—राजनीति में सामान्य विचार यही है कि राज्य और शासन शोषण के यंत्र नहीं, वरन मानव-जीवन को अव्यवस्था के दलदल से बाहर निकालकर व्यवस्था उत्पन्न करने में संलग्न शाश्वत संस्थाएँ हैं, जिनका एकमात्र उद्देश्य मानव-जीवन को श्रेष्ठता की दिशा में अग्रसर करना है।

3. हिंसा और बल-प्रयोग का परिणाम अराजकता हो सकती है—आलोचकों की राय में हिंसा और बल-प्रयोग की पद्धति को अपनाने पर पूँजीवाद का अंत साम्यवाद में न होकर ऐसी अराजकता में भी हो सकता है, जिसमें साम्यवादी आदर्शों का कोई मूल्य न हो। इससे निरंकुशवाद के पनपने की संभावना भी बढ़ जाती है। **पॉपर** ने भी लिखा है, "व्यावहारिक राजनीति के दृष्टिकोण से हिंसात्मक क्रांति की भविष्यवाणी मार्क्सवाद का संभवतः सबसे अधिक हानिकारक तत्त्व है।"

उदारवादी दृष्टिकोण और मार्क्सवादी दृष्टिकोण में अंतर
(Difference between the Liberal and Marxist Views of Politics)

उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण में निम्नलिखित अंतर हैं—

1. धर्मनिरपेक्ष राज्य का आदर्श उदारवादी दृष्टिकोण की पहचान है, जबकि मार्क्सवादी दृष्टिकोण में धर्मनिरपेक्षता का कोई उल्लेख नहीं है।

2. लोकतंत्र और लोकतांत्रिक पद्धति में अटूट विश्वास उदारवादी दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण ऐसी पद्धति में विश्वास नहीं करता।

3. जहाँ उदारवाद सुधारवादी दर्शन है, वहाँ मार्क्सवादी दृष्टिकोण क्रांतिकारी है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

4. मार्क्सवादी विचारधारा राज्य और शासन को शोषण का यंत्र मानती है, जबकि उदारवादी विचारधारा में ऐसी कोई भी बात नहीं है।

5. उदारवादी दृष्टिकोण की मान्यता है कि मानवीय जीवन की विविधताएँ और समस्याएँ संघर्ष की स्थिति को जन्म देती हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण राजनीति को वर्ग-मतभेद और वर्ग-संघर्ष के रूप में प्रस्तुत करता है जिसमें सत्ता पर नियंत्रणकर्ता शक्तिशाली वर्ग राजनीति और राजसत्ता का उपयोग अपने हितों की पूर्ति के साधन के रूप में करता है।

6. राजनीति का उदारवादी दृष्टिकोण राज्य और राजनीति के प्रति सुधारवादी और समन्वयकारी दृष्टिकोण अपनाता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण वर्ग-संघर्ष के तत्त्व को केंद्रीय स्थिति प्रदान करते हुए राज्य तथा शासन को शोषणकारी संस्था के रूप में चित्रित करते हुए 'संघर्ष प्रतिमान' प्रस्तुत करता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत परिवर्तन-प्रक्रिया में संघर्ष और क्रांति की जो स्थिति प्रदान की गई है, उसके संबंध में **आर० मिलीबैंड** ने लिखा है, "राजनीति के प्रति मार्क्सवाद समन्वय प्रतिमान के स्थान पर संघर्ष प्रतिमान प्रस्तुत करता है।" आज का विश्व इन दो दृष्टिकोणों के बीच विभाजित है। पश्चिमी देश उदारवादी दृष्टिकोण अपनाकर 'स्वतंत्र समाज' की संरचना अपना ध्येय बताते हैं, वहाँ साम्यवादी देश मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाकर 'सामाजिक-आर्थिक न्याय पर आधारित समाज की रचना' अपना लक्ष्य बताते हैं। **डूवर्जेर** (Duverger) ने राजनीति के उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोणों की विवेचना करते हुए दोनों दृष्टिकोणों के बीच अंतर स्पष्ट करते हुए लिखा है—"मानव ने जबसे राजनीतिक चिंतन प्रारंभ किया, वह दो परस्पर नितांत विरोधी दृष्टिकोणों के बीच फूलता रहा है। प्रथम विचार के अनुसार, राजनीति ऐसा संघर्ष या द्वंद्व है, जहाँ शक्ति-तत्त्व सदैव अपने नियंत्रक के हितों की रक्षा करने और समाज पर उसका प्रभुत्व बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है। दूसरे विचार के अनुसार, राजनीति मानव-समाज में व्यवस्था और न्याय-स्थापना से संबंधित है, जहाँ शक्ति का प्रयोग निजी हितों के विरुद्ध सार्वजनिक हितों के लिए किया जाता है।"[1]

प्रश्नावली

1. राजनीति के प्रति परंपरागत उदारवादी दृष्टिकोण की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
   (Examine critically the traditional liberal view of politics.)
2. उदारवादी दर्शन के प्रमुख लक्षण कौन-से हैं ? उदारवादी दर्शन की कमजोरियों को स्पष्ट करें।
   (What are the main features of liberal view ? Clarify its weaknesses.)
3. परंपरागत उदारवादी दृष्टिकोण और आधुनिक उदारवादी दृष्टिकोण के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए।
   (Distinguish between traditional liberal view and modern liberal view.)
4. राजनीति के मार्क्सवादी दृष्टिकोण का विश्लेषण कीजिए।
   (Discuss Marxist view of politics.)
5. "वर्ग-संघर्ष की धारणा मार्क्सवादी दृष्टिकोण का मुख्य विचार है।" व्याख्या कीजिए।
   ("The theory of class war is the central point of Marxian view of politics." Discuss.)
6. "उदारवाद राजनीति का सहमति-समायोजन प्रतिमान प्रस्तुत करता है, मार्क्सवाद संघर्ष-प्रतिमान।" स्पष्ट कीजिए।
   ("Liberalism puts forth consensus-accomodation view of politics, while Marxism puts forth conflict view of politics." Explain this statement.)
7. राजनीति के उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोणों में अंतर स्पष्ट कीजिए।
   (Point out the difference between the liberal and Marxist views of politics.)

□ □ □

1. DUVERGER : *The Idea of Politics* (London, 1969), p. XII-XIII

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 3

परंपरागत राजनीतिशास्त्र : प्रकृति एवं क्षेत्र

[TRADITIONAL POLITICAL SCIENCE : NATURE AND SCOPE]

1. राजनीतिशास्त्र का आरंभ और अंत राज्य से होता है।—गार्नर
2. राजनीतिशास्त्र सरकार से संबंधित विधा है।—लीकॉक
3. राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र का वह अंग है, जो राज्य के आधार पर शासन के सिद्धांतों की विवेचना करता है।—पॉल जैनेट

विषय-प्रवेश (Introduction)

अरस्तू ने कहा है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, जिसके जीवन के विभिन्न पहलू हैं। इन पहलुओं का अध्ययन विभिन्न विषयों के अंतर्गत किया जाता है। सामाजिक शास्त्र विभिन्न सामाजिक पहलुओं को अपने क्षेत्र के अंतर्गत शामिल करता है। यह मानव के सामाजिक व्यवहार की ओर हमारा ध्यान केंद्रित करता है। जहाँ तक राजनीतिशास्त्र का प्रश्न है, यह एक विशुद्ध सामाजिक शास्त्र है, जो समस्त सामाजिक शास्त्रों में प्राचीनतम है, क्योंकि राजनीतिशास्त्र का विषय राज्य है और राज्य यूनानी दार्शनिकों के काल से 'एक प्राचीन मानव-समुदाय' रहा है। एक शैक्षणिक अनुशासन के रूप में इसका विकास 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। 1945 ई० तक राज्य राजनीतिशास्त्र का केंद्रबिंदु बना रहा और यह विषय राज्य के अध्ययन तक ही सीमित रहा। बाद में यह सरकार का भी अध्ययन करने लगा। लेकिन, आज की परिस्थिति में उत्पन्न व्यवहारवादी आंदोलनों ने राजनीतिशास्त्र की प्रकृति, क्षेत्र तथा अध्ययन-प्रणाली में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिए हैं। आज पुराने राजनीतिशास्त्र को **परंपरागत** और नए राजनीतिशास्त्र को **आधुनिक** कहा जाता है।

परंपरागत राजनीतिशास्त्र का इतिहास
(History of Traditional Political Science)

राजनीतिशास्त्र का प्रारंभ प्राचीन यूनानी सभ्यता में ही हो गया था। **प्लेटो** तथा **अरस्तू** ने अपने ग्रंथों में इन विषय-संबंधी बातों का समावेश किया। प्लेटो ने जहाँ **आदर्श राज्य** के माध्यम से न्याय की खोज करनी चाही, वहाँ अरस्तू ने सरकार के आदर्श स्वरूप पर अपना ध्यान केंद्रित किया है। **प्लेटो** और **अरस्तू** के ग्रंथों के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ **प्लेटो** ने दार्शनिक दृष्टिकोण की नींव डाली, वहाँ **अरस्तू** ने आनुभविक दृष्टिकोण का सहारा लिया। इन दोनों दार्शनिकों की पद्धतियों का प्रभाव राजनीतिशास्त्र पर सदियों तक रहा और आज भी है।

अनेक शताब्दियों तक राजनीतिशास्त्र दर्शन का एक अंग बना रहा। इसलिए राजनीति के अधिकांश प्राचीन विद्वान दार्शनिक कहे जाते हैं। इसके बाद राजनीति के विषय का अध्ययन क़ानूनी दृष्टिकोण से होना प्रारंभ हुआ। **मैकियावेली** इस युग का महान राजनीतिक विचारक था, जिसे हम **राजनीतिशास्त्र का जनक** कहते हैं। 16वीं शताब्दी में लिखित अपनी पुस्तक **द प्रीन्स** में **मैकियावेली** ने राजनीति की व्यावहारिक समीक्षा की है। उसके बाद राजनीति को इस दृष्टिकोण से देखने की प्रवृत्ति बनी रही। इस दृष्टिकोण और आधुनिक राजनीतिशास्त्र के उदय के बीच की अवधि के दौरान राजनीतिशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन ने विविध रूप ग्रहण किया है। इन सभी युगों में राजनीतिक विचारकों ने शासन और उसकी सीमाओं, शासक और शासितों के संबंधों तथा उपयुक्त राजनीतिक संगठनों पर विचार किया।

वर्तमान रूप में विकास के पहले राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की प्रणाली ऐतिहासिक बनी रही, यद्यपि समय-समय पर इस प्रणाली में हेर-फेर होता रहा। सचमुच इस काल में राजनीति का शासन और उसकी

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

संस्थाओं के माध्यम से अध्ययन किया जाता रहा। संक्षेप में, परंपरागत राजनीतिशास्त्र के विद्वान राजनीति का मुख्यतः न्यायशास्त्रीय तथा कानूनी दृष्टि से अध्ययन करते थे और उनके अनुसंधान तथा विश्लेषण की प्रमुख विधियाँ ऐतिहासिक एवं विवरणात्मक थीं।

उपर्युक्त तथ्यों से प्रभावित होकर 20वीं शताब्दी के आरंभ में राजनीतिशास्त्रियों ने एक अन्य दृष्टिकोण को अपनाया, जिसे हम **आदर्शात्मक निर्देशात्मक** (normative prescriptive) कहते हैं। इसके अंतर्गत विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं तथा सरकार के विभिन्न रूपों के गुण-अवगुणों तथा लाभ-हानि का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता था। कुछ मूल्यों और आदर्शों को आधार मानकर राजनीतिक चर्चा की जाती थी। राजनीतिक घटनाओं के मूल्यांकन का आधार उनका नैतिक गुण था, अनुभवात्मक या वैज्ञानिक पद्धति नहीं। यह दृष्टिकोण प्राकृतिक कानून के सिद्धांत पर आधारित था। **प्लेटो, काण्ट, एक्वीनास** तथा **हीगेल** जैसे राजनीतिक दार्शनिकों ने इसे अपनाया। चूँकि 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण तक राजनीतिक चिंतक राजनीतिशास्त्र को अन्य शास्त्रों से अलग नहीं कर पाए थे, इसलिए राजनीति के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धतियों का सहारा लेने की बात भी नहीं सोची गई।

परंपरागत राजनीतिशास्त्र की यथार्थवादी परंपरा—इस अवधि में भी कुछ विद्वान राजनीतिक संस्थाओं के वास्तविक कार्यकरण की ओर ध्यान मोड़ना चाहते थे। सर्वप्रथम, **जेम्स ब्राइस** ने इस दिशा में पहल की। 1888 ई० में अपनी पुस्तक **अमेरिकन कॉमनवेल्थ** में जेम्स ब्राइस ने अमेरिकी संस्थाओं और लोगों के संबंधों में सिर्फ तथ्यों को सामने लाने का उद्देश्य बताया। 1909 ई० में **अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस एसोसिएशन** की स्थापना की गई। इसके बाद से राजनीतिशास्त्र ने राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं से संबंधित तथ्यों के संग्रह, संगठन और वर्गीकरण को प्रोत्साहित किया। इसके बाद राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र विस्तृत होता गया और इसके अंतर्गत विभिन्न संगठनों का ढाँचा तथा निर्णय लेने एवं कार्य करने की प्रक्रियाओं आदि का अध्ययन होने लगा। राजनीतिशास्त्र में नए तथ्यों, आँकड़ों और सामान्यीकरण की आवश्यकता महसूस की गई तथा इसके लिए विविध प्राविधिक तरीकों की खोज होने लगी। राजनीतिशास्त्र को वैज्ञानिक बनाने के साथ-साथ अंतर-विषयक (interdisciplinary) बनाने का भी प्रयास चल पड़ा। 20वीं सदी के प्रारंभ में राजनीतिशास्त्र अनेक विषयों के अन्वेषण से प्रभावी होने लगा और इसके अध्ययन में अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाया जाने लगा।

परंपरागत राजनीतिशास्त्र की परिभाषाएँ
(Definitions of Traditional Political Science)

परिभाषा-संबंधी कठिनाइयाँ—**सिजविक** ने अपनी पुस्तक **एलिमेंट्स ऑफ पॉलिटिक्स** में ठीक ही कहा है, "वैज्ञानिक अनुसंधान के सभी क्षेत्रों से मुख्य शब्दों की शुद्ध, सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित परिभाषा प्राप्त कर लेना एक महत्त्वपूर्ण कार्य बन गया है।"[1] लेकिन, किसी भी विषय को एक निश्चित एवं सुस्पष्ट परिभाषा में जकड़े रखना आसान काम नहीं है। राजनीतिशास्त्र-जैसे विषयों में तो निश्चित रूप से कोई स्पष्ट परिभाषा निर्धारित नहीं की जा सकती। यही कारण है कि राजनीतिशास्त्र को विभिन्न दृष्टियों से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। **गार्नर** के विचार में, राजनीतिशास्त्र की उतनी ही परिभाषाएँ हैं, जितनी संख्या राजनीतिशास्त्र के लेखकों की है। यही कारण है कि आज राजनीतिशास्त्र की शब्दावली (terminology) में अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। यहाँ एक ही शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। लेकिन, परिभाषा-संबंधी इस कठिनाई के बावजूद राजनीतिशास्त्र की न्यायसंगत परिभाषा की आवश्यकता पर बल देते हुए **जेलिनेक** (Jellinek) ने कहा है, "राजनीतिविज्ञान के अलावा अन्य कोई ऐसा विज्ञान नहीं है जिसे अपने लिए शब्दावली की इतनी अधिक आवश्यकता है।"[2] **लॉवेल** के विचार में भी "आधुनिक विज्ञान की सबसे पहली आवश्यकता शिक्षित व्यक्तियों के सामने उसके नामकरण का अभाव रहा है।"[3]

---

1. SIDGWICK : *Elements of Politics*, p. 19
2. "There is no science which is so much in need of a good terminology as is Political Science."—JELLINEK
3. "The study of politics lacks the first essential of modern sciences, a nomenclature incomprehensible to educated men."—LOWELL

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

परंपरावादी दृष्टिकोण (Traditional view)—उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि 19वीं शताब्दी तक राजनीतिविज्ञान पर परंपरावादी दृष्टिकोण का प्रभाव स्थापित रहा, जिसका एकमात्र ध्यान राज्य तथा सरकार-जैसी संस्थाओं पर केंद्रित था। ऐसे परंपरागत अध्ययन का आधार औपचारिक तथा संस्थागत था। विद्वानों ने राजनीतिशास्त्र की परंपरागत परिभाषा निम्नलिखित आधारों पर देने का प्रयास किया है—

1. शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से—'राजनीतिशास्त्र' शब्द अँगरेजी शब्द **पॉलिटीकल साइंस** (Political Science) का हिंदी अनुवाद और 'राजनीति' शब्द यूनानी भाषा के शब्द **पोलिस** (Polis) का हिंदी रूपांतर है, जिसका अर्थ **नगर-राज्य** होता है। प्राचीन यूनान के छोटे-छोटे नगर-राज्य के अध्ययन करनेवाले शास्त्र को **पॉलिटिक्स** के नाम से पुकारा जाता था। चूँकि उस समय नगर और राज्य पर्यायवाची थे, इसलिए यूनानी नगर-राज्यों का आधुनिक नाम राज्य है। **प्लेटो** तथा **अरस्तू** जैसे यूनानी दार्शनिकों ने अपने ग्रंथों में यह कहा है कि राजनीतिशास्त्र राज्य-संबंधी समस्त बातों का अध्ययन करता है और इस संदर्भ में हम राजनीतिशास्त्र को 'राज्य का विज्ञान' कहते हैं।

2. भारतीय विद्वानों के अनुसार—प्राचीन भारतीय राजनीतिक दार्शनिकों ने राजनीतिशास्त्र की परिभाषा देते हुए कहा है कि राजनीतिशास्त्र **दंडनीति** से संबंधित है। **दंडनीति** में साम, दाम, दंड और भेद की प्रधानता होती है। **दंडनीति** के ये चारों आधार राजनीतिशास्त्र के क्रियाशील तत्त्व रहे हैं। अतएव, **दंडनीति** ही, उनकी दृष्टि में, आज राजनीतिशास्त्र है। जो विद्या राज्य, शासन और दंड का प्रतिपादन करे, भारतीय विद्वानों के अनुसार, वह **दंडनीति** है। इसके अलावा, प्राचीन भारतीय साहित्यों में राजनीतिशास्त्र को **राजधर्म, राज्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र** आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया है। **मनुस्मृति** में 'राजधर्म' और 'राज्यशास्त्र' के साथ-साथ राजनीतिशास्त्र के लिए 'दंडनीति' शब्द का प्रयोग किया गया है। **मनु** का कहना है कि 'दंड' ही वास्तविक शासन है, वास्तविक नेता और वास्तविक संरक्षक है। प्राचीन भारतीय साहित्यों में राजनीतिशास्त्र के नामों में 'नीतिशास्त्र' और 'अर्थशास्त्र' भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। जहाँ **कामंदक, शुक्राचार्य, लक्ष्मीधर, अन्नानभट्ट, चंद्रशेखर, नीलकंठ** इत्यादि विद्वानों ने राजनीतिशास्त्र को 'नीतिशास्त्र' के नाम से पुकारा है, वहाँ **आचार्य कौटिल्य** ने राजनीतिशास्त्र[1] के बदले **अर्थशास्त्र** का ही प्रयोग किया है। उसने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में राजनीतिशास्त्र के कतिपय सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है और स्पष्ट रूप से बताया है कि राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत एक सुव्यवस्थित समाज तथा राज्य का अध्ययन किया जाता है। अतएव, यह सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुसार भी राजनीतिशास्त्र एक राज्य-विषयक शास्त्र है।

3. परंपरावादी विद्वानों के अनुसार—परंपरावादी विद्वानों ने राजनीतिशास्त्र की परिभाषा इसके बदलते हुए स्वरूप और विस्तार के संदर्भ में की है। इनके द्वारा की गई परिभाषाओं को निम्नांकित तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) राज्य के अध्ययन के रूप में,
(ख) सरकार के अध्ययन के रूप में,
(ग) राज्य और सरकार दोनों के अध्ययन के रूप में।

(क) राज्य के अध्ययन के रूप में—आधुनिक काल में अनेक विद्वानों ने राजनीतिशास्त्र को केवल राज्य के अध्ययन के रूप में स्वीकार किया है। इनके विचार में राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र केवल राज्य की व्यवस्था और अध्ययन करने तक ही सीमित है। राजनीतिशास्त्र केवल राज्य का ही अध्ययन करता है—इसकी व्याख्या निम्नांकित विद्वानों द्वारा की गई है—

1. ब्लंश्ली—"राजनीतिशास्त्र वह विज्ञान है जो राज्य की आधारभूत स्थितियों, उसकी प्रकृति एवं विविध स्वरूप तथा विकास को समझने का प्रयास करता है।"[2]

2. गार्नर—"राजनीतिशास्त्र का आरंभ और अंत राज्य से ही होता है। सामान्यतया उसकी आधारभूत समस्या में तीन प्रकार की बातें सम्मिलित हैं। प्रथम, राज्य की प्रकृति तथा उत्पत्ति का अनुसंधान; द्वितीय,

---

1. "स मनु राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।"

2. "Political science is the science which is concerned with the state, which endeavours to understand and comprehend the state in its fundamental condition, in its essential nature, its various forms of manifestation and its development."—BLUNTSCHLI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप, इतिहास तथा उनके विभिन्न रूपों की गवेषणा; तृतीय, उसके आधार पर राजनीतिविज्ञान के नियमों का यथासंभव निर्धारण।''[1]

3. **गेरिस**—''राजनीतिशास्त्र राज्य को एक सत्ता-संस्था मानता है; वह राज्य के संबंधों, उसके उद्भव, उसकी भूमि एवं प्रजा, उसके उद्देश्य, उसके नैतिक महत्त्व, उसके जीवन की अवस्थाओं तथा आर्थिक एवं राजस्व-संबंधी समस्याओं और उसके साध्य इत्यादि का उल्लेख करता है।''[2]

ब्लंश्ली, गार्नर और **गेरिस** द्वारा राजनीतिशास्त्र की दी गई परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि इन विद्वानों ने केवल राज्य के अध्ययन पर ही जोर दिया है। इनकी परिभाषाओं में सरकार की चर्चा तक नहीं की गई है। लेकिन, सरकार के अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। सरकार राज्य की इच्छा और शक्ति की अभिव्यक्ति है। सरकार के अभाव में राजनीतिशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषाएँ एकांगी, अपूर्ण तथा असंगत हैं।

(ख) सरकार के अध्ययन के रूप में—इस वर्ग के प्रवर्तक राजनीतिशास्त्र को केवल सरकार के अध्ययन तक ही सीमित मानते हैं और राज्य के संदर्भ में थोड़ी भी चर्चा नहीं करते। इस वर्ग के अंतर्गत हम निम्नांकित नामों का उल्लेख कर सकते हैं—

(i) **सीले** नामक विद्वान का कहना है, ''राजनीतिशास्त्र शासन के सिद्धांत एवं कार्यों का उसी प्रकार से अध्ययन करता है, जिस प्रकार राजनीतिक अर्थशास्त्र संपत्ति का, जीवविज्ञान जीवन का, बीजगणित अंकों का और रेखागणित स्थान एवं परिमाण के संबंध में विचार करता है।''[3]

(ii) **लीकॉक** का कहना है, ''राजनीतिशास्त्र सरकार से संबंधित विधा है।''[4]

सीले और लीकॉक की उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजनीतिशास्त्र की ये परिभाषाएँ भी अपूर्ण तथा एकांगी हैं। इन परिभाषाओं के अंतर्गत सरकार को बिल्कुल अलग अस्तित्व दिया गया है। लेकिन, सत्य यह है कि सरकार राज्य का ही एक तत्त्व है। राज्य की अनुपस्थिति में हम सरकार की कल्पना तक नहीं कर सकते। अतएव, राजनीतिशास्त्र को केवल सरकार के अध्ययन तक हम सीमित नहीं कर सकते।

(ग) राज्य और सरकार दोनों के अध्ययन के रूप में— उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि राजनीतिशास्त्र राज्य और सरकार दोनों का अध्ययन करता है। राज्य और सरकार में अन्योन्याश्रय संबंध है। एक के बिना दूसरे की कल्पना तक नहीं की जा सकती। दोनों का अध्ययन एक साथ चलता है, इसलिए राजनीतिशास्त्र की न्यायसंगत परिभाषा यही हो सकती है कि यह राज्य और सरकार दोनों का अध्ययन करता है। **गिलक्राइस्ट, गेटेल, लॉस्की, पॉल जेनेट** इत्यादि विद्वानों ने कहा है कि राजनीतिशास्त्र राज्य और सरकार दोनों का अध्ययन करता है।

गेटेल के विचार में, ''राजनीतिशास्त्र राज्य के अतीत, आधुनिक या भावी स्वरूप का, राजनीतिक संगठनों तथा राजनीतिक कार्यक्रमों का, राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीतिक विचारधाराओं का अध्ययन करता है।''[5]

फ्रांसीसी विद्वान **पॉल जैनेट** के शब्दों में, ''राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र का वह अंग है जो राज्य के आधार पर शासन के सिद्धांतों का विवेचन करता है।''[6] सचमुच आज राजनीतिशास्त्र राज्य और सरकार दोनों का अध्ययन करने लगा है। फिर भी, परंपरावादियों की यह धारणा आज सीमित हो गई है; क्योंकि राजनीतिशास्त्र

---

1. "Political science begins and ends with the state. In a general way its fundamental problems include, first an investigation of the origin and nature of the state; secondly, an enquiry into the nature, history and forms of political institutions; and thirdly a deduction therefrom, so far as possible of the laws of political growth and development."—GARNER
2. "Political science considers the state as an institution of power in the totality of its relations, its origin, its setting (land and people), its object, its ethical significance, its economic problems, its life conditions, its financial side, its end etc."—GARIS
3. "Political science investigates the phenomenon of Government as Political Economy deals with wealth, Biology with life, Algebra with numbers and Geometry with space and magnitude."—SEELEY
4. "Political science deals with Government."—LEACOCK
5. "It is thus a study of the state in the past, present and future, of political organisations and political functions, of political institutions and political theories."—GETTELL
6. "Political science is that part of social science which treats of the foundation of the state and principles of government."—PAUL JANET

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

सिर्फ राज्य और सरकार का ही अध्ययन नहीं करता, क्योंकि आज राज्य का उद्देश्य लोक-कल्याणकारी हो गया है। इसने व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए अनेक संस्थाओं को जन्म दिया है, जिनका संबंध आज राजनीति-शास्त्र से है। यही कारण है कि राजनीतिशास्त्र अपनी न्यायसंगत और सटीक परिभाषा की खोज करने लगा।

4. राजनीतिशास्त्र न्यायसंगत और सटीक परिभाषा की खोज में

राजनीतिशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी परिभाषाएँ पूर्ण नहीं हैं। सचमुच राजनीतिशास्त्र के क्षेत्रांतर्गत राज्य और सरकार दोनों का अध्ययन होता है। जब **एच० जी० जेम्स** (H. G. James) राजनीतिशास्त्र को 'राज्य का विज्ञान' (science of state) कहता है तब वहाँ सरकार की भावना भी अंतर्निहित है। राज्य के भीतर एक ऐसी सत्ता या अभिकरण का होना आवश्यक है जो राज्य की इच्छा को क्रियान्वित कर सके और राज्य की इच्छा को क्रियान्वित करनेवाली संस्था को ही हम सरकार कहते हैं। अतः, राजनीतिशास्त्र का आरंभ और अंत केवल राज्य से न होकर (जैसा कि गार्नर ने कहा है), राज्य और सरकार दोनों से होता है।

राजनीतिशास्त्र का व्याख्या-संबंधी यह आधार भी संतोषप्रद नहीं है और इससे राजनीतिशास्त्र की व्यापकता का बोध नहीं हो पाता। आज के युग में सामाजिक शास्त्रों के निरंतर विकास के कारण राजनीतिशास्त्र की और भी अधिक न्यायसंगत परिभाषा की आवश्यकता है। आधुनिक युग में राज्य और समाज की समस्याएँ इतनी बढ़ गई हैं कि इसे केवल राज्य और सरकार तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता है। आधुनिक काल में जब हम राज्य के संबंध में सोचते हैं तब अपने-आप उसके विभिन्न पहलुओं पर भी विचार करने लगते हैं। राजनीतिशास्त्र के अनेक पहलू हैं, जो राज्य और सरकार की सीमा से परे हैं। उदाहरण के लिए, इतिहास मानव-जीवन के ऐतिहासिक पहलू की, धर्मशास्त्र उसके धार्मिक पहलू की और अर्थशास्त्र उसके आर्थिक संबंधों की विवेचना करता है। इसी तरह के जीवन का राजनीतिक पक्ष होता है जो राजनीतिविज्ञान के अध्ययन का विषय होता है। राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत हम अंतरराष्ट्रीय राजनीति, अन्य मानवीय संस्थाओं एवं समस्याओं का भी अध्ययन करते हैं। मनुष्य स्वभावतः और आवश्यकतावश एक सामाजिक प्राणी है। **अरस्तू** ने कहा है, "वह व्यक्ति जो समाज में नहीं रहता या जिसकी अपनी कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह अपने में पूर्ण है, अवश्य ही या तो पशु है या परमात्मा।"[1] समाज में रहते हुए मानव दूसरों के सहयोग की अपेक्षा करता है। समाज में मनुष्य के 'राजनीतिक संबंधों' को संचालित करने के लिए राज्य की जरूरत पड़ती है और राज्य सरकार तथा विधियों से अपनी इच्छा का स्पष्टीकरण करता हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि राजनीतिशास्त्र केवल राज्य और सरकार का ही अध्ययन नहीं करता, वरन मानव के पूर्ण राजनीतिक जीवन का भी अध्ययन करता है। मानव के राजनीतिक जीवन से संबंधित सारी समस्याएँ राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत आती हैं। यहाँ राजनीतिशास्त्र मनुष्य के राजनीतिक जीवन से संबंधित विधा की तरह दीख पड़ता है। **इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज** में **हरमन टेलर** ने ठीक ही कहा है, "राजनीतिशास्त्र के सर्वांगीण स्वरूप का निर्धारण उसकी मानव-संबंधी मौलिक मान्यताओं द्वारा होता है।"[2]

राजनीतिशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओं के उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत मानव-जीवन के सारे पहलुओं का अध्ययन किया जाता है, जिसमें राज्य और सरकार का अध्ययन स्वाभाविक रूप से आता है। अतः, हम कह सकते हैं कि राजनीतिशास्त्र वह विज्ञान है जो मानव के एक राजनीतिक और सामाजिक प्राणी होने के नाते उससे संबंधित राज्य और सरकार दोनों संस्थाओं का अध्ययन करता है और विकासक्रम में न्यायसंगत तथा सटीक परिभाषा की तलाश में है। इस विषय की न्यायसंगत तथा सटीक परिभाषा तभी दी जा सकती है जब हम इसके आधुनिक तथा नवीन दृष्टिकोणों पर विचार करेंगे।

नामकरण का अंतर
(Terminological Distinction)

राजनीतिशास्त्र की उपर्युक्त विभिन्न परिभाषाओं के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजनीतिशास्त्र के विद्वानों ने अपने-अपने चश्मे से राजनीतिशास्त्र को देखकर इसे विभिन्न नामों से संबोधित

1. "He, who is unable to live in society or who has no need because he is sufficient for himself, must be either a beast or God."—ARISTOTLE
2. "The character of Political Science in all of its parts is determined by its basic pre-supposition regarding men."—HERMAN TELLER : *Encyclopaedia of Social Sciences*

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

किया है। कुछ लोगों ने इसे **राजनीति** (Politics) कहा है, तो अन्य लोगों ने **राजनीतिशास्त्र** (Political Science)। कुछ लोगों ने इसे **राजनीतिक दर्शन** (Political Philosophy) कहा है तो कुछ लोगों ने **नीति-विज्ञान** (Policy Science)। विभिन्न विद्वानों द्वारा दिए गए विभिन्न नामों की विवेचना हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

राजनीति (Politics)—प्राचीन काल में राज्य के क्रियाकलापों के लिए 'राजनीति' शब्द का ही प्रयोग किया जाता था। यूनानी दार्शनिक अरस्तू के महान ग्रंथ का नाम भी 'राजनीति' ही था। **पॉलिटिक्स** शब्द की उत्पत्ति यूनानी भाषा के 'पोलिस' (Polis) शब्द से हुई है, जिसका अर्थ नगर-राज्य (city-state) होता है। यूनान में 'पॉलिटिक्स' शब्द के अंतर्गत नगर-राज्य से संबंधित सारी बातें आती थीं और उनके अंतर्गत राज्य, सरकार तथा अन्य राजनीतिक संगठनों और उनकी समस्याओं का अध्ययन किया जाता था। यूनानियों ने राजनीति के अंतर्गत राज्य-संबंधी सारी बातों का समावेश किया है।

यूनानी दार्शनिकों के अलावा, कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी 'राजनीति' (Politics) शब्द का प्रयोग किया है। इन आधुनिक विद्वानों में जेलीनेक (Jellinek), होल्टजन डॉर्फ (Holtzen Dorf), सिजविक (Sidgwick), ट्रीट्स्के (Treitschke) इत्यादि प्रमुख हैं, जिनके अनुसार राज्य और सरकार से संबंधित सारी बातें राजनीति के अंतर्गत आ जाती हैं। फ्रेडेरिक पोलॉक ने 'राजनीति' शब्द की पूर्ण व्याख्या की है। उन्होंने राजनीति को दो वर्गों में विभक्त किया है—(1) **सैद्धांतिक राजनीति** (theoretical politics) और (2) **व्यावहारिक राजनीति** (applied politics)।

जहाँ सैद्धांतिक राजनीति के अंतर्गत राज्य, सरकार तथा विधान से संबंधित मौलिक सिद्धांतों का अध्ययन होता है, वहाँ व्यावहारिक राजनीति के अंतर्गत राज्य के कार्य, कानून का स्वरूप, व्यक्ति एवं राज्य के पारस्परिक संबंध, सरकार की समस्याएँ इत्यादि बातों की ओर ध्यान दिया जाता है। **फ्रेडरिक पोलॉक** ने सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक राजनीति के बीच निम्नलिखित अंतर बताए हैं—

सैद्धांतिक राजनीति (Theoreticai Politics)	**व्यावहारिक राजनीति** (Applied Politics)
(i) राज्य-सिद्धांत (theory of state) (a) राज्य की उत्पत्ति (origin of state) (b) संविधान-वर्गीकरण (classification of constitution) (c) सरकार—इसके विभिन्न प्रकार (government : its different forms) (d) संप्रभुता (sovereignty)	(i) राज्य—सरकार का वास्तविक स्वरूप (the state—actual form of government)
(ii) सरकार के सिद्धांत (theory of government) (a) संस्थाएँ—प्रकार (b) कार्यपालक विभाग—विभिन्न सिद्धांत (c) भावात्मक (positive) विधि क्षेत्र व सीमा	(ii) सरकार—कार्यप्रणाली और शासनप्रणाली आदि (government—the working of government, administrative system etc.)
(iii) विधान-सिद्धांत (theory of legislation) (a) विधान के उद्देश्य (b) भावात्मक विधि का सामान्य स्वरूप तथा विभाजन (c) विधियों की स्वीकृति एवं उसके ढंग (d) व्यवस्था एवं प्रशासन	(iii) कानून तथा कानून-निर्माण (laws and legislative procedure) (a) विधान की प्रक्रिया (b) न्याय-व्यवस्था (c) न्यायाधिकरण तथा न्याय-संबंधी उदाहरण
(iv) कृत्रिम व्यक्ति के रूप में राज्य का सिद्धांत (theory of the state as an artificial person) (a) अन्य राज्यों तथा व्यक्ति-समूहों के साथ संबंध (b) अंतरराष्ट्रीय संबंध।	(iv) व्यक्ति-रूप में राज्य (the state personified) (a) कूटनीति (diplomacy) (b) युद्ध एवं शांति (war and peace) (c) संधियाँ, समझौते एवं सम्मेलन (treaties, agreements and conferences)

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

उपर्युक्त तालिका सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक राजनीति में अंतर स्पष्ट करती है, किंतु आधुनिक काल में इस सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक राजनीति के वर्गीकरण की विशेष मान्यता नहीं है। आज तो 'राजनीति' शब्द का अर्थ संकुचित अर्थ में किया जाने लगा है। इन दिनों 'राजनीति' शब्द का अर्थ 'व्यावहारिक राजनीति' के रूप में ही हो रहा है। वर्तमान समय में सैद्धांतिक राजनीति और 'व्यावहारिक राजनीति' के स्थान पर 'राजनीति' का ही प्रयोग किया जाने लगा है। **ब्लंश्ली** का कहना है कि राजनीति विज्ञान की अपेक्षा कला अधिक है, क्योंकि इसका संबंध राज्य के बाह्य आचरण से है।[1] **गार्नर** के शब्दों में, "राजनीति शब्द का अर्थ राज्य के वास्तविक बाह्य आचरण से है।"[2] **गिलक्राइस्ट** का कहना है—'राजनीति' शब्द का अभिप्राय आजकल सरकार की वर्तमान समस्याओं से होता है, जो बहुत वैज्ञानिक दृष्टि से राजनीतिक ढंग की होने की अपेक्षा आर्थिक ढंग की होती है।"[3] आज 'राजनीति' शब्द के प्रयोग में राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत निहित नहीं है। 'राजनीति' शब्द के अंतर्गत आज सरकार के विभिन्न अंगों के कार्य, उनके आपसी संबंध, श्रम-समस्या, आयात-निर्यात, कर, राजनीतिक दलबंदी इत्यादि विषय आते हैं। आज 'राजनीति' का प्रयोग धोखेबाजी, बेईमानी आदि गंदे अर्थों में किया जाता है। दैनिक जीवन में घरेलू राजनीति, गुट-राजनीति तथा गाँव की राजनीति की भी चर्चा होने लगी है। इसलिए आधुनिक युग में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग अत्यधिक संकुचित अर्थ में किया जाने लगा है। अतएव, आज हम राज्य-संबंधी ज्ञान की इस शाखा को राजनीति की संज्ञा नहीं दे सकते। आज समाज, राज्य तथा विश्व में वही व्यक्ति या राज्य अपनी सक्रिय भूमिका निभा सकता है जो राजनीति का खिलाड़ी हो। आज कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जिसे हम राजनीति की सीमा में नहीं रख सकते। **मिलर** ने इसी संदर्भ में राजनीति की विवेचना की है।

राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy)

राज्य से संबंधित शास्त्र को राजनीतिक दर्शन के नाम से पुकारा जाता है। राजनीतिक दर्शन मूल रूप से राज्य से संबंधित महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का अध्ययन करता है। राजनीतिक दर्शन का इतिहास अत्यधिक पुराना है। इसका विकास मानव के पारस्परिक सहयोग के बीच हुआ है। हिंदूधर्म के प्राचीन धार्मिक साहित्य में हम राजनीतिक दर्शन का आभास पाते हैं। **ऋग्वेद, अथर्ववेद, सतपथ ब्राह्मण, मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, महाभारत, रामायण, मनुस्मृति, कौटिल्य अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, मार्कण्डेयपुराण, शुक्रनीति** इत्यादि समस्त प्राचीन भारतीय साहित्य में राजनीतिक दर्शन का आभास मिलता है। अन्य देशों के प्राचीन तथा मध्यकालीन दार्शनिक; जैसे—**प्लेटो, अरस्तू, कन्फ्यूशियस, संत ऑगस्टाइन** (St. Augustine), **संत टॉमस एक्वीनॉस** (St. Thomas Aquinas) इत्यादि ने भी अपने विचारों में राजनीतिक दर्शन का बोध कराया है। **हीगेल, ग्रीन, कार्ल मार्क्स, महात्मा गाँधी** इत्यादि आधुनिक राजनीतिक दार्शनिकों ने अपने प्राप्त ज्ञान तथा अनुभव से हमें राजनीतिक दर्शन की शिक्षा दी है। इससे हम सत्य की खोज के लिए तथ्यों की तार्किक व्याख्या करते हैं। प्राचीन भारतीय तथा विश्व-सभ्यता के विभिन्न ग्रंथों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि राजनीतिक दर्शन का प्रारंभ मानव-सभ्यता और इतिहास से ही हुआ है जिसमें प्राचीन भारतीय दार्शनिकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

राजनीतिक दर्शन का अर्थ एवं व्याख्या (Meaning and interpretation of political philosophy)—'राजनीतिक दर्शन' शब्द मूलतः राज्य के मौलिक सिद्धांतों तथा उसकी सारभूत विशिष्टताओं का अध्ययन करता है। 'राजनीतिक दर्शन' की रचना दो शब्दों से हुई है—राजनीति और दर्शन। दर्शन का अर्थ समग्रता होता है। दर्शन का क्षेत्र अखिल विश्व है। चूँकि राज्य विश्व का एक अंग है, इसलिए दर्शन राज्य के मौलिक सिद्धांतों की भी विवेचना करता है। राज्य से संबंधित इस दर्शन को ही साधारण अर्थ में हम 'राजनीतिक दर्शन' कहते हैं। इसका संबंध राज्य के क्रियात्मक पक्ष से नहीं है। यह राज्य के वास्तविक क्रियाकलापों का अध्ययन करता है। इसके अंतर्गत राज्य की उत्पत्ति, विकास, प्रकृति, उद्देश्य, अधिकारों एवं कर्तव्यों के अतिरिक्त राजनीतिक विचारधाराओं का भी अध्ययन किया जाता है। अतएव, राजनीतिक दर्शन मुख्यतः सैद्धांतिक है। जहाँ राजनीतिक दर्शन की विषयवस्तु का प्रश्न है, इस संबंध में **जे॰ एच॰ हैलोवेल** (J. H. Hallowell) ने कहा है कि राजनीतिक दर्शन का संबंध राजनीतिक संस्थाओं से उतना अधिक नहीं है, जितना

1. "Politics is more of an art than a science and has to do with the practical conduct or guidance of the State."—BLUNTSCHLI
2. "The meaning of term 'Politics' is confined to that part of the business or activity which has to do with the actual conduct of the affairs of the State."—GARNER
3. "Politics now-a-days refers to current problems of government which, as often as not, are more economic in character than politics in the scientific sense."—GILCHRIST: *Principles of Political Science*, p. 2

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

उन विचारों से है जो उन संस्थाओं में अंतर्निहित हैं। **हैलोवेल** के ही शब्दों में, "राजनीतिक दर्शन का संबंध 'तथ्य कैसे घटित होते हैं' से उतना अधिक नहीं है, जितना कि 'क्या घटित होता है और क्यों' से।"[1] दर्शन राज्य की मौलिक समस्याओं पर विचार करता है। वह राज्य के अस्तित्व की व्याख्या प्रस्तुत करता है और स्वयं विभिन्न संस्थाओं का भी बोध करता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार, 'राजनीतिशास्त्र' (Political Science) शब्द के प्रयोग से पूर्व 'राजनीतिक दर्शन' (Political Philosophy) शब्द का ही प्रयोग किया जाता था। कुछ विद्वानों ने राज्य से संबंधित ज्ञान को ही राजनीतिक दर्शन की संज्ञा देना उचित समझा है। उनका कहना है कि राज्यशास्त्र, चूँकि, दर्शनशास्त्र का एक अंग है, इसलिए राज्य से संबद्ध ज्ञान को भी राजनीतिक दर्शन कहा जा सकता है। **गार्नर** के अनुसार, "राजनीतिक दर्शन राजनीतिशास्त्र की विशेष सामग्री के आधारभूत सिद्धांत तथा उनके लक्षणों के सैद्धांतिक पक्ष से संबद्ध हैं।"[2] राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत हम उन समस्त मौलिक सिद्धांतों का अध्ययन करते हैं, जो पहले से राजनीतिक दर्शन के मुख्य विषय थे। **गिलक्राइस्ट** ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है, "राजनीतिक दर्शन का आगमन एक प्रकार से राजनीति से पूर्व हुआ, क्योंकि राजनीतिक दर्शन की मौलिक मान्यताओं पर ही राजनीतिशास्त्र आधारित है। साथ ही, राजनीतिक दर्शन भी कुछ ऐसी सामग्री का प्रयोग करता है जो उसे राजनीतिशास्त्र से उपलब्ध होती है।"[3]

कुछ लोगों ने 'राजनीतिशास्त्र' और 'राजनीतिक दर्शन' के बीच अंतर करते हुए कहा है कि राजनीतिक दर्शन का संबंध 'राज्य को कैसा होना चाहिए' जैसे विचारों से है, जबकि राजनीतिशास्त्र का संबंध राज्य की वर्तमान तथा वास्तविक स्थिति से है। यहाँ हम राजनीतिशास्त्र और राजनीतिक दर्शन में निम्नांकित रूप से अंतर कर सकते हैं—

(क) राजनीतिक दर्शन का क्षेत्र राजनीतिशास्त्र की अपेक्षा अत्यधिक संकुचित है और इसके अंतर्गत व्यापकता तथा सुनिश्चितता का पूर्ण अभाव है।

(ख) राजनीतिक दर्शन राज्य और उससे संबद्ध विषयों के केवल सैद्धांतिक पक्ष का ही अध्ययन करता है।

(ग) राजनीतिक दर्शन के आदर्श और लक्ष्य-निर्धारण में काल्पनिक मान्यताओं पर अत्यधिक बल दिया जाता है।

राजनीतिक दर्शन—एक अधूरा तथा संकीर्ण नामकरण (Political Philosophy—an incomplete and narrow terminology)—**राजनीतिक दर्शन** नामकरण राज्य-संबंधी ज्ञान को पूर्णता प्रदान नहीं करता। यह उसके क्षेत्र को और संकुचित बना देता है। जहाँ राजनीतिविज्ञान अपने सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष को लेकर चलता है और यह सरकार के स्वरूप, संचालन, विधियों, विधि-निर्माण, राजनीतिक संबंध, युद्ध, अंतरराष्ट्रीय समझौते इत्यादि के संचालन के लिए व्यक्ति के रूप में राज्य का अध्ययन करता है, वहाँ राजनीतिक दर्शन इस व्यावहारिक पक्ष की कोई विवेचना नहीं करता, वह केवल सैद्धांतिक पक्ष तक ही सीमित रह जाता है। इसका एक अन्य दोष यह है कि इससे एक अनिश्चितता का बोध होता है। चूँकि इसका संबंध 'कैसे' से है, अतः राज्य-संबंधी पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हम इससे नहीं कर सकते। इसका तीसरा दोष है कि इसमें राज्य की समस्याओं पर केवल कल्पना के आधार पर ही विचार किया जाता है।

राजनीतिशास्त्र (Political Science)

उपर्युक्त तथ्यों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजनीति का संबंध व्यावहारिक पक्ष से और राजनीतिक दर्शन का संबंध सैद्धांतिक पक्ष से है। **राजनीतिशास्त्र** शब्द सैद्धांतिक तथा क्रियात्मक दोनों पहलुओं का

---

1. "Political philosophy is not concerned so much with political institutions as with the ideas and aspirations that are embodied in institutions. It is not so much interested in how things occur as it is in what occurs and why."—J.H. HALLOWELL
2. "Political Philosophy is said to be concerned with a theoretical or speculative considerations of the fundamental principles and essential characteristics of the materials and phenomena with which political science has to deal."—GARNER
3. "Political philosophy is in a sense prior to political science for the fundamental assumptions of the former are a basis of the later. Political philosophy in its turn, has to use much of the material supplied by political science."—GILCHRIST

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

समन्वय करता है अर्थात यह राजनीति और राजनीतिक दर्शन—दोनों के विचारों को लेकर चलता है। राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत राज्य-संबंधी सारे विषयों और समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। यह राज्य का तथा उसके विभिन्न पहलुओं का विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन करता है। फ्रांसीसी विद्वान **पॉल जैनेट** ने कहा है, "राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र का वह अंग है, जिसमें राज्य के मूलभूत आधारों और शासन-तत्त्वों पर विचार किया जाता है।"[1] यह राज्य-संबंधी विषयों के भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों स्वरूपों का अध्ययन करता है। इसीलिए **मैक्स वेबर** ने राजनीतिशास्त्र को विवरणात्मक और आदेशमूलक दोनों नामों से पुकारा है। यह एक कला के रूप में राज्य और सरकार दोनों का अध्ययन करता है।

राजनीति-विज्ञान—अनेक आधुनिक विद्वानों, जैसे **गार्नर, गेटेल, लीकॉक, पोलॉक** इत्यादि ने 'शास्त्र' की अपेक्षा इस विषय के लिए 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग उचित समझा है। उनका तर्क है कि राजनीतिशास्त्र से कभी-कभी व्यावहारिक राजनीति (applied politics) का भी अभिप्राय लगाया जाता है, जो एक शास्त्र के लिए असंगत है। इन विद्वानों की राय में 'शास्त्र' शब्द की पवित्रता को बनाए रखने के लिए राजनीतिशास्त्र की अपेक्षा **राजनीति-विज्ञान** का प्रयोग ही तर्कसंगत लगता है। फिर भी, 'शास्त्र' और 'विज्ञान' के प्रयोग से इस विषय के उद्देश्य और कार्य में कोई अंतर नहीं पड़ता है। अतएव **राजनीतिशास्त्र** और **राजनीति-विज्ञान** का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में किया जाता है।

कुछ फ्रांसीसी विद्वानों ने **राजनीतिशास्त्र** का प्रयोग बहुवचन के रूप में किया है। उनकी राय में राज्य के विभिन्न पक्ष हैं और प्रत्येक पक्ष का अध्ययन करने के लिए विभिन्न शास्त्र होते हैं; जैसे—संविधान, लोकप्रशासन, राजनय इत्यादि। राजनीतिशास्त्र का संबंध राज्य के समस्त पहलुओं से है और इन विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करनेवाला शास्त्र या विज्ञान, राजनीतिशास्त्र या राजनीति विज्ञान विभिन्न शाखाओं के रूप में है। अतः, सभी दृष्टियों से राजनीतिशास्त्र और राजनीति-विज्ञान शब्द का प्रयोग ही अधिक सार्थक है।

नीति-विज्ञान (Policy-Science)

हैरोल्ड डी॰ लॉसवेल जैसे विद्वानों ने राजनीति-विज्ञान शब्द के लिए **नीति-विज्ञान** का प्रयोग किया है। उसके कहने का अभिप्राय यह है कि राजनीति-विज्ञान का संबंध आज राज्य, सरकार तथा विभिन्न देशों के साथ संबंधों को जोड़ने और तोड़ने-संबंधी नीतियों से है, इसलिए यह नीति-विज्ञान है। यह नीति-नियोजन (Policy-planning) को एक दिशा प्रदान करता है और बताता है कि विभिन्न देश अपने-अपने देश के प्रशासन तथा अन्य देशों के संबंधों में कैसी नीतियाँ बनाते हैं। उन देशों के राजनेताओं, विधायिका से सम्बन्धित लोगों, कार्यपालिका के अधिकारियों, बाह्य संबंधों आदि की विवेचना, चूँकि, आज राजनीतिशास्त्र करने लगा है, इसलिए इसका नामकरण **लॉसवेल** ने **नीति-विज्ञान** के रूप में किया है।

राजनीतिक सिद्धांत (Political Theory)

अधिकांश विद्वानों ने **राजनीतिशास्त्र** या **राजनीतिक दर्शन** के लिए **राजनीतिक सिद्धांत** शब्द का प्रयोग किया है। कुछ विद्वानों ने तो **राजनीतिक सिद्धांत** और **राजनीतिक दर्शन** को पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया है, लेकिन **आशीर्वादम** जैसे विद्वानों ने इन दोनों की विषय-वस्तु को एक नहीं स्वीकार किया है। उनके विचार में **राजनीतिक सिद्धांत** शब्द का प्रयोग **राजनीतिक दर्शन** शब्द की अपेक्षा अधिक मान्य है, क्योंकि उनके विचार में **राजनीतिक दर्शन** अनिश्चितता, अस्पष्टता तथा काल्पनिक पक्ष का द्योतक है, जबकि **राजनीतिक सिद्धांत** शब्द अधिक स्पष्ट, अधिक निश्चित और अधिक नियोजित है। फिर भी, विभिन्न कारणों से अधिकांश विद्वानों ने **राजनीतिक सिद्धांत** शब्द के प्रयोग से अपने को अलग रखने का प्रयास किया है, क्योंकि अधिकांश की राय में (1) **राजनीतिक सिद्धांत** के अंतर्गत राज्य की संरचना तथा उसके क्रियाकलापों का अध्ययन नहीं किया जाता है, (2) यह सरकार तथा शासनकला से कोई संबंध नहीं रखता, (3) इसका संबंध राज्य के मौलिक सिद्धांतों तथा उसके भूत तथा वर्तमान तक सीमित है और (4) इसका राज्य के भावी स्वरूप तथा कार्यक्रम से कोई संबंध नहीं है। इन कारणों से **राजनीतिक सिद्धांत** शब्द का प्रयोग अधिकांश की राय में तर्कसंगत नहीं है।

यदि हम राज्य-विषयक ज्ञान के लिए वर्णित उपर्युक्त शब्दों, जैसे—**राजनीति, राजनीतिक दर्शन, राजनीतिशास्त्र, राजनीतिक सिद्धांत** आदि का विश्लेषण करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इन सारे शब्दों का

1. "Political Science is that part of social science which treats of the foundation of the state and the principles of government."—PAUL JANET

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्रयोग विभिन्न समयों में विभिन्न दृष्टियों से किया गया है। आधुनिक काल की समस्त मान्यताओं तथा राज्य-संबंधी तमाम पहलुओं को दृष्टि में रखते हुए राज्य-संबंधी ज्ञान के लिए **राजनीति-विज्ञान** या **राजनीतिशास्त्र** शब्द का प्रयोग ही अधिक तर्कसंगत और मान्य प्रतीत होता है। **राजनीतिक सिद्धांत** शब्द आज अधिक लोकप्रिय हो रहा है; इसीलिए प्रस्तुत ग्रंथ का नाम भी **राजनीतिक सिद्धांत** ही है। फिर भी **राजनीतिक सिद्धांत** शब्द का राजनीतिशास्त्र के एक पत्र या अंग के रूप में ही प्रयोग हो रहा है।

परंपरागत राजनीतिशास्त्र की प्रकृति और क्षेत्र
(Nature and Scope of Traditional Political Science)

क्षेत्र (Scope)

प्रत्येक शास्त्र की तरह राजनीतिशास्त्र का भी अपना क्षेत्र तथा विस्तार है। विभिन्न शास्त्रों के क्षेत्रों की व्यापकता संबद्ध शास्त्र की विषय-वस्तु पर निर्भर करती है। जहाँतक राजनीतिशास्त्र का प्रश्न है, इसका क्षेत्र अब भी अनिश्चित-सा तथा विवादास्पद है। जहाँ परम्परावादी विचारक इसके क्षेत्र को राज्य तथा सरकार के अध्ययन की परिधि तक ही मानते हैं, वहाँ आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों ने इसके क्षेत्रांतर्गत अनेक बातों का समावेश किया है। यहाँ हम इस विषय के क्षेत्र से संबंधित परम्परावादी विद्वानों के दृष्टिकोणों का अध्ययन करेंगे।

प्राचीन विद्वान (Ancient thinkers)—प्राचीन यूनानी राजनीतिक दार्शनिकों ने राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र को बहुत व्यापक बताया है। इसके क्षेत्र के अंतर्गत उन्होंने नगर-राज्य (city states) से संबंधित सारे तथ्यों को सम्मिलित किया है। इन प्राचीन यूनानी दार्शनिकों में **प्लेटो** और **अरस्तू** के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्होंने राज्य और समाज में भेद नहीं किया है और बताया है कि राज्य ही सर्वस्व है। राजनीतिक संस्था के साथ-साथ राज्य एक नैतिक संस्था भी है। प्राचीन विद्वानों की राय में राज्य का प्रयोग मानव-जीवन की पूर्णता के साधन के रूप में होता था। अतएव, राजनीतिशास्त्र में राजनीतिक बातों के साथ-साथ धर्म-संबंधी बातें भी सम्मिलित थीं। इसका क्षेत्र राज्य, समस्त समाज और मानव का सारा सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवहार था।

आधुनिक विद्वान (Modern thinkers)—आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में नैतिकता का राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने कहा है कि मानव के राजनीतिक जीवन का केन्द्र राज्य है। इसी सन्दर्भ में राजनीतिशास्त्र को राज्य का विज्ञान कहा जाता है। **सिजविक** ने राजनीतिशास्त्र के व्यापक क्षेत्र को ध्यान में रखकर इसे दो भागों में बाँटा है—**प्रथम,** उन समस्याओं से संबंधित जिनका संबंध राज्य के संगठन से है और **द्वितीय,** उन समस्याओं से संबंधित जिनका संबंध राज्य के कार्यों से है। अतः, राजनीतिशास्त्र राज्य के सैद्धांतिक पक्ष के साथ-साथ व्यावहारिक पक्ष का भी अध्ययन करता है। **प्रो॰ गार्नर** के अनुसार, "**राजनीतिशास्त्र** का विषय-क्षेत्र इन बातों की ओर संकेत करता है—(क) यह इस बात की खोज करता है कि राज्य क्या है तथा उसकी उत्पत्ति कैसे हुई। (ख) यह राजनीतिक संस्थाओं के स्वभाव, उनके इतिहास तथा स्वरूपों का अध्ययन करता है। (ग) इस अध्ययन के परिणामस्वरूप यह राजनीतिक विकास के नियमों के सम्बन्ध में भी निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करता है।"[1] **फ्रेडरिक पोलॉक** ने राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र को दो वर्गों में विभाजित किया है—प्रथम, सैद्धांतिक राजनीति (theoretical politics) और द्वितीय, व्यावहारिक राजनीति (applied politics)। राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र के संबंध में अपना विचार व्यक्त करते हुए **एफ॰ जे॰ गुडनॉव** ने फ्रेडरिक पोलॉक के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक पहलुओं की व्याख्या करते हुए निम्नांकित तीन बातों को ध्यान में रखा है—

1. राज्य की इच्छा का निर्माण (formulation of state will),
2. राज्य-इच्छा का प्रकटीकरण (expression of state will),
3. राज्य-इच्छा की क्रियान्विति (execution of state will)।

अर्थात, राजनीतिशास्त्र के क्षेत्रांतर्गत राज्य के सैद्धांतिक पक्ष के साथ-साथ उसके क्रियात्मक और व्यावहारिक पक्ष का भी अध्ययन किया जाता है। राजनीतिशास्त्र के क्रियात्मक पक्ष के अंतर्गत सरकार के

1. "In a general way its fundamental problems include, first, an investigation of the origin and nature of the state; second, an inquiry into the nature, history and forms of political institution; and third, a deduction therefrom so far as possible of the laws of political growth and development."—GARNER

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

स्वरूप, संगठन, विधि-निर्माण इत्यादि बातें सम्मिलित हैं। चूँकि राज्य और सरकार का संबंध अटूट है, इसलिए राजनीतिशास्त्र राज्य और सरकार दोनों का अध्ययन करता है। **प्रो॰ विलोबी** ने कहा है, "राजनीतिशास्त्र के अंदर कानून को भी अलग से शामिल करना चाहिए।"[1] लेकिन, विलोबी का यह विचार इसलिए उचित नहीं दीख पड़ता कि कानून सरकार की इच्छा की अभिव्यक्ति है, सरकार से अलग हम कानून की चर्चा नहीं कर सकते हैं।

परंपरागत राजनीतिशास्त्र अपने क्षेत्रांतर्गत निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण विषयों को भी सम्मिलित करता है—

1. मनुष्य के प्रसंग में—अरस्तू ने कहा है, "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।" राजनीतिशास्त्र मानव-जीवन और उसके विभिन्न कार्यकलापों का अध्ययन करता है। राज्य, सरकार तथा विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं का आधार मनुष्य ही होता है। मनुष्य के अभाव में हम किसी भी राज्य, सरकार या संस्था की कल्पना नहीं कर सकते। राजनीतिशास्त्र मनुष्य की उत्पत्ति से लेकर उसके अधिकारों, राज्य के प्रति उसके दायित्वों तथा नागरिक-स्वतंत्रता की भी विवेचना करता है।

2. राज्य के प्रसंग में—गार्नर के अनुसार राजनीतिशास्त्र का आरंभ और अंत राज्य से होता है। यह राज्य के सभी पहलुओं तथा सभी पक्षों का अध्ययन करता है। मानव-स्वतंत्रता को सुरक्षित करने में राज्य महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, इसलिए राज्य ही राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-केन्द्र बन जाता है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर भी हम कह सकते हैं कि राज्य ही राजनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। उदाहरण के लिए, मध्यकालीन युग में राजनीतिक विचारधारा के दो केन्द्र-स्थल थे—(i) चर्च तथा (ii) धर्मनिरपेक्ष संस्थाएँ। धर्म-निरपेक्ष संस्थाएँ बाद में राज्य के इर्द-गिर्द केंद्रित हो गईं। मध्ययुग में प्रभुता के लिए वास्तविक युद्ध चर्च तथा राज्य नाम की दो संस्थाओं में था। उस युद्ध में राज्य की विजय हुई और राजनीतिक विचारधारा में उसे सर्वप्रमुख स्थान मिल गया। सर्वप्रथम **मैकियावेली** और पुनः **हॉब्स** ने राज्य को केन्द्रीय स्थान प्रदान किया। समाज की सार्वभौमिकता राज्य में समाहित हो गई और राज्य अपने-आप में एक पूर्ण विषय बन गया। इस ऐतिहासिक प्रभाव के कारण राज्य आज भी राजनीतिशास्त्र का मुख्य केन्द्र-स्थल है। इस संबंध में **गेटेल** ने कहा है, "राजनीतिशास्त्र राज्य के भूतकालीन स्वरूप की ऐतिहासिक गवेषणा, उसके वर्तमान स्वरूप की विश्लेषणात्मक व्याख्या और उसके आदर्श स्वरूप की एक राजनीतिक और नैतिक विवेचना है।"[2] यह राज्य के **भूत, वर्तमान** एवं **भविष्य** का अध्ययन विस्तृत रूप में करता है—

(i) राज्य का ऐतिहासिक स्वरूप—चूँकि वर्तमान की झाँकी अतीत में मिलती है, इसलिए राज्य के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिए उसके ऐतिहासिक पक्ष का अध्ययन आवश्यक है। राज्य की विभिन्न संस्थाएँ ऐतिहासिक विकास की देन हैं। राज्य का जो आधुनिक और विकसित रूप है, वह ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। राज्य की उत्पत्ति तथा विकास राज्य के ऐतिहासिक अध्ययन के अंतर्गत आता है। अपनी आर्थिक अवस्था में मानव जंगलों, कंदराओं तथा विभिन्न गुफाओं में निवास करता था। कन्द-मूल तथा जंगली फूल-फल ही उसके जीवन-निर्वाह के प्रमुख आधार थे। बाद में आपस में मिलने की चेतना मनुष्य में विकसित हुई और इस प्रकार कुटुंब, कबीला, गाँव और बाद में राज्य और सभ्य समाज का विकास हुआ। आधुनिक राज्य के विकास-क्रम में कौन-से तत्त्व प्रमुख रहे हैं, इन सारी बातों का विवेचन राज्य के अतीत-अध्ययन के अंतर्गत आता है। इसलिए, इतिहास को राजनीतिशास्त्र की प्रयोगशाला कहा जाता है।

(ii) राज्य का वर्तमान स्वरूप—राजनीतिशास्त्र राज्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत करता है। इसके अंतर्गत राज्य के व्यावहारिक स्वरूप की विवेचना की जाती है। यह राज्य के वर्तमान स्वरूप, राज्य के परम उद्देश्यों, राज्य के विभिन्न तत्त्वों तथा राज्य का संगठन कैसे होता है और राज्य के कौन-से कार्य हैं—इन सारी बातों का अध्ययन करता है। राज्य के स्वरूप के संदर्भ में राजतंत्र, जनतंत्र आदि सरकारों की चर्चा की जाती है और उनमें पारस्परिक संबंधों का उल्लेख किया जाता है। राज्य के कार्यक्षेत्र से संबंधित व्यक्तिवाद, साम्यवाद, समाजवाद, गाँधीवाद आदि विभिन्न सिद्धांतों का भी अध्ययन किया जाता है।

(iii) राज्य का भावी स्वरूप—राजनीतिशास्त्र राज्य के भावी स्वरूप की भी विवेचना करता है। चूँकि राज्य के वर्तमान संगठन से मनुष्य हमेशा असंतुष्ट रहा है, इसलिए प्रारंभ से ही राजनीतिक दार्शनिकों ने

---

1. "There are three great topics political science has to deal with—state, government and law."
—WILLOUGHBY

2. "Political Science is a historical investigation of what the state has been, an analytical study of what the state is and a politico-ethical discussion of what the state should be."—GETTELL

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

आदर्श राज्य का स्वरूप देखा है। यूनानी विचारक **प्लेटो** और **अरस्तू** ने अपने दर्शन में राज्य के तत्कालीन स्वरूप से ऊबकर **आदर्श राज्य** (ideal state) की स्थापना का प्रयास किया है। आज के समाजवादी विचारकों की राय में उत्पादन एवं वितरण पर राज्य का स्वामित्व एवं नियंत्रण ही **आदर्श** है। बहुलवादी विचारक राज्य की सम्प्रभुता के प्रति अपना असंतोष व्यक्त करते हैं और राज्य के अंदर विभिन्न समुदायों और संघों को भी राज्य के बराबर अधिकार देने का समर्थन करते हैं। **महात्मा गाँधी** ने भी अपने वर्णन में **रामराज्य** की कल्पना की है। वर्तमानकाल में राज्य के कार्यक्षेत्र से संबंधित और भी कई विचारधाराएँ हमारे सामने हैं, जिनके माध्यम से राज्य के भावी स्वरूप की रूपरेखा निर्धारित करने का प्रयास किया गया है।

(iv) सरकार के प्रसंग में—राज्य और सरकार में अन्योन्याश्रय संबंध है। एक की अनुपस्थिति में हम दूसरे की कल्पना तक नहीं कर सकते। राज्य यदि एक अमूर्त संस्था है तो सरकार उसका मूर्त रूप। सरकार वह यंत्र है, जिसके द्वारा राज्य की इच्छा अभिव्यक्त होती है। **गार्नर** ने भी कहा है कि सरकार राज्य का एक आवश्यक तत्त्व है। अतः, सरकार के अध्ययन के बिना राजनीतिशास्त्र अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता। सरकार की प्रमुख समस्याओं के समाधान की दिशा में भी राजनीतिशास्त्र एक शासन-कला के रूप में विचार करता है। आज, चूँकि सरकार के कार्यक्षेत्र में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है, इसलिए राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी अपने-आप वृद्धि हुई है। **क्रोसे** ने कहा है, "वास्तविकता की खोज करनेवालों के लिए सरकार ही राज्य है और सरकार में ही राज्य पूर्णता प्राप्त करता है"।[1]

(v) विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं के प्रसंग में—चूँकि राज्य आज केवल नैतिक संस्था नहीं रह गई है और इसका संबंध विभिन्न सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक संगठनों के रूप में हुआ है, इसलिए राजनीतिशास्त्र राज्य और सरकार के अध्ययन के साथ-साथ विभिन्न राजनीतिक दलों, दबाव-गुटों (pressure groups), संगठनों, संघों, राजनीतिक-समूहों इत्यादि का भी अध्ययन करता है। राजनीतिक दलों का अध्ययन आज विश्व के सारे देशों में राजनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय हो गया है।

(vi) विभिन्न अंतरराष्ट्रीय विषयों के प्रसंग में—आज की बीसवीं शताब्दी में राज्य का संबंध बाहरी देशों से भी बढ़ गया है। किसी एक देश की राजनीतिक घटनाओं का प्रभाव अन्य देशों पर भी किसी-न-किसी रूप में पड़ता है। इसके अलावा, आर्थिक सहायता एवं अंतरराष्ट्रीय सहयोग के नाम पर भी विश्व के शक्तिशाली देश अन्य देशों में अपना प्रभावक्षेत्र बनाने का प्रयास करते हैं। विश्व के शक्तिशाली देश अविकसित देशों के साथ कैसा संबंध रखते हैं और अविकसित 'तृतीय विश्व' (third world) के देशों पर शक्तिशाली देशों की तथाकथित नीति की क्या प्रतिक्रिया होती है, इन तमाम समस्याओं का अध्ययन-क्षेत्र राजनीतिशास्त्र बन गया है। आज विश्व की प्रमुख समस्याओं; जैसे—निःशस्त्रीकरण की समस्या, आर्थिक समस्या तथा युद्ध से संबंधित समस्याओं का भी अध्ययन इसके अंतर्गत किया जाता है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति या अंतरराष्ट्रीय संबंध राजनीतिशास्त्र की एक शाखा है, जो अंतरराष्ट्रीय जगत में होनेवाली राजनीतिक घटनाओं की विवेचना करती है।

(vii) राजनय के प्रसंग में—आधुनिक काल में राज्य के बाह्य क्षेत्र के अंतर्गत राजनीतिशास्त्र की एक शाखा के रूप में राजनय (diplomacy) का अंतरराष्ट्रीय जगत में प्रादुर्भाव हुआ है। **पामर** तथा **पाकिस** ने कहा है कि **राजनय राष्ट्रशक्ति का एक रूप है।**[2] उनका कहना है कि कभी-कभी राजनयज्ञ (diplomat) की व्यक्तिगत कुशलता या चतुराई के बल पर किसी राज्य को अप्रत्याशित लाभ हो जाता है और ऐसी स्थिति में राजनय राष्ट्रशक्ति का एक रूप बन जाता है।

इसके अलावा, आधुनिक काल में राजनय ने अन्तरराष्ट्रीय जगत में फैले विवाद को दूर करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राजनयज्ञों के कुशल कार्य-संचालन से ही अभी तक तृतीय विश्वयुद्ध नहीं हुआ है। राजनय विदेश नीति के उद्देश्यों को प्राप्त करने का एक साधन हो गया है। राजनीतिशास्त्र 'राजनय' को अपने प्रमुख अंग के रूप में इसके विभिन्न कार्यों, राजनयज्ञों के गुणों, राजनीतिक दूतावासों की स्थापना तथा समापन आदि की विवेचना करने के कारण अपने क्षेत्रांतर्गत शामिल करता है।

(viii) अंतरराष्ट्रीय संगठनों के प्रसंग में—अंतरराष्ट्रीय संगठनों का विकास आज **संयुक्त राष्ट्र** के रूप में हुआ है। **संयुक्त राष्ट्र** के विभिन्न अंग—साधारण सभा, सुरक्षा परिषद, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद,

---

1. "For those who seek concreteness rather than abstraction, the state is nothing but the government and assumes completely only in the government."—CROSSE

2. PALMER & PERKINS : *International Relations* (Calcutta, Scientific Book Agency, Second ed.), p. 39

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अंतरराष्ट्रीय न्यायालय, संरक्षण परिषद, सचिवालय इत्यादि ने अंतरराष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। संयुक्त राष्ट्र के महामंत्री द्वारा अंतरराष्ट्रीय समस्याओं के समाधान की दिशा में किए गए प्रयासों से विश्व-शान्ति की समस्याएँ बड़े पैमाने पर सुलझी हैं। यह बात सही है कि अंतरराष्ट्रीय संगठन का भी एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में अध्ययन किया जाने लगा है, लेकिन इसका संबंध, चूँकि विभिन्न राज्यों से है, इसलिए यह भी राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की विषय-वस्तु बन जाता है।

(ix) विभिन्न अन्य विषयों के संबंध में—उपर्युक्त विषयों के अलावा, राजनीतिशास्त्र अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों को भी अपने क्षेत्रांतर्गत शामिल करता है। इसके अंतर्गत अंतरराष्ट्रीय समझौते (international agreements), जनमत (public opinion), युद्ध तथा विभिन्न देशों की स्थानीय संस्थाओं और उनकी समस्याओं की विवेचना होती है।

(x) राजनीतिक विचारों का इतिहास और आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं का अध्ययन—परंपरागत राजनीतिशास्त्र **सुकरात** और **प्लेटो** से लेकर **बर्ट्रेण्ड रसेल, मनु, महात्मा गाँधी, कार्ल मार्क्स** तथा अन्य विभिन्न विद्वानों द्वारा राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में व्यक्त किए गए विचारों का अध्ययन करता है। राजनीति में हमारा आदर्श क्या होना चाहिए, इस विषय को लेकर व्यक्तिवाद, समाजवाद, साम्यवाद, गाँधीवाद आदि विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का प्रतिपादन किया जा चुका है। राजनीतिशास्त्र में इन तमाम विचारधाराओं के तुलनात्मक गुण-दोषों का अध्ययन कर इस बात पर विचार किया जाता है कि किसी देश-विशेष की परिस्थितियों में इनमें से किस विचारधारा को अपनाना अधिक उपयुक्त हो सकता है।

अतः, यह स्पष्ट है कि राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। इसके अंतर्गत राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत, सम्प्रभुता, कानून, स्वतंत्रता, अधिकार, शासन के प्रकार, अंगों, प्रतिनिधित्व, राज्य के कार्यों तथा सभी राजनीतिक विचारधाराओं पर विचार किया जाता है।

राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में निरंतर वृद्धि

उपर्युक्त तथ्यों के बावजूद राजनीतिविज्ञान का अध्ययन-विषय गतिशील है और इसमें निरंतर वृद्धि हो रही है। वर्तमान समय में कुछ नवीन प्रवृत्तियों का उदय हो जाने के चलते राजनीति-विज्ञान का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो गया है। ऐसी प्रवृत्तियों में प्रमुख रूप से मानव-जीवन की विविधता, जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली का जन्म, जनकल्याणकारी राज्य की अवधारणा, नियोजित आर्थिक विकास के चलते संपूर्ण विश्व का एक इकाई के रूप में परिवर्तित हो जाना है। आज राजनीति-विज्ञान में राजनीतिक समुदायों और संस्थाओं का प्रमुख रूप से तथा सामाजिक जीवन के अन्य समुदायों का प्रासंगिक रूप में अध्ययन किया जाता है। इसके अलावा, राजनीति-विज्ञान के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय राज्य का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत होता जा रहा है। आज 'पुलिस राज्य' का स्थान 'लोक-कल्याणकारी राज्य' ने ले लिया है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि 'पालने से लेकर श्मशान' (from cradle to grave) तक व्यक्ति के जीवन का कोई भी कार्य राज्य के क्षेत्र से बाहर नहीं रहा है। इन सबके अतिरिक्त वैज्ञानिक विकास के चलते संपूर्ण मानव-समाज ने एक इकाई का रूप धारण कर लिया है। महान राजनीतिशास्त्री **वैण्डेल विल्की** ने अपनी पुस्तक **एक विश्व** में संपूर्ण मानव-समाज की जो एकरूपता दिखाई है, वह एक तथ्य है। इससे राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से बहुत अधिक वृद्धि हो रही है।

राजनीतिशास्त्र का स्वरूप (Nature of Political Science)

क्या राजनीतिशास्त्र विज्ञान है ?—राजनीतिशास्त्र विज्ञान है या कला—के प्रश्न को लेकर राजनीति-विज्ञान के विद्वानों में काफी मतभेद है। कुछ विद्वानों ने कहा है कि राजनीतिशास्त्र, चूँकि, विज्ञान की अवधारणाओं से मेल नहीं खाता—इसलिए यह विज्ञान नहीं है, जबकि अन्य विद्वानों ने इसे विज्ञान स्वीकार कर अपने-अपने तर्कों को पेश किया है। विद्वानों की एक ऐसी भी श्रेणी है जिनके अनुसार राजनीतिशास्त्र विज्ञान और कला दोनों है। इस प्रश्न के सही समाधान के लिए यह जानकारी आवश्यक है कि **विज्ञान क्या है ?**

विज्ञान की परिभाषा (Definition of Science)—**गार्नर** ने कहा है, "विज्ञान उस एकीकृत ज्ञानभण्डार को कहते हैं जिसकी प्राप्ति विधिवत पर्यवेक्षण, अनुभव और अध्ययन द्वारा हुई हो और जिसके तथ्यों का

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

उनमें परस्पर उचित संबंध स्थापित करके क्रमबद्ध वर्गीकरण किया गया हो।"[1] **चैम्बर्स डिक्शनरी** में भी कहा गया है, "विज्ञान वह ज्ञान है जो पर्यवेक्षण और प्रयोग पर आधारित हो, भलीभाँति परीक्षित तथा क्रमबद्ध हो तथा सामान्य सिद्धांतों में प्रतिष्ठित हो।"[2] विज्ञान की इन परिभाषाओं में निम्नलिखित तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

(i) विज्ञान में प्रयोगात्मक तथा पर्यवेक्षणात्मक विधियों को प्रयोग में लाया जाता है और उसके बाद किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है।

(ii) किसी निश्चित विधि और तर्क के आधार पर सामान्य सिद्धांतों या निश्चित नियमों को स्थापित किया जाता है।

(iii) विज्ञान के सिद्धान्त या नियम निश्चित तथा अटल होते हैं।

राजनीतिशास्त्र विज्ञान नहीं है (Political Science is not a science)—राजनीतिशास्त्र के कुछ विद्वानों ने राजनीतिशास्त्र को विज्ञान स्वीकार नहीं किया है। इनमें **बक्ल** (Buckle) और **काम्टे** (Compte) तथा **मेटलैण्ड** (Maitland) के नाम प्रमुख हैं। **काम्टे** का कहना है, "राजनीतिशास्त्र विज्ञान नहीं है, क्योंकि इसके शास्त्रियों में इसके सिद्धांतों, इसकी पद्धतियों और निष्कर्ष के संबंध में मतैक्य नहीं है। इसके विकास में क्रमबद्धता का अभाव है तथा इसमें निश्चित भविष्यवाणी नहीं हो सकती।"[3] **टॉमस बक्ल** के अनुसार, "वर्तमान आधार के ज्ञान पर राजनीतिशास्त्र का विज्ञान होना तो दूर रहा, वह कलाओं में भी सबसे पीछे है।" **बर्क** ने भी इसका समर्थन किया है और कहा है, "जिस प्रकार हम सौंदर्यशास्त्र को विज्ञान नहीं कह सकते, उसी प्रकार राजनीतिशास्त्र को भी हम विज्ञान नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें निश्चित सिद्धांत नहीं हैं।" **मेटलैंड** ने तो यहाँ तक कह डाला है, "जब कभी भी मैं राजनीतिविज्ञान शीर्षक के अंतर्गत प्रश्नपत्रों को देखता हूँ तो मुझे प्रश्नों पर खेद नहीं होता, वरन शीर्षक पर होता है।"[4] राजनीतिशास्त्र विज्ञान नहीं है, इसकी संपुष्टि में निम्नलिखित तथ्यों को पेश किया जा सकता है—

1. **वैज्ञानिक विधियों का अभाव**—राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत वैज्ञानिक विधियाँ असंभव हैं। जहाँ भौतिकी और रसायनशास्त्र में प्रयोग तथा पर्यवेक्षण के माध्यम से हम एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, राजनीतिविज्ञान में यह प्रयोग और पर्यवेक्षण संभव नहीं है। इस संबंध में **ब्राइस** का विचार है, "भौतिकशास्त्र के अंतर्गत एक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बार-बार प्रयोग किया जा सकता है, लेकिन राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत एक ही प्रयोग को दोहराया नहीं जा सकता, क्योंकि दोबारा उसी तरह की दशाएँ उत्पन्न नहीं की जा सकतीं, जैसाकि हेराक्लिटस ने कहा है—कोई व्यक्ति एक ही नदी में दुबारा प्रथम कदम नहीं डाल सकता है।"[5]

2. **मतैक्य का अभाव**—राजनीतिशास्त्र में जो भी आँकड़े एवं तथ्य प्रस्तुत किए जाते हैं, उनमें मतैक्य का अभाव है। कुछ विद्वान समाजशास्त्र का समर्थन करते हैं, तो कुछ इसका विरोध करते हैं। कुछ लोग मंत्रिमंडलात्मक शासन-पद्धति को स्वीकार करते हैं, तो कुछ लोग अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति को। लेकिन, दूसरी तरफ विज्ञान के तथ्य एवं सूत्र सर्वमान्य होते हैं और उनमें मतभेद की कोई गुंजाइश नहीं रहती। उदाहरण के लिए, गणित में तीन और तीन छह होंगे और रसायनविज्ञान में हाइड्रोजन एवं ऑक्सीजन के मिलने से जल बनता है जिसे रसायनशास्त्र में H_2O कहा जाता है। इस प्रकार का कोई भी नियम या सिद्धांत राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत नहीं है।

---

1. "Science may be described as a fairly unified mass of knowledge relating to a particular subject acquired by systematic observation, experience of study, the facts of which have been co-ordination systematized and classified."—GARNER
2. "A knowledge ascertained by observation and experiment, critically tested, systematized and brought under general principles."—*Chamber's Dictionary*
3. "There is no consensus of opinion among its experts, (1) as to its methods, principles and conclusions; (2) it lacks continuity of development, and (3) it lacks elements which constitute a basis of provision."—COMPTE
4. "When I see a good set of examination questions headed by the words 'Political Science', I regret not the questions but the title."—MAITLAND
5. "Experiment can be tried in physics over and over again till a conclusive result is reached but that which we can experiment in politics can never be repeated, because the conditions can never be exactly reproduced, as Heraclitus says that one cannot step twice into the same river."—BRYCE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

3. कार्य-कारण संबंध का अभाव—रसायन, भौतिक एवं जीव विज्ञान में कार्य-कारण का संबंध स्थापित किया जा सकता है; लेकिन राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत कार्य-कारण का संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। किसी भी वैज्ञानिक घटना का एक निश्चित कारण होता है, लेकिन राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत एक ही कार्य के अनेक कारण हो सकते हैं तथा एक ही कारण से अनेक कार्य उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय स्वतंत्रता-प्राप्ति में कुछ लोग महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक मार्ग को, तो कुछ लोग क्रांतिकारियों को इसका श्रेय देते हैं। राजनीतिशास्त्र का संबंध चेतनशील प्राणियों की परिस्थितियों से है जो समय और स्थान के साथ बदलती रहती हैं। इसलिए, इसके अंतर्गत कार्य-कारण-संबंध का अभाव रहता है, लेकिन दूसरी तरफ वैज्ञानिक घटनाओं में प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है और प्रत्येक कारण एक ही कार्य को जन्म देता है। उदाहरण के लिए, जल को एक निश्चित ताप पर गर्म करने से वह वाष्प में बदल जाता है और एक निश्चित मात्रा से अधिक शीत पहुँचाने से वह बर्फ में बदल जाता है। विज्ञान के इस नियम का कोई अपवाद नहीं हो सकता।

4. भविष्यवाणी का अभाव—विज्ञान के अंतर्गत सही और निश्चित नियमों की स्थापना होती है और उनके आधार पर सही भविष्यवाणियाँ की जा सकती हैं। लेकिन, राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत इस प्रकार की निश्चित एवं सही भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, भौतिक विज्ञान में यह बताया जा सकता है कि चंद्रग्रहण किस दिन लगेगा, लेकिन राजनीति-विज्ञान में यह नहीं बताया जा सकता कि किस देश में कब क्रान्ति होगी।

5. शुद्ध एवं शाश्वत निष्कर्ष की कमी—राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत विज्ञान की तरह शुद्ध एवं शाश्वत निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। विज्ञान के निष्कर्ष और भविष्यवाणी शुद्ध, शाश्वत एवं निश्चित होते हैं। लेकिन, राजनीतिशास्त्र में हम ऐसा नहीं पाते। **आर० एच० शॉल्टाऊ** ने इस संबंध में कहा है, "मानव-संबंधों के क्षेत्र में अंकगणित जैसे निश्चित उत्तर नहीं प्राप्त हो सकते, क्योंकि पहले तो आप पूर्णतः यह नहीं कह सकते कि किन्हीं दी हुई परिस्थितियों में मानव क्या करेगा और दूसरे, कभी बार-बार एक-सी परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं होतीं जिनसे एक-सी मानवीय स्थितियाँ उत्पन्न हो सकें।"[1]

6. अचूक माप का अभाव (Lack of accurate measurement)—विज्ञान की यह मौलिक विशेषता है कि उसमें शुद्ध माप पाई जाती है, लेकिन राजनीतिशास्त्र में शुद्ध माप का अभाव है क्योंकि इसके अंतर्गत उत्तेजना, भावना, अभिलाषा इत्यादि चीजें जो राजनीति को प्रभावित करती हैं, अस्पष्ट तथा अदृश्य होती हैं। हम गैस एवं ताप के दाब को सही तरीके से माप सकते हैं, लेकिन एक भावना या विचार के आवेश को नहीं माप सकते।

7. वस्तुपरक अध्ययन की कमी (Lack of objective study)—विज्ञान एक वस्तुपरक अध्ययन है। इसके निष्कर्षों में व्यक्तिगत अवधारणाओं एवं अभिमतों का कोई ध्यान नहीं रहता, लेकिन राजनीति-विज्ञान के अंतर्गत इस प्रकार के वस्तुपरक अध्ययन की कमी है। यहाँ किसी भी विषय या घटना का अध्ययन करते समय व्यक्ति अपनी पूर्व मान्यताओं तथा अभिधारणाओं से मुक्त नहीं होता और इससे अध्ययन में उनके कुछ वैयक्तिक प्रभाव आ ही जाते हैं।

राजनीतिशास्त्र के विज्ञान होने के पक्ष में तर्क (Arguments in Favour of Political Science is a Science)

अनेक विद्वानों ने उपर्युक्त विचारों का खण्डन करते हुए बताया है कि राजनीतिशास्त्र एक विज्ञान है। प्राचीन काल से इसे विज्ञान के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। सर्वप्रथम यूनानी विचारक **अरस्तू** ने राजनीति को **सर्वप्रधान विज्ञान** (master science) बताया था। अपने राज्य-विषयक अध्ययन में **अरस्तू** ने वैज्ञानिक पद्धतियों का सहारा लिया था। **बोदाँ, हॉब्स, मॉण्टेस्क्यू, लेविस, ब्राइस, सिजविक, गार्नर** इत्यादि विद्वानों ने राजनीतिशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में रखा है। **फ्रेडरिक पोलॉक** ने कहा है, "जिस तरह नैतिकता का विज्ञान है उसी तरह तथा उसी भाव में और लगभग उसी सीमा तक राजनीति भी विज्ञान है।"[2] राजनीतिशास्त्र के विज्ञान होने के पक्ष में अग्रलिखित तर्क दिए गए हैं—

---

1. "In this sphere of human relationship mathematically accurate answers are unobtainable. For one thing you cannot quote what men will do in any given circumstances, and for another, there are never two identical sets of circumstances creating identical human situations."—R.H.SOLTAU

2. "There is a science of politics in the same sense and to the same, or about the same extent as there is a science of morals."—SIR FREEDERICK POLLOCK

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. प्रयोगात्मक विधि द्वारा राजनीतिशास्त्र का अध्ययन संभव—प्राकृतिक विज्ञान की तरह राजनीतिशास्त्र में भी प्रयोग की संभावनाएँ हैं। यह ठीक है कि एक विशाल जनसमुदाय को प्रयोग के लिए हम प्रयोगशाला में नहीं ला सकते, फिर भी अपने व्यापक दृष्टिकोण में इसके नित्य प्रयोग होते रहे हैं। विश्व में होनेवाली घटनाएँ ही राजनीतिशास्त्र की प्रयोगशाला के प्रयोग हैं। इनके आधार पर हम एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। आमतौर से विगत ऐतिहासिक घटनाएँ राजनीतिशास्त्र की प्रयोगशाला के प्रयोगात्मक परिणाम हैं और उन घटनाओं के आधार पर हम वर्तमान में भविष्य के लिए भविष्यवाणी कर सकते हैं।

2. विज्ञान की तरह राजनीतिशास्त्र में भी भविष्यवाणी संभव है—वैसे तो प्राकृतिक विज्ञानों की तरह राजनीतिशास्त्र में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, लेकिन इसके बावजूद यहाँ भविष्यवाणी की संभावना रहती है, भले ही भविष्यवाणी सत्य हो या असत्य। **फाइनर** ने कहा है, "हम भविष्य की संभावनाओं के संबंध में भविष्यवाणी तो अवश्य कर सकते हैं, यह बात दूसरी है कि हम पूर्ण निश्चितता के साथ वैसा कुछ कह नहीं सकते।" **ब्राइस** ने भी कहा है, "भौतिक विज्ञान में भविष्यवाणी निश्चित होती है, लेकिन राजनीतिशास्त्र में संभावना से अधिक नहीं।"[1] **लॉस्की** ने भी ऐसी ही बात कही है, "हम अनुभव के आधार पर भविष्यवाणी कर सकते हैं।" अतः, यहाँ भविष्यवाणी हो सकती है जो सर्वथा सत्य नहीं होती।

3. विज्ञान की तरह पर्यवेक्षण-विधि संभव—राजनीतिशास्त्र में जो प्रयोग हो चुके हैं, उनका पर्यवेक्षण कर हम एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। उदाहरण के लिए, आज तक प्रजातंत्र में जो प्रयोग हुए हैं उनका विश्लेषण कर हम इतना तो कह ही सकते हैं कि प्रजातंत्रात्मक शासन-पद्धति विश्व के लिए सर्वोत्तम है। जहाँ प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था असफल हुई है, वहाँ उसका परीक्षण कर कुछ निश्चित सुझाव दिए जा सकते हैं। अतएव, राजनीतिशास्त्र के अधिकांश विद्वान, जैसे **अरस्तू, मॉण्टेस्क्यू, लॉर्ड ब्राइस** इत्यादि ने अपने अध्ययन में पर्यवेक्षण-विधि का सहारा लिया है।

4. विज्ञान की तरह राजनीतिशास्त्र भी एक क्रमबद्ध अध्ययन है—विज्ञान की तरह आज राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र निश्चित है और इसके अधिकांश नियम स्थापित हो चुके हैं। आज राजनीतिशास्त्र की सभी बातों को हम एक क्रम में रखकर उनका अध्ययन कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, राज्य की उत्पत्ति और विकास हमारे सामने एक क्रमबद्ध ज्ञान प्रस्तुत करते हैं।

5. विज्ञान की तरह समान निष्कर्ष तथा सिद्धांत—विज्ञान की तरह ही राजनीतिशास्त्र में भी वैज्ञानिक विधियों और प्रयोगों के सहारे एक ही निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। ऐतिहासिक तथ्यों तथा राजनीतिक संस्थाओं की कार्यशीलता का परीक्षण, संग्रह और वर्गीकरण करके राजनीतिशास्त्र का विद्यार्थी भी वैज्ञानिक की तरह निश्चित सिद्धांत पर पहुँच सकता है, क्योंकि राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत ऐसे सामान्य सिद्धान्तों का अभाव नहीं है, जैसे—न्यायपालिका के कार्यपालिका से स्वतंत्र रहने पर ही हम समुचित न्याय की उम्मीद कर सकते हैं।

6. राजनीतिशास्त्र अपने बृहत अर्थ में विज्ञान—राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत प्राकृतिक विज्ञानों की निश्चितता, क्रमबद्धता और शुद्धता या प्रयोग की सुविधा भले ही न हो, लेकिन इतना हमें मानना ही होगा कि विज्ञान की ये सभी विशेषताएँ आंशिक रूप से राजनीतिशास्त्र में भी विद्यमान हैं। इसका भी अध्ययन वैज्ञानिक विधि द्वारा किया जा सकता है तथा निश्चित निष्कर्ष और नियम बनाए जा सकते हैं। अतएव, राजनीति-विज्ञान अपने बृहद अर्थ में एक विज्ञान है, लेकिन भौतिकी और रसायनविज्ञान की तरह यह निश्चित और शुद्ध विज्ञान नहीं है।

आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों ने उपर्युक्त आधारों पर ही राजनीति-विज्ञान को विज्ञान का स्तर दिलाने का प्रयास किया है। वैज्ञानिक तथ्यों और तर्कों को पेश कर वे हरसंभव उपायों से राजनीति के संभव निष्कर्षों पर पहुँचने का प्रयास कर रहे हैं। पाश्चात्य देशों में इस संबंध में अनेक काम हुए हैं। इसी संदर्भ में **हैरोल्ड डी॰ लॉसवेल** ने इसे **नीति-विज्ञान** (Policy-science) कहकर पुकारा है।

राजनीतिशास्त्र का अध्ययन एक कला के रूप में (Study of Political Science as an Art)

एक कला के रूप में राजनीतिशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ से ही होता आया है, क्योंकि राजनीतिशास्त्र एक कला की समस्त विशेषताओं को अपने में समाहित करता है। यह किसी भी सिद्धांत या सूत्र को व्यवहार

1. "Prediction in physics may be certain, in Politics it can at best, be no more than probable."—BRYCE

WWW.GRADESETTER.COM

में क्रियान्वित करने का प्रयास करता है। राजनीतिशास्त्र का अध्ययन एक कला के रूप में करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि **कला** क्या है। कला वह अभ्यास या विद्या है जो किसी कार्य को अच्छी तरह से करना सिखाती है और व्यावहारिक जीवन में विभिन्न सिद्धांतों का प्रयोग बताकर जीवन-रूपी आदर्श को प्रस्तुत करती है, अर्थात कला मानव-जीवन का सर्वांगीण चित्र तथा किसी ज्ञान का व्यावहारिक पहलू है। इस दृष्टिकोण से राजनीतिशास्त्र भी एक कला है। **ब्लंश्ली** ने राजनीतिशास्त्र की वैज्ञानिकता की विवेचना करते हुए कहा है, "राजनीतिशास्त्र विज्ञान से अधिक कला है और इसका राज्य के व्यावहारिक पक्ष से ज्यादा संबंध है।"[1] राजनीतिशास्त्र की कला में जो माहिर हो जाता है, वह अपने जीवन में कभी असफल नहीं हो सकता, क्योंकि इसका मूल उद्देश्य जीवन-संबंधी सफलताओं का मार्ग प्रशस्त करना है।

राजनीतिशास्त्र विज्ञान और कला दोनों है (Political Science is both a Science and an Art)

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि राजनीतिशास्त्र विज्ञान और कला दोनों है। विज्ञान और कला दोनों रूपों में यह हमारे लिए उपयोगी है। एक विज्ञान के रूप में उपयोगी होकर वह अतीतकालीन घटनाओं की रूपरेखा हमारे सामने रखता है, जिसके आधार पर हम भविष्य-संबंधी परिकल्पना कर सकते हैं। एक कला के रूप में जीवन में आगे बढ़ने की शिक्षा देकर यह हमें सक्रिय रखता है। **गार्नर** ने कहा है, "राजनीतिशास्त्र हमें व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करता है। भ्रममूलक राजनीतिक दर्शन के सिद्धांत का खंडन करता है तथा विवेकपूर्ण राजनीतिक क्रियाकलाप के आधार के रूप में सुदृढ़ सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि राजनीतिशास्त्र विज्ञान भी है और उच्चस्तरीय कला भी। उदाहरण के लिए, राजनीतिशास्त्र न सिर्फ राज्य के मौलिक सिद्धांतों का अध्ययन करता है, वरन वह सरकार के स्वरूप, उसके उद्देश्य तथा उसके क्रियान्वयन के लिए अपनाई जानेवाली विधियों एवं पद्धतियों का भी अध्ययन करता है। इससे यह स्पष्ट है कि राजनीतिशास्त्र विज्ञान और कला दोनों है, क्योंकि यह बताता है कि राज्य का संचालन किस ढंग से हो। यदि इन दोनों रूपों में हम इसे अपनाते हैं तो जीवन अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है।

परंपरागत राजनीतिशास्त्र की विशेषताएँ
(Features of Traditional Political Science)

परंपरागत राजनीतिशास्त्र की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

1. संस्थागत दृष्टिकोण (Institutional approach)—यह राज्य एवं उसकी संरचनाओं, विभिन्न इकाइयों आदि का संस्थागत दृष्टि से अध्ययन करता है और राज्य, सरकार, राजनीतिक संस्थाएँ आदि के लक्ष्यों की विवेचना करता है।

2. विचारकों का प्रभाव (Influence of the thinkers)—परंपरागत राजनीतिशास्त्र की यह विशेषता है कि उसके राजनीतिक सिद्धांत अपने प्रतिपादकों के व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोणों से प्रभावित रहे हैं। ये विचारक तात्कालिक राजनीतिक समस्याओं का स्थायी समाधान खोजने का प्रयास करते थे। अधिकांश विचारक, आचारशास्त्र या दर्शनशास्त्र से प्रभावित रहे हैं। उन्होंने मानवीय जीवन तथा सामाजिक लक्ष्यों और मूल्यों की ओर ध्यान दिया है। उदाहरण के लिए, हम यूनानी विचारकों द्वारा नैतिक जीवन की उपलब्धि का विचार, मध्ययुग के क्रिश्चियन संत-राजनीतिज्ञों का ईश्वरीय राज्य स्थापित करने का विचार तथा आदर्शवादियों के विवेक के साक्षात्कार के विचार को ले सकते हैं। इन विद्वानों के विचारों को परानुभववादी (trans-empirical) कहा गया है। उनके विचार व्यक्तिपरक और उनकी चिन्तन-प्रणाली निगमनात्मक है।

3. अधि-अनुशासनात्मक (Trans-disciplinary)—परंपरागत राजनीतिशास्त्र की एक अन्य विशेषता है कि इसके विचारकों का चिन्तनक्षेत्र अधि-अनुशासनात्मक (trans-disciplinarian) था। अर्थात, उनके विचारों का संबंध अनेक सामाजिक शास्त्रों से था, वे केवल राजनीति से संबंधित नहीं थे। अतएव, **प्लेटो, अरस्तू,**

1. "Politics is more of an art than of a science and has to do with the practical conduct or guidance of state."—BLUNTSCHLI

2. "It renders practical service by deducting sound principles as a basis for wise political action and by exposing the teachings of false political philosophy."—GARNER

WWW.GRADESETTER.COM

रूसो तथा **मार्क्स** आदि विचारक लगभग सभी सामाजिक शास्त्रों में अपना विशिष्ट स्थान ग्रहण किए हुए हैं। परिणामस्वरूप, राजनीतिशास्त्र के विषय-क्षेत्र में अत्यधिक अस्पष्टता बनी रही।

4. **बौद्धिक** (Rational)—परंपरागत राजनीतिशास्त्र प्रायः बौद्धिक है। यथार्थ एवं व्यवहार से इसका बहुत कम संबंध है।

5. **तर्क पर आधारित** (Based on logic)—परंपरावादियों के निष्कर्ष तर्क पर आधारित थे; आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों की तरह गणितीय परिमाण (mathematical calculation), तथ्य-संग्रह (data collection) तथा सर्वेक्षण (survey) जैसी वैज्ञानिक पद्धतियों पर आधारित नहीं।

6. **कानूनी दृष्टिकोण** (Legal approach)—ऐसे तो परंपरावादियों के बीच भी कुछ अनुभववादी (empirical) विचारक देखने को मिलते हैं, लेकिन उनका अनुभववाद राजनीतिक संस्थाओं के संबंध में आकारगत (formal), कानूनी (legal) और संस्थागत रहा है।

7. **विधियाँ** (Methods)—परंपरावादियों के अनुसंधान तथा विश्लेषण की प्रमुख विधियाँ ऐतिहासिक एवं विवरणात्मक हैं। इनका साहित्य पुस्तकालयों में बैठकर लिखा गया है।

8. **समरूपता का अभाव** (Lack of uniformity)—आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों की तरह परंपरावादी विचारक सामान्य राजनीतिक सिद्धांत ढूँढ़ने का प्रयास नहीं करते। चूँकि उनके विचार व्यक्तिपरक और भावात्मक होते हैं, इसलिए उनके विचारों में समरूपता का अभाव है।

9. **अंतर-अनुशासनिक नहीं** (Not inter-disciplinary)—परंपरागत राजनीतिशास्त्र अनुशासनिक नहीं बन पाया है, क्योंकि उसके विचारों में अध्ययन की तकनीकों तथा निष्कर्षों को ग्रहण करने का सुझाव नहीं है।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि राजनीतिशास्त्र का परंपरागत क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। यह मानव-जीवन के राजनीतिक पहलू का संपूर्ण अध्ययन करता है। राजनीतिक पहलू का क्षेत्र काफी व्यापक है। राजनीतिशास्त्र के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय 'राज्य' के क्षेत्र में आज अत्यधिक वृद्धि होती जा रही है। पुलिस राज्य का स्थान आज के लोक-कल्याणकारी राज्यों ने ले लिया है। राज्य मानव-जीवन के सूक्ष्म क्षेत्र में प्रविष्ट कर गया है। राज्य का सीमा-क्षेत्र अब **यूनान** और **वैशाली** के नगर-राज्यों तक सीमित नहीं रह गया है, वरन अब तो विश्व का संपूर्ण मानव-समाज एक इकाई का रूप लेने जा रहा है। इसीलिए, एक अमेरिकन राजनीतिज्ञ **वेण्डल विल्की** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **एक राज्य** *(One World)* में संपूर्ण मानव-समाज की एकरूपता दिखाने का प्रयास किया है। इस संदर्भ में राजनय विश्व में 'भ्रातृत्व' की शिक्षा देकर अंतरराष्ट्रीय संगठन की समझौतेवादी नीति को सुदृढ़ कर रहा है। आज का राजनीतिशास्त्र अंतरराष्ट्रीय जगत के विभिन्न विषयों से संबंधित हो गया है।

राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता
(Utility of the Study of Political Science)

विषय-प्रवेश (Introduction)—आज की 20वीं शताब्दी में मानव-जीवन की सार्थकता के लिए राजनीतिशास्त्र एक अति उपयोगी विषय है। राजनीतिशास्त्र राज्य में निवास करनेवाले व्यक्तियों के लिए कितना उपयोगी है, इसकी विवेचना निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. **राजनीतिशास्त्र और नागरिक विकास**—व्यक्ति जिस दिन जन्म लेता है, उसी रोज से राज्य उसका भरण-पोषण प्रारंभ कर देता है। जब बच्चा बड़ा होता है तब राज्य उसके सर्वांगीण विकास के संबंध में सोचना प्रारंभ कर देता है। उसके पढ़ने के लिए वह स्कूलों तथा कॉलेजों की व्यवस्था करता है। चूँकि राज्य, राजनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है, इसलिए ये सारे काम राजनीतिशास्त्र के कार्य हैं। यह मानव-विकास की कहानी हमारे सामने प्रस्तुत करता है।

2. **राजनीतिशास्त्र नागरिक-अधिकारों एवं कर्तव्यों की शिक्षा देता है**—राज्य का ध्यान नागरिक-अधिकारों तथा कर्तव्यों की ओर आकर्षित कर राजनीतिशास्त्र नागरिकों का सर्वांगीण विकास चाहता है। राज्य का नागरिकों के प्रति क्या दायित्व है तथा नागरिकों का राज्य के प्रति क्या कर्तव्य है—इसकी जानकारी राजनीतिशास्त्र देता है। नागरिकों को उनके कर्तव्यों तथा अधिकारों का बोध कराकर राज्य द्वारा किए गए अत्याचारों की ओर जनता को सचेत करने का दायित्व राजनीतिशास्त्र का ही है। नागरिक-अधिकारों तथा

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

राज्य में संघर्ष उत्पन्न होने की स्थिति में राजनीतिशास्त्र नागरिक-स्वतंत्रता (civil liberty) को बचाने का प्रयास करता है।

3. राजनीतिशास्त्र राज्य की जानकारी देता है—**गार्नर** ने कहा है, "राजनीतिशास्त्र का राज्य के अध्ययन के साथ प्रारंभ और अंत होता है।" यह हमारे सामने राज्य के विभिन्न रूपों, उसकी कार्यप्रणाली, केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण का रूप, राज्य के आवश्यक तत्त्वों तथा राज्य का जनता के प्रति दायित्वों की जानकारी प्रस्तुत करता है। राज्य किस ढंग से विकसित हुआ, उसका आधुनिक रूप क्या है तथा आज राज्य का वास्तविक दायित्व क्या है—राजनीतिशास्त्र इसकी जानकारी हमारे सामने प्रस्तुत करता है। यह बताता है कि प्रजातंत्रीय राज्य अधिनायकवादी राज्यों से कैसे भिन्न होता है तथा लोकतंत्रीय राज्य जनता के अधिकारों का हनन नहीं कर सकता।

4. राजनीतिशास्त्र सरकार तथा उसकी कार्यप्रणाली का ज्ञान कराता है—राजनीतिशास्त्र सरकार तथा उसकी कार्यप्रणाली का ज्ञान कराता है। यह सरकार और राज्य के संबंधों को भी स्पष्ट करता है। यह बताता है कि सरकार राज्य का एक आवश्यक अंग है। यदि सरकार की कार्यप्रणाली में कुछ दोष हैं तो उनकी ओर जनता का ध्यान आकर्षित कर राजनीतिशास्त्र उन दोषों का उन्मूलन करता है और अच्छी-से-अच्छी कार्यप्रणाली के लिए नागरिक-सुझावों को आमंत्रित करता है।

5. अंतरराष्ट्रीय घटनाओं की जानकारी—राजनीतिशास्त्र की एक अन्य उपयोगिता है कि यह हमें अंतरराष्ट्रीय घटनाओं की सही जानकारी देता है। अंतरराष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि की दृष्टि से यह **राजनय** को भी अपने विषय में शामिल कर इसके विभिन्न अंगों को स्पष्ट करता है।

6. नागरिकता का ज्ञान—राजनीतिशास्त्र के अध्ययन से नागरिकों का सर्वांगीण विकास ही नहीं होता, वरन उन्हें नागरिकता का सम्यक ज्ञान भी होता है। नागरिकता की परिभाषा, उत्पत्ति तथा दोहरी नागरिकता से उत्पन्न विवादों का यह हमें ज्ञान देता है। इसी शास्त्र के अध्ययन से नागरिक-कर्तव्यों का बोध होता है। नागरिकता की प्राप्ति तथा अंत कैसे होता है—इसकी जानकारी राजनीतिशास्त्र से होती है। सच्चे नागरिक गुणों के विकास में इससे सहायता मिलती है। यह अविकसित देशों के नागरिकों को अन्य विकसित देशों की नागरिकता से परिचय कराकर सच्ची नागरिकता की शिक्षा देता है।

7. व्यावहारिक राजनीति का ज्ञान—राजनीतिशास्त्र के अध्ययन से हमें व्यावहारिक राजनीति का ज्ञान मिलता है। चूँकि व्यावहारिक राजनीति का संबंध वास्तविकता से है, इसलिए राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के बाद हम किसी भी राजनीतिक मामले पर तर्कपूर्ण ढंग से विचार कर सकते हैं। राजनीतिशास्त्र के क्षेत्रांतर्गत नवीन उपागमों के आगमन तथा व्यवहारवादी आंदोलन ने राजनीतिशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष के अध्ययन पर अधिक बल दिया है। आधुनिक राजनीतिशास्त्र ने व्यावहारिक राजनीति से अपने को संबद्ध कर लिया है। व्यावहारिक राजनीति के अंतर्गत विभिन्न संस्थाएँ और संस्थाओं के लोग किसी तरह का निर्णय क्यों लेते हैं, इसके लिए राजनीतिशास्त्र हमें तथ्यों के अध्ययन पर ध्यान देने का संकेत करता है। **जे० डी० वी० मिलर, जे० एच० प्राइस, जेलीनेक** आदि विद्वानों ने इसी आधार पर राजनीति की विवेचना की है।

8. अतीत का दिशा-संकेत—राजनीतिशास्त्र हमें ऐतिहासिक तथ्यों की भी शिक्षा देता है। यह ऐतिहासिक घटनाओं की विवेचना कर वर्तमान के संबंध में निर्णय लेता है। चूँकि वर्तमान की जानकारी ऐतिहासिक घटनाओं के संदर्भ में ही संभव है, इसलिए राजनीतिशास्त्र इतिहास को अपनी प्रयोगशाला समझता है। अतीत की घटनाओं के सम्यक ज्ञान के बाद ही हम वर्तमान राजनीति के घटना-चक्रों की सही विवेचना कर सकते हैं।

9. राजनीतिक प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं का ज्ञान—राजनीतिशास्त्र के अध्ययन से हमें विभिन्न राजनीतिक प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं का भी ज्ञान होता है। चूँकि आज का युग लोकतंत्रात्मक है, इसलिए जनता शासन-संचालन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भाग लेती है। शासन-संचालन में अनेक प्रक्रियाएँ तथा समस्याएँ भी निहित हैं। उन समस्त राजनीतिक प्रक्रियाओं और समस्याओं का यह अध्ययन प्रस्तुत करता है। यह विभिन्न राजनीतिक दलों, उनकी कार्यप्रणाली तथा जनमत के संबंध में भी हमें जानकारी देता है। राजनीतिशास्त्र के अध्ययन से हमें पता चल जाता है कि किसी देश में जनमत की पुकार क्या है। यह हमें विभिन्न स्वायत्त तथा ऐच्छिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली से भी परिचित कराता है।

10. जन-जागरूकता का ज्ञान—जन-जागरूकता के संदर्भ में भी राजनीतिशास्त्र हमारे लिए उपयोगी है। शासन-संचालन में जनजीवन जितना अधिक भाग लेगा और राजनीतिक समस्याओं के प्रति जितनी ही

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अधिक सचेतना बढ़ेगी, राजनीतिशास्त्र का महत्त्व भी उतना ही अधिक बढ़ेगा। प्राचीन यूनान में छोटे-छोटे नगर-राज्य शासन-संचालन में प्रत्यक्ष भाग लेते थे, इसलिए उस काल में राजनीतिशास्त्र का बहुत महत्त्व था। चूँकि मध्यकाल (middle ages) धर्मप्रधान था, इसलिए उस काल में राजनीति का स्थान धर्म ने ले लिया था। आधुनिक युग में राज्य के कार्यों में अप्रत्याशित वृद्धि होने से राजनीति का महत्त्व सर्वाधिक हो गया है। आज राजनीति का बोलबाला काफी है। यदि हम यह कहें कि राजनीति का जनता से अटूट संबंध है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। इस संबंध में **आर० एच० शॉल्टाऊ** ने ठीक ही कहा है, "राजनीति आज विशेषज्ञों का ही क्षेत्र नहीं, वरन उसका संबंध किसी भी उत्तरदायी व्यक्ति से हो गया है।"

प्रश्नावली

1. परंपरागत राजनीतिशास्त्र के स्वरूप तथा क्षेत्र को स्पष्ट कीजिए।
   (Discuss the nature and scope of Traditional Political Science.)
2. राजनीतिशास्त्र की परिभाषा परंपरावादी विद्वानों के अनुसार दीजिए।
   (Define Political Science according to the Traditional Political Scientists.)
3. राजनीतिशास्त्र की परिभाषा कीजिए। राजनीतिक दर्शन से इसका अंतर बतावें।
   (Define Political Science. Distinguish it from Political Philosophy.)
4. "राजनीतिशास्त्र का आरंभ और अंत राज्य से होता है।" स्पष्ट करें।
   ("Political Science begins and ends with the state." Discuss.)
5. "पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता राजनीतिशास्त्र से अधिक अन्य किसी विज्ञान में नहीं है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।
   ("There is no science which is so much in need of good terminology as in Political Science." Examine this statement.)
6. क्या राजनीतिशास्त्र एक विज्ञान है ? अपने पक्ष में तर्क दीजिए।
   (Is Political Science a science ? Give arguments in your favour.)
7. एक कला के रूप में राजनीतिशास्त्र के स्वरूप की विवेचना कीजिए।
   (Discuss the nature of Political Science as an art.)
8. परम्परागत राजनीतिशास्त्र की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
   (Describe the features of the Traditional Political Science.)
9. राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता पर एक निबंध लिखिए।
   (Write an essay on the Utility of the study of the Political Science.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 4

आधुनिक राजनीतिशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र
[NATURE AND SCOPE OF MODERN POLITICAL SCIENCE]

राजनीतिशास्त्र किसी समाज में मूल्यों के अधिकाधिक विभाजन का अध्ययन है।—डेविड ईस्टन

विषय-प्रवेश (Introduction)

19वीं सदी तक परंपरागत दृष्टिकोण ही राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का प्रमुख आधार रहा। परंपरागत अध्ययन के आधार का केन्द्रबिन्दु राज्य और सरकार की धारणाएँ रही हैं। 20वीं सदी के प्रारंभ से परंपरागत या संस्थागत दृष्टिकोण के प्रति राजनीतिशास्त्र के विद्वानों में गहरा असंतोष दिखाई पड़ने लगा। जैसे-जैसे राजनीति को विज्ञान बनाने की बात जोर पकड़ती गई, परंपरागत दृष्टिकोण की कमियाँ भी उभरने लगीं। **बीयर्ड, लॉवेल, बेण्टले, बेजहॉट, ग्राहम वालास** तथा **जॉर्ज कैटलिन** आदि विद्वानों ने परंपरागत दृष्टिकोण के स्थान पर आधुनिक राजनीतिशास्त्र के विकास में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। आधुनिक राजनीतिशास्त्र के विकास का प्रमुख श्रेय अमेरिकी विद्वानों को दिया जा सकता है। अमेरिका में राजनीति-विज्ञान को नई दिशा देने की प्रेरणा दो स्रोतों के कारण संभव हुई—(i) **प्रथम** प्रेरणा-स्रोत **शिकागो-संप्रदाय** था और (ii) **द्वितीय मनोविज्ञान।** शिकागो-संप्रदाय के विद्वानों ने राजनीतिशास्त्र को ज्यादा-से-ज्यादा विज्ञानसम्मत बनाने का बीड़ा उठाया। शिकागो विश्वविद्यालय में आधुनिक राजनीतिशास्त्र का नेतृत्व **चार्ल्स मेरियम** ने किया। उसके नेतृत्व में विद्वानों के एक समूह ने राजनीतिशास्त्र को समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन, सांख्यिकी, अर्थशास्त्र एवं मानवशास्त्र जैसे समाजविज्ञानों के निकट लाने का हरसंभव प्रयास किया। इससे राजनीतिशास्त्र में तार्किक अनुभववाद, तथ्यात्मकता, व्यवहारवाद तथा समाजशास्त्रीय पद्धतियों का प्रयोग प्रारंभ हुआ। जहाँ तक मनोविज्ञान संबंधी स्रोतों का प्रश्न है, **प्रो॰ रेनिस लिकर्ट, कुर्त लेबिन, प्रो॰ लजार्सफेल्ड** के प्रयासों के चलते आधुनिक राजनीतिशास्त्र में मनोविज्ञान की शोध-तकनीकों का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा है। राजनीतिशास्त्र का यह आधुनिक दृष्टिकोण राजनीति का अध्ययन मुख्यतः तीन दृष्टियों से करता है—(1) शक्ति (Power), (2) विनिश्चय-प्रक्रिया (Decision making) और (3) राजनीतिक व्यवस्था (Political system)।

आधुनिक राजनीतिशास्त्र का जन्म
(Origin of Modern Political Science)

व्यवहारवाद के अध्ययन के रूप में आधुनिक राजनीतिशास्त्र का जन्म—आधुनिक राजनीतिशास्त्र का प्रारंभ व्यवहारवाद के संदर्भ में हुआ। वैज्ञानिक प्रणालियों और उपकरणों की खोज के बावजूद राजनीतिशास्त्र के शोध-उपकरण पुराने थे। परिणामस्वरूप, अध्ययन की तत्कालीन प्रणालियों से इतना घोर असंतोष था कि राजनीतिशास्त्री अन्वेषण के नवीन इकाइयों, नई प्रणालियों, नई प्रवृत्तियों, नए आँकड़ों और क्रमबद्ध सिद्धांत के लिए अत्यधिक व्यापक हो उठे। इस संबंध में **क्रीक पैट्रिक** ने कहा है—"असंतोष से हलचल हुआ और हलचल से परिवर्तन।" इस परिवर्तन ने अमेरिका में राजनीतिक व्यवहार को जन्म दिया और उसके साथ आधुनिक या नवीन राजनीतिशास्त्र की नींव पड़ी और राजनीतिशास्त्र ने एक पृथक अनुशासन का रूप ग्रहण कर लिया। **बीयर्ड, लॉवेल, बेंटले, वाल्टर, बेजहॉट, ग्राहम वालास** तथा **जॉर्ज कैटलिन** आदि विद्वानों ने आधुनिक राजनीतिशास्त्र के विकास में ऐतिहासिक भूमिका निभाई और इसके विषय-क्षेत्र को विकसित करने का प्रयास किया। **चार्ल्स ई॰ मेरियम** को व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्र का 'बौद्धिक धर्म-चिन्तक' (intellectual God-father) कहा जाता है। उसने राजनीतिशास्त्र को अन्य सामाजिक

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

शास्त्रों और प्राकृतिक विज्ञानों में हुए विकासों, विधियों और सिद्धांतों को अपनाने का आग्रह किया। 1925 ई० में 'अमेरिकन पॉलिटिकल साइन्स एसोसिएशन' के अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा, ''अन्य विज्ञानों की तरह हमलोग भी किसी रोज औपचारिक उपागम की तरह अन्य उपागम को अपनाएँगे और राजनीतिक व्यवहार को अन्वेषण का आवश्यक लक्ष्य मानने लगेंगे।'' **मार्क्स, दुर्खीम, फ्रायड, पैरोटो, मोस्का, मैक्स वेबर** तथा **माइकेल्स** आदि यूरोपीय समाजशास्त्रियों ने भी व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्र के विकास में सहायता पहुँचाई।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आधुनिक राजनीतिशास्त्र का बड़े पैमाने पर विकास हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व का युग अनुभववाद के पूर्व-व्यवहारवाद का युग था, लेकिन युद्ध के बाद आधुनिक राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में अनुभवात्मक और परिणामात्मक अनुसंधान बड़े पैमाने पर प्रारंभ हुए। बड़ी संख्या में राजनीतिशास्त्री व्यवहारवादी मान्यताओं और तकनीकों को अपनाने लगे। व्यवस्था उपागम, विनिश्चय-निर्माण सिद्धांत, संचरण-सिद्धांत तथा अन्य सैद्धांतिक नवीनताएँ इसी दशक के परिणाम हैं। इन नवीनताओं ने राजनीतिशास्त्र के प्रायः सभी उपक्षेत्रों में मौलिक परिवर्तन ला दिया। शोधप्रविधियों में काफी विकास हुआ और नए-नए शोध-तरीके काम में लाए जाने लगे। व्यवहारवादियों का एकमात्र उद्देश्य सिद्धांत-निर्माण था जिसके लिए उन्होंने आनुभविक (empirical) शोध-तकनीकों को अपनाया।

नवीन व्यवहारवादी—1960 के दशक में व्यवहारवादी आन्दोलन ने नया मोड़ लिया। परिणामस्वरूप, व्यवहारवादी दो खेमों में विभाजित हो गए—सैद्धांतिक व्यवहारवादी (theoretical behaviouralists) और स्वीकारात्मक व्यवहारवादी (positive behaviouralists)। जहाँ **पहला वर्ग** केवल सिद्धांत-निर्माण में लगा था, वहाँ **दूसरा वर्ग** तथ्यवादी (factualist) था। इस प्रकार, नवीन व्यवहारवादियों ने व्यवहार के नाम पर प्रयोग होनेवाले कठिन और निरर्थक वैज्ञानिक तकनीकों के खिलाफ आवाज उठाई।

आधुनिक काल के नवीन राजनीतिशास्त्रियों में **डेविड ईस्टन, यूजीन जे० मिहान, एच० डी० लॉसवेल** आदि का कहना है कि राजनीति-विज्ञान पूर्णतः नीति-निरपेक्ष या मूल्य-निरपेक्ष हो सकता है। इन लोगों ने राजनीति की नए रूप से व्याख्या की है। व्यवहारवादी होते हुए भी **लॉसवेल** व्यवहारवाद के नाम पर राजनीतिशास्त्र को मूल्यविहीन बनाना नहीं चाहते। उन्होंने राजनीतिशास्त्र को **नीति-विज्ञान** (Policy-Science) की संज्ञा दी है।

वर्तमान स्थिति—वर्तमान काल में राजनीतिशास्त्र ने व्यवहारवादी क्रान्ति को आत्मसात् कर लिया है और व्यवहारवाद के संशोधित रूप ने नवीन राजनीतिशास्त्र का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। इस नवीन राजनीतिशास्त्र के साथ-साथ परंपरावादी राजनीतिशास्त्र का अस्तित्व भी कायम है, जिसे संशोधित और उपयोगी रूप देने का प्रयास आदर्शवादी कर रहे हैं। ये दोनों—**परंपरावादी** तथा **आधुनिक**—विचारधाराएँ साथ-साथ चल रही हैं, फिर भी भिन्न-भिन्न देशों में किसी-न-किसी एक धारा की ही प्रमुखता है। जहाँ अमेरिका और यूरोप के विकासवादी देशों के नवीन राजनीतिशास्त्रियों द्वारा व्यवहारवादी मान्यताओं को पूर्णतः स्वीकार कर लिया गया है, वहाँ विकासशील देशों में इसके अध्ययन-अध्यापन की स्थिति अब भी काफी सोचनीय है। एशियाई, अफ्रीकी तथा लातीनी अमेरिकी देशों में राजनीतिशास्त्र को एक स्वतंत्र तथा स्वायत्त अनुशासन का स्तर प्राप्त हो सकता है और इन दोनों में अब भी इस विषय के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का अभाव है। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, एक विषय के रूप में अन्य सामाजिक शास्त्रों से इसे अलग तो कर दिया गया है और विश्वविद्यालयों में अलग-अलग अनुशासन के रूप में इसे स्वीकार कर लिया गया है, फिर भी अन्य सामाजिक शास्त्रों की तुलना में विज्ञान कहा जानेवाला यह अनुशासन काफी पिछड़ा है और परंपरावादी राजनीतिशास्त्र से काफी प्रभावित है, लेकिन नवीन राजनीतिशास्त्र से यह कोसों दूर भी है। अमेरिकी परंपरा में प्रशिक्षित जिन भारतीय राजनीतिशास्त्रियों ने नवीन राजनीतिशास्त्र को अपनाने का प्रयास किया, उनकी संख्या नगण्य है। भारत में ब्रिटिश परंपरा में शिक्षित राजनीतिशास्त्रियों की संख्या अधिक है जो परंपरागत राजनीतिशास्त्र के दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

आधुनिक राजनीतिशास्त्र की परिभाषाएँ
(Definitions of the Modern Political Science)

परंपरागत राजनीति-विज्ञान की परिभाषाओं में राजनीति-विज्ञान को 'राज्य' और 'सरकार' का अध्ययन बताया गया है, लेकिन राजनीतिशास्त्र के आधुनिक विद्वान इन्हें अपर्याप्त समझते हैं। आधुनिक राजनीतिक

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

विचारकों के अनुसार राजनीतिक अध्ययन को 'राज्य' या 'शासन' की परिधि तक सीमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके क्षेत्र में आज द्रुतगति से विकास हुआ है। आधुनिक राजनीतिशास्त्र ने 'राज्य के बिना राजनीति' का अध्ययन करना प्रारंभ कर दिया है। आधुनिक राजनीति के विद्वानों की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

लिप्सन (Lipson)—"राजनीति एक निरन्तर विवाद की प्रक्रिया है।" लिप्सन ने समाज, राजनीति, राज्य और सरकार में अंतर भेद करते हुए राजनीति को राज्य से विस्तृत चीज माना है। उनका कहना है, "राज्य राजनीति की तुलना में सीमित है।" अर्थात, लिप्सन के अनुसार राजनीति एक विस्तृत चीज है, जो समुदायों, सरकारों आदि का तथा इनसे संबद्ध मानवीय क्रियाओं का अध्ययन करती है।

समकालीन राजनीतिक विद्वानों में **पैरोटो, मोस्का, जॉर्ज कैटलिन, चार्ल्स मेरियम, हैरोल्ड डी० लॉसवेल, एच० जे० मॉरगेन्थाऊ, बर्ट्रेण्ड रसेल** तथा **वाटकिन्स** हैं। इन आधुनिक विद्वानों ने शक्ति को राजनीति की केंद्रीय अवधारणा स्वीकार किया है। आधुनिक राजनीतिशास्त्र की कुछ प्रमुख परिभाषाओं को हम निम्नलिखित रूपों में रख सकते हैं—

1. **कैटलिन** (Catlin)—"राजनीतिशास्त्र शक्ति का विज्ञान है।"

2. **रॉबर्ट ए० डैल** (Robert A. Dahl)—"राजनीति शक्ति की तलाश है।"

3. **मैक्स वेबर** (Max Weber)—"राजनीति शक्ति-विभाजन में हिस्सा लेने या उसे प्रभावित करने का संघर्ष है, चाहे यह शक्ति-विभाजन राज्यों के बीच में हो या एक राज्य के विभिन्न समुदायों के बीच।"[1]

4. **एच० डी० लॉसवेल** (H. D. Lasswell)—"राजनीति एक अनुभववादी अध्ययन के रूप में राजनीतिक शक्ति को बनाने तथा हिस्सा लेने का अध्ययन है।"

5. **रॉब्सन** (Robson)—"शक्ति एक ऐसी बुनियादी अवधारणा है, जो राजनीतिक अध्ययन के सभी विभागों को एक सूत्र में पिरो देती है।"

6. **एच० जे० मॉरगेन्थाऊ** (H. J. Morgenthau)—"अंतरराष्ट्रीय राजनीति, हर राजनीति की तरह, शक्ति-प्राप्ति का संघर्ष है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अंतिम उद्देश्य चाहे जो भी हो, शक्ति सदैव इसका निकट उद्देश्य रहती है।"[2]

7. **वी० ओ० की** (V. O. Key, Jr.)—"राजनीति शासक तथा शासितों, आधिपत्य तथा अधीनता आदि मानवीय संबंधों से संबद्ध है। राजनीति का अध्ययन इन राजनीतिक शक्तियों के संबंधों का अध्ययन है।"[3]

इस प्रकार, आधुनिक राजनीतिक विचारकों ने शक्ति को राजनीति की केंद्रीय अवधारणा स्वीकार किया है। राजनीति के इस शक्तिवादी दृष्टिकोण से एक बड़ा लाभ हुआ है कि अब हमारा अध्ययन केवल औपचारिक न रहकर राजनीतिक प्रक्रिया या व्यवहार के यथार्थवादी विश्लेषण पर आधारित हो गया है। फिर भी, राजनीति के अध्ययन के शक्तिवादी दृष्टिकोण की अनेक त्रुटियाँ सामने आई हैं और अब यह स्पष्ट होने लगा है कि शक्ति और प्रभाव पर आधारित सभी संबंध राजनीतिक नहीं होते और ऐसे गैर-राजनीतिक संबंध हमारे अध्ययन-क्षेत्र में नहीं आते। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि शक्ति के लिए संघर्ष के अध्ययन में हम उसके कारणों और उद्देश्यों की उपेक्षा नहीं कर सकते। **विलियम ऐस्लिगर** के अनुसार, "शक्ति की संकल्पना सैद्धांतिक रूप से मिथ्या है तथा व्यावहारिक रूप से खतरनाक।" **कैटलिन** ने भी यह स्वीकार किया है, "शक्ति केवल ऐसी चालू परिकल्पना है जिसकी परीक्षा होनी अभी शेष है।" **डेविड ईस्टन** (David Easton), **हेंज इलाऊ** (Heinz Eualau), **विलियम एच० रीकर** (William H. Ricker), **कैटलिन** (Catlin) जैसे आज के विद्वान शक्ति को राजनीति का केंद्रीय विषय मानने में संकोच व्यक्त करते हैं।

शक्ति से भिन्न क्रिया की दृष्टि से भी अनेक आधुनिक विद्वानों ने राजनीति-विज्ञान की परिभाषा दी है। उनके अनुसार यह क्रिया है "समाज में नियंत्रण की स्थापना।" इस संदर्भ में **कैटलिन** ने कहा है, "राजनीति-विज्ञान का संबंध समाज में नियंत्रण की क्रिया और इच्छाओं के नियंत्रित संबंधों से उत्पन्न संरचनाओं से है।"

---

1. "Politics is the struggle to share or influence the distribution of power, whether between states or among the groups within a state."—MAX WEBER
2. "International politics, like all politics, is a struggle for power. Whatever the ultimate aims of international politics, power is always the ultimate aim."—H. J. MORGENTHAU
3. "Politics deals with human relationships of superordination and subordination, of dominance and submission, of governors and governed. The study of politics is the study of these relationships of political power ....."—V. O. KEY (Jr.)

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

भारतीय विद्वान **अप्पादोराय** ने इसी विचार का अनुसरण करते हुए कहा है, "राजनीति-विज्ञान अपने व्यापक अर्थ में सामाजिक संगठन में नियंत्रण रखनेवाले और आज्ञापालन करानेवाले रूप से संबद्ध है।"

आधुनिक राजनीतिशास्त्र आपसी मतभेदों को सुलझाने का प्रयास करता है। लेकिन राजनीति का संबंध व्यक्तिगत मामलों तथा मतभेदों से न होकर सार्वजनिक जीवन के उन मतभेदों से है, जो व्यक्तिगत न होकर समूह या समूचे समाज से संबद्ध हों। आधुनिक राजनीतिशास्त्री ऐसे मतभेदों का शांतिपूर्ण ढंग से तथा कानूनी परिधि के अंदर निबटारे के लिए विकसित या स्थापित संस्थाओं का अध्ययन करते हैं। इस संबंध में **पीटर हैरिस** ने कहा है, "राजनीतिशास्त्रियों का काम इस बात पर विचार करना है कि लोग कैसे अपने मतभेदों को संस्थागत बनाते हैं।" इसमें संदेह नहीं कि विरोधी हितों का आपसी संघर्ष राजनीति के प्राण हैं, फिर भी, इस परिभाषा में यह भुला दिया गया है कि प्रत्येक राजनीतिक संघर्ष का उद्देश्य लोकहित होता है।

उपर्युक्त तथ्यों के अलावा, अनेक आधुनिक राजनीतिक विचारक राजनीतिशास्त्र के नीति-संबंधी पक्ष पर ध्यान देने लगे हैं। उनके विचार में एक देश की परिस्थिति-विशेष में, विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, जो विभिन्न नीतियाँ अपनाई जाती हैं, हमें उनका भी समुचित अध्ययन करना चाहिए। इसी संदर्भ में **हैरोल्ड डी॰ लॉसवेल** ने राजनीति-विज्ञान को **नीति-विज्ञान** (Policy-science) के नाम से पुकारा है। अन्य विद्वानों ने भी **लॉसवेल** के नामकरण का अनुकरण किया है और राजनीति-विज्ञान के माध्यम से विभिन्न देशों की नीति-नियोजन-संबंधी गतिविधियों को जानना चाहा है।

आधुनिक विद्वानों में **डेविड ईस्टन** द्वारा प्रतिपादित राजनीति-विज्ञान की परिभाषा सबसे अधिक लोकप्रिय है। इनके अनुसार, "राजनीतिशास्त्र किसी समाज में मूल्यों का अधिकाधिक विभाजन का अध्ययन है।" चूँकि समाज के सभी सदस्यों की इच्छाओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में मूल्य या वस्तु नहीं पाई जातीं, इसलिए पारस्परिक मतभेद और संघर्ष उत्पन्न होते हैं। ऐसी परिस्थिति में विशेष संस्थाएँ एवं प्रक्रियाएँ—राजनीतिक या गैर-राजनीतिक—पैदा होती हैं। वस्तुनिष्ठ वस्तुओं के विभाजन के संबंध में विवाद को कम करने के लिए निम्नलिखित दो बातें आवश्यक हैं—

(क) निर्णयों एवं संबद्ध कार्यों के लिए संरचनाएँ और प्रक्रियाएँ (structures and processes) जो मतभेदों को कम और नियमित करेंगी, और

(ख) ऐसी गारंटी कि ये निर्णय और कार्य अधिकाधिक रूप में स्वीकार किए जाएँगे।

प्रत्येक समाज में—चाहे वह आदिम हो या विकसित, ऐसी अंतर्क्रियाएँ (interactions) पाई जाती हैं, जो मूल्यों के अधिकाधिक विनियोजन को प्रभावित करती हैं। इन्हीं अंतर्क्रियाओं के परिणामस्वरूप सामूहिक रूप से उत्पन्न व्यवहार को 'राजनीतिक व्यवस्था' (Political system) कहा जाता है और इन्हीं अंतर्क्रियाओं का अध्ययन राजनीतिशास्त्र का मूल विषय है।

अतएव, आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों द्वारा दी गयी परिभाषाओं के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि उनके विचारों में अत्यधिक मतभेद हैं। परिणामस्वरूप, आज भी परंपरागत राजनीतिशास्त्र की तरह इस विषय की एक सर्वमान्य परिभाषा देना बहुत आसान नहीं है। फिर भी, आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों के विचार में काफी समानताएँ हैं। आज सभी राजनीतिक विचारक यह मानते हैं कि जहाँ 'राजनीति' का संबंध मानव के संगठित सामाजिक जीवन की राजनीतिक प्रक्रियाओं से है, वहाँ राजनीति-विज्ञान का संबंध इन क्रियाओं, संबद्ध राजनीतिक संस्थाओं, राजनीतिक प्रक्रियाओं और उनके परिणामों के विधिवत ज्ञान से है।

परंपरागत और आधुनिक विचारों का समन्वय

राजनीतिशास्त्र की उपर्युक्त परंपरागत तथा आधुनिक परिभाषाओं के सम्यक विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इन दोनों दृष्टिकोणों में अत्यधिक अंतर है। सचमुच में एक-दूसरे के अभाव में राजनीतिशास्त्र की न्यायसंगत परिभाषा नहीं की जा सकती। एक तरफ यदि परंपरावादी विचारकों को पूर्णतः छोड़कर राजनीतिशास्त्र का पूर्णतया स्पष्ट चित्र प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, तो दूसरी तरफ आधुनिक दृष्टिकोण की भी हम उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि हाल के वर्षों में हुए विभिन्न परिवर्तनों के अभाव में यह विषय पिछड़ा और असंगत ही रह जाएगा। इसीलिए अनेक विद्वानों ने **परंपरागत** तथा **आधुनिक** दृष्टिकोण में **समन्वय** स्थापित कर इस विषय में एक सर्वमान्य परिभाषा की खोज करनी चाही है। यद्यपि, ऐसी सर्वमान्य परिभाषा अभी तक सामने नहीं आई है; फिर भी, मोटे तौर पर हम कह सकते हैं, "राजनीतिशास्त्र केवल राज्य और सरकार का ही

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्ययन नहीं करता, वरन यह राजनीतिक मानव, औपचारिक तथा अनौपचारिक राजनीतिक संगठनों, राजनीतिक व्यवहार, राजनीतिक प्रक्रियाओं तथा राजनीतिक आदर्शों का भी क्रमबद्ध अध्ययन है।"[1] जैसे-जैसे समय आगे बढ़ रहा है, राजनीतिशास्त्र की परिभाषा का क्षेत्र भी विकसित होता जा रहा है। आज कोई भी ऐसा विषय नहीं है जिसका संबंध राजनीति तथा राजनीतिशास्त्र से नहीं है। अतः, आनेवाले दिनों में राजनीतिशास्त्र की भी नई परिभाषाओं की हम उम्मीद कर सकते हैं।

राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र का आधुनिक स्वरूप
(Modern Dimension of the Scope of Political Science)

वर्तमान समय में व्यवहारवादी आंदोलन ने राजनीतिशास्त्र के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है। आज राजनीति के अंतर्गत मनुष्य, सरकार तथा राज्य के अलावा मानव-जीवन से संबद्ध विभिन्न सामाजिक, आर्थिक आदि बातों का भी अध्ययन प्रारंभ कर दिया गया है। आज का राजनीतिशास्त्र मनुष्य का अध्ययन न केवल एक राजनीतिक प्राणी के रूप में करता है, वरन मानव के सभी कार्यों और उसके जीवन को प्रभावित करनेवाली समस्त घटनाओं का भी विवेचन करता है।

प्रारंभ से राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की प्रणाली ऐतिहासिक रही है और इसने संस्थाओं के अध्ययन तक ही अपने को सीमित रखा है। 19वीं शताब्दी के अंतिम काल से राजनीतिशास्त्र के विद्वानों ने राजनीतिक संगठनों और प्रक्रियाओं के क्रियात्मक पहलू का विवेचन प्रारंभ कर दिया है। लेकिन, अभी तक यह उपागम ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक और उसकी विषय-वस्तु वैधानिक-संस्थात्मक रहा है। अर्थात परंपरागत राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीति का अध्ययन न्यायशास्त्रीय तथा कानूनी पहलुओं से किया और उसके अनुसंधान तथा विश्लेषण की विधियाँ ऐतिहासिक एवं विवरणात्मक रही हैं। इसीलिए, 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में उपर्युक्त उपागम के अलावा, राजनीतिशास्त्रियों ने **आदर्शात्मक-निर्देशात्मक उपागम** (normative-prescriptive approach) को भी अपनाया और इस उपागम के अंतर्गत विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं और सरकार के विभिन्न रूपों के गुण-दोष और लाभ-हानि का तुलनात्मक अध्ययन किया जाने लगा। ऐसे अध्ययन के समय देश में वर्तमान परिस्थितियों पर ध्यान नहीं दिया गया, वरन कतिपय मूल्यों (values) एवं आदर्शों को ही अध्ययन का आधार बनाया गया। ऐसे अध्ययन का केंद्रबिंदु **मूल्य** (value) था। तथ्य (fact) से उसका कोई संबंध नहीं था। ऐसे अध्ययन में राजनीतिक घटनाओं के मूल्यांकन का आधार उसका नैतिक गुण था। उनमें अनुभवात्मक (empirical) या वैज्ञानिक (scientific) विधियों का अभाव था। उस उपागम का संबंध 'क्या होना चाहिए' (what ought to be) से था। वह अध्ययन 'क्या है' (what is) से संबंधित घटनाओं की छानबीन नहीं करता था। चूँकि उसमें तथ्यों (facts) का अभाव था, इसलिए कुछ विचारकों ने यह सोचना शुरू कर दिया कि सरकार और राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन से इनके वास्तविक कार्य की ओर ध्यान नहीं दिया जा सकता। सर्वप्रथम, **जेम्स ब्राइस** (James Bryce) ने 1888 ई० में अपनी पुस्तक **अमेरिकन कॉमनवेल्थ** *(American Commonwealth)* और पुनः अपनी दूसरी पुस्तक **मॉडर्न डेमोक्रेसिज** *(Modern Democracies)* में भी इस बात को दुहराया है कि संस्थाओं के वास्तविक कार्य को समझने के लिए केवल तथ्यों की आवश्यकता है। इस प्रकार, **ब्राइस** ने राजनीतिशास्त्र को एक क्रमबद्ध ज्ञान का रूप देने का प्रयास किया है।

1903 ई० में जब **अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस एसोसिएशन** की स्थापना हुई, तब उसने राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं से संबद्ध तथ्यों की खोज प्रारंभ कर दी। इससे राजनीति का अध्ययन-क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो गया और उसमें संगठन का ढाँचा, निर्णय और कार्य करने की प्रक्रियाओं, नियंत्रण की राजनीति (politics of control), नीतियों, कार्यों एवं सरकार के मानवीय तत्त्वों का अध्ययन शामिल हो गया।[2] **गेटेल** ने कहा है, "बीसवीं सदी के प्रारंभ में राजनीतिशास्त्र कई अन्य विषयों के बौद्धिक अन्वेषणों से प्रभावित

---

1. "Political Science is not only a study of state and government but also is the systematic study of the political man, formal and informal political organizations, political behaviour, political processes and political ideals."

2. "The scope of political science was now widened to include the organisational structure, the process of decision-making and action, the politics of control, the politics and actions and the human environment of Legal Government."—C. S. HYNEMAN : *The Study of Politics : The Present State of American Political Science* (Urban University, Illinois Press, 1959), Chapter III

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

होने लगा।"[1] द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्यवहारवादी दृष्टिकोण अत्यधिक मजबूत हो गया। **ग्राहम वालास** (Graham Wallas), **आर्थर एफ० बेंटले** (Arthur F. Bentley), **कैटलिन, हैरोल्ड डी० लॉसवेल** (Harold D. Lasswell), **डेविड ईस्टन** (David Easton), **रॉबर्ट ए० डैल** (Robert A. Dahl) इत्यादि विद्वानों ने व्यवहारवादी आंदोलन को आगे बढ़ाया। **बेंटले** परंपरागत राजनीतिशास्त्र का बहुत बड़ा आलोचक था। वह परिमाण और मापन (quantification and measurement) में विश्वास करता था। इन व्यवहारवादियों ने राजनीतिशास्त्र के क्षेत्रांतर्गत राज्य और सरकार के अलावा राजनीतिक प्रक्रियाओं एवं गतिविधियों को भी प्रमुख स्थान दिया।

आर्थर एफ० बेंटले ने समूह और प्रक्रिया पर काफी जोर दिया। **ग्राहम वालास** ने राजनीतिक संस्थाओं पर सामाजिक दशाओं तथा मनोवैज्ञानिक कारकों के प्रभावों को खोजने का प्रयास किया। उन्होंने इसके पीछे अदृश्य राजनीतिक प्रक्रिया को देखा तथा राजनीतिक व्यवहार के सामाजिक मनोवैज्ञानिक आधार पर बल देते हुए राजनीतिक घटनाओं की विवेचना मनोवैज्ञानिक शक्तियों के माध्यम से की। **कैटलिन** ने राजनीतिशास्त्र में अंतर-अनुशासनिक उपागम की उपयोगिता को स्पष्ट किया। **चार्ल्स ई० मेरियम** ने राजनीतिशास्त्र में अन्य सामाजिक शास्त्रों तथा प्राकृतिक विज्ञानों में हुए विकासों, विधियों और सिद्धांतों को अपनाने का आग्रह किया। इसी बीच यूरोप के कुछ समाजशास्त्रियों का आगमन हुआ। इनमें मार्क्स, दुर्खीम, वेबर, मोस्का तथा माइकेल्स के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने सामाजिक विश्लेषण को मूल्य-निरपेक्ष (value-free) बताया तथा अनेक अवधारणाओं को अपनाने के लिए राजनीति के विद्वानों को उत्प्रेरित किया। इसी तरह **तालकोट पारसन्स** ने अपने कार्यसिद्धांत (action theory) से उनका परिचय कराया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राजनीतिशास्त्र का आधार अनुभववाद हो गया और व्यवहारवादी क्रांति जोर-शोर से सामने आई। राजनीतिशास्त्रियों ने यह महसूस किया कि दिन-प्रतिदिन की वास्तविक घटनाओं से वे कोसों दूर हैं। परिणामस्वरूप, राजनीतिशास्त्रियों ने व्यक्ति की मनोवृत्तियों, अभिप्रेरणाओं आदि का अध्ययन प्रारंभ किया। इसके लिए उन्होंने आँकड़े (data) जमा करना प्रारंभ किया। इसके लिए साक्षात्कार की प्रणाली को अपनाया गया और विश्लेषण के लिए सर्वेक्षण तकनीक, सत्यापन, मापकीय तकनीक और अभिप्रेरणा-मापन को काम में लाना प्रारंभ किया। इस प्रकार राजनीति को विशुद्ध विज्ञान का दर्जा देने का काम शुरू हुआ। इसीलिए, द्वितीय महायुद्ध के बाद अनुभवात्मक तथा परिमाणात्मक अनुसंधान बड़े पैमाने पर हुए। परंपरागत राजनीतिशास्त्र को पिछड़ा राजनीतिशास्त्र कहा जाने लगा। नवीन राजनीतिशास्त्र की अनेक नई खोजों और नई तकनीकों की सहायता से अनेक सैद्धांतिक परियोजनाओं और आनुभविक या कारणात्मक सिद्धांतों का निर्माण किया गया। इसके बावजूद राजनीतिशास्त्री संतुष्ट नहीं हुए और उन्होंने राजनीतिशास्त्र-जैसे गहन विषय को उलझन में पड़ा पाया। मूल्यों की पूर्णरूप से उपेक्षा ने इसे कोसों दूर फेंक दिया। प्रतिक्रियास्वरूप, 1960 के दशक में एक नई क्रांति सामने आई, जिसे हम **उत्तर-व्यवहारवादी क्रांति** के नाम से जानते हैं। इस नई क्रांति ने राजनीतिशास्त्र को अधिक व्यावहारिक और तात्कालिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक संकटों के प्रति जागरूक और क्रियाशील होने का सुझाव दिया। इसी काल में **हैरोल्ड डी० लॉसवेल, रॉबर्ट ए० डैल** तथा **डेविड ईस्टन** आदि विद्वान आए। इन विद्वानों ने शक्ति और क्रिया के अध्ययन के रूप में राजनीतिशास्त्र को देखा। राजनीतिक संचरण, राजनीतिक सहभागिता, राजनीतिक समाजीकरण, राजनीतिक संस्कृति, शक्ति, प्रभाव, सत्ता आदि का अध्ययन इस विषय के अंतर्गत किया जाने लगा। *विनिश्चय-सिद्धांत, व्यवस्था-सिद्धांत, संचरण-सिद्धांत* व *संरचनात्मक-कार्यात्मक-सिद्धांत* जैसे नए उपागम राजनीतिशास्त्र के प्रमुख विषय बन गए। आज भी राजनीतिशास्त्र बड़ी तेजी से पूर्ण वैज्ञानिकता को प्राप्त करने के साथ-साथ एक उपयोगी व संगत विषय बनने के प्रयास में लगा है। विभिन्न शास्त्रों के साथ संबंध बढ़ाकर यह एक पूर्ण अंतर-अनुशासनिक विषय भी बन गया है। इसके स्वरूप में द्रुतगति से हो रहे परिवर्तन के कारण ही **हैरोल्ड डी० लॉसवेल** ने नीति-संबंधी समस्त बातों को इसके क्षेत्र में शामिल कर इसे नए नाम **नीति-विज्ञान** (Policy-science) से पुकारा है।

सारांश में, हम कह सकते हैं कि वर्तमान काल में राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि हुई है। अब केवल मूल्य इसके चिंतन का आधार न रहकर व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार इस विषय के मुख्य प्रतिपाद्य विषय बन गए हैं। जहाँ परंपरागत राजनीतिशास्त्र 'राज्य व सरकार' से संबंधित होकर केवल संस्थागत और औपचारिक अध्ययन तक सीमित था, वहाँ आधुनिक राजनीतिशास्त्र 'राज्य के बिना राजनीति' का भी

1. RAYMOND G. GETTELL : *History of American Political Thought* (New York : Appletion-Century, Softs Inc. 1928), pp. 6-11

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्ययन करने लगा है। परिवार, क्लब, मजदूर तथा छात्र-संगठन से लेकर राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय संगठनों तथा उनके राजनीतिक पहलुओं को इसमें शामिल कर लिया गया है।

आधुनिक राजनीतिशास्त्र की विषय-वस्तु
(Subject-matter of the Modern Political Science)

विभिन्न नए उपागमों से संबद्ध विभिन्न नई प्रवृत्तियों के कारण आधुनिक राजनीतिशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र में आज क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। यह राजनीति-विज्ञान की वास्तविक घटनाओं की विवेचना करने लगा है—

1. शक्ति का अध्ययन (Study of power)—शक्ति आधुनिक राजनीतिशास्त्र का केंद्रीय विषय है। प्रारंभ में भी इसका संबंध शक्ति से रहा है, क्योंकि **सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, मैकियावेली** इत्यादि प्राचीन विद्वानों ने शक्ति-अवधारणा का अध्ययन किया है। **कैटलिन** ने राजनीतिशास्त्र को 'शक्ति का विज्ञान' (Science of Power) कहा है। **हैरोल्ड डी॰ लॉसवेल** ने भी कहा है कि राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में शक्ति एक सर्वाधिक मौलिक धारणा है। **एच॰ जे॰ मॉरगेन्थाऊ** ने शक्ति के अंतर्गत उस प्रत्येक व्यक्ति को शामिल किया है, जिसके द्वारा प्रत्येक मानव के ऊपर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। शक्ति के विभिन्न रूपों, उसकी प्रकृति और प्रयोग तथा शक्ति और प्रभाव का भी अध्ययन किया जाता है। इसके अलावा, आर॰ एस॰ मैकिवर, विलियम ए॰ रॉब्सन, मैक्स वेबर, रसेल, एच॰ जी॰ स्मिथ इत्यादि विद्वानों ने भी राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत 'शक्ति' के अध्ययन को शामिल किया है।

2. राजनीतिक क्रियाकलापों का अध्ययन—आधुनिक राजनीतिशास्त्र में विभिन्न राजनीतिक क्रियाकलापों का भी अध्ययन किया जाता है। आज विभिन्न संस्थाओं के ऐतिहासिक अध्ययन के साथ-साथ राज्य, कानून, संप्रभुता, अधिकार, न्याय इत्यादि अवधारणाओं और सरकार के कार्य की भी विवेचना की जा रही है। यद्यपि यह विवेचना सुकरात के समय से ही राजनीतिशास्त्र में पाई जाती है, लेकिन 19वीं शताब्दी के अंतिम भाग में राजनीतिशास्त्र के विद्वानों ने विभिन्न राजनीतिक संगठनों और प्रक्रियाओं के क्रियात्मक पहलू का अध्ययन प्रारंभ कर दिया था।

3. सामाजिक मूल्यों का अध्ययन (Study of social values)—आधुनिक राजनीतिशास्त्र सामाजिक मूल्यों को भी अपने क्षेत्रांतर्गत शामिल करता है। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों ने एक अन्य उपागम **आदर्शात्मक-निर्देशात्मक** को अपनाकर विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं तथा सरकार के विभिन्न रूपों के गुण-दोषों तथा लाभ-हानि का तुलनात्मक अध्ययन कर दिया था। ऐसा अध्ययन करते समय देश में उपलब्ध परिस्थिति को ध्यान में नहीं रखा गया और कतिपय मूल्यों को आधार मानकर राजनीतिक संस्थाओं की चर्चा की जाती रही। इस अध्ययन का केन्द्रबिंदु मूल्य हो गया। **प्लेटो, काण्ट, हीगेल** इत्यादि विद्वानों ने आधुनिक राजनीतिशास्त्र के क्षेत्रांतर्गत सामाजिक मूल्यों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया है। इस अध्ययन में मानव-जीवन और सामाजिक लक्ष्यों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। उत्तर व्यवहारवादियों ने भी मूल्यों की सत्यता को स्वीकार किया है। हैरोल्ड डी॰ लॉसवेल, रॉबर्ट ए॰ डैल तथा डेविड ईस्टन आदि विद्वानों ने भी इसी दृष्टिकोण से आधुनिक राजनीतिशास्त्र को परिष्कृत किया है।

4. समस्याओं एवं संघर्षों का अध्ययन (Study of problems and conflicts)—आधुनिक राजनीतिशास्त्र के क्षेत्रांतर्गत विभिन्न राजनीतिक समस्याओं और संघर्षों का भी अध्ययन किया जाता है। चूँकि इसका आधार अनुभवात्मक (empirical) हो गया है, इसलिए इसका संबंध वास्तविकता अर्थात 'क्या है' से हो गया है। यह उन समस्त समस्याओं एवं संघर्षों का अध्ययन करता है, जिसके कारण राजनीतिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़नेवाला है। आधुनिक राजनीतिशास्त्र उन समस्याओं एवं संघर्षों की उत्पत्ति के कारण खोजता है और इसके लिए तथ्यों की खोज करता है।

5. सहमति एवं सामान्य अभिमतों का अध्ययन (Study of consent and general opinions)—आधुनिक राजनीतिशास्त्र सही निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए साक्षात्कारों के माध्यम से तथ्यों को इकट्ठा करता है। यह समाज के विभिन्न वर्गों की सहमति और अभिमतों का अध्ययन करता है। चुनाव के दौरान किसी विशेष-वर्ग की क्या सहमति है—यह उसे ध्यान में रखना पड़ता है और उसी के आधार पर किसी ठोस निर्णय पर पहुँचने का प्रयास करता है। इसके अंतर्गत यह व्यक्ति की मनोवृत्तियों (attitudes), अभिप्रेरणाओं

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(motivations) एवं उसके ज्ञान-बोध (perceptions) का भी अध्ययन करता है। साक्षात्कार के द्वारा आँकड़ों को संग्रह करने की प्रणाली लागू की गई है। इसके अलावा, विषय-वस्तु का विश्लेषण (content analysis), सर्वेक्षण तकनीक (survey technique), सत्यापन (verification) की प्रणाली तथा अभिप्रेरणा-मापन (attitude measurement) आदि को अधिक प्रयोग में लाया जा रहा है।

6. राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन (Study of political behaviour)—आधुनिक राजनीतिशास्त्र के अनुसार, चूँकि राजनीति की प्रकृति विशिष्ट है और 'राजनीतिक' तथ्यों, घटनाओं, प्रक्रियाओं, गतिविधियों का किसी-न-किसी रूप में शांति, शासन तथा सत्ता से संबंध रहता है, इसलिए नवीन राजनीतिशास्त्र इन्हीं से संबंधित व्यवहार का अध्ययन करता है, जिसे हम राजनीतिक व्यवहार (political behaviour) कहते हैं। नवीन राजनीतिशास्त्र राजनीतिक व्यवहार के अंतर्गत राजनीतिक अभिप्रेरणाओं तथा उद्देश्यों के लिए राजनीतिक समुदाय, राज्य तथा अन्य संगठनों में किए जानेवाले मानव-व्यवहार और उसके पीछे वर्तमान मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक व्यवहारों और गतिविधियों का भी अध्ययन करता है।

इस प्रकार, विषय-क्षेत्र के दृष्टिकोण से आधुनिक राजनीतिशास्त्र परंपरागत राजनीतिशास्त्र से बिल्कुल भिन्न है। आधुनिक राजनीतिशास्त्र अपने अध्ययन-क्षेत्र में 'राज्य के बिना राजनीति' (politics without state) का अध्ययन शामिल करता है। अतएव, आधुनिक विचारधारा के अनुसार राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र काफी विस्तृत हो चुका है और इसे वैज्ञानिकता प्रदान करने की दृष्टि से इसकी परिधि से रूढ़िवादी विषयों को अलग कर दिया गया है। मूल्यों, राज्य एवं उसकी संस्थाओं के स्थान पर मानव के राजनीतिक व्यवहार तथा राजनीतिक गतिविधियों का अध्ययन किया जाने लगा है। 1967 ई० में **अमेरिकी पॉलिटीकल साइंस एसोसिएशन** (American Political Science Association) ने नवीन राजनीतिशास्त्र के 27 उपक्षेत्रों की चर्चा करके इसके क्षेत्र में काफी वृद्धि कर दी है। इन उपक्षेत्रों में राजनीतिक मनुष्य और उसका व्यवहार, प्रशासन, संस्थाएँ, समूह, अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, सांख्यिकी, सर्वेक्षण, शोध-पद्धतियाँ इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

आर्नल्ड ब्रेस्ट (Arnold Brecht) ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिकल थियोरी' (1959) में राजनीतिक सिद्धांत की निम्नांकित प्रमुख अध्ययन-इकाइयों की ओर संकेत किया है—

(क) समूह (group),
(ख) संतुलन (equilibrium),
(ग) शक्ति-नियंत्रण एवं प्रभाव (power control and influence),
(घ) क्रिया (action),
(ङ) अभिजन (elite),
(च) चयन (decision) तथा विनिश्चय-प्रक्रिया (decision-making),
(छ) पूर्वाभाषित क्रिया (anticipated action) और
(ज) कार्य (function)।

उपर्युक्त तथ्यों के अलावा, **आर्नल्ड ब्रेस्ट** ने अनेक राजनीतिक अवधारणाओं की भी व्याख्या की है, जिनमें स्वतंत्रता, समानता तथा प्रजातंत्र प्रमुख हैं।

अतएव, आधुनिक राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र तथा अध्ययन-प्रणाली परंपरागत प्रणाली से काफी व्यापक हो गई है। इसकी व्यापकता का आभास इसलिए भी होता है कि आधुनिक राजनीतिशास्त्र ने समाजशास्त्रीय प्रभाव के अंतर्गत कुछ नई अवधारणाओं को भी अपनी अध्ययन-परिधि में सम्मिलित कर लिया है; जैसे—समाजीकरण (Socialisation), राजनीतिक संस्कृति (Political culture), राजनीतिक विकास (Political development), राजनीतिक संचार (Political communication) इत्यादि। **डेविड ईस्टन** का निवेश-निर्गत सिद्धांत आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों द्वारा विकसित सिद्धांतों में सबसे मौलिक और लोकप्रिय है।[1] उसने राजनीति को समाज के लिए मूल्यों के अधिकाधिक विनियोजन की प्रक्रिया कहा है। **कार्ल डोयच** के संचार-पद्धति-संधार सांचरिक प्रक्रियाओं को राजनीति का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू माना गया है।[2] उसने कहा है कि संचार-साधन किसी भी संगठन को राजनीतिक संगठनों की भी सीमा में बाँध देते हैं। लेकिन, विद्युत-संचार से संबंधित शब्दों के प्रयोग ने इसे अस्पष्ट बना दिया है। संरचनात्मक-क्रियात्मक पद्धति के

1. DAVID EASTON : *Political System*
2. F. N. KARL DEUTSCH : *The Nerves of Government*

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

संबंध में **आमंड**[1] का कहना है कि परंपरागत राजनीतिशास्त्र में प्रचलित वैधानिक-संस्थागत शब्दावली से आधुनिक राजनीतिक सिद्धांतों का काम नहीं चल सकता। इसके लिए अधिक विस्तृत और सिर्फ विश्लेषणात्मक शब्दावली की आवश्यकता है। उसके सिद्धांत की निम्नलिखित चार मान्यताएँ हैं—

1. सभी राजनीतिक पद्धतियों में कुछ-न-कुछ आपसी समानताएँ होती हैं, .2. राजनीतिक पद्धतियों में अवस्थित कुछ संगठन एक तरह के कार्य करते हैं, 3. बहु-क्रियात्मकता का अस्तित्व है और 4. प्रत्येक राजनीतिक पद्धति में पाई जानेवाली राजनीतिक संस्कृति में परंपरागत और आधुनिक तत्त्व विद्यमान रहते हैं।

राजनीतिशास्त्र तथा अन्य विषयों में उदीयमान प्रमुख धाराएँ
(Main Currents in Political Science and Other Disciplines)

पिछले 70 वर्षों में राजनीतिशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों में जिस चिंतन-क्षेत्र का विकास हुआ है, उनकी प्रमुख धाराएँ निम्नलिखित हैं—

1. ऐतिहासिक दृष्टिकोण—जॉर्ज एच॰ सेबाइन (The historical approach of George H. Sabine)—राजनीतिशास्त्र के संबंध में परंपरागत या ऐतिहासिक दृष्टिकोण की सबसे अच्छी विवेचना हमें **जॉर्ज एच॰ सेबाइन** के विश्लेषणों में मिलती है। उन्होंने राजनीतिशास्त्र की व्याख्या के लिए एक बड़ा व्यावहारिक ढंग अपनाया है। उनका कहना है कि राजनीतिशास्त्र में हमें उन सभी विषयों को ले लेना चाहिए जिनकी विवेचना **प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, लॉक, रूसो, बेंथम, मिल, टी॰ एच॰ ग्रीन, हीगेल** तथा **कार्ल मार्क्स** आदि की रचनाओं में पाई जाती है। इन महान दार्शनिकों की रचनाओं में हम उन तमाम प्रश्नों का समाधान पा सकते हैं जिन्हें उन्होंने राजनीतिक सिद्धांतों की सत्यता या प्रामाणिकता के संबंध में उठाया है। **सेबाइन** के विचार में, किसी भी राजनीतिक सिद्धांत का जन्म 'एक सुनिश्चित परिस्थिति के संदर्भ में' होता है। इसे समझने के लिए स्थान, समय एवं परिस्थितियों का पुनः गठन आवश्यक है, जिनमें उनका विकास हुआ है। एक अच्छा राजनीतिक सिद्धांत कुछ विशेष राजनीतिक परिस्थितियों की उपज होते हुए भी आनेवाले तमाम युगों के लिए महत्त्वपूर्ण होता है। **सेबाइन** के विचार में, प्रत्येक राजनीतिक सिद्धांत में तीन तत्त्व मौजूद होते हैं—(1) तथ्यात्मक (factual), (2) कारणात्मक (causual) तथा (3) मूल्यात्मक (valuational)। प्रायः, इतिहास के तनाव और खिंचावों के काल में ही राजनीतिक सिद्धांतों का जन्म होता है। अतः, किसी भी राजनीतिक सिद्धांत को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम संबद्ध समय, स्थान और परिस्थितिविशेष का गहराई से अध्ययन करें।

2. जॉर्ज जी॰ ई॰ कैटलिन का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण (The sociological approach of George G. E. Catlin)—ऐतिहासिक दृष्टिकोण की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह राजनीति को एक संकीर्ण दृष्टिकोण से देखता है तथा उसे राज्य के दायरे तक ही सीमित करना चाहता है। लेकिन, **कैटलिन** जैसे अनेक आधुनिक लेखकों ने राजनीतिविज्ञान के क्षेत्र को एक ऐसा व्यापक रूप देने का प्रयास किया जिसमें सिर्फ राज्य को ही नहीं, वरन समाज को भी समाविष्ट किया जा सके। **कैटलिन** ने राजनीति के क्षेत्र में उन तमाम क्रियाओं को शामिल करने का प्रयास किया है, जो समाज में घटित होती हैं। **कैटलिन** के अनुसार, राजनीति-विज्ञान और समाजशास्त्र में अभिन्न संबंध है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का समर्थन **कैटलिन** ने निम्नलिखित आधारों पर किया है—

(i) यह दृष्टिकोण समाज के संबंधों और उसकी संरचना को संपूर्ण रूप से समझने के कार्य को सरल बना देता है।

(ii) यह दृष्टिकोण राजनीति के अध्ययन को समाज के एक सामान्य सिद्धांत के साथ जोड़ता है। यह एक ऐसा कार्य है, जिसे आधुनिक काल के अधिकांश राजनीतिशास्त्रियों ने अब तक नहीं किया था।

(iii) यदि राजनीतिशास्त्री समाज में विकसित होनेवाली अन्य प्रवृत्तियों के संदर्भ में नहीं देखता है तो यह संभव है कि वह दिन-प्रतिदिन होनेवाली राजनीतिक घटनाओं की सर्वथा उपेक्षा करे। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण इस दिशा में राजनीतिशास्त्रियों का मार्गदर्शन करता है।

---

1. G. A. Almond & J. Coleman : *Politics of Developing Areas*

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(iv) इस दृष्टिकोण की यह मान्यता है कि यदि राजनीतिशास्त्री अपने अध्ययन के लिए संस्थाओं से परे जाकर प्रकार्यों और प्रक्रियाओं का अध्ययन करने का निश्चय कर ले तो उसके लिए विश्लेषण की इकाई को चुन लेना आसान होगा। **कैटलिन** ने नियंत्रण की प्रक्रिया को राजनीति के अपने अध्ययन का केंद्रबिंदु माना है। नियंत्रण की प्रक्रिया से उसका आशय 'व्यक्तियों के कार्यों' से है। उसका कहना है कि नियंत्रण की प्रक्रिया समाज के समग्र क्षेत्र में व्याप्त है। एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ, व्यक्ति के समूह के साथ और एक समूह का दूसरे समूह के साथ संबंध इस नियंत्रण की प्रक्रिया के अंतर्गत ही आते हैं। **कैटलिन** चाहता है कि राजनीति-विज्ञान को अन्य सामाजिक शास्त्रों से बहुत निकट का संबंध स्थापित करना चाहिए।

3. लियो स्ट्रॉस का दार्शनिक दृष्टिकोण (The philosophical approach of Leo Strauss)—**लियो स्ट्रॉस** ने सेबाइन के 'इतिहासवाद' तथा कैटलिन के 'समाजशास्त्रीय' दृष्टिकोण को अस्वीकार कर दार्शनिक दृष्टिकोण का विचार रखा है। उसने राजनीतिक सिद्धांत (Political Theory) तथा राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy) में भेद बताकर कहा है कि ये दोनों ही राजनीतिक चिंतन के अभिन्न अंग हैं। **लियो स्ट्रॉस** के अनुसार, "राजनीतिक सिद्धांत राजनीतिक घटनाओं की प्रकृति को उसके सही रूप में जानने का प्रयास है।" राजनीतिक चिंतन में राजनीतिक सिद्धांत और राजनीतिक दर्शन दोनों का समावेश हो जाता है। सही अर्थ में ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

लियो स्ट्रॉस अपने विश्लेषण में **मूल्यों** के महत्त्व पर अधिक आग्रह करता है। उसकी मान्यता है कि मूल्य राजनीतिक दर्शन का एक अनिवार्य अंग है और उन्हें राजनीति के अध्ययन से अलग नहीं किया जा सकता। राजनीतिक दर्शन का उदय तब होता है जब व्यक्ति अच्छे जीवन और अच्छे समाज की खोज अपना लक्ष्य बना लेता है। वह कहता है कि दर्शन से शून्य राजनीति-विज्ञान की हम कल्पना नहीं कर सकते। वह लिखता है, "प्रारंभ में राजनीतिक दर्शन और राजनीति-विज्ञान एक ही थे।"

4. कार्ल जे॰ फ्रेडरिक का समन्वयात्मक दृष्टिकोण (Integrated approach of Karl J. Friedrich)—**कार्ल जे॰ फ्रेडरिक** एक ऐसा लेखक है जिसने यह बताया है कि राजनीतिक सिद्धांत के दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों ही पक्षों को ठीक से समझना और इन पर समान रूप से बल देना आवश्यक है। राजनीतिशास्त्र अपने-आप में एक ऐसा विशद शास्त्र है जिसमें अध्ययन की एक प्रविधि से काम चलना कठिन है। समाजशास्त्र या मनोविज्ञान में या तो समूह का अध्ययन करना पड़ता है या व्यक्ति का और इसके चलते उनके अध्ययन में ऐसी प्रविधियों से भी काम चलाया जा सकता है जो अपने-आप में परिशुद्ध या सुनिश्चित हों। इसके विपरीत, राजनीतिशास्त्र का संबंध प्रादेशिक राज्य से है जो समाज का सबसे बड़ा संगठित रूप है। राज्य के स्वभाव, आकृति और लक्ष्य, समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। ऐसे परिवर्तन के प्रत्येक रूप के अध्ययन में विभिन्न प्रविधियों की आवश्यकता पड़ सकती है। परिणामस्वरूप, कभी-कभी विभिन्न उपागमों और प्रविधियों का सम्मिश्रण करना भी आवश्यक हो सकता है। राजनीति के इतिहास का अध्ययन करने में हमें प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, नृजातीय (ethnological), नृवैज्ञानिक (anthropological), मनोवैज्ञानिक और अनेक अन्य उपागमों का प्रयोग आवश्यक है। राजनीति को यदि हम समग्र रूप में देखना चाहते हैं, तो हमें **फ्रेडरिक** के इस विचार से सहमत होना पड़ेगा—"राजनीति-विज्ञान और राजनीतिक दर्शन दोनों एक-दूसरे से इतने अंतरंग रूप से गुथे हुए हैं कि यदि उनमें किसी एक का अध्ययन ढंग से करना है तो दूसरे के अध्ययन के बिना वह संभव नहीं है और इस दृष्टि से राजनीतिशास्त्र अन्य विज्ञानों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है, जो सभी दर्शनों से किसी-न-किसी रूप में जुड़े हुए हैं।"

5. राजनीति-विज्ञान की स्वायत्तता—नॉर्मन जैकबसन (Autonomous character of political science according to Norman Jacobson)—**नॉर्मन जैकबसन** का विचार है कि राजनीति-विज्ञान को न तो पूर्णतः विज्ञान के साथ और न पूर्णतः नैतिकता के साथ ही जोड़ा जा सकता है। इन दोनों से भिन्न राजनीति-विज्ञान का अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व है। उसने यहाँ तक कहा है कि जो विद्वान राजनीति-विज्ञान को शुद्ध विज्ञान के रूप में ढालना चाहते हैं, वे जानते ही नहीं कि विज्ञान का अर्थ क्या है? **जैकबसन** का कहना है कि समकालीन राजनीतिशास्त्री राजनीति-विज्ञान को एक ऐसा रूप देना चाहते हैं जिसमें वह राजनीति-विज्ञान रह ही नहीं जाएगा। उनके अनुसार, "राजनीतिशास्त्र या तो मनोविज्ञान है या समाजशास्त्र या नीतिदर्शन या धर्मशास्त्र, अर्थात वह अन्य कुछ भी हो परंतु राजनीतिशास्त्र नहीं है।" **जैकबसन** के विचार में, राजनीति का अध्ययन अपने-आप में एक विशेष प्रकार का अध्ययन है, जिसमें विज्ञान और दर्शन दोनों के दृष्टिकोण एक-दूसरे के साथ संबद्ध हैं। जो लोग राजनीतिशास्त्र को 'विज्ञान' या 'दर्शन' का रूप देना

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

चाहते हैं, उनकी प्राथमिक निष्ठा या तो विज्ञान के प्रति या नीतिशास्त्र के प्रति इतनी अधिक है कि वे राजनीति को एक ऐसी सक्रियता नहीं मानते जिसका अध्ययन स्वयं अपने-आप में महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक राजनीतिशास्त्र के कुछ अन्य क्षेत्र
(Some Other Dimensions of Modern Political Science)

राजनीतिशास्त्र एक अनुशासन के रूप में अभी तक स्थिर नहीं हो पाया है। इसके उपक्षेत्र भी अभी अनिश्चित स्थिति में हैं। फिर भी, पुराने उपक्षेत्रों ने नया नाम और नया रूप धारण कर लिया है। इसे हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

(i) राष्ट्रीय राजनीति (National politics)—आज राष्ट्रीय राजनीति का पुराना क्षेत्र समाप्त-सा हो गया है। उसका स्थान विभिन्न अंतर्वर्गीय (cross-sectional) और कार्यात्मक विषयों ने ले लिया है; जैसे कार्यपालिका के अध्यक्ष के साथ-साथ राजनीतिक नेतृत्व और श्रेष्ठजनवाद (elitism) को शोध का मुख्य विषय माना जा रहा है। आज यह धारणा बन गई है कि संस्थाओं के स्थान पर या उनके साथ-साथ, इन क्षेत्रों में व्यवहार के अध्ययन का विशेष उपयोग है। इसके अंतर्गत मतदान, मतदान-व्यवहार, राजनीतिक भरती, नेतृत्व आदि नए विषय आते हैं।

(ii) तुलनात्मक राजनीति (Comparative politics)—1960 ई० तक तुलनात्मक सरकार के अध्ययन पर व्यवहारवादी आंदोलन का प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप, इसमें तेजी से परिवर्तन आने लगे। राष्ट्रीय राजनीति की भाँति तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में भी आकार-संरचनाओं के स्थान पर व्यवहार का अध्ययन किया जाने लगा। विनिश्चय-सिद्धांत, नेतृत्व, राजनीतिक अभिप्रेरणा और व्यक्तित्व, राजनीतिक सहभागिता, विचारधारा और इसी प्रकार के अन्य विषय तुलनात्मक शोध के प्रमुख विषय बन गए हैं। इसके अलावा, किसी देश की आंतरिक राजनीतिक व्यवस्था के सैद्धांतिक विश्लेषण में भी तुलनात्मक अनुसंधानों का बड़ा योगदान रहा है।

विनिमय और समझौता-सिद्धांत का आगमन आधुनिक राजनीतिशास्त्र में अर्थशास्त्र के प्रभाव के कारण हुआ।[1] इस सिद्धांत की यह मान्यता है कि राजनीतिक व्यवस्था को पद्धति के रूप में देखा जा सकता है जिसमें निर्णय तथा निर्णय-निर्माता का विशेष महत्त्व है। राजनीतिक निर्णयों में विनिमय अंतर्निहित रहता है। नीतियाँ उन मूल्यों-जैसी हैं जिनके लिए निर्णय-निर्माता राजनीतिक साधनों द्वारा विनिमय करता है। इस सिद्धांत के समर्थकों का कहना है कि राजनीति के लिए आर्थिक प्रतिमान के प्रयोग अधिक सटीक हैं। उदाहरण के लिए, मतदान एक प्रकार का धन है, जिसका किसी अन्य वस्तु से विनिमय हो सकता है।

अनेक विद्वानों जैसे **मैक्स वेबर, तालकोट पारसन्स, रेड क्लिफ ब्राउन, डुवर्जे** (Duverger) और **लिपसेट** आदि ने राजनीतिशास्त्र में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के प्रतिमानों (Models of Sociology and Anthropology) का प्रयोग किया है। इन विद्वानों के अनुसार राजनीतिशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक वैज्ञानिक पद्धति का ही एक उप-वर्ग है। इसमें मानव के राजनीतिक और सामाजिक पहलुओं के अंतर्संबंधों पर अधिक बल दिया गया है। 'राज्य के बिना राजनीति' बनाने का बहुत-कुछ श्रेय इसी विचारधारा को है। राजनीति के मनोवैज्ञानिक प्रतिमान में मुख्य स्थान व्यक्ति को दिया जाता है। इसीलिए, इन प्रतिमानों को व्यक्तित्व प्रतिमान (personality models) कहा जाता है। इसका आधार है कि राजनीतिक पद्धतियों में प्रभावशाली व्यक्ति पाए जाते हैं, जिन्हें विभिन्न प्रतिमानों के रूप में देखा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक प्रतिमानों के द्वारा प्रभावशाली व्यक्तियों, सत्तावादी व्यक्तियों, क्रांतिकारी व्यक्तियों आदि का विश्लेषण करने में सटीकता आती है। लेकिन, इस प्रयोग में कठिनाई है कि प्रतिमान को प्रयोग में लाने के लिए बहुत अधिक कुशलता और प्रशिक्षण की आवश्यकता है। **डेविड ईस्टन** ने राजनीतिक पद्धति की परिभाषा देते हुए लिखा है, "यह व्यवहार या प्रक्रियाओं का एक समूह है, जिसके द्वारा समाज के लिए अधिकाधिक विनियोजन (बाह्यकारी निर्णय) किए जाते हैं और उन्हें क्रियान्वित किया जाता है।" उसका विश्वास है कि समाज के भीतर विभिन्न मूल्यों का विभाजन विभिन्न रूपों में हुआ करता है, राजनीतिक पद्धति द्वारा मूल्यों का अधिकाधिक विभाजन होता है।

---

1. इस सिद्धांत के संबंध में उल्लेखनीय विद्वान हैं—**अन्थोनी डाउन्स** (Anthoni Downs), **राइकर** (Riker), **पोल्सन** (Polson), **करी** (Curry), **वेड** (Wade), **रॉबर्ट ए० डैल** (Robert A. Dahl), **लिंड ब्लोम** (Lind Blome), **मिचेल** (Mitchell), **बुचनन** (Buchanan) और **तुलॉक** (Tullock)।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(iii) अंतरराष्ट्रीय राजनीति (International politics)—व्यवहारवादी आंदोलन ने अंतरराष्ट्रीय मामलों के शोध के संबंध में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाया है। राजनीति के इस क्षेत्र को पहले **अंतरराष्ट्रीय संबंध** और **संगठन** कहा जाता था। लेकिन, 20वीं शताब्दी के मध्य तक इसे अंतरराष्ट्रीय राजनीति कहा जाने लगा। इस विषय के अंतर्गत पहले कुछ अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं, विभिन्न देशों की वैदेशिक नीतियों और राजस्व का अध्ययन किया जाता था। आज राष्ट्रीय राजनीतिक पद्धति के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक पद्धति की अवधारणाओं का विकास हुआ है। यह व्यवहारवादी मान्यताओं पर आधारित है। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से अंतरराष्ट्रीय राजनीति का विवेचन किया है। **एच० जे० मॉरगेन्थाऊ** ने शक्ति के माध्यम से अंतरराष्ट्रीय राजनीति का विवेचन किया है। **रिचार्ड स्नाइडर** (Richard Snyder) के नीति-निर्धारणपरक दृष्टिकोण (decision-making approach), **मॉर्टन काप्लान** का निकायपरक दृष्टिकोण (system analysis), **चार्ल्स मेकलैंड** (Charles Mclelland) के सामान्य निकायपरक दृष्टिकोण (general system), **जॉर्ज लिस्का** (George Liska) के साम्यावस्थापरक दृष्टिकोण (equilibrium theory) आदि का उल्लेख किया जा सकता है। **कार्ल ड्योच** (Karl Deutsch) ने अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक अंतःक्रियाओं को संघर्ष और समझौते की प्रक्रिया के रूप में देखा है। इससे यह स्पष्ट है कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन मॉरगेन्थाऊ के सिद्धांत से भी आगे बढ़ गया है।

(iv) राजनीतिक सिद्धांत (Political theory)—व्यवहारवादी परिवर्तन का सबसे बड़ा प्रभाव राजनीतिक सिद्धांत के क्षेत्र में है। इसके अंतर्गत राज्य की उत्पत्ति, उसकी प्रकृति, अधिकार और कर्तव्य तथा राजसत्ता की प्रकृति आदि विषयों का सैद्धांतिक विवेचन किया जाता है। चूँकि राजनीतिक सिद्धांत पूरे अनुशासन को संबद्धता और दिशा प्रदान करता है, इसलिए इस उपक्षेत्र का विशेष महत्त्व है। वर्तमान राजनीतिक सिद्धांत का जन्म हम राजनीतिक दर्शन में पाते हैं। इस संबंध में **लॉवेल** ने ठीक ही कहा है, "राजनीतिक दर्शन का संबंध तथ्य कैसे घटित होते हैं, इस विवेचन से उतना अधिक नहीं है जितना इस विवेचन से कि क्या घटित होता है और क्या नहीं।"

आधुनिक राजनीतिशास्त्र की विशेषताएँ
(Features of Modern Political Science)

19वीं शताब्दी के अंतिम चरण तक राजनीतिक चिंतक राजनीति-विज्ञान को अन्य सामाजिक विज्ञानों से अलग नहीं कर पाए थे। राजनीति-विज्ञान एक ऐसा विषय था जिसका साहित्य पुस्तकालय में बैठकर लिखा जाता था। जहाँ तक आधुनिक राजनीतिशास्त्र की विषय-वस्तु का प्रश्न है, वह पुस्तकालय में नहीं लिखी जा सकती है। आज राजनीतिशास्त्र में नये तथ्यों, आँकड़ों और सामान्यीकरणों की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है। राजनीति को आज वैज्ञानिक आधार प्रदान करने के अलावा इसे अंतरविषयक (inter-disciplinary) बनाने का प्रयास भी शुरू हुआ। आज राजनीतिशास्त्र ने मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि में विकसित अध्ययन-प्रणालियों को अपनाकर अपना अध्ययन प्रारंभ कर दिया है। **आर्थर एफ० बेंटले** तथा **ग्राहम वालास** ने आधुनिक राजनीतिशास्त्र को आगे लाने में अग्रणी का काम किया। **चार्ल्स ई० मेरियम, हैरोल्ड डी० लॉसवेल, मैक्स वेबर** आदि विद्वानों ने व्यवहारवादी क्रांति को लाकर परंपरागत राजनीतिशास्त्र के स्वरूप को बदल डाला है। अमेरिका तथा यूरोप के विकासशील देशों ने नवीन राजनीतिशास्त्र की व्यवहारवादी मान्यताओं को पूर्णतः स्वीकार कर लिया है।

आधुनिक राजनीतिशास्त्र की विशेषताएँ (Features of the modern political science)—आधुनिक राजनीतिशास्त्र की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(i) व्यवहारवादी (Empirical)—आधुनिक राजनीतिशास्त्र व्यवहारवादी है, क्योंकि यह शासन के ढाँचे और उसकी संस्थाओं से भिन्न मानव के समस्त राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करता है।

(ii) वैज्ञानिक (Scientific)—आधुनिक राजनीतिशास्त्री अपने अध्ययन को अधिक वैज्ञानिक बनाना चाहते हैं। वे राजनीतिक घटनाओं एवं तथ्यों को वैज्ञानिकता की कसौटी पर कसकर उनकी जाँच करते हैं। वे प्राकृतिक विज्ञानों तथा अन्य सामाजिक शास्त्रों से अध्ययन के नए-नए तकनीकों को लेकर राजनीति-विज्ञान में उनका प्रयोग करते हैं।

(iii) मूल्यविहीन (Value-free)—आधुनिक राजनीतिशास्त्र को प्रायः मूल्यविहीन कहकर पुकारा जाता है। चूँकि इसका प्रयास एक वैज्ञानिक एवं सटीक विषय का निर्माण करना है, इसलिए राजनीतिक विश्लेषण

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

में यह मानवीय मूल्यों; जैसे—नैतिकता, स्वतंत्रता, भ्रातृत्व आदि को कोई स्थान नहीं देता। यह उन्हीं घटनाओं और तथ्यों को अपने अध्ययन का विषय बनाता है, जिन्हें या तो देखा गया है या भविष्य में देखा जा सकता है।

(iv) **भविष्यकथन** (Prediction)—आधुनिक राजनीतिशास्त्री अपने विषय को अधिक-से-अधिक भविष्यवाणी करने योग्य बनाने का प्रयास करता है।

(v) **सिद्धांत-निर्माण का लक्ष्य** (Theory-building)—आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों का एकमात्र उद्देश्य राजनीति के सैद्धांतिक संधारों (models) को विकसित करना है। इस आधार पर वे राजनीतिक घटनाओं एवं तथ्यों के संबंध में खोज तथा विश्लेषण करते हैं। इससे सामान्यीकरण होता है जिसके आधार पर वे सिद्धांतों का निर्माण करते हैं।

(vi) **सत्यापन** (Verification)—आधुनिक राजनीतिशास्त्री राजनीति की सैद्धांतिक बातों को आँखें बंद कर स्वीकार नहीं करते। वे उनको तथ्यात्मक प्रमाणों द्वारा स्थापित करने पर बल देते हैं।

(vii) **वस्तुनिष्ठता** (Objectivity)—आधुनिक राजनीतिशास्त्र की सबसे बड़ी कसौटी उसकी वस्तुनिष्ठता है। आज के राजनीतिशास्त्री अपने विषय को कल्पना और चिंतन से हटाकर वास्तविकता का रूप देना चाहते हैं। वस्तुनिष्ठता को प्राप्त करने के लिए प्रकृति एवं विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में प्रयुक्त तरह-तरह की तकनीकों के प्रयोग पर बल देते हैं।

(viii) **अंतर-अनुशासनिक** (Inter-disciplinary)—आधुनिक राजनीतिशास्त्र अंतर-अनुशासनिक इसलिए है कि यह मानव-जीवन एवं उसकी क्रियाओं को संपूर्ण रूप में देखता है जिसका राजनीतिक जीवन एक पक्षमात्र है। परिणामस्वरूप, वे अन्य सामाजिक शास्त्रों से घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं और उनके विषयों, अध्ययन-संबंधी विभिन्न प्रणालियों और तकनीकों को बड़ी मात्रा में इस्तेमाल करते हैं।

आधुनिक राजनीतिशास्त्र और परंपरागत राजनीतिशास्त्र में अंतर
(Distinction between Modern and Traditional Political Science)

आधुनिक और परंपरागत राजनीतिशास्त्र में निम्नलिखित अंतर हैं—

1. विषय-क्षेत्र की दृष्टि से अंतर—अपने विषय-क्षेत्र की दृष्टि से आधुनिक राजनीतिशास्त्र अपने परंपरागत राजनीतिशास्त्र से मूलतः भिन्न एवं विस्तृत है। परंपरागत दृष्टिकोण के अंतर्गत राजनीतिशास्त्र में मूल्यों (values) एवं लक्ष्यों (objectives) को प्रमुख स्थान दिया जाता था। इसके अंतर्गत राज्य और सरकार की उत्पत्ति, विकास, संगठन तथा विभिन्न राजनीतिक दलों, राजनीतिक विचारधाराओं, विश्व की विभिन्न सरकारों और संविधानों, अंतरराष्ट्रीय संबंधों तथा लोक-प्रशासन की कलाओं का अध्ययन किया जाता है। इस संबंध में **गार्नर** ने कहा है, "राजनीति-विज्ञान का राज्य के साथ प्रारंभ और अंत होता है।" लेकिन, आधुनिक राजनीतिशास्त्र राज्य की अनुपस्थिति में 'राजनीति' का अध्ययन करता है। अतः, दोनों के विषय-क्षेत्र में आज काफी अंतर है। नवीन राजनीतिशास्त्र के अनुसार, राजनीति का निवास राज्यविहीन समाज और संगठनों में तथा राज्य के अलावा अन्य औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठनों में होता है। अपने को अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए नवीन राजनीतिशास्त्र ने राज्य-संबंधी लक्ष्य, सरकारी क्रियाकलापों, संस्थाओं तथा ऐतिहासिक पद्धति को अपने से अलग कर दिया है। इसके स्थान पर यह मानव-व्यवहार तथा गतिविधियों का अध्ययन करने लगा है। 1967 ई० में 'अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस एसोसिएशन' ने राजनीतिशास्त्र के 27 उपक्षेत्रों की चर्चा की, जो अनुशासन की परिवर्तित प्रकृति की ओर संकेत करते हैं। राजनीतिक मनुष्य और उसका व्यवहार, समूह, संस्थाएँ, प्रशासन, अंतरराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शोध-पद्धतियाँ, सांख्यिकी तथा सर्वेक्षण आदि इन उपक्षेत्रों में प्रमुख हैं। **आर्नल्ड ब्रेस्ट** ने आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत समूह, संतुलन, शक्ति-नियंत्रण एवं प्रभाव-क्रिया, अभिजन, चयन तथा विनिश्चय-प्रक्रिया, पूर्वाभाषित क्रिया आदि की ओर संकेत किया है। इसके अलावा, आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीतिक तत्त्वों को अनेक रूपों में देखा जाता है, जैसे—(i) शक्ति, उसकी प्रकृति और प्रयोग के रूप में, (ii) एक इकाई के रूप में राजनीतिक व्यक्ति, (iii) मूल्यों के उत्पादन, वितरण और कार्यान्वयन के रूप में तथा (iv) नीतियों और नीति-निर्माण के रूप में। इस प्रकार, आधुनिक राजनीतिशास्त्र नवीन राजनीतिक विषयों का अध्ययन करता है, जबकि परंपरागत दृष्टिकोण में हम ऐसी बात नहीं पाते हैं।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

2. लक्ष्य-संबंधी दृष्टिकोण से अंतर (Distinction from objective point of view)—आधुनिक तथा व्यवहारवादी राजनीतिक विश्लेषण के लक्ष्य अपने परंपरावादी राजनीतिक लक्ष्य से बिल्कुल भिन्न हैं। जहाँ परंपरागत राजनीति का उद्देश्य उत्तम जीवन की प्राप्ति है, वहाँ आधुनिक राजनीतिशास्त्र का उद्देश्य राजनीतिक घटनाओं को यथार्थ रूप में समझना है।

इस संबंध में आधुनिक राजनीतिशास्त्री भविष्यवाणी के साथ-साथ यथासंभव उन्हें नियंत्रित करने का भी प्रयास करते हैं। परंपरावादी राजनीतिशास्त्री निराधार कल्पना द्वारा आदर्श राज्य की कल्पना करते हैं, लेकिन आधुनिक राजनीतिशास्त्री अपने परंपरावादी विचारक साथियों की तरह निराधार कल्पना में विश्वास नहीं करते।

3. प्रकृति के दृष्टिकोण से अंतर (Distinction from nature point of view)—आधुनिक दृष्टिकोण और परंपरागत दृष्टिकोण में एक प्रमुख अंतर उनकी प्रकृति (nature) का है। जहाँ आधुनिक राजनीतिशास्त्र में अन्वेषण के अंतर्गत अनुभववादी पद्धतियों (empirical methods) का उपयोग होता है, वैज्ञानिक प्रणालियों, विशुद्ध निष्कर्षों, संचयों (cumulative) और बृहत सामान्यीकरणों (generalisations) पर बल दिया जाता है तथा आँकड़ों एवं निष्कर्षों की प्रामाणिकता (validity) की जाँच की जाती है, वहाँ परंपरागत राजनीतिशास्त्र में इन बातों का ख्याल नहीं किया जाता। परंपरागत राजनीतिशास्त्र का स्वभाव भूतकालिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं का विश्लेषण करना मात्र है।

4. तार्किक दृष्टिकोण से अंतर (Distinction from logical point of view)—जहाँ परंपरागत राजनीतिशास्त्र का सिद्धांत और निष्कर्ष तर्क (logic) पर आधारित है, वहाँ आधुनिक राजनीतिशास्त्र गणितीय परिमाण (mathematical quantification), तथ्य-संग्रह (data collection) और सर्वेक्षण (survey) जैसी वैज्ञानिक पद्धतियों (scientific methods) का अपने अध्ययनक्षेत्र में प्रयोग करता है। यदि परंपरागत राजनीतिशास्त्र बौद्धिक है तो आधुनिक राजनीतिशास्त्र यथार्थ एवं व्यवहार से संबंधित।

5. ऐतिहासिक-दृष्टिकोण से अंतर (Distinction from historical point of view)—परंपरागत राजनीतिशास्त्र के विद्वानों के अनुसार अनुसंधान तथा विश्लेषण की प्रमुख विधियाँ ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक (historical and descriptive) रही है। यह राजनीतिशास्त्र को तीन उपागमों के माध्यम से अध्ययन किया गया एक विषय समझता है, जिसमें (i) ऐतिहासिक (historical), (ii) विश्लेषणात्मक (analytical) तथा (iii) वर्णनात्मक (descriptive) पर जोर दिया गया है। लेकिन, नवीन राजनीतिशास्त्री अपने परंपरागत साथियों से अधिक दूरदृष्टि रखते हैं और ऐतिहासिक घटनाओं में उलझकर नहीं रहते। जहाँ परंपरागत राजनीतिशास्त्र पुस्तकालयों में बैठकर लिखा गया है, वहाँ आधुनिक राजनीतिशास्त्र अपना अध्ययन-केंद्र संघर्षों, समस्याओं तथा जनता के बीच मानता है।

6. नैतिक और दार्शनिक दृष्टिकोण से अंतर (Distinction from ethical and philosophical point of view)—परंपरागत राजनीतिशास्त्र के अधिकांश विचारक आचारशास्त्र (Ethics) और दर्शनशास्त्र (Philosophy) से प्रभावित हैं, जो तात्कालिक राजनीतिक समस्याओं का स्थायी समाधान करने की कोशिश करते हैं। इन विद्वानों ने मानव-जीवन और समाज के लक्ष्यों और मूल्यों की ओर ध्यान दिया है। उदाहरण के लिए, यूनानी विचारकों के नैतिक जीवन की प्राप्ति-संबंधी विचार, मध्ययुगीन क्रिश्चियन संत विद्वानों के ईश्वरीय राज्य स्थापित करने के विचार तथा हीगेल एवं ग्रीन-जैसे आदर्शवादियों द्वारा प्रतिपादित विवेक के साक्षात्कार के विचार आदि को ध्यान में रखा जा सकता है। इन विद्वानों का विचार व्यक्तिगत दृष्टिकोण, चिंतन, कल्पना और अध्यात्मवाद से प्रभावित है। परंतु, आधुनिक राजनीतिशास्त्र अपने को दर्शन और आचारशास्त्र से प्रभावित नहीं मानता।

7. अंतरानुशासनिक दृष्टि से अंतर (Distinction from inter-disciplinary point of view)—आधुनिक राजनीतिशास्त्र की एक अन्य विशेषता है कि इसके अध्ययन की प्रकृति अंतरानुशासनिक (inter-disciplinary) है। इसपर अन्य सामाजिक शास्त्रों का व्यापक प्रभाव पड़ा है। नवीन राजनीतिशास्त्र में अन्य सामाजिक शास्त्रों (social sciences) की पद्धतियों, मान्यताओं, तकनीकों तथा निष्कर्षों को अपनाया जाता है। इस दृष्टि से नवीन राजनीतिशास्त्रों पर मनोविज्ञान (psychology), मानव-विज्ञान (anthropology), इतिहास (history), भूगोल (geography), सूक्ष्म समाजशास्त्र (micro-sociology), समाजीय भाषाशास्त्र (socio-linguistics) इत्यादि विभिन्न शास्त्रों का काफी प्रभाव है। परंपरागत राजनीतिशास्त्र अंतरानुशासनिक (inter-disciplinary) उपागम नहीं अपनाता, जिस कारण आज इसकी आलोचना की जाती है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

8. राजनीति के स्वरूप में अंतर (Distinction regarding the nature of politics)—परंपरावादी राजनीतिशास्त्र का सामान्य अर्थ विशिष्ट मूल्यों की प्राप्ति के लिए राजनीतिक संरचनाओं, राज्य, सरकार, दल-समूह, विभिन्न इकाइयों तथा शासन-प्रणालियों आदि का अध्ययन था। इस संस्थात्मक दृष्टिकोण में दर्शन एवं नैतिकता के साथ राजनीति की घनिष्ठता पाई जाती है। इसमें राजनीतिज्ञ को एक कला-कुशल व्यवहारवादी के रूप में चित्रित किया जाता है। लेकिन, अनुभववाद एवं व्यवहारवाद ने 'राजनीति' की अवधारणा को नया और व्यापक अर्थ प्रदान किया है। व्यवहारवादी क्रांति के साथ राजनीतिशास्त्र को राजनीति की एक प्रक्रिया माना जाने लगा है। अनुभववादी राजनीति को एक प्रक्रिया, गतिविधि, हित या साक्ष्य के रूप में देखता है। राजनीति क्या है? इस संबंध में **रॉबर्ट ए॰ डैल** के विचार अधिक मान्य हैं। उनके अनुसार, सभी प्रकार की सत्ताएँ राजनीतिक नहीं होती हैं। राजनीतिक सत्ता परिवार, चर्च आदि में पाई जानेवाली सत्ता, शासन होती है। यह सत्ता राजनीतिक समुदाय में होती है और किसी-न-किसी रूप में यह सत्ता से भिन्न और शक्ति से संबंधित होती है। इसके साथ ही, **लूथर गुलिक, मैक्स वेबर, लॉसवेल, कैटलिन** तथा **सारटोरी** ने भी अपने-अपने दृष्टिकोण से राजनीति का विवेचन किया है। अतः, हम कह सकते हैं कि राजनीति के स्वरूप के प्रश्न पर आधुनिक राजनीतिक विचारकों में काफी मतभेद हैं। इसीलिए **कोहान** ने कहा है, "राजनीतिक लक्षणों की परिभाषा बनाने और उनके लक्ष्यों को स्पष्ट करने का प्रयास त्याग देना चाहिए।" फिर भी, यह कहा जा सकता है कि राजनीति-संबंधी मतवैभिन्य से विषय को कोई हानि नहीं है, क्योंकि आधुनिक राजनीतिशास्त्र राजनीतिक इकाइयों के विश्लेषण पर बल देता है और वैज्ञानिक विधियों के माध्यम से उनमें नियमित आचरण, समानताओं और विशिष्टताओं की खोज करता है। इनके आधार पर वह राजनीति में सिद्धांत-निर्माण कर इस विषय को प्राकृतिक विज्ञानों की **श्रेणी** में लाने का प्रयास करता है।

9. अवधारणाओं और प्रतिमानों का अध्ययन-संबंधी अंतर (Distinction in view of the study of concepts and models)—आधुनिक राजनीतिशास्त्र में काफी संख्या में अवधारणाओं का विकास और उनकी सहायता से विविध प्रकार के प्रतिमानों का निर्माण किया गया है। व्यवहारवादी यह आशा करते हैं कि इस तरीके को अपनाकर वे अंत में राजनीतिशास्त्र के सिद्धांत का निर्माण करने में सफल होंगे, जबकि परंपरावादी प्रतिमानों का प्रयोग नहीं करते हैं। व्यवहारवादी क्रांति के पहले प्रतिमान के प्रयोग का उदाहरण केवल **मॉण्टेस्क्यू** के राजदर्शन में मिलता है, लेकिन वह आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों की तरह सटीक नहीं था। व्यवहारवादी राजनीति में अवधारणाओं और प्रतिमानों के अलावा अवधारणात्मक विषय-परिधि (conceptual frame of reference) का भी उल्लेख मिलता है। सचमुच ही सिद्धांत-निर्माण की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम है। अवधारणात्मक विषय-परिधि घटनाओं या क्रियाओं को अर्थ प्रदान करने के लिए आधार का काम करती है। **डेविड ईस्टन** ने इसी संदर्भ में एक अवधारणात्मक विचारबंध के रूप में सिद्धांत का महत्त्व बताया है, जो कि एक चलनी (sieve) के रूप में पर्यवेक्षित तथ्यों के चयन या बहिष्करण के लिए उपयोगी होता है। यह एक दिक्सूचक की तरह दिशा-संकेत करता है और एक मापक के समान विशिष्ट समय में विज्ञान के विकास की अवस्था का हाल बताता है। आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों द्वारा विकसित विचारबंधों में पद्धति-सिद्धांत (system theory), संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण (structural functional analysis), समूह दृष्टिकोण (group analysis) आदि प्रमुख हैं।

10. अन्य अंतर (Other distinction)—परंपरागत राजनीतिशास्त्र और आधुनिक राजनीतिशास्त्र के बीच उपर्युक्त मतभेदों के अलावा कुछ ऐसे अन्य तथ्य भी हैं जो उनकी विभिन्नता को स्पष्ट करते हैं। ये तथ्य निम्नलिखित हैं—

(i) परंपरागत राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-केंद्र संस्था थी, जबकि आधुनिक राजनीतिशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र में सिर्फ मानव का अध्ययन किया जाता है।

(ii) परंपरागत राजनीतिशास्त्र के मुख्य आधार नैतिक मूल्य थे, लेकिन आधुनिक राजनीतिशास्त्री विषय की दुरूहता के कारण तथा इसे विज्ञान का स्तर देने के लिए अपने अध्ययन में मूल्य को कोई स्थान नहीं देते हैं। आधुनिक राजनीतिशास्त्र तथ्यों के अध्ययन पर विशेष बल देता है।

परंपरागत और आधुनिक राजनीतिशास्त्र में संबंध (Relation between the traditional and modern political science)—उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि परंपरागत राजनीतिशास्त्र और आधुनिक राजनीतिशास्त्र में कतिपय मौलिक अंतर हैं। लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे एक-दूसरे से अलग हो गए हैं या एक का स्थान दूसरे ने ग्रहण कर लिया है। सही अर्थ में ये दोनों दृष्टिकोण एक-दूसरे के पूरक हैं और दोनों में पारस्परिक संबंध है। परंपरावादी राजनीतिक साहित्य की खोजों तथा शोधों के

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

आधार पर ही आधुनिक राजनीतिशास्त्र की नींव डाली गई है। अतीतकालीन घटनाएँ राजनीतिशास्त्रियों के लिए प्रयोगशाला का काम कर सकती हैं। आधुनिक राजनीतिशास्त्र के संबंध में भी हम यह बात कह सकते हैं।

राजनीतिशास्त्र के अनेक विद्वानों ने परंपरागत और आधुनिक राजनीतिशास्त्र के पारस्परिक अंतःसंबंधों की ओर संकेत किया है। जहाँ तक अनुभववादी दृष्टिकोण का प्रश्न है, यह पारंपरिक राजनीतिशास्त्र से आधुनिक राजनीतिशास्त्र का विलगाव नहीं करता। **पॉलिटिकल बिहेवियर** के प्रमुख विद्वानों ने इस संबंध में सकारात्मक और नकारात्मक विचार प्रस्तुत किए हैं। अब तो सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि आधुनिक राजनीतिक विश्लेषकों को पारंपरिक राजनीतिक मान्यताओं को स्पष्ट करना चाहिए। पारंपरिक राजनीतिशास्त्र और आधुनिक राजनीतिशास्त्र के अटूट संबंध की ओर संकेत करते हुए **हेंज इलाऊ** (Heinz Eulau) ने कहा है, "मानवीय व्यवहार को राजनीतिक विश्लेषण का आधार बनाने का प्रयास एक नई शुरुआत है। मेरी समझ के अनुसार, व्यवहारवादी विश्वास मानवीय अनुभवों के उन आधारों की ओर प्रत्यागमन का प्रतिनिधित्व करता है, जिनमें अतीत के महान राजनीतिशास्त्रियों ने अपने विचारों के पोषण एवं विकास के तत्त्व पाए थे। पुरातन राजनीति-सिद्धांतों को जिन गुणों के कारण महान समझा जाता है वे गुण मानवों के राजनीतिक व्यवहारों से संबद्ध उनकी स्पष्ट तथा कभी-कभी अंतर्निहित मान्यताएँ हैं।"[1]

रॉबर्ट ए॰ डैल (Robert A. Dahl) ने भी परंपरागत तथा आधुनिक राजनीतिशास्त्र की एकता की ओर संकेत करते हुए कहा है, "यह सोचने का पूरा आधार है कि दोनों की एकता को फिर से स्थापित किया जा सकता है। **सुकरात, अरस्तू, मैकियावेली, हेन्स** तथा **डी॰ टाकियाविले**-जैसे राजनीतिशास्त्रियों की जब हम चर्चा करते हैं तब हमारे ध्यान में यह बात आती है कि समय-समय पर राजनीतिशास्त्र का अध्ययन बदलता रहा है। यह परिवर्तन समय-समय पर होनेवाले अनुभववादी अन्वेषणों के कारण अर्थात वैज्ञानिक दृष्टिकोणों के चलते संभव होता रहा है।"[2]

निष्कर्ष (Conclusion)—निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि परंपरागत राजनीतिशास्त्र और आधुनिक राजनीतिशास्त्र में कोई ऐसा मौलिक अंतर नहीं है, जिसके फलस्वरूप इन दोनों को अलग-अलग किया जा सके। ये दोनों एक ही व्यवस्था के ऐतिहासिक विकास के दो चरण हैं। ये एक सिक्के के ऐसे दो पहलू हैं, जिन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। यह बात सही है कि समय के बदलते हुए प्रभाव ने पुरातन विचारधाराओं को झकझोर दिया है। इसके साथ ही यह भी सही है कि आधुनिक राजनीतिशास्त्र ने परंपरागत राजनीतिशास्त्र की पुरानी मान्यताओं को वैज्ञानिक आधार देकर अनुशासन को सबल तथा सक्रिय बनाया है। अतः, इन दोनों में पारस्परिक संबंध है।

राजनीतिशास्त्र की प्रकृति का एक संपूर्ण दृष्टिकोण
(An Integrated View of the Nature of Political Science)

आज राजनीतिशास्त्र की सही प्रकृति की जानकारी हमें तभी हो सकती है जब हम राजनीतिशास्त्र से संबद्ध परंपरागत तथा आधुनिक दृष्टिकोणों को ध्यान में रखें। राजनीतिशास्त्र की प्रकृति के संपूर्ण दृष्टिकोण की विवेचना हम निम्नलिखित तथ्यों से कर सकते हैं—

1. राजनीतिशास्त्र एक विकासशील विषय है (Political Science is a developing subject)—राजनीतिशास्त्र एक विकासशील विषय इसलिए है कि जब से मानव ने समूह में रहना प्रारंभ किया, तब से उनके बीच तनाव तथा संघर्ष उत्पन्न हुए। उन्हें सुलझाने के लिए विभिन्न संस्थाएँ कायम की गईं, जिनका परिष्कृत रूप बाद में राज्य हुआ। राज्य के गठन के बाद से विधिवत राजनीतिशास्त्र का प्रारंभ हुआ। प्राचीन भारतीय तथा यूनानी दार्शनिकों ने इस विषय के संबंध में गंभीर अध्ययन प्रारंभ किया। मध्यकाल, अर्थात 6ठी शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक इस विषय के प्रभाव में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। **संत ऑगस्टीन, संत एक्वीनॉस** और **सिसरो** मध्यकाल के प्रमुख विचारक हुए। 16वीं शताब्दी के **मैकियावेली** से आधुनिक युग का प्रारंभ हुआ, क्योंकि सर्वप्रथम उसी ने राज्य-संबंधी अध्ययन को धर्म और दर्शन से अलग किया और राजनीतिशास्त्र के वैज्ञानिक व क्रमबद्ध अध्ययन पर जोर दिया। **बोदाँ, हॉब्स, रूसो, मिल, हीगेल, टी॰ एच॰ ग्रीन** तथा **लॉस्की** आदि विद्वान इसी श्रेणी में आते हैं। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में भी राजनीतिशास्त्र इसी

1. H. EULAU : *Requisites of Political Analysis—Political Behaviour* (New York; Free Press, 1956)
2. ROBERT A. DAHL : *Epitah for Monument to a Successful Prutest* (Guild and Palmer ed.), p. 285

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

धारा में बहता रहा, जिसे हम परंपरावादी राजनीतिशास्त्र के नाम से पुकारते हैं। जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे इसके रूप में परिवर्तन दिखाई पड़ने लगे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस विषय में क्रांतिकारी परिवर्तन आया, जिसे व्यवहारवादी क्रांति के नाम से पुकारते हैं। इसे ही आधुनिक राजनीतिशास्त्र कहा गया। अब इसके राज्य की औपचारिक संस्थाओं के अलावा राजनीतिक क्रियाओं तथा व्यवहारों का वैज्ञानिक प्रणालियों के माध्यम से अध्ययन किया जाने लगा है। 1960 ई० के बाद उत्तर-व्यवहारवादी क्रांति के आने से इस विषय के रूप में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। अतः, प्राचीनकाल से लेकर आजतक इस विषय के क्षेत्र तथा अध्ययन-प्रणाली में क्रमिक परिवर्तन होता रहा है।

2. व्यापक क्षेत्र (Broad scope)—जहाँ परंपरागत राजनीतिशास्त्र, मूलतः राज्य और सरकार से संबद्ध है, वहाँ आधुनिक राजनीतिशास्त्र 'राज्य के बिना राजनीति' का अध्ययन करता है। यह इस मान्यता को लेकर चलता है कि राजनीति का कई गुना अधिक प्रभाव और प्रसार राज्य और उसकी विभिन्न संस्थाओं से बाहर है। आधुनिक राजनीतिशास्त्र संपूर्ण राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करता है, जिसके अंतर्गत राजनीतिक अभिप्रेरणाओं या उद्देश्य के लिए हर प्रकार के राजनीतिक समुदाय में किए जानेवाले मानव-व्यवहार तथा उसके पीछे वर्तमान मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक प्रभावों, मूल्यों, गतिविधियों आदि का अध्ययन किया जाता है। इसके अंतर्गत अब स्वतंत्रता, समानता और जनतंत्र-जैसी अवधारणाओं का भी अध्ययन किया जाता है।

3. बौद्धिक एवं व्यवहारवादी दोनों है (It is both rational and empirical)—जहाँ परंपरावादी राजनीतिक विचारकों पर नैतिकता और दर्शन का प्रभाव रहा, वहाँ आधुनिक राजनीतिशास्त्र केवल आदर्शमयी कल्पना पर आधारित नहीं है। परंपरावादियों ने मानव-जीवन और सामाजिक लक्ष्यों तथा मूल्यों की ओर ध्यान दिया। आधुनिक राजनीतिशास्त्र मानव के राजनीतिक व्यवहार का वैज्ञानिक पद्धतियों द्वारा अध्ययन करता है। यही कारण है कि व्यवहारवादी क्रांति के बाद राजनीतिशास्त्र की प्रकृति मूलतः बौद्धिक होते हुए भी व्यवहारवादी है।

4. राजनीतिशास्त्र अंतर-अनुशासनिक है (Political science is inter-disciplinary)—परंपरावादी राजनीतिशास्त्रियों का चिंतन अधि-अनुशासनात्मक (trans-disciplinary) था, अर्थात उनके विचारों का संबंध विभिन्न सामाजिक शास्त्रों से था। यही कारण है कि **प्लेटो, अरस्तू, रूसो** तथा **कार्ल मार्क्स** आदि विचारक लगभग सभी सामाजिक विद्वानों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। लेकिन, आज का राजनीतिशास्त्र अंतर-अनुशासनिक हो गया है। यह अन्य अनुशासनों में विकसित प्रणालियों, तकनीकों और निष्कर्षों को अपनाता है। अतएव, आधुनिक राजनीतिशास्त्र के लिए विभिन्न सामाजिक शास्त्रों तथा उनकी विधियों का ज्ञान आवश्यक है। आज का राजनीतिशास्त्री यदि इतिहास, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि विषयों की जानकारी नहीं रखता तो वह सही निर्णय पर नहीं पहुँच सकता है। इसी से आज यह अंतर-अनुशासनिक है।

5. राजनीति का उद्देश्य उत्तम जीवन की प्राप्ति है (Achievement of good life)—**प्लेटो, अरस्तू** तथा **रूसो** आदि विद्वानों ने राजनीतिशास्त्र का अध्ययन उत्तम जीवन की प्राप्ति के लिए किया है। आधुनिक राजनीतिशास्त्री भी इसी लक्ष्य को मानकर चलते हैं। इस अर्थ में, परंपरावादी और आधुनिक राजनीतिशास्त्र की प्रकृति समान हो जाती है, क्योंकि उत्तम जीवन की प्राप्ति को यह अपना मूल उद्देश्य बताता है। अन्य राजनीतिक दार्शनिकों ने भी उत्तम जीवन की प्राप्ति में ही अपने दर्शन की सार्थकता पाई है।

6. राजनीतिशास्त्र आनुभविक और वैज्ञानिक बन गया है (It has become empirical and scientific)—परंपरागत राजनीतिशास्त्र की प्रमुख विधियाँ ऐतिहासिक और विवरणात्मक थीं। उनकी चिंतन-प्रणाली निगमनात्मक थी। वे वैज्ञानिक पद्धतियों को नहीं अपनाते थे। आधुनिक राजनीतिशास्त्री विश्लेषण के लिए वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाते हैं और सटीक निष्कर्षों व सामान्यीकरण पर जोर देते हैं। उनके शोध का आधार वस्तुनिष्ठता है। वे आँकड़ों के माध्यम से राजनीतिक कार्यकलापों का विश्लेषण करते हैं और उनकी प्रामाणिकता की जाँच कर एक स्थायी सिद्धांत को जन्म देते हैं।

7. राजनीतिशास्त्र मूल्यमय तथा मूल्यविहीन दोनों है (It is both value and value-free)—परंपरागत राजनीतिशास्त्र का संबंध जीवन के मूल्यों से है, लेकिन आधुनिक व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्री मूल्यविहीन (value-free) राजनीति पर ज्यादा जोर देते हैं। वे अपने शास्त्र को विज्ञान का स्तर देने की दृष्टि से मूल्यों को कोई स्थान नहीं देते। फिर भी, नवीन राजनीतिशास्त्री अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि आमतौर पर राजनीति-विज्ञान का संबंध मूल्यों से रहना चाहिए, क्योंकि राजनीति पूर्णतः मूल्यविहीन नहीं रह सकती।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

इसलिए वे मूल्यों को अपने शोध में उचित स्थान देकर राजनीति-विज्ञान को संगत और उपयोगी बनाने का प्रयास कर रहे हैं।

अतएव, स्पष्ट है कि राजनीतिशास्त्र एक विकासशील विषय है, जिसकी प्रकृति में दिनोंदिन परिवर्तन हो रहा है। इसका क्षेत्र हर रोज व्यापक होता जा रहा है। आज यह सिर्फ तार्किक और काल्पनिक न रहकर अनुभववादी और वैज्ञानिक बन गया है। इसके अध्ययन की पुरानी प्रणालियों के स्थान पर वैज्ञानिक विधियों और तकनीकों को स्थान दिया जा रहा है। आज यह एक शुद्ध विज्ञान होने का दावा करने लगा है। आज संपूर्ण मानव-व्यवहार राजनीतिशास्त्र के प्रभाव-क्षेत्र में शामिल हो गया है। जीवन का कोई भी ऐसा पहलू अछूता नहीं है, जिसका संबंध राजनीतिशास्त्र से आज नहीं है।

राजनीतिशास्त्र का एक अनुशासन के रूप में विकास
(Growth of Political Science as a Discipline)

किसी विषय की सफलता उसके स्वतंत्र अनुशासन के रूप में मान्यता पर निर्भर करती है। एक स्वतंत्र अनुशासन के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि उसका विषय-क्षेत्र स्पष्ट एवं निश्चित हो, उसकी अपनी अध्ययन-पद्धति हो तथा उसके पास नए-नए क्षेत्रों में शोध की सम्भावना हो एवं वह एक अनुभवात्मक, विकसित तथा रचनात्मक सिद्धांत से संचालित होता हो।

जहाँ तक राजनीतिशास्त्र का प्रश्न है, यह एक ऐसा अनुशासन है जो अपनी पहचान की खोज में लगा है। हाल के वर्षों में इसके लिए इस विषय ने काफी प्रयास किया है। परिणामस्वरूप, राजनीतिशास्त्र एक स्वायत्त एवं स्वतंत्र अनुशासन के रूप में विकसित होने लगा है। इसके पास क्रमबद्ध सिद्धांत हैं और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाने के लिए तैयार हो गया है। फिर भी, विकासशील और पिछड़े देशों में इस विषय के पास न तो वैज्ञानिक उपकरण हैं और न विकसित प्रविधियाँ ही। इसीलिए विकासशील देशों में राजनीतिशास्त्र की गति अवरुद्ध है। विकसित देशों में राजनीतिशास्त्र द्रुतगति से विज्ञान का रूप ले रहा है। विविध वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाकर यह अन्य सामाजिक शास्त्रों से भिन्न एक स्वतंत्र अनुशासन के रूप में उभरने लगा है। ऐसे तो विज्ञान कहलाने के लिए इसके पास अब भी बहुत-सी कमियाँ हैं, लेकिन इस दिशा में प्रयास जारी है और उम्मीद है कि कुछ ही वर्षों में यह सबसे अधिक विकसित तथा प्रगतिशील सामाजिक शास्त्र हो जाएगा।

सदियों तक राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की प्रणाली ऐतिहासिक बनी रही। 19वीं शताब्दी में ऐतिहासिक प्रणाली पर काफी जोर दिया गया। प्रारंभ में (1880-1903) अमेरिका में भी ऐतिहासिक आधार पर ही सरकार का अध्ययन और उससे संबद्ध शोध-कार्य किए गए। यहाँ तक अंतरविषयक शोध-कार्य का आधार भी इतिहास ही था। 19वीं शताब्दी के अंतिम भाग में राजनीतिक संगठनों और प्रक्रियाओं के क्रियात्मक पहलू का अध्ययन प्रारंभ हो गया। लेकिन, अभी तक उपागम ऐतिहासिक विश्लेषणात्मक ही रहा। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में उपर्युक्त उपागम के अलावा आदर्शात्मक-निर्देशात्मक उपागम को भी अपनाया गया, जिसके अंतर्गत विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं और सरकार के विभिन्न रूपों के गुण-दोषों और लाभ-हानि का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता था। इसमें कतिपय मूल्यों एवं आदर्शों को आधार मानकर राजनीतिक चर्चा की जाती थी। इसका संबंध 'क्या होना चाहिए' (what ought to be) से था, 'क्या है' (what is) से नहीं। इसका आधार प्राकृतिक कारण था। **प्लेटो** से लेकर **काण्ट, एक्वीनॉस** तथा **हीगेल** तक राजनीतिक दार्शनिकों ने इसे अपनाया।

1903 ई० में **अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस एसोसिएशन** की स्थापना हुई, जिसने राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं से तथ्यों के संग्रह, संगठन और वर्गीकरण को बढ़ावा दिया। इस प्रकार, राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र विस्तृत होता गया और अब उसमें संगठन का ढाँचा, निर्णय लेने और कार्य करने की प्रक्रियाओं, नियंत्रण की राजनीति, नीतियों, कार्यों एवं सरकार के मानवीय तत्त्वों का अध्ययन प्रारंभ हो गया।[1]

उपर्युक्त परंपरावादी दृष्टिकोणों के अंतर्गत आधुनिक राजनीतिशास्त्र के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। समाज में शक्ति का निवास, कार्यकरण, सरकार के सांस्कृतिक अवधारक, संगठनात्मक पहलू, नीति-निर्माण,

1. The scope of Political Science was now widened to include "the organisational structure, the process of decision-making and actions, and the human environment of legal government."—C. S. HYNEMAN

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

राजनीतिक नेतृत्व और निर्वाचन-प्रक्रिया-जैसे विषयों पर छानबीन प्रारंभ हो गई। गैर-सरकारी संगठनों, समूहों तथा सरकार के कार्यों तथा उनके प्रभाव में दिलचस्पी बढ़ती गई। राजनीतिक संस्थाओं एवं संगठनों के अध्ययन के लिए आनुभविक विधियों (empirical methods) को प्रयोग में लाने की प्रवृत्ति की ओर झुकाव हो गया। फलस्वरूप राजनीतिशास्त्र में नए-नए तथ्यों, आँकड़ों और सामान्यीकरणों की आवश्यकेता महसूस की जाने लगी। तात्कालिक अवधारणात्मक और प्राविधिक उपकरण (conceptual and technical equipment)—जो तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते थे—के प्रति असंतोष पैदा हुआ और अध्ययन के नए अवधारणात्मक विचारबंधों (conceptual frameworks) और प्राविधिक तरीकों की खोज होने लगी। राजनीतिशास्त्र को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने की भाँति इसे अंतरविषयक (inter-disciplinary) बनाने का प्रयास इसी अवधि में शुरू हुआ। **गेटेल** ने लिखा है, "20वीं सदी के प्रारंभ में राजनीतिशास्त्र कई अन्य विषयों के बौद्धिक अन्वेषणों से प्रभावित होने लगा।" वैज्ञानिक पद्धति को अधिक-से-अधिक प्रयोग में लाने की माँग होने लगी और परिमाणात्मक पद्धति को अपनाया जाने लगा, जिसके उपकरण पर्यवेक्षण, सर्वेक्षण और मापन (observation, survey and measurement) थे। चूँकि ये शोध-उपकरण पुराने होते थे, इसलिए उनकी अध्ययन-प्रणाली वैज्ञानिक नहीं थी। तात्कालिक राजनीतिशास्त्र व्यवहारवादी युग की संस्कारित और परिशुद्ध पद्धतियों से काफी दूर था। अतः, उनके प्रति असंतोष बढ़ता गया। **कीर्क पैट्रिक** ने लिखा है, "असंतोष से हलचल पैदा हुआ और हलचल से परिवर्तन।"[1] नए दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति राजनीतिक व्यवहारवाद में हुई।

उपर्युक्त तथ्यों के विवेचन से यह मालूम पड़ता है कि राजनीतिशास्त्र की प्रकृति में तेजी से परिवर्तन आ रहा है। इसमें नई मान्यताओं, प्रक्रियाओं और प्रविधियों का विकास होने लगा है और अब राजनीतिक संस्थाएँ विश्लेषण और शोध की इकाई नहीं रह गईं। अब व्यक्ति के व्यवहार के अध्ययन पर जोर दिया जाने लगा और राजनीतिशास्त्री अपने अनुशासन को व्यवहारवादी विज्ञानों के सदृश बताने में गरिमा का अनुभव करने लगे।

व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्र के रूप में आधुनिक राजनीतिशास्त्र की आधारशिला रखनेवालों में **आर्थर एफ० बेंटले** का नाम मुख्य रूप से लिया जाता है। उसने कहा है कि राजनीतिक ज्ञान और अनुसंधान के लिए वास्तविकता का सही स्तर समूह और इस वास्तविकता को समझने के लिए प्रक्रिया की अवधारणा ही एकमात्र प्रामाणिक उपागम है। उसने अपनी पुस्तक *The Process of Government* (1908) में इन दोनों प्रवृत्तियों का संश्लेषण किया है। **बेंटले** परंपरागत राजनीतिशास्त्र का कटु आलोचक है। वह इसे 'वीरान और उपचारवादी' कहता है, क्योंकि इसमें प्रक्रिया का अध्ययन नहीं होता।

जहाँ तक **चार्ल्स ई० मेरियम** का प्रश्न है, आधुनिक राजनीतिशास्त्र का प्रारंभ सही अर्थ में इनके विचारों से ही हुआ, क्योंकि 1921 ई० में उसने यह सुझाव दिया कि राजनीतिशास्त्र में भी समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान, भूगोल, प्राणिशास्त्र और सांख्यिकी की विधियों पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। उसने राजनीतिशास्त्र में अन्य सामाजिक शास्त्रों और प्राकृतिक विज्ञानों में हुए विकासों, विधियों एवं सिद्धांतों को अपनाने का आग्रह किया।

उपर्युक्त विद्वानों के अलावा, व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्र के विकास में यूरोपीय समाजवादियों, जैसे मार्क्स, दुर्खीम, फ्रायड, पैरेटो, मोस्का, वेबर और माइकेल्स के नाम विशेष रूप से लिए जाते हैं। **मार्क्स** ने समाज को एक जीव के रूप में देखा, जो परिवर्तनशील है और हमेशा परिवर्तित होता रहेगा। **काम्टे** ने समाज के अनुभववादी विज्ञान के विकास तथा सामाजिक घटनाओं तथा तथ्यों में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग का प्रयास किया। **दुर्खीम** ने संरचनात्मक-कार्यात्मक सिद्धांत को बढ़ावा दिया तो **फ्रायड** मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) का संस्थापक बना। नवीन राजविज्ञान का सबसे अधिक प्रभाव मैक्स वेबर पर पड़ा जो जर्मन समाजशास्त्री था। उसने सामाजिक विश्लेषण को मूल्य-निरपेक्ष रखने के महत्त्व को बताया। **तालकोट पारसन्स** ने अमेरिकी राजनीतिशास्त्रियों को न सिर्फ कार्यसिद्धांत से वरन दुर्खीम, पैरेटो तथा मैक्स वेबर-जैसे विद्वानों से भी परिचय कराया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिकी राजनीतिशास्त्रियों ने महसूस किया कि दिन-प्रतिदिन की घटनाओं से वे कोसों दूर हैं। उन्होंने अपने विषय का पुनर्निर्माण करने और अन्य सामाजिक शास्त्रों से घनिष्ठ संबंध

1. Evrom M. KirkPatrick, "The Impact of the Behavioural Approach on Traditional Political Science in Austin Rannay (ed.) : *Essays on the Behavioural Study of Politics*, pp. 10-11

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

स्थापित करने का निर्णय लिया। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद (1950 ई० के लगभग) व्यवहारवाद का प्रभाव समाप्त होने लगा। व्यवहारवादियों पर समाजशास्त्रियों का प्रभाव स्थापित होने लगा। राजनीतिशास्त्र में अनुभवात्मक और परिमाणात्मक अनुसंधान प्रारंभ हुए। **आमंड, डैल, डेविड ईस्टन, कार्ल डोयच, हैरोल्ड डी० लॉसवेल** आदि ने इस दिशा में काफी प्रयास किया।

आधुनिक राजनीतिशास्त्र को अतिवैज्ञानिकता के खिलाफ सर्वाधिक सशक्त प्रतिक्रियाएँ आदर्शोंमुख सिद्धांत-निर्माण की ओर प्रवृत्त विचारक **माइकेल आकशॉट, आरेण्ट, बर्ट्रैण्ड डी० जोवेनेल, लियो स्ट्रॉस** आदि ने व्यक्त की। ये लोग व्यवहारवाद की वैधानिकता के विरुद्ध हैं और राजनीतिशास्त्र को मूल्यपरक बनाए रखना चाहते हैं। संक्षेप में, वर्तमानकाल में राजनीतिशास्त्र की यह स्थिति है कि उसने व्यवहारवादी क्रांति को आत्मसात कर लिया है। व्यवहारवाद के संशोधित रूप ने नवीन राजनीतिशास्त्र के साथ-साथ परंपरावादी राजनीतिशास्त्र के अस्तित्व को भी बनाए रखा है, जिसे संशोधित और उपयोगी रूप देने का प्रयास आदर्शोंमुख विद्वानों ने किया है। यद्यपि ये दोनों परंपरागत और आधुनिक विचारधाराएँ साथ-साथ चल रही हैं, फिर भी, भिन्न-भिन्न देशों में किसी-न-किसी एक विचारधारा की प्रधानता है। अमेरिका और यूरोप के विकासशील देशों में नवीन राजनीतिशास्त्र की व्यवहारवादी मान्यताओं को पूर्णतः स्वीकार कर लिया गया है। एशिया, अफ्रीका तथा लातीनी अमेरिकी देशों में राजनीतिशास्त्र को एक स्वतंत्र एवं संभावित अनुशासन का स्तर अभी तक नहीं मिल पाया है। इन देशों की राजनीति का विश्लेषण विकसित देशों के राजनीतिशास्त्रियों द्वारा किया जा रहा है। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, राजनीतिशास्त्र अन्य सामाजिक शास्त्रों की तुलना में अभी भी एक पिछड़ा अनुशासन है, जो नवीन राजनीतिशास्त्र की अपेक्षा परंपरावादी राजनीतिशास्त्र से अधिक प्रभावित है।

प्रश्नावली

1. आधुनिक राजनीतिशास्त्र की परिभाषा दीजिए तथा इसके स्वरूप और क्षेत्र को स्पष्ट कीजिए।
   (Define Modern Political Science and discuss its nature and scope.)
2. आधुनिक राजनीतिशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र की विवेचना कीजिए।
   (Discuss the nature and scope of Modern Political Science.)
3. राजनीति-विज्ञान की प्रकृति के एक संपूर्ण दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए।
   (Give an integrated view of the nature of Political Science.)
4. आधुनिक राजनीतिशास्त्र की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
   (Discuss the features of Modern Political Science.)
5. आधुनिक राजनीतिशास्त्र और परंपरागत राजनीतिशास्त्र में अंतर कीजिए।
   (Distinguish between the Modern and Traditional Political Science.)
6. राजनीतिशास्त्र में आधुनिक विकास पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिए।
   (Write a short essay on Modern Developments in Political Science.)
7. राजनीतिशास्त्र का एक अनुशासन के रूप में विकास की विवेचना कीजिए।
   (Discuss the growth of Political Science as a discipline.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 5

अंतर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण एवं राजनीतिशास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से संबंध

[INTER-DISCIPLINARY APPROACH AND RELATION OF POLITICAL SCIENCE WITH OTHER SOCIAL SCIENCES]

हम अन्य सहायक विज्ञानों का पूर्णतः ज्ञान प्राप्त किए बिना राजनीतिशास्त्र का ज्ञान उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते, जिस प्रकार गणित के बिना यंत्रविज्ञान और रसायनशास्त्र के बिना जीवविज्ञान का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता।—गार्नर

विषय-प्रवेश (Introduction)

मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहकर समाज के विभिन्न क्षेत्रों में क्रियाशील रहता है। मानव के जीवन के आर्थिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक इत्यादि विभिन्न पहलू हैं। चूँकि व्यक्ति के सामाजिक जीवन के ये पहलू एक-दूसरे से परस्पर संबद्ध हैं इसलिए तमाम सामाजिक शास्त्र भी एक-दूसरे से किसी-न-किसी रूप में जुड़े हुए हैं। राजनीतिशास्त्र, इन सामाजिक शास्त्रों में से सिर्फ एक विषय है, जिसका अध्ययन-क्षेत्र राजनीति या राज्य से संबद्ध माना जाता है। इसके बावजूद यह अन्य सामाजिक शास्त्रों से किसी-न-किसी रूप में जुड़ा हुआ है।

अंतर-अनुशासनात्मक पद्धति क्या है ?
(What is Inter-disciplinary Approach ?)

कभी-कभी किसी समस्या-विशेष के अध्ययन के लिए एक से अधिक शास्त्रों पर निर्भर करना पड़ता है और इसी को साधारण बोलचाल की भाषा में अंतर-अनुशासनात्मक या अंतरशास्त्रीय (Inter-disciplinary) पद्धति कहा जाता है। इस पद्धति का हम तब उपयोग करते हैं, जब विभिन्न शास्त्र कुछ सामान्य समस्याओं से संबद्ध रहते हैं। अंतरशास्त्रीय दृष्टिकोण एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इससे समस्याओं को अधिक गहराई और व्यापकता तथा अधिक लाभदायक ढंग से समझने का मौका मिलता है। राजनीति का एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में अध्ययन अंतर-अनुशासनात्मक पद्धति के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है। इसके अंतर्गत मुख्यतः निम्नलिखित तीन बातें उल्लेखनीय हैं—

(i) किसी राजनीतिक समस्या या घटनाक्रम को समझने में अन्य सामाजिक शास्त्रों की तकनीकों, खोजों, सिद्धांतों एवं प्रतिमानों को प्रयोग में लाना,

(ii) अन्य सामाजिक शास्त्रों के विभिन्न आँकड़ों और सिद्धांतों की सहायता से राजनीति-विज्ञान के सिद्धांतों और खोजों का सत्यापन करना, तथा

(iii) अन्य सामाजिक शास्त्रों के क्षेत्र में अनुदान करने के उद्देश्य से राजनीतिक जीवन के प्रति बृहत्तर तथा व्यापक दृष्टिकोणों का विकास करना।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हमारे अध्ययन के क्षेत्र का विस्तार उद्देश्यपूर्ण और निश्चित होना चाहिए, अर्थात अन्य सामाजिक शास्त्रों के क्षेत्रों में दखलंदाजी करते समय हमें अपनी मुख्यधारा से अलग नहीं होना चाहिए। समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र या अन्य सामाजिक शास्त्रों की समस्याओं एवं तकनीकों का प्रयोग राजनीति की समस्याओं के लिए भूले-भटके ढंग से न होकर निश्चित उद्देश्य से किया जाना चाहिए।

WWW.GRADESETTER.COM

अंतर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण की उत्पत्ति
(Genesis of Inter-disciplinary Approach)

अंतरशास्त्रीय पद्धति राजनीति-विज्ञान की एक आधुनिक प्रवृत्ति है। परंपरागत राजनीति-विज्ञान में भी इसकी जड़ें देखने को मिलती हैं। **प्लेटो** ने अपने आदर्श राज्य के शासकों की खोज करने के दौरान स्पष्ट रूप से कहा था कि दर्शन का ढाँचा और शिक्षा का स्वरूप शासकों की प्रकृति और क्रियाकलापों को गंभीर रूप से प्रभावित करेगा। **अरस्तू** ने भी अपनी पुस्तक **पॉलिटिक्स** में धन के विभाजन और सामाजिक स्थिति तथा शासन के विभिन्न प्रकारों के बीच संबंध को आवश्यक बताया है। इन परंपरागत अध्ययनों को हम अंतरशास्त्रीय अध्ययन का गहन एवं सम्यक विश्लेषण नहीं कह सकते, क्योंकि 18वीं शताब्दी के पहले विभिन्न सामाजिक विज्ञान नहीं थे। उन दिनों समाज का तमाम अध्ययन दर्शन से जुड़ा हुआ था। 18वीं शताब्दी में ही विभिन्न सामाजिक विज्ञानों को स्थापित करने का प्रयास किया गया। इस शताब्दी में ही **फिसियोक्रेट्स** तथा **एडम स्मिथ** ने राजनीतिक अर्थशास्त्र को एक स्वतंत्र समाज-विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की।[1] समाजशास्त्र के जन्मदाता कहे जानेवाले **कॉम्टे** ने इस बात पर जोर दिया कि तमाम सामाजिक घटनाएँ मूल रूप से परस्पर संबद्ध हैं। परिणामस्वरूप, किसी एक सामाजिक घटना या समाज के किसी एक पहलू का अध्ययन करने को बेकार बताया गया। 19वीं शताब्दी के मध्य में सामाजिक शास्त्रों में अंतरशास्त्रीय दृष्टि का विकास क्रमबद्ध ढंग से प्रारंभ हुआ। 19वीं शताब्दी में ही **कार्ल मार्क्स** ने जोरदार शब्दों में इस बात की वकालत की कि सामाजिक घटनाओं का अलग-अलग अध्ययन होना चाहिए। **मार्क्स** के अनुसार सभी समाज-विज्ञानों में एकता है। परिणामस्वरूप, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तथा 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में एक समाज-विज्ञान के स्थान पर अनेक समाज-विज्ञानों की स्थापना को आवश्यक बताया गया। समाज की जटिलता को ध्यान में रखते हुए किसी एक समाज-विज्ञान द्वारा आज तमाम तथ्यों का अध्ययन संभव नहीं। अतः, आज समाज-विज्ञान के विभिन्न भाग किए गए हैं, ताकि सामाजिक अनुसंधान का काम आसानी से हो सके। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद समाज-विज्ञानों के अध्ययन से एक नई दिशा उभरी। इसके अंतर्गत एक विशेष समाज-संबंधी विषय का अध्ययन करनेवाले अध्येता दूसरे अन्य विषयों के अध्ययन करनेवालों से तालमेल बनाए रखते हैं। विभिन्न समाज-विज्ञानों में व्यवहारवाद के उदय के बाद यह बात अधिक स्पष्ट हो गई है कि तमाम समाज-विज्ञानों का अलग-अलग अध्ययन नहीं, वरन उनका अंतर-अनुशासनात्मक अध्ययन होना चाहिए। चूँकि राजनीति-विज्ञान को एक अनुभववादी विज्ञान के रूप में स्थापित करने की चेष्टा की जा रही है, इसलिए राजनीति के अध्ययन में संस्थाओं, जैसे—राज्य, सरकार तथा सरकार के विभिन्न अंगों को महत्त्व न देकर व्यक्ति, समूह तथा विभिन्न संस्थाओं के व्यवहार के अध्ययन का केंद्र माना जाता है। आज व्यक्ति का सामाजिक व्यवहार सिर्फ राजनीति से उत्प्रेरित नहीं होता, वरन उसके आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक कारण भी होते हैं। अतः, व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन करने के लिए राजनीति की अध्ययन-विधि को अंतरशास्त्रीय बनाना आवश्यक है।

अंतर-अनुशासनात्मक पद्धति की विशेषताएँ
(Characteristics of the Inter-disciplinary Approach)

जब हम राजनीति का अध्ययन एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में करते हैं और राजनीतिक व्यवस्था को एक खुली व्यवस्था के रूप में स्वीकार कर लेते हैं तब हमारे लिए अंतर-अनुशासनात्मक पद्धति आवश्यक हो जाती है। इस पद्धति की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

1. आनुभविक आधार (Empirical base)—अंतर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण की पहली विशेषता इसका आनुभविक आधार है, जैसे—तथ्यगत सूचना, पर्यवेक्षण या प्रत्यक्ष अनुभव। इस पद्धति में विशुद्ध

1. "Economics was established as empirical science by Adam Smith and D. Ricardo; Anthropology was thus established by C. Meiners, G. Klem and T. Waitz; Geography was transformed into a science by A. Humboldt, K. Ritter and F. Ratzel; Jurisprudence became a science in the works of J. Austin, A. F. J. Thibant, F. K. Savign; Political Science was transformed into an empirical discipline by the studies of F. C. Dahlmann and A. Tocqueville; Psychology was developed into an empirical science by D. Harley, A. Bain and J. F. Herbert; Sociology itself became a science under the influence of A. Compte, H. Spencer and K. Marx."

WWW.GRADESETTER.COM

कल्पना का कोई स्थान नहीं है। यह तथ्यों से संबद्ध है, जो वास्तविकता का अध्ययन करता है। इसके विपरीत, परंपरागत राजनीतिशास्त्र का आधार नैतिकता से संबद्ध वर्णनात्मक, दार्शनिक तथा कल्पनाओं पर आधारित था। अंतरशास्त्रीय पद्धति की तरह यह 'क्या' से संबंधित है। यह विभिन्न परिवर्त्यों (variables) का अध्ययन कर उनमें पारस्परिक संबंध स्थापित कर सत्यापन तथा भविष्यवाणी करता है।

2. राजनीतिक व्यवहार और व्यवस्था-विश्लेषण पर विशेष बल (Emphasis on political behaviour and systems analysis)—आनुभविक विधि के चलते राजनीति-विज्ञान में राजनीतिक संस्थाओं के स्थान पर राजनीतिक व्यवहार और राजनीतिक व्यवस्था पर जोर दिया गया। यह महसूस किया गया कि राजनीति को भागीदारों के व्यवहार के रूप में अधिक अच्छी तरह जाना जा सकता है। इसके लिए मतदाताओं, विधायकों, कर्मचारियों और प्रशासकों के व्यवहार का अध्ययन कर राजनीति का विश्लेषण वैज्ञानिक ढंग से किया जा सकता है। राजनीतिक व्यवहार के अलावा व्यवस्था-विश्लेषण में राजनीति-विज्ञान को एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाने को प्रोत्साहित किया गया है। इसके अंतर्गत राजनीति का एक प्रक्रिया के रूप में विश्लेषण किया जाता है और 'राजनीति' के स्थान पर 'राजनीतिक व्यवस्था' (Political system) शब्द को अपनाया जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राजनीतिक व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं से अलग होकर कार्य नहीं करती। इसपर समाज की अन्य व्यवस्थाओं का प्रभाव पड़ता है।

3. अन्य सामाजिक शास्त्रों के आँकड़ों का प्रयोग (Use of data of other social sciences)—अंतरशास्त्रीय पद्धति समाज को एक पूर्णता के रूप में देखती है। इसके विभिन्न पहलू परस्पर संबद्ध हैं। राजनीति-विज्ञान समाज के राजनीतिक पहलू का अध्ययन करता है जिसके लिए अन्य सामाजिक शास्त्रों के आँकड़े उपयोगी होते हैं। उदाहरण के लिए; राष्ट्रीय आय के विभाजन, आर्थिक विकास के दल, लोगों के धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण, उनकी शिक्षा के स्तर तथा पारिवारिक ढाँचे के विश्लेषण से ही हम यह जान सकते हैं कि किसी समाज में जनतंत्र सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है या नहीं। वर्तमान समय में राजनीतिशास्त्र के क्षेत्रांतर्गत विभिन्न नए सिद्धांतों का विकास हुआ है। इनके चलते आज के राजनीतिशास्त्री अन्य विषयों पर काफी निर्भर करने लगे हैं। इन नए सिद्धांतों में राजनीतिक समाजीकरण (Political socialization), राजनीतिक संस्कृति (Political culture), राजनीतिक विकास (Political development) तथा राजनीतिक संचरण (Political communication) आदि मुख्य हैं। **सेमूर, मार्टिन, लिपसेट** (Seyomour, Martin, Lipset) ने अपनी पुस्तक 'राजनीति और सामाजिक शास्त्र' *(Politics and the Social Sciences)* में राजनीतिशास्त्र के क्षेत्रांतर्गत इन नए सिद्धांतों का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया है।

4. अन्य सामाजिक शास्त्रों के सिद्धांतों और प्रतिमानों का प्रयोग (Use of theories and models of other social sciences)—अंतरशास्त्रीय पद्धति में आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों को अन्य सामाजिक विज्ञानों से पर्याप्त मात्रा में उनके सिद्धांतों और प्रतिमानों को अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया है। उदाहरण के लिए, अभिजन-सिद्धांत (Elite theory) का विकास **पैरोटो, मोस्का** और **रॉबर्ट माइकेल्स** ने पहले समाजशास्त्र के क्षेत्र में किया। इसके बाद इसका प्रयोग राजनीतिक संस्थाओं में नेतृत्व, समूह-व्यवहार तथा जनतंत्र के विश्लेषण के लिए किया जाने लगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राजनीति के अध्ययन के लिए अपनाए गए अधिकांश आधुनिक राजनीतिक दृष्टिकोणों का विकास पहले अन्य सामाजिक विज्ञानों में हुआ। आज उन्हें राजनीतिक विश्लेषण के रूप में अपना लिया गया है। उदाहरण के लिए, **डेविड ईस्टन** की राजनीतिक पद्धति की अवधारणा समाजशास्त्र की सामाजिक पद्धति अवधारणा का परिणाम है। **आमंड** और **पॉवेल** का संरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण (Structural-functional approach) का विकास मूलतः सांस्कृतिक नृ-विज्ञान (Cultural anthropology) का परिणाम है।

राजनीतिशास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से संबंध
(Relationship between Political Science and Other Social Sciences)

मनुष्य के सामाजिक जीवन के विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक पहलू होते हैं। मनुष्य इन विभिन्न पहलुओं का अध्ययन विभिन्न सामाजिक शास्त्रों के माध्यम से करता है; जैसे—राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान इत्यादि। ये विभिन्न सामाजिक शास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन से संबद्ध हैं। चूँकि राजनीति-विज्ञान भी एक सामाजिक शास्त्र है, जो मानव-जीवन के राजनीतिक पहलू का विश्लेषण करता है, इसलिए राजनीतिशास्त्र के समुचित ज्ञान के लिए अन्य सामाजिक विषयों से

WWW.GRADESETTER.COM

उसके संबंध का अध्ययन आवश्यक है। प्रमुख विधिशास्त्री **गार्नर** ने कहा है, "हम अन्य सहायक विज्ञानों का पूर्णतः ज्ञान प्राप्त किए बिना राजनीति-विज्ञान का सही ज्ञान उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते, जिस प्रकार की गणित के बिना यंत्रविज्ञान और रसायनशास्त्र के बिना जीवविज्ञान का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता।"[1] यही कारण है कि **पॉल जैनेट** ने कहा है कि राजनीति-विज्ञान का गहरा संबंध अर्थशास्त्र, विधानशास्त्र, इतिहास, दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्र के साथ है। राजनीति-विज्ञान की अन्य सामाजिक विषयों के साथ संबंध की जानकारी हमारे लिए अत्यंत आवश्यक है।

राजनीतिशास्त्र और इतिहास (Political Science and History)

इतिहास मानव-समाज के विकास की कहानी है। यह मानव के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विकास का विवरण प्रस्तुत करता है। इसीलिए **राइकर** ने कहा है, "इतिहास विकास का नाटक और प्रक्रिया दोनों है।"[2] **गेटेल** ने भी लिखा है, "इतिहास अतीत की घटनाओं और विकासों, उनके कारणों तथा पारस्परिक संबंधों का लेखा है। यह आर्थिक, धार्मिक, बौद्धिक तथा सामाजिक दशाओं के साथ-साथ राज्य, उसके विकास, संगठन तथा उसके पारस्परिक संबंध का भी वर्णन प्रस्तुत करता है।"[3] समुचित इतिहास मानव-जाति की सफलताओं और विफलताओं की कहानी है, जहाँ से हमें भूतकालीन समाज की झलक मिलती है।

राजनीतिशास्त्र और इतिहास में संबंध (Relation between politics and history)—राजनीतिशास्त्र और इतिहास में गहरा संबंध है। एक की अनुपस्थिति में दूसरे का अध्ययन निरर्थक तथा सारहीन है। ये दोनों विषय एक-दूसरे के पूरक हैं। इसलिए **बर्गेस** ने कहा—"इन्हें एक-दूसरे से यदि अलग कर दीजिए, तो उनमें एक लाश तो नहीं, पंगु अवश्य ही हो जाता है और दूसरा कूड़े का ढेर-मात्र रह जाता है।"[4] **बर्गेस** के इस कथन से दोनों शास्त्रों की पारस्परिक निर्भरता का बोध होता है। **सीले** ने भी कहा है, "राजनीतिशास्त्र के बिना इतिहास एक ऐसे वृक्ष के समान है, जिसमें कोई फल नहीं लगता और इतिहास के बिना राजनीतिशास्त्र उसी जड़रहित वृक्ष के समान है।"[5]

संक्षेप में, इतिहास और राजनीतिशास्त्र की पारस्परिक निर्भरता को हम निम्नांकित रूपों में रख सकते हैं—

(क) इतिहास राजनीतिशास्त्र की प्रयोगशाला है—इतिहास ही राजनीतिशास्त्र को सामग्री प्रदान करता है, जिसके आधार पर राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थी राजनीतिक नियमों एवं विचारों को निश्चित करते हैं। अतीत की घटनाओं का अध्ययन कर राजनीतिशास्त्र का विद्यार्थी आदर्श निश्चित करता है। उदाहरण के लिए, फ्रांसीसी तथा ब्रिटिश गौरवपूर्ण क्रांतियाँ (Glorious revolutions) सिद्ध करती हैं कि जनता का विरोध करके सरकार स्थायी नहीं रह सकती।

(ख) इतिहास राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में सहायक है—चूँकि राज्य राजनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है, इसलिए इसके अंतर्गत विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं और क्रियाकलापों का अध्ययन होता है। इस संबंध में जानकारी प्राप्त करने के लिए इतिहास हमें सामग्री प्रदान करता है। इतिहास मनुष्य की सफलताओं एवं विफलताओं की कहानी प्रस्तुत करता है।

(ग) इतिहास राजनीतिशास्त्र का पथ-प्रदर्शक है—इतिहास राजनीतिशास्त्र का पथ-प्रदर्शन तथा दिशा-निर्देश करता है। यह सारे सामाजिक शास्त्रों की सामग्री प्रस्तुत कर विभिन्न समस्याओं के समाधान का रास्ता बताता है। किसी भी राजनीतिक समस्या का सम्यक अध्ययन नैतिक, सामाजिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि

---

1. "We can no more understand Political Science, as the science of the totality of state phenomena, without aknowledge of the allied sciences or disciplines than we can comprehend biology without chemistry or mechanics without mathematics."—GARNER
2. "History is both a drama and a process of evolution."—RIKER
3. "History is the record of past events and movements, their causes and inter-relations. It includes a survey of conditions and developments in economic, religious, intellectual and social affairs as well as study of states, growth and organisation and their relations with one another."—GETTELL
4. "Separate history and politics and the one becomes a cripple, if not a corpse, the other relations will 'O' the wisp."—BURGESS
5. "Politics without history has no root;
History without politics has no fruit."—SEELEY

WWW.GRADESETTER.COM

में ही संभव है, जिसकी प्राप्ति इतिहास से होती है। इतिहास से ही जानकारी मिलती है कि दासता एवं शोषण का प्रतीक साम्राज्यवाद है, जिसके परिणामस्वरूप विश्वयुद्ध होते हैं। **विलोबी** ने भी कहा है, "इतिहास राजनीतिशास्त्र को तीसरी दिशा बताता है।"[1]

(घ) इतिहास भूत, वर्तमान और भविष्य में संबंध स्थापित करता है—जैसाकि बताया गया है, इतिहास राजनीतिशास्त्र की प्रयोगशाला है। ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर ही हम वर्तमान की घटनाओं का विश्लेषण करते हैं और भविष्य के लिए भविष्यवाणी करते हैं। यह भूत, वर्तमान और भविष्य के बीच एक सूत्र स्थापित करता है।

(ङ) इतिहास पर्यवेक्षण-विधि में सहायक होता है—राजनीतिक संस्थाओं का जन्म अचानक नहीं होता। उनका विकास धीरे-धीरे होता है। इन विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन पर्यवेक्षण-विधि से किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से भी राजनीतिशास्त्र इतिहास का ऋणी है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि इतिहास और राजनीतिशास्त्र में घनिष्ठ संबंध है और इतिहास से राजनीतिशास्त्र को अत्यधिक सहायता मिलती है। इस संबंध में **लॉर्ड ऐक्टन** का विचार सही प्रतीत होता है। उसने कहा है, "राजनीति इतिहास की धारा में उसी तरह संचित है, जिस प्रकार नदी की रेत में सोने के कण संचित रहते हैं।"[2] लेकिन, इतिहास भी राजनीतिशास्त्र का ऋणी है; क्योंकि इतिहास को भी अपनी सामग्री के लिए राजनीतिशास्त्र पर निर्भर रहना पड़ता है। इसीलिए इतिहास के अंतर्गत भी वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं, विचारों तथा शासन-पद्धतियों का अध्ययन किया जाता है। समाजवाद, साम्यवाद, अंतरराष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, व्यक्तिवाद तथा राष्ट्रवाद के सम्यक अध्ययन के बिना इतिहास अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता। इतिहास का ज्ञान तबतक अधूरा है, जबतक उसके अंतर्गत राजनीतिक घटनाओं एवं गतिविधियों का अध्ययन नहीं किया जाता। इसलिए **ब्राइस** के अनुसार, "राजनीतिशास्त्र इतिहास और राजनीति के बीच एक कड़ी है, जो भूत और वर्तमान को जोड़ता है। यह इतिहास से अपनी सामग्री प्राप्त करता है और उस सामग्री का प्रयोग राजनीति में करता है।"[3]

इतिहास और राजनीतिशास्त्र में अंतर (Distinction between history and political science)—**फ्रीमैन** के विचार में, "इतिहास अतीत काल की राजनीति है अथवा राजनीति ही वर्तमान इतिहास है।"[4] इतिहास और राजनीतिशास्त्र में घनिष्ठ संबंध होने के बावजूद दोनों में काफी अंतर भी हैं, जिन्हें हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

(क) क्षेत्र की दृष्टि से अंतर (Distinction from scope-point of view)—क्षेत्र की दृष्टि से इतिहास और राजनीतिशास्त्र में पर्याप्त अंतर है। इतिहास का क्षेत्र बहुत व्यापक और विस्तृत है। इसमें युद्ध, क्रांतियों, आर्थिक परिवर्तनों आदि का अध्ययन किया जाता है। दूसरी तरफ राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र संकुचित तथा सीमित है। राजनीतिशास्त्र इतिहास के केवल उन पक्षों का अध्ययन करता है जो राज्य, उसकी उत्पत्ति तथा विकास से संबद्ध हैं।

(ख) अध्ययन की दृष्टि से अंतर (Distinction from study-point of view)—अध्ययन की दृष्टि से भी इतिहास तथा राजनीतिशास्त्र में अंतर है। जहाँ इतिहास वर्णनात्मक है, वहाँ राजनीतिशास्त्र विचारात्मक है। इतिहास घटनाओं का केवल क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करता है, जबकि राजनीतिशास्त्र राज्य से संबद्ध घटनाओं तथा तथ्यों का पर्यवेक्षण कर सामान्य सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है।

(ग) उद्देश्य की दृष्टि से अंतर (Distinction from purpose-point of view)—इतिहास और राजनीतिशास्त्र में उद्देश्य की दृष्टि से भी अंतर है। एक वर्णनात्मक शास्त्र होने के नाते इतिहास में घटनाओं का सही रूप में वर्णन कर दिया जाता है। इसमें अच्छी-बुरी सभी बातें आ जाती हैं, अर्थात यह राजनीतिक जीवन का वर्णन ज्यों-का-त्यों करता है। इसका संबंध केवल 'क्या' से है, लेकिन राजनीतिशास्त्र एक

---

1. "History offers the third dimension of Political Science."—WILLOUGHBY
2. "The science of politics is the one science that is deposited by the stream of history like the grains of gold in the sands of a river."—LORD ACTON
3. "Political science stands midway between history and politics, between the past and the present. It has to draw its material from the one, and it has to apply to the other."—BRYCE
4. "History is nothing but past politics and politics is nothing but current history."—FREEMAN

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

विचारात्मक और आदर्शवादी शास्त्र होने के नाते न केवल आदर्श का निर्धारण करता है, वरन 'क्या होना चाहिए' से भी अपने को संबद्ध रखता है। इतिहास की तरह यह केवल 'क्या' से संतुष्ट नहीं होता।

राजनीतिशास्त्र और मनोविज्ञान (Political Science and Psychology)

मनोविज्ञान मनुष्य की मानसिक क्रीड़ाओं, भावनाओं, मनोवेगों, सहानुभूति इत्यादि की विवेचना करता है। यह मनुष्य की मानसिक अवस्थाओं से संबद्ध है। **वुडवर्थ** (Woodworth) के अनुसार, "मनोविज्ञान मानव की परिस्थितियों से संबद्ध क्रियाओं का विज्ञान है।"[1] **वाटसन** (Watson) ने कहा है, "मनोविज्ञान व्यवहार का निश्चित अध्ययन है।"[2] इससे स्पष्ट है कि मनोविज्ञान मानव-मन की क्रिया एवं उसके व्यवहार से संबद्ध विज्ञान है। मानव के व्यवहारों को जानने के लिए उसकी मानसिक अवस्थाओं को ध्यान में रखना होगा।

राजनीतिशास्त्र और मनोविज्ञान में पारस्परिक निर्भरता (Mutual dependence between political science and psychology)—राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत हम मनुष्य के राजनीतिक जीवन का अध्ययन करते हैं। मानव के राजनीतिक जीवन के ज्ञान के लिए उसकी मानसिक अवस्थाओं का विचार करना जरूरी है। राजनीतिशास्त्र मानव के राजनीतिक व्यवहार से संबद्ध है और उसके इस व्यवहार को जानने के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिशास्त्र मनोविज्ञान का सहारा ले। मनुष्य में असंतोष क्यों है और इसकी अभिव्यक्ति हिंसा और आंदोलन के रूप में क्यों हो रही है, इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की जानकारी मनोविज्ञान से ही प्राप्त होती है। आज राजनीतिशास्त्र ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की जानकारी के लिए सामाजिक मनोविज्ञान का सहारा लेता है। **बार्कर** के विचार में, "मानवीय क्रियाओं की पहेली सुलझाने में मनोविज्ञान का प्रयोग आजकल फैशन हो गया है। यदि हमारे पूर्वज जीवविज्ञान की दृष्टि से विचार करते थे, तो आज हम मनोवैज्ञानिक तरीके से विचार करते हैं।"[3] सचमुच राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत राज्य और राजनीतिक संस्थाओं का सही अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान के सहारे ही संभव है। विभिन्न देशों के निवासियों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को समझकर महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सफलताएँ प्राप्त की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, 1923 ई० में **हिटलर** ने जर्मनी के लोगों की मनोवृत्ति को समझकर उसी के अनुसार कार्य किया और शक्ति में आया। आज की व्यावहारिक राजनीति तो मनोविज्ञान की ही देन है। **गार्नर** ने भी कहा है, "सरकार के स्थायित्व एवं लोकप्रियता के लिए उसकी सत्ता के अधीन रहनेवाले व्यक्तियों के मानसिक विचारों और नैतिक भावनाओं को अभिव्यक्त तथा प्रतिबिंबित करना चाहिए।"[4] **ब्राइस** ने भी कहा है, "मनोविज्ञान राजनीति का आधार है।"[5] **ग्राहम वालास** के विचारानुसार, "राजनीति बहुत कम अंश में सचेत बुद्धिमत्ता का परिणाम है। अधिकांश में यह आदत और मूल प्रवृत्तियों तथा सुझाव और नकल जैसी अर्द्धचेतन प्रक्रियाओं की उपज है।"[6] यही कारण है कि आज के अनेक राजनीतिशास्त्रियों, जैसे—**मैकडूगल, वाल्डविन, टाड** तथा **लिवा** ने राजनीतिक समस्याओं को मनोवैज्ञानिक तरीकों से सुलझाने की कोशिश की है।

दूसरी तरफ, मनोविज्ञान भी राजनीतिशास्त्र पर काफी हद तक निर्भर है। राजनीतिशास्त्र मनोविज्ञान को सामग्री प्रदान करता है। मनोविज्ञान के अंतर्गत ही राजनीतिक बातों का अध्ययन हम मानसिक अवस्थाओं के प्रसंग में करते हैं। जब तक मनोवैज्ञानिक को राजनीतिशास्त्र का ज्ञान नहीं होगा, तब तक उसका अध्ययन अधूरा रहेगा। अतः, निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि राजनीति और मनोविज्ञान दोनों में घनिष्ठ संबंध है।

राजनीतिशास्त्र और मनोविज्ञान में अंतर (Distinction between political science and psychology)—राजनीतिशास्त्र और मनोविज्ञान में घनिष्ठ संबंध होने के साथ-साथ दोनों में अग्रलिखित अंतर भी हैं—

---

1. "Psychology is the science of the activities of the individual in relation to the environment."
—WOODWORTH
2. "Psychology is the positive science of behaviour."—WATSON
3. "The application of the psychological clause to the riddle of human activity has indeed become the fashion of the day. If our fore-fathers thought biologically, we think psychologically."—BARKER
4. "Government to be stable and really popular must reflect and express the mental ideas and moral sentiments of those who are subject to its authority."—GARNER
5. "Politics....has its roots in Psychology."—BRYCE
6. "Politics is only in slight degree the product of conscious reason, it is largely a matter of subconscious process of habit and instinct, suggestion and imitation."—GRAHAM WALLAS

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(क) राजनीतिशास्त्र का संबंध केवल मानवीय राजनीतिक संगठनों और कार्यों से है, लेकिन मनोविज्ञान का संबंध विभिन्न मानसिक अवस्थाओं में मनुष्य के आचरण से है।

(ख) मनोविज्ञान के अंतर्गत केवल मन की वृत्तियों एवं भावों का अध्ययन होता है, जबकि राजनीतिशास्त्र में व्यावहारिक कार्यों का भी अध्ययन किया जाता है। इसलिए **कैटलिन** ने कहा है, "मनोविज्ञान मानसिक क्रियाओं का अध्ययन है, तो राजनीतिशास्त्र संकल्पित कार्यों का अध्ययन है।"

(ग) राजनीतिशास्त्र का संबंध आदर्शों और मूल्यों के निर्धारण से है, परंतु मनोविज्ञान का नहीं। मनोविज्ञान आदर्श से कोई संबंध नहीं रखता, अर्थात मनोविज्ञान यह बताता है कि मनुष्य की मनोवृत्ति क्या थी, क्या है और क्या हो सकती है। लेकिन, राजनीतिशास्त्र 'क्या होना चाहिए' से संबद्ध है।

राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र (Political Science and Economics)

राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र में घनिष्ठ संबंध है। बहुत समय तक अर्थशास्त्र को राजनीतिशास्त्र का ही अंग माना जाता था और इसे राजनीतिक अर्थशास्त्र (political economy) कहा जाता था। **कौटिल्य** का महान ग्रंथ, जिसमें राजनीतिक बातों का उल्लेख है, **अर्थशास्त्र** के नाम से विख्यात है। **अर्थशास्त्र** अन्य सामाजिक शास्त्रों की तरह एक स्वतंत्र विज्ञान है, जो मानव के आर्थिक जीवन से संबद्ध है। इसलिए इसे धन का विज्ञान (science of wealth) कहा गया है। **मार्शल** ने कहा है, "अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यापार में मनुष्य का अध्ययन है।"[1] इसके अंतर्गत संपत्ति के उत्पादन, वितरण, विनिमय तथा उपभोग का अध्ययन किया जाता है।

राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र में घनिष्ठता (Interdependence between political science and economics)—अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में घनिष्ठ संबंध है। जैसाकि बताया जा चुका है, ग्रीक विद्वान अर्थशास्त्र को राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political economy) कहते थे। आज के राजनीतिक विचारकों ने भी आर्थिक समस्याओं को अपने विचारों में प्रमुख स्थान दिया है। **एडम स्मिथ** के अनुसार, "अर्थशास्त्र वह सामाजिक शास्त्र है, जिसके द्वारा राष्ट्र की संपत्ति की प्रकृति तथा कारण का अध्ययन किया जाता है।"[2] जहाँ राजनीतिशास्त्र मूल रूप से मानव का अध्ययन राजनीतिक घटक के रूप में करता है, वहाँ अर्थशास्त्र मानव का अध्ययन उसके आर्थिक संबंधों और कार्यों को आधार मानकर करता है। मानव की उन्नति के क्षेत्र में संपत्ति का स्थान प्रमुख होने के कारण राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र में घनिष्ठ संबंध है। **जेम्स स्टीवार्ट** (James Stewart) ने कहा है, "जो स्थान परिवार में अल्पव्ययता का है, वही स्थान राज्य में राजनीतिक अर्थशास्त्र का है।"[3]

राजनीतिशास्त्र अर्थशास्त्र पर आश्रित है (Political science is based upon economics)—राजनीतिशास्त्र बड़े पैमाने पर अर्थशास्त्र पर आश्रित है; क्योंकि अधिकांश राजनीतिक समस्याएँ अर्थ पर ही आधृत होती हैं, जिनका समाधान अर्थशास्त्र के द्वारा ही हो सकता है। राज्य की अर्थव्यवस्था पर ही उसका विकास निर्भर करता है। संपत्ति के उत्पादन, वितरण, विनिमय और उपभोग का राज्य के जीवन से घनिष्ठ संबंध है। धन और संपत्ति के बिना विश्व का कोई भी राष्ट्र अपने प्रशासन में सफल नहीं हो सकता। **दूसरी** बात है कि आर्थिक परिस्थितियों के कारण ही सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन होते हैं, जिनका समर्थन **मार्क्स** ने किया है। **तीसरी** बात है कि सरकार और शासनतंत्र की रूपरेखा का निर्धारण उसकी आर्थिक दशा के अनुसार होता है। जैसे-जैसे समाज के आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन होता है, वैसे-वैसे राजनीतिक ढाँचे में परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए, हम आखेट-युग, पशुपालन-युग, कृषि-युग और औद्योगिक युग को ले सकते हैं, जिनके आगमन से सामाजिक और राजनीतिक ढाँचे में भी परिवर्तन हुए हैं। **चौथी** प्रमुख बात है कि राज्य के कार्य-संबंधी सिद्धांतों का प्रतिपादन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर ही हुआ है, जैसे व्यक्तिवाद, समाजवाद और लोक-कल्याणकारी सिद्धांतों आदि का प्रतिपादन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर ही हुआ है। इसके साथ-साथ किसी देश की विधियों के निर्माण के पीछे भी आर्थिक परिस्थितियाँ रहती हैं। उदाहरण के लिए, अपने देश में हम जमींदारी-उन्मूलन-अधिनियम तथा भूमिसुधार-अधिनियम को ले सकते हैं। किसी भी राज्य और अंततः सरकार का स्थायित्व उस राज्य के नागरिकों की आर्थिक संतुष्टि पर ही

---

1. "Economics is the study of mankind in ordinary business of life."—MARSHAL
2. "Economics is concerned with inquiry into nature and causes of wealth of nations."—ADAM SMITH
3. "What economy is in the family, political economy is in the state."—JAMES STEWART

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

निर्भर करता है। यदि राज्य में आर्थिक असमानता है, तो राज्य में शांति नहीं रह सकती। उदाहरण के लिए, हम फ्रांसीसी और रूसी क्रांतियों को ले सकते हैं। इस प्रकार, स्पष्ट है कि राजनीतिशास्त्र अर्थशास्त्र पर आश्रित है। **चार्ल्स बियर्ड** ने भी इसका समर्थन किया है। उनके अनुसार, "अर्थशास्त्र के बिना राजनीतिशास्त्र वास्तविक और सारहीन ढाँचामात्र है।"[1]

अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र पर आश्रित है (Economics is dependent on political science)—राजनीतिशास्त्र की तरह अर्थशास्त्र भी बहुत हद तक राजनीतिशास्त्र पर आश्रित है। आज के युग में राज्यों का कार्य केवल शांति और सुव्यवस्था कायम करना नहीं रह गया है, वरन अपने देश के आर्थिक ढाँचे को भी नियंत्रित एवं संचालित करना राज्य की प्रमुख जिम्मेवारी हो गई है। विश्व के अधिकांश देशों, जैसे—रूस और चीन में आर्थिक क्षेत्र पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो गया है। भारत-जैसे अनेक लोक-कल्याणकारी राज्य अपने नागरिकों के सर्वांगीण तथा आर्थिक विकास के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कदम उठाते हैं। उदाहरण के लिए, बड़े-बड़े उद्योगों के राष्ट्रीयकरण को हम ले सकते हैं। किसी देश के आर्थिक ढाँचे को निश्चित करने में उसके राजनीतिक ढाँचे का प्रभाव अत्यधिक पड़ता है। विश्व में किसी भी देश या सरकार की आर्थिक नीति उसकी आर्थिक स्थिति का दर्पण होती है। इन तमाम तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र भी एक हद तक राजनीतिशास्त्र पर आश्रित है और हम इन दोनों को एक-दूसरे से पृथक नहीं कर सकते।

राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र में अंतर (Distinction between political science and economics)—दोनों शास्त्रों में घनिष्ठ संबंध होते हुए भी उनमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण अंतर हैं—

(क) **आइवर ब्राउनिंग** ने कहा है कि अर्थशास्त्र का संबंध केवल वस्तुओं से है, जबकि राजनीतिशास्त्र का संबंध व्यक्तियों से।

(ख) अर्थशास्त्र मनुष्य के भौतिक जीवन से संबद्ध है, जो मानव के उत्पादन, वितरण, विनिमय इत्यादि वास्तविक क्रियाकलापों का अध्ययन करता है, लेकिन राजनीतिशास्त्र का संबंध राजनीतिक क्रियाकलापों से है।

(ग) जहाँ राजनीतिशास्त्र आदर्शात्मक विज्ञान है, वहाँ अर्थशास्त्र एक वर्णनात्मक विज्ञान है। जहाँ राजनीतिशास्त्र नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों को ध्यान में रखता है, वहाँ अर्थशास्त्र में नैतिकता तथा आदर्श का कोई स्थान नहीं है।

राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र (Political Science and Ethics)

'नीतिशास्त्र' का दूसरा नाम 'आचारशास्त्र' है। इसमें मनुष्य के आचरण तथा रीति-रिवाज-संबंधी बातों पर विचार किया जाता है। इस शास्त्र के अध्ययन से मनुष्य का चारित्रिक विकास होता है। यह शास्त्र अच्छाई या औचित्य की विवेचना भावनात्मक रूप में करता है। **मेकेंजी** के अनुसार, "नीतिशास्त्र मानव-आचरण में निहित आदर्शों का अध्ययन है।" **डेवी** के अनुसार, "नीतिशास्त्र आचरण का विज्ञान है, जिसमें औचित्य और अनौचित्य अथवा अच्छेपन या बुरेपन पर विचार किया जाता है।"

राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र की घनिष्ठता—प्राचीनकाल से ही राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र में घनिष्ठ संबंध रहा है। यूनानी विद्वानों के विचारानुसार राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र एक ही शास्त्र के दो पहलू हैं। **प्लेटो** की दृष्टि में, "राज्य को चाहिए कि वह मनुष्यों को सदाचार की शिक्षा दे।" **अरस्तू** ने भी स्पष्ट रूप से कहा कि राज्य का उद्देश्य है जनता की भलाई करना तथा मनुष्यों के जीवन को सुखमय बनाना। अनेक दृष्टियों से ये दोनों विषय एक-दूसरे पर आधृत हैं; जैसे—(क) किसी भी आदर्श राज्य की कल्पना नैतिक मान्यताओं के आधार पर ही हो सकती है। (ख) यदि राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक कर दिया जाए, तो वह गंदा हो जाएगा और उसमें प्रगतिशीलता नाम की कोई चीज नहीं होगी। यही कारण है कि **लॉर्ड एक्टन** ने कहा है, "नीतिशास्त्र के अध्ययन के बिना राजनीतिशास्त्र का अध्ययन विफल है।"[2] (ग) नीतिशास्त्र राजनीतिशास्त्र के लिए मापदंड निर्धारित करता है; क्योंकि जो वस्तु नैतिक दृष्टि से गलत है, वह राजनीतिक दृष्टि से कभी सही नहीं हो सकती।[3] (घ) राजनीतिशास्त्र की विभिन्न शाखाएँ आचारशास्त्र की नींव पर टिकी हैं, जैसे अंतरराष्ट्रीय कानून का संपूर्ण शास्त्र अंतरराष्ट्रीय नैतिकता पर आधृत है। (ङ) किसी

1. "Political Science with Economics left out is an unreal and ghostly formalism."—CHARLES BEARD
2. "Political theory is idle without Ethical theory."—LORD ACTION
3. "If a thing is morally wrong, it can never be politically correct."—FAY

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

भी देश के संविधान पर नीति या आचारशास्त्र का व्यापक प्रभाव पड़ता है, इसलिए संविधान में नैतिक आदर्शों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। उदाहरण के लिए, भारत और आयरलैंड के संविधान में 'राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों' को हम ले सकते हैं। (च) राजनीतिशास्त्र के अनेक मौलिक सिद्धांतों पर नीतिशास्त्र का प्रभाव है, जैसे—अधिकार, कर्तव्य, कानून इत्यादि। **मैकियावेली** ने भी नीतिशास्त्र को राजनीतिशास्त्र के एक अस्त्र के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार, राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र में घनिष्ठ संबंध है। **आइवर ब्राउन** ने भी कहा है, "नीतिशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में केवल मात्रा का अंतर है, गुण का नहीं। नीतिशास्त्र का ही विस्तृत रूप राजनीतिशास्त्र है।"[1] दोनों शास्त्रों की पारस्परिक निर्भरता को ध्यान में रखते हुए किसी विद्वान लेखक ने ठीक ही कहा है, "नीतिशास्त्र से अलग की हुई राजनीति खिसकती हुई बालू की नींव पर खड़ी है; राजनीति के बिना नीतिशास्त्र संकीर्ण और भाववाचक है।"[2]

राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र में अंतर (Distinction between political science and ethics)—राजनीतिशास्त्र एवं नीतिशास्त्र में निम्नलिखित मौलिक अंतर हैं—

1. जहाँ राजनीतिशास्त्र मानव-जीवन के राजनीतिक पहलू का अध्ययन करता है, वहाँ नीतिशास्त्र मानव-जीवन के नौतिक पहलू का।

2. राजनीतिशास्त्र का संबंध मानव की आत्मा और मनोभावों से है, जबकि नीतिशास्त्र का संबंध मनुष्य के आंतरिक जगत से है। जहाँ राजनीतिशास्त्र मूर्त और प्रत्यक्ष से संबद्ध है, वहाँ नीतिशास्त्र अमूर्त और अप्रत्यक्ष से।

3. राजनीतिशास्त्र मानव के बाह्य पक्ष से संबद्ध है, लेकिन नीतिशास्त्र आंतरिक पक्ष से अर्थात नीतिशास्त्र में आदर्श पर जोर दिया जाता है, तो राजनीतिशास्त्र में व्यावहारिक पहलुओं पर।

4. राजनीतिशास्त्र मनुष्य के राजनीतिक जीवन की अच्छाइयों का अध्ययन करता है, तो नीतिशास्त्र मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की अवस्थाओं का।

5. राजनीतिशास्त्र का संबंध उपयोगिता से है। परिस्थितियों के कारण उसके मापदंड में परिवर्तन होते रहते हैं। लेकिन, नीतिशास्त्र का संबंध शाश्वत सत्य (absolute truth) से है, जिसका मापदंड निश्चित तथा चिरंतन है।

राजनीतिशास्त्र और भूगोल (Political Science and Geography)

मानवीय स्वभाव और उसकी विभिन्न संस्थाओं पर प्राकृतिक अवस्था, वातावरण और जलवायु का प्रभाव पड़ता है। **अरस्तू** के विचारानुसार, भूगोल की जानकारी के बिना राजनीति के ज्ञान की वृद्धि संभव नहीं है। **बोदाँ** पहला आधुनिक राजनीतिक दार्शनिक है, जिसने राजनीति और भूगोल के घनिष्ठ संबंध की चर्चा की है। महान दार्शनिक **रूसो** के विचार से, गरम जलवायु निरंकुश शासन के लिए, ठंढी जलवायु बर्बरता के लिए और समशीतोष्ण जलवायु श्रेष्ठ प्रजातंत्रात्मक शासन-पद्धति के अनुकूल होती है। अँगरेज विद्वान **टॉमस बक्ल** (Thomas Buckle) के अनुसार, "मनुष्य के सारे कर्म भौगोलिक दशाओं से निश्चित होते हैं।" फ्रांसीसी विद्वान **मांटेस्क्यू** के अनुसार, "सरकार के रूपों में जनता की स्वतंत्रता भौगोलिक वातावरण से प्रभावित होती है।" **नेपोलियन** ने एक बार कहा था, "किसी देश की विदेश-नीति उसके भूगोल द्वारा निर्धारित होती है।" इस प्रकार, भूगोल और राजनीतिशास्त्र में घनिष्ठ संबंध है; क्योंकि आज अमेरिका, इंगलैंड और सोवियत रूस अपनी भौगोलिक स्थिति से ही विश्व की महान शक्तियों में गिने जाते हैं। स्विट्जरलैंड में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की सफलता उस देश की भौगोलिक स्थिति की ही देन है।

राजनीतिशास्त्र और भूगोल में अंतर (Distinction between political science and geography)—उपर्युक्त तथ्यों से यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि राजनीति-विज्ञान भूगोल का दास है। आज जब हम 21वीं शताब्दी के प्रवेश-द्वार पर खड़े हैं, मानव प्रकृति का गुलाम नहीं रह सकता। आज का युग विज्ञान का है। वैज्ञानिक प्रगति ने मनुष्य को प्रकृति पर विजय दी है। आज मानव चाँद पर पहुँच गया है और मंगल ग्रह (Mars) तक पहुँचने की बात सोच रहा है। इसलिए हम नहीं कह सकते कि आज राजनीति-

1. "The difference between Politics and Ethics is one of quantity and not of quality because Politics is but Ethics writ large."—IVOR BROWN

2. "Politics divorced from Ethics rests on a foundation of shifting sand, and Ethics divorced from Politics is narrow and abstract."

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

विज्ञान भूगोल पर आधृत है। दूसरी बात यह है कि राजनीतिशास्त्र के अनेक विद्वानों ने विश्व की प्रमुख शासन-प्रणालियों का संबंध वहाँ की जलवायु से जोड़ा है—जिसे हम स्वीकार नहीं कर सकते। आधुनिक युग में यह देखने को मिलता है कि विपरीत भौगोलिक परिस्थितियों और जलवायुवाले देशों में भी लोकतंत्र सफल हो रहा है। अपनी विषय-सामग्री की दृष्टि से भी दोनों शास्त्रों में अंतर है। जहाँ राजनीतिशास्त्र एक मानवीय शास्त्र कहलाता है, वहाँ भूगोल को लोग भौतिकशास्त्र से संबद्ध करते हैं। एक **अन्य अंतर** यह भी है कि जहाँ राजनीतिशास्त्र एक अनिश्चित और आदर्शपरक विज्ञान है, वहाँ भूगोल एक निश्चित और तथ्यगत विज्ञान।

राजनीतिशास्त्र और विधिशास्त्र (Political Science and Jurisprudence)

विधिशास्त्र विधि या कानून से संबद्ध है। विधि मनुष्य के बाह्य कार्यों के सामान्य नियमों से संबद्ध है, जिन्हें राज्य लागू करता है। राज्य की प्रमुख जिम्मेवारी विधियों का निर्माण और उन्हें लागू करना है। अतएव, विधिशास्त्र राजनीतिशास्त्र का एक प्रमुख अंग है।

राजनीतिशास्त्र और विधिशास्त्र में घनिष्ठ संबंध—राजनीतिशास्त्र और विधिशास्त्र में अटूट संबंध है; क्योंकि राज्य मूलतः एक वैधानिक संस्था है। वैधानिक दृष्टि से राज्य को 'अधिकारों और कर्तव्यों का समूह' कहा जाता है। कानून के बिना हम राज्य की कल्पना नहीं कर सकते। राज्य के सारे नागरिकों को कानून का पालन करना पड़ता है। परिणामस्वरूप, राजनीतिशास्त्र और कानून तथा विधि में घनिष्ठ संबंध है। कानून के ज्ञान के बिना राजनीतिशास्त्र निरुपयोगी है। विधिशास्त्र भी राजनीतिशास्त्र पर आश्रित है; क्योंकि विधियों को लागू करना और उन्हें निश्चित रूप देना राज्य का दायित्व है। वैसे तो विधिशास्त्र ने आज एक स्वतंत्र विषय का रूप धारण कर लिया है, लेकिन विधियों का निर्माण तो राज्य ही करता है। अतः, राजनीतिशास्त्र और विधिशास्त्र में घनिष्ठ संबंध है।

राजनीतिशास्त्र और विधिशास्त्र में अंतर (Distinction between political science and jurisprudence)—राजनीतिशास्त्र और विधिशास्त्र में निकटतम संबंध होते हुए भी दोनों में निम्नलिखित मौलिक अंतर हैं—

(क) जहाँ राजनीतिशास्त्र संपूर्ण राज्य का अध्ययन करता है वहाँ विधिशास्त्र के अध्ययन का विषय केवल राज्य के कानून हैं। इस प्रकार, विधिशास्त्र का क्षेत्र संकुचित है, लेकिन राजनीतिशास्त्र का व्यापक।

(ख) उद्देश्य की दृष्टि से भी राजनीतिशास्त्र और विधिशास्त्र में अंतर है, जहाँ विधिशास्त्र किसी समस्या का अध्ययन केवल आदर्श के रूप में करता है, वहाँ राजनीतिशास्त्र में उसी समस्या का अध्ययन आदर्शमय तथा वर्णनात्मक तरीके से होता है।

राजनीतिशास्त्र और दर्शनशास्त्र (Political Science and Philosophy)

दर्शनशास्त्र आध्यात्मिक विद्या से संबद्ध है। वह संपूर्ण विश्व को समझने और उसकी व्याख्या करने का एक प्रयास है। वैसे तो दर्शनशास्त्र की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं, लेकिन संक्षेप में हम कह सकते हैं—"अनवरत तथा प्रयत्नशील चिंतन के आधार पर विश्व की समस्त अनुभूतियों की भौतिक व्याख्या तथा उनके मूल्यांकन का प्रयास ही दर्शन है।"

राजनीतिशास्त्र और दर्शनशास्त्र में अन्योन्याश्रय संबंध (Interdependence between political science and philosophy)—चूँकि दर्शनशास्त्र संपूर्ण विश्व का अध्ययन करता है और राज्य संपूर्ण विश्व का एक अंग है, जो राजनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है, इसलिए राजनीतिशास्त्र दर्शनशास्त्र का ही अंग है। राज्य से संबद्ध अनेक बातों का आधार दार्शनिक है। उदाहरण के लिए, राज्य-उत्पत्ति का सिद्धांत और राज्य के उद्देश्य इत्यादि बातों का संबंध दर्शनशास्त्र से है। **प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, लॉक, हीगेल, ग्रीन, मार्क्स** इत्यादि राजनीतिशास्त्रियों ने विभिन्न संस्थाओं और राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन दर्शन के आधार पर किया है। **गिलक्राइस्ट** नामक विद्वान के अनुसार—"राजनीतिक दर्शन का जन्म राजनीतिशास्त्र से बहुत पहले हुआ; क्योंकि राजनीतिक दर्शन की मूल बातों पर राजनीतिशास्त्र आधृत है।"[1] इस प्रकार, दोनों शास्त्रों में घनिष्ठ संबंध है।

1. "Political Philosophy in a sense is prior to Political Science, since the fundamental assumptions of the former are the bases of the latter."—GILCHRIST

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

राजनीतिशास्त्र और दर्शनशास्त्र में अंतर (Distinction between political science and philosophy) —उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि राजनीतिशास्त्र दर्शनशास्त्र का ही एक अंग है और इसे दर्शनशास्त्र से अलग नहीं किया जा सकता, लेकिन दोनों में निम्नलिखित मौलिक अंतर भी हैं—

(क) जहाँ दर्शनशास्त्र का संबंध सिर्फ सैद्धांतिक बातों और नियमों से है, वहाँ राजनीतिशास्त्र में सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों बातें शामिल हैं।

(ख) जहाँ दर्शनशास्त्र संपूर्ण विश्व से संबद्ध है, वहाँ राजनीतिशास्त्र का संबंध केवल राज्य तक ही सीमित है। अर्थात, दर्शनशास्त्र का क्षेत्र व्यापक है, तो राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र संकुचित। जहाँ सारा ब्रह्मांड ही दर्शन का कार्यक्षेत्र है, वहाँ राजनीतिशास्त्र मुख्यतः राज्य तक ही सीमित रहता है।

राजनीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र (Political Science and Religion)

धर्मशास्त्र में व्यक्ति के नैतिक जीवन को ऊँचा उठाने और उसके जीवन को सुखी और शांतिमय बनाने का प्रयास किया जाता है। चूँकि राजनीतिशास्त्र भी व्यक्ति के जीवन को सुखी बनाए रखना चाहता है, इसलिए दोनों में पारस्परिक संबंध है। धर्म की तरह राजनीतिशास्त्र का उद्देश्य भी मानव-जीवन को खुशहाल रखना है। प्राचीन भारतीय विद्वान **कौटिल्य** के विचारानुसार, "राजा का कर्तव्य है कि वह अपनी प्रजा को अपने धर्म में स्थिर रखे।" इसलिए, 'स्वधर्म' के आधार पर आदर्श राज्य की स्थापना करने का प्रयास न केवल 'गीता' में हुआ है, वरन प्राचीन यूनानी विचारकों ने भी राजनीति को धर्म से अलग नहीं किया है। अतः, मोटे तौर पर हम स्वीकार कर सकते हैं कि दोनों शास्त्रों में घनिष्ठ संबंध है। उदाहरण के लिए, राजनीतिशास्त्र में हम राज्य का अध्ययन करते हैं और उसकी उत्पत्ति में धर्म को उत्तरदायी मानते हैं।

राजनीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र में अंतर (Distinction between political science and religion)— उपर्युक्त संबंधों के बावजूद राजनीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र में निम्नलिखित मौलिक अंतर भी हैं—

(क) जहाँ राजनीतिशास्त्र का संबंध मनुष्य के राजनीतिक जीवन से है, वहाँ धर्मशास्त्र का संबंध मानव के वैयक्तिक जीवन से।

(ख) जहाँ राजनीतिशास्त्र मनुष्य के आंतरिक मनोभाव और बाह्य आचरण दोनों का अध्ययन करता है, वहाँ धर्मशास्त्र मनुष्य के केवल आंतरिक आचरण से संबद्ध है।

(ग) जहाँ राजनीतिशास्त्र राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन करता है, वहाँ धर्मशास्त्र आत्मा और परमात्मा से संबद्ध है।

(घ) जहाँ राजनीतिशास्त्र का संबंध मनुष्य के लौकिक जीवन से है, वहाँ धर्मशास्त्र का संबंध मानव-मृत्यु के बादवाले, अर्थात पारलौकिक जीवन से भी है।

राजनीतिशास्त्र और नागरिकशास्त्र (Political Science and Civics)

नागरिकशास्त्र का संबंध नागरिक जीवन की समस्याओं से है। यह मनुष्य के सामाजिक जीवन की उन अवस्थाओं का ज्ञान कराता है, जिनसे वह समाज में सर्वोत्तम, सुखी और समृद्ध जीवन व्यतीत कर सके। इस प्रकार, नागरिकशास्त्र हमारे जीवन के उन मौलिक प्रश्नों से संबद्ध है, जिनपर मानव की सामाजिक उन्नति और शांति निर्भर करती है। राजनीतिशास्त्र और नागरिकशास्त्र में पारस्परिक संबंध है। यह बात सही है कि राजनीतिशास्त्र का जितना निकट का संबंध नागरिकशास्त्र से है, उतना किसी अन्य सामाजिक शास्त्र से नहीं है। सचमुच ये दोनों शास्त्र एक ही वृक्ष की दो शाखाएँ हैं। नागरिकशास्त्र की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'सिविटास' *(civitas)* शब्द से हुई है और राजनीतिशास्त्र की उत्पत्ति यूनानी भाषा के 'पॉलिस' *(Polis)* शब्द से। इन दो लैटिन शब्दों का एक ही अर्थ अर्थात, 'नगर-राज्य' होता है। इसलिए व्युत्पत्ति की दृष्टि से दोनों शास्त्रों में घनिष्ठ संबंध है। दोनों की विषय-वस्तु में काफी समानताएँ हैं। दोनों ही मानव-अधिकारों और कर्तव्यों के साथ-साथ राज्य की उत्पत्ति, विकास, संगठन, उद्देश्य एवं कार्य का भी अध्ययन करते हैं। इसीलिए **बेनी प्रसाद** ने लिखा है, "नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में केवल उच्चारण के महत्त्व का अंतर है।"[1]

1. "The difference between Civics and Politics is one of the accent emphasis rather than subject-matter." —BENI PRASAD

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

राजनीतिशास्त्र और नागरिकशास्त्र में अंतर (Distinction between political science and civics)—उपर्युक्त दोनों शास्त्रों में घनिष्ठ संबंध के बावजूद दोनों में निम्नलिखित अंतर भी हैं—

(क) जहाँ राजनीतिशास्त्र मनुष्य के राजनीतिक अधिकारों और कर्तव्यों की ओर ही लोगों का ध्यान आकृष्ट करता है, वहाँ नागरिकशास्त्र मनुष्य के पारिवारिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राष्ट्रीय अधिकारों और कर्तव्यों का भी बोध कराता है। राजनीतिशास्त्र की तुलना में नागरिकशास्त्र नागरिक-कर्तव्यों पर अधिक बल देता है।

(ख) नागरिकशास्त्र में राजनीतिशास्त्र की अपेक्षा अच्छे-बुरे या नैतिक-अनैतिक भावनाओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

(ग) राजनीतिशास्त्र की अपेक्षा नागरिकशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक है; क्योंकि राजनीतिशास्त्र में राष्ट्रीय जीवन तथा एक राज्य के दूसरे राज्य से संबंध की विवेचना की जाती है। इसके विपरीत, नागरिकशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन के साथ-साथ राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय संबंधों की भी विवेचना करता है।

राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र (Political Science and Sociology)

समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र से ही अन्य सामाजिक शास्त्रों की उत्पत्ति हुई है, अर्थात समाजशास्त्र एक सामान्य सामाजिक विज्ञान है, जिसमें सामाजिक जीवन के सभी मौलिक तथ्यों का अध्ययन होता है। यह मनुष्य के क्रमिक विकास से संबद्ध है। **गार्नर** ने कहा है, "समाजशास्त्र समाज का शास्त्रीय विधि से अध्ययन करते हुए सामाजिक जीवन के मौलिक तत्त्वों पर प्रकाश डालता है।" **गिलक्राइस्ट** के शब्दों में, "समाजशास्त्र समाज की आधारभूत घटनाओं का अध्ययन करता है।"[1] इस प्रकार, समाजशास्त्र समाज की उत्पत्ति, विकास तथा मानवीय आचरण की सामाजिकता इत्यादि पर विचार करता है। सामाजिक जीवन के सारे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक पहलू समाजशास्त्र के अंतर्गत आ जाते हैं।

राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में अन्योन्याश्रय संबंध (Interdependence between political science and sociology)—राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र एक-दूसरे के पूरक हैं। समाजशास्त्र के अंतर्गत मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन होता है, जिनमें राजनीतिक पहलू भी एक है। इस राजनीतिक पहलू के संबंध में राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र को तथ्य प्रदान करता है। दूसरी तरफ, समाजशास्त्र भी राजनीतिशास्त्र पर आश्रित है। समाजशास्त्र ही राजनीतिशास्त्र को सामाजिक संगठन, उसके विकास के नियम आदि का ज्ञान कराता है। समाजशास्त्र के अध्ययन से ही राजनीतिशास्त्र को यह जानकारी होती है कि विभिन्न सामाजिक संघों और समुदायों की उत्पत्ति कैसे हुई है और समाजशास्त्र के ज्ञान के बिना राजनीतिशास्त्र का ज्ञान अधूरा है। इसीलिए **गिडिंग्स** ने लिखा है, "समाजशास्त्र के मौलिक सिद्धांतों से अनभिज्ञ व्यक्ति को राज्य-विज्ञान पढ़ाना वैसा ही है, जैसाकि न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण-सिद्धांत से अपरिचित व्यक्ति को खगोल-विद्या या तापगति पढ़ाना।"[2] इस प्रकार, दोनों शास्त्रों में इतना गहरा संबंध है कि एक के बिना दूसरे का काम नहीं चल सकता। इसीलिए कहा गया है कि एक राजनीतिशास्त्री को समाजशास्त्री होना चाहिए और एक समाजशास्त्री को राजनीतिशास्त्री। **गार्नर** ने दोनों शास्त्रों के पारस्परिक संबंधों की चर्चा करते हुए लिखा है, "राजनीति सामाजिकता में गड़ी हुई है और यदि राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र से भिन्न रह जाता है, तो इसका कारण विशेषज्ञ के लिए क्षेत्र का विस्तार होगा, न कि समाजशास्त्र को पृथक करने की कोई निश्चित सीमा।"[3]

राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में अंतर (Distinction between political science and sociology)—राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में घनिष्ठ संबंध होते हुए निम्नलिखित अंतर भी हैं—

---

1. "Sociology deals with the fundamental facts of social life."—GILCHRIST
2. "To teach the theory of state to men who have not learnt the first principle of Sociology, is like teaching Astronomy or Thermodynamics to men who have not learnt the Newtonian laws of Gravitation."
—GIDDINGS
3. "Politics is embedded in sociality and if Political Science remains distinct from Sociology, it will be because the breadth of the field calls for the specialist and not because there are any well defined boundaries marking it off from Sociology."—GARNER

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(क) प्राचीनता के दृष्टिकोण से अंतर (Distinction from anciently point of view)—समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र से अधिक प्राचीन है; क्योंकि इसके अंतर्गत संगठित या असंगठित समुदायों तथा चेतन या अचेतन सभी प्रकार के कार्यों का अध्ययन किया जाता है, लेकिन राजनीतिशास्त्र में केवल राजनीतिक रूप से संगठित तथा चेतनशील समाज पर ही विचार किया जाता है। राजनीतिशास्त्र का प्रारंभ इस आधार पर होता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है; लेकिन समाजशास्त्र बताता है कि मनुष्य कैसे सामाजिक प्राणी बना।

(ख) वैधानिक दृष्टिकोण से अंतर (Distinction from legal point of view)—जहाँ राजनीतिशास्त्र केवल राज्य-निर्मित विधियों का अध्ययन करता है, वहाँ समाजशास्त्र विधियों के अलावा विभिन्न धार्मिक प्रथाओं, परंपराओं तथा सामाजिक आचारों का भी अध्ययन करता है।

(ग) उद्देश्य की दृष्टि से अंतर (Distinction from objective point of view)—जहाँ समाजशास्त्र का संबंध ठोस तथ्यों से है, वहाँ राजनीतिशास्त्र का संबंध आदर्शों से। 'क्या हो रहा है' से समाजशास्त्र संबद्ध है, लेकिन 'राज्य को कैसा होना चाहिए' से राजनीतिशास्त्र संबद्ध है।

(घ) विवेचना-पद्धति की दृष्टि से अंतर (Distinction from analytical point of view)—जहाँ समाजशास्त्र एक वर्णनात्मक विज्ञान (descriptive science) है, वहाँ राजनीतिशास्त्र एक आदर्शपरक विज्ञान (normative science)। समाजशास्त्र विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के भूत तथा वर्तमान का अध्ययन करता है जबकि राजनीतिशास्त्र राज्य के भूत तथा वर्तमान के अलावा उसके आदर्श, ध्येय तथा भावी स्वरूप की भी विवेचना करता है।

(ङ) मानवीय रूप की दृष्टि से अंतर—जहाँ राजनीतिशास्त्र मनुष्य का अध्ययन सिर्फ एक नागरिक के रूप में करता है, वहाँ समाजशास्त्र मनुष्य का अध्ययन नागरिक, पड़ोसी, समाजसेवी, आर्थिक-धार्मिक प्राणी इत्यादि के रूप में भी करता है।

राजनीतिशास्त्र और लोक-प्रशासन (Political Science and Public Administration)

राजनीति-विज्ञान तथा लोक-प्रशासन के संबंध में इस विषय के विद्वानों में मत-वैभिन्य है। कुछ लोगों की राय में ये दोनों विषय ज्ञान की दो अलग-अलग शाखाएँ हैं, जबकि कुछ अन्य लोगों का कहना है कि दोनों विषयों में कोई अंतर नहीं है। इन दोनों दृष्टिकोणों का अध्ययन हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

लोक-प्रशासन और राजनीतिशास्त्र में पृथकता है—प्रारंभ में लोक-प्रशासन राजनीतिशास्त्र की एक शाखा के रूप में था। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में अमेरिकी विश्वविद्यालयों में लोक-प्रशासन को राजनीतिशास्त्र से अलग अस्तित्व प्रदान करने का आंदोलन प्रारंभ हुआ। इस दृष्टि से अनेक लेखकों ने राजनीतिशास्त्र तथा लोक-प्रशासन के भेदों पर विशेष रूप से जोर दिया और उसे राजनीतिशास्त्र से पृथक अनुशासन की श्रेणी में रखना चाहा। उनके अनुसार, राजनीति का संबंध नीति-निर्धारण से है, जबकि प्रशासन का कार्य उन नीतियों को कुशलता तथा मितव्ययिता के साथ क्रियान्वयन करना है। **वुडरो विल्सन** ने कहा है, "प्रशासन राजनीति की परिधि के बाहर है, प्रशासकीय समस्याएँ राजनीतिक समस्याएँ नहीं हैं। यद्यपि राजनीति प्रशासन के लिए कार्य निर्धारित करती है, तथापि उसे प्रशासकीय पदों के साथ तिकड़म करने की स्वीकृति नहीं मिलनी चाहिए।"[1]

लोक-प्रशासन और राजनीति में कोई अंतर्भेद नहीं—उपर्युक्त विचारधारा में आज विश्वास नहीं किया जाता। विद्वानों की राय में प्रशासन कभी राजनीति से अलग नहीं हो सकता। प्रशासन का आधार देश की राजनीतिक व्यवस्था है। किसी भी देश की प्रशासनिक स्थिति के समुचित ज्ञान के लिए देश की राजनीतिक व्यवस्था का ज्ञान आवश्यक है। यदि प्रशासन राजनीति से अलग हो जाए, तो लोक-कर्मचारी प्रतिनिधि संस्थाओं के प्रति विरोधी दृष्टिकोण अपना लेंगे। इसीलिए आज दोनों विषयों की निकटता पर पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है। **डोनाल्ड** के शब्दों में, "प्रशासन राजनीति की एक शाखा है।"[2]

संबंध—उपर्युक्त दोनों विचारधाराएँ परस्पर-विरोधी हैं। दोनों में किसी भी एक को पूर्णतः सही नहीं माना जा सकता। लोक-प्रशासन तथा राजनीति ज्ञान की दो पृथक शाखाएँ हैं, फिर भी ये दोनों एक-दूसरे पर

1. "Administration lies outside the proper sphere of Politics. Administrative questions are not Political questions. Although Politics sets the tasks for administration, it should not be suffered to manipulate its office."—WOODROW WILSON

2. "Administration is a branch of Politics."—DONALD KINGSLEY

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

आश्रित हैं। राजनीतिशास्त्र कार्यनीति का निर्धारण करता है, लेकिन नीतियों के निर्माण पर प्रशासन का अत्यधिक अप्रत्यक्ष प्रभाव रहता है। इसके साथ ही प्रशासकों को राजनेताओं की नीतियों को लागू करना पड़ता है। इन दोनों विषयों के उद्देश्यों में भी समानता है, क्योंकि प्रशासन तथा राज्य के अंतिम ध्येय एक ही हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)—राजनीतिशास्त्र के अन्य सामाजिक शास्त्रों से संबंध के पक्ष-विपक्ष में जो उपर्युक्त तर्क दिए गए हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि राजनीतिशास्त्र के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन में विभिन्न सामाजिक शास्त्रों का योगदान रहा है। आज राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत जो विभिन्न मान्यताएँ हैं, उनका अध्ययन विभिन्न शास्त्रों की सहायता के बिना संभव नहीं है। आज के राजनीतिशास्त्री को सफल होने के लिए केवल राजनीति के अंतर्गत अपने को सीमित नहीं रखना है; वरन उसे इतिहास, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, भूगोल, जनसंख्या-विज्ञान, मानव-विज्ञान, जीवविज्ञान, मानवजाति-विज्ञान इत्यादि विषयों में भी पारंगत होना चाहिए। इस प्रकार, राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का दृष्टिकोण आज अंतर-अनुशासनात्मक (inter-disciplinary) हो गया है।

प्रश्नावली

1. अंतर-अनुशासनात्मक पद्धति क्या है ? इसकी उत्पत्ति का वर्णन कीजिए।
   (What is Inter-disciplinary Approach ? Describe its Genesis.)
2. अंतर-अनुशासनात्मक पद्धति की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
   (Discuss the characteristics of the Inter-disciplinary Approach.)
3. राजनीतिशास्त्र का इतिहास और अर्थशास्त्र के साथ संबंध की विवेचना करें।
   (Discuss the relation of Political Science with History and Economics.)
4. "राजनीतिशास्त्र के बिना इतिहास एक ऐसे वृक्ष के समान है जिसमें कोई फल नहीं लगता और इतिहास के बिना राजनीतिशास्त्र एक जड़रहित वृक्ष के सदृश है।" व्याख्या करें।
   ('Politics without History has no root; History without Politics has no fruit." Explain.)
5. इतिहास, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, नागरिकशास्त्र और धर्मशास्त्र के साथ राजनीतिशास्त्र के संबंध की विवेचना करें।
   (Discuss the relation of Political Science with History, Ethics, Sociology, Psychology, Civics and Religion.)
6. राजनीतिशास्त्र के लिए इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र की उपयोगिता पर विचार करें।
   (Discuss the importance of History, Geography, Sociology, Psychology, Philosophy, Religion and Ethics for Political Science.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 6

राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की प्रमुख प्रणालियाँ
[PRINCIPAL METHODS OF THE STUDY OF POLITICAL SCIENCE]

जीव-विज्ञान के लिए जो महत्त्व अनुवीक्षण-यंत्र का है, खगोलशास्त्र के लिए जो उपयोग दूरदर्शक-यंत्र का है, वही उपयोग और महत्त्व सामाजिक विज्ञानों के लिए वैज्ञानिक पद्धति का है।

विषय-प्रवेश (Introduction)

राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धांतों, विभिन्न मान्यताओं और पहलुओं को भलीभाँति समझने के लिए राजनीतिशास्त्र का वैज्ञानिक तथा सुनियोजित अध्ययन आवश्यक है। आधुनिक युग में राजनीतिशास्त्र के विषय-क्षेत्र का काफी विस्तार हुआ है। इसके अंतर्गत नए-नए विषय तथा नए-नए आयामों का अध्ययन किया जा रहा है। आज राजनीतिशास्त्र के लिए अध्ययन की पद्धतियों का महत्त्व इसलिए बढ़ जाता है, क्योंकि यह चेतनशील मनुष्यों का अध्ययन करता है। इसकी विभिन्न प्रणालियों के अध्ययन के बिना हम सही सिद्धांतों का निर्धारण नहीं कर सकते। समाज-विज्ञान के अध्ययन के लिए राजनीतिशास्त्र की विभिन्न अध्ययन-प्रणालियों पर प्रकाश डालते हुए ठीक ही कहा गया है, "जीवविज्ञान के लिए जो महत्त्व अनुवीक्षण-यंत्र का है, खगोलशास्त्र के लिए जो उपयोग दूरदर्शक यंत्र का है, वही उपयोग और महत्त्व सामाजिक विज्ञानों के लिए वैज्ञानिक पद्धति का है।" राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-प्रणालियाँ प्राकृतिक विज्ञानों की अध्ययन-प्रणालियों से भिन्न हैं, क्योंकि प्राकृतिक विज्ञानों की तरह राजनीतिशास्त्र एक सुनिश्चित विज्ञान नहीं है। अतएव, राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-प्रणालियों में भी अनिश्चितता रहती है।

अध्ययन-प्रणालियों की कठिनाइयाँ तथा अनिश्चितताएँ (Difficulties and uncertainties in the methods of political science)—एक राजनीतिशास्त्री जब वैज्ञानिक प्रणालियाँ अपनाता है तो उसे निम्नलिखित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है—

1. भौतिकशास्त्र और रसायनशास्त्र की तरह राजनीतिशास्त्र के अनुसंधान के तत्त्व एक ही समय और एक साथ समान नहीं हो सकते।

2. राजनीतिशास्त्र के छात्र को सिर्फ अपने सजग मस्तिष्क, प्रतिभा और पर्यवेक्षण की क्षमता पर ही आश्रित रहना पड़ता है।

3. रसायनशास्त्र की तरह राजनीतिशास्त्र में प्रयोग को दुहराया नहीं जा सकता।

4. भौतिक-विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों के अर्थ और अभिप्राय निश्चित हैं, लेकिन राजनीतिशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का संबंध व्यवहार और भावनाओं से होता है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के चलते राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-पद्धति में भ्रम की सम्भावना बढ़ जाती है, क्योंकि इसका परिणाम अनिश्चित होता है। इसलिए राजनीतिशास्त्र को एक ऐसी पद्धति की आवश्यकता है जिससे उसका वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सके।

अध्ययन की विभिन्न पद्धतियाँ
(Different Methods of Study)

राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए सामान्य रूप से स्वीकृत अग्रलिखित अध्ययन-पद्धतियाँ हैं—

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental method)—राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में इस पद्धति का सहारा लिया जाता है। लेकिन, भौतिक विज्ञानों की तरह राजनीतिशास्त्र में प्रयोग नहीं किए जा सकते। **लेविस** ने इस संबंध में कहा है, "हम राजनीति में वैसा नहीं कर सकते जैसाकि रसायनशास्त्र में एक अन्वेषक प्रयोग करते समय करता है।"[1] उन्होंने पुनः कहा है कि हम समाज के अंश को अपने हाथ में किसी प्रकार नहीं ले सकते। लेकिन, इसका यह अर्थ नहीं कि राजनीतिशास्त्र में प्रयोग हो ही नहीं सकते। मानव-जाति का इतिहास ही राजनीतिशास्त्र की एक महान प्रयोगशाला है।

जब राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्रांतियाँ होती हैं तब विभिन्न राज्यों की प्रशासनिक क्रियाएँ राजनीतिशास्त्रियों के लिए प्रयोगशाला का काम करती हैं। **कॉम्टे** (Compte) ने कहा है, "जब कभी राज्य के जीवन में परिवर्तन होता है, तो वह एक प्रयोग का रूप होता है।"[2] **मेरियम** के अनुसार, "राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत प्रयोग का व्यापक क्षेत्र विद्यमान है।" परिणामस्वरूप, राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत भी भौतिक तथा रसायन विज्ञानों की तरह प्रयोग होते हैं, भले ही उनका रूप इतना विशुद्ध न हो जितना भौतिकविज्ञान के प्रयोगों का होता है। यही कारण है कि राजनीति-विज्ञान के अध्ययन के लिए प्रयोगात्मक पद्धति का सहारा लिया जाता है।

2. ऐतिहासिक पद्धति (Historical method)—यह पद्धति प्रयोगात्मक पद्धति का एक भिन्न रूप है, क्योंकि इतिहास राजनीतिशास्त्र की प्रयोगशाला है। किसी भी चीज का स्पष्ट और समग्र ज्ञान ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही अच्छी तरह हो सकता है। राज्य या समाज का प्रारंभिक स्वरूप क्या था और उसका विकास किस प्रकार और किन परिस्थितियों में हुआ—ये सारी बातें इतिहास द्वारा ही उपलब्ध हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, भारत की वर्तमान शासन-व्यवस्था की सही झलक भारत के राष्ट्रीय आंदोलन और उसके सांविधानिक विकास में ही संभव है। **फ्रेडरिक पोलॉक** ने कहा है, "ऐतिहासिक पद्धति इस बात की व्याख्या करती है कि संस्थाएँ क्या हैं, इसके पूर्व किन रूपों में थीं तथा अपने वर्तमान रूप में कैसे आई हैं।"[3] **लॉस्की** का कहना है, "राज्यों के इतिहास से उपलब्ध अनुभवों को संहिताबद्ध करना ही राजनीतिशास्त्र का मुख्य विषय है।"[4] अतः, स्पष्ट है कि ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा ही राज्य, समाज तथा अन्य सुविधाओं के उद्भव तथा विकास आदि के संबंध में तथ्य एवं आँकड़े उपलब्ध कर उनके आधार पर निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

पक्ष में तर्क—ऐतिहासिक पद्धति के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं—

1. अन्य विज्ञानों की तरह ऐतिहासिक पद्धति राजनीतिशास्त्र की प्रयोगशाला है। उदाहरण के लिए, प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध की उत्पत्ति के जिम्मेवार कारण आज भी उत्पन्न हो जाएँ तो तृतीय विश्वयुद्ध हो सकता है। राजनीतिशास्त्र ऐतिहासिक पद्धति-रूपी प्रयोगशाला में उन कारणों की खोज करता है।

2. ऐतिहासिक पद्धति-रूपी प्रयोगशाला में पाए गए निष्कर्षों के आधार पर हम सचेत और भविष्य के प्रति सजग हो जाते हैं। हम उन कारणों को पुनः नहीं आने देना चाहते जिनसे प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध हो चुके हैं। यह राजनीतिशास्त्र की ऐतिहासिक प्रयोगशाला की ही देन है कि अभी तक तृतीय विश्वयुद्ध को हम नहीं होने दिए हैं।

3. ऐतिहासिक पद्धति हमारी संस्कृति और परंपराओं की धरोहर है। यह किसी देश और राष्ट्र के सामने उसके इतिहास और संस्कृति को रखकर भटकते हुए राष्ट्र की रक्षा कर लेती है। यह इतिहास के महापुरुषों की कुर्बानियों की याद आनेवाली मानव-पीढ़ी को देती रहती है।

4. यह पद्धति राज्य और अन्य संस्थाओं की प्रारंभिक स्थिति की जानकारी देती है और बताती है कि आज की संस्थाएँ अपनी प्रारंभिक स्थिति में कैसी थीं।

5. यह पद्धति मानव-विकास के इतिहास को भी हमारे सामने रखती है और इससे हमें यह जानकारी मिलती है कि प्रारंभिक समाज में मानव-रूप कैसा था।

---

1. "We cannot do in politics what experiment does in chemistry."—LEWIS
2. "Political experimentation really takes place, whenever the regular course of state life undergoes conscious or unconscious change."—COMPTE
3. "The historical method seeks an explanation of what institutions are and are tending to be, more in the knowledge of what they have been and how they come to be and what they are, than in the analysis of them as they stand."—POLLOCK
4. "The study of politics must be an effort to modify the results of experience in the history of states."—LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

विपक्ष में तर्क—ऐतिहासिक पद्धति के उपर्युक्त तथ्यों के बावजूद इसकी आलोचनाएँ भी की गयी हैं। **सिजविक** ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि इस पद्धति पर हम पूर्ण भरोसा नहीं कर सकते हैं। इसके विपक्ष में दिए गए तर्कों को हम निम्नलिखित रूपों में रख सकते हैं—

1. अन्य विज्ञानों, जैसे जीवविज्ञान तथा भौतिकविज्ञान आदि की तरह ऐतिहासिक पद्धति सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचती, क्योंकि इन विज्ञानों की तरह यह ठोस और विश्वसनीय आँकड़े प्रस्तुत नहीं करती। विज्ञान में H_2O के संयोग से जल बनता है, लेकिन ऐतिहासिक पद्धति में ऐसा ठोस निष्कर्ष कभी भी नहीं मिल सकता है।

2. **लॉस्की** ने कहा है कि राज्यों के इतिहास से उपलब्ध अनुभवों को संहिताबद्ध करना राजनीतिशास्त्र का मुख्य विषय है, लेकिन प्रश्न है कि उपलब्ध अनुभवों को संहिताबद्ध कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि बीती हुई घटनाओं के मापने के सही साधनों का विकास अभी तक नहीं हो पाया है।

3. ऐतिहासिक पद्धति का आधार पुस्तकालय तथा संग्रहालय है; लेकिन, यदि पुस्तकों में तोड़-मरोड़ है तो हम उनपर विश्वास कैसे कर सकते हैं ? इसीलिए, आज नए सिरे से विश्व-इतिहास के लिखने की बात चल पड़ी है।

4. कभी-कभी ऐतिहासिक अनुभवों के आधार पर आज जो प्रयोग हुए हैं, उनका विपरीत प्रभाव पड़ा है। ऐसे प्रभावों से गुमराह हो जाने की अधिक संभावनाएँ हैं। **लॉवेल** ने कहा भी है, "राजनीतिशास्त्र एक पर्यवेक्षणात्मक विज्ञान है, न कि प्रयोगात्मक विज्ञान।"

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद राजनीतिशास्त्र की ऐतिहासिक पद्धति की अपनी देन है। **फ्रेडरिक पोलॉक** ने यह सही कहा है कि ऐतिहासिक पद्धति ही इस बात की व्याख्या कर सकती है कि पूर्व की संस्थाएँ अपने वर्तमान रूप में कैसे आई हैं। इसके साथ ही, इस पद्धति से जन-जीवन को उसके गौरवमय इतिहास की याद दिलाकर एक सूत्र में बाँधा जा सकता है।

3. **दार्शनिक पद्धति** (Philosophical method)—दार्शनिक पद्धति को निगमनात्मक या आदर्शमूलक पद्धति भी कहा जाता है। इसके अंतर्गत अध्ययनकर्ता पूर्वकल्पित मान्यताओं तथा सत्यों के आधार पर ही राजनीतिक समस्याओं के संबंध में खोज एवं अध्ययन करता है। **प्लेटो, रूसो, मिल, हीगेल, सिजविक** इत्यादि विद्वानों ने इस पद्धति का समर्थन किया है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक **रिपब्लिक** *(The Republic)* में आदर्श राज्य की पूर्वकल्पित मान्यता को ध्यान में रखते हुए राजनीति के विभिन्न सिद्धांतों का विश्लेषण किया। जगत क्या है तथा इसके मूल में क्या है, ये दार्शनिक पद्धति की मुख्य समस्याएँ हैं। अद्वैतवादी (Monists) दार्शनिकों का विचार है कि जगत के मूल में केवल एक वस्तु या तत्त्व है और इस जगत में जो कुछ विविधता हम देखते हैं, वह उसी तत्त्व की अभिव्यक्तिमात्र है। दार्शनिकों का यह वर्ग, चूँकि, जगत के मूल में केवल एक तत्त्व मानता है, अतः उन्हें अद्वैतवादी कहा जाता है। लेकिन, जगत के मूल का वह तत्त्व क्या है, इसको लेकर अद्वैतवादियों में दो मत हो गए हैं—एक मत है कि जगत का वह मूल तत्त्व पदार्थ है, जो जड़ है। इस मत के समर्थकों को जड़ाद्वैतवादी (Materialistic Monists) कहते हैं। उनका पदार्थ-संबंधी ज्ञान प्राप्त करने का ढंग अनुभवात्मक तथा प्रयोगात्मक होता है तथा इनका तत्संबंधी ज्ञान अनुभवजन्य तथा प्रयोगजन्य होता है। दूसरा मत है कि जगत का यह मूल तत्त्व जड़ पदार्थ न होकर चेतन तत्त्व, अर्थात आत्मा है जिसकी अभिव्यक्ति हम जगत में अनेक नामों और रूपों में देखते हैं। इस मत के समर्थकों को चेतनाद्वैतवादी (Spiritual Monists) कहा जाता है। जगत के मूल में माने जानेवाले चेतन तत्त्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का दार्शनिकों के इस वर्ग का ढंग विचारवादी है और उनकी मान्यता है कि जगत-संबंधी सत्य को पूर्णतः विचार में ही जाना जा सकता है। उनके मतानुसार जो कुछ विचार हम सांसारिक वस्तुओं के अनुभव तथा उनके प्रयोग से प्राप्त करते हैं, वह अपूर्ण होता है, क्योंकि वह उन वस्तुओं के अनुभव और प्रयोग पर आधारित होता है जो स्वयं अपूर्ण है।

आलोचनाएँ—दार्शनिक पद्धति की आलोचनाएँ अनेक तथ्यों के आधार पर की गई हैं और बताया गया है कि इसका सबसे बड़ा दोष है कि यह वास्तविकता से बहुत दूर है। इसमें कपोल कल्पना का विशेष महत्त्व है। ऐतिहासिक कसौटी पर इस पद्धति को कसा नहीं जा सकता। इसलिए **लॉस्की** ने कहा है, "किसी तरह की पूर्व-सिद्धि आगे चलकर अवश्य ही समाप्त हो जाती है, क्योंकि उसका प्रारंभ ही स्पष्ट मस्तिष्क से नहीं होता।" इसके विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिए गए हैं—

1. चूँकि इसका मुख्य आधार बौद्धिकता है, इसलिए उनका राज्य-संबंधी समस्त निरूपण बौद्धिक तथा आध्यात्मिक है। लेकिन, मानव-व्यवहार को देखने से यह स्पष्ट है कि उसके कार्य अधिकतर बुद्धि द्वारा

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्रेरित न होकर राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह तथा लोभ आदि अबौद्धिक प्रवृत्तियों के द्वारा प्रेरित होते हैं। **ग्राहम वॉलास** ने इसका समर्थन किया है।

2. दार्शनिक पद्धति यह प्रतिपादित करती है कि सब व्यक्तियों की इच्छा राज्य के अंतर्गत होती है। हम इसे स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि व्यक्तियों की अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं का अस्तित्व अलग तथा राजकीय इच्छा का अस्तित्व अलग होता है।

3. यह विचारधारा राज्य और समाज को एक समझती है, जबकि वास्तविक रूप में राज्य समाज के अनेक समुदायों में से एक समुदाय मात्र है।

4. इस सिद्धांत के हिमायती राज्य के स्वरूप को नैतिक मानकर यह प्रतिपादित करते हैं कि राज्य व्यक्ति को नैतिक जीवन प्रदान करता है और यह निर्धारित करता है कि व्यक्ति की नैतिक दृष्टि से क्या कार्य तथा अकार्य है। लेकिन, वास्तविकता है कि राज्य केवल व्यक्ति के बाह्य कार्यों पर ही अंकुश रख सकता है। चूँकि नैतिकता व्यक्ति की आंतरिक वस्तु है, अतः राज्य उसको नियंत्रित या प्रभावित करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से कुछ भी नहीं कर सकता।

5. दार्शनिक सिद्धांत वैयक्तिक स्वतंत्रता का विरोधी है। यह मानता है कि व्यक्ति को राज्य की आज्ञाओं का पालन अवश्य करना चाहिए, लेकिन औचित्यपूर्ण यह है कि सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति को व्यक्तिगत विषयों में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो।

4. समाजशास्त्रीय पद्धति (Sociological method)—राजनीतिशास्त्र में **समाजशास्त्रीय पद्धति** का भी अपना स्थान है, क्योंकि व्यक्ति के व्यवहार की रूपरेखा बहुत हद तक सामाजिक और सांस्कृतिक निर्धारकों पर निर्भर करती है। इस सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवहार के कारण ही व्यक्ति में कुछ मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं। उसकी आदतें, उसकी मनोदशाएँ, चिंतनधारा और राजनीतिक रवैया इन्हीं बातों पर निर्भर करते हैं। मानव के सामूहिक व्यवहार का अध्ययन ही समाजशास्त्र है[1] तथा राजनीतिक और आर्थिक अध्ययन इसके विशेष पहलू हैं। एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, इसका संबंध समाजशास्त्र से है। समाजशास्त्रीय निर्धारकों का राजनीतिक दृष्टि से इसलिए महत्त्व बढ़ जाता है, क्योंकि वे ऐसी बातों पर प्रकाश डालते हैं जिनका संबंध राजनीति से है। व्यक्ति के रवैये और व्यवहार, राज्य, संप्रभुता, विधि, राजनीतिक समानता और राजनीतिक स्वतंत्रता आदि सारी बातें समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझी जा सकती हैं। समाजशास्त्र ऐतिहासिक दृष्टि से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—कार्ल मार्क्स के पहले के समाजवादी **प्रथम श्रेणी** में आते हैं, जैसे **रूसो, मॉण्टेस्क्यू, बोदाँ** आदि। **दूसरी श्रेणी** में वे समाजशास्त्री आते हैं जिन्होंने अपनी विचारधारा **कार्ल मार्क्स** के विचारधारा के प्रतिक्रियास्वरूप प्रस्तुत की। इस श्रेणी में **मैक्स वेबर, पैरोटो, मोस्का** आदि हैं। **आधुनिक समाजशास्त्रियों** में **आर० एच० टॉनी, मैकिवर, ओपेनहेमर, टालकॉट, डेविड राइसमैन, सी० डब्ल्यू० विल्स** आदि प्रमुख हैं जिन्होंने अपने-अपने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से राजनीतिक घटनाओं का विवेचन किया है। **कार्ल मार्क्स** ने बताया है कि समाज में जितने भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं, उनमें सबसे बड़ा कारण आर्थिक कारण होता है। इस प्रकार, अर्थव्यवस्था समाज की आय की आधारशिला है जिसे **मार्क्स** ने 'मूल ढाँचा' कहा है। **मार्क्स** ने यह भी बताया है कि आर्थिक कारणों से समाज के दो वर्गों में संघर्ष होता है जिससे समाज आगे बढ़ता है।

पैरोटो ने बताया है कि समाज में अधिकतर व्यक्ति ऐसे हैं जो अपनी और अपनी वस्तुओं की सुरक्षा चाहते हैं। वे अपना प्रभुत्व स्थापित करना नहीं चाहते। दूसरी ओर, समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी महत्त्वाकांक्षा अपना प्रभुत्व स्थापित करना है। वे बल के आधार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं। सत्ता का हस्तान्तरण इन्हीं दोनों वर्गों में होता है। कभी सत्ता बाघ-प्रधान प्रवृत्तिवालों के हाथों में और कभी उनके हाथों में जिनकी प्रवृत्ति लोमड़ी से मिलती-जुलती है, चली जाती है। सत्ता आम जनता के हाथों में कभी नहीं आती।

मोस्का ने अपनी पुस्तक 'शासक वर्ग' *(The Ruling Class)* में रूसो और कार्ल मार्क्स के विचारों की आलोचना की है और बताया है कि जिस प्रकार जीवन में संघर्ष चलता रहता है उसी प्रकार समाज में भी धन, शक्ति और प्रतिष्ठा को लेकर संघर्ष चलता रहता है, क्योंकि हर व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा इन तीन बातों

1. 'Sociology may be defined as the systematic study of collective behaviour."

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

को अधिक चाहता है। इस तरह की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति किसी एक देश या काल में नहीं, वरन निरंतर अपना प्रभाव डालती रहती है। समाज में अनेक शक्तियाँ काम करती रहती हैं, जैसे सैनिक शक्ति, आर्थिक शक्ति, राजनीतिक शक्ति तथा धार्मिक शक्ति आदि। इनमें किसी एक पर भी नियंत्रण होने से इस बात की संभावना रहती है कि दूसरी सामाजिक शक्तियों पर नियंत्रण हो जाएगा। इसी प्रकार, **रॉबर्ट माइकेल्स** ने भी अपनी पुस्तक *Political Party* में कार्ल मार्क्स की आलोचना की है और यह बताया है कि कार्ल मार्क्स ने जिस भावी समाज की कल्पना की है, वह कोरी कल्पना है और रहेगी, क्योंकि मनुष्य में कुछ ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ हैं जिनके कारण सत्ता हमेशा से एक अभिजनवर्ग के हाथ में केन्द्रित होती आई है और होती रहेगी। उसकी मान्यता है कि मनुष्य शक्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है, शक्ति प्राप्त कर उसे बनाए रखना चाहता है।

इस प्रकार समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के पक्ष और विपक्ष में अनेक बातें कही गई हैं, फिर भी निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि समाज में होनेवाले परिवर्तन वर्ग-संघर्ष द्वारा न होकर यदि वर्ग-सहयोग पर हो तो समाज का कायाकल्प हो सकता है। इससे समाज में रहनेवाले सभी व्यक्तियों का उत्थान हो सकता है।

5. तुलनात्मक पद्धति (Comparative method)—राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग सर्वप्रथम **अरस्तू** ने किया था। उसके बाद **मॉण्टेस्क्यू, डी टॉकविले** तथा **लॉर्ड ब्राइस** ने इस सिद्धांत का प्रयोग किया। यह पद्धति ऐतिहासिक पद्धति की पूरक है, क्योंकि ऐतिहासिक घटनाओं के अध्ययन में इस पद्धति से बड़ी सहायता मिलती है। इसके अंतर्गत विभिन्न घटनाओं तथा संस्थाओं आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के लिए, **अरस्तू** ने विभिन्न राज्यों में होनेवाली क्रांतियों के उत्तरदायी कारणों और उन्हें दूर करने के उपायों की व्यवस्था की थी। **ब्राइस** ने भी विभिन्न राज्यों की प्रजातंत्रीय शासन-प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद ही प्रजातंत्र के गुण-अवगुणों का विश्लेषण किया था। तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा यह पता लगाया जाता है कि समान मौलिक कारणों से ही कोई घटना होती है। तुलनात्मक पद्धति के सिलसिले में अनेक रीतियों का सहारा लेना पड़ता है। जैसे, सबसे पहले ऐतिहासिक तथ्यों का संग्रह किया जाता है। संग्रह के बाद तथ्यों का क्रमबद्ध अनुशीलन करना पड़ता है। इसके बाद उन तथ्यों को काट-छाँट कर उनका वर्गीकरण किया जाता है और तब हम देखते हैं कि जो वर्गीकरण किया गया है उसमें पारस्परिक समानता या असमानता क्या है। इसके बाद जिन तथ्यों का संबंध हमारे अध्ययन से नहीं होता, उन्हें हम छोड़ देते हैं। अंत में, पाँच तरीकों के आधार पर हम अपना निष्कर्ष निकालते हैं, जो इस प्रकार हैं—(क) संग्रह (accumulation), (ख) प्रबन्ध (arrangement), (ग) वर्गीकरण (classification), (घ) समन्वय (co-ordination), (ङ) छँटनी (elimination)।

इस प्रकार, तुलनात्मक पद्धति के द्वारा हम ऐतिहासिक घटनाओं में मौलिक समानता खोजते हैं। इस संबंध में **जेलिनेक** ने कहा है, "उन राज्यों एवं राज्य-संस्थाओं का ही समुचित रीति से अध्ययन किया जा सकता है जो एक ही युग के हों, जिनका सामान्य ऐतिहासिक आधार हो और जिनकी सामान्य ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएँ हों।" तुलनात्मक पद्धति के उपयोग में हमें निम्नलिखित तीन बातों को ध्यान में रखना चाहिए—

(क) तुलनात्मक अध्ययन केवल बाह्य समानताओं के आधार पर नहीं होना चाहिए। समानताओं के साथ-साथ असमानताओं पर भी ध्यान देना चाहिए।

(ख) तुलना करते समय संबंधित देश की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

(ग) तुलना करते समय स्थान और समय का भी ध्यान होना चाहिए, क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि समान परिस्थितियों में भी विभिन्न स्थानों में घटनाओं के स्वरूप में अंतर हो जाता है।

6. पर्यवेक्षणात्मक पद्धति (Observational method)—राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के अंतर्गत आधुनिक युग में यह भी एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है। इस पद्धति के अनुसार राजनीतिशास्त्र का विद्यार्थी स्वयं संस्थाओं और घटनाओं का अध्ययन करता है। **लॉवेल** ने कहा है, "राजनीतिशास्त्र एक पर्यवेक्षणात्मक विज्ञान है न कि प्रयोगात्मक विज्ञान। राजनीतिक संस्थाओं के सही संचालन की प्रयोगशाला पुस्तक नहीं है, वरन राजनीतिक जीवन का बाहरी संसार है।"[1] इस पद्धति का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसके अंतर्गत

1. Politics is an observational and not an experimental science. The main laboratory for the actual working of political institutions is not a library, but the outside world of political life."—LOWELL

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

व्यक्तिगत रूप से अनुभव प्राप्त होता है और पर्यवेक्षणकर्ता अपने अनुभव तथा पर्यवेक्षण के आधार पर किसी मान्यता या सिद्धांत का निर्धारण करता है। लेकिन, इस पद्धति में निम्नलिखित दो कठिनाइयाँ हैं—

(क) पर्यवेक्षण के लिए सभी अन्वेषकों को सुविधा और साधन उपलब्ध नहीं हो सकते।

(ख) जिनको सुविधा और साधन उपलब्ध हैं, वे भी भ्रममूलक धारणाओं के कारण गलत निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। उदाहरण के लिए, हम **मॉण्टेस्क्यू** महोदय को ले सकते हैं जो ब्रिटिश संविधान का अध्ययन करने के लिए इंगलैंड गए और लॉक तथा हैरिंगटन-जैसे विद्वानों से बातचीत की। उनलोगों ने ब्रिटिश संविधान के विषय में जो कुछ कहा, मॉण्टेस्क्यू ने उसे ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया। उन्होंने स्वयं संविधान से निरीक्षण नहीं किया। उन्होंने बताया कि इंगलैंड में शक्ति-पृथक्करण का आधार है जो कि बिल्कुल गलत निकला, क्योंकि **इंगलैंड** में शक्ति-समन्वय का सिद्धांत प्रचलित है। इसीलिए **ब्राइस** ने पर्यवेक्षक को एक अच्छी सलाह दी है, "पर्यवेक्षणकर्ता को तथ्यों तथा प्राप्त सामग्री एवं आँकड़ों के संबंध में पूर्णतया निश्चित हो जाना चाहिए और उसे अन्य तथ्यों एवं आँकड़ों को मिलाकर ही किसी प्रकार का निष्कर्ष निकालना चाहिए।"[1]

7. सादृश्यात्मक पद्धति (Comparison method)—सादृश्यात्मक पद्धति का सबसे बड़ा समर्थक **गिलक्राइस्ट** है। उसने इस पद्धति का विशद विवरण दिया है। इस पद्धति के अंतर्गत राज्य की तुलना अन्य विषयों से की जाती है। समाजशास्त्रीय पद्धति, जीवविज्ञानीय पद्धति, न्यायमूलक पद्धति इत्यादि सादृश्यात्मक पद्धति के उपविभाग हैं। **हरबर्ट स्पेन्सर** ने राज्य की तुलना मनुष्य के शरीर या अंग से की है। लेकिन, सादृश्यात्मक पद्धति की बहुत-कुछ ऐसी सीमाएँ हैं जिनके आधार पर आलोचना की जाती है। आलोचकों के अनुसार, इस पद्धति के अंतर्गत परिणामों तथा इसके निष्कर्षों में निश्चितता नहीं आ सकती। यह पूर्ण पद्धति भी नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा राज्य और उसकी विभिन्न संस्थाओं के सभी पहलुओं का अध्ययन संभव नहीं है। परिणामस्वरूप, इस पद्धति द्वारा निकाला गया निष्कर्ष दोषपूर्ण हो जाता है।

8. परिमाणात्मक पद्धति (Quantitative method)—आधुनिक युग में राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए इस पद्धति का सहारा लिया जाता है। **ग्राहम वॉलास** ने अपनी पुस्तक *Human Nature in Politics* में इस पद्धति का पूर्ण समर्थन किया है। इसके अंतर्गत आँकड़ों (data) और तथ्यों (facts) के आधार पर राजनीतिक निष्कर्ष निकाले जाते हैं। अमेरिका में यह पद्धति आज काफी लोकप्रिय है। इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष है कि अन्वेषक के लिए सभी देशों के आँकड़ों तथा तथ्यों की जानकारी प्राप्त करना कठिन कार्य है। तथ्यों और आँकड़ों को जुटाने में काफी गलतियाँ होती हैं। अतः, तथ्यों एवं आँकड़ों के आधार पर हम कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। इस पद्धति के द्वारा हम मनुष्य के मनोभावों, मनोवेगों तथा प्रवृत्तियों का अध्ययन नहीं कर सकते।

9. मनोवैज्ञानिक पद्धति (Psychological method)—चूँकि मनुष्य राजनीतिशास्त्र का मुख्य विषय है, इसलिए राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत मनुष्य के मनोभावों, मनोवेगों तथा अन्य विचारों एवं भावनाओं का अध्ययन मनोवैज्ञानिक पद्धति द्वारा किया जाता है। **ग्राहम वॉलास, मैकडूगल, हैरोल्ड डी॰ लॉसवेल** इत्यादि विद्वानों ने इसका समर्थन किया है। मनोवैज्ञानिक पद्धति इस तथ्य पर बल देती है कि परंपरागत राजनीतिक विचारकों ने राजनीतिक तथ्यों और मान्यताओं के निर्धारण में केवल युक्तिमूलक (rational) तत्त्वों का सहारा लिया। इस पद्धति के समर्थकों ने इस परंपरागत मत का खंडन किया है और बताया है कि राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत युक्तिमूलक तत्त्वों (rational elements) के साथ-साथ **गैर-युक्तिमूलक तत्त्वों** (non-rational elements) का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस मनोवैज्ञानिक पद्धति के समर्थकों ने दावे के साथ कहा है कि राजनीतिक जगत में विवेक का जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है उससे कम मानवीय प्रवृत्तियों, संवेदनाओं तथा आवेगों का नहीं है। अतएव, युक्तिमूलक तत्त्वों के साथ-साथ गैर-युक्तिमूलक तत्त्वों की ओर भी ध्यान देना जरूरी है। ये गैर-युक्तिमूलक तत्त्व मानवीय प्रकृति में विद्यमान हैं, जिनकी अवहेलना करके सही निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है। इस पद्धति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसके अंतर्गत मानव-स्वभाव के सभी पहलुओं का अध्ययन संभव है।

10. आनुभविक पद्धति (Empirical method)—यह पद्धति आधुनिक युग की देन है। यह मूलतः वैज्ञानिक है। यह परंपरागत उपागमों से भिन्न है। यह राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन मानवीय व्यवहार

1. "Make sure of it. Get it perfectly clear. Polish it till it sparks and shines like a gem. Then connect it with other facts. Examine it in its relation to them for in that lies its worth and significance. It is of little use alone. So make it a diamond in the necklace, a stone, perhaps a corner stone in your building."—BRYCE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

के माध्यम से करती है। इस दृष्टिकोण के अंतर्गत किसी घटना को अपनी चेतना या बुद्धि के द्वारा अनुभव किया जा सकता है। इस अनुभव को ऐसी तकनीकों के माध्यम से मूल्यांकित किया जाता है जो व्यक्ति के प्रभावों से परे होती है। इसके अंतर्गत व्यक्ति के आचरण के साथ-साथ राजनीतिक दलों तथा समूहों का अध्ययन किया जाता है। यह पद्धति 'क्या है' से संबंध स्थापित करती है। चूँकि इस पद्धति में अनुभव ज्ञान का आधार होता है, इसलिए किसी वस्तु का ज्ञान अनुभव से परे संभव नहीं है। आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों ने इसी आनुभविक प्रणाली का सहारा लेकर समाज तथा राज्य की ज्वलंत समस्याओं का समाधान करना चाहा है।

11. वैज्ञानिक और व्यवहारवादी पद्धति (Scientific and behavioural method)—वर्तमान समय में राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन आवश्यक हो गया है। **आर० एन० थाउलेस** ने लिखा है, "वैज्ञानिक पद्धति सामान्य नियमों की खोज के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रविधियों की एक व्यवस्था है जो विभिन्न विद्वानों के अनेक बातों में विभिन्नता होते हुए भी एक सामान्य प्रकृति को बनाए रखती है।" व्यवहारवादी पद्धति परंपरागत उपलब्धियों के प्रति असंतोष व्यक्त करती है जिसका उद्देश्य एक ऐसी अध्ययन-पद्धति का निर्माण करना है जिसके द्वारा राजनीतिक घटनाओं का परीक्षण कर राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत अनुभवजन्य सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जा सके। इसने राजनीतिशास्त्र के सिद्धांतों, अध्ययन-पद्धतियों तथा दृष्टिकोणों को मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा मनोविज्ञान के बहुत ही निकट कर दिया है। अतः, यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक पद्धति ऐसे नियमों-क्रियाओं और क्रियाविधियों का समूह है जिनका प्रयोग लक्ष्य, वैज्ञानिक विश्लेषण और अन्वेषण के आधार पर विषय के अध्ययन से संबंधित पूर्वाग्रहों और त्रुटियों को दूर कर तथा मूल निरपेक्षता की नीति को अपनाकर अधिकाधिक विशुद्धता और वैज्ञानिकता प्रदान करता है। इस पद्धति में जो तरीके अपनाए जाते हैं, उनमें सर्वेक्षण प्रणाली, केस-प्रणाली, प्रश्नावली-प्रणाली, साक्षात्कार-प्रणाली, जनमत मतदान और अंकशास्त्रीय-प्रणाली मुख्य हैं।

यद्यपि राजनीति-विज्ञान में वैज्ञानिक पद्धति को अधिकाधिक वैज्ञानिक रूप प्रदान करने के प्रयास हो रहे हैं, फिर भी वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किए जाने की अपनी सीमाएँ और कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। व्यवहारवाद और राजनीतिशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति के एक प्रवक्ता **डेविड ईस्टन** ने अपने उत्तर-व्यवहारवादी लेख में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग की सीमाओं को स्वीकार किया है। इन कठिनाइयों के बावजूद राजनीति-विज्ञान को अधिकाधिक वैज्ञानिक रूप प्रदान करने के प्रयास किए जा रहे हैं जिनके परिणामस्वरूप अनेक नवीन सिद्धांतों का विकास हुआ है। सिद्धांतों की रचना करते समय विभिन्न प्रतिमानों (Models) का भी प्रयोग हो रहा है। वस्तुस्थिति यह है कि राजनीति-विज्ञान के सिद्धांतों में वैज्ञानिकता अभी प्रारंभिक अवस्था में है।

निष्कर्ष (Conclusion)—राजनीतिशास्त्र के अध्ययन-संबंधी उपर्युक्त ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, दार्शनिक, व्यवहारवादी आदि विभिन्न पद्धतियों के अध्ययन के उपरान्त यह स्पष्ट है कि आज राजनीतिक निष्कर्ष पर सिर्फ एक पद्धति के सहारे नहीं पहुँचा जा सकता। उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि इन सारी पद्धतियों में कुछ महत्त्वपूर्ण दोष हैं। जैसे-जैसे युग का विकास हो रहा है, वैसे-वैसे राजनीतिक अध्ययन की प्रणालियाँ भी बदल रही हैं। उदाहरण के लिए, आज व्यवहारवादियों ने न सिर्फ व्यक्ति के आचरण पर बल दिया है, वरन राजनीतिक दलों तथा संस्थाओं के अन्दर निर्णयीकरण-प्रक्रिया का भी विवेचन किया है। चूँकि अभी तक अधिकांश व्यवहारवादी उन्हीं वैज्ञानिक सिद्धांतों की स्थापना में लगे रहने के कारण समाज के व्याप्त मुद्दों एवं समस्याओं पर ध्यान नहीं दे पाए हैं, इसलिए **डेविंड ईस्टन** के अनुसार अब वह समय आ गया है कि आधुनिक अनुभववादी राजनीतिशास्त्र के अन्य व्यापक सिद्धांतों की खोज से अपना ध्यान हटाकर समाज की ज्वलंत समस्याओं पर ध्यान दें तथा अभी तक प्राप्त वैज्ञानिक उपलब्धियों के आधार पर इन समस्याओं का निदान खोजने की चेष्टा करें। इसके लिए राजनीतिशास्त्र को राजनीतिक मूल्यों के प्रति उदासीनता का परित्याग करना होगा तथा राजनीतिक शोधों को ज्यादा-से-ज्यादा व्यावहारिक बनाना होगा। इस दृष्टि से उत्तर-व्यवहारवाद को व्यवहारवाद का विकास माना जा सकता है।

राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए उपर्युक्त सभी पद्धतियाँ उपयोगी हैं, लेकिन हम यह नहीं कह सकते कि इन पद्धतियों में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है। वास्तव में ये परस्पर-विरोधी होने के स्थान पर एक-दूसरे के पूरक भी हैं। ये सभी पद्धतियाँ अन्योन्याश्रित हैं। अतः, हम कह सकते हैं कि न सिर्फ निगमनात्मक और आगमनात्मक पद्धतियों में समन्वय किया जाना चाहिए, वरन राजनीतिक विज्ञान की परंपरागत पद्धतियों और आधुनिक पद्धतियों में भी समन्वय स्थापित करते हुए उन्हें एक साथ अपनाने का प्रयास होना चाहिए।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्रो॰ गिलक्राइस्ट ने ठीक ही लिखा है, "सच्चे इतिहासवेत्ता को दर्शनशास्त्र का महत्त्व समझना चाहिए और एक सच्चे तत्त्ववेत्ता को इतिहास से परामर्श लेना चाहिए। इतिहास के प्रयोग तथा घटनाओं को आदर्शों के प्रकाश से चमत्कृत किया जाना चाहिए। इसलिए सबसे उत्तम पद्धति में ऐतिहासिक तथा दार्शनिक विधियों का सम्मिश्रण होना आवश्यक है।"[1]

प्रश्नावली

1. राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय पद्धतियों की विवेचना कीजिए।
   (Discuss the historical and sociological methods of studying political science.)
2. दार्शनिक पद्धति से आप क्या समझते हैं ? विवेचना करें।
   (What do you mean by philosophical method ? Discuss.)
3. राजनीतिशास्त्र की विभिन्न अध्ययन-पद्धतियों का वर्णन करें। उनका महत्त्व और सीमाएँ बताएँ। आपके अनुसार इनमें सर्वाधिक उपयुक्त कौन है ?
   (Describe the various methods of studying political science. Indicate briefly their value and limitations. Which in your opinion, is the most scientific ?)
4. राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के निमित्त पर्यवेक्षणात्मक पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति और तुलनात्मक पद्धति की विवेचना कीजिए।
   (Discuss the observational, historical and comparative methods of studying political science.)
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें—
   (क) प्रयोगात्मक विधि
   (ख) मनोवैज्ञानिक विधि
   (ग) समाजशास्त्रीय विधि
   (घ) पर्यवेक्षणात्मक विधि
   [Write brief notes on the following:
   (a) Experimental method
   (b) Psychological method
   (c) Sociological method
   (d) Observational method]

□ □ □

1. "The genuine historian must recognize the value of philosophy and the true philosopher must equally take the course of history. The experience and phenomena of history must be illuminated with the light of ideas. The best method thus arises out the blending of the philosophical and historical methods."
   —GILCHRIST : *Political Science*, p. 14

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 7

राज्य और उसके मूल तत्त्व

[STATE AND ITS ESSENTIAL ELEMENTS]

राज्य अल्पसंख्यक या बहुसंख्यक व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय है जो किसी प्रदेश के एक निश्चित भू-भाग में रहता है, जो बाह्य नियंत्रण से मुक्त या प्रायः मुक्त हो, जिसका एक संगठित शासन हो तथा जिसके आदेशों का पालन नागरिक का विशाल समुदाय स्वभावतः करता हो।—गार्नर

अपने अपूर्ण तथा अव्यवस्थित रूप से प्रारंभ कर राज्य धीरे-धीरे विकसित होता हुआ मानव जाति के पूर्ण तथा विश्वव्यापी संगठन का रूप ग्रहण कर रहा है।—बर्गेस

विषय-प्रवेश (Introduction)

राज्य 'शब्द' राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत अपना विशिष्ट स्थान रखता है, क्योंकि राज्य राजनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। राज्य शब्द का प्रयोग विभिन्न संदर्भों में किया गया है। यह वर्तमानकाल का एक सम्यक संगठन है जिसके माध्यम से उसकी कार्यप्रणाली और उत्पत्ति का आभास होता है। एक अर्थ में राजनीतिशास्त्र सिर्फ राज्य का ही अध्ययन करता है। राजनीतिशास्त्र के इतिहास में राज्य शब्द का प्रयोग सबसे पहले **मैकियावेली** ने किया था। जहाँ विभिन्न देशों को एक तरफ हम राज्य कहकर पुकारते हैं, वहाँ भारत तथा अमेरिका के संविधानों में संघ की विभिन्न इकाइयों को राज्य कहा गया है, जैसे—बिहार राज्य, उत्तरप्रदेश राज्य तथा न्यूयार्क और ओहियो राज्य। भारतीय संविधान स्पष्टतः इसकी घोषणा करता है कि 'भारत राज्यों का एक संघ है'। इसलिए राज्य राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत एक प्रमुख विषय है।

राज्य का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of the State)

चूँकि 'राज्य' राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का केन्द्रबिन्दु है, इसलिए इसका अर्थ जानना अत्यन्त आवश्यक है। राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत 'राज्य' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। इस संबंध में यह कहा गया है कि राजनीतिशास्त्र के जितने लेखक हैं, उतनी ही 'राज्य' की परिभाषाएँ भी हैं। परिभाषा के संबंध में कोई भी लेखक एकमत नहीं है। इस संबंध में **आर० एम० मैकिवर** (R. M. MacIver) ने ठीक ही कहा है, "यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि 'राज्य' जैसे स्पष्ट शब्द की परिभाषाएँ विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न तरह से दी हैं।"[1] कुछ विद्वानों ने राज्य को एक वर्ग-संगठन भी माना है। कुछ लोगों ने राज्य को सम्पूर्ण समाज का संगठन स्वीकार किया है। राज्य को एक दमनकारी संस्था भी कहा गया है तो कुछ विद्वानों ने उसे लोक-कल्याणकारी संस्था भी कहा है। कुछ विचारकों ने राज्य को एक 'आवश्यक बुराई' (necessary evil) माना है। कुछ आदर्शवादी विद्वानों ने राज्य को पृथ्वी पर ईश्वरत्व का अवतरण माना है। इससे यह प्रतीत होता है कि 'राज्य' एक ऐसा शब्द है जिसकी शब्दावली राजनीतिशास्त्र के पण्डितों के विचार में अत्यधिक भ्रामक है। अब हम राज्य की अग्रलिखित महत्त्वपूर्ण परिभाषाओं पर ध्यान दे सकते हैं—

1. "Some writers defined it essentially a class-structure. Others regard it as the one organisation that transcends class and stands for the whole community. Some interpret it as a power system, others as a welfare state. Some view it entirely as a legal construction, either in the old justinian sense which made it a relationship of governors and governed or in the language of modern jurisprudence, as a community organised for action under legal rules. Some, identify it with the nation, others regard nationality. To some, it is a necessary evil and to a very few as evil that is or will be someday unnecessary...."—MACIVER

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अरस्तू—"राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक ऐसा संघ है जिसका उद्देश्य पूर्ण और आत्मसम्पन्न जीवन की प्राप्ति है।"[1] राज्य-संबंधी यह परिभाषा अनेक दृष्टियों से दोषपूर्ण है—

1. अरस्तू की परिभाषा के अनुसार राज्य एक प्राकृतिक संस्था है, लेकिन आधुनिक युग के विद्वानों ने राज्य को 'व्यक्तियों की संस्था' कहकर पुकारा है।

2. अरस्तू की परिभाषा में संप्रभुता, जो राज्य का एक आवश्यक तत्त्व है, का उल्लेख नहीं किया गया है।

3. अरस्तू ने अपनी परिभाषा में केवल परिवारों और गाँवों की चर्चा की है; लेकिन आधुनिक राज्य में अनेक प्रकार के समुदाय भी पाए जाते हैं जिनकी ओर अरस्तू ने ध्यान नहीं दिया।

सिसरो—"राज्य एक बहुसंख्यक समुदाय है जो अधिकारों और सामान्य भावनाओं के उपयोग की कल्पना पर पारस्परिक सहयोग द्वारा जुड़ा हुआ है।"[2] यह परिभाषा भी राज्य के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट नहीं करती।

संत ऑगस्टाइन—"राज्य ऐसे व्यक्तियों के समझौते द्वारा निर्मित संस्था है जिन्होंने इसे अपने संगठन और कर्तव्यों के प्रयोगों और मत के लिए तथा पारस्परिक सम्पर्क के लाभ के लिए बनाया है।" लेकिन, यह परिभाषा भी आधुनिक दृष्टि से न्यायसंगत और पूर्ण नहीं है।

बोदाँ—"राज्य अपनी सामान्य संपत्ति-सहित परिवारों का एक समुदाय है जो सर्वोच्च सत्ता और विवेक-बुद्धि द्वारा नियंत्रित है।"[3] बोदाँ की इस परिभाषा में, चूँकि भू-भाग तथा संप्रभुता का उल्लेख नहीं है, इसलिए यह भी राज्य की सही परिभाषा नहीं कही जा सकती।

हॉब्स—"राज्य एक ऐसा व्यक्ति है जो पारस्परिक समझौते के आधार पर एक जनसमूह के लिए उस जनशक्ति के तमाम साधनों का आवश्यकतानुसार जनता की शान्ति और सुरक्षा के लिए प्रयोग कर सके।"

हीगेल—"राज्य एक नैतिक भावमूर्त रूप है। इसमें वस्तुरूप आत्मा और दृढ़ स्वतंत्रता का सम्मिश्रण है।"

ब्लंश्ली—"किसी एक भू-भाग पर राजनीतिक तौर पर संगठित व्यक्तियों को राज्य कहा जाता है।"[4]

विल्सन—"एक निश्चित भू-भाग में कानून के लिए संगठित जनसमुदाय को राज्य कहा जाता है।"[5]

हॉलैंड—"राज्य मनुष्यों का एक बहुसंख्यक समाज है जो साधारणतः किसी निश्चित भू-भाग पर स्थित है, जिनमें बहुमत या किसी निश्चित वर्ग का मत अपनी शक्ति के आधार पर विरोधी तत्त्वों की किसी भी संस्था के विरुद्ध विजयी होता है।"[6]

फिलीमोर—"राज्य एक ऐसा जनसमूह है जो स्थायी रूप से एक निश्चित प्रदेश में निवास करता हो; जो समान कानून, अभ्यास एवं प्रथाओं के द्वारा आपस में एक राजनीतिक समाज के रूप में संगठित हो; जो एक संगठित सरकार के माध्यम से अपनी सीमा के अंतर्गत सभी व्यक्तियों पर अपनी सार्वभौम सत्ता और नियंत्रण रखता हो तथा जो युद्ध तथा शान्ति की स्थापना और विश्व के राष्ट्रों के साथ सभी प्रकार के अन्तरराष्ट्रीय संबंध स्थापित करने की क्षमता रखता हो।"[7]

---

1. "The state is an union of families and villages having for its end perfect and self-sufficient life."—ARISTOTLE
2. "The state is a numerous society united by common sense of right and natural participation in advantages."—CICERO
3. "State is an association of families and their common possessions governed by a supreme power and by reason."—BODIN
4. "The state is the politically organised persons of definite territory."—BLUNTSCHLI
5. "The state is a people organised for law, within a definite territory."—WILSON
6. "State is a numerous assemblage of human beings, generally occuping a certain territory, amongst whom the will of the majority or of an ascertainable class of persons, is by the strength of such a majority or class, is made to prevail against any of their number who oppose it."—HOLLAND
7. "A people permanently occupying a fixed territory, linked together by common laws, habits and customs in one body politic, exercising through the medium of an organised government, independent sovereignty and control over all persons and things within its boundaries, capable of making war and peace and of entering into all international relations with the communities of the globe."—PHILLIMORE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

एच० जे० लॉस्की—"राज्य एक प्रादेशिक समाज है जो सरकार और प्रजा में विभाजित है और जो अपने नियत भौगोलिक क्षेत्र की अन्य सभी व्यवस्थाओं पर सर्वोच्च सत्ता रखता है।"[1]

विलोबी—"राज्य मनुष्यों के ऐसे समाज को कहते हैं जिसमें एक ऐसी सत्ता पाई जाती है जो अपने अंतर्गत व्यक्ति-समूहों के कार्यों पर नियंत्रण रखती हो, लेकिन वह स्वयं किसी भी नियंत्रण से मुक्त हो।"[2]

बर्गेस—"राज्य मनुष्यजाति का निश्चित भाग है जो राजनीतिक इकाई के रूप में देखा जाता है।"[3]

लीकॉक—"राज्य एक निश्चित भू-भाग की जनता द्वारा कानून की स्थापना के लिए एक संगठित समूह का नाम है।"

गेटेल—"राज्य मनुष्य के समुदाय को कहते हैं जो स्थायी रूप से अधिकृत निश्चित भू-भाग पर निवास करता है, कानूनी रूप से बाह्य नियंत्रणों से मुक्त रहता है और ऐसी शासन-व्यवस्था स्थापित किए रहता है जो अपनी सीमा के अंतर्गत निवास करनेवाले सभी मानव-संघों के लिए नियमों का निर्माण तथा कार्यान्वयन करता है।"[4]

मैकिवर—"राज्य एक ऐसा संघ है जो सरकार द्वारा प्रसारित नियमों के द्वारा कार्य करता है, जिनका पालन करने के उद्देश्य से सरकार को शक्ति प्राप्त रहती है तथा जो निश्चित भू-खण्ड की सभी बाहरी सुव्यवस्था की स्थितियों को बनाए रखता है।"[5]

गार्नर—"राज्य अल्पसंख्यक या बहुसंख्यक व्यक्तियों का ऐसा समुदाय है जो किसी प्रदेश के एक निश्चित भू-भाग में रहता हो, जो बाह्य नियंत्रण से मुक्त अथवा प्रायः मुक्त हो, जिसका एक संगठित शासन हो तथा जिसके आदेशों का पालन नागरिकों का विशाल समुदाय स्वभावतः करता हो।"[6]

राज्य की उपर्युक्त परिभाषाओं का जब हम विश्लेषण करते हैं तब अधिकांश परिभाषाओं में राज्य के केवल तीन तत्त्वों—जनसंख्या, भूमि और सरकार—का ही उल्लेख मिलता है। चूँकि इन तीनों चीजों के अलावा **संप्रभुता** भी राज्य का एक आवश्यक तत्त्व है, इसलिए इन परिभाषाओं में संप्रभुता का अभाव मिलता है जिसके चलते इनपर हम अपूर्णता का दोष मढ़ते हैं। उपर्युक्त परिभाषाओं में महान राजनीतिशास्त्री **गार्नर** की परिभाषा न्यायसंगत और सही इसलिए है कि उसमें जनसंख्या, प्रदेश, सरकार और संप्रभुता को स्थान दिया गया है। इसलिए गार्नर की परिभाषा को हम **सर्वमान्य परिभाषा** कह सकते हैं।

राज्य के मूल तत्त्व
(Elements of the State)

राज्य के मूल तत्त्वों के संबंध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं, जैसाकि उल्लिखित राज्य-संबंधी विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट होता है। **ब्लंश्ली** ने राज्य के सात तत्त्वों का वर्णन किया है—1. जनसंख्या, 2. स्थान, 3. संगठन, 4. शासक-शासित में भेद, 5. जीवन, 6. सदाचार के सिद्धांत, 7. नरगुणप्रधानता। **विलोबी** ने राज्य के केवल तीन मूल तत्त्वों का उल्लेख किया है—1. जनता, 2. शासनतंत्र और 3. संविधान। **प्रो० गार्नर** ने राज्य-संबंधी चार मूल तत्त्वों का उल्लेख किया है जिन्हें आधुनिक राजनीतिशास्त्र

1. "State is a territorial society divided into government and subjects claiming within its allotted physical area, supremacy over all other institutions."—H. J. LASKI
2. "The state exists whevever there can be discovered in any community of men a supreme authority exercising a control over the social action of individuals and groups in individuals and itself subject to no such regulation."—WILLOUGHBY
3. "The state is a particular portion of mankind viewed as an organised unit."—BURGESS
4. "State, therefore, may be defined as a community of persons permanently occupying a definite territory, legally independent of external control and possessing an organised government which creates and administers law over all persons and groups within its jurisdiction."—GETTELL
5. "The state is an association which acting through law as promulgated by a government endowed to this end with coercive power, maintains, within community territorially demarcated the universal external condition of social order."—MACIVER
6. "The state is a community of persons, more or less numerous, permanently occupying a definite portion of territory; independent or less nearly so, of external control and possessing an organized government to which the great body of inhabitants render habitual obedience."—GARNER

WWW.GRADESETTER.COM

के विद्वानों ने स्वीकार किया है। आम तौर से समर्थित राज्य के मूल तत्त्वों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. जनसंख्या—जनसंख्या राज्य की प्राथमिक आवश्यकता है। यह राज्य का सबसे प्रमुख तत्त्व है। चूँकि किसी भी मानवीय संस्था के लिए जनसंख्या आवश्यक है, इसलिए राज्य के लिए भी यह आवश्यक है। राज्य का निर्माण मानवों से होता है। इसलिए, राज्य के लिए जनसंख्या का होना परम आवश्यक है। किंतु, किसी भी राज्य के निर्माण के लिए पर्याप्त जनसंख्या होनी चाहिए। इस संबंध में **ब्लंश्ली** ने भी ठीक ही कहा है कि **राज्य का मानवीय आधार जनता है।**[1]

जनसंख्या-संबंधी व्याख्या के लिए हमें निम्नांकित चार बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—

(1) जनसंख्या कितनी हो ?
(2) कानूनी दृष्टि से जनसंख्या के कितने वर्ग होते हैं ?
(3) गुण के विचार से जनसंख्या का मूल्यांकन।
(4) जनसंख्या से संबंधित समस्याएँ।

जहाँ तक जनसंख्या की मात्रा का प्रश्न है, **प्लेटो** और **अरस्तू** राज्य की जनसंख्या पर निश्चित मर्यादाएँ लगाते हैं। **प्लेटो** का मत है कि एक आदर्श राज्य की जनसंख्या 5040 है, लेकिन अरस्तू ने राज्य के लिए कोई निश्चित जनसंख्या नहीं बताई है। **अरस्तू** का कहना है कि न तो दस या न एक लाख नागरिकों से ही अच्छा राज्य बन सकता है। अर्थात, अरस्तू के विचार में मनुष्यों की संख्या न तो बहुत बड़ी होनी चाहिए और न बहुत छोटी। उसके विचार में जनसंख्या इतनी होनी चाहिए जिससे वह आत्मनिर्भर रहने के साथ ही अपना शासन भी कर सके। **रूसो** ने भी प्राचीन यूनानी विचारकों की तरह ही सीमित जनसंख्या का समर्थन किया है। एक आदर्श राज्य के लिए उसने 10,000 जनसंख्या निश्चित की है। लेकिन, आधुनिक युग के अंतर्गत प्लेटो, अरस्तू और रूसो की जनसंख्या-संबंधी राज्य की धारणा न्यायसंगत प्रतीत नहीं होती। आधुनिक काल में विज्ञान की उन्नति तथा आवागमन के साधनों के विकास के चलते परिस्थितियाँ पहले जैसी नहीं हैं। जनसंख्या के आकार का महत्त्व आज प्रायः समाप्त हो गया है। आज एक ओर **मोनाको** और **वेटिकन सिटी**-जैसे छोटे राज्य हैं जिनकी जनसंख्या हजारों में है तो दूसरी ओर भारत और चीन-जैसे बड़े राज्य भी हैं जिनकी जनसंख्या क्रमशः 80 और 90 करोड़ है। इसलिए आधुनिक समय में अल्प जनसंख्या का सिद्धांत निरर्थक है। जनसंख्या की अधिकता के कारण ही प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का स्थान अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र ने ले लिया है।

जनसंख्या-संबंधी उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **प्लेटो** और **रूसो** की तरह राज्य के लिए किसी निश्चित संख्या का निर्णय करना आज संभव नहीं रह गया है। इस संबंध में **गेटेल** ने ठीक ही कहा है, "राज्य के निर्माण के लिए लोगों की आवश्यक संख्या की कोई निश्चित सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है। आबादी इतनी होनी चाहिए जो राज्य का संगठन कायम रखने के लिए पर्याप्त हो और जिसके शासक-शासित एवं सार्वजनिक और वैयक्तिक कार्यों की विभिन्नता झलक जाए। आबादी किसी भी हालत में राज्य की प्रादेशिक सीमा और भरण-पोषण करने की शक्ति से अधिक न हो।"[2]

---

1. "The State has its personal basis in the people."—BLUNTSCHLI
2. "No definite limit can be fixed for the number of persons necessary to form a state. The population should be sufficient by numerous to maintain a state organisation and to distinguish between public and private affairs; between those who govern and those who are governed; and it should not be greater than the territorial area and resources of state are capable of supporting."—GETTELL

WWW.GRADESETTER.COM

2. भू-भाग—भू-भाग राज्य का दूसरा मूल तत्त्व है। इसके बिना राज्य का निर्माण नहीं हो सकता है। भूमि राज्य की भौतिक आवश्यकता की पूर्ति करती है। **लियोन, ड्यूग्वी, सीले** तथा **विलोबी** आदि विद्वानों ने भूमि को राज्य का आवश्यक अंग स्वीकार नहीं किया है। **सीले** के विचार में यदि केवल सरकार के सिद्धांत के अनुसार कोई जनसमूह इकाई के रूप में संगठित है तो उसे हम राज्य नहीं कहेंगे। विलोबी ने भी कहा है, "राज्य अपने में न तो जनसंख्या है, न अदालत है और न संविधान है। सच है कि राज्य वह प्रदेश भी नहीं है जिसपर राज्य की संप्रभुता मानी जाती है अथवा जिसपर उसका आदेश चलता है। राज्य वास्तव में निश्चित व्यक्तियों का एक समुदाय है जिसको राजनीतिक इकाई के रूप में संगठित किया गया हो।"[1]

लेकिन, आधुनिक विद्वानों में **विल्सन, ब्लंश्ली** तथा **गार्नर** आदि ने राज्य के लिए भू-भाग की अनिवार्यता पर जोर दिया है। **क्लवर** ने बताया है, "राज्य नागरिकों का एक ऐसा समाज है जिसकी एक निश्चित भूमि हो।" **ब्लंश्ली** के अनुसार, "जैसे राज्य का व्यक्तिगत आधार जनता है उसी प्रकार उसका भौतिक आधार भूमि है; जनता उस समय तक राज्य का रूप धारण नहीं कर सकती जबतक कि उसका कोई निश्चित प्रदेश न हो।" इससे यह स्पष्ट है कि प्रदेश राज्य के लिए परम आवश्यक है। **गार्नर** का कहना सही है, "व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह कहना कठिन है कि किस प्रकार एक खानाबदोश जाति को राज्य कहा जाए।" उदाहरण के लिए, 1947 ई० में यहूदी लोग फिलिस्तीन में आकर बस गए तथा उनलोगों ने निश्चित भू-भाग पर अधिकार जमा लिया और इस तरह **इजरायल** राज्य की स्थापना हुई। इसके पूर्व यहूदी लोगों के पास कोई निश्चित भू-भाग नहीं था। इससे यह स्पष्ट है कि राज्य के लिए निश्चित भू-भाग का होना अत्यावश्यक है, ताकि जनता स्थायी रूप से वहाँ बस सके और राजनीतिक संगठन का संचालन कर उसे राज्य का रूप दे सके।

राज्य के लिए निश्चित प्रदेश के बिना न तो कोई जनसमूह बंधुत्व की भावना से प्रेरित होगा और न उनमें एकता की भावना ही आ सकेगी। भूमि राज्य के लिए एक मौलिक तत्त्व है। नागरिकता और संप्रभुता का विकास भूमि के अंतर्गत ही होता है। अर्थात, भूमि ही राज्य के स्वरूप का परिचय कराती है।

राज्य के लिए कितने भू-भाग की आवश्यकता है ?

अब प्रश्न है कि भूमि राज्य के लिए जब परमावश्यक है तब किसी राज्य के लिए कितनी भूमि की आवश्यकता है ? इस संबंध में राजनीतिशास्त्रियों ने विभिन्न विचार व्यक्त किए हैं। आज वेटिकन सिटी (Vatican City) जैसा एक वर्गमील क्षेत्रफल का राज्य है तो पूर्व सोवियत संघ जैसा 84 लाख वर्गमील क्षेत्रफलवाले राज्य का भी उदाहरण मिलता है।

प्लेटो और **अरस्तू** का कहना था कि भूमि न बहुत बड़ी होनी चाहिए और न बहुत छोटी। इस संबंध में यह बात महत्त्वपूर्ण है कि 18वीं सदी तक के विद्वानों ने अपने विचार विशाल राज्य के विरुद्ध व्यक्त किए हैं। **रूसो** ने कहा था कि जिस तरह प्रकृति ने मनुष्य के कद तथा शरीर की एक सीमा निश्चित की है, वैसे ही सुशासित राज्य की एक सीमा होनी चाहिए। भूमि का विस्तार इतना अधिक न हो कि उसका शासन सुचारु रूप से चल न सके और न इतना छोटा ही हो कि वह अपने-आप को सँभाल न सके। **मॉण्टेस्क्यू** का कहना था कि जनतांत्रिक शासन छोटे क्षेत्रफलवाले राज्यों के लिए सर्वोत्तम है। साधारण क्षेत्रफलवाले राज्यों के शासन के लिए राजतंत्रीय और विशाल क्षेत्रफलवाले राज्यों के लिए निरंकुश शासन अच्छा है। **डी टॉकविले** (De Toqueville) ने भी इस बात का समर्थन किया है कि बड़े राज्यों के लिए गणतंत्रीय प्रणाली ठीक नहीं है।

लेकिन, आधुनिक विद्वानों ने छोटे क्षेत्रफलवाले राज्यों को दुर्बल कहकर पुकारा है। आज दुनिया के बड़े राज्यों में भी गणतंत्रीय शासन-व्यवस्था का प्रयोग हो रहा है। इन विशाल देशों में यह व्यवस्था सफल भी हुई है। उदाहरण के लिए, हम भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, इंगलैंड आदि देशों को ले सकते हैं। आर्थिक दृष्टि से भी बड़े राज्य ही सफल हो सकते हैं। आर्थिक आत्मनिर्भरता तभी प्राप्त हो सकती है जब राज्य के प्रदेश का विस्तार हो और उसमें विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक साधन प्रचुरता में हों। इसके अलावा, इस प्रतियोगितापूर्ण विश्व में छोटे राज्यों की एक बड़ी संख्या को अंतरराष्ट्रीय शांति के लिए भय

1. "The state itself is then, neither the people, the government, the magistracy, nor the constitution, nor is it in the territory over which its authority extents. It is given community of given individuals; viewed in aspect, namely as a political unit."—WILLOUGHBY

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

कहा जा सकता है। **ट्रीट्स्के** (Trietschke) के अनुसार, "बड़े राज्य बौद्धिक संस्कृति के विकास के लिए छोटे राज्यों की अपेक्षा अधिक अनुकूल हैं।" राज्य की भूमि के अंतर्गत नदियाँ, झीलें, पर्वत आदि सभी आ जाते हैं। इसके अलावा राज्य की निश्चित सीमा के ऊपर का वायुमंडल भी राज्य के भू-भाग में ही सम्मिलित माना जाता है। उसपर राज्य का अधिकार रहता है। विश्व का कोई भी राज्य अन्य राज्यों के आकाशमार्ग का प्रयोग अंतरराष्ट्रीय कानून और पारस्परिक समझौता के बिना नहीं कर सकता। राज्य की भूमि से लगा हुआ 12 मील तक का समुद्र भी राज्य की भूमि का ही भाग समझा जाता है। इस प्रकार, राज्य के भू-भाग में नदी, झील, पहाड़, आकाशमार्ग और किनारे से 12 मील तक के समुद्र भी आ जाते हैं।

3. सरकार—सरकार राज्य का तीसरा अनिवार्य तत्त्व है। किसी निश्चित प्रदेश में स्थायी रूप से रहनेवाला जनसमूह तबतक राज्य का निर्माण नहीं कर सकता, जबतक कि उसकी संगठित सरकार न हो। सरकार के द्वारा ही राज्य की सामूहिक इच्छा को निर्धारित, अभिव्यक्त और कार्यान्वित किया जा सकता है। राज्य एक अमूर्त संस्था है और सरकार इस अमूर्त संस्था का मूर्त रूप है। **प्रो० गार्नर** ने सरकार की परिभाषा देते हुए कहा है, "सरकार वह अभिकरण या मशीन है जिसके द्वारा राज्य की सामान्य नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं, सामान्य मामलों को नियमित किया जाता है तथा सामान्य हितों को उन्नत किया जाता है।"[1] अर्थात, सरकार राज्य-रूपी भावात्मक धारणा की अभिव्यक्ति है। यह राज्य की आत्मा है। सरकार के बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। **गार्नर** ने पुनः कहा है, "सरकार के अभाव में जनसंख्या असंबद्ध, असंगठित, अराजकीय जनसमूह ही होगी और किसी भी सामूहिक कार्य का होना संभव नहीं होगा।"[2] इससे स्पष्ट है कि सरकार राज्य का एक आवश्यक तत्त्व है और जनसंख्या तथा निश्चित प्रदेश के बावजूद यदि सरकार न हो तो राज्य का निर्माण कदापि संभव नहीं। इस संबंध में एक प्रश्न यह उठता है कि सरकार कैसी हो। इसका निश्चित उत्तर तो नहीं दिया जा सकता, लेकिन इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि परिस्थितियों के अनुसार सरकार में परिवर्तन होते रहते हैं। सरकार प्रजातंत्रवादी, एकतंत्रवादी, संसदीय या अध्यक्षात्मक, संघात्मक तथा एकात्मक भी हो सकती है। सरकार के संगठन के संबंध में यह याद रखना चाहिए कि इसके तीन मुख्य अंग होते हैं—कार्यपालिका (executive), विधायिका (legislative), न्यायपालिका (judiciary)। विधायिका राज्य की इच्छा का निर्माण करती है, कार्यपालिका उसे व्यावहारिक रूप देती है तथा न्यायपालिका उसका पालन करवाती है।

4. संप्रभुता—संप्रभुता राज्य का चौथा अनिवार्य तत्त्व है, जो उपर्युक्त तीन तत्त्वों से अधिक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली है। संप्रभुता राज्य-रूपी देह की आत्मा है। कोई भी जनसमूह एक निश्चित स्थान में स्थायी रूप से निवास करता है और यदि उसकी एक संगठित सरकार भी हो तो उसे हम राज्य नहीं कह सकते, क्योंकि वह संप्रभुतासंपन्न नहीं है। 15 अगस्त, 1947 के पहले भारत एक राज्य नहीं था, क्योंकि वह संप्रभुताविहीन था। उसके पास जनसंख्या, निश्चित भू-भाग और संगठित सरकार के रहते हुए भी उसमें संप्रभुता नहीं थी। यही कारण है कि हम बिहार, बंगाल, पंजाब आदि को राज्य नहीं मानते, क्योंकि अन्य सारे तत्त्वों के बावजूद हम उनमें संप्रभुता नहीं पाते।

राज्य की संप्रभुता से तात्पर्य यह है कि राज्य आंतरिक रूप से उच्चतम और बाहरी नियंत्रण से मुक्त हो। इसलिए, संप्रभुता के दो रूप—आंतरिक और बाह्य—बताए गए हैं—

1. आंतरिक संप्रभुता—आंतरिक संप्रभुता का अर्थ है कि राज्य अपने प्रदेश के अंतर्गत सर्वोच्च शक्ति है और वह प्रत्येक व्यक्ति, समूह या संस्था को आदेश दे सकता है और उसका पालन करने के लिए उन्हें बाध्य कर सकता है। राज्य स्वयं किसी की आज्ञा का पालन नहीं करता, वरन अपनी आज्ञा का उल्लंघन करनेवालों को दंड दे सकता है। अतः, सबको राज्य की आज्ञा का पालन करना चाहिए।

2. बाह्य संप्रभुता—बाह्य संप्रभुता से अभिप्राय है कि राज्य किसी भी बाहरी शक्ति के नियंत्रण में नहीं है। वह दूसरे देशों के साथ संबंध निश्चित करने में पूर्ण स्वतंत्र है। उसे अपने इच्छानुसार युद्ध या संधि करने का भी अधिकार प्राप्त है।

---

1. "Government is the agency or machinery through which common policies are determined and by which common affairs are regulated and common interests promoted."—GARNER
2. "Without a government the population would be an incoherent unorganized anarchic mass with no means of collective action."—GARNER

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अतएव, संप्रभुतासंपन्न राज्य आंतरिक तथा बाह्य दोनों दृष्टियों से किसी उच्च शक्ति के अधीन नहीं होता। संप्रभुता एक ऐसा तत्त्व है जिसका विभाजन नहीं होता और जो अपनी मौलिकता, स्थायित्व आदि गुणों को बनाए रखता है।

5. **आज्ञाकारिता—प्रो॰ विलोबी** ने राज्य-संबंधी उपर्युक्त चार तत्त्वों के अलावा एक अन्य तत्त्व का भी उल्लेख किया है जो राज्य-निर्माण के लिए आवश्यक है। वह तत्त्व नागरिकों के बीच आज्ञाकारिता की भावना है। प्रो॰ विलोबी ने कहा है कि यदि राज्य की जनता में आज्ञापालन की भावना न रहे तो राज्य स्थायी नहीं रह सकता। लेकिन, राजनीतिशास्त्र के अधिकांश विद्वानों ने आज्ञाकारिता-संबंधी इस तत्त्व को अलग से स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि उनकी दृष्टि में संप्रभुता में ही आज्ञापालन की भावना निहित है। लेकिन, यहाँ संप्रभुता और आज्ञापालन दोनों के दो अर्थ होते हैं। जहाँ संप्रभुता राज्य की एक बाध्यकारी शक्ति है, वहाँ आज्ञाकारिता (obedience) नागरिकों की एक स्वतः भावना, जो उनमें अपने-आप उत्पन्न होती है। ऐसा देखा गया है कि संप्रभु राज्यों के नागरिकों ने कभी-कभी उनके आदेशों का उल्लंघन भी कर दिया है, जिसका परिणाम क्रांति या विद्रोह हुआ है।

6. **मान्यता**—मान्यता (recognition) भी आज के राज्यों के लिए एक अनिवार्य तत्त्व है। चूँकि आज विश्व के राज्यों को अंतरराष्ट्रीय जगत में अपना स्थान प्राप्त करना होता है और वह स्थान उन्हें तब तक नहीं मिलता है जब तक विश्व के राज्यों ने उन्हें मान्यता न प्रदान कर दिए हों, इसलिए विश्व के सारे राष्ट्र अपने जन्म के दिन से ही मान्यता प्राप्त करने का प्रयास करने लगते हैं। मान्यता की धारणा 20वीं शताब्दी की अन्तरराष्ट्रीयता की भावना में वृद्धि से काफी विकसित हुई है। आज मान्यताप्राप्ति के बिना कोई भी राज्य अपने अन्य मूल तत्त्वों के बावजूद शांतिपूर्वक नहीं रह सकता है। मान्यता अंतरराष्ट्रीय जगत में राज्य की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है। इसलिए इसका राजनीतिक आधार होते हुए भी राज्यों के अस्तित्व के लिए आवश्यक हो गया है। उदाहरण के लिए, 1971 ई॰ में जन्मे **बंगलादेश** को ले सकते हैं जिसके लिए मान्यता एक आवश्यक तत्त्व हो गई। यदि बंगलादेश को विश्व के राज्यों ने राज्य की हैसियत से मान्यता न दी होती तो वह संयुक्त राष्ट्र रूपी विश्व संगठन का सदस्य नहीं हो पाता। इसलिए राज्य के अन्य मूल तत्त्वों के साथ-साथ मान्यता-संबंधी अन्तरराष्ट्रीय तत्त्व भी उसके राज्य कहलाने के लिए आवश्यक हो गया है। यह बात सही है कि कुछ विद्वानों ने मान्यता को राज्य के आवश्यक तत्त्वों में नहीं गिना है, क्योंकि मान्यता अपनी पवित्रता के साथ-साथ राजनीतिक हो गई है। 1949 से 1971 ई॰ तक साम्यवादी चीन को संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसी आधार पर मान्यता नहीं दिया था, जबकि उसके राज्य होने के संबंध में कोई संदेह नहीं था।

राज्य और अन्य संस्थाओं में अंतर
(Distinction between State and Other Institutions)

मनुष्य ने राज्य के अलावा अन्य संस्थाओं और संघों में अपने को संगठित किया है। उसकी सामाजिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति केवल समाज के निर्माण तक ही सीमित नहीं रह जाती, वरन वह अपनी सामाजिकता को विभिन्न रूपों में विभिन्न प्रकार के समुदायों की सदस्यता को प्राप्त कर अभिव्यक्त करता है। यही कारण है कि महान राजनीतिशास्त्री **एच॰ जे॰ लॉस्की** ने कहा है, "मनुष्य एक समुदाय निर्माण करनेवाला प्राणी है" (Man is a community building animal), लेकिन राज्य अन्य मानवीय समुदायों से बिल्कुल भिन्न है। कुछ लोग राज्य, सरकार, समाज, समुदाय को पर्यायवाची समझकर प्रयोग कर देते हैं, लेकिन वस्तुतः राज्य और इन शब्दों में बहुत अंतर है। अन्य समुदायों से राज्य की भिन्नता को हम निम्नांकित रूप में स्पष्ट कर सकते हैं।

राज्य और समाज (State and Society)

बहुत-से विद्वानों ने राज्य और समाज के बीच के सम्बन्ध को दर्शाने का प्रयास किया है। यूनानी विद्वान **प्लेटो** और **अरस्तू** ने राज्य और समाज के बीच कोई अन्तर नहीं माना है। उनके लिए समाज ही राज्य था और मानव सामाजिक तथा राजनीतिक जीव दोनों था। हरबर्ट स्पेंसर ने समाज शब्द का प्रयोग आदर्श राज्य के रूप में किया है। आदर्शवादी विचारक हीगेल और फासिस्ट नेता मुसोलिनी ने राज्य और समाज में कोई अंतर स्वीकार नहीं किया है। जहाँ **हीगेल** ने राज्य को सर्वव्यापी और सर्वोपरि बताया है, वहाँ **मुसोलिनी** ने

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

यह कहा है, "राज्य के बाहर और उसके विरुद्ध कुछ भी नहीं है। सबकुछ राज्य में समाविष्ट है।" **टी० एच० ग्रीन** तथा **काण्ट** ने भी राज्य और समाज में अंतर्भेद नहीं किया है, परंतु आधुनिक काल में समाज और राज्य में अंतर्भेद किया गया है, और समाज का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। **मैकिवर** ने कहा है, "जो राजनीतिक है उसे सामाजिकता के साथ एकमत करना एक भयानक भूल है, जिसका कारण न समाज और न राज्य को ही समझा जा सकता है। समाज वह पूर्ण व्यवस्था है, जिसमें सभी सामाजिक बंधन शामिल हैं।"

राज्य और समाज में अंतर

मैकिवर के अलावा **बार्कर** ने भी अपनी पुस्तक में समाज और राज्य के बीच अंतर्भेद किया है। उसने कहा है कि राज्य और समाज दोनों मानवीय हैं और दोनों का एक नैतिक उद्देश्य है। फिर भी, समाज सहयोग से कार्य करता है, जबकि राज्य बल-प्रयोग द्वारा आज्ञा का पालन करवाता है। समाज की रीतियाँ लचीली होती हैं तो राज्य की नीतियाँ कठोर होती हैं। समाज की नैतिकता सामाजिक होती है तो राज्य की नैतिकता राजनीतिक होती है। समाज विभिन्न प्रथाओं द्वारा अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करता है, राज्य विधियों द्वारा अपनी इच्छाओं को स्पष्ट करता है। समाज का कार्य करनेवाले सामाजिक कार्यकर्ता कहलाते हैं, जबकि राज्य के कार्य करनेवाले राजनीतिक अधिकारी होते हैं। **बार्कर** ने पुनः कहा है, "समाज का क्षेत्र वस्तुतः स्वतः सहयोग का क्षेत्र है, इसकी शक्ति सद्भावना (goodwill) है और इसकी विधि लोचपूर्ण (elastic) है; जबकि राज्य का क्षेत्र यांत्रिक क्रिया है, इसकी शक्ति दमन है और इसकी विधि कठोरता है।"[1] राज्य और समाज के अंतर को हम निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट कर सकते हैं—

1. जन्म की दृष्टि से अंतर—समाज का जन्म राज्य के पहले हुआ है। मनुष्य समाज में प्रारंभ से ही रहता आया है। राज्य के आगमन के पहले ही मनुष्य ने समाज का सृजन कर लिया था, अर्थात समाज राज्य से पूर्वगामी है।

2. संगठन की दृष्टि से अंतर—राज्य एक सुसंगठित संस्था है, परंतु समाज असंगठित भी हो सकता है। राजनीतिक रूप से संगठित और सुव्यवस्थित जनसमुदाय को ही राज्य की संज्ञा दी गई है, लेकिन समाज के लिए राजनीतिक संगठन आवश्यक नहीं है।

3. उद्देश्य की दृष्टि से अंतर—उद्देश्य की दृष्टि से भी समाज और राज्य में अंतर है। जहाँ राज्य का उद्देश्य राजनीतिक होता है, वहाँ समाज का उद्देश्य मानव के राजनीतिक, नैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि पहलुओं को विकसित करना है।

4. संप्रभुता-संबंधी अंतर—राज्य और समाज में एक अन्य अंतर है कि जहाँ राज्य संप्रभुत्वसम्पन्न होता है वहाँ समाज के लिए संप्रभुता का होना आवश्यक नहीं है। समाज के पास परंपरा और नैतिक विचार से संबद्ध शक्ति होती है।

5. भू-खंडीय अंतर—जहाँ राज्य के लिए एक निश्चित भू-खंड अनिवार्य है, वहाँ समाज के लिए निश्चित भू-भाग की कोई आवश्यकता नहीं है। राज्य एक भौगोलिक सीमांतर्गत रहता है, लेकिन समाज के लिए किसी भौगोलिक सीमा की आवश्यकता नहीं है। समाज की भावना एक परिवार से लेकर पूरे विश्व तक फैली हुई है। **मैकिवर** ने भी कहा है, "राज्य समाज के भीतर है, परंतु यह समाज का रूप नहीं है" (The state exists within society but it is not even the form of the society.)।

6. क्षेत्रीय अंतर—राज्य समाज के अनेक समुदायों में एक है। राज्य का क्षेत्र समाज के क्षेत्र से सीमित है। ग्रीन ने समाज का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। **मैकिवर** ने भी कहा है, "राज्य एक संगठन है जो न तो समाज का समवयस्क है और न समाज के समान व्यापक है, वह समाज के अंतर्गत कुछ विशेष उद्देश्यों के लिए स्थापित एक निश्चित व्यवस्था है।"[2]

7. निर्माण-संबंधी अंतर—जहाँ राज्य के निर्माण में जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार, संप्रभुता, आज्ञाकारिता तथा मान्यता-संबंधी तत्त्वों की आवश्यकता है, वहाँ समाज के निर्माण के लिए केवल जनसंख्या तथा भूमि की आवश्यकता है।

---

1. "The area of society is voluntary co-operation, its energy is goodwill and its method is elasticity; while the area of the state is mechanical action, its energy is force and its method is rigidity."—BARKER
2. "The state is a structure not co-equal and co-extensive with society, but within it as a determinate order for the attainment of specific ends."—MACIVER

WWW.GRADESETTER.COM

8. स्वाभाविकता-संबंधी अंतर—**शॉल्टाऊ** ने कहा है, "समाज स्वतः उत्पन्न एक स्वाभाविक संस्था है जबकि राज्य मानव की संकल्पशक्ति और तर्क की उपज है।"[1] लेकिन, अरस्तू ने राज्य को भी मानव स्वभाव में निहित पाया है।

9. अभिव्यक्ति-संबंधी अंतर—जहाँ समाज अपनी इच्छा और भावनाओं को विभिन्न सामाजिक प्रथाओं, रीति-रिवाजों, परंपराओं इत्यादि के द्वारा अभिव्यक्त करता है, वहाँ राज्य अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति केवल कानून और विधि द्वारा करता है।

निष्कर्ष (Conclusion)—राज्य और समाज में उपर्युक्त भेद के बावजूद दोनों के बीच बड़ा घनिष्ठ संबंध भी है। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। समाज राज्य पर आश्रित है और राज्य समाज पर। दोनों में इतना परस्पर संबंध है कि हम उनके विभेद को लेकर बहुत बड़े विवाद में फँसना नहीं चाहते। यह बात सही है कि **प्लेटो, अरस्तू, हरबर्ट स्पेन्सर, हीगेल, टी॰ एच॰ ग्रीन** तथा **काण्ट**-जैसे आदर्शवादी विचारकों ने राज्य और समाज में अधिक अंतर नहीं किया है, फिर भी समाज राज्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत है जिसे **बार्कर** तथा **मैकिवर** आदि विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। **बार्कर** ने लिखा है कि समाज और राज्य दोनों का एक ही नैतिक उद्देश्य है और दोनों एक-दूसरे की ओर झुकते हैं तथा एक-दूसरे से लाभ उठाते हैं।

राज्य और सरकार (State and Government)

विषय-प्रवेश (Introduction)—राजनीतिशास्त्र के कुछ ऐसे विद्वान हैं जिन्होंने समाज और सरकार को पर्यायवाची के रूप में व्यवहार किया है। फ्रांसीसी सम्राट लुई चौदहवाँ कहा करता था कि 'मैं ही राज्य हूँ' (I am the state)। राज्य के संबंध में विद्वान लेखक **जी॰ डी॰ एच॰ कोल** (G. D. H. Cole) का विचार है कि राज्य एक समुदाय की शासन-व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस संबंध में **लॉस्की, ड्यूग्वी, डब्लू॰ जी॰ सुमनर** (W. G. Sumner) तथा **ए॰ जी॰ केलर** (A. G. Keller) आदि विद्वानों ने अपना-अपना मत प्रकट किया है। यही कारण है कि हम भारत राज्य, पाकिस्तान राज्य, अमेरिकी सरकार तथा भारत सरकार आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। अतः, 'राज्य और सरकार' शब्दों के पर्यायवाची प्रयोग से दोनों के संबंधों में प्रायः भ्रम उत्पन्न हो जाता है। तथ्य यह है कि राज्य और सरकार एक-दूसरे के पर्यायवाची न होकर एक-दूसरे से कोसों दूर हैं। इस प्रकार, राज्य और सरकार के भ्रमकारी प्रयोग का एकमात्र कारण ऐतिहासिक है, क्योंकि प्रारंभ में राज्य शब्द का प्रयोग आज की तरह विशिष्ट संदर्भ तथा अर्थ में नहीं किया जाता था।

राज्य और सरकार में अंतर

आज 'राज्य' और 'सरकार' शब्द का प्रयोग दो विभिन्न अर्थों को संकेत करने के लिए किया जाता है। इन दोनों के अंतर्भेद को हम निम्नांकित रूपों में रख सकते हैं—

1. अभिकर्ता-संबंधी अंतर—सरकार राज्य का एक अंग है, एक साधन है, क्योंकि गार्नर ने भी कहा है, "सरकार उस संगठन का नाम है जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छाओं को निर्धारित, अभिव्यक्त और कार्यान्वित करता है।" इससे यह स्पष्ट होता है कि राज्य प्रधान है और सरकार उसका एक प्रतिनिधि है। प्रो॰ लॉस्की ने भी यही बात दुहराई है और कहा है कि सरकार राज्य का अभिकर्ता (agent) है।

2. व्यापकता-संबंधी अंतर—राज्य, सरकार की अपेक्षा अधिक व्यापक है। राज्य एक सर्वव्यापक संगठन है जिसके अन्दर सारे नागरिक आते हैं, लेकिन सरकार (government) राज्य का एक अवयवी संगठन है जिसमें केवल शासकवर्ग ही आता है।

3. भू-भाग-संबंधी अंतर—एक निश्चित भू-भाग होना राज्य का अनिवार्य तत्त्व है, जो सरकार के लिए आवश्यक नहीं है। सरकार तो स्वयं राज्य के प्रमुख तत्त्वों में एक है।

4. स्वरूप-संबंधी अन्तर—स्वरूप के ध्यान से भी राज्य और सरकार में विभेद है। राज्य एक अमूर्त और निराकार संस्था है। राज्य का कोई स्थूल रूप नहीं है। इसे हम देख नहीं सकते। लेकिन, सरकार एक संगठन है। इसके द्वारा राज्य के अस्तित्व का भान होता है।

---

1. "Society is natural and instinctive, the state is the creation of will and reason."—SOLTAU

WWW.GRADESETTER.COM

5. उत्पत्ति-संबंधी अंतर—उत्पत्ति की दृष्टि से भी राज्य और सरकार में विभेद है। राज्य की उत्पत्ति का स्रोत मानव-स्वभाव और उसका आधार मानव-इच्छा तथा तर्क है, लेकिन राज्य एक कृत्रिम संगठन है। व्यक्तियों ने अपनी सहूलियत के लिए राज्य का निर्माण किया है।

6. संप्रभुता-संबंधी अंतर—राज्य एक संप्रभुता संपन्न संस्था है। संप्रभुता इसका एक आवश्यक तत्त्व है। लेकिन, सरकार तो राज्य द्वारा ही नियमित और संचालित होता है।

7. स्थायित्व-संबंधी अंतर—राज्य एक स्थायी संस्था है, लेकिन सरकार अस्थायी। राज्य कभी नहीं बदलता, परन्तु सरकार के स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से भारत में काँगरेस दल की सरकार थी, बीच में कुछ दिनों के लिए जनता दल की सरकार बनी और अब काँगरेस (इ) दल की सरकार है।

8. मौलिकता-संबंधी अंतर—जहाँ राज्य की शक्तियाँ मौलिक होती हैं, वहाँ सरकार की शक्तियाँ प्रदत्त होती हैं।

9. अंतरराष्ट्रीयता की दृष्टि से अंतर—अंतरराष्ट्रीय संबंधों के ध्यान से भी राज्य और सरकार में अंतर है। विश्व के विभिन्न देश राज्यों से ही राजनयिक संबंध (diplomatic relations) स्थापित करते हैं, सरकारों से राजनयिक संबंध स्थापित नहीं किया जाता है।

संबंध—उपर्युक्त सारे तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य और सरकार में काफी विभिन्नताएँ हैं। लेकिन, इन विभिन्नताओं के बावजूद इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि राज्य और सरकार—दोनों एक-दूसरे के बहुत निकट हैं। किसी एक की अनुपस्थिति में दूसरे का काम नहीं चल सकता। **शॉल्टाऊ** (Soltau) ने भी कहा है, "शासनतंत्र का स्वरूप ही राज्य के राजनीतिक स्वरूप के अंतर को स्थिर करता है। जब हम कहते हैं कि ब्रिटेन एक वैधानिक राज्य है तब हमारा राज्य और शासनतंत्र दोनों से ही मतलब होता है।" अतः, दोनों में पारस्परिक संबंध है।

निष्कर्ष—अस्तु, निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि राज्य और सरकार में वही संबंध है जो शरीर और हृदय में है। हृदय के बिना शरीर का कोई अस्तित्व नहीं है। उसी प्रकार, सरकार के बिना राज्य-रूपी शरीर का कोई अस्तित्व नहीं होता है। सरकार आत्मा है तो राज्य उस आत्मा का निवासस्थान है। दोनों का दो रूप निश्चित रूप से है, लेकिन दोनों को दोनों की आवश्यकता है। जिस तरह आत्मा के अच्छी तरह से काम नहीं करने पर शरीर रोगी हो जाता है, उसी प्रकार सरकार के अच्छा नहीं होने पर राज्य रोगग्रस्त हो जाता है।

राज्य और राष्ट्र (State and Nation)

आज राज्य और राष्ट्र शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में किया जाता है। अनेक विद्वानों की राय में राज्य और राष्ट्र में कोई अंतर नहीं है। उदाहरण के लिए, 'भारत राज्य' को 'भारत राष्ट्र' भी कहकर पुकारा जाता है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर राज्यों के संघ को भी 'संयुक्त राष्ट्र' (United Nations) कहा जाता है। लेकिन, यदि हम इसका सही विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि राज्य और राष्ट्र शब्द का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में नहीं किया जा सकता है। ये दोनों शब्द एक-दूसरे से काफी दूर हैं।

राजनीतिशास्त्र के अनेक विद्वानों ने राष्ट्र शब्द की परिभाषा दी है। इन विद्वानों में राम्जे म्योर, लॉर्ड ब्राइस, ड्युग्वी तथा गार्नर का प्रमुख स्थान है। **रैम्जे म्योर** के अनुसार, "राष्ट्र ऐसे लोगों का समुदाय है जो कुछ घनिष्ठ संबंधों के कारण आपस में स्वभावतः आबद्ध अनुभव करते हैं। ये संबंध उनके लिए इतने सुदृढ़ और वास्तविक होते हैं कि उन्हें सुखपूर्वक रहने के लिए उत्प्रेरणा मिलती है।" **लॉर्ड ब्राइस** के शब्दों में, "राष्ट्र ऐसी राष्ट्रीय इकाई है जो एक राजनीतिक समुदाय के रूप में स्वतंत्र हो और स्वतंत्र होने की इच्छा रखती हो।"[1] **बर्गेस** ने कहा है, "राष्ट्र भौगोलिक दृष्टि से बसा एक ऐसा प्रदेश है जिसमें जाति-विषयक एकता वाली जनसंख्या रहती हो।"[2] **गार्नर** ने तो इसे परिभाषित करते हुए लिखा है, "एक राष्ट्र सांस्कृतिक समानता का एक सामाजिक समूह है जो अपने मानसिक जीवन और अभिव्यक्ति की एकता के संबंध में

1. "A nation is a nationality which has organised itself into a political body either independent or desiring to be independent."—LORD BRYCE
2. "Nation is a population of an ethnic unity inhabiting a territory of geographic unity."—BURGESS

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

पूर्ण चेतना और दृढ़ निश्चय रखता है।"[1] **चार्ल्स पी॰ श्लीचर** (Charles P. Schleicher) ने कहा है, "राष्ट्र ऐसे मानव समुदाय को कहते हैं जिसमें पारस्परिक एकता को गहरी अनुभूति के साथ अपने को अन्य समुदायों से अलग समझने की प्रवृत्ति भी हो।"[2] **हान्स कोन** ने राष्ट्रवाद को मन की वह स्थिति-विशेष (a state of mind) बताया है जिससे व्यक्ति राष्ट्रराज्य के प्रति सर्वोच्च शक्ति का अनुभव करता है।[3] कुछ लोग इसे देश-प्रेम तथा जातीयता का सम्मिश्रण पाते हैं।[4] **बॉयड शेफर** (Boyd Shafer) ने अपने **राष्ट्रवाद : कल्पना और सत्य** *(Nationalism : Myth and Reality)* में राष्ट्रवाद को सार-रूप में इस प्रकार उपस्थित किया है : "राष्ट्र कहलाने के लिए एक निश्चित भू-भाग, समान इतिहास और उद्गम तथा अपने उज्ज्वल और गौरवमय भविष्य में आस्था का होना आवश्यक है।"[5] इस प्रकार, राष्ट्र राजनीतिक और सांस्कृतिक मूल्यों को सर्वोपरि मानता है। इसका मूल स्वर स्वेदश-प्रेम है जो राष्ट्रनिष्ठा की मात्रा के आधार पर आँका जाता है। पराधीन जनता की दृष्टि से इसका मुख्य उद्देश्य स्वतंत्र राज्य की स्थापना होता है। इस प्रकार, राष्ट्र अन्त में एक स्वतंत्र राज्य के रूप में परिणत होकर रहता है।

अब हम राष्ट्रराज्य के रूप को निम्नांकित रूपों में रख सकते हैं—

विषय-वस्तु-संबंधी अंतर—राष्ट्र मानवों की आध्यात्मिक एकता का परिचायक है। लेकिन, राज्य का संबंध मानव की बाह्य राजनीतिक एकता से है। **प्रो॰ जिमर्न** ने राष्ट्रीयता और राज्य में जो भेद दिखाया है, वही राष्ट्र (nation) और राज्य के लिए भी दिया जा सकता है। उनके विचार में, "राष्ट्रीयता धर्म की तरह आत्मिक (subjective) है, राज्य भौतिक (objective) है; राष्ट्रीयता मनोवैज्ञानिक है, राज्य राजनीतिक है; राष्ट्रीयता एक मनोदशा है, राज्य एक कानूनी स्थिति है; राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक अधिकार है, राज्य एक दायित्व है; राष्ट्रीयता एक अनुभूति, जीवन और चिंतन की एक विधि है, राज्य जीवन के समस्त सभ्य तरीकों की एक अभिन्न दशा है।"[6]

तत्त्व-संबंधी अंतर—राज्य के निर्माण के चार तत्त्व हैं—जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, संगठित सरकार और संप्रभुता। राज्य के इन चार तत्त्वों में कभी भी परिवर्तन नहीं हो सकता है। ये चारों तत्त्व स्थिर हैं। लेकिन, जहाँ तक राष्ट्र-निर्माण के तत्त्वों का प्रश्न है, उनका प्रमुख आधार मानवों में पारस्परिक एकता की भावना है जिसे राज्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके साथ ही राष्ट्र-निर्माण के प्रमुख तत्त्वों, जैसे—भाषा, धर्म, रीति-रिवाज में हमेशा परिवर्तन होता रहता है।

संप्रभुता-संबंधी अंतर—संप्रभुता (sovereignty) राज्य का एक आवश्यक तत्त्व है। परन्तु, राष्ट्र के लिए यह आवश्यक नहीं है। अर्थात, संप्रभुता के बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती, लेकिन राष्ट्र संप्रभुता की अनुपस्थिति में भी कायम रह सकता है। राज्य अपने आदेशों और कानूनों का पालन नागरिकों से बलप्रयोग के आधार पर करवा सकता है तथा अपराधियों को दंड दे सकता है। राष्ट्र के पास ऐसी कोई शक्ति नहीं है। उसके पास केवल नैतिक बल होता है।

संगठन और सरकार-संबंधी अंतर—जहाँ राज्य एक सुसंगठित संस्था है वहाँ राष्ट्र संगठित और असंगठित दोनों हो सकता है। राज्य के कार्य के संचालन के लिए एक संगठित सरकार की आवश्यकता है। सरकार के बिना राज्य का अस्तित्व कायम नहीं रह सकता है। यह राष्ट्र के लिए बिल्कुल आवश्यक नहीं है।

स्वतंत्रता-संबंधी अंतर—एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र या राज्य के अधीन में रहकर भी अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए रख सकता है, लेकिन कोई राज्य किसी राष्ट्र के अधीन रहकर अपनी स्वतंत्र स्थिति को

---

1. "A nation is a culturally homogeneous social group which is at once conscious and tentacious of its unity of physical life and expression."—GARNER
2. "A nation is a group of people with feeling of solidarity among themselves and a sense of distinctness from others."—CHARLES P. SCHLEICHER : *International Relations* (New Delhi, Prentice Hall of India Ltd. 1963), p. 49
3. *Ibid*, p. 50
4. CARLTON J. H. HAYES : *Essays on Nationalism* (McMillan, 1926), p. 6
5. "A nation includes a certain defined unit of territory, a belief in a common history and in a common origin and a hope that the nation will have a great and glorious future."—BOYD SHAFER
6. "A nationality, like religion is subjective, statehood is objective; nationality is psychological, statehood is political; nationality is a condition of mind, statehood is a condition in law; nationality is a spiritual possession, statehood is an enforceable obligation; nationality is a way of feeling, thinking and living, statehood is a condition inseparable from all civilized ways of living."—ZIMMERN

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

नहीं बनाए रख सकता। किसी भी अधीन राज्य की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है और पुनः उसे राज्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती है।

अन्य अंतर—एक राज्य के अंतर्गत अनेक राष्ट्र हो सकते हैं और एक राष्ट्र भी कई राज्यों में विभाजित हो सकता है। 1947 ई० के पूर्व समस्त भारत एक राष्ट्र के रूप में अँगरेजी दासता से मुक्ति चाहता था, लेकिन स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत राष्ट्र का भारत और पाकिस्तान दो राज्यों में बँटवारा हो गया। राष्ट्र एक मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक भावनाओं द्वारा प्रेरित एकता की चेतना को प्रकट करता है। अतएव, यह आत्मपरक (subjective) है, जबकि राज्यत्व (statehood) वस्तुपरक एवं राजनीतिक है।

निष्कर्ष—अस्तु, निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि चाहे राज्य और राष्ट्र में जो भी अंतर हो, 1920 ई० के बाद से राज्य और राष्ट्र शब्दों को समान अर्थों में लेने की प्रवृत्ति हो गई है। आज का सिद्धांत है कि प्रत्येक राष्ट्र को पृथक राज्य निर्मित करना चाहिए, और प्रत्येक राज्य में एक अकेला राष्ट्र होना चाहिए। आज प्रायः प्रत्येक राष्ट्र अपने एक निजी राज्य में संगठित है। जब राष्ट्र काफी सचेत हो जाता है तो निश्चित रूप से एक स्वतंत्र राज्य के रूप में परिणत होकर रहता है। प्रत्येक राज्य के नेता और लोग अपने राष्ट्रीय हितों को दुनिया में सर्वोपरि मानते हैं और राज्य के प्रति निष्ठा को संसार के किसी भी अन्य दायित्व से बढ़कर समझते हैं। वे अपने राष्ट्रीय हितों को जिस रूप से स्वयं देखते हैं, उसी रूप में दुनिया द्वारा देखे जाने की उम्मीद करते हैं। आज मानव समाज की यह धारणा है कि मनुष्य की चरम निष्ठा एकमात्र राष्ट्र के प्रति ही होनी चाहिए।

राज्य और समुदाय (State and Association)

राज्य के अलावा मनुष्य ने विभिन्न संघों तथा समुदायों में भी अपने को संगठित किया है। अपने सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मनुष्यों का एक संगठित समूह होता है जिसे हम समुदाय कहते हैं। **मैकिवर** ने समुदाय की परिभाषा देते हुए कहा है, "समुदाय एक समूह होता है जो सामान्य रूप से किसी सामान्य हित या हितों की सामूहिक पूर्ति के लिए संगठित होता है।"[1] बहुलवादी विचारकों ने राज्य को इन्हीं समुदायों में से एक समुदाय कहा है। लेकिन, राज्य एक विशिष्ट समुदाय है जो समाज के अन्य समुदायों से सर्वथा भिन्न है।

राज्य और समुदाय में अंतर

राज्य समुदायों से एक विशिष्ट और उच्चतर संस्था है। अन्य समुदायों से राज्य की भिन्नता को हम निम्नांकित रूपों में रख सकते हैं—

(i) सदस्यता-संबंधी अंतर—राज्य की सदस्यता अनिवार्य है, परंतु संघों और समुदायों की सदस्यता ऐच्छिक है। प्रत्येक संघ की सदस्यता प्राप्त करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है। हम कभी भी अपनी इच्छा से संघ या समुदाय की सदस्यता से अपना संबंध-विच्छेद कर सकते हैं। व्यक्ति को किसी-न-किसी राज्य का नागरिक रहना ही पड़ेगा। राज्य की सदस्यता व्यक्ति को अपने-आप ही मिल जाती है जबकि समुदाय की सदस्यता चाहने पर मिलती है।

(ii) बहुसमुदायी सदस्यता—एक व्यक्ति एक ही साथ अनेक संघों और समुदायों का सदस्य हो सकता है, लेकिन जहाँ तक राज्य की सदस्यता का प्रश्न है, एक व्यक्ति साधारणतः एक समय एक ही राज्य का नागरिक हो सकता है।

(iii) स्थायित्व संबंधी अंतर—संघ एवं समुदाय अस्थायी होते हैं, परंतु राज्य एक स्थायी संगठन है। किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के बाद प्रायः संघ एवं समुदाय भंग कर दिए जाते हैं, लेकिन राज्य एक सार्वकालिक संस्था है जिसका अस्तित्व सदैव बना रहता है।

(iv) संप्रभुता-संबंधी अंतर—राज्य और समुदाय में एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि राज्य एक संप्रभुता-संपन्न संस्था है। इसके पास प्रभुत्व-शक्ति होती है, जबकि दूसरे समुदाय के पास इस तरह की कोई शक्ति नहीं होती है। एक राज्य में स्थित सारे संघों और समुदायों को राज्य की संप्रभुता स्वीकार करनी पड़ती है।

1. "We define an association, then as a group organised for the pursuit of an interest or a group of interests in common."—MACIVER

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(v) उत्तरदायित्व संबंधी अंतर—राज्य को कुछ ऐसे उत्तरदायित्व सौंपे गए हैं, जिन्हें किसी अन्य समुदाय को नहीं सौंपा जा सकता। देश की स्वतंत्रता की रक्षा करना तथा बाह्य आक्रमण के समय देश के नागरिकों के उत्साह को बनाए रखना राज्य का मौलिक कर्तव्य है। अन्य समुदाय न तो इस कार्य को करने का दावा ही रखते हैं और न वे कर ही सकते हैं। **मैकिवर** ने भी कहा है कि सुरक्षा की स्थापना और उसको बनाए रखना राज्य का वह विशिष्ट कार्य है जिससे अन्य समुदायों से उसका भेद हो जाता है।

(vi) उद्देश्य-संबंधी अंतर—राज्य का उद्देश्य बहुमुखी तथा व्यापक है जो नागरिक जीवन के प्रत्येक पहलू को छूता है। राज्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना चाहता है। इसके विपरीत, समुदाय के उद्देश्य विशिष्ट और सीमित होते हैं।

(vii) भू-भाग-संबंधी अंतर—राज्य एक निश्चित भू-भाग में अवस्थित रहता है तथा उसकी एक निश्चित सीमा होती है। परंतु, समुदायों की कोई निश्चित सीमा नहीं होती, वे किसी स्थान-विशेष तक सीमित नहीं होते। कुछ समुदाय तो अंतरराष्ट्रीय स्वरूप के होते हैं; जैसे—रेडक्रॉस सोसाइटी तथा रोटरी क्लब आदि।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि राज्य और विभिन्न समुदायों में अत्यधिक अंतर है। फिर भी, यह कहा जा सकता है, जैसाकि बहुलवादियों ने भी स्वीकार किया है, राज्य भी अन्य समुदायों की तरह एक बड़ा समुदाय है। विभिन्न समुदायों से राज्य का अंतर सदस्यता, भौगोलिक सीमा, स्थाईपन, उद्देश्य, उत्तरदायित्व, संप्रभुता तथा सर्वोपरिता आदि अनेक तथ्यों के स्पष्टीकरण से हो जाता है। अतः, राज्य समाज का वह शक्तिशाली तथा सर्वोपरि संघ है जिसके अंतर्गत सारे समुदायों का अस्तित्व कायम रहता है।

प्रश्नावली

1. 'राज्य' शब्द की परिभाषा कीजिए और इसके मूल तत्त्वों की विवेचना कीजिए।
   (Define the term 'State' and discuss its essential elements.)
2. समाज और राज्य में क्या अंतर है ?
   (What is the difference between the Society and the State ?)
3. राज्य को परिभाषित कीजिए और इसके मूल तत्त्वों की विवेचना संक्षेप में कीजिए।
   (Define State and discuss in brief its essential elements.)
4. राज्य में संप्रभुता-तत्त्व का क्या स्थान है ? संप्रभुता के कितने रूप होते हैं ?
   (What is the position of sovereignty-element in State ? How many aspects are of sovereignty ?)
5. किन पहलुओं में राज्य ऐच्छिक संस्थाओं से भिन्न है ?
   (In what respects does the State differ from voluntary associations ?)
6. आप विश्व में किस राज्य को अच्छा समझते हैं ? क्या 1947 ई० के पहले पाकिस्तान एक राज्य था ?
   (Which of the State according to you, is the best in the world ? Was Pakistan a State before 1947 ?)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 8

राज्य की प्रकृति

[THE NATURE OF THE STATE]

इस बात को कोई स्वीकार नहीं कर सकता कि कानूनी रूप में प्रत्येक राज्य में कोई-न-कोई शक्ति होती है।—लॉस्की

विषय-प्रवेश (Introduction)

राज्य की प्रकृति को लेकर राजनीतिशास्त्र के विद्वानों में काफी मतभेद है। डॉ॰ **आशीर्वादम** ने लिखा है कि राजनीतिशास्त्र में शायद ही किसी दूसरे शब्द ने इतना अधिक भ्रम उत्पन्न किया है जितना कि 'राज्य' शब्द ने। राजनीतिशास्त्र के प्रायः सभी लेखकों ने राज्य की परिभाषा अपने-अपने ढंग से की है। राज्य के स्वरूप के संबंध में तथा राज्य और व्यक्ति के बीच संबंधों को लेकर आज अनेक समस्याएँ हैं। **मैकिवर** ने अपनी पुस्तक **मॉडर्न स्टेट** में राज्य-संबंधी प्रचलित उन सभी विचारों का संकलन किया है जिसमें राज्य-संबंधी एकतरफा, संकीर्ण और भ्रामक विचारों को प्रस्तुत किया गया है। अतः, राज्य की प्रकृति का स्वरूप राजनीतिशास्त्र का एक गंभीर तथा मौलिक प्रश्न है। इस संदर्भ में हमें यह विचार करना है कि राज्य का वास्तविक स्वरूप क्या हो सकता है। राज्य के स्वरूप से संबद्ध जिन प्रमुख सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है, वे निम्नलिखित हैं—

1. वर्ग-व्यवस्था का सिद्धांत (Theory of class system)—राजनीतिशास्त्र के अधिकांश विद्वानों ने राज्य की विवेचना वर्ग-व्यवस्था के संदर्भ में किया है। उनकी दृष्टि में राज्य एक वर्ग के हाथ में दूसरे वर्गों के ऊपर शासन करने का यंत्रमात्र है। **ओपेनहेमर** ने अपनी पुस्तक 'दि स्टेट' *(The State)* में यह स्वीकार किया है कि 'राज्य' मूलतः एक वर्ग-व्यवस्था है। उनके शब्दों में, "राज्य एक ऐसे वर्ग का संगठन है, जो दूसरे वर्गों पर हावी हो।" राज्य-संबंधी यह सिद्धांत आधुनिक समाजशास्त्र के प्रणेता **कार्ल मार्क्स** के विचारों से मेल खाता है, जिसकी राय में इतिहास वर्ग-संघर्ष की कहानी है, जिसमें अमीरों द्वारा गरीबों का शोषण होता है।

मार्क्स के शिष्य **लेनिन** ने भी कहा है कि राज्य सदा ही एक विशिष्ट वर्ग का संगठनमात्र रहा है और उसका स्वरूप सदा ही ऐसा रहेगा जिससे किसी एक विशिष्ट वर्ग का हित-साधन होता रहे। राज्य की उत्पत्ति का कारण वर्ग-विभाजन है।

आलोचना—लेकिन, राज्य के स्वरूप-संबंधी यह वर्ग-व्यवस्था का सिद्धांत एकांगी है। राज्य समाज के वर्ग-विभाजन का परिणाम नहीं है और न कभी रहेगा, वरन राज्य की उत्पत्ति अन्य विभिन्न कारणों से हुई है। राज्य दमनकारी संस्था नहीं है, वरन इसका उद्देश्य लोक-कल्याणकारी है। आज का राज्य किसी वर्ग-विशेष के हित की ओर ध्यान न देकर जनता की भलाई और सभी नागरिकों के सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान देता है। अतः, राज्य की प्रकृति-संबंधी इस सिद्धांत में हम विश्वास नहीं कर सकते हैं।

2. शक्ति-व्यवस्था का सिद्धांत (Theory of force system)—कुछ लोगों ने राज्य को केवल शक्ति-व्यवस्था के संदर्भ में स्वीकार किया है। उन्होंने शक्ति की भाषा में ही राज्य की व्याख्या की है। सबसे पहले **मैकियावेली** ने राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत इस विचारधारा को जन्म दिया था और भय को उसने राज्य का आधार बताया था। बाद में आदर्शवादी विचारक **हॉब्स, कॉम्टे** और **बेंथम** ने भी कहा कि राज्य की उत्पत्ति का मूल कारण शक्ति ही है। **कॉम्टे** के शब्दों में, "प्रत्येक मानव-समाज का आधार बल होता है।" इतिहास से प्रमाण लेकर उसने इस कथन को प्रमाणित किया है। **जेनरल फॉनवर्न हार्डी** ने लिखा है कि

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

राज्यों के युद्ध द्वारा ही न्याय और अन्याय या उचित तथा अनुचित का निर्णय होता है। जर्मन विचारक **ट्रीट्स्के** ने भी इस विचार का समर्थन किया है और बताया है, "युद्ध मानव-मात्र का सर्वोत्तम व्यवसाय है और शक्ति के लिए घातक है।" **हिटलर** तथा **मुसोलिनी** ने भी शक्ति की आराधना की है और राज्य को शक्ति का प्रतीक बताया है। **हिटलर** ने अपनी पुस्तक **मीन कैम्फ** *(Mein Kampf)* में लिखा है कि शाश्वत क्रांति के दिनों में मानवता का उत्थान हुआ है और शाश्वत शांति के दिनों में मानवता का विनाश हुआ है।[1] **हीगेल** ने युद्ध को राज्य के जीवन का आवश्यक तत्त्व बताया है। **नीत्से** (Nietzsche) के विचार में अतिमानव या सर्वोच्च पुरुष (super man) की स्थापना शक्ति-सिद्धांत पर ही हुई है। यही विचार **स्पेन्सर** ने भी प्रकट किया है और कहा है कि पाशविक शक्ति का प्रयोग करने के लिए ही राज्य की स्थापना की गई है। **प्रो॰ टी॰ एन॰ कार्वर** के अनुसार, "राज्य शक्ति है और शक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है।"

आलोचना (Criticism)—शक्ति-व्यवस्था संबंधी राज्य की इस धारणा की आलोचनाएँ की गई हैं। **प्रो॰ ए॰ आशीर्वादम** का कहना है, "निस्संदेह शक्ति राज्य का एक अनिवार्य अंग है पर वह राज्य का आधार नहीं है।" इतिहास साक्षी है कि शक्ति के आधार पर राज्यों की स्थापना हुई है और आज भी प्रत्येक देश बाहरी आक्रमण से बचाव तथा आंतरिक सुरक्षा के लिए सेना की व्यवस्था करता है; लेकिन यह कहना कि शक्ति ही राज्य का आधार है, सही नहीं है। शक्ति से ही कभी कोई बात न्यायसंगत नहीं बन सकती है। न्याय के लिए ही शक्ति का प्रयोग ठीक कहा जा सकता है। **टी॰ एच॰ ग्रीन** (T. H. Green) ने भी कहा है, "राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है" (Will, not force is the basis of the State)। शक्ति तो राज्य का चिह्न है। समझदार प्रजा और नागरिक राज्य की आज्ञा इसलिए मानते हैं कि वे महसूस करते हैं कि राज्य की आज्ञा मानकर वे अपनी स्वार्थरहित इच्छाओं को पूरा करते हैं। नागरिकों की शक्ति और श्रद्धा पर ही राज्य कायम रह सकता है। महात्मा गाँधी का विश्वास था कि प्रेम और हृदय-परिवर्तन ही राज्य का आधार है। इसलिए शक्ति राज्य का चिह्न है, आधार (basis) नहीं। **लॉस्की** ने टी॰ एच॰ ग्रीन के विचारों को स्वीकार किया है और कहा है कि राज्य-संबंधी शक्ति-सिद्धांत नैतिक सिद्धांत के विरुद्ध है। **हैलोवेल** ने भी इस विचार की ठीक ही आलोचना की है कि राजनीति केवल 'शक्ति के लिए संघर्ष' (struggle for power) है। उसके शब्दों में, "इस विचारधारा में शक्ति के प्रयोग को स्वीकार तो किया गया है, लेकिन इस बात पर विचार नहीं किया गया है कि शक्ति का प्रयोग क्यों किया जाता है।"

3. कल्याणकारी व्यवस्था का सिद्धांत (Welfare theory)—राजनीतिशास्त्र के अधिकांश विद्वानों ने राज्य को एक कल्याणकारी संस्था माना है। इस विचार के सबसे बड़े समर्थक **ग्रोसियस** और **अल्थ्यूशियस** हैं। इनके अनुसार, राज्य एक सार्वजनिक कम्पनी-जैसा है, जिसका संगठन सार्वजनिक हित के लिए हुआ है। **हरबर्ट स्पेन्सर** ने भी इस विचार का समर्थन किया है।

आलोचना (Criticism)—राज्य का कल्याणकारी सिद्धांत न्यायसंगत प्रतीत होता है। लेकिन, एक कंपनी से राज्य की तुलना करना गलत है। एक कंपनी और राज्य के संगठनों में अनेक मौलिक अंतर हैं; उदाहरणार्थ, राज्य की सदस्यता अनिवार्य है, जबकि कंपनी की सदस्यता अनिवार्य नहीं है। राज्य का उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण होता है, जबकि कंपनी का उद्देश्य सीमित तथा वैयक्तिक।

4. व्यक्तिवादी सिद्धांत (Individualistic theory)—व्यक्तिवादियों ने राज्य को एक कृत्रिम संस्था स्वीकार किया है। उनके अनुसार अन्य समुदायों की तरह राज्य भी व्यक्तियों के समूह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इन लोगों ने राज्य को एक **आवश्यक बुराई** माना है। राज्य के सारे कार्य व्यक्ति की स्वाधीनता पर घातक प्रहार की तरह हैं, इसीलिए उनलोगों की दृष्टि में राज्य एक बुराई है। फिर भी मानवीय स्वार्थ और लोभ ने उसे आवश्यक बना दिया है। **बेन्थम** एवं **हरबर्ट स्पेन्सर** ने इस सिद्धांत का समर्थन किया है। व्यक्तियों की स्वतंत्रता के कारण ही राज्य की आवश्यकता पड़ती है। व्यक्तिवादियों की तरह अराजकतावादियों ने भी राज्य को एक बुराई-मूलक संस्था स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में एक रोज व्यक्ति के सद्गुणों का ऐसा विकास होगा कि राज्य की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

आलोचना (Criticism)—राज्य-संबंधी इस व्यक्तिवादी सिद्धांत में सत्यांश बहुत कम है। यह सिद्धांत मानव-प्रवृत्तियों और तर्क-बुद्धि के विपरीत है। राज्य एक आवश्यक बुराई हो ही नहीं सकता। राज्य तो असल में एक लोक-कल्याणकारी संस्था है। **डॉ॰ ए॰ आशीर्वादम** ने कहा भी है, "हम राज्य को एक बुराई

1. "In eternal warfare mankind has become great. In eternal peace mankind would be ruined."
—HITLER : *Mein Kampf*

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

या आवश्यक बुराई मानना भी गलत समझते हैं। हम उन आदर्शवादियों से सहमत हैं जो राज्य को निश्चित रूप से एक अच्छाई मानते हैं। राज्य मानव का सबसे सच्चा मित्र इसलिए है कि राज्य की सहायता के बिना मनुष्य के व्यक्तित्व का पूरा विकास सम्भव नहीं।'' अतः, राज्य की प्रकृति-संबंधी व्यक्तिवादी सिद्धांत आज की 20वीं शताब्दी में खरा नहीं उतरता, क्योंकि आज राज्य का उद्देश्य सिर्फ 'पुलिस राज्य' की अवधारणा नहीं है, वरन यह व्यक्ति की सेवा 'पालने से कब्र' तक (from cradle to grave) करता है और नागरिकों का सर्वांगीण विकास ही इसका एकमात्र उद्देश्य हो गया है। अतः, राज्य आज आवश्यक बुराई न होकर एक अनिवार्य शर्त हो गई है।

5. नरम अराजकतावादी सिद्धांत (Moderate anarchist theory)—नरम दल के अराजकतावादियों ने व्यक्तिवादियों के विचार में थोड़ा परिवर्तन किया है और कहा है, ''राज्य एक बुराई है, पर एक दिन इसकी आवश्यकता नहीं रह जाएगी'' (The State is an evil but some day it will be unnecessary)। नरम दल के अराजकतावादियों को मानव-स्वभाव की परिवर्तनशीलता पर जरूरत से ज्यादा विश्वास है। उनकी दृष्टि में ज्यों-ज्यों मनुष्य का नैतिक विकास होता जाएगा, त्यों-त्यों राज्य की आवश्यकता कम होती जाएगी और इस तरह अन्त में राज्य समाप्त हो जाएगा। उग्र अराजकतावादियों का विश्वास है कि राज्य शत-प्रतिशत बुराई है। वे कहते हैं कि जितना जल्द राज्य से छुटकारा मिले, उतना ही मनुष्यों के नैतिक विकास के लिए अच्छा होगा।

आलोचना (Criticism)—उपर्युक्त अराजकतावादी विचार में यद्यपि बहुत-कुछ अच्छाइयाँ हैं, फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि इस विचार में इस सत्य की उपेक्षा की गई है कि राज्य का मूलाधार मानव-स्वभाव में है। डॉ० **ए० आशीर्वादम** का कहना है, ''हमारी प्रवृत्तियाँ (instincts) और हमारी तर्क-बुद्धि (reason) अराजकतावादियों का यह कथन मानने को तैयार नहीं है कि राज्य एक बुराई है और उसमें अच्छा कुछ भी नहीं।'' अतः, उनका यह कहना कि ज्यों-ज्यों मानव का नैतिक विकास होता जाएगा त्यों-त्यों राज्य की आवश्यकता कम होती जाएगी—आज के वैज्ञानिक युग में न्यायसंगत नहीं लगता, क्योंकि विज्ञान की प्रगति ने राज्य की आवश्यकता को बढ़ा दिया है।

6. आदर्शवादी सिद्धांत (Idealistic theory)—आदर्शवादियों ने राज्य को सर्वोच्च नैतिक संस्था के रूप में स्वीकार किया है। इनकी दृष्टि में राज्य एक आदर्श, परम-साध्य या सर्वशक्तिमान संस्था है। राज्य और व्यक्ति में कभी विरोध नहीं हो सकता है। दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध है। राज्य की इच्छा ही व्यक्ति की इच्छा होती है। अतः, राज्य की इच्छा का पालन करना अपनी श्रेष्ठतम इच्छा का पालन करना होता है। राज्य एक नैतिक संस्था है, जिसके माध्यम से ही नैतिक जीवन का विकास हो सकता है। अतएव, आदर्शवादियों की राय में राज्य में कहीं कोई दोष नहीं है, वह एक सर्वशक्तिमान आदर्श संस्था है। **सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, रूसो, हीगेल, ग्रीन** इत्यादि विद्वानों ने आदर्शवादी सिद्धांत का समर्थन किया है। **प्लेटो** और **अरस्तू** की दृष्टि में राज्य के अंतर्गत ही व्यक्ति का सर्वांगीण विकास हो सकता है। **रूसो** ने भी राज्य को एक नैतिक संस्था बताया है, और कहा है कि सामान्य इच्छा के पालन में ही व्यक्तियों की स्वतंत्रता निहित है। **हीगेल** की दृष्टि में राज्य मानव-प्रकृति की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। उसके शब्दों में, ''राज्य पृथ्वी पर परमात्मा का अवतरण है'' (The State is the march of God upon earth)। **टी० एच० ग्रीन** ने भी आदर्शवाद का संतुलित तथा समन्वित रूप प्रस्तुत किया है। वह राज्य को न तो परम पूर्ण मानता है और न सर्वशक्तिमान ही। इसका कारण है कि राज्य सिर्फ बाहरी कार्यों पर ही नियंत्रण रख सकता है, उसके आन्तरिक उद्देश्यों पर नहीं और कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य का विरोध करना व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है।

आलोचना (Criticism)—जब हम आदर्शवादी सिद्धांत का विश्लेषण करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सिद्धांत भी सर्वमान्य नहीं है। इसमें राज्य को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया गया है। ऐसी स्थिति में राज्य निरंकुश हो जाता है और नागरिक स्वतंत्रता के लिए घातक हो सकता है। इतिहास साक्षी है कि राज्य-संबंधी इस मान्यता ने अनेक ऐतिहासिक परिणामों को हमारे सामने पेश किया है; लेकिन **टी० एच० ग्रीन** द्वारा दिए गए संशोधित तथा संतुलित रूप ने बहुत हद तक इस आदर्शवादी मान्यता को बनाए रखा है। फिर भी, राज्य का स्वरूप आदर्श है, क्योंकि वह व्यक्ति के नैतिक जीवन के विकास में मदद पहुँचाता है तथा स्वतंत्रता के मार्ग से रोड़े हटाकर नागरिकों की स्वतंत्रताओं में वृद्धि करता है।

7. वैधानिक सिद्धांत (Legal theory)—वैधानिक दृष्टि से राज्य एक व्यक्ति के समान है। यह वैधानिक संगठन है, जो कानून के माध्यम से अपने समस्त कार्यों का संपादन करता है। आज के विधिशास्त्रियों

WWW.GRADESETTER.COM

ने इसी संदर्भ में राज्य की प्रकृति की विवेचना की है। राज्य की अपनी विधियाँ हैं जिनके माध्यम से वह आगे बढ़ता है। विधियों का विरोध करनेवालों को राज्य दण्ड देता है।

आलोचना (Criticism)—वैधानिक सिद्धांत संबंधी राज्य की यह व्याख्या भी गलत और संकीर्ण है। यह व्याख्या राज्य के केवल वैधानिक तत्त्वों पर ही जोर देती है जबकि इसके अलावा भी राज्य के कुछ अन्य स्वरूप हैं। **डॉ० ए० आशीर्वादम** ने कहा है, "राज्य की वैधानिक व्याख्या में राज्य के उच्चतर जीवन को भुला दिया गया है।" **हीगेल** ने कहा, "राज्य एक संसार है, जिसे आत्मा अपने लिए बनाती है" (The State is the world which the spirit has made for itself)। **कुमारी एम० पी० फॉलेट** ने भी अपनी पुस्तक **न्यू स्टेट** *(New State)* में लिखा है "मेरी आत्मा का निवास-स्थान राज्य में है" (The home of my soul is in the State)।

8. **सर्वाधिकारवादी सिद्धांत** (Absolutist theory)—आधुनिक सर्वाधिकारवादी नागरिक के समस्त जीवन पर राज्य का अधिकार मानते हैं। व्यक्ति का जीवन-मरण राज्य के साथ है। आदर्शवादी विचारक **हीगेल** ने राज्य के इस स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। **मुसोलिनी** ने सर्वाधिकारवादी विचारों को इन शब्दों में स्पष्ट किया था, "सब-कुछ राज्य के भीतर है, राज्य के बाहर कुछ भी नहीं है और राज्य के विरुद्ध भी कुछ नहीं है" (All is within the State; nothing is outside the State; nothing is against the State)। **मुसोलिनी** का नारा था, "विश्वास करो, आज्ञा मानो और लड़ो" (Believe, obey and fight)। अर्थात, सर्वाधिकारवादी सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति के जीवन पर राज्य का पूरा अधिकार है।

आलोचना (Criticism)—जब हम राज्य-संबंधी सर्वाधिकारवादी सिद्धांत का विश्लेषण करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सिद्धांत में व्यक्ति के मूल्य और महत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया है। व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलिदान कर दिया है। इस सिद्धांत में नागरिकों के अधिकारों और स्वतंत्रताओं का कोई मूल्य नहीं रहता। इस सिद्धांत की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है—

1. इसके द्वारा वीर-पूजा को बढ़ावा मिलता है।
2. इसने व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलिदान कर दिया है।
3. व्यक्ति का अपना स्वतंत्र अस्तित्व कुछ भी न होकर वह राज्य की नींव की एक ईंट बन जाता है जो राज्य के अत्याचारों का कभी विरोध नहीं कर सकता।
4. इस सिद्धांत ने नागरिक-अधिकारों और स्वतंत्रताओं की उम्मीदों पर हमेशा-हमेशा के लिए पानी फेर दिया है।

9. **बहुलवादी सिद्धांत** (Pluralistic theory)—बहुलवादी विचारक राज्य को सर्वशक्तिसम्पन्न संस्था नहीं मानते। उनके विचारानुसार परिवार, चर्च, समाज, क्लब इत्यादि के समान राज्य भी एक संघ है। **मैकिवर** ने भी कहा है, "हमें निश्चित रूप से यह घोषित करना चाहिए कि राज्य कुटुम्ब या चर्च की श्रेणी का मात्र एक समुदाय ही है।" अतएव, राज्य संपूर्ण संप्रभुता का अधिकारी नहीं है, वह अन्य समुदायों के समकक्ष है।

आलोचना (Criticism)—राज्य-संबंधी यह बहुलवादी सिद्धांत भी भ्रामक है। यह ठीक है कि राज्य भी एक समुदाय है, लेकिन अन्य समुदायों की तुलना में राज्य एक उच्चतर समुदाय है जिसे संप्रभुता प्राप्त रहती है। **बार्कर** के विचार में, "विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के बीच पारस्परिक सामंजस्य और संतुलन स्थापित करने का कार्य राज्य करता है। **लॉस्की** ने भी इसे स्वीकार किया है, "इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि कानूनी रूप में प्रत्येक राज्य में कोई-न-कोई शक्ति होती है।" **डॉ० ए० आशीर्वादम** ने भी राज्य की सर्वोच्चता को माना है। यदि हम राज्य को सिर्फ एक ग्रूप या संघ स्वीकार कर लें तो इससे सामाजिक शांति और स्थायित्व को गंभीर खतरा उत्पन्न होने की संभावनाएँ हैं, क्योंकि राज्य अन्य कार्यों के अलावा सामाजिक शांति और स्थायित्व का भी सूचक है। आज राज्य की अनुपस्थिति में समाज का कोई संघ या ग्रूप स्वयं भी जीवित नहीं रह सकता। अपने साथ-साथ अन्य संघों को भी राज्य आज बनाए रखना चाहता है।

10. **समझौतावादी सिद्धांत** (The contract theory)—इसके अनुसार राज्य एक कृत्रिम संस्था है। यह मानवीय इच्छा का परिणाम है। सभ्यता के प्रारंभ में राज्य नहीं था। जब प्राकृतिक अवस्था से (जैसा कि हॉब्स ने कहा है) लोग तंग आ गए, तब राज्य की स्थापना हुई। हॉब्स, लॉक तथा रूसो ने इस सिद्धांत का समर्थन किया है।

WWW.GRADESETTER.COM

आलोचना (Criticism)—चूँकि यह सिद्धांत राज्य को एक अप्राकृतिक संस्था (unnatural institution) मानता है और इसे मानव-निर्मित संस्था की संज्ञा देता है, इसलिए इसकी आलोचना की जाती है कि यह राज्य-संबंधी वैज्ञानिक सिद्धांत नहीं है। वास्तविकता यह है कि राज्य ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। राज्य की प्रकृति का समझौतावादी सिद्धांत ऐतिहासिक, दार्शनिक तथा कानूनी दृष्टि से इसलिए गलत है कि इतिहास में इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि अचानक प्राकृतिक अवस्था में रहनेवाले जंगली मानवों में आखिरकार एकजुट होकर समझौते करने और साथ रहने की प्रवृत्ति कैसे आई। अतः समझौतावादी सिद्धांत, चूँकि दोषपूर्ण है अतः राज्य की प्रकृति का यह सही आधार नहीं है।

राज्य का जैविक स्वरूप
(The Organic Nature of the State)

प्लेटो समेत प्रायः सभी राजनीतिशास्त्री समाज और राज्य की तुलना एक सजीव शरीर से करते रहे हैं। जैविक सिद्धांत के अनुसार राज्य का निर्माण करनेवाले व्यक्तियों का संबंध राज्य के साथ ऐसा ही होता है जैसा कि प्राकृतिक जीवधारी के विभिन्न अंगों का संपूर्ण जीवधारी शरीर के साथ। इसलिए इस सिद्धांत को 'आंगिक सिद्धांत' भी कहते हैं। इस सिद्धांत का एकमात्र विचार यही है कि राज्य और मनुष्य में वही संबंध है, जो शरीर और उसके विभिन्न अंगों में है। **गार्नर** ने भी कहा है, "यह सिद्धांत राज्य और व्यक्तियों के बीच ठीक उसी प्रकार के अटूट संबंधों की व्याख्या करता है, जैसे शरीर और उसके अंगों के बीच होता है। शरीर के साथ अंग का और पेड़ के साथ पत्तों का जो पारस्परिक संबंध है, वही संबंध समाज के साथ मनुष्य का होता है।"[1]

विकास (Evolution)

जेलिनेक ने कहा है कि राज्य से संबंध रखनेवाला यह 'आंगिक सिद्धांत' बहुत पुराना और लोकप्रिय है। परिणामस्वरूप, जीवधारी, आंगिक और सावयव सिद्धांत उतने ही पुराने हैं; जितनी स्वतः राजनीतिक विचारधारा। **प्लेटो** ने राज्य की तुलना एक बड़े मनुष्य से की है। उसका कहना है, "सर्वोत्तम व्यवस्थित राज्य वह है जिसका आकार-विषयक संगठन सिद्धांततः निकटतम रूप में व्यक्ति के अनुरूप जान पड़े।" **अरस्तू** ने भी व्यक्ति को राष्ट्र का सजीव अंग माना है। **सिसरो** भी इसी विचारधारा का पक्षपाती है और वह राज्य के प्रधान को मानव-शरीर पर शासन करनेवाली आत्मा की उपमा देता है। आधुनिक काल में **हॉब्स, रूसो, हरबर्ट स्पेन्सर, ब्लंश्ली** इत्यादि विचारकों ने भी राज्य के जैविक स्वरूप का विवेचन किया है। हॉब्स के अनुसार राज्य एक विशाल दैत्य (leviathan) है, जो कृत्रिम है। **रूसो** ने भी कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में एक चालक शक्ति है, उसी प्रकार समाज में भी सामान्य इच्छा (general will) नामक शक्ति होती है। 19वीं सदी के अनेक जर्मन विचारकों ने भी इस सिद्धांत का उपयोग किया है। **ब्लंश्ली** ने कहा है, "राज्य मानव-शरीर की प्रतिमूर्ति है।"[2]

हरबर्ट स्पेन्सर द्वारा अनुमोदित जैविक सिद्धांत
(Organic Theory as Expounded by Herbert Spencer)

डॉ० आशीर्वादम ने कहा है, "19वीं शताब्दी के लेखकों में **हरबर्ट स्पेन्सर** एक ऐसा लेखक है जो व्यक्ति और समाज के गठनों में छोटी-सी बातों में समानता बताते हुए भी तुलना की मौलिक बातों को भूल जाता है।" **हरबर्ट स्पेन्सर** एक व्यक्तिवादी विचारक है जिसने 'आंगिक सिद्धांत' का प्रतिपादन किया है। अपनी पुस्तक **समाजशास्त्र के सिद्धांत** *(Principles of Sociology)* में **हरबर्ट स्पेन्सर** ने सुसंगठित समाज और प्राणी-शरीर की बड़ी सुन्दर तुलना की है। उसने समर्थन किया है कि समाज एक जीवधारी रचना है

1. "It is a biological conception which describes the State in themes of 'natural science', views the individuals who compose it as analogous to the cells of a plant or animal and postulates a relation of inter-dependence between them and society as exists between the organs and parts of a biological organism and the whole structure."—GARNER
2. "The State is the very image of human organism."—BLUNTSCHLI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

और इसमें जीवधारी रचना के अन्य आवश्यक गुण हैं। एक जीवधारी और समाज के गुण समान होते हैं और उनके विभिन्न भागों के बीच जो स्थायी संबंध होते हैं, वे भी समान होते हैं। दोनों की विकास-क्रिया एक साथ होती है। स्पेन्सर के मत में पशु और सामाजिक संस्थाओं का आरम्भ कीटाणुओं के रूप में होता है। जैसे-जैसे वे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे उनकी बनावट में जटिलता आ जाती है, अर्थात दोनों ही अवस्थाओं में विकास की विधि एक ही होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में समाज एक समुदाय था। समय की गति ने समाज का विकास किया और उसकी जटिलता बढ़ती गई।

प्रत्येक अवस्था में विभिन्न भागों की पारस्परिक निर्भरता ही होती है। जिस प्रकार हाथ बाँह पर निर्भर करता है और बाँह शरीर और सिर पर निर्भर करती है, उसी प्रकार सामाजिक जीवधारी रचना के भाग एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। जिस प्रकार एक अंग की रुग्णता दूसरे अंगों को भी प्रभावित करती है, ठीक यही दशा समाज बनानेवाली व्यक्तियों की होती है जो एक-दूसरे से सर्वोत्तम की प्राप्ति के लिए अभिन्न रूप से संबद्ध होते हैं। समाज का एक अंग दूसरे पर इतना निर्भर होता है कि एक का रूप शेष समाज को निर्जीव कर देता है। समाज और जीवधारी रचना दोनों का नाश और विनाश होता है और उसके बाद पुनर्निर्माण।

हरबर्ट स्पेन्सर ने राज्य-शरीर और प्राणी-शरीर के विकासक्रम की तुलना के अतिरिक्त दोनों के संगठन में भी समता बताई है। उसका कहना है कि जिस प्रकार शरीर में तीन प्रणालियाँ—जीवित रहने की प्रणाली, विभाजन-प्रणाली और नियामक प्रणाली—होती हैं, उसी प्रकार राज्य-रूपी शरीर की भी तीन प्रणालियाँ—उत्पादन-प्रणाली, विभाजन-प्रणाली और प्रबंध-प्रणाली—होती हैं। अन्ततः नियामक प्रणाली उस यंत्र-जैसी होती है जो सम्पूर्ण शरीर को नियमित करती है। राजनीति-रूपी शरीर में सरकार व्यक्तियों को नियमों द्वारा चलाती है और उनके कार्यकलापों का नियंत्रण करती है और इस प्रकार वह नियामक प्रणाली-जैसी है। **हरबर्ट स्पेन्सर** द्वारा अनुमोदित जैविक सिद्धांत का समर्थन अनेक विद्वानों ने किया है। ऑस्ट्रिया के न्याय-शास्त्रवेत्ता **एलबर्ट शेफले** (Albert Shaffle), रूस के समाजशास्त्री **पाल लिलोन, केल्ड** तथा **ऑगस्ट कॉम्टे, डिग्रेड, फाऊली** तथा **रेने वॉर्म्स** आदि फ्रांसीसी तथा जर्मन दार्शनिकों ने भी इस सिद्धांत का समर्थन किया है।

अंतर—उपर्युक्त तथ्यों के कारण ही **हरबर्ट स्पेन्सर** इस परिणाम पर पहुँचा कि राज्य भी एक जीवधारी रचना है, किन्तु उसने यह भी स्वीकार किया है कि दोनों के बीच पूर्ण समानता नहीं है। सर्वसामान्य मनुष्य के आकार तथा पशु-जीवधारी रचना में एक 'जाति-समानता' विद्यमान है। उसकी दृष्टि में पशु-जीवधारी रचना का आकार छोटा होता है, अर्थात उसकी इकाइयाँ निकट सम्पर्क से परस्पर जुड़ी हुई रहती हैं, इसके विपरीत सामाजिक शरीर की इकाइयाँ स्वतंत्र हैं।

हरबर्ट स्पेन्सर ने जीवधारी रचना और सामाजिक संस्था के बीच एक अन्य अंतर भी बताया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि यह अंतर इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण है कि यह **सामाजिक संगठन द्वारा लक्ष्यप्राप्ति की हमारी इच्छा को अत्यधिक प्रभावित करता है।** अर्थात, जीवित शरीर की तरह समाज में चेतना का कोई एक केंद्र नहीं होता। जीवधारी रचना में संपूर्ण शरीर के एक निश्चित भाग में चेतना केंद्रीभूत होती है। अतएव, राज्य-रूपी जीव और जीवधारी पशु की रचना के बीच अंतर है। लेकिन, इन आधारभूत अंतरों के होने पर भी **हरबर्ट स्पेन्सर** अपने इस मत से डिगे नहीं हैं कि राज्य एक जीवधारी रचना है। इसी के आधार पर उन्होंने अपने व्यक्तिवाद के सिद्धांत की रचना की। उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि राज्य को चाहिए कि वह व्यक्ति को निजी कल्याण के लिए स्वतंत्र छोड़ दे, क्योंकि 'समाज का अस्तित्व उसके सदस्यों के लाभ के लिए है।' **हरबर्ट स्पेन्सर** के इस निष्कर्ष से राज्य के जीवधारी स्वरूप का खण्डन होता है।

राजनीतिशास्त्र के अन्य विद्वानों ने भी जैविक सिद्धांत-संबंधी विचारधारा का समर्थन किया है। ऑस्ट्रिया के न्यायशास्त्रवेत्ता **एलबर्ट शेफ्ले** (Albert Shaffle), फ्रांसीसी विद्वान **ऑगस्ट कॉम्टे** (August Comte), **फाऊली** (Fouillee), **रेने वॉर्म्स** (Rene Worms) इत्यादि विद्वानों ने भी इस सिद्धांत का समर्थन किया है। ऑगस्ट कॉम्टे ने मानव-समाज को जीवधारी विकास का सर्वोच्च सोपान बताया है। **रेने वॉर्म्स** का कहना है, "समाज की चीरफाड़ (anatomy), शरीर-विज्ञान (Physiology) और निदान (pathology) तथा जीवित प्राणी के आकार और शारीरिक चीरफाड़ के बीच समानताएँ हैं।

आंगिक सिद्धांत का मूल्यांकन (Evaluation of Organic Theory)

आंगिक सिद्धांत की आलोचनाएँ निम्नांकित तर्कों के आधार पर की गई हैं—

(i) **असंगत तुलना**—प्राणी-शरीर और समाज-शरीर के तत्त्व में जो तुलना की गई है, वह अनुपयुक्त

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

है। प्राणी-शरीर से जो रक्तकण निकलते हैं, वे शरीर से अलग रहकर जीवित नहीं रह सकते। इसके विपरीत समाज-शरीर के तत्त्वों का अपना निजी अस्तित्व है, जिनमें स्वतंत्र जीवन और गति है। विकास, विनाश और मृत्यु में जो नियम प्राणी-शरीर में लागू होते हैं, वे राजनीतिक समाज-शरीर में लागू नहीं हो सकते। इस संबंध में **मैकिवर** ने भी कहा है कि जिस प्रकार समझौता-सिद्धांत मनुष्य की सामाजिक प्रकृति के प्रति न्याय नहीं करता, उसी प्रकार आंगिक सिद्धांत मनुष्य के प्रति न्याय करने में सफल नहीं है।

(ii) **विभिन्न अंगों की क्रियाएँ**—मानव-शरीर के अंग-प्रत्यंग की क्रियाएँ पूर्ण रूप से शरीर तक ही सीमित रहती हैं, लेकिन जहाँ तक राज्य के सदस्यों के अस्तित्व और उनके कार्यों का प्रश्न है, वे केवल राज्य तक ही सीमित नहीं रहते।

(iii) **प्राकृतिक नियमों की अनुपस्थिति**—जहाँ शरीर का विकास प्राकृतिक नियमों के अनुसार होता है, वहाँ राज्य के विकास के लिए कोई निश्चित नियम नहीं है।

(iv) **अस्पष्ट तथा लचीला सिद्धांत**—आंगिक सिद्धांत बड़ा अस्पष्ट तथा लचीला है। इसके आधार पर राजनीतिशास्त्र के लेखकों ने विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। जहाँ **हरबर्ट स्पेन्सर** ने इसका उपयोग व्यक्तिवाद के समर्थन के लिए किया है, वहाँ **हक्सले** और **बार्कर**-जैसे विद्वानों ने इसका उपयोग निरंकुश शासन तथा समाजवाद के लिए किया है। अतएव, इस सिद्धांत के पीछे कोई निश्चित नियम नहीं है।

(v) **उत्पत्ति-संबंधी अंतर**—एक प्राणी-शरीर के जन्म के लिए दो प्राणियों के पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता होती है, लेकिन राज्य-रूपी शरीर के जन्म के लिए दो राज्यों के पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता नहीं होती।

(vi) **नैतिकता का अभाव**—आंगिक सिद्धांत में राज्य के नैतिक तथा आदर्शात्मक स्वरूप पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। जहाँ राज्य परस्पर-सहयोग, परोपकार, सामान्य सुरक्षा आदि नैतिक सिद्धांतों पर आधारित है, वहाँ जीव-विज्ञान में इन विचारों का कोई स्थान नहीं है।

विभिन्न अंगों का स्थानांतरण—राज्य की विभिन्न इकाइयाँ, अर्थात नागरिक स्वतंत्रतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण कर सकते हैं और उनकी संख्या भी इच्छानुसार घटाई-बढ़ाई जा सकती है, लेकिन प्राणी-शरीर के विभिन्न अंगों का स्थानांतरण संभव नहीं है। इस प्रकार आंगिक सिद्धांत में अनेक दोष हैं।

महत्त्व—उपर्युक्त दोषों के बावजूद इस सिद्धांत में कुछ उपयोगी बातें भी हैं, जिनका उल्लेख **गेटेल** ने निम्नलिखित रूप में किया है—

1. आंगिक सिद्धांत राज्य के ऐतिहासिक तथा विकासवादी दृष्टिकोणों को स्पष्ट करता है।
2. यह प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण के प्रभावों पर जोर देता है।
3. यह राजनीतिक संस्थाओं और व्यक्तियों की पारस्परिक निर्भरता को स्पष्ट करता है।
4. आंगिक सिद्धांत सामाजिक जीवन की मौलिक एकता पर विशेष ध्यान देता है और स्पष्ट करता है कि समाज के विभिन्न अंग किस तरह एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।
5. इस सिद्धांत का विश्वास है कि मानव स्वभावतः एक राजनीतिक प्राणी है और सभी मानवों में पाई जानेवाली सामाजिक संगठन की प्रवृत्ति ही राज्य का निर्माण करती है।

निष्कर्ष (Conclusion)—राज्य की प्रकृति-संबंधी उपर्युक्त सिद्धांतों के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राज्य की प्रकृति के संबंध में राजनीतिशास्त्र के विद्वानों में मतांतर है। उल्लिखित तथ्यों के संदर्भ में यह स्पष्ट है कि राज्य न तो कोई ईश्वरीय संस्था है, न यांत्रिक व्यवस्था और न वर्ग-विशेष संबंधी दमन की प्रक्रिया, वरन **गेटेल** के शब्दों में, "यह राजनीतिक एकता की चेतन प्रेरणाओं की एक बाह्य अभिव्यक्ति है।" वास्तविकता तो यह है कि राज्य एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जो राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक भावनाओं को एक संगठनात्मक रूप देता है। जहाँ तक राज्य के जैविक सिद्धांत का प्रश्न है, **डॉ० ए० आशीर्वादम** ने कहा है, "यह बहुत लचीला है। अतः, इसका उपयोग बहुत सावधानी से किया जाना चाहिए।" इस संबंध में **जेलिनेक** ने भी कहा है, "हमारे लिए तो अच्छा यही है कि हम पूर्णतः इस सिद्धांत को रद्द करें अन्यथा इस समानता की बहुलता उस अच्छाई को समाप्त कर देगी जो थोड़ी-सी सचाई इस सिद्धांत में रह गई है।"

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्रश्नावली

1. राज्य के स्वरूप पर एक संक्षिप्त लेख लिखें।
   (Write a short essay on the nature of the State.)
2. राज्य के स्वरूप के संबंध में व्यक्तिवादी सिद्धांत का आलोचनात्मक अध्ययन करें।
   (Critically examine the Individualistic theory of the nature of the State.)
3. राज्य की प्रकृति-संबंधी विभिन्न सिद्धांतों की व्याख्या करें।
   (Discuss various theories of the nature of the State.)
4. राज्य के आदर्शवादी सिद्धांत की विवेचना करें।
   (Explain the Idealistic theory of the State.)
5. राज्य के आंगिक सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या करें।
   (Critically examine the Organic theory of the State.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 9

राज्य : साध्य-साधन विवाद

[STATE : ENDS-MEANS CONTROVERSY]

राज्य और व्यक्ति में साध्य और साधन का प्रश्न बताना इन दोनों की प्रकृति को गलत समझना है। ये दोनों आपस में इतने घनिष्ठ रूप से संबद्ध हैं कि हम यह कह सकते हैं कि अपनी निरंतर स्थिति में राज्य और व्यक्ति दोनों का लक्ष्य अपनी स्थिति को उच्चतर करते रहना है और दोनों ही इस लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन हैं। दोनों एक साथ ही लक्ष्य की ओर चलते हैं।—आशीर्वादम

विषय-प्रवेश (Introduction)

राज्य का उद्देश्य और औचित्य की अवधारणा राजनीतिशास्त्र का एक विचारणीय प्रश्न है। क्या राज्य मानव-जीवन के लिए अपरिहार्य है? राज्य की आवश्यकता क्या है? ये सारे प्रश्न राजनीतिशास्त्र के सजीव प्रश्न हैं। प्राचीनकाल से ही विद्वानों ने इन प्रश्नों का समाधान खोजने का प्रयास किया है। यूनानी दार्शनिक **प्लेटो** तथा **अरस्तू** ने भी राज्य के औचित्य की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की है। आज के राजनीतिशास्त्री भी अपने विभिन्न अवधारणाओं तथा सिद्धांतों का सहारा लेकर आधुनिक राज्य के औचित्यों को उचित और अनुचित करारते रहे हैं। चूँकि राज्य मानव-व्यवहार को व्यवस्थित करता है, इसलिए राज्य के उद्देश्यों की जानकारी हमारे लिए आवश्यक है। इस कार्य में राज्य बल का भी प्रयोग करता रहा है। राज्य की इच्छा बहुत-सी बातों में अन्य सभी इच्छाओं से उत्तम होती है। व्यक्ति का जीवन तथा उसकी स्वतंत्रता तथा संपत्ति-संबंधी अधिकार राज्य के क्षेत्रांतर्गत हैं। राज्य विभिन्न करों के माध्यम से व्यक्ति की संपत्ति लेता है और युद्धक्षेत्र में या अपराध के दण्डस्वरूप उसके प्राण लेता है।

राज्य के औचित्य-संबंधी विभिन्न सिद्धांतों; जैसे—अराजकतावादी सिद्धांत, धार्मिक, शक्ति तथा संविदा-सिद्धांत, उपयोगितावादी, मनोवैज्ञानिक तथा आदर्शवादी सिद्धांत आदि द्वारा राज्य के कार्य को उचित तथा अनुचित ठहराया गया है। इन सिद्धांतों की विस्तृत विवेचना इस पुस्तक में अन्यत्र की गई है, इसलिए सिर्फ संक्षिप्त विवेचन द्वारा ही इसका विश्लेषण यहाँ संभव है।

यूनानी विचारकों के अनुसार—**प्लेटो** और **अरस्तू** ने राज्य के औचित्य की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की है। इनकी दृष्टि में राज्य प्राकृतिक, स्वाभाविक तथा सर्वश्रेष्ठ संगठन है। वे कहते हैं कि राज्य उसी प्रकार एक प्राकृतिक संस्था है, जिस प्रकार मनुष्य है। मनुष्य के लिए उत्तम जीवन की प्राप्ति केवल राज्य में ही संभव है। राज्य में व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है। **प्लेटो** राज्य को व्यक्ति का विराट स्वरूप मानता है (State is an individual writ large)। उसकी दृष्टि में शरीर के अंगों की सार्थकता राज्य में ही है। **अरस्तू** ने अपनी राज्य की परिभाषा में ही राज्य के उद्देश्य को अभिव्यक्त कर दिया है। उसके अनुसार भी राज्य सर्वोत्तम सद्गुण की प्राप्ति का साधन है। राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। **अरस्तू** के शब्दों में, "राज्य की उत्पत्ति जीवन के लिए होती है और वह सद्जीवन के लिए ही जीवित रहता है" (The State comes into existence originating in the bare need of life and continues in existence for the sake of good life)। अतएव प्लेटो और अरस्तू ने राज्य को मानव के सर्वोत्तम जीवन के लिए अनिवार्य बनाकर उनका औचित्य सिद्ध कर दिया है।[1]

1. प्राचीन यूनानी विचारकों से मिलता-जुलता प्राचीन भारतीय राज्यों का भी उद्देश्य नैतिक जीवन की प्राप्ति ही था। व्यक्ति के जीवन के प्रति प्राचीन भारतीयों का दृष्टिकोण आध्यात्मिक था। प्राचीन भारत में धर्म एक बहुत ही व्यापक सिद्धांत था, जो समस्त सामाजिक रूपों, संस्थाओं एवं व्यवहारों को नियमित करता था। धर्म की रक्षा और वृद्धि

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

औचित्य-संबंधी विभिन्न सिद्धांत (Different Principles Concerning Justification)

राज्य का औचित्य चाहे जो भी हो, यह निश्चित है कि राज्य मानव-व्यवहार को व्यवस्थित तथा नियमित करता है, और इसके लिए राज्य को बल-प्रयोग की भी आवश्यकता पड़ती है। विभिन्न युगों में राज्य के औचित्य को सिद्ध करने के लिए विभिन्न प्रयास हुए हैं। इस संबंध में हम निम्नांकित महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का उल्लेख कर सकते हैं—

(i) अराजकतावादी सिद्धांत (Anarchist theory)—अराजकतावादियों का कहना है कि राज्य शक्ति का एक प्रतीक है। वह मनुष्य के सुख तथा उन्नति के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा है। उनका विश्वास है कि राज्य का कोई युक्तिसंगत उद्देश्य नहीं है और इसलिए जितनी ही जल्द हम राज्य का अस्तित्व मिटा सकें उतना ही मानव-विकास और उन्नति के लिए अच्छा होगा। राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत हम **टॉल्स्टाय** और **प्रिन्स क्रोपटकिन** जैसे दार्शनिक अराजकतावादियों पर ही विचार कर सकते हैं। वे राज्य के इतने अधिक विरोधी नहीं हैं जितने कि राज्य द्वारा उपयोग की जानेवाली शक्ति के। उनके विचार में राज्यसत्ता के उपयोग से सभी नैतिक मान्यताएँ समाप्त हो जाती हैं। **बाकुनिन** एक ऐसे समाज की रचना चाहता है जो अराजकतावादी (anarchist), समष्टिवादी (collectivist) और अनीश्वरवादी (atheist) हो। इस प्रकार, दार्शनिक अराजकतावादियों का विचार है कि समाज पर युक्तिविहीन शक्ति की बजाय प्रेम का शासन होना चाहिए। **डॉ० ए० आशीर्वादम** ने भी कहा है, "मनुष्य को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह स्वयं अपनी प्रेरणा से 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का मार्ग अपनाए।"

आलोचना (Criticism)—इस सिद्धांत की आलोचना निम्नलिखित रूप में की गई है—

1. **डॉ० आशीर्वादम** ने कहा है, "हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि राज्य के कार्यों से नैतिक मान्यताएँ पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं।" अर्थात, राज्य नैतिक मान्यताओं का विनाश नहीं करता, वरन उनके महत्त्व को कुछ कम कर देता है।

2. अराजकतावादियों का यह सिद्धांत भी गलत है कि स्वतंत्रता ही सबसे अच्छा राजनीतिक वरदान है, क्योंकि स्वतंत्रता अपने-आप में कोई उद्देश्य नहीं है—यह तो उद्देश्य को पूरा करने का केवल एक साधन है। **डॉ० आशीर्वादम** ने भी कहा है, "स्वतंत्रता और सत्ता एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं है जैसा कि अराजकतावादी समझते हैं। वे एक-दूसरे के सहायक और पूरक हैं। कोई भी मानव-संस्था व्यक्ति को पूरी तरह स्वतंत्र नहीं छोड़ती।"

3. अराजकतावादियों का विश्वास है कि शिक्षा, समझाने-बुझाने और नैतिक उपदेश से हम मनुष्य के स्वभाव को इतना अधिक सुधार सकते हैं कि भविष्य में एक दिन ऐसा आएगा जब हम राज्य से बिल्कुल छुटकारा पा सकेंगे। इस संबंध में **डॉ० ए० आशीर्वादम** का कहना है, "मनुष्य के स्वभाव का कहाँ तक सुधार किया जा सकता है, इसका अभी तक पूरा पता नहीं लग सका है ..... मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियों का अंत करना सरल नहीं है और राज्य की सत्ता ही दल-प्रवृत्तियों को नियंत्रण में रखती है।"

4. अराजकतावादियों के विचार में एक आदर्श परिवार में प्रेम का साम्राज्य रहता है। यह एक गलत विचार है, क्योंकि सत्ता, विधि और नियंत्रण—ये सारी बातें एक आदर्श परिवार में भी पाई जाती हैं, यद्यपि वे बाहर से दिखाई नहीं देतीं। **हर्नशॉ** ने भी कहा है कि मानव-स्वभाव की अपराध-प्रवृत्तियों को नियंत्रण में रखने के लिए राज्य की शक्ति का सुरक्षित रहना आवश्यक है।

5. अराजकतावादी राज्य की सत्ता को समाप्त करके उसके स्थान पर व्यक्ति के विवेक की सत्ता कायम करना चाहते हैं। लेकिन, **डॉ० आशीर्वादम** का कहना है, "व्यक्ति का विवेक बहुत ही अस्थिर, अनिश्चित और अविश्वसनीय होता है।"

(ii) धार्मिक सिद्धांत (The religious theory)—प्रारंभ से ही राज्य के अस्तित्व का समर्थन इस काल्पनिक आधार पर किया गया है कि राज्य को ईश्वर ने बनाया है। राज्य की आज्ञाओं का पालन दैवी उद्देश्य के बिल्कुल अनुकूल है; अर्थात राज्य को एक धार्मिक संस्था के रूप में स्वीकार किया गया था।

ही राज्य का सर्वोच्च लक्ष्य था। चूँकि राज्य का लक्ष्य धर्म की स्थापना था और मानव-जीवन का भी परम उद्देश्य धर्म ही था, इसलिए राज्य और व्यक्ति में विरोध की कोई संभावना नहीं थी। मनुष्य के सामाजिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक आदि तमाम कार्यों को राज्य ही आबद्ध करता था। अर्थात, प्राचीन भारतीय राज्य सर्वाधिकारी था, लेकिन राज्य धर्म के दायरे में ही कार्य करता था।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

चूँकि राज्य का प्रधान संघ का भी प्रधान होता था, इसलिए राज्य और धार्मिक समुदाय एकरूप थे। हिब्रू लोगों (Hebrews) में धर्मतंत्र का विचार सबसे अधिक विकसित हुआ और वे अपने को परमात्मा का सबसे प्यारा मानते थे। यहूदी-राज्य (Jewish State) के औचित्य को भी धार्मिक आधार पर सिद्ध किया गया। 'प्रोटेस्टेण्ट धर्म-सुधार' (Protestent Reformation) का आरंभ करनेवाले **मार्टिन लूथर** ने भी लिखा है, "एक ईसाई के लिए यह किसी तरह भी उचित नहीं है कि वह अपनी सरकार का विरोध करे—चाहे वह सरकार उचित काम कर रही है या अनुचित।"

आलोचना (Criticism)—राज्य के औचित्य-संबंधी धार्मिक विचारधारा का आज के वैज्ञानिक युग में लोप-सा हो गया है। आज के युग में यह तर्क कोई बल नहीं रखता कि हमें राज्य की आज्ञा केवल इसलिए माननी चाहिए कि उसकी उत्पत्ति ईश्वर द्वारा की गई है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि किसी भी राज्य को सीधे भगवान ने बनाया है।

(iii) **शक्ति-सिद्धांत** (The Physical Force theory)—राज्य के अस्तित्व का औचित्य इस आधार पर भी सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि राज्य के पास बहुत ज्यादा शक्ति होती है। सॉफ़िस्टों का कहना था कि राज्य शक्तिशाली का दुर्बल पर प्रशासन है। मध्यकालीन धर्मशास्त्रियों ने भी राज्य की भौतिक शक्ति पर जोर दिया है। **मैकियावेली** ने राज्य को एक शक्ति-व्यवस्था (Power system) के रूप में स्वीकार किया है। आधुनिक काल में स्पिनोजा, मार्क्स, नीत्शे और स्पेन्सर ने इस विचार पर बल दिया है कि राज्य शक्ति का एक स्वरूप है। स्पेन्सर की राय में राज्य बर्बर शक्ति का प्रतीक है और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के हित में उसका नियंत्रण होना चाहिए।

आलोचना (Criticism)—रूसो, टी० एच० ग्रीन आदि विद्वानों ने शक्ति-सिद्धांत-संबंधी राज्य के औचित्य की उपर्युक्त धारणा का खण्डन किया है और इस सिद्धांत को सारहीन बताया है। **टी० एच० ग्रीन** का कहना है कि राज्य का निर्माण केवल सर्वोपरि शक्तिमात्र से नहीं होता, वरन उसका निर्माण किसी निश्चित उद्देश्य के लिए एक निश्चित तरीके से प्रयोग की गई शक्ति से होता है। "राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं" (Will, not force, is the basis of the State)।

(iv) **संविदा सिद्धांत** (The Contract theory)—17वीं और 18वीं शताब्दियों में संविदा सिद्धांत का प्रयोग राज्य के अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने के लिए किया गया। इस विचारधारा के अनुसार राज्य की सत्ता इसलिए ठीक मानी जाती है कि इस सत्ता को हमने अपने मन से राज्य को दिया है, जैसा कि हॉब्स ने अपने समझौता-संबंधी सिद्धांत में अभिव्यक्त किया है।[1] **हॉब्स** के अलावा लॉक तथा रूसो ने भी बताया है कि राज्य समझौते का फल है। हॉब्स, लॉक और रूसो को इसी आधार पर संविदावादी वैज्ञानिक कहा गया है।

आलोचना (Criticism)—संविदा सिद्धांत की आलोचना ऐतिहासिक, कानूनी और दार्शनिक दृष्टिकोण से की गई है और कहा गया है कि यह सिद्धांत हमारे सामने "गलत इतिहास, गलत कानून और गलत दर्शन पेश करता है" (It is a bad history, bad logic and bad philosophy)।

(v) **उपयोगितावादी दृष्टिकोण** (The Utilitarian theory)—राज्य के अस्तित्व का औचित्य उपयोगिता के आधार पर भी साबित करने की कोशिश की गई है। इसके अनुसार राज्य का उद्देश्य उस वातावरण का निर्माण करना है, जिसमें कम-से-कम संघर्ष और अधिक-से-अधिक कल्याण हो। **लॉस्की** ने अपनी पुस्तक *Introduction to Politics* में कहा है, "राज्य की शक्ति का औचित्य उन उद्देश्यों द्वारा साबित किया जा सकता है, जिन्हें वह पूरा करना चाहता है।"

आलोचना (Criticism)—इस सिद्धांत की आलोचना निम्नांकित आधारों पर की गई है—

(a) राज्य का अपना नैतिक एवं आध्यात्मिक कर्तव्य भी है। राज्य सभी सद्गुणों की साझेदारी है। **डॉ० आशीर्वादम** का कहना है, "राज्य का औचित्य केवल उपयोगिता के आधार पर साबित करना कुछ वैसा ही है जैसे यह कहना कि परिवार का अस्तित्व केवल पति-पत्नी के सुख के लिए, बच्चे पैदा करने के लिए और मानवजाति को बढ़ाने के लिए है।"

(b) उपयोगितावादी राज्यों को व्यक्ति के कल्याण का साधनमात्र समझने की भूल कर सकते हैं जबकि राज्य साध्य और साधन दोनों है। राज्य वर्तमान पीढ़ी के साथ-साथ भावी पीढ़ियों के कल्याण की भी चिन्ता करता है।

1. "I authorise and give up my right of governing myself to this man or assembly of men on this condition that thou give up thy right to him and authorise all his actions in like manner."—HOBBES

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(vi) **संगठन की आवश्यकता** (Necessity of organization)—मानव के लिए संगठन की विशेष आवश्यकता है, क्योंकि एक व्यक्ति की अपेक्षा समूह किसी काम को अधिक सफलता से कर सकता है। व्यवसाय, सुख, विज्ञान एवं धर्म तथा युद्ध एवं शांति के विकास के लिए संगठन की आवश्यकता है। राज्य एक ऐसा संगठन है जो अन्य संगठनों को भी नियंत्रित करता है।

आलोचना (Criticism)—**डॉ० आशीर्वादम** ने कहा है, "यद्यपि इस सिद्धांत के विरुद्ध हमें कोई आपत्ति नहीं है, तथापि उपयोगितावादी सिद्धांत की आलोचनाएँ इसपर भी लागू होती हैं। साथ ही, राज्य के बारे में यह दृष्टिकोण बहुत अधिक संकीर्ण और अपर्याप्त है।"

(vii) **मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण** (The psychological theory)—**अरस्तू** के समय से ही इस बात पर जोर दिया गया है कि मनुष्य में स्वाभाविक राजनीतिक प्रवृत्ति होती है और वह शासन के अधीन स्वभावतः रहता है। मनोवैज्ञानिक पद्धति से संबंधित अन्य विभिन्न अवधारणाओं का आज विकास हुआ है। राजनीतिशास्त्र के प्रति बढ़ रहे मनोवैज्ञानिक प्रतिमानों की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है।

आलोचना (Criticism)—(i) एस्किमों (Eskimos) के ऐतिहासिक विश्लेषण के आधार पर यह मानना पड़ेगा कि राज्य एक सार्वभौम आवश्यकता नहीं है, क्योंकि एस्किमों का समाज तो है, पर उनका कोई राज्य नहीं। (ii) यह कहना पर्याप्त नहीं कि राज्य की उत्पत्ति मानव-प्रकृति से हुई है। **विलोबी** ने कहा है कि राजनीतिशास्त्र में हमारी मुख्य समस्या है कि राजनीतिक सत्ता का प्रयोग मानवीय तौर पर हो और राजनीतिक सत्ता तथा वैयक्तिक सत्ता में सामंजस्य कायम हो। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण इस संबंध में हमारी कोई सहायता नहीं करता। यह दृष्टिकोण हमें यह नहीं बताता कि राजनीतिक सत्ता का उपयोग कैसे तथा किसके द्वारा हो और वैयक्तिक स्वतंत्रता के साथ उसका समन्वय कैसे हो।

(viii) **आदर्शवादी सिद्धांत** (The idealistic theory)—इस सिद्धांत के अनुसार राज्य की आज्ञा मानना इसलिए आवश्यक है कि राज्य हमारे सर्वश्रेष्ठ आंतरिक गुणों का विकास करता है। **हीगेल** ने इसे 'स्वतंत्रता का यथार्थ रूप' तथा **टी० एच० ग्रीन** ने 'एक नैतिक संस्था' स्वीकार किया है। यह व्यक्ति का स्वाभाविक विकास और प्रसार है।

आलोचना (Criticism)—आदर्शवादी सिद्धांत के आलोचकों का कहना है कि यह सिद्धांत एक कल्पना है। राजनीतिक अधीनता सामाजिक सुविधा के हित में है तथा लोगों की इच्छा केवल प्रजातांत्रिक शासन का ही आधार हो सकती है।

निष्कर्ष (Conclusion)—राज्य के औचित्य-संबंधी विभिन्न सिद्धांतों के आलोचनात्मक विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि राज्य के अस्तित्व-संबंधी औचित्य की कोई निश्चित विचारधारा नहीं है और विभिन्न युगों में राज्य के औचित्य को सिद्ध करने के लिए अपने-अपने ढंग से ही विश्लेषण किया गया है। राज्य का औचित्य इसलिए सिद्ध नहीं किया जा सकता कि यह सर्वोत्तम जीवन की प्राप्ति का साधन, शक्ति का स्रोत, धर्म का रक्षक, मानवीय समझौते का परिणाम तथा आदर्श विचारधारा है। राज्य के अस्तित्व का औचित्य तो इस बात में है कि यह केवल मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का ही साधन नहीं है, वरन राज्य के नागरिकों के सर्वांगीण विकास के साथ-साथ बाह्य आक्रमणों की रक्षा भी इसका एक प्रमुख दायित्व है। अतएव, राज्य के अस्तित्व-संबंधी औचित्य का प्रश्न उठाना आज न्यायसंगत नहीं लगता। राज्य ने अपने क्षेत्रांतर्गत तमाम समस्याओं को शामिल कर लिया है। इसका रूप आज लोक-कल्याणकारी हो गया है।

राज्य का उद्देश्य
(The End of the State)

विभिन्न विचार—राजनीतिशास्त्र के विद्वानों के बीच राज्य का उद्देश्य विवादास्पद है। विभिन्न विद्वानों ने राज्य के उद्देश्य के संबंध में विभिन्न मत दिए हैं। बहुलवादियों ने राज्य को अन्य समुदायों की तरह एक समुदाय माना है। एक समुदाय की तरह भूमिका निभाकर ही राज्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है। यूनानी लोग राज्य का उद्देश्य आत्मनिर्भरता मानते थे। उनका कहना था कि राज्य को उन सभी बातों का प्रबंध करना चाहिए जो नागरिकों के सर्वोत्तम विकास और सुख के लिए आवश्यक हैं। **प्लेटो** के विचारानुसार राज्य एक अणु-विश्व है, जिसमें व्यक्ति को उचित स्थान मिल सकता है। **अरस्तू** का विचार था कि राज्य का उद्देश्य नागरिकों में सद्गुणों का विकास करना है। अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स' *(Politics)* में **अरस्तू** ने

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

बताया है कि राज्य का अस्तित्व सम्मति, समाज तथा सुरक्षा के लिए न होकर अच्छे जीवन के लिए है। यदि केवल अस्तित्व ही राज्य का उद्देश्य रहता तो दास और जंगली जीव भी अपना-अपना राज्य बना लेते। **अरस्तू** का विश्वास है कि राज्य का उद्देश्य नागरिकों में सद्गुणों का विकास करना तथा व्यक्ति को अधिकाधिक सुख पहुँचाना है। राज्य में केवल अंतर्विवाह, पारस्परिक संबंध, विनिमय और सामान्य निवास-स्थान ही निहित नहीं; राज्य का अर्थ इन सबसे कहीं अधिक है और वह अर्थ सामाजिक कल्याण की भावना है। राज्य केवल एक ऐसा समाज नहीं, जिसमें सामान्य मतभेद हों और जिसको अपराधों को रोकने और विनिमय के लिए कायम किया गया हो। प्राचीन रोमवासियों ने राज्य के उद्देश्य पर अधिक ध्यान नहीं दिया। मध्ययुग (middle age) में भी राज्य के उद्देश्य के संबंध में अधिक विचार नहीं किया गया। **एक्वीनॉस** का कहना है कि राज्य का अस्तित्व शान्ति तथा एकता की स्थापना है जो अच्छे जीवन की वृद्धि का प्रयास करता है। उस समय राज्य का महत्त्व इस बात में माना जाता था कि राज्य धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से निश्चित किए गए लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक हो। **हॉब्स** (Hobbes) के अनुसार व्यवस्था और सम्पत्ति का अधिकार कायम रखना राज्य का परम उद्देश्य है। **लॉक** (Locke) के विचार से राज्य का उद्देश्य व्यवस्था और सम्पत्ति का अधिकार कायम रखना है। **रूसो** (Rousseau) की दृष्टि में राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के जीवन को सुन्दर बनाने के लिए है। आज राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत उत्पन्न विभिन्न अवधारणाओं में भी राज्य के उद्देश्यों की चर्चा की गई है। जैसे-जैसे व्यक्ति प्रगति कर रहा है और अपने को विज्ञान की परिधि में जकड़ता जा रहा है, वैसे-वैसे राज्य के उद्देश्यों में भी परिवर्तन हो रहे हैं और संभावना यह है कि भविष्य में भी राज्य के उद्देश्यों में परिवर्तन होंगे। संक्षेप में, हम राज्य के उद्देश्यों को निम्नांकित रूपों में रख सकते हैं—

1. **सार्वजनिक सुख** (General happiness)—19वीं शताब्दी के प्रारंभ में उपयोगितावादी विचारक **गेरेमी बेन्थम** और **जे॰ एस॰ मिल** ने इस विचारधारा का प्रचार किया। **बेन्थम** के अनुसार राज्य का उद्देश्य 'अधिक-से-अधिक लोगों को अधिक-से-अधिक सुख' (greatest happiness of the greatest number) की वृद्धि करना है। आज भी राज्य-संबंधी इस उपयोगितावादी सिद्धांत की काफी मान्यता है। 19वीं सदी में इंगलैंड में हुए अनेक राजनीतिक और सामाजिक सुधारों का श्रेय इसी विचारधारा को है। कुछ लेखकों ने 'अधिकतम सुख' के स्थान पर 'अधिकतम कल्याण' (the greatest good or the general welfare) लिखा है। लेकिन, इस सुधार के बावजूद इस सिद्धांत में बहुमत के हित में अल्पमत के हितों के बलिदान की आशंका और अल्पसंख्यकों की योग्यता का बहुसंख्यक लोगों की अयोग्यता के अधीन किए जाने का भय है। **गिलक्राइस्ट** ने कहा है, "यह सिद्धांत विधानों के उद्देश्य की एक व्यावहारिक अभिव्यक्ति है, परन्तु राज्य के उद्देश्य की पूरी अभिव्यक्ति के रूप में कसौटी पर खरा नहीं उतरता।"

2. **व्यवस्था बनाए रखना** (Maintenance of order)—व्यक्तिवादी सिद्धांत के अनुसार राज्य का अस्तित्व केवल कानून-संबंधी व्यवस्था बनाए रखना है। कुछ लोगों ने इस सिद्धांत को बदलकर व्यवस्था के साथ शान्ति और सुरक्षा को भी जोड़ दिया है। यह माँग की गई है कि हर व्यक्ति को अपना कल्याण करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाए और राज्य उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करे। राज्य का कार्य केवल बाह्य तथा आंतरिक संकटों से सुरक्षा करना हो। राज्य के संबंध में यह बड़ा संकीर्ण दृष्टिकोण है।

3. **प्रगति** (Progress)—कुछ विद्वानों ने प्रगति को राज्य का उद्देश्य बताया है, लेकिन 'प्रगति' शब्द से ही राज्य का लक्ष्य स्पष्ट नहीं होता। जिस लक्ष्य की ओर हमें प्रगति करनी है, यदि वही मालूम न हो तो प्रगति का कोई अर्थ नहीं हो सकता। अतएव प्रगति को संभव बनाने के लिए पहले लक्ष्य का निर्धारण आवश्यक है।

4. **सामाजिक सेवा** (Social service)—समाजवादी विचारकों के अनुसार राज्य का अस्तित्व इसलिए है कि वह उन सामाजिक सेवाओं को प्रोत्साहित करे, जिनका संबंध सामाजिक हितों को पूरा करने से है, न कि बाहरी आक्रमण से व्यक्ति की रक्षा और राज्य के नागरिकों के बीच व्यवस्था कायम रखने से। आधुनिक राज्य सार्वजनिक स्वास्थ्य, आचरण और आर्थिक हितों की वृद्धि की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेते हैं। वर्तमानकाल में ब्रिटेन, भारत आदि राज्यों का एकमात्र उद्देश्य लोक-कल्याण की भावना को साकार करना है। इस सिद्धांत की मुख्य आलोचना यह है कि यह राज्य के कार्य की सीमा का सिद्धांत है, राज्य का उद्देश्य नहीं।

5. **न्याय** (Justice)—बहुत-से आदर्शवादियों ने न्याय को राज्य का उद्देश्य बताया है। **हेदरिंगटन** एवं **म्योरहेड** (Hethrington and Muirhead) ने अपनी पुस्तक **सामाजिक उद्देश्य** *(Social Purpose)* में बताया

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

है कि राज्य का प्रधान कार्य सदा न्याय का संगठन रहा है। उन्होंने यह भी लिखा है कि अपने मौलिक रूप में राज्य लोगों के अच्छे जीवन-संबंधी विचारों की अभिव्यक्ति है। इस व्यापक अर्थ में भी राज्य का उद्देश्य न्याय की व्यवस्था नहीं है और इसलिए राज्य मुख्यतः एक नैतिक संस्था है। फिर भी, केवल न्याय को ही राजनीतिक उद्देश्य स्वीकार करना एक संकीर्ण विचार है, क्योंकि न्याय ही एकमात्र राज्य का आधार नहीं हो सकता। यह बात भी सही है कि न्याय की स्थापना राज्य का परम उद्देश्य होना चाहिए, फिर भी विद्वानों की दृष्टि में यह एकमात्र राज्य का उद्देश्य नहीं है। **गिलक्राइस्ट** महोदय ने कहा है, "न्याय एक ऐसी स्थिति है जो वास्तविक सच्चे उद्देश्य की पूर्ति पर निर्भर है।"

आधुनिक विचारकों के अनुसार राज्य का उद्देश्य (End of the State according to Modern Thinkers)

आधुनिक राजनीतिशास्त्रवेत्ताओं ने भी राज्य के लक्ष्यों पर प्रकाश डाला है। जर्मन लेखक **होल्टजेन डॉर्फ** (Holtzen Dorff) के विचार में राज्य अपने तीन उद्देश्यों को पूरा करता है—(i) राष्ट्रीय शक्ति का विकास, (ii) व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पालन और (iii) सामाजिक शक्ति तथा मानवीय स्वतंत्रता का विकास।

वॉन मोल (Von Mohl) के अनुसार राज्य का उद्देश्य लोगों की उच्चतम शक्तियों का विकास करना है। **ब्लंश्ली** (Bluntschli) के अनुसार राज्य का उद्देश्य सामान्य कल्याण की अभिवृद्धि है। लेकिन, **ब्लंश्ली** ने यह भी कहा है कि सामान्य कल्याण को निश्चित करने के लिए एक मान्य कसौटी होनी चाहिए, नहीं तो राज्यों के अधिकांश कार्य स्वेच्छाचारी और निरंकुश हो जाएँगे। यही कारण है कि उसने राज्यों के उचित और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उद्देश्यों में अन्तर कर कहा है कि राज्य का प्रत्यक्ष उद्देश्य राष्ट्रीय शक्ति और क्षमता को बढ़ाना है। अप्रत्यक्ष उद्देश्य वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा सुरक्षा रखना है। **बर्गेस** (Burgess) ने भी राज्यों के उद्देश्यों को तीन भागों में विभाजित किया है—

(a) प्राथमिक उद्देश्य (Primary end)

(b) माध्यमिक उद्देश्य (Secondary end) तथा

(c) अंतिम उद्देश्य (Ultimate end)

बर्गेस ने अंतिम उद्देश्य पर सबसे पहले विचार किया है और कहा है कि मनुष्य की पूर्णता, संसार की सभ्यता का विकास और पृथ्वी पर धर्म (virtue) तथा नीति के साम्राज्य की स्थापना ही राज्य का अंतिम लक्ष्य होना चाहिए। राष्ट्रीयता के तत्त्व की पूर्णता, राष्ट्रीय प्रतिभा तथा राष्ट्रीय जीवन का विकास शासन का ध्येय होना चाहिए तथा व्यवस्था और स्वाधीनता की स्थापना राज्य का प्राथमिक उद्देश्य होना चाहिए। **रिची** (Richie) का कहना है कि व्यक्ति द्वारा सर्वोत्तम जीवन की प्राप्ति ही राज्य का उद्देश्य है। **विले** (Villey) के मतानुसार, "राज्य का यह कर्तव्य है कि वह दुश्मनों से राष्ट्रीय स्वाधीनता की रक्षा करे, आंतरिक सुख, शांति और सुव्यवस्था रखे तथा उसके बाद विश्व की प्रगति को ध्यान में रखते हुए अपने राष्ट्रीय जीवन का विकास करे।" **लेबुले** (Leboulaye) के विचार में, "राज्य का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसके पूर्ण विकास का मार्ग खोल दे। वह ऐसी व्यवस्था करे कि मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्ति का पूर्ण विकास हो।" **प्रो॰ विलोबी** (Willoughby) ने राज्य के निम्नांकित तीन उद्देश्यों का वर्णन किया है—

1. अपनी शक्ति से राज्य की स्वतंत्रता और उसकी आंतरिक शक्ति एवं व्यवस्था बनाए रखना,
2. व्यक्ति की स्वतंत्रता के हित में सरकार को मजबूत बनाना, तथा
3. नागरिकों को सीमित करना और आर्थिक, नैतिक एवं बौद्धिक कल्याण की वृद्धि।

लॉस्की ने राज्य को एक ऐसा संगठन बताया है, जो मानव-समूह को, जहाँ तक संभव हो सके, सबसे बड़े पैमाने पर सामाजिक लाभ की प्राप्ति कराता है। राज्य सामाजिक जीवन के संवर्द्धन के ध्येय की पूर्ति का एक साधन है। वह एक ऐसी आधारभूत सामाजिक संस्था है जो नागरिकों के बीच चारित्रिक एकता को बनाए रखती है। **लॉस्की** ने राज्यों को सार्वजनिक सेवा का एक नियम माना है। इसका उद्देश्य मानव को वे सारी सुविधाएँ प्रदान कराना है जिनसे उसके व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास हो सके। आधुनिक राजनीति-सिद्धांत के अन्य विद्वानों, जैसे—**हैरोल्ड डी॰ लॉसवेल, डेविड ईस्टन, कैटलीन, ब्रैस्ट, मोस्का, पैरोटो, मिचैल्स, माइकेल ऑकशॉट, औरण्ट, बर्ट्रैण्ड जोवेनेल, लियो स्ट्रॉस** तथा **बोगेलिन** आदि ने भी अपने अध्ययनों में राज्य के विभिन्न उद्देश्यों की चर्चा की है। राज्य के उद्देश्य-संबंधी अवधारणा में आज इसलिए परिवर्तन हो रहा है

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

कि आज के साम्यवादी तथा तानाशाही राज्य भी व्यक्ति के प्रति अपने उद्देश्यों को सही और तार्किक बताने लगे हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)—इस प्रकार, राज्य नागरिकों के स्वार्थ तथा अधिकारों के संरक्षण की एक संस्था है। **प्रो॰ गार्नर** के अनुसार राज्य का मौलिक, प्राथमिक तथा तात्कालिक उद्देश्य शांति, रक्षा, व्यवस्था तथा न्याय को कायम रखना है। इसमें कानून के शासन (Rule of law) भी स्थापित करने की बात आ गई है जिससे वैयक्तिक स्वत्वों की रक्षा की जा सके तथा कोई मानव, कोई समाज या कोई सरकार दूसरे की वैयक्तिक स्वाधीनता में बाधा उत्पन्न न कर सके। यदि राज्य इन उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल है, तो यह मान लेना चाहिए कि उसका अस्तित्व न्याययुक्त नहीं। राज्य का यह भी परम उद्देश्य है कि व्यक्ति के हितों की अपेक्षा सामाजिक हितों पर अधिक ध्यान दिया जाए। राज्य को ऐसे ही कार्य करने चाहिए, जो लोगों के हितों के अनुकूल हों। इन सब मौलिक कर्तव्यों के अलावा राज्य का सर्वोत्तम ध्येय मानवजाति की सभ्यता और संस्कृति का विकास करना भी है।

राज्य के प्रति आज्ञाकारिता—राज्य के लक्ष्य से संबद्ध एक और प्रश्न यह है कि मनुष्य राज्य के प्रति क्यों आज्ञाकारी होता है। इस संबंध में **ब्राइस** ने कहा है, "जिन लोगों ने राज्य के स्वरूप और कानून के आधार पर विचार किया है, उनके शोध के प्रारंभ में ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह कौन-सी शक्ति है जो व्यक्तियों को सरकार के नियंत्रण में रखती है।" मनुष्य राज्य की आज्ञाओं का पालन क्यों करता है? यह एक विवादास्पद प्रश्न है जिसका समाधान **प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, रूसो, बेन्थम** तथा आदर्शवादी विचारकों ने खोजने का प्रयास किया है। **ब्राइस** ने आज्ञाकारिता की भावना को पाँच भागों में विभाजित किया है, जो इस प्रकार हैं—(1) **आलस्य** (Indolence)—अधिकांश लोग आलस्यवश ही राज्य की आज्ञाओं का पालन करते हैं। (2) **श्रद्धा** (Deference)—चूँकि इसमें प्रेम, आदर, भक्ति आदि सन्निहित हैं जिसके कारण लोग अपने स्वार्थों को छोड़ देते हैं और राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं। (3) **सहानुभूति** (Sympathy)—सहानुभूति का तात्पर्य मानव में पाए जानेवाले उस भाव से है जिसे हम सहयोगात्मक प्रवृत्ति कहते हैं और जिसके कारण लोग राज्य की आज्ञाओं का पालन करते हैं। (4) **भय** (Fear)—भय का तत्त्व भी राज्य के प्रति आज्ञाकारिता की भावना को जाग्रत करता है। (5) **विवेक** (Reason)—विवेक मानव में उन दूरदर्शी विचारों को लाता है जिसके कारण राज्य के प्रति आज्ञापालन की भावना जागती है। **प्रो॰ ब्राइस** के उपर्युक्त पाँच कारणों के अलावा **आदत, स्वार्थ, अनुशासन, विश्वास** इत्यादि ऐसे कारण हैं जिनसे आज्ञापालन की भावना जागती है। व्यक्ति की उदासीनता भी राज्य के प्रति आज्ञाकारिता का प्रमाण हो गई है। आज विकासशील देशों में प्रशासन के खिलाफ जनता में इतनी प्रतिक्रिया है कि उसने अपनी प्रतिक्रिया की शान्ति के लिए अपनी उदासीनता का परिचय देना शुरू कर दिया है। चूँकि आधुनिक विकासशील देशों में राज्य के कार्य अधिक हो गए हैं, इसलिए राज्य अपने उद्देश्यों को विविध कारणों से क्रियान्वित करने में अपने को असफल पा रहा है। व्यक्ति चाहकर भी राज्य की प्रकृति को बदल पाने में, चूँकि असमर्थ है, इसलिए स्वभावतः उदासीन होकर वह राज्य के प्रति अपनी आज्ञाकारिता का परिचय देता है।

राज्य : साध्य या साधन के रूप में
(State : an End or Means)

राज्य साध्य है या साधन? इस प्रश्न को लेकर राजनीतिशास्त्र के विद्वानों में अत्यधिक विचारवैभिन्नय है। इस संबंध में विभिन्न समयों में विभिन्न विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया है।

अराजकतावादियों के अनुसार—अराजकतावादियों की दृष्टि में राज्य एक अवांछनीय तथा दूषित संस्था है। चूँकि यह शक्ति का प्रतीक है, इसलिए वैयक्तिक स्वतंत्रता का अपहरण करता है। अतएव, राज्य एक अनावश्यक बुराई है जिसका अंत निश्चित रूप से होना चाहिए। अराजकतावादियों ने राज्य की आलोचना करते समय उसकी समाप्ति की दलील दी है और बताया है कि राज्य मानवीय गुणों का हनन करता है।

आदर्शवादियों के अनुसार—आदर्शवादियों की दृष्टि में राज्य स्वयं साध्य है, साधन नहीं। व्यक्ति साधन है, जिसे राज्य के लक्ष्य तक पहुँचना है। राज्य एक प्राकृतिक तथा स्वाभाविक संस्था है। राज्य से परे व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं। "राज्य मनुष्य का एक व्यापक रूप है" (State is an individual writ large)। राज्य के साथ अपने-आपको पूर्ण रूप से एकाकार कर देने से ही व्यक्ति अपने जीवन की पूर्णता पा सकता है। अतएव, राज्य स्वयं एक उद्देश्य है, जिसे व्यक्ति को प्राप्त करना है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

व्यक्तिवादियों के अनुसार—व्यक्तिवादियों ने राज्य को साध्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है। वे राज्य को एक साधन (means) मानते हैं। उनकी दृष्टि में व्यक्ति का कल्याण तथा सुख ही साध्य है। वे राज्य को समाज का संगठन और राज्य का उद्देश्य सामाजिक हितों की वृद्धि करना मानते हैं। राज्य एक बुराई है जो व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण करता है। इस प्रकार, व्यक्तिवादी राज्य के कार्यक्षेत्र को अत्यधिक सीमित कर देना चाहते हैं। राज्य को व्यक्ति के जीवन में कम-से-कम हस्तक्षेप करना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि राज्य एक साधन है जिसका परम उद्देश्य व्यक्ति का कल्याण तथा सुरक्षा है। व्यक्तिवादी विचारधारा के प्रमुख विचारक **जेम्स मिल, जॉन स्टुअर्ट मिल** और **हर्बर्ट स्पेन्सर** आदि हैं। इस विचारधारा का मूल आधार है "व्यक्ति राज्य के लिए नहीं है, वरन राज्य व्यक्ति के लिए है।"

समाजवादियों के अनुसार—समाजवादी राज्य के कार्यक्षेत्र को अधिक-से-अधिक बढ़ाने का प्रयास करते हैं। उनकी दृष्टि में राज्य और व्यक्ति में अटूट संबंध है। यदि राज्य साधन है तो व्यक्ति साध्य और यदि व्यक्ति साधन है तो राज्य साध्य। अतः, राज्य साध्य और साधन दोनों है। यह साध्य इसलिए है कि यह व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए परमावश्यक है जिसके बिना सामाजिक जीवन की सार्थकता प्राप्त नहीं की जा सकती। राज्य साधन इसलिए है कि उसका निर्माण व्यक्ति के जीवन, उसकी स्वतंत्रता तथा संपत्ति की रक्षा के लिए हुआ है। समाजवादी विचारधारा सिर्फ एक राजनीतिक दर्शन ही नहीं है, वरन वह जीवन का एक माध्यम भी है जो व्यक्ति के सामाजिक और आर्थिक विकास में विश्वास करती है। समाजवादी विचारकों में मुख्य **सेंट सिमन, रॉबर्ट ओवेन, चार्ल्स फेरियर** और **प्रोधाँ** के नाम उल्लेखनीय हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राज्य का साध्य और साधन-संबंधी प्रश्न काफी उलझा हुआ है। सच तो यह है कि राज्य को साध्य या साधन के रूप में देखना ही गलत है। दोनों में इतना पारस्परिक संबंध है कि वे एक-दूसरे के सहायक के रूप में नहीं हैं, वरन एक का हित दूसरे का हित है। **डॉ० ए० आशीर्वादम** ने ठीक ही लिखा है, "राज्य और व्यक्ति में साध्य और साधन का प्रश्न बताना इन दोनों की प्रकृति को गलत समझना है। ये दोनों आपस में इतने घनिष्ठ रूप से संबद्ध हैं कि हम यह कह सकते हैं कि अपनी निरंतर स्थिति में राज्य और व्यक्ति दोनों का लक्ष्य अपनी स्थिति को उच्चतर करते रहना है और दोनों ही इस लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन हैं। दोनों एक साथ ही लक्ष्य की ओर चलते हैं।" **प्रो० विलोबी** ने राज्य के साध्य या साधन होने के प्रश्न की विवेचना यह कहकर की है कि वह दृष्टिकोण के ऊपर निर्भर करता है। जैसे—एक कलाकार यदि अपने चित्र के जरिए जीविकोपार्जन करता है तो वह साधन है और यदि वह चित्र उसके सर्वोत्तम लक्ष्य की पूर्ति है तो साध्य। इसी प्रकार, राज्य भी जहाँ तक व्यक्ति के उद्देश्यों की पूर्ति को संभव बनाता है तो वह साधन (means) है और जब वह हमारी सामाजिकता, नैतिकता तथा सद्जीवन की अपेक्षा करता है तो वह साध्य (end) है।

राज्य का महत्त्व
(Importance of the State)

परिचय (Introduction)—राज्य विभिन्न सामाजिक संस्थाओं में सबसे अधिक शक्तिशाली, व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण संस्था है। राज्य की अनुपस्थिति में सभ्य सामाजिक जीवन असंभव है। यदि राज्य न रहे तो शान्ति और सुव्यवस्था का अन्त हो जाएगा और सर्वत्र भय, संघर्ष और अराजकता का साम्राज्य छा जाएगा। भय, अत्याचार, अन्याय, संघर्ष, अव्यवस्था, अशान्ति की भयावह स्थिति में मानव सभ्य जीवन की कल्पना नहीं कर सकता। इस संबंध में **अरस्तू** ने ठीक ही कहा है, "मनुष्य जब पूर्णता को प्राप्त कर लेता है तब वह प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ हो जाता है, लेकिन जब वह कानून और न्याय से अलग कर दिया जाता है तब सबसे निकृष्ट हो जाता है। राजनीतिक समाज में न्याय या शासन सुव्यवस्था का सिद्धांत है।"[1] अर्थात, राज्य के बिना सामाजिक शांति और सुव्यवस्था समाप्त हो जाएगी और मनुष्य पाशविक प्रवृत्ति का हो जाएगा। राज्य के कारण ही मानव ने विज्ञान, कला, साहित्य, सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में उन्नति की है। **बर्क** ने भी कहा है, "राज्य समस्त विज्ञान, समस्त कला, समस्त सद्गुण और पूर्णता में साझीदार है।"[2] राज्य के महत्त्व को हम अग्रांकित रूपों में रख सकते हैं—

1. "Man when perfected, is the best of animals, but when separated from law and justice, he is the worst of all. The administration of justice is the principle of order in political society."—ARISTOTLE
2. "The state is a partnership in all science, a partnership in all art, a partnership in all virtue and perfection."—BURKE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. राज्य एक स्वाभाविक संस्था है—राज्य एक स्वाभाविक संस्था इसलिए है कि इसकी उत्पत्ति मानव की सहज प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं से हुई है। मानव के अन्दर राजनीतिक प्रवृत्तियों का समुद्र होता है, जो राज्य की उत्पत्ति का मूल स्रोत है। इस संबंध में यूनानी विचारक **अरस्तू** ने कहा है कि मनुष्य स्वभाव से राजनीतिक प्राणी है। उसके विचारों में राज्य में रहकर ही कोई व्यक्ति सही मनुष्य बन सकता है। राज्य के बाहर मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं है। **अरस्तू** के शब्दों में, "जो मनुष्य राज्य का सदस्य नहीं है, वह या तो देवता है या जानवर।" कहने का तात्पर्य है कि राज्य मानव के लिए स्वाभाविक है, क्योंकि राज्य की उत्पत्ति मानव की सहज प्रवृत्तियों में हुई है और इसके बिना मानव पशुतुल्य है।

2. राज्य एक अनिवार्य संस्था है—राज्य सिर्फ स्वाभाविक और प्राकृतिक संस्था ही नहीं, वरन एक अनिवार्य संस्था भी है। **अरस्तू** के विचार में, "राज्य की उत्पत्ति मानवीय आवश्यकताओं के कारण हुई है और उत्तम जीवन के लिए इसका अस्तित्व बना रहता है।"[1] अर्थात, राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुई है और वर्तमान काल में इसका अस्तित्व इसलिए कायम है कि राज्य के बिना सुखी, सभ्य और रोचक जीवन संभव नहीं है। **प्लेटो** ने भी कहा है कि, चूँकि मनुष्य स्वयं में पूर्ण नहीं है, इसलिए उसे दूसरे के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। इसी सहयोग के कारण राज्य का मूर्त रूप हमारे सामने उपस्थित हुआ है। **अरस्तू** और **प्लेटो** के उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट है कि राज्य के अन्दर रहकर ही मानव अपने जीवन की पूर्णता प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की कल्पना हम राज्य की अनुपस्थिति में नहीं कर सकते।

3. शांति और सुरक्षा का संस्थापक—सामाजिक संस्थाओं में राज्य सबसे शक्तिशाली और व्यापक संस्था है। राज्य के अन्दर कुछ ऐसे लोग हैं जो असामाजिक कार्यों में संलग्न हो जाते हैं। चोरी-डकैती, हत्या, झगड़ा-फसाद, दुराचरण इत्यादि निकृष्ट कार्यों को वे अपना पेशा बना लेते हैं। राज्य ऐसे लोगों को दण्ड देकर सामाजिक शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखता है। बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना भी राज्य का मौलिक दायित्व है। अतः, निश्चित रूप से राज्य शान्ति और सुव्यवस्था का संस्थापक है। लेकिन, राज्य-संबंधी यह उद्देश्य आज काफी पुराना पड़ गया है। जब से राज्य-व्यवस्था का प्रारंभ हुआ, तब से राज्य के ये प्रमुख कार्य रहे हैं। आज राज्य शान्ति और सुरक्षा का सिर्फ संस्थापक ही नहीं है, वरन वह 'और कुछ' भी है जिसे विभिन्न आधुनिक विद्वानों ने अपने-अपने सिद्धांतों में निरूपित किया है।

4. व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना—राज्य ही विभिन्न समुदायों में एक ऐसा समुदाय है जो व्यक्ति को पूर्ण विकास का अवसर देता है। मनुष्य का व्यक्तित्व बहुमुखी है। राज्य को छोड़कर कोई भी संघ या समुदाय मनुष्य के बहुमुखी व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। राज्य मनुष्य के आत्म-विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास हेतु वह उचित और अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करता है।

5. सामाजिक संघर्षों में सामंजस्य स्थापित करता है—समाज के विभिन्न वर्गों, व्यक्तियों, संघों तथा समुदायों के पारस्परिक संघर्षों को समाप्त करके राज्य उनमें सामंजस्य स्थापित करता है। अमीर-गरीब, किसान-जमींदार, मालिक-मजदूर, शोषक-शोषित इत्यादि के बीच उत्पन्न संघर्ष को दूर कर उनमें सामंजस्य लाना राज्य का परम दायित्व है। **लॉस्की** ने भी कहा है, "राज्य समाज के संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर है और दबाव डालनेवाली अपनी शक्ति का प्रयोग उन शाश्वत और स्थायी हितों की अभिवृद्धि के लिए करता है जिनके लिए मनुष्य एक साथ मिलकर रहते हैं।"[2]

6. सामाजिक हित का प्रतिनिधित्व करता है—राज्य की स्थापना किसी जाति या वर्ग के हितों या स्वार्थों की पूर्ति हेतु नहीं होती है, वरन सामाजिक हितों के प्रतिनिधि के रूप में होती है; जैसे—राज्य का श्रमिक संघ केवल श्रमिकों के हितों का ध्यान रखता है। लेकिन, राज्य के साथ ऐसी बात नहीं है। वह सारे नागरिकों के हितों का ध्यान रखता है। आधुनिक कल्याणकारी राज्यों का ध्यान इसकी ओर बहुत जोर से आकृष्ट हुआ है और इसीलिए यह समाज के दलित, हरिजन तथा पिछड़े वर्गों के ऊपर होनेवाले शोषण को रोकने का प्रयास करता है। सामाजिक हित के लिए राज्य का अस्तित्व आवश्यक है।

---

1. "The state comes into existence originating in the bare needs of life and continuing in existence for the sake of good life."—ARISTOTLE

2. "The state stands above all narrow interests in society and uses the coercive power on behalf of the permanent and abiding interests for which men live together."—LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

7. राज्य नैतिक जीवन की एक शर्त है—राज्य की अनुपस्थिति में हम दैनिक जीवन की कल्पना नहीं कर सकते हैं। **गिलक्राइस्ट** का कहना है, "राज्य व्यक्ति के नैतिक जीवन की सबसे बड़ी शर्त है; क्योंकि राज्य के अभाव में नैतिक जीवन असंभव है।" उसका कहना है कि नैतिकता के संबंध में राज्य का प्रत्यक्ष कार्य है जो सकारात्मक और नकारात्मक दोनों हो सकता है। सकारात्मक नैतिक अभिकर्ता के रूप में राज्य ऐसे कानूनों का निर्माण करता है जो नागरिकों के सर्वोत्तम नैतिक हितों के अनुकूल होते हैं। नकारात्मक दृष्टि से राज्य बुरे कानूनों को समाप्त करता है; जैसे—नशाखोरी, गुलामी और बेगार-प्रथा, सती-प्रथा आदि।

राज्य-संबंधी उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण कार्यों से स्पष्ट है कि राज्य अपने-आपमें कोई लक्ष्य नहीं है। यह तो एक साधन है जिसके बिना सामाजिक व्यवस्था और सुरक्षा संभव नहीं है। राज्य हमारे नैतिक जीवन का आधार है। इसके अंदर रहकर ही हम पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं।

लेकिन, आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों ने राज्य के बिना राजनीति की चर्चा प्रारम्भ कर दी है। विभिन्न नई अवधारणाओं के आगमन से राज्य के महत्त्व-संबंधी अनेक तर्क-वितर्क दिए गए हैं। बहुलवादी विचारकों, जैसे—**गियर्क, फिगिस, मेटलैण्ड, बार्कर, लिंड्से, जी॰ डी॰ एच॰ कोल, लॉस्की, मैकिवर** आदि विद्वानों ने राज्य से परे अन्य समुदायों और संगठनों के अध्ययन पर जोर दिया है। यह बात सही है कि बहुलवादियों ने राज्य की अखंडता और महत्त्व को चुनौती दी है, फिर भी सभी बहुलवादी विचारक इस तथ्य के प्रति सजग हैं कि किसी एक संस्था को संप्रभु बनाए बिना राजनीतिक समाज की कल्पना नहीं की जा सकती और यही कारण है कि सभी ने विविध समुदायों के अस्तित्व, उनकी स्वतंत्रता तथा सत्ता के विकेंद्रीकरण की बात करते हुए भी, एक ऐसी संस्था के अस्तित्व को स्वीकार किया है, जो विविध समुदायों के संबंधों में सामंजस्य बनाए रख सके और इस प्रकार, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ न होने पाए। इसीलिए **गियर्क** ने कहा है कि बहुलवादी समाज में भी राज्य को समाज के सामान्य हितों की रक्षा का सर्वोच्च अधिकार होगा। अन्य बहुलवादियों ने भी करीब ऐसी ही धारणाएँ व्यक्त की हैं।

राज्य की सीमाएँ (Limitations of the State)—**डॉ॰ ए॰ आशीर्वादम** ने अपनी पुस्तक **राजनीतिशास्त्र** में राज्य की निम्नलिखित सीमाओं की चर्चा की है—

(i) राज्य की इच्छा हमेशा व्यक्तियों की इच्छा के समान नहीं होती।

(ii) व्यक्ति के शरीर का विकास अपने-आप होता है।

(iii) यह भी खतरा है कि राज्य के महत्त्व को बढ़ाते-बढ़ाते हम राज्य को ही लक्ष्य न मान बैठें और यह भूल जाएँ कि राज्य के अस्तित्व का उद्देश्य उसके व्यक्तिगत सदस्यों का कल्याण है।

(iv) राज्य में व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य समाज के जीवन को सदा बनाए रखना ही नहीं है, वरन हर व्यक्ति को काफी हद तक स्वयं अपने जीवन का निर्माण करना होता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी चेतना और अपनी इच्छा होती है।

(v) कभी-कभी राज्य अधिक स्वेच्छाचारी होकर नागरिक-अधिकारों का हनन करने लगता है।

निष्कर्ष (Conclusion)—राज्य-संबंधी उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद हमें यह स्वीकार करना है कि राज्य के अन्दर रहकर ही व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन, अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास और अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर परमसुख की प्राप्ति कर सकता है। राज्य को कभी नागरिकों के हितों का हनन नहीं करना चाहिए, अन्यथा यह राज्य के प्रतिकूल होगा और जनता राज्य के विरुद्ध उठ खड़ी होगी। आज के वैज्ञानिक युग में राज्य ही व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक हो सकता है। राज्य अंतरराष्ट्रीय जगत में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए सिर्फ अन्य राज्यों से सम्पर्क स्थापित नहीं करता, वरन विभिन्न वैज्ञानिक उपलब्धियों का प्रदर्शन कर व्यक्ति के जीवन से संबद्ध विविध समस्याओं का समाधान चाहता है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्रश्नावली

1. राज्य के औचित्य-संबंधी सिद्धांतों की व्याख्या करें।
   (Discuss the various theories regarding the justification of the State.)
2. राज्य के औचित्य के आदर्शवादी सिद्धांत का आलोचनात्मक विवेचन करें।
   (Critically examine the idealistic theory of the justification of the State.)
3. राज्य के उपयोगितावादी सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
   (Explain the utilitarian theory regarding the justification of the State.)
4. आधुनिक युग में राज्य के महत्त्व का उल्लेख कीजिए।
   (Discuss the importance of the State in the modern age.)
5. आधुनिक युग में राज्य का उद्देश्य क्या है ?
   (What is the end of the State in modern times ?)
6. साध्य और साधन के रूप में राज्य का वर्णन करें।
   (Explain the State as an end and means.)
7. राज्य के महत्त्व पर एक संक्षिप्त लेख लिखें।
   (Write a short essay on the importance of the State.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 10

राज्य के कार्य : उदारवाद, समाजवाद एवं लोककल्याणकारी राज्य

[FUNCTIONS OF THE STATE : LIBERALISM, SOCIALISM AND WELFARE STATE]

आधुनिक राज्यों के कर्तव्यों को हम किसी परिभाषा द्वारा सीमित नहीं कर सकते।—मिल

विषय-प्रवेश (Introduction)

राज्य के उचित कार्यक्षेत्र का प्रश्न राजनीतिशास्त्र के लिए महत्त्वपूर्ण हो गया है। राज्य को किन-किन कार्यों को करना चाहिए जिससे व्यक्ति की स्वतंत्रता पर घातक प्रभाव न पड़े और किन-किन क्षेत्रों में हस्तक्षेप करना चाहिए आदि ऐसे प्रश्न हैं जो राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए आवश्यक हैं। यूनानियों ने व्यक्ति के कल्याण तथा राज्य के कल्याण में कोई अन्तर नहीं किया था। मध्ययुग में सत्ता के लिए चर्च और राज्यों में घोर संघर्ष छिड़ा। उस संघर्ष में नवीन राष्ट्रीय राज्यों को विजय मिली। राष्ट्रीय राज्यों का उदय मध्ययुग के अंत में हुआ। फूट डालनेवाली सामंतवादी व्यवस्था को समाप्त करके राज्यों ने जल्दी अपनी स्थिति मजबूत कर ली और अपनी प्रजा को निरंकुशता का ताज पहना दिया। जनता ने भी निरंकुशता के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। 17वीं शताब्दी के **जॉन लॉक** इस संघर्ष के महान दार्शनिक थे। उनका कहना था कि राज्य के कार्यक्षेत्र की सीमा का निर्धारण व्यक्ति में प्राकृतिक और जन्मजात अधिकारों द्वारा होता है। 18वीं शताब्दी तक यह सिद्धांत सर्वमान्य रहा। 19वीं शताब्दी में इस सिद्धांत को हस्तक्षेप न करने के *(laissez-faire)* सिद्धांत का दार्शनिक आधार बनाया गया। आज भी यह सिद्धांत किसी-न-किसी रूप में चल रहा है।

उपर्युक्त तथ्यों के सन्दर्भ में राजनीतिशास्त्र की विभिन्न विचारधाराओं—**आदर्शवाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद, अराजकतावाद, साम्यवाद** और **गाँधीवाद** के समर्थकों ने अपने-अपने ढंग से राज्य के कार्यक्षेत्र का विवेचन किया है। विगत शताब्दी में उपर्युक्त विचारधाराओं के अलावा **श्रम-संघवाद** (syndicalism), **श्रेणी-समाज़वाद** (guild socialism), **फेबियनवाद** (fabianism), **संमूहवाद** (collectivism) इत्यादि राजनीतिक वाद हमारे सामने आए हैं जिन्होंने राज्य के कार्यक्षेत्र को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। राज्य के कार्यक्षेत्र से संबद्ध इन तमाम विभिन्न अवधारणाओं की विस्तृत चर्चा इस पुस्तक में अन्यत्र की गई है।

आधुनिक राज्यों के कार्य
(Functions of Modern States)

जनता की अधिकतम भलाई आधुनिक युग में अधिकांश राज्यों के कार्यों का आधार हो गई है। **गार्नर** ने भी सार्वजनिक कल्याण को अपना आदर्श मानते हुए राज्य-कार्य के संबंध में कहा है, "पुलिस का काम करना ही राज्य का एकमात्र कर्तव्य नहीं है, वरन राज्य का काम राष्ट्रीय जीवन को पूर्ण बनाना, राष्ट्र की सम्पत्ति और उसके कल्याण के विकास में सहायता पहुँचाना और उसके बौद्धिक तथा नैतिक उत्थान में योगदान करना है।" प्रसिद्ध विद्वान **बर्न्स** (Burns) का कहना है कि राज्य को राष्ट्रीय जीवन को पूर्ण बनाने और राष्ट्र के विकास करने में यथासंभव अधिकतम योगदान करना चाहिए।

राजकीय कार्यों का वर्गीकरण (Classification of governmental functions)—**प्रो॰ गार्नर** ने राज्य के कार्यों का वर्गीकरण अग्रांकित रूप में किया है—

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

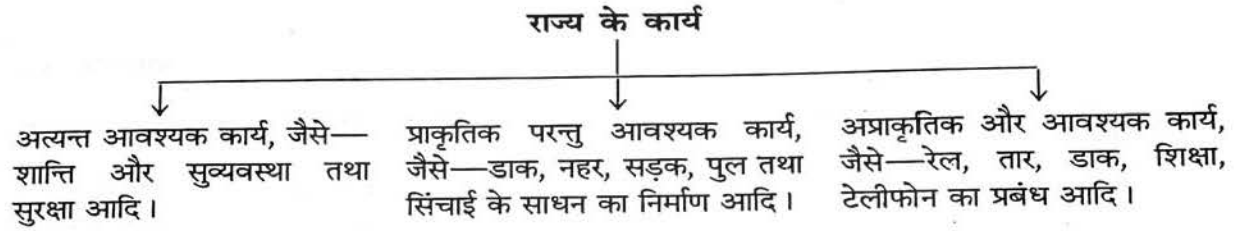

लेकिन **विलोबी** (Willoughby) तथा **गेटेल** (Gettell) ने राजकीय कार्यों का भी दो विभाजन किया है—

1. आवश्यक और मौलिक (Essential or fundamental) तथा
2. वैकल्पिक (Optional)।

राज्य के अनिवार्य कार्य

राज्य के अनिवार्य कार्य राज्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। ये निम्नलिखित हैं—

1. बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा करना—विदेशी दुश्मनों से देश की रक्षा करना विश्व के सारे राज्यों का अनिवार्य कार्य है, क्योंकि इसी के ऊपर राज्य का अस्तित्व निर्भर करता है। इसके लिए प्रत्येक राज्य एक सुसंगठित सेना रखता है जिसमें जल, स्थल तथा वायु सेनाएँ सम्मिलित हैं।

2. आंतरिक शांति स्थापित करना (To establish internal peace)—आंतरिक शांति और सुरक्षा राज्य का महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। इसके लिए राज्य को पर्याप्त पुलिस बल का प्रबंध करना चाहिए। ऐसा करने से ही राज्य आंतरिक संप्रभुता को प्राप्त कर सकता है। नागरिकों की सुख-सुविधा, जान-माल की रक्षा तथा अपराधों का निरोध राज्य का प्रमुख दायित्व है। नागरिकों को अपने-अपने जीवन, स्वतंत्रता, संपत्ति तथा अन्य नागरिक और राजनीतिक अधिकारों को भोगने में राज्य सहायता करता है। ऐसा तभी संभव है जब राज्य की आंतरिक शांति बनी रहे।

3. संप्रभु राज्यों से राजनयिक संबंध स्थापित करना (To establish diplomatic relations with sovereign nations)—विश्व के स्वतंत्र देशों से राजनयिक संबंध स्थापित करना भी राज्यों का अनिवार्य कार्य है। इसके लिए विश्व के सारे देश वैदेशिक विभाग की स्थापना करते हैं और उसके माध्यम से मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रखते हैं।

4. न्याय का प्रबंध करना (To maintain justice)—राज्य की सीमा के अन्दर न्याय का प्रबंध भी राज्य का प्रमुख कार्य है। राज्य के सामने सारे नागरिक समान होते हैं और एक तरह के अपराध के लिए एक तरह की सजा दी जाती है। इसे संचालित करने के लिए राज्य दंडविधान और न्यायालय की व्यवस्था करता है। न्यायालय के प्रायः तीन रूप—**दीवानी, फौजदारी** तथा **राजस्व** होते हैं।

5. अन्य कार्य (Miscellaneous functions)—राज्य के अनिवार्य कार्यों के अंतर्गत कुछ निम्नांकित कार्यों को भी सम्मिलित किया जा सकता है, जैसे—

(i) यह पति-पत्नी तथा सन्तान और माता-पिता के वैधानिक एवं पारस्परिक संबंध तय करता है।

(ii) राज्य अधिकारों तथा कर्तव्यों की विवेचना कर विभिन्न नागरिकों के पारस्परिक संबंध को निश्चित करता है।

(iii) राज्य जायदाद के अधिकार के हस्तान्तरण (transmission) और विनिमय का नियमन करता है तथा कर्ज और अपराध के लिए जायदाद पर आनेवाले भार को निश्चित करता है।

(iv) राज्य व्यक्तियों में आपसी संविदा से उत्पन्न अधिकारों को निश्चित करता है।

(v) उपर्युक्त कार्यों के अलावा राज्य अपने अनेक आर्थिक कार्यों का सम्पादन करता है; जैसे—कर, लगान, मुद्रा और सिक्का-संबंधी कानून बनाना, भूमि, जंगल तथा अन्य सार्वजनिक संपत्ति का प्रबंध करना।

उपर्युक्त कार्यों का समर्थन करते हुए **प्रो॰ गेटेल** ने कहा है कि शासन की अन्य शाखाएँ आर्थिक और सैनिक हैं, जिनपर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

राज्य के वैकल्पिक कार्य (Optional functions of the State)

डॉ॰ **आशीर्वादम** ने कहा है, "वैकल्पिक कार्य वे कार्य हैं जो राज्य के अस्तित्व और व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सुरक्षा के लिए अनिवार्य नहीं होते, परन्तु वे सार्वजनिक कल्याण के लिए आवश्यक होते हैं।" वैकल्पिक कार्यों के अंतर्गत हम निम्नलिखित कार्यों को सम्मिलित कर सकते हैं—

1. शिक्षा का प्रबन्ध (Management of education)—राज्य का दायित्व है कि वह अपने नागरिकों का बौद्धिक तथा नैतिक विकास करे। इसके लिए राज्य शिक्षा का प्रबन्ध करता है। भारत में भी प्रारंभिक शिक्षा को निःशुल्क तथा अनिवार्य बना दिया गया है।

2. सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा का प्रबन्ध (Management of public health & dispensary)—नागरिकों को खुशहाल रखना राज्य का उद्देश्य है और खुशहाली की निशानी नागरिकों का स्वास्थ्य होता है। नागरिकों के स्वास्थ्य को उन्नत करने के लिए विश्व के सारे राष्ट्र अस्पताल और चिकित्सालय का प्रबन्ध करते हैं। बीमारियों को रोकना, संक्रामक रोगों की रोकथाम के लिए टीका आदि का प्रबन्ध करना तथा सार्वजनिक चिकित्सालयों के माध्यम से निःशुल्क दवा का प्रबन्ध करना राज्य का प्रमुख दायित्व है।

3. उद्योगों का नियंत्रण तथा राष्ट्रीयकरण (Control and nationalisation of industries)—आज के समाजवादी तथा लोककल्याणकारी युग में उद्योग-धंधों को नियंत्रित करना तथा उन्हें सहायता देना राज्य का महत्त्वपूर्ण कार्य हो गया है। राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगों तथा राष्ट्रीय सुरक्षा से संबंधित कल-कारखानों पर राज्य का एकाधिकार स्थापित हो जाता है। रेल, तार, डाक, बैंक आदि के क्षेत्र में व्यक्तिगत अधिकार को समाप्त कर दिया जाता है। छोटे-छोटे उद्योग-धंधों को ही स्वतंत्र प्रतियोगिता के क्षेत्र में छोड़ा जाता है।

4. कृषि विकास (Development in agriculture)—खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर होने के लिए राज्य कृषि में विकास और सुधार करता है। इसके लिए वह सिंचाई का प्रबन्ध, अच्छे बीज, अच्छी खाद तथा आधुनिक वैज्ञानिक मशीनों का प्रबन्ध करता है। भारत में इसी ध्यान से जमींदारी-उन्मूलन, भूमि की हदबन्दी तथा सहकारिता आदि की दिशा में प्रयास किया गया है।

5. यातायात की समुचित व्यवस्था (Proper management of communication)—संचार साधनों और यातायात की समुचित व्यवस्था करना भी आधुनिक राज्यों का प्रमुख काम है। यातायात की समुचित व्यवस्था के बिना किसी भी देश की आर्थिक उन्नति संभव नहीं। इसीलिए, प्रत्येक राज्य सड़क, रेल, जलमार्ग, हवाई मार्ग, मोटर तथा डाक आदि की व्यवस्था करता है।

6. व्यापार का नियंत्रण (Control over business)—अपने देश के आंतरिक तथा वैदेशिक व्यापार पर भी सरकारी नियंत्रण आवश्यक है, क्योंकि देश की आर्थिक स्थिति बड़े पैमाने पर वाणिज्य पर ही आश्रित है। इसके अलावा विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन, क्रय-विक्रय तथा माप-तौल आदि पर भी सरकार नियंत्रण रखती है।

7. संचार-साधनों का विकास (Development of the means of communication)—नागरिक जीवन की उन्नति के लिए संचार-साधनों का विकास आवश्यक है। इसके लिए राज्य डाक, तार, रेडियो, टेलीविजन आदि का प्रबन्ध करता है।

8. मजदूर हित की रक्षा (To safeguard the workers' interest)—राज्यों का यह भी कार्य है कि वे देश के मजदूरों की स्थिति में सुधार का प्रयास करें। मजदूरों के रहन-सहन में सुधार देश की प्रगति का परिचायक है। उनका शोषण न हो और उन्हें समुचित मजदूरी मिल सके, इसके लिए राज्य काफी चिंतित रहता है।

9. मुद्रा-बैंकिंग का प्रबन्ध (Management of money & banking)—राज्य देश की मुद्रा, बैंकिंग आदि पर नियंत्रण स्थापित कर देश की मौद्रिक स्थिति और साख को ठीक रखता है।

10. समाज-सुधार (Reformation of Society)—राजनीतिक लोकतंत्र के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन आवश्यक है। इसके लिए राज्य छूआछूत, पर्दा-प्रथा तथा बहु-विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास करता है। भारत में इनके विरुद्ध कानून बनाए गए हैं।

11. कला और मनोरंजन का प्रबन्ध (Management of art and recreation)—देश की संस्कृति और कला का विकास तथा नागरिकों के मनोविनोद के लिए समुचित व्यवस्था करना राज्य का प्रमुख दायित्व है। इसके लिए राज्य पार्क, सिनेमा, रेडियो तथा नृत्य-गृहों आदि की व्यवस्था करता है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

12. निर्धनों तथा अपाहिजों की रक्षा (To Sefeguard the Poor and the Handicapped)—राज्य समाज के गरीबों, रोगियों तथा अपाहिजों की रक्षा का भार लेता है। यह राज्य का धर्म हो जाता है। इसके लिए राज्य निर्धनगृह, अंधागृह, पागलखाना तथा अनाथालय आदि का प्रबन्ध करता है।

निष्कर्ष (Conclusion)—अतएव, निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक राज्यों के कार्यक्षेत्र में आज बहुत परिवर्तन हो गया है। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जा रहा है, वैसे-वैसे राज्य के कार्यक्षेत्र में भी वृद्धि होती जा रही है। आज राज्य ने अपने अध्ययन के अंतर्गत समस्त मानवीय क्रियाओं को शामिल कर लिया है। उसका रूप कल्याणकारी तो हो ही गया है, इसके साथ ही वह छोटी-छोटी मानवीय समस्याओं की ओर भी निगरानी रखने लगा है। व्यक्ति का व्यक्ति से संबंध, व्यक्ति का समाज, समुदाय, राज्य तथा संयुक्त राष्ट्र आदि से क्या संबंध होना चाहिए, इन समस्त बातों की विवेचना आधुनिक राज्य करने लगा है। इसी सन्दर्भ में **जे॰ एस॰ मिल** ने कहा है, "आधुनिक राज्यों के कर्तव्यों को हम किसी परिभाषा द्वारा सीमित नहीं कर सकते।"

उदारवाद
(Liberalism)

विषय-प्रवेश (Introduction)—उदारवाद की अवधारणा आज की 20वीं शताब्दी की एक प्रभावशाली और प्रगतिशील चिन्तन, प्रक्रिया है। उदारवाद ने मानव-समाज के एक बड़े भाग के इतिहास का निर्माण किया है। प्रायः, सभी पश्चिमी देश उदारवादी विचारधारा से प्रभावित रहे हैं। इसने लोगों को महान राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों की प्रेरणा दी है। अतएव, यह धारणा सही है कि आधुनिक विचारधारा का इतिहास यूरोप में उदारवाद के विकास का इतिहास है। वर्तमान युग में उदारवाद को दो महान चुनौतियों—साम्यवाद और फासीवाद—का सामना करना पड़ा है। साम्यवाद आज भी एक राजनीतिक व्यवस्था के रूप में करोड़ों जन-जीवन को प्रभावित कर रहा है, हालाँकि फासीवाद भी उदारवादी विचारधारा से संघर्ष करने में पीछे नहीं रहा। इसके अलावा, उदारवाद के रूप में आज बड़ी तेजी से परिवर्तन हो रहा है, क्योंकि राज्य तथा व्यक्ति के बीच के संबंध को आज नए दृष्टिकोण से आँका जा रहा है। यही कारण है कि कभी-कभी उदारवाद के भविष्य को लेकर शंकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसके बावजूद आज की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचारधाराओं में इसका प्रभाव सबसे अधिक है।

उदारवाद का अर्थ तथा परिभाषा (Meaning and Definition of Liberalism)

अब प्रश्न है कि उदारवाद क्या है। चूँकि उदारवाद एक निश्चित और क्रमबद्ध विचारधारा नहीं है, इसलिए यह न तो किसी एक व्यक्ति के विचारों का परिणाम है और न किसी एक युग के साथ यह विचारधारा जुड़ी हुई है। यह एक ऐसी व्यापक अवधारणा है, जिसमें उन सभी दार्शनिकों के विचार सम्मिलित हैं, जिन्होंने निरंकुश राजतंत्र, मध्ययुग से चली आ रही सामंतवादी व्यवस्था तथा चर्च के विशेषाधिकारों का विरोध किया है। इस स्थिति में उदारवाद की व्याख्या एक कठिन कार्य है। **लॉस्की** ने कहा है, "उदारवाद की व्याख्या करना या उसकी कोई साधारण-सी परिभाषा देना सरल कार्य नहीं है, क्योंकि उदारवाद कुछ सिद्धांतों का समूहमात्र नहीं है, वरन मस्तिष्क में रहनेवाला विचार भी है।"[1]

मैक्सलर्नर—"शायद इस युग का सबसे विवादपूर्ण शब्द उदारवाद है।"

सारटोरी—"उदारवाद की अवधारणा इतनी बेडौल और परिवर्तनशील है कि इसे मनमाने अनुबन्धों की दया पर छोड़ देना चाहिए।"[2] उसने पुनः कहा, "उदारवाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता, न्यायिक सुरक्षा और सांविधानिक राज्य का सिद्धांत और व्यवहार है।"[3]

जी॰ एच॰ सेबाइन—"19वीं शताब्दी के तीसरे चरण के अन्त तक व्यक्तिवाद और उदारवाद में कोई विशेष भेद नहीं था। उस समय तक ये दोनों विचारधाराएँ व्यक्ति के जीवन में राज्य के हस्तक्षेप की विरोधी

1. "It is not easy to describe, much less to define for it is hardly less a habit of mind than the body of doctrines."—LASKI
2. "A concept so amorphous and changeable as to be left really at the mercy of arbitrary stipulations." —SARTORI
3. "Very simply, Liberalism is the theory and practice of individual liberty, judicial defence and the constitutional state."—SARTORI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

थीं। व्यक्ति के हित के स्थान पर समाज के कल्याण पर जोर दिया जाने लगा। यहाँ तक कि जनकल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों के जीवन में हस्तक्षेप करना या उस पर नियंत्रण रखना राज्य का आवश्यक कार्य बन गया।''

इस प्रकार, स्पष्ट है कि उदारवाद व्यक्तिवाद नहीं है। इसे हम व्यक्तिवाद का पर्यायवाची नहीं मान सकते। व्यक्तिवाद उदारवाद का अभिन्न अंग रहा है, क्योंकि ये दोनों विचारधाराएँ व्यक्तिगत जीवन में राज्य के हस्तक्षेप का विरोधी रही हैं, फिर भी दोनों में काफी अंतर है। उदारवाद लोकतंत्र भी नहीं है, क्योंकि **डी टॉकविले** ने कहा है कि उदारवाद का संबंध स्वतंत्रता से है, जबकि लोकतंत्र का संबंध समानता से। **सारटोरी** ने भी कहा है कि उदारवाद का संबंध राजनीतिक अधीनता, व्यक्तिगत पहलू और राज्य के स्वरूप से है जबकि लोकतंत्र का संबंध समानता, सामाजिक संबद्धता और कल्याणकारी नीति से है जिसके चलते उसने उदारवाद को लोकतंत्र शब्द से संबोधित किया है। अतः, उदारवाद एक ऐसी विस्तृत विचारधारा है, जिसमें विभिन्न आदर्शों को समेट लिया गया है। **डब्लू० एम० मैकगवर्न** ने कहा है, ''एक राजनीतिक सिद्धांत के रूप में उदारवाद दो अलग-अलग तत्त्वों का मिश्रण है। इनमें एक लोकतंत्र है और दूसरा व्यक्तिवाद।''[1]

उपर्युक्त विभिन्न परिभाषाओं का जब हम विश्लेषण करते हैं तब यह स्पष्ट होता है कि **सारटोरी** की उदारवाद की परिभाषा अधिक स्पष्ट और न्यायसंगत है। उसने यह ठीक कहा है कि उदारवाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता, न्यायिक सुरक्षा और सांविधानिक राज्य का सिद्धांत और व्यवहार दोनों है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का समुचित विकास और सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए सामंजस्य स्थापित करना ही उदारवाद का मूल मंत्र है।

उदारवाद का विकास
(Evolution of Liberalism)

एक विचारधारा के रूप में उदारवाद का विकास 19वीं शताब्दी की देन है। 1839 ई० में ग्रेट ब्रिटेन की ह्विग पार्टी (Whig Party) को प्रथम बार उदार दल कहकर पुकारा गया। लेकिन, इसके नाम (उदार) और विकास के स्रोत **ग्रोसियस** और **लॉक** की रचनाओं में मिलते हैं। इसके विकास की व्याख्या निम्नांकित शीर्षकों के अंतर्गत की जा सकती है—

1. उदारवाद का उदय—प्राचीन और मध्ययुग में मानव का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन बड़ा पीड़ित था। सामंतवादी व्यवस्था के चलते उत्पादन के साधनों पर सामन्तों का स्वामित्व था। किसानों की स्थिति दासों-जैसी थी। व्यक्ति को न कोई स्वतंत्रता प्राप्त थी और न उसका कोई मूल्य था। 15वीं और 16वीं शताब्दियों में मनुष्य की इस स्थिति में परिवर्तन के लिए दो महान आन्दोलन—**पुनर्जागरण** और **धर्मसुधार**—चल पड़े। नवजागरणकाल में मानव के गौरव पर जोर दिया गया और धार्मिक क्षेत्र में पोप की निरंकुशता के विरोध में आवाज उठाई गई। **लॉस्की** ने कहा है, ''धर्म-सुधार के सिद्धांत तथा सामाजिक परिणाम व्यक्ति के लिए मुक्तिदायक सिद्ध हुए।''

2. राजनीतिक उदारवाद का प्रारम्भ—16वीं और 17वीं शताब्दियों में राष्ट्र-राज्यों का निर्माण हुआ और निरंकुश राजतंत्र का विकास हुआ। ढीले-ढाले राज्यों के बदले संगठित राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई। परिणामस्वरूप, सामंतवादी व्यवस्था की शक्तियों में कमी आई। 17वीं शताब्दी में व्यापारी वर्ग का उदय हुआ, जिसने राजतंत्र और सामंती व्यवस्था का विरोध किया। जनता निरंकुश शासकों का विरोधी होती गई। इंगलैंड में जनता ने राजा के दैवी अधिकारों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। **जेम्स प्रथम** का पूरा शासन संसद और राजा के मध्य संघर्ष का काल था। 1888 ई० में हुई **गौरवपूर्ण क्रांति** (Glorious Revolution) के बाद इंगलैंड में सीमित राजतंत्र (Constitutional Monarchy) की स्थापना हुई। विभिन्न अधिकार-पत्रों (Bill of Rights) के द्वारा राजा ने इस बात को स्वीकार किया कि संसद की अनुमति के बिना न तो कोई नया कर लगाया जाएगा और न राज्य धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करेगा। इस संदर्भ में **लॉक** और **ग्रोसियस** ने उदारवाद के क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन का प्रारंभ किया। **ग्रोसियस** ने प्राकृतिक कानून का लौकिक रूप दिया और उसे 'सही विवेक का आदेश' कहकर पुकारा।

---

1. "To the present writer, it seems clear, liberalism as a political concept is a compound of two separate elements, one of these is democracy, the other is individualism."—W. M. MACGOVERN

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

3. जॉन लॉक का योगदान—**जॉन लॉक** (1632 — 1704) ने **ग्रोसियस** के सिद्धांतों को आगे बढ़ाया और उन्हें विस्तृत राजदर्शन का रूप दिया। **लॉक** उदारवाद का जनक है और उसका सारा दर्शन उदारवादी सिद्धांतों से प्रभावित है। **प्रो॰ वॉन** ने लिखा है, "लॉक की प्रणाली में प्रत्येक चीज का आधार व्यक्ति है। उसने अपने दर्शन में स्वतंत्रता को सर्वोच्च स्थान दिया है।" उसके अनुसार शासक एक ट्रस्टी है। उदारवाद का केन्द्र व्यक्ति, उसकी स्वायत्तता, उसका विवेक तथा उसकी स्वतंत्रता है। लॉक के उदारवादी सिद्धांतों की विवेचना हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. मानव-व्यक्तित्व के असीम मूल्य (absolute value) और व्यक्तियों के आध्यात्मिक समानता (spiritual equality) में आस्था।

2. व्यक्तिगत इच्छा (individual will) की स्वायत्तता में आस्था।

3. मनुष्य की विवेकपूर्णता (rationality) और अच्छाई (goodness) में आस्था।

4. मानवता के नाम पर व्यक्तियों के कतिपय अहस्तांतरणीय अधिकारों (Inalienable Rights) में आस्था; जैसे—जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकार।

5. यह विश्वास कि राज्य अधिकारों के संरक्षण के उद्देश्य से पारस्परिक समझौते के द्वारा पैदा हुआ है।

6. यह विश्वास कि राज्य और व्यक्ति का संबंध अनुबंध (contract) पर आधारित है और अगर अनुबंध की शर्तों का पालन नहीं हो, तो व्यक्तियों को सरकार के खिलाफ विद्रोह करने का और नई सरकार स्थापित करने का अधिकार होगा।

7. यह आस्था कि सामाजिक नियंत्रण (social control) कानून के द्वारा नहीं, बल्कि आदेश के द्वारा हासिल किया जाता है।

8. यह आस्था कि वह सरकार सबसे अच्छी सरकार है, जो सबसे कम शासन करती है।

9. प्रत्येक क्षेत्र (राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक और धार्मिक) में वैयक्तिक स्वतंत्रता में आस्था।

10. सत्य की अनुभवातीत व्यवस्था (transcendental order) में आस्था, जो केवल मनुष्य के प्राकृतिक विवेक (natural reason) द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और नैतिक प्रतिक्रिया (moral response) को उभारने की क्षमता रखता है।

संक्षेप में, प्रारंभिक उदारवादी विचारधारा मनुष्य के व्यक्तित्व को सर्वोपरि स्थान देती थी। उसका कार्यक्षेत्र कानून, प्राकृतिक अधिकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता से संबंधित था। इंगलैंड के अलावा फ्रांस और अमेरिका में भी इस विचारधारा का प्रभाव पड़ा। अमेरिका में जहाँ **टॉमस पेन, जेफरसन** और **मेडिसन** ने उदारवादी विचारों का प्रतिपादन किया, वहाँ फ्रांस में **रूसो, वाल्टेयर, मॉण्टेस्क्यू** और **दिदरो** ने उदारवादी विचार को आगे बढ़ाया। अमेरिका और फ्रांस में इसने राजतंत्र की जड़ें हिला दीं, जनतंत्र की आधारशिला को मजबूत बनाया और मानव-स्वतंत्रता को एक उच्च आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित किया। 17वीं तथा 18वीं शताब्दियों में उदारवाद की लोकप्रियता काफी बढ़ी और राजनीतिक क्षेत्र में उसके निम्नलिखित सिद्धांतों को आम तौर पर मान लिया गया—1. लोकसत्ता का सिद्धांत, 2. लोकमत का सिद्धांत, 3. प्रातिनिधिक लोकतंत्र का सिद्धांत तथा 4. स्वायत्त शासन का आदर्श।

चूँकि उदारवाद व्यक्ति के अन्तःकरण, अर्थात स्वतंत्रता पर जोर देता है, इसलिए इसने अनेक स्वतंत्रताओं का प्रतिपादन किया है—जैसे, 1. नागरिक स्वतंत्रता, 2. राजनीतिक स्वतंत्रता, 3. वैयक्तिक स्वतंत्रता, 4. सामाजिक स्वतंत्रता, 5. राष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा 6. राजकोषीय स्वतंत्रता।

4. आर्थिक क्षेत्र में उदारवाद का विकास—उदारवाद के विकास में अर्थशास्त्रियों का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। **लॉस्की** जैसे कुछ विद्वानों ने इस संदर्भ में इसे पूँजीवाद का पर्यायवाची मान लिया है। **लॉस्की** का कहना है कि उदारवाद ने पूँजीवाद के समर्थन के अलावा कुछ नहीं किया। **लॉस्की** के इस कथन में हम विश्वास इसलिए नहीं कर सकते, क्योंकि उदारवाद का जन्म और प्रसार पूँजीवाद के उदय के पहले ही हो चुका था। उसके बाद **एडम स्मिथ, माल्थस** तथा **रिकार्डो** जैसे अर्थशास्त्रियों ने भी इसका समर्थन किया है। वणिकवाद (mercantilism) उदारवाद की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति है, जिसके द्वारा राज्य में शक्तिशाली शासन से ही अधिक लाभ हो सकता था। फ्रांस के प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक क्षेत्र के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का समर्थन किया। **एडम स्मिथ** और **माल्थस** ने प्रकृतिवादी विचारकों की आर्थिक स्वतंत्रता एवं वितरण-संबंधी सिद्धांतों को अंगीकार किया। **एडम स्मिथ** के अनुसार बाजार में वस्तुओं का

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

मूल्य माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार निर्धारित होते हैं। **बेन्थम** ने आर्थिक क्षेत्र में एडम स्मिथ के विचारों का समर्थन किया है और कहा है कि व्यापार राज्य के नियंत्रण से मुक्त होना चाहिए और व्यक्ति को इस क्षेत्र में स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए।

उदारवाद का परिशोधन तथा लोकहितकारी राज्य की स्थापना

उग्र उदारवाद के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठानेवालों में **बेन्थम, मिल** तथा **टी॰ एच॰ ग्रीन** के नाम लिए जाते हैं। इन विचारकों ने सकारात्मक पहलू पर जोर दिया और राज्य के कार्य पर बंधन लगाने के बदले राज्य के जिम्मे व्यक्ति और समाज के कल्याण का कार्य सौंपना चाहा। बेन्थम और मिल, चूँकि, उपयोगितावादी विचारक थे, इसलिए उन्होंने व्यक्तिवाद का आधार 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' बताया। **जॉन स्टुअर्ट मिल** ने नैतिकता के आधार पर राज्य के कार्यों की व्याख्या की और बताया कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करना चाहता है और यह तभी संभव है जब वह अपने विचारों को व्यक्त करने और अंतःकरण के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतंत्र हो। वह व्यक्ति के विचार और भाषण की स्वतंत्रता का हिमायती है। आत्म-संबंधी कार्यों के क्षेत्र में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। कुछ हद तक राज्य का हस्तक्षेप पर-संबंधी कार्यों में हो सकता है।

टी॰ एच॰ ग्रीन ने उदारवाद को सकारात्मक रूप देने का प्रयास किया। उन्होंने राज्य को एक नैतिक संस्था स्वीकार किया, जो व्यक्ति के नैतिक विकास में सहायता देती है। उनके शब्दों में, "राज्य का मुख्य कार्य व्यक्ति के नैतिक जीवन के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को रोकना है" (The main function of the State is to hinder the hindrances against good life)। ग्रीन व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए राजा को साधन मानता है और इसके लिए राज्य को व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप करने की छूट देता है। ग्रीन के उदारवाद के संबंध में **सेबाइन** का विचार है, "उदारवादी दर्शन को ग्रीन की सबसे महत्त्वपूर्ण देन यह थी कि उसने सामूहिक कल्याण को ही व्यक्ति के कल्याण का साधन माना।"[1]

19वीं शताब्दी में एक ओर उदारवाद के सकारात्मक पक्ष का विकास हो रहा था, तो दूसरी ओर कुछ। **हरबर्ट स्पेन्सर** जैसे विद्वानों ने उदारवाद के उग्र व्यक्तिवादी स्वरूप को पुनः जिन्दा करने का प्रयास किया। उसने वैज्ञानिक आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन किया और योग्यता के अस्तित्व का सिद्धांत दिया। वह राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है और उसके जिम्मे कम-से-कम काम सौंपना चाहता है। उसका दृष्टिकोण पूर्णतः नकारात्मक है। वह कहता है कि बिना व्यक्तिगत हित के सामाजिक हित संभव नहीं है। अतः, राज्य को कम-से-कम हस्तक्षेप करना चाहिए। विशिष्ट राज्य में उदारवाद को नई परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। एक ओर मार्क्सवादी और फासीवादी राज्य के क्षेत्र को व्यापक बनाना चाहते थे, तो दूसरी ओर आर्थिक तथा औद्योगिक क्षेत्र में इतनी तेजी से विकास हो रहा था कि मुक्त व्यापार और खुली प्रतियोगिता की नीतियों को बनाए रखना संभव नहीं था। **बार्कर, कोल, लॉस्की, मैकिवर** आदि उदारवादी विचारकों ने इसका समाधान लोकहितकारी राज्य की धारणा में पाया और राज्य को लोककल्याण के साधन के रूप में देखा। धीरे-धीरे यह धारणा पुष्ट होती गई कि राज्य के सक्रिय हस्तक्षेप के बिना आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों में सुधार संभव नहीं है। अतः, शिक्षा, स्वास्थ्य, कारखानों के नियम तथा मजदूरों के संबंध में राज्य द्वारा निर्मित कानूनों का स्वागत किया जाने लगा। इंगलैंड, अमेरिका, कनाडा, फ्रांस, स्वीडेन, डेनमार्क आदि पश्चिमी लोकतंत्रों ने लोककल्याणकारी राज्य के आदर्श को स्वीकार कर लिया। **तृतीय विश्व** के अधिकांश राज्यों ने इसे अपनाना प्रारम्भ किया। भारत इसका सबसे बड़ा हिमायती बना, जहाँ मिश्रित अर्थव्यवस्था के सिद्धांत को अपनाया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि अब उदारवादी स्वरूप समाप्त हो गया है और राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में नहीं, वरन कल्याण के साधन के रूप में देखा जा रहा है। **हॉब्सन** ने ठीक ही लिखा है, "राज्य ने अपने ऊपर डॉक्टर, नर्स, शिक्षक, उत्पादक, कम्पनियों के एजेंट, मकान बनानेवाला, नगर-योजना तैयार करनेवाला, रेलवे-नियंत्रण तथा अन्य प्रकार के कामों को ले लिया है।"[2]

---

1. "What Green added to the liberal theory was the conception of collective well-being as a pre-condition of individual freedom and responsibilities."—G. H. SABINE
2. "The state has assumed the duties of doctors, nurses, school-masters, traders, manufacturers, insurance agents, house builders, town-planners, railway controllers and a hundred other functions."—HOBSON

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

उत्तरोत्तर वृद्धि द्वारा परिवर्तन लाने का सिद्धांत (Concept of incremental change)—उदारवादी राज्यों का उद्देश्य एक आदर्श समाज का निर्माण है। साम्यवादी देशों का भी यही अन्तिम लक्ष्य है। लेकिन, साम्यवादी उत्पादन और वितरण के साधनों पर राज्य का आधिपत्य चाहते हैं और शक्ति एवं दमन के माध्यम से समाज का निर्माण करना चाहते हैं। इसके विपरीत, पश्चिम के उदारवादी देश व्यक्ति की स्वतंत्रता को अधिक महत्त्व देते हैं और समाज-कल्याण को अपना अंतिम लक्ष्य मानते हैं। व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित में सामंजस्य स्थापित करने के लिए उन्होंने मिश्रित अर्थव्यवस्था के सिद्धांत को अपनाया। इस व्यवस्था के अंतर्गत पूँजीपतियों को मुनाफा कमाने का अधिकार है, लेकिन मजदूरों का आर्थिक शोषण करके नहीं। इसका यह परिणाम होगा कि समाज में सभी वर्गों के लोग कायम रहेंगे और सभी वर्ग के लोगों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहेगी।

उदारवाद के मूल सिद्धांत
(Basic Principles of Liberalism)

उदारवाद, चूँकि बहुत-सी विचारधाराओं का संकलन है, इसलिए इसके कुछ सर्वमान्य निम्नलिखित मौलिक सिद्धांत हैं—

1. मानवीय विवेक में आस्था—उदारवाद का प्रारंभ मानवीय बुद्धि और विवेक में आस्था के साथ हुआ। इसने नवजागरण और धर्मसुधार आन्दोलन के माध्यम से प्रचलित अन्धविश्वासों और परंपराओं का विरोध किया।

2. इतिहास और परंपरा का विरोध—मध्ययुग में संस्थाओं या सिद्धांतों को अन्धविश्वास और परंपराओं के आधार पर अपनाया जाता था। उदारवाद इतिहास और परंपरा के खिलाफ एक विद्रोह था, जिसके चलते क्रान्तियाँ हुईं। आज उदारवाद प्रगति और परिवर्तन शान्तिपूर्ण तरीके और सुधार के माध्यम से चाहता है।

3. मानवीय स्वतंत्रता की धारणा में विश्वास—उदारवादी विचारधारा के अनुसार मनुष्य जन्म से स्वतंत्र होता है। **लॉस्की** ने भी कहा है, "स्वतंत्रता के साथ इसका प्रत्यक्ष संबंध है, क्योंकि इसका उदय ही समाज के किसी वर्ग द्वारा जन्म या धर्म के आधार पर प्राप्त किए गए विशेषाधिकारों का विरोध करने के लिए हुआ था।"[1]

4. व्यक्ति साध्य और राज्य साधन है—व्यक्ति उदारवाद का केन्द्र है। उसके व्यक्तित्व का विकास सिर्फ राज्य ही कर सकता है।

5. राज्य कृत्रिम संस्था है—उदारवादी राज्य को न तो ईश्वरीय देन, न वर्ग-संघर्ष का परिणाम और न शक्ति का परिणाम मानते हैं, वरन वे इसे एक कृत्रिम संस्था मानते हैं। **ग्रीन** और **लॉस्की** जैसे विद्वानों ने इस सिद्धांत का समर्थन किया है।

6. व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार में विश्वास—उदारवादी व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार की धारणा में विश्वास करते हैं और कहते हैं कि जमीन, संपत्ति और स्वतंत्रता के अधिकार प्राकृतिक हैं।

7. लौकिकवाद में विश्वास—उदारवादियों ने चर्च को राज्य से अलग करने का विचार और प्रत्येक नागरिक को धार्मिक स्वतंत्रता की बात कही।

8. सीमित और सांविधानिक सरकार में विश्वास—चूँकि उदारवाद का प्रारम्भ राजनीतिक क्षेत्र में निरंकुश राज्यों के खिलाफ एक आन्दोलन के रूप में हुआ, इसलिए उदारवादी इस धारणा में विश्वास करते हैं कि सरकार की शक्ति सीमित है। संविधान के निश्चित नियमों के अंतर्गत उसे कार्य करना पड़ता है।

9. बहु-समुदाय समाज में विश्वास—उदारवादियों का कहना है कि समाज अनेक समुदायों का सामूहिक नाम है। मनुष्य अनेक समुदायों के सदस्य होते हैं।

10. लोकतांत्रित पद्धति में आस्था—उदारवाद लोकतंत्र का प्रायः पर्यायवाची मान लिया जाता है, यद्यपि ये दो अलग-अलग धारणाएँ हैं। इसीलिए कभी-कभी उदारवाद के स्थान पर उदार लोकतंत्र शब्द

1. "It is directly related to the freedom for it came as a foe of privileges conferred on any class or the community by virtue of birth or creed."—LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

का प्रयोग किया जाता है। उनकी मान्यता है कि सभी मनुष्य स्वतंत्र पैदा होते हैं, इसलिए उनपर शासन उनकी सहमति के बिना नहीं हो सकता है।

11. खुली बातचीत और ऐच्छिक सहयोग—खुली बातचीत और ऐच्छिक सहयोग उदारवादी शासन का मुख्य आधार है। वे अपने मतभेदों को आपसी बातचीत द्वारा दूर करना चाहते हैं।

12. अंतरराष्ट्रीयता और विश्वशान्ति में आस्था—उदारवाद अपने को, सिर्फ एक राष्ट्र की सीमा के अंतर्गत ही नहीं बाँधता, वरन सम्पूर्ण विश्व के लिए भी आदर्श प्रस्तुत करता है। वह विश्वशान्ति, 'भ्रातृत्व', 'जीओ और जीने दो' आदि शान्तिपूर्ण आधारों को अपना प्रतीक मानता है।

उदारवाद का मूल्यांकन
(Evaluation of Liberalism)

उदारवादी सिद्धांत का समर्थन निम्नलिखित तर्कों के आधार पर किया गया है—

1. नैतिक आधार—जॉन स्टुअर्ट मिल, काण्ट, हम्बोल्ट तथा **ह्यूम** ने नैतिक आधार पर उदारवाद का समर्थन किया है। इनके अनुसार, व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास राज्य के न्यूनतम हस्तक्षेप पर ही संभव हो सकता है। **हम्बोल्ट** के शब्दों में, "राज्य का उद्देश्य प्रत्येक नागरिक का पूर्ण विकास होना चाहिए। इसलिए उसे सुरक्षा को छोड़कर जिसका वह स्वतः प्रबन्ध नहीं कर सकता, अन्य किसी तरफ ध्यान नहीं देना चाहिए।"[1] **मिल** ने भी कहा है, "शासन का अत्यधिक हस्तक्षेप जब किसी को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करने अथवा वांछनीय रूप से अपने विवेकानुसार क्रियाशील होने से वंचित करता है तो शारीरिक, मानसिक गुणों का कुछ भाग विकास से वंचित रह जाता है।"[2]

2. आर्थिक आधार—एडम स्मिथ ने आर्थिक आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन किया है और **बेन्थम, मिल** तथा **स्पेन्सर** ने उसका अनुकरण किया है। इनलोगों ने तर्क दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ के अनुसार कार्य करता है। स्वतंत्र प्रतियोगिता के अंतर्गत ही अत्यधिक आर्थिक प्रगति संभव है।

3. वैज्ञानिक आधार—हरबर्ट स्पेन्सर इस तर्क का हिमायती है। उन्होंने कहा है कि प्रकृति के प्रत्येक क्षेत्र में निरंतर जीवन-संघर्ष चलता रहता है जिसमें योग्यतम ही बच पाता है और कमजोरों तथा दुर्बलों का नाश हो जाता है। इस सिद्धान्त को 'योग्यतम को जीवित रखने' का सिद्धांत कहते हैं।

4. अनुभव का आधार—व्यक्तिवादियों ने इतिहास द्वारा प्राप्त अनुभव के आधार पर इस सिद्धांत का समर्थन किया है। उनका कहना था कि जब कभी राज्य ने सामाजिक या आर्थिक जीवन को नियंत्रित और नियमित करने का प्रयत्न किया, वह अपने प्रयत्नों में बुरी तरह असफल रहा। **बर्क** ने बताया है कि शासनाधिकारी प्रायः भूल करते आए हैं, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि उनके बिना कोई व्यापार समृद्ध नहीं हो सकता।

5. व्यावहारिक आधार—उदारवादियों के विचार में राज्य बहुत-से कार्य को करने में अयोग्य है। वह सभी कार्यों का सफलतापूर्वक संचालन नहीं कर सकता। सरकार के निरंतर हस्तक्षेप से समय तथा धन की बरबादी होती है। समाज में स्वार्थ और भ्रष्टाचार बढ़ जाता है। अतः, अनेक रूपों में व्यक्तिगत व्यवस्था और नियंत्रण सरकारी व्यवस्था की अपेक्षा अधिक सफल रहती है।

आलोचनाएँ (Criticisms)—निम्नांकित तर्कों के आधार पर उदारवाद की आलोचनाएँ की गई हैं—

1. उदारवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हैं। लेकिन, यह विचार भ्रामक है, क्योंकि राज्य की उत्पत्ति मानव-जीवन की आवश्यकताओं से हुई है।

2. यह सही है कि व्यक्ति की आत्मनिर्भरता आवश्यक है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य का कार्यक्षेत्र अत्यधिक सीमित होना चाहिए। आज की परिस्थितियाँ इतनी भयावह हैं कि व्यक्ति अकेला बिना

---

1. "The aim of the state should be the development of the powers of all its single citizen in their perfect individuality that it must, therefore, pursue no other object than that which they cannot pursue of themselves, viz. security."—HUMBOLT

2. "An excess of Government starves the development of some portion of the bodily our mental faculty when it deprives one from doing what one is inclined to do or from acting to do one's judgement of what is desirable."—J. S. MILL

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

राज्य की सहायता के उनपर विजय नहीं पा सकता। व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए आज राज्य की आवश्यकता है। **डॉ० आशीर्वादम** ने लिखा है, "विशुद्ध व्यक्तिवाद प्रतिभाशाली व्यक्तियों के निर्माण करने की अपेक्षा व्यक्तित्वहीन मनुष्य का निर्माण करता है।"

3. उदारवाद मानव-प्रकृति का गलत चित्रण करता है। वह मनुष्य को मौलिक रूप में स्वार्थी मानता है। यह आलोचना उचित इसलिए नहीं है, क्योंकि मनुष्य में स्वार्थ और परमार्थ दोनों भावनाएँ साथ-साथ काम करती हैं। वह अपनी भलाई के अलावा दूसरों की भलाई भी चाहता है।

4. उदारवाद की यह मान्यता मिथ्यापूर्ण है कि मनुष्य अपना हित भलीभाँति समझता है। कुछ व्यक्तियों के संबंध में यह बात सही हो सकती है, लेकिन अधिकांश व्यक्तियों के संबंध में यह सही नहीं है।

5. उदारवादियों की यह धारणा भी गलत है कि राज्य के कार्य-कलाप में विस्तार हो जाने से स्वाधीनता नष्ट होती है तथा सामान्य कल्याण में राज्य के हस्तक्षेप का परिणाम स्वतंत्रता का अपहरण होता है।

6. उदारवादियों का प्रमुख आधार स्वतंत्र प्रतियोगिता है, लेकिन आलोचकों की राय में स्वतंत्र प्रतियोगिता केवल बलवानों के लिए लाभप्रद हो सकती है, दुर्बलों के लिए नहीं। समाज में दासता, भूख, अस्वस्थता तथा योग्यता स्वतंत्र प्रतियोगिता के ही परिणाम हैं।

7. जहाँ तक 'योग्यता की विजय' का प्रश्न है, यह एक भ्रामक तथा अमानवीय धारणा है। यह सिद्धांत निम्नकोटि के जीवों के लिए भले ही सही हो, सृष्टि के श्रेष्ठतम प्राणी मनुष्य पर इसे लागू नहीं किया जा सकता। **हैलोवेल** ने कहा है, "स्पेन्सर ने एक बहुत बड़ी भूल की है और बहुत-से लोग यही भूल अबतक करते आ रहे हैं।"

8. ऐतिहासिक आधार पर उदारवाद का समर्थन गलत है। यदि किसी सरकार ने कोई गलती की है, तो इसका अर्थ नहीं कि अन्य सरकार भी वैसी ही गलतियाँ करेंगी। सरकार से अधिक भूल तो स्वतंत्र व्यक्ति करते हैं।

9. नैतिक दृष्टि से भी उदारवाद अपूर्ण है। **लॉस्की** ने कहा है, "इसका अर्थ है—क्षीण स्वास्थ्य, अविकसित मस्तिष्क, सोचनीय निवास-स्थान और ऐसे काम जिनमें अधिकांश व्यक्तियों को कोई रुचि न हो।"

10. एक अन्य आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि आज लोकतंत्र की उन्नति के चलते उदारवाद के व्यक्तिवादी रूप की आवश्यकता लगभग समाप्त हो गई है। लोकतंत्र की सफलता के लिए स्थानीय शासन तथा नगरीकरण एक प्रमुख शर्त है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विगत चार शताब्दियों में उदारवाद का बोलबाला रहा है और एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में इसने विश्व के लोकतांत्रिक देशों की राजनीति को प्रभावित कर उन्हें नई दिशा प्रदान की है। 19वीं सदी में यह अपनी सफलता की चरम सीमा पर पहुँच गया, लेकिन पुनः 20वीं सदी में इसे समाजवादी और फासीवादी विचारधाराओं की चुनौतियों का सामना करना पड़ा और इस प्रकार इसका पतन प्रारम्भ हुआ। विश्व के विभिन्न देशों में आज सैनिक सरकारें हैं। विश्व का एक बड़ा भाग साम्यवाद को अपना चुका है और उदारवादी देशों में सरकारें लड़खड़ा रही हैं। ऐसी परिस्थिति में उदारवाद के भविष्य के आगे एक बहुत बड़ा प्रश्न-चिह्न (?) खड़ा है। यह सही है कि उदारवाद आज भी विश्व का सबसे अधिक प्रभावशाली विचारधारा है; फिर भी इसमें दृढ़ता का अभाव है। साम्यवादी राज्य जहाँ निश्चित और दृढ़ विचारों पर अपने समाज को गठित कर रहे हैं, वहाँ उदारवादी देश अनिश्चितता की दिशा में बढ़ रहे हैं। पिछड़े हुए विकासशील राष्ट्र इस उलझन में हैं कि किन राजनीतिक विचारधाराओं को अपनाकर वे अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कर सकेंगे। इस उलझन के चलते वे तानाशाही या साम्यवाद के शिकार होते जा रहे हैं।

आज उदारवाद का सबसे बड़ा खतरा विकासवादी समाजवाद से है। समाजवाद प्रगतिशील आर्थिक और सामाजिक नीतियों को अपनाकर कमजोर या गरीब वर्गों को प्रभावित कर रहा है और सरकार धीरे-धीरे उत्पादन और वितरण के साधनों का समाजीकरण कर रही है। भारत में भी एक समाजवादी समाज की स्थापना की उम्मीद की गई है। उदारवाद पर एक अन्य खतरा मानव-स्वतंत्रता पर आवश्यकता से अधिक जोर देने के कारण भी उत्पन्न हो गया है। कभी-कभी इसका नाजायज फायदा उठाकर जनता मनमानी करने लगती है और इस प्रकार अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इससे देश की प्रगति रुकती है।

यदि उदारवाद अपने को उपर्युक्त खतरों से बचा पाने में समर्थ हो जाता है तो इसका भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। इसके लिए पिछड़े हुए अविकसित देशों के आर्थिक विकास में तेजी लानी होगी। मजदूर

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

और कमजोर वर्गों के विकास के लिए प्रयास को तेज करना होगा। जनता को उनके अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों पर भी ध्यान रखना होगा। इन शर्तों की पूर्ति के बाद ही उदारवाद अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है।

समाजवाद
(Socialism)

विषय-प्रवेश (Introduction)—समाजवाद आधुनिक समय की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विचारधारा है। इसके साथ एक ऐसे नवीन दृष्टिकोण का आगमन हुआ है, जो सामाजिक शोषण के उन्मूलन तथा सभी क्षेत्रों में न्याय-व्यवस्था की स्थापना का समर्थक है। इस नवीन दृष्टिकोण की महत्ता मात्र राजनीतिक चिन्तन के लिए ही नहीं है, वरन इसके कारण व्यावहारिक राजनीति, अंतरराष्ट्रीय संबंध, समाज की आर्थिक व्यवस्था तथा साहित्य और संस्कृति तक प्रभावित हुए हैं। यही कारण है कि अपने विकास की प्रक्रिया में समाजवाद ने अनेक स्वरूप ग्रहण किए हैं। आज का युग समाजवादी युग के नाम से संबोधित है, क्योंकि विश्व के प्रायः सभी देशों में समाजवादी विचारधारा तेजी के साथ विकसित होती जा रही है और विश्व का हर देश अपने को समाजवादी कहने में गर्व का अनुभव करता है। सचमुच में, समाजवाद आज के विश्व की माँग हो गई है। समाजवादी विचारधारा आज एक राजनीतिक दर्शन ही नहीं है, वरन वह जीवन का एक माध्यम है जो व्यक्ति के सामाजिक और आर्थिक विकास में विश्वास करती है।

समाजवाद की व्याख्या—समाजवाद के बदलते हुए विभिन्न रूपों के संदर्भ में सैद्धांतिक दृष्टि से इसकी परिभाषा करना बहुत कठिन है, क्योंकि परिस्थितियों के अनुसार इसके रूप एवं स्वभाव में परिवर्तन होता रहता है। समाजवाद एक अनेकरूपी दर्शन है जिसके क्षेत्र तथा सीमाओं को एक परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। चूँकि समाजवाद का रूप परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है, इसलिए उसकी परिभाषा भी विभिन्न प्रकार से की जाती है।

1. रैम्जे म्योर—"समाजवाद एक गिरगिट के समान है, जो परिस्थितियों के अनुकूल अपना रंग बदलता रहता है।"[1]

2. रैम्जे मैकडोनल्ड—"साधारण भाषा में समाजवाद की सबसे अच्छी परिभाषा यही है कि उसका उद्देश्य समाज के आर्थिक एवं भौतिक साधनों का संगठन करना तथा मानव-साधनों द्वारा उसका नियंत्रण करना है।"[2]

3. प्रोफेसर एलाई—"समाजवादी व्यक्ति वह है, जो राज्य के अंतर्गत संगठित समाज को इस दृष्टि से देखता है कि वह आर्थिक वस्तुओं का न्यायसंगत वितरण करने तथा मानवता को ऊँचा उठाने में सहायक हो, जबकि व्यक्तिवादी यह चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपना आध्यात्मिक एवं भौतिक उद्धार स्वयं करे।"[3]

4. सेलर्स—"यह एक लोकतंत्रीय आन्दोलन है, जिसका उद्देश्य समाज में एक ऐसे आर्थिक संगठन की स्थापना करना है, जो किसी एक समय पर अधिकतम न्याय तथा स्वतंत्रता प्राप्त करे।"[4]

5. एमाइल—"यह श्रमिकों का एक ऐसा संगठन है जिसका उद्देश्य पूँजीवादी सम्पत्ति को समाजवादी सम्पत्ति में परिवर्तित करने के लिए राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना है।"[5]

---

1. "It is a chameleon creed, it changes its colour according to its environments."—RAMSAY MUIR
2. "No better definition of socialism can be given in general terms than that it aims at the organisation of the material economic forces of society and their control by the human forces."—RAMSAY MACDONALD
3. "A socialist is one who looks to society organised in the state for aid in bringing about a more perfect distribution of economic goods and an elevation of humanity, while individualists desire every man to work out his own salvation, material and spiritual."—PROF ELY
4. "It is a democratic movement whose purpose is the securing of an economic organisation of society which will give the maximum possible, at any one time, of justice and liberty."—SELLERS
5. "It means the organisation of workers for the conquest of political power for the purpose of transforming capitalist property."—EMILLE

WWW.GRADESETTER.COM

6. ह्यूगन—"समाजवाद श्रमिक-वर्ग का एक आन्दोलन है, जिसका उद्देश्य उत्पादन और वितरण के मौलिक साधनों के सामूहिक तथा लोकतंत्रीय प्रबंध द्वारा शोषण को समाप्त करना है।"[1]

7. रॉबर्ट—समाजवादी कार्यक्रम का यह एक आवश्यक भाग है कि भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों पर जनता का अधिकार हो तथा उनका प्रयोग और प्रबन्ध जनता द्वारा जनता के लाभ के लिए ही किया जाए।"[2]

8. जयप्रकाश नारायण—"समाजवादी समाज एक ऐसा वर्गरहित समाज होता है, जिसमें सभी श्रमिक होते हैं।"[3]

9. शैडवेल—"समाजवाद सर्वाधिक उलझनपूर्ण, बहुमुखी और भ्रान्त विचार है, जिसमें मनुष्य के मस्तिष्क को उलझाया गया है।"

10. ब्रैडले—"समाजवाद वैयक्तिक निजी सम्पत्ति को अस्वीकार करता है और वह मानता है कि राज्य के रूप संगठित समाज, जिसे सम्पूर्ण धन का स्वामी होना चाहिए तथा उसे समस्त श्रम का संचालन एवं समस्त उत्पत्ति का समान वितरण लागू करना चाहिए।"

11. एलेक्जेण्डर ग्रे—"समाजवाद, संक्षेप में, अधिक (यदि सब नहीं) धन के स्वामित्व के अंत की माँग करता है और यह चाहता है कि इस प्रकार हस्तांतरित धन समाज को मिले तथा समाज उसका कार्य-निष्पादन करे।"[4]

12. बर्ट्रैण्ड रसेल—"यदि हम समाजवाद को भूमि तथा सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व की वकालत कहें तो हम समाजवाद के मूल तत्त्व के अधिक निकट पहुँच जाते हैं।"[5]

13. आचार्य नरेन्द्रदेव—"समाजवाद का ध्येय वर्गहीन समाज की स्थापना है। यह वर्तमान समाज का इस प्रकार संगठन करना चाहता है कि परस्पर-विरोधी स्वार्थवाले वर्ग शोषक और शोषित, पीड़क और पीड़ित का अंत हो जाए।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुछ परिभाषाएँ यदि बहुत संकुचित हैं तो कुछ अत्यधिक व्यापक। कुछ परिभाषाएँ उसके एक पक्ष पर बल देती हैं तो कुछ परिभाषाएँ दूसरे पक्ष पर। कुछ लोग समाजवाद को राजनीतिक व्यवस्था मानते हैं तो कुछ लोग इसे आर्थिक प्रणाली कहकर पुकारते हैं। परस्पर-विरोधी विचारों की इस विभिन्नता से निश्चयपूर्वक यह कहना कि समाजवाद क्या है, अत्यंत कठिन है, क्योंकि इसका रूप अनिश्चित-सा हो गया है। **सी॰ ई॰ एम॰ जोड** ने ठीक ही कहा है, "समाजवाद एक ऐसे टोप के समान हो गया है, जिसकी हर किसी द्वारा पहने जाने के कारण कोई शक्ल ही नहीं रही है।"[6] फिर भी, समाजवाद की अपनी एक विशेषता है। यह एक ऐसा सिद्धांत है जिसका उद्देश्य आर्थिक जीवन के नियमन द्वारा उस व्यक्तिगत असमानता को दूर कर देना है, जो अधिकतर सामाजिक बुराइयों की जड़ है तथा जिसकी समाप्ति से समाज का सामूहिक कल्याण हो सकता है।

---

1. "Socialism is the political movement of the working class which aims to abolish exploitation by means of the collective ownership and democratic management of the basic instruments of production and distribution."—HUGHAN
2. "The programme of socialism consists essentially of one demand, viz., that land and other instruments of production shall be the common property of the people and shall be used and governed by the people for the people."—ROBERT
3. "It is a society in which all are workers in a classless society."—JAI PRAKASH NARAIN
4. "Socialism, in short, demands of abolition of the private ownership of much (if not all) wealth and requires that the wealth so transferred, should in some way be vested in and operated by the community as a whole."—ALEXANDER GRAY
5. "I think we come nearest to the essence of socialism by defining it as the advocacy of communal ownership of landed property."—BERTRAND RUSSELL
6. "Socialism is like a hat which has lost its shape, because everyone bears it."—C. E. M. JOAD

WWW.GRADESETTER.COM

समाजवाद का विकास

समाजवाद का उदय उस निश्चित विकासक्रम का परिणाम है जिसका श्रीगणेश औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा प्रस्तुत पृष्ठभूमि में हुआ। यद्यपि यूरोप में निरंकुश राजतंत्र समाप्त हो चुके थे, तथापि व्यक्तिवाद की विचारधारा पर आधारित राज्य का जो स्वरूप बना था, उससे जनसाधारण का कोई कल्याण नहीं हुआ था।

1794 ई० में **नोयल बाबेफ** नामक एक राजनीतिज्ञ ने लिखा था, "जब मैं देखता हूँ कि न गरीबों के तन पर कपड़े हैं और न पैरों में जूते, यद्यपि गरीब लोग ही कपड़े और जूते बनाते हैं, तथापि उन्हें ही ये इस्तेमाल के लिए नहीं मिलते और जब मैं उन लोगों का खयाल करता हूँ, जो स्वयं कुछ भी काम नहीं करते पर उनके पास किसी भी चीज की कमी नहीं है, तो मेरा यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि राज्य अब भी जनसाधारण के विरुद्ध कुछ लोगों का षड्यंत्रमात्र है।" नोयल बाबेफ संपूर्ण संपत्ति का राष्ट्रीयकरण करके गरीबी को समाप्त कर देने के पक्ष में था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपने विचारों का प्रचार करने की ठानी और इसके लिए **समान लोगों की साजिश** नामक एक गुप्त समिति की स्थापना भी की थी। यद्यपि नोयल बाबेफ अपनी योजना में असफल रहा, फिर भी यदि उसे हम समाजवाद का जनक कहें तो शायद अनुपयुक्त न होगा।

इसके बाद **हेनरी साँ सिमो** का नाम भी समाजवाद के विकास में उल्लेखनीय है। साँ सिमो का कहना था कि भूमि और पूँजी पर व्यक्तियों का नहीं, वरन राष्ट्र का नियंत्रण होना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य और कार्य के अनुसार वेतन मिलना चाहिए। **फ्रूरियर** नाम के एक फ्रेंच दार्शनिक ने भी समाजवाद को क्रियात्मक रूप देने की योजना प्रस्तुत की थी। उसका कहना था कि ऐसे छोटे-छोटे समाजों का निर्माण किया जाए जिसमें से प्रत्येक में लगभग 1800 सदस्य हों। **रॉबर्ट ओवेन** ने इंगलैंड में समाजवाद का प्रारम्भ किया। उसने अपनी मिलों के मजदूरों के साथ ही न्याय करने का प्रयास किया। उसके अनुसार पूँजी की लागत पर पाँच प्रतिशत से अधिक मुनाफा न लिया जाए।

नवीन समाजवादी विचारधारा को जन्म देनेवालों में **लुई ब्लाँ** का नाम भी उल्लेखनीय है। उसका कहना था कि शासन की सत्ता मध्य वर्ग के हाथों में नहीं, वरन सर्वसाधारण के हाथों में होनी चाहिए। लुई ब्लाँ ने अपने विचारों का काफी प्रचार किया। परिणामस्वरूप, जनसाधारण को मताधिकार-संबंधी संपूर्ण अधिकार प्रदान किए गए। नई सरकार बनी। लेकिन, समाजवादी योजनाओं को लागू नहीं किया गया। 1850 ई० तक समाजवाद की लहर को दबा दिया गया।

जर्मनी में समाजवादी विचारों के प्रमुख हिमायती **कार्ल मार्क्स** हुए जिन्होंने अपने विचारों से विश्व को आन्दोलित कर दिया।

इस प्रकार, समाजवाद का उदय व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। समाजवाद ने यह प्रतिपादित किया कि उत्पादन के लाभ में श्रमिकों का भी उचित भाग होना चाहिए।

समाजवाद के आवश्यक तत्त्व

उपर्युक्त विभिन्न परिभाषाओं से समाजवाद के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्पष्ट होते हैं—

1. समाजवाद उत्पादन और यातायात के साधनों पर सार्वजनिक अधिकार चाहता है।

2. समाजवाद आर्थिक कार्यक्रमों का लक्ष्य व्यक्तिगत लाभ के बदले सार्वजनिक सेवा को बनाना चाहता है।

3. समाजवाद चाहता है कि सामाजिक विषमता का नाश हो और उसके स्थान पर सामाजिक समानता की स्थापना हो। इसके अनुसार जैसाकि **लॉस्की** ने बताया है, आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता व्यर्थ है।

4. समाजवाद पूँजीवाद का अन्त और प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग चाहता है। **डॉ० हेडन गेस्ट** ने भी कहा है, "समाजवाद प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग लाना चाहता है।"

5. समाजवाद उत्पादन के साधनों और वितरण पर सामाजिक नियंत्रण चाहता है।

हेर बेबले ने समाजवाद का विश्लेषण करते हुए बताया है, "समाजवाद वास्तव में दर्शन का एक पूरा संसार है। यह धर्म के क्षेत्र में नास्तिकता का, राज्य के क्षेत्र में जनतंत्रात्मक गणराज्य का, उद्योग के क्षेत्र में औद्योगिक समष्टिवाद का, नैतिकता के क्षेत्र में एक अनंत आशावाद का, अध्यात्म के क्षेत्र में एक प्रकृतिवादी वस्तुवाद का तथा पारिवारिक एवं वैवाहिक बंधनों के लगभग पूर्ण अंत का सूचक है।"[1]

WWW.GRADESETTER.COM

समाजवाद के गुण (Merits of socialism)—समाजवाद के निम्नलिखित प्रमुख गुण हैं—

(i) व्यक्तिवाद तथा अराजकता के दोषों से समाजवाद छुटकारा प्रदान करता है, क्योंकि समाजवाद न्याय और औचित्य पर आधारित है।

(ii) भूमि और उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार का यह विरोध करता है। वह इन चीजों पर समस्त समाज का अधिकार चाहता है।

(iii) व्यक्तिवाद की अपेक्षा समाजवाद जीवविज्ञान के सिद्धांतों के अधिक अनुकूल है; क्योंकि समाजवाद के अनुसार समाज एक सजीव प्राणी के समान है।

(iv) समाजवाद आर्थिक क्षेत्र में लोकतंत्र के सिद्धांतों का विस्तार और प्रयोग है; क्योंकि वास्तविक लोकतंत्र आर्थिक समानता के अभाव में कल्पनामात्र है। समाजवाद व्यक्तिवादी स्वतंत्रता के स्थान पर आर्थिक एवं अवसर की समानता प्रदान करता है।

(v) समाजवाद एक नियोजित अर्थव्यवस्था का समर्थन करता है। **पंडित नेहरू** ने कहा था कि समाजवाद के आधार पर नियोजन ही देश की निर्धनता को दूर कर सकता है। इसके अंतर्गत उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रहता है और कृषि और कारखाने का संचालन सहकारिता के आधार पर होता है।

समाजवाद की आलोचनाएँ (Criticisms of socialism)—अनेक विद्वानों ने समाजवाद की कटु आलोचना निम्नांकित आधारों पर की है—

(i) समाजवाद उत्पादन का श्रेय केवल श्रमिकों को देता है, जो सिद्धांततः गलत है। उत्पादन में श्रम के अतिरिक्त पूँजी तथा अन्य साधनों आदि की भी आवश्यकता है।

(ii) समाजवाद मनुष्य के व्यक्तित्व को दबाता है। यह मनुष्य को समाज का दास बना देता है, जिससे मनुष्य में उत्तरदायित्व तथा स्वतंत्रता की भावना नहीं रह जाती। समाजवादी व्यवस्था में सरकार के अधिकार इतने अधिक बढ़ जाते हैं कि वह निरंकुश बन जाती है।

(iii) व्यावहारिक दृष्टि से भी समाजवाद दोषपूर्ण है। समाजवादियों के अनुसार, उत्पादन तथा वितरण पर राज्य का नियंत्रण होना चाहिए। इसके लिए एक सुव्यवस्थित तथा योग्य प्रशासन की आवश्यकता है जो विभिन्न उद्योग के लिए पूँजी, श्रम, उत्पादन, वितरण तथा मूल्यांकन की व्यवस्था करे। अनुभव बताता है कि राज्य के कर्मचारियों में औपचारिकता, गतिहीनता तथा अदूरदर्शिता रहती है और उद्योगों का उचित संचालन नहीं हो पाता।

(iv) समाजवाद आर्थिक समानता स्थापित करना चाहता है। आलोचकों का कहना है कि इस दृष्टि से समाजवाद मनोविज्ञान के विरुद्ध है। सभी मनुष्य एक समान श्रमशील तथा तीव्रबुद्धि के नहीं होते और न सभी सामाजिक कल्याण की भावना से ही श्रम करते हैं। अतएव, आर्थिक समानता कोरी कल्पना है और प्रकृति के विरुद्ध है। जिस प्रकार शारीरिक तथा मानसिक विषमता अनिवार्य है, उसी प्रकार आर्थिक विषमता भी आवश्यक है।

(v) समाजवाद लोगों में क्रान्ति की भावना उत्पन्न करता है। इसका क्रियात्मक रूप हिंसा का प्रचार करना है।

(vi) समाजवाद व्यक्तिगत संपत्ति का विरोधी है, जो न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि वैयक्तिक संपत्ति के अभाव में लोगों में कार्य करने की क्षमता तथा उल्लास का ह्रास होगा। परिणामस्वरूप, आर्थिक विकास कुंठित हो जाएगा।

निष्कर्ष (Conclusion)—समाजवाद-संबंधी उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि समाजवाद आज पूँजीवादी समाज की एक महान प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुआ है। रूस, चीन तथा विश्व के अधिकांश देशों में समाजवाद की आज स्थापना हो चुकी है। भारत में समाजवाद की स्थापना का पूर्ण प्रयास चल रहा है। बैंकों का राष्ट्रीयकरण, जमींदारी-उन्मूलन, भूमिसुधार-अधिनियम, भूमि-जोत-सीमा संबंधी अधिनियम इत्यादि के चलते भारत में समाजवाद की लहर काफी तीव्र हुई है।

लोककल्याणकारी राज्य
(Welfare State)

राज्य के कार्यक्षेत्र के संबंध में 20वीं शताब्दी में एक नवीन सिद्धांत का जन्म हुआ, जिसे हम लोक-कल्याणकारी राज्य का सिद्धांत (theory of welfare state) कहते हैं। लोककल्याणकारी सिद्धांत साम्यवाद

WWW.GRADESETTER.COM

और अराजकतावाद की तरह राज्य को अनावश्यक नहीं बताता, वरन उसपर लोककल्याण-संबंधी उत्तरदायित्व को सौंप देता है। इसके अनुसार राज्य एक आवश्यक संघ है जिसका लक्ष्य नागरिक जीवन को सुखी, सम्पन्न तथा समृद्ध बनाना है। आज विश्व के अधिकांश राज्यों का उद्देश्य लोककल्याणकारी है। प्रारंभ में व्यक्तिवादियों ने पुलिस राज्य (police state) के विचार का प्रतिपादन किया था। लेकिन, 20वीं शताब्दी में समाजवाद का जन्म हुआ। समाजवाद के आगमन से पुलिस राज्य का सिद्धांत प्रायः समाप्त हो गया। लोककल्याणकारी राज्य अनावश्यक रूप से व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करता। वह वहीं तक हस्तक्षेप करता है जहाँ तक स्वतंत्रता की रक्षा और जीवन समृद्धिशाली हो।

लोककल्याणकारी राज्य का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Welfare State)

कल्याणकारी राज्य आज इतना लोकप्रिय है कि राजनीतिशास्त्र के अनेक विद्वानों ने इसकी परिभाषा दी है। कल्याणकारी राज्य की परिभाषा देते हुए **डॉ० अब्राहम** (Abraham) ने कहा है, "कल्याणकारी राज्य वह है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।"[1] **गार्नर** के मतानुसार, "कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य राष्ट्रीय जीवन, राष्ट्रीय धन तथा जीवन के भौतिक, बौद्धिक तथा नैतिक स्तर को विकसित करना है।"[2] **काण्ट** ने कहा है कि कल्याणकारी राज्य का अर्थ उस राज्य से है "जो अपने नागरिकों के लिए अधिकतम सामाजिक सुविधाएँ प्रदान करे।"[3] **आर० एम० मैकिवर** (R. M. MacIver) ने कहा है, "राज्य के स्वीकारात्मक तथा नकारात्मक कार्य शासन-व्यवस्था को ठीक स्थिति में रखना तथा मानवीय व्यक्तित्व का विकास करना है।"[4] **हॉब्सन** (Hobson) के विचारानुसार, "आज राज्य एक डॉक्टर, नर्स, शिक्षक, व्यापारी, उत्पादक, बीमा-कम्पनी के एजेंट, मकान बनानेवाला, नगर-योजना तैयार करनेवाला तथा रेलवे नियंत्रक आदि हो गया है।"[5]

लोककल्याणकारी राज्य अपने नागरिकों के मानसिक, सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक तथा अन्य पहलुओं को विकसित करने का प्रयास करता है। इसका संबंध नागरिकों के सर्वांगीण विकास से है। इसका उद्देश्य सामाजिक शोषण का अंत कर कलात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना है।

लोककल्याणकारी राज्य की विशेषताएँ (Features of the Welfare State)

लोककल्याणकारी राज्य की निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं—

1. **लोककल्याण की भावना राज्य का उत्तरदायित्व है।** लोककल्याण एक ऐसा शब्द है, जो नागरिकों के लिए अपरिहार्य है। लोककल्याण की माँग नागरिकों का अधिकार है। यदि कोई राज्य लोककल्याण की बातें करता है तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह नागरिकों को दान करता है। वह लोककल्याण संबंधी कार्यों को इसलिए संचालित करता है कि यह उसका उत्तरदायित्व है। व्यक्तियों का सर्वांगीण विकास करके ही राज्य अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकता है।

2. लोककल्याण की भावना राज्य का उत्तरदायित्व ही नहीं, वरन उसका एक **परम सिद्धांत** भी है। लोककल्याणकारी राज्य के अंतर्गत समाज तथा राज्य में अभिन्न संबंध रहता है।

3. **दरिद्रता तथा अभाव का उन्मूलन करना** लोककल्याणकारी राज्य की मुख्य विशेषता है। यदि नागरिकों में दरिद्रता तथा अभाव की भावना आती है तो लोककल्याणकारी राज्य कभी भी अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता है।

---

1. "A welfare state is a community where state's power is deliberately used to modify the normal play of economic forces, so as to obtain a more equal distribution of income for every citizen."—ABRAHAM
2. "It is the plain duty of the state to see the social and economic condition under which the individual is compelled to live are such that he can develop his abilities, make the most of the faculties with which he is endowed by nature and thus realise fully the ends of his existence."—GARNER
3. "It is a state which provides for its citizen a wide range of social services."—KANT
4. "The positive and negative tasks of the state are to establish order and to respect personality."
—R. M. MACIVER
5. "The state has assumed the duties of a doctor, a nurse, school master, trader and manufacturer, insurance agent, housebuilder, town planner, railway controller and a hundred other functions."
—HOBSON

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

4. लोककल्याणकारी राज्य का नारा **नागरिकों का सर्वांगीण विकास है।** यह नागरिकों के मन से भय और अभाव को दूर ही नहीं करता, वरन व्यक्ति की सेवा 'पालने से कब्र तक' (from cradle to the grave) करता है। बच्चा के जन्म से पूर्व माँ के स्वास्थ्य तथा पैदा होने पर बच्चों के स्वास्थ्य, पढ़ाई आदि की भी समुचित व्यवस्था करता है। बच्चा जब बड़ा होकर देश का नागरिक बनता है तब उसके लिए कॉलेज तथा वाचनालय आदि की व्यवस्था करता है। यह नागरिकों के नागरिक जीवन से लेकर सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा अन्य पहलुओं को भी विकसित करने का प्रयास करता है।

लोककल्याणकारी राज्य का उद्भव तथा विकास (Origin and Evolution of the Welfare State)

लोककल्याणकारी राज्य का उद्भव 19वीं शताब्दी के बाद की एक घटना है। 19वीं शताब्दी तक अंतरराष्ट्रीय जगत में पुलिस राज्य की अवधारणा विद्यमान थी। राज्य ने अपने को कानून तथा व्यवस्था को बनाए रखने तक सीमित रखा। लोककल्याण का दायित्व व्यक्तियों पर था। व्यक्ति ही अपनी सुख-सुविधा को ध्यान में रखकर राज्य का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता था। 'पुलिस राज्य' की अवधारणा के बावजूद राज्यों ने व्यक्तियों के कल्याण के लिए बहुत-कुछ किया जो किसी-न-किसी रूप में कल्याणकारी राज्य की उत्पत्ति में काफी सहायक हुआ। नागरिकों के कल्याण-संबंधी राज्यों के उन कार्यों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. इंगलैंड का गरीबी कानून अधिनियम (Poor Law Act)—इंगलैंड में सबसे पहले रानी एलिजाबेथ प्रथम के शासनकाल में गरीबी कानून अधिनियम पारित हुआ। इस कानून के निर्माण से सर्वप्रथम लोककल्याणकारी राज्य का बीजारोपण इंगलैंड में हुआ। इसके द्वारा भिखमंगों, अपाहिजों और अनाथों की सेवा तथा पालन-पोषण के लिए विशेष रूप से ध्यान दिया गया।

2. नेपोलियन तृतीय का योगदान (Contribution of Nepolean III)—फ्रांस के नेपोलियन तृतीय ने सामाजिक हित-संबंधी ऐसे अनेक कार्यों का सम्पादन किया जिससे फ्रांस में भी लोककल्याण की भावना का विकास हुआ। नेपोलियन तृतीय ने अपने देश के नागरिकों को खुश करने के लिए सार्वजनिक अधिकार, मजदूर संघ, मजदूरी में वृद्धि और गृह एवं राज्य सहायता-प्राप्त बीमा-योजना के सिद्धांतों को कार्यरूप दिया।

3. बिस्मार्क का योगदान (Contribution of Bismark)—बिस्मार्क ने भी जर्मनी में लोककल्याण के सिद्धांत का प्रयोग किया। उसने बीमारी, बुढ़ापा तथा दुर्घटना-संबंधी सामाजिक बीमा की योजनाओं को लागू कर सामाजिक नीतियों को क्रियान्वित किया।

4. लोककल्याण के प्रति सामाजिक चेतना का विकास (Evolution of social consciousness of welfare state)—इंगलैंड जैसे देश में लोककल्याण के सिद्धांत के प्रति सामाजिक चेतना का विकास हुआ। **डिकेन्स**, क्रिश्चियन समाजवादी नेता **किंग्सले** और **डिजरैली** जैसे राजनीतिज्ञों ने लोककल्याणकारी राज्य के सिद्धांत के विकास में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। इंगलैंड के समाजवादियों तथा मजदूर संघों ने इस दिशा में प्रमुख रूप से कार्य किया। प्रधानमंत्री **लॉयड जॉर्ज** ने सामाजिक बीमा योजना को सर्वप्रथम क्रियान्वित किया। इसके बाद इंगलैंड में कर तथा मृत्युकर आदि के रूप में अनेक सुधार किए गए। प्रधानमंत्री **एटली** ने अपने शासनकाल में राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा (National Health Service) की स्थापना कराई तथा रेलवे, यातायात, खान-इस्पात और बैंकों का राष्ट्रीयकरण कराया। आज भी इंगलैंड लोककल्याणकारी सिद्धांत को पहल करने में अग्रणी रहा है।

5. राष्ट्रपति रूजवेल्ट और ट्रूमैन का योगदान (Contributions of President Roosevelt and Truman)—प्रारम्भ से ही अमेरिका ने लोककल्याण की नीति का विरोध किया है। राष्ट्रपति **हूवर** ने लोककल्याणकारी राज्य में समष्टिवाद (collectivism) का रूप देखा था। बहुत-से अमेरिकियों की यह धारणा थी कि लोककल्याणकारी नीति राज्य को दिवालिया बना सकती है। फिर भी, अमेरिका में बहुत-से ऐसे कार्य किए गए हैं जो लोककल्याणकारी नीति के अंतर्गत हैं। उदाहरण के लिए, हम राष्ट्रपति **रूजवेल्ट** की 'नई नीति' (new deal) तथा राष्ट्रपति **ट्रूमैन** की 'उचित नीति' (fair deal) संबंधी विचारों को ले सकते हैं, जिसके अन्तर्गत अमेरिका में लोककल्याणकारी योजनाओं को अपनाया गया। आज वहाँ सामाजिक सुरक्षा तथा निःशुल्क शिक्षा आदि की व्यवस्था की गई है।

6. भारत का योगदान (Contribution of India)—लोककल्याणकारी राज्य के उद्भव तथा विकास में भारत का भी महान योगदान रहा है। भारतीय संविधान की **प्रस्तावना** (Preamble) तथा **नीति-निर्देशक**

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

तत्त्वों (directive principles of state policy) के अंतर्गत इसकी उद्घोषणा कर दी गई है कि भारत का उद्देश्य एक लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। भारतीय संविधान की धारा 38में लोककल्याण-संबंधी सिद्धांत की विवेचना की गई है। धारा 39 से 51 तक में उन तमाम नीतियों की चर्चा की गई है, जिन्हें अपनाकर एक लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना की जा सकती है। उनके अंतर्गत जीवन-निर्वाह के पर्याप्त साधन, भौतिक साधनों का स्वामित्व, सामान्य स्वास्थ्य में वृद्धि, बेकारी, बुढ़ापे तथा अंग-भंग की स्थिति में सार्वजनिक सहायता प्राप्त करने का अधिकार, कुटीर-उद्योगों का विकास, कृषि तथा पशुपालन का विकास तथा बच्चों की सुकुमारावस्था के दुरुपयोग पर रोक आदि का प्रावधान किया गया है और सरकार धीरे-धीरे इन्हें क्रियान्वित भी कर रही है।

लोककल्याणकारी राज्य की समस्याएँ (Problems of the Welfare State)

लोककल्याणकारी राज्य निम्नलिखित बाधाओं और समस्याओं के चलते अपने चरम उद्देश्य को अभी तक नहीं प्राप्त कर सका है—

1. उत्पादन का निम्न-स्तर (Low level of production)—भारत जैसे लोककल्याणकारी राज्य में उत्पादन का स्तर इतना निम्न है कि हम लोककल्याण के उद्देश्यों को कभी लागू नहीं कर सकते। जहाँ अमेरिका में प्रतिव्यक्ति आय की रकम 1800 डॉलर है वहाँ भारत जैसे विकासशील देश में केवल 100 डॉलर है। यहाँ भारत और अमेरिका में प्रतिव्यक्ति आय में 18 गुने का अंतर है। महान समाजवादी नेता **डॉ॰ राम मनोहर लोहिया** के आँकड़ों के अनुसार औसत एक भारतीय की हर रोज की आय केवल तीन आने हैं। सचमुच में हालाँकि प्रतिव्यक्ति आय में आज वृद्धि हुई है, फिर भी भारत-जैसे राज्य के लिए यह एक सबसे बड़ी समस्या है।

2. काम के प्रति उत्साह की कमी (Lack of zeal to work)—भारत-जैसे देश की एक अन्य समस्या है कि यहाँ के लोगों में अपने-अपने कामों के प्रति उत्साह का अभाव है। धनी वर्ग के लोग काम से जी चुराना चाहते हैं और इसे हेय दृष्टि से देखते हैं।

3. लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना के उत्साह में कमी (Lack of enthusiasm for the welfare state)—नागरिकों में लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए आज उत्साह नहीं है। लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए त्याग, अनुशासन तथा आकांक्षा आदि गुणों की आवश्यकता है।

4. अधिक कर की समस्या (Problem of high taxation)—लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना तभी हो सकती है जबकि नागरिक अधिक-से-अधिक त्याग करने के लिए तैयार रहें। चूँकि लोककल्याण-संबंधी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अनेक योजनाओं और सामाजिक नीतियों को क्रियान्वित किया जाता है, इसलिए जनता पर अधिक कर-भार की नौबत आ सकती है।

5. भूस्वामित्व (Ownership of land)—भारत-जैसे देश में भूस्वामित्व एक ऐसी समस्या है जिसके चलते अच्छी-से-अच्छी योजनाओं को भी क्रियान्वित नहीं किया जा सकता है। भूमि का अधिकांश समाज के कुछ ही लोगों के हाथों में केंद्रित है। भूमि के न्यायपूर्ण वितरण से ही उत्पादन के स्तर में भी वृद्धि की जा सकती है।

6. जनसंख्या की समस्या (Problem of population)—भारत की जनसंख्या में दिन दूनी और रात चौगुनी वृद्धि हो रही है। देश की बढ़ती हुई जनसंख्या भारत के आर्थिक विकास के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा है (Increasing population is a great obstacle to the economic development of India)। **ए॰ डी॰ गोरवाला** ने भी कहा है "जनसंख्या की समस्या के समाधान किए बिना लोककल्याण के सारे प्रयास व्यर्थ हो जाएँगे।"

7. यातायात की समस्या (Problem of communication)—यातायात की समस्या ने भारत-जैसे विकासशील और लोककल्याणकारी राज्य के उद्देश्यों को प्राप्त करने में एक रोड़ा का काम किया है। इतने बड़े देश में संचार-साधनों का पर्याप्त अभाव है। शहर से देहात जाने के लिए सड़कों की व्यवस्था नहीं है।

8. संकीर्ण निष्ठाएँ (Narrow loyalities)—संकीर्ण निष्ठाओं तथा भावनाओं ने भी भारत-जैसे देश में लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना में एक बड़ी बाधा पहुँचाई है। परिवार, जाति, धर्म तथा भाषा-संबंधी संकीर्ण भावनाएँ भारत के लिए एक समस्या हैं।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

9. जनता की अशिक्षा (Illiteracy of the masses)—भारत-जैसे बड़े और विशाल देश में अशिक्षा की समस्या ने भी इस दिशा में रुकावट का काम किया है। जब जनता शिक्षित हो जाती है तब वह अपने अधिकारों की माँग करने लगती है। अशिक्षा लोककल्याण की जानकारी के संबंध में नागरिकों को अज्ञानी बना देती है।

10. बेरोजगारी का भूत (Ghost of unemployment)—भारत की बेरोजगारी की समस्या ने एक भूत (ghost) का रूप धारण कर लिया है। बेरोजगारी की इस भयंकर समस्या का समाधान किए बिना लोककल्याण की भावना का कोई महत्त्व नहीं है। मजदूर वर्ग से लेकर शिक्षित समुदाय तक लोग बेरोजगार हैं। उन्हें काम दिए बिना कोई भी कार्यक्रम बेकार साबित होगा।

समस्याओं को दूर करने के उपाय (Remedies to root out Problems)

लोककल्याणकारी राज्य की उपर्युक्त समस्याओं के समाधान के लिए निम्नलिखित उपायों को अपनाया जा सकता है—

1. कठिन परिश्रम की तीव्र इच्छा—लोककल्याणकारी राज्य में जनता को कठिन परिश्रम करने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। **डॉ॰ आशीर्वादम** ने कहा है, "जनता को यह अच्छी तरह समझा दिया जाना चाहिए कि कल्याणकारी राज्य सबसे महँगा राज्य होता है और कठिन परिश्रम के बिना इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।"

2. लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु कर देने की इच्छा—चूँकि कल्याणकारी राज्य विविध उपायों को लागू करता है, इसलिए जनता पर अधिक करभार हो सकता है। देश की जनता को कर देने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए।

3. भारी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of big industries)—अर्थात, कल्याणकारी राज्य को सफल बनाने के लिए भारी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण बहुत जरूरी है।

4. न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण (Fixation of minimum wages)—कल्याणकारी राज्य को सबसे पहले एक विधि द्वारा न्यूनतम मजदूरी तय कर देना चाहिए। जो जितना और जैसा काम करे उसी के अनुसार न्यूनतम मजदूरी हो।

5. जनसंख्या की वृद्धि पर रोक (Check on the growth of population)—जनसंख्या की वृद्धि लोककल्याणकारी राज्य की सबसे बड़ी समस्या है। अतएव, जनसंख्या की वृद्धि पर नियंत्रण लाए बिना लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना हम नहीं कर सकते।

लोककल्याणकारी राज्य के विरुद्ध तर्क (Arguments against the Welfare State)

लोककल्याणकारी राज्य के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क देकर आलोचनाएँ की जाती हैं—

1. चूँकि लोककल्याणकारी राज्य अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विविध उपायों और रचनात्मक कार्यों का संचालन करता है, इसलिए इसके विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जाती है कि यह बहुत ज्यादा खर्चीला है। अतएव, भारत-जैसे गरीब देश के लिए यह उपयुक्त नहीं है। लेकिन, इस तर्क को हम न्यायसंगत नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इंगलैंड-जैसे देश में लोककल्याण-संबंधी सेवाओं में वृद्धि के साथ-साथ राष्ट्रीय उत्पादन में भी बड़े पैमाने पर वृद्धि हुई है।

2. व्यक्तिवादियों के विचारानुसार लोककल्याणकारी राज्य न केवल वैयक्तिक स्वतंत्रता का हनन करता है, वरन जनता में गरीबी की भावना को भी बढ़ाता है। लेकिन, यह तर्क भी पूर्ण सत्य नहीं है, क्योंकि राज्य द्वारा प्रदत्त सामाजिक सेवाएँ दान नहीं कही जा सकतीं, वरन सामाजिक सेवाएँ नागरिकों के अधिकार के रूप में हैं।

3. लोककल्याणकारी राज्य में, चूँकि, राज्य ही विभिन्न नागरिक सेवाओं का संचालन करता है, इसलिए राज्य के नागरिक अपनी निजी आय का दुरुपयोग कर सकते हैं। लेकिन, **डॉ॰ आशीर्वादम** का कहना है, "कुछ व्यक्तियों के लिए यह सही हो सकता है, पर बहुतों को यह दुखदायी चिंता से मुक्त कर, उन्हें रचनात्मक कार्य करने का अवसर प्रदान करता है।"

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

4. लोककल्याणकारी राज्य की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि इसके अंतर्गत नौकरशाही के बढ़ने का भय है। लेकिन, **डॉ० आशीर्वादम** का कहना है कि यह सही होते हुए भी कि लोककल्याणकारी राज्य में नौकरशाही पनपती है, उसे रोका जा सकता है। उन्होंने कहा है, "यदि राज्य के प्रशासक और स्थानीय अधिकारी विचारपूर्ण हैं तो हम उन्हें समझा-बुझाकर अधिकारमत्त होने से रोक सकते हैं।"

लोककल्याणकारी प्रशासन की आवश्यक शर्तें (Essentials of a Welfare Administration)

लोककल्याणकारी राज्य की सफलता के लिए निम्नलिखित दशाओं का होना आवश्यक है—

1. **नीति तथा लक्ष्यों में स्पष्टता** (Clarity of policies and aims)—लोककल्याणकारी राज्य की सफलता के लिए यह एक आवश्यक तर्क है कि लक्ष्य तथा लक्ष्य-प्राप्ति के साधनों को स्पष्ट तथा सुनिश्चित होना चाहिए। सरकार की नीतियों की अस्पष्टता उसके लक्ष्य-प्राप्ति में सबसे अधिक बाधा समझी जाती है।

2. **प्रशासक और जनता की दूरी का अंत** (End of differences between people & administrator)—यह भी आवश्यक है कि प्रशासकों और जनता के बीच की पुरानी दूरी की तुरत समाप्ति होनी चाहिए। लोककल्याणकारी राज्य में प्रशासकों को जनता में घुल-मिल जाना चाहिए।

3. **जन-सहयोग** (Co-operation of masses)—जन-सहयोग लोककल्याणकारी राज्य का प्राण है। चूँकि एक लोककल्याणकारी राज्य अपने चरम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनेक नीतियों और योजनाओं का संचालन करता है, इसलिए इसमें अधिक शक्ति और साधन की आवश्यकता पड़ती है। राज्य इन साधनों की प्राप्ति हेतु जनता की ओर देखता है।

4. **प्रशासक के विशिष्ट गुण** (Special qualities of the administrator)—सामाजिक सेवाओं को तभी लागू किया जा सकता है जब प्रशासक में कतिपय विशिष्ट गुण हों। प्रशासक को संवेदनशील और कोमल हृदय का होना होगा जिससे वह जनता की मनोदशा और आवश्यकताओं को पहचान सके। **डॉ० आशीर्वादम** का कहना है, "ऐसे कार्यक्रम से चिपके रहने से कोई लाभ नहीं जिसपर से जनता का विश्वास उठ गया है या जिसके प्रति जनता उदासीन है।" जनता की भावदशा और आवश्यकता में परिवर्तन हो जाने पर समाजसेवी अधिकारी को भी अपने कार्यक्रम में परिवर्तन कर लेना चाहिए।

5. **उदार प्रशासन** (Liberal administration)—लोककल्याणकारी प्रशासन को लालफीताशाही (red tapism) से दूर रहकर जनता की सुविधाओं के प्रति जागरूक रहना चाहिए। जब तक प्रशासन में लोचता नहीं आती तब तक लोककल्याणकारी राज्य अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता है।

6. **सफलताओं का मूल्यांकन** (Evaluation of the success)—लोककल्याणकारी उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए समय-समय पर प्रशासन की सफलताओं और विफलताओं का मूल्यांकन होते रहना चाहिए। मूल्यांकन हेतु सरकार द्वारा एक पृथक स्वतंत्र संगठन की स्थापना होनी चाहिए।

7. **सार्वजनिक वित्त का सदुपयोग** (Proper use of public money)—हर लोककल्याणकारी अधिकारी को जनता का धन खर्च करने में बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। अपने ऊपर संसदीय तथा वित्तीय नियंत्रण का उसे आदर करना चाहिए।

8. **प्रशासन में उचित समन्वय** (Proper integration of administration)—सार्वजनिक प्रशासन और सामाजिक प्रशासन में उचित समन्वय होना चाहिए, क्योंकि प्रशासन एक संपूर्ण इकाई है। कृषि, पशुपालन, सिंचाई, समाजसेवा, सहकारिता तथा शिक्षा विभागों को मिल-जुलकर समन्वित रूप से काम करना चाहिए।

9. **विकेन्द्रीकरण पर बल** (Stress on decentralisation)—**डॉ० आशीर्वादम** ने कहा है, "अच्छा मकान, अच्छी आमदनी, अच्छी रहन-सहन तभी सही अर्थ में कल्याणकारी बनते हैं जब धन का उपयोग करनेवालों का भी इन्हें प्राप्त करने में कुछ-न-कुछ योगदान हो।" इसलिए, विकेन्द्रीकरण और ऐच्छिक संगठनों की स्थापना पर बल दिया जाना चाहिए।

10. **आवश्यक पदार्थों पर सरकारी नियंत्रण** (Governmental control on essential commodities)—भारत-जैसे विकासशील और कल्याणकारी देश में आवश्यक पदार्थों की मूल्य-वृद्धि को रोकने के लिए और सबको उनके उपयोग का समान अवसर देने के लिए इन पदार्थों पर सरकारी नियंत्रण आवश्यक है। लेकिन, इस नियंत्रण में ईमानदारी तथा आस्था की आवश्यकता है, क्योंकि यह देखा गया

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

है कि नियंत्रण से थोड़े ही लोगों को लाभ होता है। यदि सरकारी नियंत्रण में सतर्कता और ईमानदारी हो तो लोककल्याणकारी राज्य के लिए वे वरदान सिद्ध हो सकते हैं।

11. अन्य शर्तें (Other conditions)—लोककल्याणकारी प्रशासक को निम्नलिखित अन्य बातों पर भी ध्यान देना चाहिए—

(i) सेवाकार्य में विलम्ब नहीं लगाना चाहिए।

(ii) प्रारंभिक अवस्था में सेवा पर्याप्त होनी चाहिए।

(iii) सेवा तब तक होनी चाहिए जब तक स्थानीय जनता स्वयं उसका भार वहन करने के लिए तैयार न हो जाए।

(iv) स्वावलंबन की भावना पर लोककल्याणकारी प्रशासकों को विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

(v) लोककल्याणकारी राज्य के प्रशासकों में दूरदर्शिता और कल्पना होना आवश्यक है। **बाइबिल** में कहा गया है कि दूरदर्शितावहीन लोग नष्ट हो जाते हैं (Where there is no vision the people perish)।

निष्कर्ष (Conclusion)—इस प्रकार, लोककल्याणकारी राज्य आज विश्व के अधिकांश राष्ट्रों का आदर्श हो गया है। लोककल्याणकारी राज्य का आदर्श ही आधुनिक युग में विभिन्न राज्यों के कार्यों का आधार है। भारत-जैसे विकासशील देश में लोककल्याणकारी उद्देश्यों को प्राप्त करने के मार्ग में कुछ बाधाएँ अवश्य हैं। लेकिन, यदि उन बाधाओं और समस्याओं का समाधान कर लिया जाता है तो भारत लोककल्याणकारी राज्य का एक सच्चा उदाहरण बन सकता है। भारत की लोककल्याणकारी भावना के संदर्भ में **डॉ० आशीर्वादम** ने यह ठीक ही कहा है, "आज भारत में एक और खराबी पाई जाती है। अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, पिछड़े वर्गों, किसानों और मजदूरों को विशेष सुविधाएँ और सहायताएँ दी जाती हैं। इससे कल्याणकारी राज्य नए निहित हितों का निर्माण कर रहा है। नए-नए शोषकवर्ग बनते जा रहे हैं।" सचमुच में लोककल्याणकारी राज्य तभी अपने स्वप्न को साकार कर सकता है जब (i) धन व संपत्ति के संबंध में लोगों के दृष्टिकोण बदले जाएँ, (ii) हर धर्म, समुदाय और वर्ग के लोगों में प्रबल राष्ट्रीय भावना का विकास हो, (iii) उच्च-स्तर की सार्वजनिक ईमानदारी और निर्भरता हो तथा (iv) एक ऐसे समाज का निर्माण हो जो अपनी जिम्मेवारी समझे और उसे पूरा करे, क्योंकि भारत के वर्तमान समाज में उत्तरदायित्व की भावना का लोप हो गया है। अधिकांश उद्योगपतियों, व्यापारियों और व्यवसायियों तक में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का अभाव है।

प्रश्नावली

1. आधुनिक राज्यों के कार्यों की विवेचना कीजिए।
   (Examine the functions of the Modern States.)
2. प्रो० गार्नर द्वारा बताए गए राज्य के कार्यों का वर्णन कीजिए।
   (Describe the functions of the State as enumerated by Prof Garner.)
3. राज्य के वैकल्पिक कार्य क्या हैं? क्या ऐसे कार्यों को करना आवश्यक है?
   (What are the optional functions of the State ? Is it essential to perform such functions ?)
4. उदारवाद से आप क्या समझते हैं? उदारवाद के विकास की विवेचना करें।
   (What do you mean by Liberalism ? Analyse the development of Liberalism.)
5. उदारवाद की परिभाषा दें और इसपर जॉन लॉक के प्रभावों की विवेचना करें।
   (Define Liberalism and discuss Locke's influence on it.)
6. लॉक के उदारवादी विचारों पर एक संक्षिप्त लेख लिखें।
   (Write a brief essay on Locke's Philosophy of Liberalism.)
7. उदारवाद के मूल सिद्धांतों की संक्षिप्त विवेचना करें।
   (Discuss the basic principles of Liberalism.)
8. उदारवाद का भविष्य क्या है? किन-किन तत्त्वों ने इसे बुरी तरह प्रभावित किया है?
   (What is the future of Liberalism ? Which factors have affected it badly ?)

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

9. समाजवाद क्या है ? राज्य के कार्यों के समाजवादी सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या करें।
(What is socialism ? Critically examine the socialistic theory of the functions of the State.)

10. समाजवाद की परिभाषा दें तथा यह बताएँ कि इसका विकास कैसे हुआ।
(Define socialism and discuss its evolution.)

11. लोककल्याणकारी राज्य की धारणा का आलोचनात्मक परीक्षण करें।
(Examine critically the concept of Welfare State.)

12. लोककल्याणकारी राज्य से आप क्या समझते हैं ? वर्तमान राज्य के कार्य क्या हैं ? राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार के कारण बताएँ।
(What do you mean by a Welfare State? What are the functions of a Modern State ? Account for the widening of the sphere of the State activities.)

13. लोककल्याणकारी राज्य के कार्यों का वर्णण करें।
(Discuss the functions of a Welfare State.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 11

आधुनिक राष्ट्र-राज्य का उदय और विकास
[RISE AND GROWTH OF THE MODERN NATION-STATE]

अपने अपूर्ण तथा अव्यवस्थित रूप से प्रारंभ कर राज्य धीरे-धीरे विकसित होता हुआ मानव जाति के पूर्ण तथा विश्वव्यापी संगठन का रूप ग्रहण कर रहा है।—बर्गेस

विषय-प्रवेश (Introduction)

आधुनिक समय में राज्य की उत्पत्ति के संबंध में हम विकासवादी सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। राज्य की उत्पत्ति संबंधी विकासवादी और ऐतिहासिक सिद्धांत राज्य की उत्पत्ति की उचित विवेचना करता है। इस सिद्धांत के अनुसार राज्य क्रमिक विकास का परिणाम है और यह विकास बराबर होता है। किसी विशेष समय से ही विकास का यह सिलसिला प्रारंभ हुआ हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। **बर्गेस** ने भी कहा है, "मानव-सार्वभौम सिद्धांतों की क्रमिक पूर्णता ही राज्य है।"[1] अतः, राज्य के विकास संबंधी अनेक कारण हैं। **डॉ॰ आशीवार्दम** का भी कहना है, "राजनीतिक चेतना के विकास में बहुत समय लगा होगा और प्रारंभिक राज्य का विकास धीरे-धीरे इस चेतना के विकास के साथ हुआ होगा।" अतः, यह प्रमाणित हो गया है कि राज्य विकास का परिणाम है। **बर्गेस** के मतानुसार राज्य एक विकासशील संस्था है। उसने इस संबंध में कहा है, "अपने अपूर्ण तथा अव्यवस्थित रूप से प्रारंभ कर राज्य धीरे-धीरे विकसित होता हुआ मानव जाति के पूर्ण तथा विश्वव्यापी संगठन का रूप ग्रहण कर रहा है।"[2] बर्गेस के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य न तो कृत्रिम रचना का परिणाम है, न दैवी देन है, न किसी समझौता का फल है, वरन शताब्दियों के क्रमिक विकास का परिणाम है। तात्पर्य यह है कि राज्य नामक संस्था का प्रारंभ मानव-सभ्यता के प्रारंभिक दिनों में विकृत रूप में हुई और जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया, वैसे-वैसे इसके रूप में भी परिवर्तन होता गया। असल में राज्य की इन विभिन्न अवस्थाओं के संबंध में राजनीतिशास्त्र के विद्वानों में मतभेद है। फिर भी, विश्व के विभिन्न राज्यों के विश्लेषण के आधार पर आज के विकसित राज्यों की निम्नलिखित अवस्थाओं को निश्चित किया गया है।

राज्य के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ (Different Stages of the Evolution of the State)

राज्य के विकास की गति एक-सी नहीं रही है। संसार के विभिन्न क्षेत्रों में फैले हुए लोगों के प्राकृतिक परिस्थितिजन्य और स्वभावजन्य भेदों ने ऐसी विभिन्न अवस्थाएँ उपस्थित की हैं जिनके अधीन विभिन्न समयों और स्थानों पर राज्य का जन्म हुआ है। राज्य के विकास से संबद्ध विभिन्न अवस्थाओं को हम निम्नलिखित रूपों में रख सकते हैं—

1. कबायली राज्य (The tribal state)—परिवार समाज का प्राचीन रूप है और अनेक परिवारों के संगठित रूप से कबीलों का जन्म हुआ। कबीला का प्रधान एक मुखिया होता था जिसकी आज्ञाओं का पालन सब करते थे। जो व्यक्ति उसकी आज्ञा का उल्लंघन करता था, उसे वह दंड देता था। मृत्यु-दंड देने का भी उसे अधिकार था। राज्य का यह पहला लक्षण है कि उसके क्षेत्र में रहनेवाले सारे लोग उसकी आज्ञा का पालन करें और इस प्रकार कबीलों में राज्य के लक्षण पाए जाते थे। रीति-रिवाजों के रूप में कानून का प्रचलन था। शक्तिशाली कबीलों ने कमजोर कबीलों को हराकर उनपर राज्य करना प्रारंभ कर दिया। अतएव, ये कबीले धीरे-धीरे राज्य का रूप ग्रहण करने लगे।

1. "It is the gradual realization of the universal principles of human nature."—BURGESS
2. "State is a continuous development of human society out of a glory of imperfect beginning through crude but improving forms of manifestations towards a perfect universal organization of mankind."—BURGESS

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

2. प्राच्य साम्राज्य (Oriental Empire)—भ्रमण करनेवाले कबीले सामान्यतः उन क्षेत्रों मे बसे जहाँ प्रकृति समृद्धिपूर्ण थी और मानवीय आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकती थी। भारत में गंगा नदी और सिंधु नदी की घाटी, चीन में ह्वांग-हो और याँग-सीक्याँग, मिस्र में नील नदी तथा इराक और सीरिया में यूफ्रेटिश और टिग्रिस नदी आदि घाटियों को अपना निवास-स्थान बनाया। इन साम्राज्यों की अपनी विशेषताएँ थीं; जैसे—(1) ये साम्राज्य काफी समृद्धिशाली थे, (2) सभी राज्यों में राजतंत्र का प्रचलन था, (3) राजा प्रायः निरंकुश होता था और उसे राजनीतिक और धार्मिक दोनों शक्तियाँ प्राप्त थीं, (5) सम्राट के अधिकारी विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे, (6) दरबारियों में सत्ता-प्राप्ति के लिए षड्यंत्र, (7) राज्यों में राष्ट्रीय भावना तथा, (8) सैनिक शक्ति और सम्राटों के व्यक्तित्व की प्रधानता । इसके अलावा, इन साम्राज्यों में दास-प्रथा भी प्रचलित थी, जिनकी खरीद-बिक्री होती थी।

ये प्राचीन साम्राज्य सभ्यता के दृष्टिकोण से वैभवपूर्ण थे। **गेटेल** ने कहा है, "प्राचीन साम्राज्य केवल दास-संचालक और कर-संग्रहकर्ता के रूप में जनता के सामने आते थे।"[1] लेकिन, प्राचीन साम्राज्यों का यह विवरण अपूर्ण-सा लगता है। वास्तविकता यह है कि प्राचीन साम्राज्य कृषि, उद्योग, व्यापार, कला, विज्ञान, और साहित्य के क्षेत्र में काफी आगे बढ़ चुके थे। मिस्र की नील घाटी तथा भारत की गंगा-सिंधु घाटियों में प्राचीन सभ्यता के अवशेष भी पाए जाते हैं। गेटेल ने इन साम्राज्यों के गुणों को भी स्वीकार किया है और कहा है कि इन महान साम्राज्यों ने संस्कृति की आधारशिला रखने में तथा स्थानीय संकुचित आधार को तोड़ने और मानव जाति को व्यापक राज-सत्ता से परिचित कराने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।[2] **प्रो॰ शॉल्टाऊ** ने इन प्राचीन साम्राज्यों की त्रुटियों को स्पष्ट किया है और कहा है, "राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थियों के दृष्टिकोण से इन साम्राज्यों का महत्त्व नहीं के बराबर है।"[3] फिर भी इन साम्राज्यों ने पृथ्वी के बहुत बड़े भाग में शान्ति और सुव्यवस्था बनाए रखने में काफी साथ दिया।

3. यूनानी नगर-राज्य (The Greek City-State)—राज्य की प्रगति का आगामी प्रतीक यूनानी नगर-राज्य थे। यदि हम कहें कि यूनानी नगर-राज्यों की स्थापना से ही राजनीतिशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ हुआ तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं हो सकती है। ये नगर-राज्य सर्वप्रथम समुदाय थे जिन्होंने 'राजनीति' को सचेतन विचार प्रदान किया। यद्यपि यूनानी राजनीतिक संस्थाएँ संभवतः अद्वितीय नही थीं, तथापि वे अत्यधिक पूर्णता या विकसित जीवन-मार्ग और सरकार के उदाहरण का प्रतिनिधित्व करती थीं, जिनके लेख-प्रमाण हमें उपलब्ध हैं।

यूनानी नगर-राज्य के साथ दो विचार जुड़े हुए थे। प्रत्येक नगर दूसरों से स्वतंत्र राजनीतिक रूप से संगठित राज्य था और उसे अपनी स्वतंत्रता का गर्व था। यूनानियों ने यह कभी नहीं सोचा था कि वे अपने अस्तित्व का किसी अन्य नगर में विलय कर दें। दूसरे, यूनानी नगर-राज्य जान-बूझकर आकार और जनसंख्या में छोटे रखे गए थे। यूनानी दर्शन के अनुसार राजनीतिक, सामाजिक और बौद्धिक जीवन का एक केंद्रीय नगर में एकीकरण केवल तभी संभव था जब राज्य छोटा हो। इसीलिए, अरस्तू ने राज्य की जनसंख्या और प्रकार के विषय में निश्चित सीमाएँ स्थिर की थीं। उसने कहा था कि जनसंख्या न तो बहुत अधिक होनी चाहिए और न अत्यन्त कम। अधिकांश नगर-राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र की व्यवस्था प्रचलित थी। कुछ राज्यों में राजतंत्र तथा अल्पतंत्र की प्रथा भी थी। अधिकांश नगर-राज्यों की राजनीतिक व्यवस्था बदलती रहती थी। राजतंत्र से कुलीनतंत्र, कुलीनतंत्र से अल्पतंत्र और अल्पतंत्र से प्रजातंत्र का परिवर्तन-चक्र घूमता रहता था। प्रत्येक राज्य का अपना-अपना देवता होता था। नागरिकता का अधिकार कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित था। यूनानी नगर-राज्य में दासों की स्थिति बड़ी शोचनीय थी। अतएव, यदि हम सही विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यूनानी नगर-राज्य लोकतंत्र के अच्छे उदाहरण थे। उनमें राज्य, चर्च और विद्यालय के गुण समाहित थे। नागरिक आमतौर पर सिपाही, न्यायाधीश और शासन-सभा के सदस्य थे। राज्य के कार्यक्षेत्र में नागरिक जीवन के सारे पहलू समाहित थे। लेकिन, यूनानी नगर-राज्यों में दोष भी थे। सबसे बड़ा दोष उनका स्थानीयता-प्रेम था। उनमें राष्ट्रीयता की भावना का अभाव था। दास-प्रथा एक ऐसा

---

1. "The oriental state represented to their people only slave driver and the tax collector."—GETTEL
2. "These great empires performed valuable services in establishing the beginning of culture in breaking down the narrow local basis of tribal organization and in familiarising mankind with widespread authority."—GETTELL
3. "From the point of view of the student of politics those empires offer, however, little interest."
—R. H. SOLTAU

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अभिशाप था जिसके चलते नगर-राज्यों में कलह और द्वेष का वातावरण हमेशा बना रहता था। इन दोषों के बावजूद राजनीतिक विकास और सभ्यता की दृष्टि से ये नगर-राज्य काफी महत्त्वपूर्ण थे। नगर-राज्यों ने स्वशासन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पाठ पढ़ाया। सुकरात, प्लेटो और अरस्तू अपने-अपने विचारों से इन नगर-राज्यों को सिंचित किया है।

4. वैदिक गणराज्य (Republics of Vedic Period)—यूनानी नगर-राज्यों की तरह ही प्राचीन भारत के वैदिक काल में भी छोटे-छोटे गणराज्य पाए जाते थे। इन गणराज्यों के तीन मुख्य अंग होते थे—(1) सभा, (2) समिति और (3) मुखिया।

न्याय करने के लिए सभा के सदस्य विद्वान होते थे। समिति में गाँवों या नगरों के मुखिया होते थे। गणराज्य का एक मुखिया होता था जिसका चुनाव सभा और समिति द्वारा होता था। मुखिया गणराज्य का प्रमुख प्रशासक होता था। विवादग्रस्त विषयों का समाधान करने के लिए कभी-कभी उपसमितियों का निर्माण कर लिया जाता था। महाभारत या बौद्ध और जैन साहित्य में इन गणराज्यों का अस्तित्व देखने को मिलता है। इन गणराज्यों का सबसे बड़ा दोष इनकी कमजोरी थी जिसके कारण शक्तिशाली राजाओं ने धीरे-धीरे जीतकर इन्हें अपने अधीन कर लिया। मौर्यकाल के प्रारंभिक दिनों तक इनका अस्तित्व मिलता है। मौर्यकाल के बाद इन छोटे-छोटे साम्राज्यों का स्थान बड़े-बड़े साम्राज्यों ने ले लिया।

5. रोमन साम्राज्य (Roman Empire)—यूनान के नगर-राज्यों की तरह ही रोम के राजनीतिक जीवन का आरंभ भी एक नगर-राज्य के रूप में हुआ था। रोमन नगर-राज्य का निर्माण उन कबीलों से हुआ जो टाइबर नदी के उपजाऊ मैदान में स्थित सात पहाड़ियों पर अपना कब्जा किए हुए थे। प्रारंभ में तो इस नगर-राज्य का कोई विशेष महत्त्व न था, लेकिन बाद में अपनी केंद्रीय स्थिति और जहाजरानी के योग्य महत्त्वपूर्ण नदी के ऊपर स्थित होने के कारण इस नगर-राज्य ने शीघ्र ही एक प्रधान राज्य का रूप ग्रहण कर लिया। वहाँ रहनेवाले विभिन्न कबीलों में एक सामान्य धार्मिक उपासना के कारण एकता की भावना मजबूत हो गई। रोमन साम्राज्य में भी शासन का रूप बदलता रहा। प्रारंभ में वहाँ का शासन राजतंत्रीय था और राजतंत्र का आधार पितृसत्तात्मक परिवार था। राजा ही न्यायकर्ता, शासक और धर्मगुरु था। राजा वृद्धों की एक परिषद के परामर्श से शासन करता था। मृत्युदंड (death penalty) के संबंध में वह परिषद के परामर्श को मानने के लिए बाध्य था। राजनीतिक सत्ता में कुलीनवर्ग का भी बोलबाला था। साधारण लोगों को किसी प्रकार का राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं था।

500 ई० पू० के लगभग रोमन साम्राज्य का अंत हो गया और दो प्रधान न्यायकर्ताओंसहित गणतंत्र की स्थापना की गई। इन न्यायकर्ताओं को बाद में 'कॉन्सल्स' (consuls) कहा जाने लगा। इनका निर्वाचन हर साल होता था। इस परिवर्तन के बाद दो शताब्दियों तक कुलीनवर्ग और साधारणवर्ग (patricians and plebeians) के बीच राजसत्ता के लिए संघर्ष होता रहा। **डॉ० आशीर्वादम** ने कहा है, "युद्धों के आर्थिक परिणामों के कारण संघर्ष तेज होता गया और अंत में दोनों वर्ग मिलकर एक नागरिक-समाज में बदल गए जिसमें दोनों को ही समान राजनीतिक तथा नागरिक अधिकार थे।" इस परिवर्तन के कारण सरकार में भी परिवर्तन हुआ, जिसके अनुसार दो 'कॉन्सल्स' (consuls) में से एक का साधारण (plebeians) वर्ग से होना आवश्यक हो गया। सीनेट नाम की एक विधायी संस्था की भी स्थापना की गई थी, जिसमें उच्चवर्ग की प्रधानता थी। रोमन गणतांत्रिक साम्राज्य निम्नलिखित चार सिद्धांतों पर आधारित था—

(1) विभाजित अधिकार,

(2) न्यायाधीशों (magistrates) के पद की अल्प-अवधि,

(3) कौंसिलों के सीमित सैनिक अधिकार तथा

(4) जनता द्वारा महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक प्रश्नों का समाधान।

लेकिन, दूसरी सदी के मध्य तक ये सिद्धांत समाप्तप्राय हो गए और गणतंत्र बदनाम हो गया। अधिकार के विभाजन का लोप होने लगा और तानाशाही और स्वेच्छाचारिता का बोलबाला स्थापित हो गया। उस समय तक रोम ने अपने उपनिवेशों को काफी बढ़ा लिया था और अब गणतंत्र के स्थान पर साम्राज्य स्थापित हो गया था। उस समय रोमन साम्राज्य के अंतर्गत इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, स्पेन, ऑस्ट्रिया, बालकन, ग्रीस, एशिया माइनर और भूमध्यसागर के समुद्र के संपूर्ण तट और उसके अंतर्भाग तक प्रदेश थे। साम्राज्य के दूरस्थ भागों पर शासन करने के लिए गवर्नरों को नियुक्त किया जाता था। उनपर केंद्रीय सरकार का नियंत्रण नाममात्र का था। रोमन साम्राज्य में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का ह्रास हुआ और केंद्रीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ी।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

सम्राट के हाथों में राज्य की सारी शक्तियाँ केंद्रित होने लगीं। राजा ने सीनेट और सभाओं को समाप्त कर दिया। राजा को ईश्वर की शक्ति माना जाने लगा। उच्चवर्गों का साम्राज्य स्थापित हो गया। विश्व को प्रथम सुव्यवस्थित और सुशासित राज्य देने का स्थायी गौरव रोम को ही है। रोम का शासन पश्चिम में पाँच सौ वर्षों तक और पूर्व में डेढ़ हजार वर्षों तक कायम रहा। रोम की व्यवस्था को ही देखकर पूरे मध्य-युग (middle age) में एक विश्वव्यापी साम्राज्य की भावना लोगों के दिमाग में घूमती रही। रोम की विधि और कानून, उसके उपनिवेश और नगरपालिकाओं की शासन-व्यवस्था आधुनिक युग को विरासत के रूप में मिली है। संप्रभुता और नागरिकता के सुसंगठित आदर्श और विभिन्न जातियों में राजनीतिक एकता स्थापित करने की पद्धतियाँ रोम की कुछ महत्त्वपूर्ण सफलताएँ हैं। लेकिन, इन महान सफलताओं के बावजूद रोमन साम्राज्य स्थायी नहीं रह सका और बाद में उसका पतन हो गया। यूनान और रोम की सफलताओं और असफलताओं की तुलना करते हुए **गेटेल** ने कहा है, "यूनान ने एकता-रहित लोकतंत्र का विकास किया और रोम ने लोकतंत्र-रहित एकता कायम की।"[1]

6. मौर्य-साम्राज्य—रोमन साम्राज्य की तरह ही भारत में भी मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई थी। अजातशत्रु ने छोटे-छोटे गणराज्यों को जीतकर एक विस्तृत साम्राज्य की नींव डाली थी। चन्द्रगुप्त मौर्य और महान अशोक ने इस साम्राज्य का अत्यधिक विस्तार किया। मौर्य साम्राज्य में राजा को विस्तृत अधिकार थे, लेकिन वह तानाशाह नहीं था। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक **अर्थशास्त्र** में इस मौर्य साम्राज्य के संबंध में विस्तृत विवेचन किया है। राजा धर्म और न्याय की मर्यादा के अंतर्गत शासन करता था। यह साम्राज्य बहुत दिनों तक बना रहा, लेकिन आन्तरिक विद्रोह और विदेशी आक्रमण के चलते यह समाप्त हो गया।

7. सामंती राज्य (The feudal state)—रोमन साम्राज्य के भग्नावशेषों पर सामंती राज्य की स्थापना हुई। विभिन्न स्थानों पर छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए, जो विभिन्न सामंतों के नियंत्रण में थे। ये सामन्त अपनी-अपनी जागीरों के राजा बन बैठे। यूरोप में 15वीं शताब्दी तक इन्हीं सामंती राज्यों का प्रभाव रहा। सामंती सिद्धांत के अनुसार राजा सम्राट के दास होते थे और सम्राट बदले में परमात्मा का दास होता था। वे अपने उपनिवेश जागीर के रूप में प्राप्त करते थे और शर्त होती थी कि वे अपने मालिक के प्रति वफादार रहेंगे। इसके पश्चात, हर राजा अपने उपनिवेशों को पर्याप्त बड़े अंशों में बाँटता था और प्रत्येक भाग में राजा अपने वफादार को ही सरदार बनाता था, जो जमींदार कहलाता था। जमींदार अपने दायित्वों को पूरा करते रहने तक भूमि का मालिक बना रहता था। उसके देहान्तोपरान्त उसके अधिकार और कर्तव्य उसके उतराधिकारी को प्राप्त हो जाते थे। जमींदार भी अपनी-अपनी भूमियों को छोटी-छोटी इकाइयों में बाँटते थे और वैसी ही शर्तों पर अपने दासों को देते थे। इस प्रकार, राजा से लेकर किसान तक एक सीढ़ीनुमा ढाँचा बन गया था। सामंतवाद के स्वरूप को निम्नांकित रूपों में रखा जा सकता है—

(1) एक मालिक से दास को प्राप्त हुई भूमि को रखना।

(2) मालिक और दास के बीच निकट और व्यक्तिगत बन्धनों का अस्तित्व।

(3) प्रभुसत्ता का पूर्ण या आंशिक अधिकार, जो जागीर का एक मालिक, जागीर में रहनेवाले अधिवासियों पर लागू करता है।

किन्तु, सामंती राज्य वास्तविक अर्थ में राज्य नहीं थे। उनमें न तो सर्वमान्य नागरिकता थी और न ही सर्वमान्य नियम। राज्य में कोई भी केंद्रित अधिकारी नहीं था। इसका सबसे बड़ा दोष यह था कि लोगों की स्वामीभक्ति पग-पग पर विभाजित थी। व्यक्ति अपने तात्कालिक भू-स्वामी के प्रति उत्तरदायी थे और उसी के माध्यम से वे राजा के प्रति वफादार थे। इसलिए यह ठीक ही कहा जाता है कि "सामंती प्रथा अपूर्ण तथा एक संगठित अव्यवस्था थी।" इस अव्यवस्था ने चर्च की विशिष्ट सत्ता को जन्म दिया। चूँकि सामंती व्यवस्था काफी दोषपूर्ण थी, इसलिए दूसरे राजाओं ने मध्यमवर्ग की सहायता से इन्हें धीरे-धीरे अपने नियंत्रण में कर लिया। उदाहरणस्वरूप, इंगलैड में हेनरी प्रथम तथा अष्टम, फ्रांस में लुई चौदहवाँ, स्पेन में फिलिप द्वितीय और रूस में पीटर महान जैसे शक्तिशाली तथा पराक्रमी राजाओं ने सामंतों पर अधिकार जमाकर उन्हें अपने नियंत्रण में कर लिया।

8. राष्ट्रीय राज्य (The nation state)—सामंतवादी व्यवस्था के दोषों के चलते सामंती राज्यों का भी पतन हुआ। राष्ट्रीय राज्यों के विकास में यूरोप का सांस्कृतिक नवजागरण (renaissance), धार्मिक आंदोलन (reformation), औद्योगिक क्रांति (industrial revolution) तथा सामंतों के पारस्परिक मतभेद और संघर्ष

1. "Greece developed democracy without unity. Rome secured unity without democracy."—GETTELL

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इंगलैंड, स्पेन, फ्रांस, तथा रूस में राजाओं ने शक्ति तथा पराक्रम के आधार पर सामंतों को अपने नियंत्रण में कर लिया। इनलोगों ने पोप की सत्ता को चुनौती दी तथा जनता की भक्ति-भावना को राजा की ओर आकर्षित किया। परिणामस्वरूप, राजा द्वारा निर्मित कानूनों का पालन जनता करने लगी। राजा के शासन का रूप निरंकुश हो गया। उसे पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाने लगा। इस काल के राजनीतिक विचारकों ने भी स्वेच्छाचार का समर्थन किया। मैकियावेली ने शासक को उन मर्यादाओं से भी स्वतंत्र कर दिया जो सार्वजनिक नैतिकता द्वारा उस पर आरोपित थी। हॉब्स ने स्वेच्छाचारी राजतंत्र का सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत द्वारा बड़े जोरों से समर्थन किया। इस प्रकार का प्रत्येक राज्य एक देश की सारी सीमाओं में फैला हुआ था और उनमें एक-जैसी शासन-पद्धति, इतिहास, भाषा, धर्म आदि द्वारा राष्ट्रीयता की भावना विकसित हुई।

लेकिन, राजाओं का यह स्वेच्छाचारी अधिकार भी चिरकाल तक न रह सका। राष्ट्रीय राज्य के विकास में आगामी चरण राजा और लोगों के बीच संघर्ष का है। लोग अपने अधिकारों की माँग करने लगे। इंगलैंड में 17वीं शताब्दी में गृह-युद्ध हुआ और उसमें जनता की विजय हुई। सम्राट चार्ल्स प्रथम को मृत्यु-दंड दिया गया। 1688 ई० की महान क्रांति (glorious revolution) द्वारा राजा की शक्तियों को पूर्णतया सीमित कर दिया गया। 1789 ई० में फ्रांस की जो राज्य-क्रांति हुई, वह राजाओं के विरुद्ध थी और वहाँ पुनः नेपोलियन अपने को राजा मान बैठा। 1870 ई० के बाद फ्रांस में पूर्णतया लोकतंत्र की स्थापना हो गई। विश्व के विभिन्न देशों में भी लोकतंत्रीय पद्धति को अपनाया गया। लोकतंत्र अपने साथ—समानता, लोक प्रभुसत्ता और राष्ट्रीयता (equality, sovereignty and nationality) नामक तीन सिद्धांतों को लेकर आया। लोकतंत्र की पद्धति ने स्वेच्छाचारिता को नष्ट तो किया ही, साथ ही सभ्य राष्ट्रों की राजनीतिक प्रणालियों में भी महान सुधार किया। राजपरिवारों की स्वार्थपरता रोक दी गई। उद्योग, व्यापार और व्यवसाय में यथास्थिति *(laissez faire)* नीति को अपनाया जाने लगा। इस आर्थिक स्वतंत्रता के कारण उद्योग और व्यापारों का विस्तार हुआ। आधुनिक राष्ट्रीय राज्य जाति और भौगोलिक एकता पर जोर देता है और अपनी प्राकृतिक सीमाओं की पूर्णता को सुरक्षित रखने के लिए अपने प्रत्येक साधन का उपयोग करता है। 1993 ई० के मार्च तक विश्व में 180 राष्ट्रीय राज्य स्थापित किए जा चुके हैं।

9. **औपनिवेशिक साम्राज्य** (Colonial empires)—एक तरफ यूरोप में लोकतांत्रिक राज्यों का विकास हुआ और दूसरी तरफ समुद्र-पार उपनिवेशों की स्थापना की प्रवृत्ति भी चलती रही। नए यूरोपीय राष्ट्रीय राज्यों ने विश्व के विभिन्न भागों में अपने उपनिवेश, रक्षित-प्रदेश (Protectorates) या प्रभाव-क्षेत्र कायम की। परिणामस्वरूप, बड़े-बड़े यूरोपीय राज्यों ने एक बड़े भाग को बाँट लिया। इन उपनिवेशों की स्थापना लोकतांत्रिक सिद्धांतों के प्रतिकूल हुई है। राष्ट्रीय राज्यों की अवधारणा के चलते ही आज बहुत-से उपनिवेश स्वतंत्र हो गए हैं और जो नहीं हुए हैं, वे आत्म-निर्णय और स्वतंत्रता की निरंतर माँग करते रहे हैं। अब यह प्रतीत होने लगा है कि उपनिवेशवाद और अधिक दिनों तक नहीं रहनेवाला है। आज स्वतंत्र राज्यों का उद्भव हो गया है, क्योंकि साम्रज्यवादी देशों ने उपनिवेशों की सिर्फ राजनीतिक स्वतंत्रता ही नहीं छीनी, वरन उनका शोषण भी किया है। ब्रिटेन की औपनिवेशिक सत्ता से मुक्त होकर 15 अगस्त, 1947 से ही भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में अपनी भूमिका निभा रहा है। ब्रिटेन के साम्राज्यवादियों ने इस प्रकार भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका और बर्मा को गुलामी की जंजीर से मुक्त कर दिया। विश्व के अन्य उपनिवेशवादी देशों ने भी इसका अनुकरण किया। 1945 ई० के बाद पराधीन देश बड़ी तेजी से स्वतंत्र होने लगे। आज अफ्रीकी तथा एशियाई देशों में स्वतंत्र राज्यों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। **सूडान, घाना, गिनी, कैमरून, नाइजीरिया, तंजानिया, यूथोपिया, नामीबिया** आदि देश स्वतंत्र हो चुके हैं।

राज्य के विकासक्रम की विशेषताएँ (Characteristics of the Evolution of the State)

प्रो० गेटेल ने राज्य के विकासक्रम की निम्नलिखित पाँच विशेषताएँ बताई हैं—

1. राज्य का विकास सरलता से जटिलता की ओर—राज्य का प्रारम्भिक संगठन बहुत सरल था। मानव-जीवन के विकास के साथ-साथ राज्य का संगठन जटिलतर हो गया और इसके कार्य बढ़ते गए।

2. राज्यों के क्षेत्र और जनसंख्या में वृद्धि—प्रारंभिक राज्यों का क्षेत्र छोटा होता था और उनकी जनसंख्या बहुत कम थी। समय के साथ-साथ राज्यों की जनसंख्या और आकार में वृद्धि हुई। आधुनिक राष्ट्रीय राज्य लाखों वर्गमील क्षेत्र में फैले हैं। इनमें कुछ की संख्या करोड़ों में है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

3. राजनीतिक चेतना का विकास—राज्य के विकास के साथ-साथ नागरिकों में राजनीतिक चेतना का भी विकास होता गया। राजनीतिक चेतना के इस विकास ने प्रतिनिधि जनतंत्र और संघात्मक राज्य जैसे शासन के नवीन रूपों को खोज निकाला। आज भी बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार राज्य के स्वरूप और संगठन में परिवर्तन किया जा रहा है।

4. राज्य का धर्म से अलग होना—राज्य के विकास के प्रारंभिक स्तरों पर राज्य और धर्म एक-दूसरे से संयुक्त थे, परन्तु वर्तमान समय में राज्य और धर्म एक-दूसरे से अलग हो गए हैं। आज धर्म-निरपेक्ष राज्य को मान्यता प्राप्त है।

5. प्रभुसत्ता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता में समन्वय—राज्य के विकास के प्रारंभिक स्तरों पर सामान्यतया निरंकुश शासन-व्यवस्थाएँ थीं। राज्य के विकास के साथ-साथ यह समझा गया कि राज्य की प्रभुसत्ता की तरह व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी आवश्यक है। परिणामस्वरूप, राज्य की प्रभुसत्ता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता में समन्वय का मार्ग अपनाया गया।

6. कुछ अन्य प्रवृत्तियाँ—राज्य के विकास-क्रम के संबंध **प्रो॰ गेटेल** द्वारा बताई गई उपर्युक्त प्रवृत्तियों के अलावा कुछ अन्य प्रवृत्तियाँ भी हैं—

(i) विशाल राज्यों में भी प्रजातंत्र की स्थापना—प्राचीन काल में प्रजातंत्र की स्थापना छोटे-छोटे राज्यों में होती थी। आज अप्रत्यक्ष तथा प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्र के विकास के चलते विशाल आकार के राज्यों में भी प्रतिनिध्यात्मक जनतंत्र को अपनाना संभव हो सका है। संघीय राज्यों के उदय से भी इस प्रक्रिया में सहायता मिली है।

(ii) विश्व संघ की स्थापना—अभी भी राज्य अपने विकास की पूर्ण स्थिति में नहीं पहुँच पाया है। आज जो औपनिवेशिक साम्राज्य की समाप्ति हो रही है उससे राष्ट्रवाद के पहले के विचार भी समाप्त हो रहे हैं और उनकी जगह अब अंतरराष्ट्रीयता की भावना घर करती जा रही है। संचार और संवहन के साधनों में विकास, अंतरराष्ट्रीय व्यापार का विस्तार और विभिन्न अंतरराष्ट्रीय संगठनों की स्थापना ने अंतरराष्ट्रीयता की भावना को आज काफी आगे बढ़ा दिया है। आज यह बात कही जाने लगी है कि जहाँ हमारे पूर्वज राष्ट्रीय थे वहाँ हम अंतरराष्ट्रीय हो गए हैं। आज यह सुझाव दिया जा रहा है कि विश्व-राष्ट्र-संघ (world federation) के आधार पर संगठित एक विश्व-राज्य का निर्माण होना चाहिए। प्रो॰ लॉस्की विश्व-राष्ट्र-संघ के निर्माण के अत्यंत बड़े समर्थक हैं। उनका कहना है कि राष्ट्र-राज्य सामाजिक संगठन की अंतिम इकाई नहीं है। सी॰ ए॰ स्ट्रीट ने अपनी पुस्तक *'Union Now'* में लोकतंत्रात्मक राष्ट्रीय राज्यों के एक विश्व-संघ की कल्पना की है। इस प्रकार विश्व-सरकार की स्थापना की दिशा में कुछ वर्षों से निरंतर प्रगति हो रही है। संयुक्त राष्ट्र (UN) की स्थापना और उसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता इस संबंध में काफी सहायता पहुँचा सकती है। यह संगठन तभी सफल हो सकता है जब प्रत्येक राज्य अपनी राज्य-सत्ता (sovereignty) के कुछ अंश इसे सौंप दे और इसके नियमों को मानने के लिए बाध्य हो जाए। संघ-शासन से विश्व राजनीति की समस्याओं को सुलझाया जा सकता है।

स्वतंत्र राज्यों के सुदृढ़ीकरण की समस्या

राज्य के विकास संबंधी उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य के विकास का भविष्य अभी स्पष्ट नहीं है। उसके विस्तार की विधि अभी अंतिम स्तर तक नहीं पहुँच पाई है। वास्तविकता है कि राज्य का विकास-क्रम अभी जारी है। आधुनिक राज्यों की प्रकृति कल्याणकारी होती जा रही है और प्रत्येक राज्य की सारी शक्ति नियोजन की ओर लगी हुई है। आधुनिक राज्य का प्रत्येक नागरिक समस्त राष्ट्र की उन्नति के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी है। राज्य के भविष्य के संबंध में निश्चित रूप से आज कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आज स्वतंत्र राज्यों की समस्याएँ पश्चिम के विकसित और साम्यवादी देशों से भिन्न हैं। स्वतंत्र राज्यों की संख्या आज इतनी अधिक हो गई है कि विश्व राजनीति में उनकी आवाज को अनसुना नहीं किया जा सकता। इन स्वतंत्र राज्यों को हम **तृतीय विश्व** (Third world) या **विकासशील देश** (developing area) के नाम से पुकारते हैं। इन राज्यों के सुदृढ़ीकरण के लिए निम्नलिखित तथ्यों पर ध्यान देना होगा—

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. आर्थिक और सामाजिक समृद्धि—तृतीय विश्व के ये राज्य आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। साम्राज्यवादी देशों ने सैकड़ों वर्षों से इनका शोषण किया है। परिणामस्वरूप, इनकी कृषि और उद्योग बर्बाद हो गए हैं। इन राज्यों के सुदृढ़ीकरण के लिए उनकी आर्थिक और सामाजिक समृद्धि में वृद्धि करना होगा।

2. राजनीतिक स्थायित्व—राजनीतिक अस्थिरता तृतीय विश्व के देशों की सबसे बड़ी कमी है। इनकी सरकारों में निरंतर परिवर्तन होता रहा है और ये बाह्य देशों के हमले के खतरों से भयभीत रहते हैं। इस प्रकार, नवोदित देशों के सुदृढ़ीकरण के लिए इन देशों की सरकारों को उथल-पुथल से बचाना होगा तथा इनके लोकतंत्र और प्रशासन को सुदृढ़ बनाना होगा।

3. तृतीय विश्व के देशों की पारस्परिक एकता— नए अफ्रीकी तथा एशियाई देशों की अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए आपस में एकता स्थापित करनी होगी। इनकी पारस्परिक एकता के लिए निर्गुट आंदोलन आज काफी सक्रिय है।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर ही तृतीय विश्व के नवोदित राष्ट्रों की समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। आधुनिक राष्ट्र राज्य के विकास के लिए इन समस्याओं पर काबू पाना अत्यंत आवश्यक है।

प्रश्नावली

1. प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक राज्य के विकास का वर्णन कीजिए।
   (Trace the evolution of the State from the primitive times to the present day.)
2. आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों के उदय और विकास का वर्णन कीजिए।
   (Discuss the origin and evolution of the Modern Nation State.)
3. राज्य के विकास पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिए। राज्य के विकास-क्रम की विशेषताएँ बताएँ।
   (Write a brief essay on the evolution of the State. What are the characteristics of the evolution of State ?)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 12

संप्रभुता : ऑस्टिन का अद्वैतवादी सिद्धांत
[SOVEREIGNTY : AUSTIN'S MONISTIC THEORY]

1. एक राज्य का दूसरे राज्य से क्या संबंध होता है, उसका अपने नागरिकों से क्या संबंध होता है तथा एक नागरिक का दूसरे नागरिक से क्या संबंध होता है, यह तभी जाना जा सकता है जब हम राज्य के उस तत्त्व पर विचार करें, जो उसे अन्य समुदायों से पृथक करता है तथा जिसे हम प्रभुता कहते हैं।—गेटेल

2. संप्रभुता राज्य की वह विशेषता है जिसके आधार पर उसकी अपनी इच्छा के अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति सीमित नहीं कर सकती।—जेलिनेक

3. यदि किसी समाज का अधिकांश एक निश्चित प्रधान व्यक्ति की आज्ञा का साधारणतः पालन करता है और उस निश्चित प्रधान व्यक्ति को साधारणतः किसी अन्य प्रधान की आज्ञा नहीं माननी पड़ती है तो उस समाज में वह निश्चित व्यक्ति संप्रभु होता है तथा वह समाज स्वतंत्र राज्य होता है।—ऑस्टिन

विषय-प्रवेश (Introduction)

जनता, प्रदेश, सरकार तथा प्रभुता—राज्य के इन चार मूल तत्त्वों में प्रभुता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसकी महत्ता इसलिए है कि यह राज्य की ऐसी विशेषता का सूचक है जिसके द्वारा राज्य को अन्य समुदायों से भिन्न समझा जाता है। इसकी महत्ता का दूसरा कारण यह है कि इसके द्वारा राज्य आंतरिक दृष्टि से सर्वोच्च तथा बाह्य दृष्टि से स्वतंत्र हो जाता है। इससे सरकार के कानूनों तथा आदेशों को सार्थकता प्राप्त हो जाती है और लोग स्वभावतः उसका पालन करने लगते हैं। इसकी महत्ता का यह भी कारण है कि इसके द्वारा राज्य के निवासियों में एकता की भावना का प्रादुर्भाव होता है; क्योंकि वे सब एक ही सर्वोच्च शक्ति की अधीनता में रहकर एकता अनुभव करते हैं। इसीलिए राज्य और शासन के अध्ययन के साथ-साथ प्रभुता-संबंधी विचारों का अध्ययन भी अत्यंत आवश्यक है।

राजनीतिशास्त्र में 'प्रभुता' नामक तत्त्व अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यही एकमात्र ऐसा तत्त्व है जो राज्य को अन्य संघों से अलग करता है।[1] प्रभुता शब्द की व्याख्या और विकास की एक लम्बी कहानी है। राजनीतिशास्त्र में राज्य की सर्वोच्च सत्ता को लेकर एक बहुत लम्बा विवाद रहा है। 11वीं शताब्दी में यह संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था तथा पोप ग्रेगरी सप्तम और हेनरी अष्टम के मध्य खूब विवाद रहा। 14वीं शताब्दी में 'आधुनिक राज्य' के सिद्धांत की नींव पड़ी। प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक **मैकियावेली** ने राज्य के सर्वोच्च सत्ता के सिद्धान्त की स्थापना की। उसने तर्क दिया कि राज्य की शक्ति सर्वोच्च है और चर्चसहित सभी अन्य संघ राज्य के अधीन हैं। **मैकियावेली** ने प्रभुता शब्द का उपयोग नहीं किया था। उसके उत्तराधिकारी बोदाँ ने अपनी पुस्तक *Six Books Concerning Republic* के अंतर्गत प्रभुता के सिद्धांत कीं व्याख्या की, परन्तु उसने राज्य की शक्ति पर कुछ नियंत्रण स्वीकार किए। उस समय तक भी राज्य की शक्ति सर्वोच्च और निरंकुश रूप में स्वीकार नहीं की गई थी। स्पष्ट शब्दों में **हॉब्स** ने राज्य की निरंकुश शक्ति की स्थापना की। उसने अपने प्रसिद्ध **लेवियाथन** *(Leviathan)* में यह प्रतिपादित किया है कि "राजा सर्वोपरि है और उसकी इच्छा ही कानून है।" हॉब्स के बाद लॉक, रूसो और मॉण्टेस्क्यू आदि ने भी संप्रभुता के सिद्धांत का विकास किया। लेकिन, संप्रभुता को कानूनी आवरण पहनाने का श्रेय प्रसिद्ध न्यायशास्त्री ऑस्टिन को है।

1. "It is by possession of sovereignty that the State is distinguished from other forms of human associations."—H.J. Laski : *A Grammar of Politics*

WWW.GRADESETTER.COM

संप्रभुता का अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Sovereignty)

अब हमें यह विचार करना है कि 'संप्रभुता' का क्या अर्थ है। राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत किसी भी शब्द पर इतना अधिक विवाद और भ्रम नहीं है जितना इस शब्द पर है। 'संप्रभुता' शब्द का प्रयोग अनेक तरह से होता है और इन प्रयोगों के बीच कोई स्पष्ट भेद नहीं किया जाता। **विलोबी** का कहना है कि राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत ऐसा अन्य कोई शब्द नहीं है जिसके संबंध में विद्वानों में इतनी अधिक मतभिन्नता हो। अर्थशास्त्र में जो स्थान 'अर्थ', अर्थात धन का है वही स्थान राजनीतिशास्त्र में संप्रभुता का है। जहाँ तक व्युत्पत्ति की दृष्टि से संप्रभुता के अर्थ का प्रश्न है, यह अँगरेजी शब्द 'सवरेण्टी' (sovereignty) का हिन्दी रूपांतर है। Sovereignty शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के *superanus* तथा *super* शब्दों से हुई है जिनका अर्थ परम (supreme) होता है, अर्थात संप्रभुता का अर्थ हर स्वतंत्र राज्य में एक ऐसी अन्तिम सत्ता से है जिसके आगे पुनः कोई अपील नहीं होती और यह सत्ता देश के बाहरी और आंतरिक सभी मामलों में सबसे ऊपर है। इसी से **जेलिनेक** ने कहा है, "संप्रभुता राज्य की वह विशेषता है जिसके आधार पर उसकी अपनी इच्छा के अतिरिक्त इसको कोई अन्य शक्ति सीमित नहीं कर सकती।" अपने दूसरे अर्थ में प्रत्येक मानव-समुदाय की तरह संप्रभुता भी राज्य-रूपी मानव संघ की स्वतंत्र इच्छा है जिसे कानून के रूप में प्रकट किया जाता है। चूँकि यह स्वतंत्र इच्छा सर्वोच्च एवं शक्तिशाली होती है इसलिए इस इच्छा को हम संप्रभुता कहते हैं। अर्थात संप्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा-शक्ति का दूसरा नाम है जिसके अन्दर राज्य के सभी व्यक्ति, संस्थाएँ तथा समुदाय होते हैं।

संप्रभुता के पहलू (Aspects of Sovereignty)

संप्रभुता के दो पहलू या स्वरूप हैं—

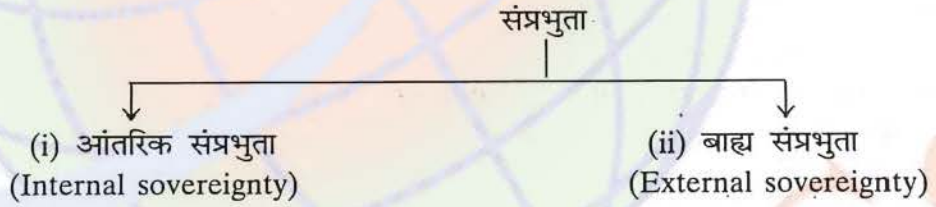

(i) **आंतरिक संप्रभुता**—आंतरिक संप्रभुता का अर्थ है कि राज्य अपनी सीमा के अंतर्गत सर्वोच्च एवं संपूर्ण शक्तिसंपन्न है। यह प्रत्येक मानव, समूह तथा संस्था को आदेश दे सकता है और उसका पालन करने के लिए बाध्य कर सकता है। अपनी आज्ञा का उल्लंघन करनेवालों को वह कठोर दण्ड दे सकता है। अतः, आंतरिक क्षेत्र में राज्य सर्वोच्च सत्ता है। **लॉस्की** ने आंतरिक संप्रभुता के संबंध में कहा है, "वह अपने क्षेत्रांतर्गत सभी व्यक्तियों तथा समुदायों को आदेश देती है और यह उनमें से किसी की भी आज्ञा नहीं मानती। उसकी इच्छा पर किसी प्रकार का कानूनी बंधन नहीं है। किसी विषय में केवल अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र से ही उसे वे सारे अधिकार मिल जाते हैं, जिसे वह करना चाहती है।"[1]

(ii) **बाह्य संप्रभुता**—बाह्य संप्रभुता का अर्थ यह है कि राज्य बाहरी शक्ति के नियंत्रण में नहीं है। आंतरिक क्षेत्र में अपनी स्वतंत्रता के समान ही राज्य बाहरी क्षेत्र में भी बिल्कुल स्वतंत्र होता है। राज्य अपनी इच्छा से अन्य राज्यों के साथ अपना संबंध निश्चित कर सकता है तथा अपने इच्छानुसार युद्ध या संधि कर सकता है। राज्य स्वेच्छा से अंतरराष्ट्रीय नियमों द्वारा आरोपित प्रतिबंध को लादता है। अतएव, अंतरराष्ट्रीय नियमों से मर्यादित होने का अर्थ उस पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं होता। **लॉस्की** के शब्दों में, "आधुनिक राज्य प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य होता है। अतः, वह अन्य राष्ट्रों के समक्ष स्वतंत्र होता है। अपनी इच्छा को उस संबंध में इस प्रकार व्यक्त कर सकता है कि उस पर किसी भी बाह्य शक्ति के किसी प्रभाव की

1. "It issues orders to all men and all associations within that area, it receives orders from none of them. Its will is subject to no legal limitations of any kind. What it proposes is a right by mere announcement of intention."—H. J. Laski : *A Grammar of Politics*, p. 44.

WWW.GRADESETTER.COM

आवश्यकता नहीं होती।''[1] अनेक विद्वानों ने संप्रभुता के इस भेद को न्यायसंगत नहीं माना है। उनके विचारानुसार आंतरिक संप्रभुता में ही यह भाव निहित है कि राज्य किसी बाह्य शक्ति के अधीन नहीं है। अतएव, 'बाह्य संप्रभुता' शब्द का प्रयोग उचित नहीं है। **प्रो॰ गार्नर** का कहना है कि 'बाह्य संप्रभुता' के स्थान पर स्वतंत्रता शब्द का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि बाह्य संप्रभुता से ऐसा लगता है कि राज्य अपनी सीमा से बाहर भी कुछ मामलों में संप्रभु है जो कि तथ्य के विपरीत है। **गेटेल** के मतानुसार प्रभुता का बाह्य रूप विदेशी राज्यों के व्यवहार के विषय में आंतरिक प्रभुता की अभिव्यक्तिमात्र है। उसके अनुसार ''जिसे हम बाह्य प्रभुता कहते हैं, वह वस्तुतः अधिकारों की वह पूर्णता है, जिसके द्वारा विदेशी राज्यों से व्यवहार के विषय में आंतरिक संप्रभुता की अभिव्यक्ति होती है।'' इस प्रकार, गेटेल के विचार प्रभुता के बाह्य रूप के संबंध में अन्य लेखकों से कुछ भिन्नता लिए हुए है। उन्होंने राज्य की बाह्य प्रभुता का **दो** अर्थ लगाया है। बाह्य प्रभुता के **पहले अर्थ** का संबंध उस शक्ति से है जिसके द्वारा राज्य अन्य राज्यों से व्यवहार करता है, युद्ध घोषित करता है, संधि करता है। इसके **दूसरे अर्थ** का संबंध वातावरण के उस अधिकार से है जिसके कारण राज्य अन्य राज्यों के नियंत्रण और उसकी अधीनता से मुक्त रहता है। गेटेल ने बाह्य प्रभुता को केवल **दूसरे अर्थ** में ठीक माना है, क्योंकि **पहले अर्थ** को मानने का तात्पर्य यह होता है कि राज्य को अन्य राज्यों की भूमि में भी सर्वोच्च शक्ति प्राप्त होती है, जो उचित नहीं कहा जा सकता है। परन्तु, **दूसरे अर्थ** का यह तात्पर्य लगाना वस्तुतः वास्तविकता के अनुकूल नहीं है, क्योंकि अन्य राज्यों से जैसा चाहे वैसा व्यवहार करने की शक्ति प्राप्त होने का अर्थ यह नहीं है कि उसके द्वारा एक राज्य को अन्य राज्यों की भूमि में भी सर्वोच्चता के अधिकार प्राप्त होते हैं, वरन उसका अर्थ केवल यही है कि उसे अन्य राज्यों से अपने इच्छानुसार संबंध स्थापित करने की स्वतंत्र शक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार गेटेल ने बाह्य प्रभुता के जो अर्थ लिए हैं, वस्तुत अभिप्राय एक ही है और वह यह है कि बाह्य दृष्टि से राज्य की प्रभुत्व-संपन्नता का अर्थ यह है कि वह अन्य राज्यों से व्यवहार करने में पूर्ण स्वतंत्र होता है और अन्य राज्यों के किसी दबाव के बिना वह अपने वैदेशिक संबंधों का संचालन करता है।

संप्रभुता की परिभाषाएँ (Definitions of Sovereignty)

राजनीतिशास्त्र के विभिन्न विद्वानों ने 'संप्रभुता' शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ की हैं। कुछ उल्लेखनीय परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

बोदाँ (Bodin)—''संप्रभुता नागरिकों तथा प्रजा-जनों के ऊपर परमशक्ति है जो विधि द्वारा नियंत्रित नहीं है।''[2]

बर्गेस (Burgess)—''संप्रभुता व्यक्तियों तथा व्यक्ति-समूहों के उपर मौलिक, निरंकुश तथा असीम शक्ति है।''[3]

ब्लैकस्टोन (Blackstone)—''संप्रभुता वह सर्वोच्च अनिवार्य और अनियंत्रित सत्ता है जिसके आश्रय में बड़े-बड़े कानून होते हैं।''[4]

जेलिनेक (Jellinek)—''संप्रभुता राज्य का वह गुण है जिसके द्वारा राज्य अपनी इच्छा तथा शक्ति के अतिरिक्त और किसी कानून से सीमित नहीं है।''[5]

---

1. "The modern state is a sovereign state. It is, therefore, independent in the face of other communities. It may infuse its will towards them with a substance which need not be affected by the will of any external power."—H. J. Laski : *Ibid*
2. "Sovereignty is the supreme political power over citizens and subjects unrestrained by law."
—Bodin : Quoted by Garner *in Political Science and Government*, p. 159.
3. "Sovereignty is the original, absolute and unlimited power over individual subject and association of subject."—Burgess : *Political Science and Constitutional Law*, vol. I, p. 52
4. "It is the supreme, irresponsible, absolute, uncontrolled authority in which the *Jura summre imperl* resides."—Blackstone
5. "It is that characteristics of the state by virtue of which it cannot be legally bound except its own will or limited by any other power than itself."
—Jellinek : Quoted by Garner in *Political Science and Government*, p. 156.

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

डयूग्वी (Duguit)—"संप्रभुता राज्य की आज्ञा देने की शक्ति है। यह राज्य के रूप में संगठित राष्ट्र की इच्छा है। इसे राज्य की सीमा के अन्दर सब व्यक्तियों को बिना शर्त आदेश देने का अधिकार है।"[1]

सर फ्रेडरिक पोलॉक (Sir Frederick Pollock)—"संप्रभुता वह शक्ति है जो न तो अस्थायी होती है और न किसी ऐसे नियमों के अंतर्गत आती है जिन्हें वह स्वयं न बदल सके।"[2]

विलोबी (Willoughby)—"संप्रभुता राज्य की सर्वोपरि इच्छा है।"[3]

विल्सन (Wilson)—"वह शक्ति जो हमेशा क्रियाशील रहकर कानून बनाती है और उसका पालन कराती है।"[4]

क्रेनेनबर्ग (Kranenburg)—"राज्य का यह प्राकृतिक गुण है कि वह अपनी इच्छा दूसरों पर बिना किसी शर्त के लागू कर सकता है। शासन की यही परिभाषा है और यह राज्य का मौलिक तत्त्व है कि वह शासन करे।"

ऑस्टिन (Austin)—"यदि किसी समाज का अधिकतर भाग एक निश्चित प्रधान व्यक्ति की आज्ञा का साधारणतः पालन करता है, उस निश्चित प्रधान व्यक्ति को साधारणतः किसी अन्य प्रधान की आज्ञा नहीं माननी पड़ती, तो उस समाज में वह निश्चित व्यक्ति संप्रभु होता है, तथा वह समाज (उस प्रधान सहित) स्वतंत्र राज्य होता है।"[5]

गेटेल—"यदि उचित रूप में कहा जाए तो प्रभुता का संबंध राज्य तथा उसके निवासियों के संबंध से है, वह अंतरराष्ट्रीय कानून का शब्द न होकर सांविधानिक कानून का शब्द है। वह कानूनी विचार है और उसका संबंध विधिपरक कानून से है।"[6]

विकास (Evolution)

संप्रभुता के इतिहास को निम्नांकित तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) **प्राचीन युग** (Ancient age)—ग्रीक दार्शनिक **अरस्तू** ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स' *(Politics)* में राज्य के अंतर्गत एक सर्वोच्च शक्ति या सत्ता का अनुभव किया था और वही सर्वोच्च शक्ति आज की संप्रभुता है। प्राचीन रोम में भी एक 'सर्वोच्च सत्ता' का उल्लेख मिलता है जिसे 'सूमा पोटेस्टास' *(Summa Potestas)*, अर्थात 'सर्वोच्च सत्ता' और 'प्लेनीच्यूडो पोटेस्टैटिस' *(Plenitudo Potestatis)*, अर्थात 'संपूर्ण सत्ता' कहते थे। इस प्रकार प्राचीन यूनान तथा रोम में संप्रभुता संबंधी विचारों का आभास मिलता है। फिर भी, प्राचीन युग संप्रभुता का सही-सही रूप हमारे सामने प्रस्तुत नहीं करता।

(ii) **मध्य युग** (Medieval age)—मध्य युग में भी आधुनिक युग की तरह संप्रभुता का विकास नहीं हो पाया था। **फिगिस** (Figgis) ने कहा है, "आधुनिक अर्थ में संप्रभु नाम की कोई वस्तु मध्य युग में नहीं थी।" इसका कारण यह था कि (i) उन दिनों पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) को विश्वव्यापी समझा जाता था, जिसके कारण स्वतंत्र संप्रभुतापूर्ण राज्यों की स्थापना संभव नहीं थी। (ii) रोमन साम्राज्य तथा रोमन चर्च एक-दूसरे की प्रधानता को मानने के लिए तैयार नहीं थे और इस प्रकार दोनों में संघर्ष चलता रहा। (iii) सामांतशाही व्यवस्था ने भी संप्रभुता के मार्ग में एक अवरोध का काम किया था।

---

1. "Sovereignty is the commanding power of the state, it is the will of the nation organized in the state, it is the right to give unconditional order to all individuals in the territory of the state."—DUGUIT, *Droit Constitutional*, vol. I. p. 113.
2. "Sovereignty is that power which is neither temporary nor delegated, nor subject to particular rules which it cannot alter, nor answerable to any other power on earth."—POLLOCK : *History of the Science of Politics*, p. 49.
3. "Sovereignty is the supreme will of the state."—WILLOUGHBY : *The Nature of the State*, p. 280.
4. "The daily operative power of framing and giving efficacy to the law."—WOODROW WILSON
5. "If a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior, receives habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is sovereign in that society and the society including the superior is a society political and independent."—AUSTIN
6. "Sovereignty, properly speaking, deals with the internal relations of a state to its inhabitants . It is a term of constitutional law rather than of internal law. It is a legal concept and deals with positive law only."—GETTELL : *Political Science*, p. 123.

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(iv) चौथी कठिनाई यह थी कि उन दिनों लोग प्राकृतिक तथा ईश्वरीय विधान में विश्वास करते थे। लेकिन, इन समस्त कठिनाइयों के बावजूद टॉमस एक्वीनॉस (Thomas Aquinas), मार्सीलियो ऑफ पदुआ, विलियम ऑफ ओकम इत्यादि विचारकों ने लोकप्रिय संप्रभुता के विकास का प्रयास किया।

(iii) **आधुनिक युग** (Modern age)—16वीं शताब्दी से संप्रभुता का आधुनिक काल प्रारंभ होता है। मध्ययुग के अंत में सामंतों की शक्ति क्षीण हो गई और राजा शक्तिशाली हो गया। यूरोप की औद्योगिक क्रांति ने एक मध्यवर्ग को जन्म दिया जिसने शक्तिशाली सरकार की स्थापना में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। 1576 ई० में प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान बोदाँ ने अपनी पुस्तक **गणतंत्र** *(Republic)* में पहली बार संप्रभुता के सिद्धांत का आधुनिक अर्थ में प्रयोग किया। 1625 ई० में हॉलैंड के प्रसिद्ध विद्वान ग्रोशियस ने संप्रभुता के बाह्य पक्ष का स्पष्टीकरण किया। आधुनिक संप्रभुता की वास्तविक नींव हॉब्स के द्वारा डाली गई, जिसने बोदाँ द्वारा प्रस्तुत संप्रभुता के सिद्धांत में काफी सुधार किया। हॉब्स के बाद जॉन लॉक ने हॉब्स की निरंकुश संप्रभुता के स्थान पर वैधानिक संप्रभुता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उसने संप्रभुता के स्थान पर 'सर्वोच्च शक्ति' शब्द का प्रयोग किया। लॉक के बाद संप्रभुता को लोकप्रिय बनानेवालों में रूसो का महान योगदान है। रूसो ने आधुनिक संप्रभुता को एक प्रजातांत्रिक रूप दिया है। रूसो के बाद बेन्थम तथा ऑस्टिन ने संप्रभुता का विकास वैधानिक दृष्टि से किया है। ऑस्टिन ने हॉब्स की तरह ही संप्रभुता को निरंकुश, असीमित तथा अविभाज्य बताया है। उसके बाद टी० एच० ग्रीन, बोसाँके आदि आर्दशवादी विचारकों ने दार्शनिक आधार पर राज्य की सर्वोच्चता को स्वीकार किया और संप्रभुता को अद्वैत माना। लेकिन, आज के बहुलवादियों ने संप्रभुता की इस धारणा को चुनौती देते हुए उसे सीमित, विभाज्य तथा भ्रामक बताया है।

संप्रभुता के विभिन्न रूप
(Different Forms of Sovereignty)

राजनीतिशास्त्र के विद्वानों ने संप्रभुता के अनेक प्रकार बताए हैं और ये विभिन्न प्रकार संप्रभुता के भेद नहीं, वरन उसके विभिन्न रूप हैं। संप्रभुता के प्रमुख रूपों को हम निम्नांकित तरह से रख सकते हैं—

1. नाममात्र की संप्रभुता (nominal sovereignty),
2. वैधानिक या कानूनी संप्रभुता (legal sovereignty),
3. राजनीतिक संप्रभुता (political sovereignty),
4. सार्वजनिक संप्रभुता (popular sovereignty) और
5. वैध तथा वस्तुतः संप्रभुता (*de jure* and *de facto* sovereignty)।

1. नाममात्र की संप्रभुता (Nominal sovereignty)—हर शासन-व्यवस्था में नाममात्र की और वास्तविक संप्रभुता के दर्शन होते हैं। किसी भी शासन-व्यवस्था में नाममात्र की संप्रभुता वह संप्रभुता है जिसमें राज्य का अध्यक्ष नाममात्र का या सांविधानिक प्रधान होता है। वास्तविक शक्ति किसी अन्य व्यक्ति या प्राधिकारी में निवास करती है। इस संप्रभुता को ध्वजमात्र संप्रभुता (titular sovereignty) या औपचारिक संप्रभुता भी कहते हैं। इसमें राज्य का प्रधान केवल औपचारिक प्रधान होता है। उदाहरण के लिए, इंगलैंड का संविधान राजा को नाममात्र का प्रधान घोषित करता है। वास्तविक संप्रभुता ब्रिटिश मंत्रिमंडल में निहित है। राजा से केवल परामर्श लिया जाता है। मंत्री लोग वास्तविक संप्रभुता (real sovereignty) का प्रयोग करते हैं। इंगलैंड में राजा ने अब किसी भी प्रकार की सत्ता-प्रयोग करना त्याग दिया है और उसकी सत्ता नाममात्र की रह गई है।

2. वैधानिक या कानूनी संप्रभुता (Legal sovereignty)—वैधानिक संप्रभुता वैधानिक या कानूनी दृष्टिकोण से संप्रभुता का विश्लेषण है। प्रत्येक राज्य में कोई ऐसी अधिकार-शक्ति होती है जिसे वैध रूप में कानून बनाने का अधिकार प्राप्त रहता है और जिसका पालन नागरिक करते हैं। इस तरह की आधार-शक्ति को वैध संप्रभुता (legal sovereignty) कहा जाता है जो असीमित होती है। राज्य में सब कानून उसी के नाम से लागू और प्रचलित किए जाते हैं। **गार्नर** ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा है, "वैध प्रभुत्व वह निश्चित सत्ता है जो राज्य के सर्वोच्च आदेशों को वैधानिक रूप में व्यक्त कर सके तथा वह सत्ता जो दैवी कानूनों, नैतिक सिद्धांतों तथा जनमत की उपेक्षा कर सके।" डायसी ने भी लिखा है कि वैध संप्रभुता कानून बनानेवाली वह शक्ति है जो अन्य किसी भी कानून या विधि से मर्यादित नहीं होती। न्यायालय भी इन्हीं कानूनों को मान्यता प्रदान करता है। इंगलैंड की संसद में केवल वैधानिक संप्रभुता निहित है, क्योंकि संसद

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

द्वारा बनाए गए अधिनियमों का पालन सारे इंगलैंड में किया जाता है। संसद के इस अधिकार पर किसी प्रकार का बंधन या सीमा नहीं लगाई जा सकती। **डायसी** का कहना है, "ब्रिटिश संसद इतनी सर्वशक्ति-संपन्न है कि वह शिशु को वयस्क बना सकती है तथा मृत्यु के बाद किसी व्यक्ति को राजद्रोही तथा अपराध-भागी बना सकती है। वह किसी नाजायज बच्चे को जायज ठहरा सकती है तथा उचित समझे तो किसी भी आदमी को उसी के मुकदमे में न्यायाधीश बहाल कर सकती है।" इस प्रकार, कानूनी या वैधानिक संप्रभुता के लिए दैवी नियम, नैतिकता, जनमत इत्यादि का कोई महत्त्व नहीं है। संक्षेप में, वैधानिक संप्रभुता के निम्नांकित स्वरूपों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

(i) वैध प्रभुता हमेशा स्थिर एवं निश्चयात्मक है।

(ii) वैध प्रभुता या तो राजा के व्यक्तित्व में निवास करती है जैसाकि निरंकुश या स्वेच्छाचारी राजतंत्र में या वह व्यक्तियों के एक दल अथवा समुदाय में निहित हो सकती है जैसाकि लोकतंत्र में।

(iii) यह स्थिर रूप में संगठित, स्पष्ट और कानून द्वारा मान्य होती है।

(iv) राज्य की इच्छा को वैध दृष्टि से घोषित करने का केवल वैध प्रभुता को अधिकार है।

(v) वैध प्रभु की आज्ञाओं के उल्लंघन का तात्पर्य शारीरिक दंड होता है।

(vi) सारे अधिकार वैध प्रभु से उत्पन्न होते हैं और वही अधिकार-शक्ति उनको वापस ले सकती है।

(vii) वैध प्रभु की अधिकार-शक्ति स्वेच्छाचारी, असीम और सर्वोच्च होती है।

3. राजनीतिक संप्रभुता (Political sovereignty)—कानूनी या वैधानिक संप्रभुता की असीमित सत्ता सिर्फ एक सैद्धांतिक पहलू है। व्यवहार में कानूनी संप्रभुता राजनीतिक संप्रभुता से सीमित होती है। किसी भी वैध प्रभु की स्वेच्छाचारी और असीमित अधिकार-शक्ति सबकी उपेक्षा करके कार्य नहीं कर सकती। राजनीतिक संप्रभुता एक महत्त्वपूर्ण संप्रभु है जिसके समक्ष कानूनी संप्रभु को झुकना पड़ता है। **डायसी** ने लिखा है, "जिस संप्रभुता को वकील स्वीकार करते हैं उसके पीछे एक दूसरा संप्रभु रहता है जिसके सामने वैधानिक या कानूनी संप्रभुता को सर झुकाना पड़ता है।" राजनीतिक संप्रभु की इच्छा में ही राज्य की अंतिम शक्ति निहित है। राजनीतिक संप्रभुता का आधार है, अर्थात वैधानिक संप्रभु के पीछे जो संचालन-शक्ति है, उसे ही हम राजनीतिक संप्रभुता कहते हैं। वैधानिक या कानूनी संप्रभुता की तरह राजनीतिक संप्रभुता संगठित नहीं है और न इसे देखा ही जा सकता है। यह असंगठित, अनिश्चित तथा अस्पष्ट है। **गिलक्राइस्ट** ने राजनीतिक संप्रभुता को राज्य की उन प्रभावशाली शक्तियों का समूह माना है जो कानून के पीछे रहते हैं।[1] शक्तियों का यह समूह जनमत या निर्वाचकमण्डल या मतदाताओं का समूह होता है, अर्थात राजनीतिक संप्रभुता देश की जनता या मतदाताओं में निवास करती है। इसकी इच्छा के विरुद्ध कानूनी संप्रभुता अधिक दिनों तक टिक नहीं सकती। लेकिन, कानूनी और राजनीतिक संप्रभुता में संबंध भी है। निर्वाचकमंडल अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए कानूनी संप्रभु का निर्वाचन करता है और कानूनी संप्रभु राजनीतिक संप्रभु के हित के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता। अर्थात, राजनीतिक संप्रभुता मौलिक है तो कानूनी संप्रभुता उसका नौकर।

4. सार्वजनिक संप्रभुता (Popular sovereignty)—जब संप्रभुता का निवास जनता या मतदाताओं में होता है तब उसे हम सार्वजनिक या लोकप्रिय संप्रभुता कहते हैं। लोकप्रभुता का सिद्धांत 16वीं और 17वीं सदियों की उपज है। रूसो लोकप्रभुता का सबसे बड़ा समर्थक था। फ्रांसीसी क्रांति का भी यह नारा बन गया था। अमेरिकी स्वतंत्रता-घोषणा में **जेफरसन** (Jefferson) ने इसको स्वीकार किया था। इसलिए अमेरिकी संविधान के रचयिताओं ने यह उल्लेख करते हुए इसे प्रस्तावना में सम्मिलित किया था कि सरकार अपनी अधिकार-शक्ति शासितों से प्राप्त करती है और तब से **ब्राइस** के कथनानुसार, 'लोकप्रभुता लोकतंत्र का आधार और पर्याय' बन गई है।

जहाँ राजतंत्र में सर्वोपरि सत्ता राजा कहलानेवाले व्यक्ति-विशेष में निहित रहती है वहाँ कुलीनतंत्र में वह सत्ता कुछ व्यक्तियों में निवास करती है। लेकिन, लोकतंत्र में शासन-सत्ता वहाँ की जनता में निवास करती है। प्राचीनकाल के छोटे-छोटे राज्यों में कानून की निर्माण-प्रक्रिया से लेकर कानून का पालन करनेवाले तक का कार्य स्वयं जनता करती थी। छोटी आबादी रहने के कारण यह सुविधा जनता को प्राप्त थी। लेकिन, राज्यों की सीमा तथा जनसंख्या में वृद्धि हो जाने के कारण प्रत्यक्ष रूप से किसी राज्य की जनता द्वारा शासन-

1. "Political sovereignty is the sum total of influences in a state which lie behind the law."—GILCHRIST

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

संचालन में कठिनाई पैदा हो गई। आज के राज्यों में लोग परोक्ष रूप से शासन-संचालन की प्रक्रियाओं में भाग लेते हैं तथा शासन-तंत्र को नियंत्रित करते हैं।

आज अमेरिका, भारत तथा विश्व के अधिकांश देशों के संविधानों में सार्वजनिक संप्रभुता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। आधुनिक राज्यों में वयस्क मताधिकार द्वारा सार्वजनिक संप्रभुता का प्रदर्शन होता है। **गिलक्राइस्ट** (Gilchrist) ने भी कहा है, "सार्वजनिक संप्रभुता व्यक्तिगत शासन की सत्ता के विपरीत जनसमुदाय की सत्ता है। इसके प्रतिनिधियों द्वारा विधायिका पर नियंत्रण के अंतर्गत वयस्क मताधिकार तथा जनता के सिद्धांत मूलतः निहित हैं।"

5. वैध तथा वस्तुतः संप्रभुता (*De Jure* and *de facto* sovereignty)—वैधानिक और वास्तविक संप्रभुता में भी अंतर है। वैधानिक *(de jure)* प्रभुता वैध प्रभुता है और इसका आधार कानून में है। इसका गुण शासन और आज्ञापालन के आदेश का अधिकार है। लेकिन, कभी यह स्थिति भी आ जाती है कि वैधानिक प्रभु अपने आदेश पालन कराने की अवस्था में न हो और कोई अन्य प्रभु जिसे विधि में मान्यता प्राप्त न हो, अपना आदेश कराने की अवस्था में हो। संक्षेप में वैध संप्रभुता वह संप्रभुता है जिसे राज्य के संविधान तथा अन्य कानूनों द्वारा मान्यता दी गई हो। दूसरे शब्दों में, "वह सत्ता जिसे कानून के द्वारा सर्वोच्च सत्ता का स्थान दिया गया हो उसे हम वैध संप्रभुता (*de jure* sovereignty) कहते हैं। अर्थात, वैध संप्रभुता के आदेशों एवं आज्ञाओं का पालन करने के लिए नागरिक या प्रजागण कानूनन बाध्य किए जाते हैं।" उसकी आज्ञाओं एवं आदेशों का उल्लंघन करनेवालों को कानून की दृष्टि में दण्ड का भागी समझा जाता है।

वस्तुतः या वास्तविक संप्रभुता (*De facto* sovereignty)—वह सर्वोच्च सत्ता है जो वस्तुतः सर्वोपरि हो, यद्यपि कानून की परिधि के अंतर्गत उसकी सर्वोपरिता स्वीकार नहीं की गई हो। युद्ध, क्रांति या विद्रोह के परिणामस्वरूप जब कोई नई सत्ता राज्य की समग्र शासकीय शक्तियों को प्राप्त कर सर्वोपरि बन जाती है तब उसे हम वस्तुतः संप्रभुता (*de facto* sovereignty) कहते हैं।

वैधानिक और वस्तुतः संप्रभुता में मौलिक अंतर यही है कि पहले का आधार कानून है, जबकि दूसरे का आधार शक्ति। इतिहास वास्तविक *(de facto)* प्रभुशक्तियों के उदाहरणों से भरा पड़ा है। नेपोलियन द्वारा डायरेक्टरी को समाप्त कर शासन को अपने हाथ में लेना, रूस में जार को अपदस्थ कर बोल्शेविकों द्वारा शासन पर अधिकार कर लेना, चीन में च्याँग काई-शेक की सरकार के स्थान पर साम्यवादी शासन की स्थापना, मिस्र में जनरल नजीब, पाकिस्तान मे जनरल अयूब तथा बर्मा में जनरल नी-चीन द्वारा सैनिक क्रांति के माध्यम से शासन को हथियाना इत्यादि घटनाएँ वास्तविक संप्रभुता के उदाहरण हैं। जब वास्तविक संप्रभु स्थायी हो जाता है तब वह क्रमशः वैधानिक संप्रभुता का रूप ग्रहण कर लेता है। **प्रो॰ गार्नर** ने भी कहा है, "वह प्रभुत्व जो अपनी शक्ति को बनाए रखने में सफल होता है, समयान्तर में वैध प्रभुत्व बन जाता है।"

संप्रभुता की विशेषताएँ
(Characteristics of Sovereignty)

संप्रभुता-संबंधी उपर्युक्त विभिन्न परिभाषाओं तथा रूपों के विश्लेषण से हम संप्रभुता के प्रमुख लक्षणों को निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. मौलिकता (Originality)—संप्रभुता की पहली विशेषता उसकी मौलिकता है। मौलिकता का अर्थ है कि वह अपनी स्थिति का आधार स्वयं है। इसको न तो कोई पैदा करता है और न कोई बनाता है। संप्रभुता की शक्ति किसी दूसरे द्वारा प्रदान भी नहीं की जा सकती। सारांश में, हम यह कह सकते हैं कि इसका अस्तित्व स्वयं अपने अधिकार से है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मौलिकता संप्रभुता का वास्तविक गुण है।

2. पूर्णता (Absoluteness)—संप्रभुता हर दृष्टि से तथा हर क्षेत्र में पूर्ण एवं असीम है। सीमित तथा अपूर्ण संप्रभुता का राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत कोई अर्थ नहीं है। संप्रभुता आंतरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में पूर्ण होती है। किसी भी संप्रभु राज्य के आदेश पूर्ण एवं असीम होते हैं। उस राज्य की भौगोलिक सीमा के अंतर्गत रहनेवाला प्रत्येक नागरिक संप्रभु के आदेशों का पालन अभ्यासवश करता है। इन आदेशों और सत्ता के ऊपर कोई भी दूसरी सत्ता नहीं होती। विद्रोह और क्रांति की अवस्था को छोड़कर हर परिस्थिति में

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

संप्रभु के आदेशों तथा कानूनों का पालन किया जाता है। हर संप्रभु राष्ट्र अपनी वैदेशिक नीति के निर्धारण में पूर्णतः स्वतंत्र होता है। कोई भी अंतरराष्ट्रीय संधि या कानून किसी भी राष्ट्र की संप्रभुता को सीमित एवं मर्यादित नहीं कर सकता। अगर कोई इच्छा या शक्ति इसे नियंत्रित या सीमित करे तो निश्चित रूप से वह नियंत्रित करनेवाली शक्ति ही वस्तुतः प्रभुतापूर्ण होगी।

3. स्थायित्व (Permanence)—संप्रभुता की तीसरी विशेषता उसका स्थायित्व है। इसका अर्थ यह हुआ कि संप्रभुता स्थायी है, इसका कभी विनाश नहीं होता। जबतक राज्य का अस्तित्व बना रहता है तबतक संप्रभुता कायम रहती है। एक के अभाव में दूसरे के अस्तित्व की कल्पना तक नहीं की जा सकती, अर्थात ये दोनों एक-दूसरे से अविच्छेद्य हैं। किसी देश के राजा या राष्ट्रपति के पदत्याग या पदच्युत होने या मर जाने से यह नहीं समझना चाहिए कि संप्रभुता का अंत हो गया। संप्रभुता तो अपने-आप एक शासनकर्ता से दूसरे शासनकर्ता के हाथ में चली जाती है। **गिलक्राइस्ट** ने ठीक ही कहा, "राजा या राष्ट्रपति के मरने से केवल सरकार में एक व्यक्तिगत परिवर्तन होता है, इससे राज्य के अविरल प्रवाह में, उसकी अटूट गति में कोई रुकावट नहीं आती।"[1]

4. सर्वव्यापकता (Universality)—संप्रभुता का एक अन्य लक्षण सर्वव्यापकता है, अर्थात राज्य की निश्चित सीमा के अंतर्गत संप्रभुता सर्वव्यापक और सर्वोपरि है। एक राज्य के समस्त भू-भाग पर केवल एक सर्वोपरि शक्ति व्याप्त रहती है। राज्य की सीमा में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक संघ या समुदाय राज्य की संप्रभुता के अधीन है। संप्रभु के आदेश और कानून सबके लिए समान रूप से लागू होते हैं और राज्य की सीमा के अंदर रहनेवाला प्रत्येक नागरिक संप्रभु के कानूनों का पालन करने के लिए सामान्य रूप से बाध्य है।

अपवाद—इस प्रकार के नियंत्रण से मुक्त होने के कुछ अपवाद भी हैं। उदाहरण के लिए, विदेशी राजदूतों तथा दूतावासों में काम करनेवाले अन्य कर्मचारियों पर उस राज्य के नियम या कानून लागू नहीं होते जिस परिग्राहक राज्य में वे स्थित हैं। लेकिन, उन कर्मचारियों पर उस राज्य के कानून लागू होते हैं जिनके वे प्रतिनिधि होते हैं। परन्तु, यह ध्यान रहना चाहिए कि वे परिग्राहक राज्यों की संप्रभुता से निश्चित रूप से प्रभावित होते हैं और उनकी गतिविधियों को नियंत्रित करने में राज्य पूर्णरूप से स्वतंत्र है।

5. अपरित्यज्यता (Inalienability)—इसका अर्थ यह है कि राज्य संप्रभुता का त्याग नहीं कर सकता है। राज्य अपनी मौलिक विशेषताओं या आवश्यक तत्त्वों में से किसी को भी अपने को नष्ट किए बिना छोड़ नहीं सकता। सच पूछिए तो संप्रभुता राज्य का प्राण है। अतः, संप्रभुता के त्याग से राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसीलिए **डा० गार्नर** ने कहा है, "संप्रभुता त्यागने का अर्थ है कि राज्य ने आत्महत्या कर ली है।"[2] **लीबर** ने भी इस संबंध में ठीक ही कहा है, "जिस प्रकार एक वृक्ष अपने उगने या पनपने के अधिकार को नहीं छोड़ सकता या एक व्यक्ति बिना अपना विनाश क्रिए अपने जीवन और व्यक्तित्व को अपने से अलग नहीं कर सकता, ठीक उसी प्रकार राज्य को संप्रभुता से अलग नहीं किया जा सकता।"[3] रूसो और अन्य विचारकों ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं।

6. अविभाज्यता या एकता (Indivisibility or unity)—संप्रभुता की एक अन्य विशेषता इसकी अविभाज्यता है, अर्थात संप्रभुता का विभाजन नहीं होता। यह अखंड है। इसकी संपूर्णता और एकता में कोई संदेह नहीं है। **विलोबी** ने भी कहा है, "संप्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।" अर्थात, राज्य में एक से अधिक सर्वोच्च इच्छा नहीं हो सकती। इसीलिए राज्य में संप्रभुता अविभाजित होनी चाहिए। **गेटेल** ने इस संबंध में कहा है कि यदि संप्रभुता का विभाजन हुआ तो उसका अर्थ राज्य का विभाजन है। उदाहरण के लिए, 1947 ई० में जब भारत की स्वतंत्रता के साथ इसका विभाजन हुआ तब पाकिस्तान एक स्वतंत्र राज्य बन गया। इस प्रकार, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संप्रभुता अविभाजित है। इस संबंध में अमेरिकी विद्वान **केल्हन** ने भी कहा है, "संप्रभुता एक समग्र वस्तु है, उसका विभाजन करने का अर्थ उसे नष्ट करना है।"

7. स्वतंत्रता (Independence)—स्वतंत्रता संप्रभुता के भाव में निहित है। अर्थात, संप्रभुता किसी भी दूसरी सत्ता पर किसी रूप में या किसी प्रकार आश्रित नहीं है। यह बिल्कुल स्वतंत्र है। आंतरिक और बाह्य

---

1. "The death of King or President, however, is only a personal change in the government, not a break in the continuity of the state."—GILCHRIST : *Principles of Political Science*
2. "Sovereignty is the supreme power of the state, is the vital element of being and to alienate it, would be tantamount to committing suicide."—GARNER
3. "Sovereignty can no more be alienated than a tree can alienate its right to sprout, or a man can transfer his life or personality to another without self-destruction."—LIEBER

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

दोनों क्षेत्रों में संप्रभुता अपनी इच्छा को अभिव्यक्त करती है। इस पर कोई भी बाहरी सत्ता अपना प्रभाव या दबाव नहीं डाल सकती।

संप्रभुता का निवास-स्थान
(Location of Sovereignty)

जहाँ तक संप्रभुता के निवास-स्थान का प्रश्न है, इस संबंध में विभिन्न विद्वानों के मत विभिन्न हैं। संप्रभुता के निवास-स्थान को निम्नलिखित तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—

1. राज्य की जनता,
2. संविधान-निर्माण तथा उसमें संशोधन करनेवाली शक्ति और
3. सरकार के कानून बनानेवाले अंग।

1. राज्य की जनता—लोकतंत्र में विश्वास करनेवालों की राय में संप्रभुता का निवास-स्थान जनता में है, लेकिन जनता के रूप के संबंध में मतभिन्नता है। कुछ विद्वान जनता के अंतर्गत समस्त जनसमूह, बच्चे, बूढ़े और मर्द को रखते हैं और कुछ लोग केवल विचारकों और मतदाताओं को ही जनता में शामिल करते हैं।

2. संविधान-निर्माण तथा उसमें संशोधन करनेवाली शक्ति—जहाँ तक संविधान और कानून के आधार पर विभिन्न देशों की शासन-प्रणालियों का प्रश्न है, ग्रेटब्रिटेन में एक तरफ संविधान अलिखित है तो दूसरी तरफ सांविधानिक कानून और साधारण कानून में कोई अंतर नहीं है। अतः, वहाँ संसद राजा (king-in-parliament) कानूनी संप्रभु है। जहाँ तक पूर्व सोवियत संघ का प्रश्न है, वहाँ संविधान लिखित था और संसद के दोनों सदनों द्वारा संयुक्त रूप से संशोधन लाया जा सकता था। इसलिए सोवियत संघ में संसद के दोनों सदनों में कानूनी संप्रभुता निवास करती थी, लेकिन स्विट्जरलैंड में संसद के दोनों सदनों के अलावा जनता भी संशोधन में हाथ बँटाती है। अतएव, वहाँ संसद तथा जनता दोनों में कानूनी संप्रभुता का निवास है।

जहाँ तक संघात्मक शासन का प्रश्न है, वहाँ संप्रभुता त्रिमुखी होती है, क्योंकि वहाँ संघ तथा राज्य—दो प्रकार की सरकारें होती हैं और शासन-सत्ता केंद्र तथा राज्य सरकारों के बीच विभाजित रहती है। अपने-अपने निश्चित क्षेत्रों में दोनों सरकारें संप्रभु हैं। अमेरिकी संविधान के निर्माता मिल्टन और मैडिसन—इस सिद्धांत के हिमायती हैं। **चिसनाम बनाम जार्जिया** के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने भी कहा था—"राज्यों द्वारा सरकार को समस्त शक्तियाँ दी गई हैं, उस रूप में संयुक्त राज्य सब सुरक्षित शक्तियों के रूप में संप्रभु है। कूल, स्टोकी, टॉकविले, हर्ड इत्यादि विद्वानों ने भी संप्रभुता के इस दोहरे सिद्धांत का समर्थन किया है। लेकिन, संप्रभुता के निवास-स्थान-संबंधी यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि संघ की इकाइयाँ राज्य नहीं हैं, वरन कानून बनानेवाली सहायक संस्थाएँ हैं। अतएव वे संप्रभु नहीं हो सकती हैं। इसलिए संघात्मक शासन में संप्रभुता का निवास-स्थान उस शासन या संगठन में है जिसे संविधान-निर्माण तथा उसमें संशोधन करने का अधिकार होता है। लेकिन, कुछ अंतर्निहित अंतर्द्वंद्वों के कारण **लॉस्की** ने भी ठीक ही कहा है, "संघ राज्य में संप्रभुता का केंद्रबिंदु या निश्चित स्थान पाना एक असंभव-सा कार्य है" (To discover sovereignty in a federal state is an impossible adventure)।

3. सरकार के कानून बनानेवाले अंग—तीसरे सिद्धांत के अनुसार संप्रभुता कानून बनानेवाली संस्थाओं में निवास करती है। वुडरो विल्सन ने भी कहा है कि संप्रभुता विधिवाली संस्थाओं में निवास करती है और कानून बनानेवाली संस्थाओं में संसद, न्यायालय, कार्यपालिका-अधिकारी, अधिवेशन तथा निर्वाचक आते हैं।

ऑस्टिन का संप्रभुता-सिद्धांत
(Austinian Theory of Sovereignty)

ऑस्टिन को आधुनिक काल में संप्रभुता का सबसे बड़ा व्याख्याता और हिमायती कहा जाता है। उसने न्यायिक दृष्टि से संप्रभुता के सिद्धांत की व्याख्या की है। अपने ग्रंथ **लेक्चर्स ऑन ज्यूरिसप्रुडेन्स** *(Lectures on Jurisprudence)* में, जिसका प्रकाशन 1861 ई० में हुआ था, उसने संप्रभुता के कानूनी पहलू पर अधिक जोर दिया है। उसका संप्रभुता का सिद्धांत हॉब्स तथा बेन्थम के विचारों से प्रभावित है। ऑस्टिन के संप्रभुता-संबंधी सिद्धांत की पृष्ठभूमि में उसका प्राकृतिक कानूनी-संबंधी विचार निहित है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

हॉब्स और बेन्थम का प्रभाव (Influence of Hobbes and Bentham)—**ऑस्टिन हॉब्स** के विचारों से प्रभावित था। वह **बेन्थम** के विचारों का समर्थक था। **बेन्थम** ने बताया था कि एक राज्य और राजनीतिक समाज वही होगा जहाँ एक व्यक्ति, समूह या बहुसंख्यक लोग एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की आज्ञा या आदेश का पालन करने में अभ्यस्त हों, क्योंकि उसका आदेश ही कानून होता है। वह आदेश देनेवाला व्यक्ति सर्वोच्च सत्ताधारी होता है और उसी में संप्रभुता निहित होती है। **बेन्थम** के ये सिद्धांत **ऑस्टिन** की संप्रभुता-संबंधी सिद्धांत के आधार बने।

ऑस्टिन के संप्रभुता-सिद्धांत की व्याख्या और परिभाषा (Interpretation and Definition of Austinian Theory of Sovereignty)

ऑस्टिन ने **बेन्थम** द्वारा दी गई संप्रभुता-संबंधी सिद्धांत को पूर्णता प्रदान की। **बेन्थम** ने संप्रभुता के केवल सकारात्मक चिह्नों की ही व्याख्या की थी, लेकिन **ऑस्टिन** ने इन सकारात्मक तथ्यों में नकारात्मक तथ्यों को जोड़कर संप्रभुता की पूर्ण परिभाषा की। **ऑस्टिन** ने बताया कि संप्रभु अन्य किसी भी व्यक्ति की आज्ञा को नहीं मानता, जिसे **बेन्थम** ने स्पष्ट नहीं किया था। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, ऑस्टिन की संप्रभुता-संबंधी धारणा के पीछे उसका प्राकृतिक कानून-संबंधी विचार निहित है। उसने कहा है कि कानून उच्चतर द्वारा निम्नतर को दिया गया आदेश है।[1] कानून के इसी सिद्धांत पर उसने अपनी संप्रभुता संबंधी धारणा को विकसित किया है। **ऑस्टिन** ने संप्रभुता की परिभाषा इस प्रकार की है—"यदि किसी समाज का अधिकांश एक निश्चित प्रधान व्यक्ति की आज्ञा का साधारणतः पालन करता है और उस निश्चित प्रधान व्यक्ति को साधारणतः किसी अन्य प्रधान की आज्ञा नहीं माननी पड़ती है, तो उस समाज में वह निश्चित व्यक्ति संप्रभु होता है तथा वह समाज (उस प्रधानसहित) स्वतंत्र राज्य होता है।"[2]

ऑस्टिन की संप्रभुता की परिभाषा के विश्लेषण से यह पता चलता है कि उसकी संप्रभुता की निम्नलिखित विशेषताएँ है—1. संप्रभुता स्वतंत्र राजनीतिक समाज का एक आवश्यक गुण है। 2. संप्रभुता एक निश्चित व्यक्ति या समूह में होती है। 3. संप्रभु की आज्ञा का पालन समाज का अधिकांश स्वभावतः करता है। 4. संप्रभु की आज्ञा ही कानून है। 5. संप्रभु अविभाज्य है। 6. संप्रभुता राज्य के लिए आवश्यक है।

1. संप्रभुता स्वतंत्र राजनीतिक समाज का एक आवश्यक गुण है—हेनरी मेन ने ऑस्टिन के विचारों के आधारों पर ठीक ही कहा है कि प्रत्येक राजनीतिक समाज में संप्रभुता उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार पदार्थ के एक पिण्ड में आकर्षण-केंद्र का होना अनिवार्य है।

2. संप्रभुता एक निश्चित व्यक्ति या समूह में होती है—संप्रभु को एक निश्चित व्यक्ति या समूह होना आवश्यक है। इसका अर्थ यह है कि संप्रभु एक मानवीय प्रधान हो, जिसे प्रत्येक व्यक्ति देख सके जो स्पष्ट रूप से स्पष्ट किया जा सके कि राज्य में संप्रभु कौन है। रूसो ने सामान्य इच्छा को संप्रभु माना है। कुछ लोगों ने जनता या लोकमत को ही संप्रभु स्वीकार किया है। लेकिन, ऑस्टिन रूसो की तरह सामान्य इच्छा (General Will), समस्त जनता या लोकमत-जैसे काल्पनिक सूक्ष्म भागों को संप्रभु नहीं मानता। उसके अनुसार, संप्रभु एक निश्चित व्यक्ति या समूह होना चाहिए।

3. संप्रभु की आज्ञा का पालन समाज का अधिकांश स्वभावतः करता है—यदि समाज का बहु-संख्यक भाग उसकी आज्ञा नहीं मानता तो ऐसी स्थिति में वह समाज आज भी प्राकृतिक अवस्था में है और वह राज्य होने की स्थिति में नहीं है। संप्रभु की आज्ञा का पालन निर्बाध तथा स्थायी होना चाहिए। यदि आज्ञाकारिता स्थायी नहीं रही तो संप्रभु और समाज के लोगों में शासन और शासित का संबंध स्थायी न हो पाएगा।

4. संप्रभु की आज्ञा ही कानून है—इसका तात्पर्य है कि संप्रभु के द्वारा ही कानूनों का निर्माण होता है। कानूनों का एकमात्र स्रोत और आधार वही है। **ऑस्टिन** ने कहा है कि कोई भी परम्परागत व्यवहार तब तक कानून नहीं है जब तक उसे संप्रभुता द्वारा मान्यता प्राप्त न हो।

5. संप्रभु निरंकुश और असीम है—अर्थात, संप्रभु स्वयं कानून का स्रोत है। इसीलिए वह किसी प्रकार के कानूनी बन्धनों से सीमित, मर्यादित या नियंत्रित नहीं है। चूँकि वह स्वयं कानून का आधार है

1. "Law is the command of the superior to the inferior."—JOHN AUSTIN
2. "If a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior , receives the habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is the sovereign in that society and the society (including the superior) is a society political and independent."—JOHN AUSTIN

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

इसलिए कानून के ऊपर है। राज्य के सब लोग उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य हैं, परंतु संप्रभु स्वयं किसी की आज्ञा का पालन नहीं करता, इसलिए वह निरंकुश एवं अनियंत्रित है।

6. **संप्रभुता अविभाज्य है**—संप्रभुता का विभाजन नहीं हो सकता। किसी एक राज्य में एक ही संप्रभुता हो सकती है, अनेक नहीं। संप्रभुता का विभाजन उसका विनाश होता है। यदि संप्रभुता एक समूह में स्थित है तब भी वह उस समूह के अलावा अन्य समूहों में नहीं बाँटी जा सकती।

7. **संप्रभुता राज्य के लिए आवश्यक है**—संप्रभुता के बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इसके बिना स्वतंत्र राजनीतिक समाज (राज्य) का अस्तित्व असंभव है। जहाँ संप्रभुता नहीं है, वहाँ कानून नहीं है और कानून के बिना राज्य नहीं हो सकता। इसीलिए ऑस्टिन ने कानूनी संप्रभुता का समर्थन किया है।

ऑस्टिन के सिद्धांत की आलोचनाएँ (Criticisms of Austin's Theory)

विद्वानों ने ऑस्टिन के संप्रभुता-संबंधी सिद्धांत की आलोचनाएँ निम्नांकित आधारों पर की हैं—

1. **निश्चित प्रभु की भ्रामक तथा तथ्यहीन धारणा—ऑस्टिन** ने बताया कि संप्रभुता निश्चित मानव-समूह में निवास करती है। लेकिन, **सर हेनरी मेन** ने उसके इस विचार की कटु आलोचना की है। उनका कहना है कि प्रभुतासंपन्न निश्चित व्यक्ति की धारणा तथ्यहीन तथा भ्रामक है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के राज्यों में ऐसी सत्ता का अभाव रहा है। कानून का पालन लोगों ने इसलिए नहीं किया कि उसके पीछे किसी निरंकुश राज्य का हाथ रहा है। कानून का पालन तो भावनाओं, प्रथाओं, विश्वासों तथा परंपराओं के आधार पर हुआ है। **हेनरी मेन** ने पंजाब के शासक रणजीत सिंह का उदाहरण दिया है। वह सर्वशक्तिशाली शासक था और कुछ भी आदेश कर सकता था, फिर भी उसने अपने जीवनकाल में एक भी ऐसा आदेश जारी नहीं किया जिसे ऑस्टिन के अनुसार कानून कहा जा सके। उसकी प्रजा का जीवन रीति-रीवाजों, धार्मिक विश्वासों और सामाजिक परंपराओं के द्वारा नियंत्रित होता था। **सर हेनरी मेन** ने कहा है कि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संप्रभुता कभी निश्चयात्मक नहीं रही है। इसलिए ऑस्टिन की संप्रभुता की धारणा भ्रामक तथा तथ्यहीन धारणाओं पर आधारित है।

2. **कुछ राजनीतिक व्यवस्थाओं के अनुपयुक्त—प्रो॰ गिलक्राइस्ट** ने कहा है कि जब ऑस्टिन अपने सिद्धांत इंगलैंड और अमेरिका की राजनीतिक व्यवस्थाओं पर लागू करता है तब कठिनाइयाँ झलकने लगती हैं। जहाँ तक इंगलैंड में संप्रभुता के निवास-स्थान का प्रश्न है, ऑस्टिन अनेक परस्पर-विरोधी बातें कहता है। एक स्थान पर वह संसद को संप्रभु कहता है तो दूसरे स्थान पर सम्राट, लार्ड्स-सभा और मतदाता को भी संयुक्त रूप से संप्रभु कहता है। उसने यह कहा है कि जब लोकसभा विघटित हो जाती है तब मतदाता संप्रभु हो जाते हैं। उसने एक स्थान पर लोकसभा को मतदाताओं का ट्रस्टी (trustee) कहा है, तो दूसरे स्थान पर बताया है कि वह ट्रस्टी भी नहीं है। जहाँ तक अमेरिकी संविधान का प्रश्न है, ऑस्टिन की संप्रभुता-संबंधी धारणा का एक अर्थहीन प्रयास है। वहाँ वस्तुतः न तो काँगरेस सर्वोच्च है, न कार्यपालिका, न न्यायपालिका और न संविधान ही। इन सारे अंगों की शक्तियाँ मर्यादित हैं। लेकिन, एक निर्दिष्ट उच्चतर व्यक्ति के अभाव में भी अमेरिका एक राज्य है और उसमें संप्रभुता का निवास है। अतः, इंगलैंड और अमेरिकी राजनीतिक व्यवस्थाओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि ऑस्टिन का यह मत गलत है कि संप्रभुता के निवास के लिए एक निश्चयात्मक मानवश्रेष्ठ आवश्यक है।

3. **मिथ्या कानून की धारणा पर आधारित**—ऑस्टिन की संप्रभुता-संबंधी कानूनी धारणा की आलोचना करते हुए कहा गया है कि उसकी संप्रभुता कानून की गलत धारणा पर आधारित है। इस संबंध में **लॉस्की** ने कहा है कि कानून को केवल आदेशमात्र मानना न्यायवेत्ता तक के लिए 'व्याख्या की खाल खींचना' है। प्राचीन राज्यों से लेकर आधुनिक राज्यों तक कानून को केवल प्रभु का आदेश नहीं कहा जा सकता। प्राचीन राज्यों में प्रथाओं तथा परंपराएँ ही कानून का काम किया करती थीं। कानून के निर्माण के लिए संप्रभु के आदेश की कोई आवश्यकता नहीं थी। आज के राज्यों में भी बहुत-कुछ यही बात है। आधुनिक काल के अनेक विद्वानों ने कानून के अन्य स्रोतों का उल्लेख किया है। ऐसे विद्वानों में **क्रेब** (Krabbe), **डयूग्वी** (Duguit) तथा **लॉस्की** उल्लेखनीय हैं। इनलोगों ने बताया है कि राज्य कानून का निर्माण नहीं करता, वरन कानून ही राज्य को बनाता है।

4. **शक्ति-तत्त्व की प्रधानता—ऑस्टिन** ने अपनी संप्रभुता में शक्ति-तत्त्व पर विशेष बल दिया है। उसने बताया है कि कानून का पालन बल के आधार पर होता है, लेकिन बात ऐसी नहीं है। कानून का पालन

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

हम इसलिए नहीं करते कि उसकी अवज्ञा के साथ दण्ड का भाव जुड़ा हुआ है, वरन उसका पालन हम इसलिए करते हैं कि मानव में कानून के अनुरूप आचरण करने की भावना है।

5. संप्रभुता विभाजित है—आलोचकों की राय में ऑस्टिन का यह तर्क गलत है कि संप्रभुता अविभाजित है। इंगलैंड-जैसे एकात्मक राज्य में भी अनेक विद्वानों ने संप्रभुता को विभाजित माना है। **लॉर्ड ब्राइस** का कहना है कि वहाँ एक **विधानकर्ता संप्रभु** (legislative sovereign) है और दूसरा **कार्यपालक संप्रभु** (executive sovereign) तथा तीसरा **न्यायकर्ता संप्रभु** (judicial sovereign) है। लेकिन, ऑस्टिन के समर्थकों का कहना है कि इंगलैंड में वस्तुतः विधानकर्ता ही संप्रभु है, क्योंकि कार्यपालिका और न्यायपालिका उसी का आदेश स्वीकार करती है। संघात्मक शासन के अंतर्गत शासकीय सत्ता अनेक व्यक्तियों तथा उनके समूहों में विभाजित रहती है। अतः, ऑस्टिन के अविभाज्य संप्रभुता के सिद्धांत का आज कोई महत्त्व नहीं है।

6. संप्रभुता सीमित है—ऑस्टिन ने संप्रभुता को पूर्ण तथा असीमित बताया है। लेकिन, आलोचकों का कहना है कि संप्रभुता सीमित है। **ब्लंश्ली** का कहना है कि अपने समग्र रूप में राज्य सर्वशक्तिमान नहीं है। बाह्य रूप से यह अन्य राज्यों के अधिकार और आंतरिक रूप से यह स्वयं अपनी प्रकृति और अपने सदस्यों के अधिकारों से सीमित है। बहुलवादियों का कहना है कि राज्य अनेक समुदायों के समान एक समुदाय है। संप्रभुता इन सभी समुदायों में विभाजित है। **लॉस्की** का विचार है कि मानवता की दृष्टि से भी प्रभुसत्ता का सीमित होना आवश्यक है।

7. व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विरोधी—ऑस्टिन ने निरंकुश और खतरनाक संप्रभुता के सिद्धांत की व्याख्या की है। किसी भी सत्ता का निरंकुश तथा असीम होना लोकहित की दृष्टि से खतरनाक तथा अहितकर समझा जाता है। ऑस्टिन का यह सिद्धांत व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विरोधी है।

8. क्रांति का आह्वान—ऑस्टिन के असीम, अविभाज्य तथा निरंकुश संप्रभुता-संबंधी सिद्धांत में क्रांति के पनपने की संभावना है। आज का युग प्रजातंत्र का युग है जिसमें जनता अधिक-से-अधिक शासन में भाग लेना चाहती है। विश्व के हर कोने में निरंकुश शासन का विरोध हो गया है।

9. बहुलवादियों का आक्षेप—बहुलवादियों का कहना है कि ऑस्टिन का संप्रभुता-संबंधी सिद्धांत अव्यावहारिक है। संप्रभुता किसी निश्चित व्यक्ति में निवास नहीं करती। संप्रभुता तो विभिन्न संघों और समुदायों में विभाजित है। बहुलवादियों के अनुसार ऑस्टिन का सिद्धांत ऐतिहासिक तथा कानूनी दोनों दृष्टियों से गलत है। बहुलवादियों में **लॉस्की, डयूग्वी, क्रेब, अर्नेस्ट बारकर, लिण्डसे, फिग्गिस** इत्यादि का प्रमुख स्थान है।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त आलोचनाओं से यह स्पष्ट है कि ऑस्टिन की कानूनी संप्रभुता-संबंधी धारणा विभिन्न दृष्टियों से दोषपूर्ण है। ऑस्टिन एक न्यायशास्त्री था। अपने सिद्धांत की विवेचना करते समय उसने व्यावहारिक पक्ष का उतना ध्यान नहीं रखा है, जितना विधि पक्ष का। वर्तमान लोकतंत्र के युग में ऑस्टिन का सिद्धांत उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वर्तमान राज्यों और सरकारों को प्रायः सभी अधिकार संविधान द्वारा प्रदत्त होते हैं। ऐसी अवस्था में किसी भी सरकार द्वारा संविधान का उल्लंघन करके मनमानी करना आसान नहीं होता। लेकिन, इन आलोचनाओं के बावजूद उसने अपने संप्रभुता-संबंधी तथ्यों का स्पष्टीकरण कानूनी आधार पर किया है जो उसके सिद्धांत को वास्तविक तथा तर्कपूर्ण बना देते हैं। **गार्नर** ने भी यह स्वीकार किया है कि ऑस्टिन ने संप्रभुता की कानूनी प्रकृति की जो धारणा सामने रखी है, वह स्पष्ट और तर्कपूर्ण है। उसकी राय में ऑस्टिन के सिद्धांत की आलोचना तो गलतफहमी के चलते हुई है।

प्रश्नावली

1. संप्रभुता की परिभाषा दीजिए और इसके प्रमुख लक्षण बताइए।
   (Define sovereignty and discuss its essential characteristics.)
2. ऑस्टिन के संप्रभुता-संबंधी सिद्धांत का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
   (Critically examine the Austinian Theory of sovereignty.)
3. "संप्रभुता का विभाजन इसका विनाश है।" स्पष्ट करें।
   ("To divide sovereignty is to destroy it." Discuss)
4. संप्रभुता के कौन-कौन-से प्रमुख भेद हैं ?
   (What are the different kinds of sovereignty ?)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 13

बहुलवाद
[PLURALISM]

बहुलवादी राज्य एक ऐसा राज्य है, जिसमें सत्ता का सिर्फ एक ही स्त्रोत नहीं है, यह विभिन्न क्षेत्रों में विभाजनीय है और विभाजित किया जाना चाहिए।—हेसियो

विषय-प्रवेश (Introduction)

राज्य की संप्रभुता से संबंधित विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक स्वतंत्र राज्य में एक ही प्रभुसत्ता होती है और अन्य व्यक्ति और समुदाय उस प्रभुसत्ता के अधीन होते हैं। यह सर्वोच्च सत्ता राज्य की सत्ता होती है और यह सत्ता ही कानून का निर्माण करती है। कानून बनाने का राज्य का यह अधिकार मौलिक, स्थायी, सर्वव्यापी, अविभाजनीय तथा निरपेक्ष होता है और यही राज्य की संप्रभुता है। राज्य के एकत्ववाद के इस विचार के विरुद्ध जिस विचारधारा का उदय हुआ, उसे हम राजनीतिक बहुलवाद के नाम से पुकारते हैं।

परिभाषाएँ—बहुलवाद के संबंध में निम्नलिखित विद्वानों ने अपना विचार दिया है—

1. **हेसियो**—"बहुलवादी राज्य एक ऐसा राज्य है, जिसमें सत्ता का सिर्फ एक ही स्त्रोत नहीं है, यह विभिन्न क्षेत्रों में विभाजनीय है और विभाजित किया जाना चाहिए।"[1]

2. **लिण्डसे**—"यदि हम तथ्यों का अवलोकन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि संप्रभुता के सिद्धांत का अंत हो चुका है।"[2]

3. **लॉस्की**—"समाज के ढाँचे को पूर्ण होने के लिए उसे संघात्मक होना चाहिए।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि बहुलवाद ने राजनीतिक चिन्तन-क्षेत्र में विकसित होनेवाली उस एकत्ववादी या अद्वैतवादी विचारधारा का प्रबल विरोध किया है जो समाज में राज्य की संस्था को ही संपूर्ण प्रभुतासंपन्न तथा सर्वोच्च संगठन समझती है। एकत्ववादी तथा अद्वैतवादी सिद्धांत सर्वथा विपरीत राज्य के समकक्ष शक्ति तथा अधिकार रखनेवाले अनेक समुदायों में विश्वास रखनेवाला समुदाय बहुलवाद कहलाता है। इसके द्वारा मानव अपने सामाजिक विकास के लिए अनेक प्रकार के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा व्यावसायिक संगठन, समुदाय अथवा संस्थाएँ बनाता है। इनमें कोई भी संगठन दूसरे संगठन की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं है। सभी व्यक्तियों के विकास के लिए समान रूप से आवश्यक होने के कारण बराबर का दर्जा रखते हैं। परिणामस्वरूप, राज्य को इन संगठनों में ऊँचा और श्रेष्ठ मानने की आज आवश्यकता नहीं है। अतः, बहुलवाद आर्दशवादियों द्वारा अभिव्यक्त—"The State is the march of God on the earth"—के विरुद्ध एक महान प्रतिक्रिया है। यह संप्रभुता के परंपरागत सिद्धांत को हानिकारक, निरर्थक तथा त्याज्य बताता है। **बारकर** का कहना है कि आज का युग बहुलवाद की ओर उन्मुख है, क्योंकि उनके विचार में, **आज हम राज्य बनाम व्यक्ति** (state vs. individual) के स्थान पर **गुट बनाम राज्य** (group vs. state) की चर्चा करते हैं। प्रो॰ एच॰ जे॰ लॉस्की, मैकिवर, मेटलैंड, ड्यूग्वी इत्यादि

1. "The pluralistic state is simply a state in which there exists no single source of authority—it is divisible into parts and should be divided."—HASIO : *Political Pluralism*, p. 1

2. "If we look at the facts, it is clear enough that theory of sovereign state has broken down."
—LINDSAY : *The Personality of Association*

3. "The structure of social organization, if it wants to be adequate, must be federal in character."
—HAROLD J. LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

बहुलवादी विचारक हैं। सारे बहुलवादियों के विचारों से यह स्पष्ट है कि बहुलवादी दर्शन दो परंपरागत विचारधाराओं के विरुद्ध एक महान प्रतिक्रिया है—

1. बहुलवाद हीगेल के राज्य-संबंधी निरपेक्ष सिद्धांत के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है और

2. यह संप्रभुता के कानूनी सिद्धांत में भी अविश्वास प्रकट करता है। इस कानूनी संप्रभुता-संबंधी सिद्धांत के अनुसार निरपेक्ष कानूनी संप्रभुता राज्य में निवास करती है। अन्य समुदायों तथा ग्रूपों का राज्य से परे कोई व्यक्तित्व नहीं है। राज्य के अस्तित्व पर ही इनका अस्तित्व निर्भर करता है।

बहुलवाद की उत्पत्ति और विकास
(Origin and Evolution of Pluralism)

जहाँ तक बहुलवाद के दार्शनिक आधार का प्रश्न है, **विलियम जेम्स** (William James) और **जॉन दिवे इलिअट** (John Dewey Elliot) ने अपनी पुस्तक **प्रागमेटिक रिवोल्ट इन पॉलिटिक्स** *(Pragmatic Revolt in Politics)* में बताया है कि बहुलवाद ने अपनी उत्प्रेरणा अमेरिकी लेखकों के उपयोगितावाद से प्राप्त की है। इसी व्यावहारिकतावाद से प्रभावित होकर बहुलवाद ने निरपेक्ष सिद्धांत की निम्नलिखित तीन आलोचनाओं की अभिव्यक्ति की है—

1. यह अमूर्तीकरण तथा कपोल-कल्पना के विरुद्ध है।

2. यह उस आध्यात्मिक अद्वैतवाद (metaphysical monism) का विरोध करता है जो निरपेक्षता में विश्वास कर सबको अपने अंदर समाहित कर लेता है।

3. यह आदर्शमयी सुसंगति-संबंधी तर्क का विरोधी है (It is against the logic of ideal coherence)।

इस प्रकार राज्य के संप्रभुत्व के एकत्व के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में बहुलवाद का उदय यद्यपि 20वीं शताब्दी में हुआ, तथापि इसके विकास की पृष्ठभूमि बहुत दिन पहले से ही चली आ रही थी। मध्ययुग में जब परिस्थितियाँ संकटपूर्ण थीं और राजनीतिक अस्त-व्यस्तता का साम्राज्य था, तब राज्य के अतिरिक्त स्थानीय संस्थाओं तथा अन्य समुदायों का भी बड़ा महत्त्व था। धार्मिक क्षेत्र में चर्च, आर्थिक क्षेत्र में व्यावसायिक श्रेणियाँ तथा राजनीतिक क्षेत्र में सामंतों का बड़ा महत्त्व था। राजा सिर्फ एक सर्वोच्च सामंत होता था और चर्च तथा अन्य सामंतों के लिए उसकी शक्ति का विशेष महत्त्व नहीं था। एक प्रकार से चर्च तथा सामंत राजा के प्रभुत्व के सहगामी होते थे, जिसके परिणामस्वरूप उनका परस्पर विरोध गृहयुद्ध का भी रूप धारण कर लेता था।

16वीं और 17वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। यूरोप के कुछ राज्यों में ऐसे राष्ट्रीय राज्यों का जन्म हुआ जिनमें राजनीतिक सत्ता एक स्थान पर केंद्रित थी। ऐसे राज्यों में प्रभुत्व का जो रूप रहा, वह एकत्ववादी था। उनमें संघों तथा समुदायों के प्रभुत्व के लिए कोई स्थान नहीं था। संपूर्ण प्रभुत्व उस सम्राट में निहित था, जिसकी इच्छा ही कानून होती थी। जनतंत्रवाद के विकास के कारण राजा की निरंकुशता का अंत तो हुआ, लेकिन उसका स्थान राज्य की निरंकुशता ने ले लिया। राज्य के प्रभुत्व के इस केंद्रीकरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, जिसके चलते बहुलवादी विचारधारा का उदय हुआ।

बहुलवादी विचारधारा के उदय में निम्नलिखित तत्त्वों ने योगदान दिया है—

1. व्यक्तिवादी तत्त्व—व्यक्ति के महत्त्व का समर्थन करनेवाले विद्वानों ने राज्य के संप्रभुत्व का विरोध किया है। इन विद्वानों में जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन लॉक और मॉण्टेस्क्यू आदि प्रमुख हैं। लॉक उच्चकोटि का व्यक्तिवादी था। उसने व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति-संबंधी अधिकारों की पवित्रता पर बल दिया और कहा कि राज्य व्यक्ति का संप्रभु नहीं है, वरन उसके अधिकारों का संरक्षक है। **मॉण्टेस्क्यू** ने भी शक्ति-विभाजन के सिद्धांत का प्रतिपादन इसलिए किया कि राजकीय प्रभुता के एकत्रीकरण से व्यक्ति की स्वतंत्रता समाप्त होती है। अतः, उसके दर्शन द्वारा भी राजकीय प्रभुता के एकत्व का विरोध हुआ। **मिल** भी अँगरेजी व्यक्तिवादी परंपरा का विचारक था। इस प्रकार व्यक्तिवादी विचारकों ने व्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर राजकीय सत्ता के केंद्रीकरण का जो विरोध किया और उससे जिस पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ, उससे बहुलवादी विचारधारा का उदय संभव हुआ।

2. मध्यकालीन संघवादी तत्त्व—इसके मुख्य समर्थकों में **गियर्क, मेटलैंड, फिग्गिस** आदि प्रमुख थे। गियर्क तथा मेटलैंड आदि विचारकों ने मध्यकाल की उस सामाजिक व्यवस्था की ओर लोगों का ध्यान

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

आकर्षित किया, जिसमें आर्थिक संघों का स्थान प्रमुख था और राज्य-शक्ति एक स्थान पर केंद्रित न थी। **मेटलैंड** ने यदि मध्यकालीन आर्थिक संघों की बात कहकर राजनीतिक एकत्ववाद का खंडन कर बहुलवादी समाज की स्थापना की बात कही, तो **फिग्गिस** ने मध्यकालीन चर्च के स्वतंत्र अस्तित्व की बात कहकर इस बात का प्रतिपादन किया कि सामाजिक शक्ति के उपभोक्ता एक नहीं अनेक हो सकते हैं।

3. समाजवादी तत्त्व—समाजवादी विचारधाराओं में से उन विचाराधाराओं के प्रतिपादनों द्वारा बहुलवाद को समर्थन मिला जो राज्यसत्ता का विरोध करती हैं। ऐसी विचारधाराएँ अराजकतावाद, संघवाद तथा श्रेणी-समाजवाद हैं। उनके अनुसार राज्य किसी भी रूप में अनिवार्य संस्था नहीं है। बिना राज्य के भी सामाजिक स्वतंत्रता संभव हो सकती है। उनका कहना है कि वास्तविक स्वतंत्रता केवल अराजकतावादी समाज में ही संभव हो सकती है। संघवादी लोग भी सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं से संबद्ध विविध संघों के आधार पर निर्मित समाज की उपादेयता के समर्थक हैं। श्रेणी-समाजवादी भी राजकीय प्रभुता के एकत्व का विरोध करते है और यह प्रतिपादित करते हैं कि व्यक्ति तथा समाज का कल्याण व्यावसायिक संघों के आधार पर निर्मित समाज में ही हो सकता है।

4. विधिशास्त्रवादी तत्त्व—विचारकों में एक ऐसा भी तत्त्व रहा है जिसने विधि को राज्य का आदेशमात्र नहीं माना है, वरन उसे उससे ऊपर की एक वस्तु माना है। ग्रीक राजनीतिक जीवन में तो कानून की सत्ता राजकीय सत्ता से ऊपर की वस्तु मानी ही जाती थी और राज्य के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि वह उसकी मर्यादा के अनुसार आचरण करे। आधुनिक समय में भी अनेक क्षेत्रों में इस सभ्यता को उचित महत्त्व दिया गया है कि कानून का वास्तविक रूप राज्य के आदेश का ही रूप नहीं है। ऐसे आधुनिक विचारों में **ड्यूग्वी** (Duguit) तथा **ह्यूगो क्रैब** (Hugo Krabbe) के नाम उल्लेखनीय हैं। **कानून राज्य से ऊपर की वस्तु है**— संबंधी प्रतिपादन से राज्य की प्रभुता को धक्का लगा और बहुलवादी विचारधारा का मार्ग प्रशस्त हुआ।

5. अंतरराष्ट्रवादी तत्त्व—अंतरराष्ट्रीय भावना के विकास ने प्रभुता के बहुलवादी विचार को प्रोत्साहित किया। अंतरराष्ट्रवाद के विकास से यह स्पष्ट हुआ कि यदि राज्य को आंतरिक और बाह्य—दोनों दृष्टियों से सर्वोच्च मानकर, उसकी शक्ति पर कोई अंतरराष्ट्रीय नियंत्रण न रहे तो यह समाज के लिए हानिकारक होगी। इससे बहुलवादी विचारधारा को प्रोत्साहन मिला।

6. सर्वसत्तावादी तत्त्व—बहुलवादी विचारधारा के विकास में सबसे अधिक योगदान हीगेल की विचारधारा ने दिया। **हीगेल** के अनुसार, "राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का आगमन है।" इस सर्वसत्तावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध जनमत का जागृत होना स्वाभाविक था। आज का बहुलवाद उसी विचार का एक रूप है।

7. लोकतंत्र-संबंधी दोषों का तत्त्व—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद प्रजातंत्र का विकास तेजी से हुआ। लेकिन शीघ्र ही प्रजातांत्रिक पद्धति में अनेक दोष दिखाई पड़ने लगे। इसका सबसे बड़ा दुर्गुण इसकी निर्वाचन पद्धति है। प्रादेशिक आधार पर चुने जानेवाले उम्मीदवार सच्चे अर्थों में जनता के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते। इस दोष से बचने के लिए ही व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की माँग की जाती है, जिसका आधार बहुसमुदायवाद है।

8. एक अन्य कारण, अमेरिका में **विलियम जेम्स** (William James), **जॉन दिवे** (John Dewey) आदि विचारकों द्वारा विकसित किए जानेवाले फलवाद, व्यवहारवाद या क्रियात्मक परिणामवाद का नवीन दर्शन भी बहुलवादी विचारधारा के विकास का कारण बना।

इस प्रकार, बहुलवाद की उत्पत्ति में उपर्युक्त सारे कारणों ने सहायता पहुँचाई। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राज्य को दिए जानेवाले अत्यधिक अधिकारों के विरुद्ध होनेवाली स्वाभाविक प्रतिक्रिया भी बहुलवादी दर्शन के आगमन का एक कारण है।

बहुलवाद की मान्यताएँ
(Postulates of Pluralism)

बहुलवाद के अनुसार संप्रभुता न तो असीम है और न निरंकुश। संप्रभुता किसी निश्चित व्यक्ति या निश्चित स्थान में निहित नहीं रहती वरन, वह विभिन्न विभागों या समूहों में विभाजित रहती है। संप्रभुता के संबंध में बहुलवादियों ने अग्रलिखित चार सिद्धांत दिए हैं—

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. संप्रभुता का निवास विभिन्न समुदायों में है—राज्य भी अन्य समुदायों की तरह एक समुदाय है। राज्य में निहित संप्रभुता न तो असीम है और न निरंकुश तथा पूर्ण ही। प्रत्येक व्यक्ति का संबंध राज्य के साथ-साथ अन्य समुदायों से भी है। परिणामस्वरूप, व्यक्ति की तरह राज्य तथा अन्य समुदायों में संप्रभुता बँटी रहती है। इस प्रकार, सर्वोपरि, अविभाज्य, अनन्य संप्रभुता की भावना कोरी कल्पना है।

2. राज्य की सर्वोच्चता ऐतिहासिक दृष्टि से गलत है—बहुलवादियों का कहना है कि ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य की संप्रभुता की सर्वोपरिता और अविभाज्यता भ्रमपूर्ण है। इतिहास प्रमाण है कि कभी किसी युग में राज्य अन्य रूप से संप्रभुता-संपन्न नहीं रहा है। हीगेल, बोदाँ तथा ऑस्टिन ने संप्रभुता-सिद्धांत की विवेचना अपने समय की परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में की थी। आज वह पृष्ठभूमि नहीं है। आज के युग में असीम निरंकुश तथा अनन्य संप्रभुता-सिद्धांत की कोई आवश्यकता नहीं है। आज की संघीय प्रणाली में संप्रभुता का रूप भी संघात्मक है।

3. कानून संप्रभु का आदेश नहीं है—एकलवादी सिद्धांत के अनुसार कानून संप्रभुता का आदेश (law is the command of the sovereign) है, लेकिन बहुलवादी विचारक ऐसा स्वीकार नहीं करते। **कोकर** (Coker) का कहना है, "कानून राज्य से स्वतंत्र, ऊपर और व्यापक है।"[1] **क्रैब** (Krabbe) ने भी कहा है, "कानून लोगों की औचित्य भावना का परिणाम है।"[2] **डयूग्वी** के विचार में कानून का निर्माण सामाजिक सुदृढ़ता द्वारा होता है। इससे स्पष्ट है कि कानून की सृष्टि राज्य के द्वारा नहीं हुई है, वरन उसका उद्भव एवं विकास राज्य से पहले हुआ है।

4. राज्य की संप्रभुता अंतरराष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि में गलत है—बहुलवादी विचारकों ने अंतरराष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि में राज्य के संप्रभुता-संबंधी सिद्धांत का खंडन किया है। **लॉस्की** का कहना है कि आधुनिक युग में जब अंतरराष्ट्रीयता का रूप व्यापक होता जा रहा है, तब हम विभिन्न राष्ट्रों की संप्रभुता में विश्वास नहीं कर सकते। आज विश्व का कोई राष्ट्र एक-दूसरे की अवहेलना कर कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठा सकता। आर्थिक तथा औद्योगिक दृष्टि से विश्व के सभी राज्य एक-दूसरे पर आश्रित हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ अंतरराष्ट्रीयता की स्थिति बनाकर एक विश्व-सरकार (world government) की भावना को साकार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। ऐसी स्थिति में हम संप्रभु राज्यों की पुरानी धारणा में विश्वास नहीं कर सकते। आज व्यवहार में भी राज्य की बाह्य संप्रभुता मर्यादित हो गई है। विज्ञान के विकास के कारण सारी पृथ्वी एक नगर-जैसी हो गई है। आज के अंतरराष्ट्रीय मामलों में विभिन्न राज्यों को आंशिक रूप से अपनी संप्रभुता का परित्याग करना ही पड़ता है। आज की अंतरराष्ट्रीय स्थिति ने संप्रभुता को असीमित, निरंकुश तथा अविभाज्य नहीं रहने दिया है।

5. समाज की वर्तमान स्थिति पर आक्षेप—बहुलवादियों का यह आक्षेप समाज की वर्तमान स्थिति और रचना के आधार पर किया जाता है। राज्य की प्रभुसत्ता के समर्थक समाज में राज्य के संगठन को सर्वोपरि मानते हुए उसमें एकत्व (monism) या एकता (unity) के सिद्धांत को मानते हैं। उनकी मान्यता है कि राज्य-जैसा एक ही संगठन है। किंतु उसके सर्वथा विपरीत बहुलवादी दर्शन से प्रभावित लॉस्की का मत है कि हम जिस प्रकार एकत्व रखनेवाले विश्व में न रहकर भिन्नत्व रखनेवाले जगत (multilinears) में रहते हैं, उसी प्रकार हमारे समाज का संगठन भी एकात्मक (unitary) न होकर संघीय (federal) है। इसमें सर्वोपरि सत्ता रखनेवाली एकमात्र संस्था राज्य नहीं है। अतः, इस समाज का संगठन एकात्मक न होकर बहुलवादी है, क्योंकि एक राज्य में रहनेवाले न केवल राज्य के नागरिक होते हैं, अपितु अपने परिवार के तथा अनेक धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संगठनों के भी सदस्य होते हैं। वे न केवल राज्य के प्रति निष्ठा और भक्ति रखते हैं, उसके आदेशों और नियमों का पालन करते हैं, अपितु इन समुदायों के प्रति भी भक्ति रखते हुए उनके नियमों का पालन करते हैं। इस प्रकार, सिर्फ राज्य ही नियमों का निर्माण नहीं करता, अपितु विभिन्न प्रकार के समुदाय भी नियम बनाते हैं और नागरिक राज्य के नियमों के पालन के साथ-साथ इनके नियमों का भी पालन करते हैं। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि—

(i) समाज का संगठन एकात्मक नहीं है, अपितु बहुदलीय तथा संघात्मक है।

---

1. "Law is independent of anterior to above and more comprehensive than the State."—COKER
2. "Law is the totality of rules general or particular, written or unwritten which springs from men's feeling or sense of right."—KRABBE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(ii) समाज में कानूनों तथा नियमों के निर्माण का स्रोत केवल राज्य ही नहीं, वरन अनेक संगठन तथा समुदाय भी हैं।

(iii) किसी राज्य के नागरिक केवल राज्य के प्रति ही निष्ठा नहीं रखते, वरन उन समुदायों के प्रति भी निष्ठा रखते हैं जिनकी सदस्यता वे स्वीकार करते हैं।

(iv) राज्य की प्रभुसत्ता अमर्यादित तथा असीम नहीं है।

6. लोकतंत्र के आधार पर आक्षेप—सच्चे लोकतंत्र की स्थापना प्रभुसत्तासंपन्न राज्य में नहीं, वरन् बहुलवादी व्यवस्था में ही संभव है। सच्चा लोकतंत्र ही व्यक्ति के विकास में सहायक होता है तथा इसका अभिप्राय व्यक्ति द्वारा शासन के सभी कार्यों में सक्रिय भाग लेना है, जो केवल बहुलवादी व्यवस्था में ही संभव है। राज्य में केवल राजनीतिक इच्छाओं की संतुष्टि हो सकती है, अन्य इच्छाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के समुदायों का अस्तित्व आवश्यक है।

7. औचित्य के आधार पर आक्षेप—बहुलवादियों का यह मत है कि राज्य के प्रभुसत्ता-संपन्न होने से इसे अन्य समुदायों तथा व्यक्तियों पर जो अपरिमित, निरंकुश और असीम अधिकार प्राप्त हैं, वे सर्वथा अनुचित हैं, क्योंकि यदि हम समुदायों की वास्तविक स्थिति पर विचार करें तो हमे पता चलेगा कि कोई ऐसा कारण नहीं है जिसके आधार पर राज्य को ऐसे अपरिमित अधिकार देना न्यायोचित सिद्ध किया जा सके।

8. राज्य की असीमित शक्ति पर आक्षेप—बहुलवादियों का कहना है कि राज्य असीमित शक्तियों को लागू नहीं कर सकता। उनका यह तर्क है कि जब-जब राज्य ने असीमित शक्तियों का प्रयोग किया है, तब-तब राज्य में क्रांतियाँ हुई हैं। 1688 ई० की ब्रिटिश क्रांति, 1789 ई० की फ्रांसीसी क्रांति तथा 1917 ई० की रूसी क्रांति इसके उदाहरण हैं।

अतएव, राज्य सर्वोच्च नहीं है। गियर्क (Gierke) तथा मेटलैंड (Maitland) का कहना है कि हमारे समाज में कुछ स्थायी समाज हैं, जिनका अस्तित्व राज्य की मान्यता पर नहीं है। **एम० पी० बोंकर** (M. P. Boncor) ने बहुलवाद को व्यावसायिक समुदायों पर लागू किया है और उन्हें अधिक-से-अधिक अधिकार देने की सिफारिश की है। **एमिल डर्कफीन** (Emil Durkhefine) के विचार में राज्य आर्थिक अधिकारों को लागू करने के लिए पर्याप्त है, इसलिए उन्होंने आर्थिक समुदायों को राज्य की आर्थिक शक्ति सौंप देने की बात कही है। **फिग्गिस** के विचार में ग्रूपों के अपने वास्तविक व्यक्तित्व होते हैं और इसीलिए **बार्कर** ने कहा है कि ग्रूपों को पर्याप्त स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। **कोल** (Cole) ने उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के ग्रूपों के सह-संप्रभुता संबंधी सिद्धांतों का जिक्र किया है। **मिस फॉलेट** (Miss Follet) ने ग्रूपों की आवश्यकता व्यक्तियों के लिए आवश्यक बताई है और कहा है कि "The individual is sovereign over himself in so far as he can develop, control and unify his manifold nature."

9. राज्य व्यक्ति के विकास में बाधक है—लॉस्की मिल के ही समान व्यक्ति की स्वतंत्रता का परम उपासक था। उसके विचार के अनुसार राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को अपने सर्वांगीण विकास के लिए तथा आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक प्रगति के लिए सभी आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करना है। अस्तु, व्यक्ति प्रधान तथा साध्य है, राज्य इसकी तुलना में गौण स्थान रखनेवाला विकास का साधनमात्र है। अपने विकास के लिए व्यक्ति विभिन्न प्रकार की संस्थाओं का सदस्य बनता है। ये सभी मनुष्य के विकास के लिए राज्य की भाँति आवश्यक हैं। इन सब संस्थाओं के कार्यों और नियमों में सामंजस्य स्थापित करना लॉस्की के मतानुसार व्यक्ति का ही कार्य है। दो या अधिक समुदायों में विरोध होने की दशा में प्रत्येक व्यक्ति स्वयमेव अपने लिए अपनी विवेक-बुद्धि से यह निर्णय करेगा कि वह दो समुदायों के आदेशों में किसके आदेश का पालन करे। यह निर्णय इस बात पर आधारित होगा कि कौन-सा आदेश उसके व्यक्तित्व के निर्माण में अधिक सहायक है। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि प्रभुसत्ता न तो राज्य में निहित है और न किसी अन्य समुदाय में, वह वस्तुतः मनुष्य के विवेकशील अंतःकरण (conscience) में निहित है। **लॉस्की** के विचार में, "समुदायों के अनेक प्रकारों में राज्य भी एक है तथा अन्य समुदायों की तुलना में वह व्यक्ति की भक्ति का उच्चतर अधिकारी नहीं है।"[1]

1. "State is only one among forms of associations and as compared with them has no superior claims to the individual allegiance."—LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

बहुलवाद के प्रमुख विचारक

बहुलवादी विचारकों में लिंड्से, बार्कर, कोल, मैकिवर तथा मिस फॉलेट के विचारों का अध्ययन संक्षेप में किया जा सकता है—

लिंड्से (Lindsay)—**लिंड्से** ने राज्य के विरोध में यहाँ तक कहा है, "यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रभुत्वसंपन्न राज्यों के सिद्धांत का खंडन हो चुका है।" उसने समुदायों की एकता पर अधिक जोर दिया है। उसने कहा है, "राज्य आवश्यकता है, लेकिन वह केवल समुदायों का संघ है।" उसका विचार है कि मानव-जीवन की समस्याओं का समाधान सिर्फ एक ही संस्था द्वारा नहीं हो सकता, वरन उसके लिए अनेक संस्थाओं की आवश्यकता पड़ती है।

बार्कर (Barker)—बार्कर के मत में समाज में पाए जानेवाले विविध समुदाय राज्यों के पूर्वकालीन हैं और उनमें से प्रत्येक के राज्य से पृथक अपने-अपने कार्य हैं। सामाजिक जीवन में इन समुदायों का स्थान राज्य से कम नहीं है; क्योंकि व्यक्ति की सब आवश्यकताएँ राज्य के अलावा अन्य विभिन्न समुदायों की सहायता के बिना पूरी नहीं हो सकतीं। उसने व्यक्ति के स्थान पर समुदायों को समाज की इकाई माना है। उसके अनुसार अब प्रश्न **व्यक्ति बनाम राज्य** का नहीं, वरन **समुदाय बनाम राज्य** का हो गया है। व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा तथा समुदायों के अत्याचारों से बचने का कार्य बार्कर के अनुसार बहुलवादी समाज में भी राज्य का ही रहता है। इस संबंध में **बार्कर** ने कहा है, "संपूर्ण जीवन की योजना का प्रतीक होने के कारण राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने तथा अन्य समुदायों के और उनके सदस्यों के संबंधों के बीच सामंजस्य बनाए रखे।"

जी॰ डी॰ एच॰ कोल (G. D. H. Cole)—**कोल** अपने विचारों में श्रेणी-समाजवादी है। उसके अनुसार, चूँकि समाज का स्वरूप संघीय है, इसलिए संप्रभुता के एकत्व पर आधारित राज्य ऐसे समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। उसका मत है कि राज्य मनुष्य के जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता और न वह संपूर्ण समाज की इच्छा का ही प्रतिनिधित्व करता है।

बहुलवाद पर लॉस्की के विचार
(Laski's View on Pluralism)

'बहुलवाद' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करनेवाला विद्वान प्रो॰ लॉस्की है। आदर्शवादी सिद्धांत के अनुसार राज्य को जो सर्वोच्चता प्रदान की जाती है, उसकी लॉस्की ने कड़ी आलोचना की है। उसके अनुसार न तो सामान्य इच्छा जैसी वस्तु होती है और न सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करनेवाली कोई एक शक्ति ही। कानून इसलिए कानून नहीं है कि वह संप्रभु शक्ति का आदेश है, वरन इसलिए है कि वह हमारे नैतिक आदर्शों की अभिव्यक्ति है और उसके द्वारा नैतिक जीवन संपन्न होता है। लॉस्की के विचारों का विश्लेषण हम निम्नलिखित रूपों में कर सकते हैं, क्योंकि इन्हीं तर्कों एवं आधारों पर उसने ऑस्टिन के संप्रभुता विषयक विचारों का खंडन किया है—

1. इतिहास और वर्तमान व्यवहार के आधार पर विरोध—इतिहास और वर्तमान व्यवहार के आधार पर संप्रभुता का सिद्धांत असत्य, अवास्तविक और अत्युक्तिपूर्ण है। मानव-जीवन के लंबे इतिहास में एक भी ऐसे शासक का उदाहरण नहीं मिलता, जो ऑस्टिन द्वारा बताई गई अमर्यादित शक्ति से संपन्न हो। प्रायः रूस के **जारों** तथा टर्की के **खलीफाओं** को इस प्रकार का निरंकुश तथा सर्वशक्तिशाली शासक बताया जाता है। किंतु, लॉस्की के विचार में यदि उनके शासन का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है वे निरंकुश शासक नहीं थे। उन्हें भी अपने देश की प्रथाओं, परंपराओं, धार्मिक नियमों और लोकमत का सम्मान करना होता था। लॉस्की **सर हेनरी मेन** के शब्दों को दुहराते हुए कहते हैं कि "ऑस्टिन का सिद्धांत इतना कृत्रिम है कि वह बेतुकेपन की सीमा को छू लेता है।" न सिर्फ इतिहास वरन आधुनिक समय के राज्यों के आधार पर भी संप्रभुता के सिद्धांतों का खंडन होता है। **लॉस्की** ब्रिटेन और अमेरिका के राजनीतिक जीवन के ऐसे उदाहरण पेश करता है जबकि राज्य को शक्तिशाली धार्मिक और आर्थिक समुदायों की इच्छा के सामने झुकना पड़ा है। **लॉस्की** के विचार में यदि राज्य वास्तव में पूर्णसत्तासंपन्न होते तो उन्हें इन समुदायों के सामने झुकना न पड़ता।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

2. नैतिक आधार पर विरोध—लॉस्की नैतिक आधार पर भी संप्रभुता की परंपरागत धारणा का विरोध करता है। उसके अनुसार, व्यक्ति का सर्वोच्च नैतिक कर्तव्य अपने व्यक्तित्व का विकास करना है, लेकिन संप्रभुता की परंपरागत धारणा राज्य को चरम साध्य और व्यक्ति को साधनमात्र बना देती है। यह स्थिति व्यक्तित्व के विकास में निश्चित रूप से बाधक है। **लॉस्की** के अनुसार, "मैं केवल उसी राज्य के प्रति राजभक्ति और निष्ठा रखता हूँ, उसी के आदेशों का पालन करता हूँ, जिस राज्य में मेरा नैतिक विकास पर्याप्त रूप से होता है। हमारा प्रथम कर्तव्य अपने अंतःकरण के प्रति सच्चा रहना है।"

3. कानून-विषयक धारणा के आधार पर विरोध—**लॉस्की** कानून-विषयक धारणा के आधार पर भी संप्रभुता का विरोध करता है। **ऑस्टिन** के विचार में कानून संप्रभुता का आदेश है, लेकिन **लॉस्की** के मतानुसार कानून संप्रभुता का आज्ञामात्र नहीं है, वरन वह परंपराओं, रीति-रिवाजों एवं धार्मिक नियमों द्वारा निर्मित होता है और उसका पालन भी स्वयं के औचित्य के चलते ही होता है।

4. अंतरराष्ट्रीयता के आधार पर विरोध—**लॉस्की** के विचार में संप्रभुता की परंपरागत धारणा अंतरराष्ट्रीय अशांति का भी एक कारण है क्योंकि प्रभुतासंपन्न राष्ट्र अंतरराष्ट्रीय व्यवहार में मनमाना आचरण करते हैं। **लॉस्की** ने जर्मनी और इटली जैसे शक्तिशाली राज्यों का उदाहरण दिया है जिन्होंने पोलैंड, बेल्जियम, अबीसिनिया जैसे निर्बल राज्यों पर आक्रमण कर मानव-जाति को असीम कष्ट पहुँचाया है। **लॉस्की** ने लिखा है, "बाहरी तौर पर हम देखें तो निश्चय ही निरपेक्ष और स्वतंत्र प्रभुतासंपन्न राज्य की अवधारणा की मानवता के हितों से संगति नहीं बैठती है।"

5. औचित्य के आधार पर विरोध—औचित्य के आधार पर भी संप्रभुता की परंपरागत धारणा का समर्थन नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति राज्य के सदस्य होने के साथ-साथ अन्य संस्थाओं के भी सदस्य होते हैं और उन संस्थाओं का न सिर्फ अपने अनुयायियों पर जोर होता है वरन, वे शासन के संचालन में भी अपना प्रभाव जमाने की कोशिश करती हैं। **लॉस्की** के विचार में, आधुनिक समय में समाज की स्थिति इस प्रकार की है कि अकेला राज्य, मानवीय जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ है। व्यक्ति अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आर्थिक पहलुओं से संबद्ध विभिन्न प्रकार के समुदायों का निर्माण करता है। ये समुदाय व्यक्ति के बहुमुखी विकास के लिए आवश्यक हैं। **लॉस्की** ने लिखा है, "आवश्यकताओं की दृष्टि से पूर्ण होने के लिए सामाजिक संगठन के ढाँचे का स्वरूप संघीय होना चाहिए।"

लॉस्की के संप्रभुता विषयक विचारों की आलोचना

संप्रभुता की परंपरागत धारणा का खंडन करते हुए लॉस्की ने जिन विचारों का प्रतिपादन किया है, उनमें पर्याप्त बल है। फिर भी, विभिन्न आधारों पर निम्नलिखित ढंग से **लॉस्की** के विचारों की आलोचना की जा सकती है—

1. **लॉस्की** ऐसी बात की आलोचना करता है जो संप्रभुता के प्रतिपादक नहीं करते हैं। **ऑस्टिन** और संप्रभुता की परंपरागत धारणा के अन्य प्रतिपादकों के अनुसार राज्य कानूनी रूप से सर्वोपरि है, लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि राज्य की कोई नैतिक या भौतिक सीमाएँ नहीं होती हैं।

2. **लॉस्की** भी अन्य बहुलवादियों के अनुसार राज्य और सरकार को एक समझने की भूल करता है। **ऑस्टिन** और उसके साथियों ने सरकार की संप्रभुता का नहीं, वरन राज्य के संप्रभुता-सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। बहुलवादी व्यावहारिक दृष्टिकोण के आधार पर राज्य और सरकार के भेद को अस्वीकार करते हैं, लेकिन एक राजनीतिक दार्शनिक के लिए राज्य और सरकार का भेद निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है। राज्य तो स्वभाव से ही व्यक्ति की असीमित भक्ति का पात्र है। किंतु, सरकार पर यह बात लागू नहीं होती। इसके अलावा, अन्य समुदायों को राज्य के समान स्थिति प्रदान कर देने की बात इस दृष्टि से नितांत अव्यावहारिक है कि इसे स्वीकार कर लेने पर व्यवस्था बनाए रखना संभव नहीं हो सकेगा।

3. स्वयं **लॉस्की** के संप्रभुता विषयक विचारों में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। अपनी प्रारंभिक रचनाओं *Studies in the Problem of Sovereignty* और *Authority in the Modern State* में वह राज्य की सर्वोच्च सत्ता पर प्रबल प्रहार करते हुए उग्र बहुलवादी विचारधारा का प्रतिपादन करता है और राज्य को अन्य ऐच्छिक समुदायों के समान ही एक समुदाय बताता है। लेकिन, बाद में अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'राजनीति के मूल तत्त्व' में वह अपने प्रारंभिक उग्र बहुलवाद में कुछ संशोधन कर देता है। अपने इस ग्रंथ में उसने

WWW.GRADESETTER.COM

यह माना है कि राज्य एवं अन्य ऐच्छिक समुदायों के स्वरूप में आधारभूत अंतर है। इससे यह स्पष्ट है कि लॉस्की अपने विचारों में स्पष्ट नहीं है। 1931 ई॰ में प्रकाशित अन्य ग्रंथ *'An Introduction to Politics'* में भी वह प्रारंभिक बहुलवाद से बहुत दूर चला गया है और 'राजनीति के मूल तत्त्व' के 1939 ई॰ के संस्करण की भूमिका में तो वह इसी ग्रंथ के प्रथम संस्करण में प्रतिपादित बहुलवाद के संशोधित रूप को भी तिलांजलि दे देता है।

निष्कर्ष—इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि **लॉस्की** ने अपने राजनीतिक चिंतन के परिपक्वताकाल और उत्तरार्द्ध में अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए राज्य की सत्ता और व्यक्ति की स्वतंत्रता में सामंजस्य स्थापित करने का प्रशंसनीय कार्य किया है। इस काल में **लॉस्की** ने इस बात पर बल दिया है कि राज्य को अन्य समुदायों पर नियंत्रण का अधिकार है, किंतु मानव-जीवन में इन विभिन्न समुदायों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उसने बताया है कि राज्य के द्वारा इन समुदायों की गतिविधियों पर कम-से-कम नियंत्रण होना चाहिए।

बहुलवाद पर मैकिवर के विचार
(MacIver's Views on Pluralism)

रॉबर्ट एम॰ मैकिवर का आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों में प्रमुख स्थान है। उन्होंने 'आधुनिक राज्य' (Modern State) में राज्य तथा संप्रभुता से संबंधित अपना विचार प्रकट किया है। उनके अनुसार सामाजिक जीवन के किसी भी पहलू को शेष सामाजिक पहलुओं से अलग करके अध्ययन नहीं किया जा सकता है। उन्होंने राज्य को समुदाय माना है और कहा है कि वह एक ऐसा समुदाय है जो मनुष्य के कुछ उद्देश्यों की पूर्ति करता है तथा सामाजिक व्यवस्था की बाहरी अवस्थाओं को नियंत्रित करता है। समाज में अनेक समुदाय मौजूद हैं जिनमें राज्य एक है और जिसे एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए खड़ा किया जाता है। मैकिवर के विचारों का विश्लेषण निम्नलिखित आधारों पर किया जा सकता है—

1. प्रभुसत्ता समुदाय की विशेषता—मैकिवर संप्रभुता के एकलवादी सिद्धांत की आलोचना करता है। उसके अनुसार, "राज्य की प्रभुसत्ता स्वतंत्र तथा बंधनरहित अंतिम शक्ति नहीं है, जैसाकि किसी भगवान जैसे शासक की शक्ति होती है।"[1] उसने बताया है, "प्रभुसत्ता एक समुदाय की विशेषता है और यह उस समुदाय से अधिक शक्तिशाली नहीं हो सकता।"[2]

2. कानूनी संप्रभुता का आलोचक—मैकिवर कानूनी संप्रभुता का कठोर आलोचक है। उसके अनुसार, संप्रभुता का कानूनी रूप औपचारिक है। इसके आधार पर वह निरंकुश नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी ही शक्ति धार्मिक कानूनों के बारे में चर्च के पास है। इसके अलावा, कानूनी संप्रभुता का सिद्धांत शक्ति पर आधारित है, सेवा पर नहीं। **मैकिवर** के विचार में, सरकार को सेवा करने की क्षमता से अधिक शक्ति देना एक भयंकर भूल है।

3. राज्य अन्य संस्थाओं के समान है—संप्रभुता के परंपरागत सिद्धांतों की आलोचना करते हुए **मैकिवर** ने बताया है कि राज्य अन्य समुदायों के समान है। वह कहता है कि राज्य समुदायों को पैदा नहीं करता, बल्कि उनके बाह्य संबंधों को निश्चित करता है। इस दृष्टि से राज्य की सत्ता सीमित है।

4. राज्य तथा समाज एक नहीं है—**मैकिवर** ने राज्य तथा समाज में निम्नलिखित भेद बताया है—

(i) राज्य समाज के अंदर है, किंतु इसका ढाँचा समाज का ढाँचा नहीं है। वह समाज में मनुष्यों के बाह्य संबंधों को नियंत्रित करता है।

(ii) समाज राज्य से पहले अस्तित्व में आया, क्योंकि शिकार युग में राज्य का कोई पता नहीं था।

(iii) समाज राज्य से अलग तथा ऊपर है।

(iv) राज्य की तुलना में समाज एक खुला संगठन है।

---

1. "... Sovereignty of the state is no simply final power, as free and unconditioned over human life as the will of an overruling God might be supposed to be."—MACIVER : *The Modern State*, p. 467
2. "It is the attribute of an association and is no more absolute than its association itself."—*Ibid*

WWW.GRADESETTER.COM

(v) राज्य समाज का समुदाय है। **मैकिवर** के अनुसार, "हमें न सिर्फ यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि राज्य समाज का रूप है बल्कि हमें यह निश्चित रूप से घोषित कर देना चाहिए कि यह एक परिवार या चर्च जैसा ही समुदाय है।" राज्य अन्य समुदायों से ऊँचा भी नहीं है। अतः, वह निगमों के आंतरिक मामलों को नियंत्रित नहीं कर सकता।

5. कानून संप्रभु का आदेश नहीं है—**ऑस्टिन** के विचार में कानून संप्रभु की आज्ञा है और उसका आधार राज्य की सत्ता है। मैकिवर कानून को आदेश नहीं मानता। उसके विचार में कानून आदेश का एकदम उल्टा है। **मैकिवर** आज्ञा देनेवाले और आज्ञा पालन करनेवालों को अलग-अलग देखता है। उसके विचार में कानून आज्ञा की अपेक्षा मौलिक तथा स्थायी है।[1]

6. राज्य की कानून बनाने की शक्ति असीमित नहीं है—**मैकिवर** राज्य तथा कानून के बीच संबंध भी स्थापित करता है। उसके अनुसार, "राज्य कानून का शिशु और संरक्षक दोनों है।"[2] वह कहता है कि राज्य की कानून बनाने की शक्ति असीमित नहीं होती। यह एक राजनीतिक असत्य है। कानूनी रूप से राज्य की कानून बनाने की शक्ति भले ही असीमित हो, व्यावहारिक राजनीतिक दृष्टि से यह बात उचित नहीं है।

7. जनता कानूनों का पालन इच्छा से करती है—**मैकिवर** के विचार में जनता कानूनों का पालन इच्छा से करती है। उसके विचार में कानूनों के पालन का आधार प्रभुता की शक्ति नहीं है, जैसाकि ऑस्टिन ने बताया है। कानूनपालन की इच्छा के साथ नागरिकता के भाव और परंपराएँ जुड़ी हुई हैं। **ग्रीन** के समान **मैकिवर** का भी विचार है, "कानूनों के पालन का आधार भय नहीं, वरन कानूनपालन की इच्छा है।"[3]

8. संप्रभुता का आधार शक्ति नहीं है—**टी॰ एच॰ ग्रीन** की तरह **मैकिवर** ने भी संप्रभुता का आधार न्याय, व्यवस्था तथा सुरक्षा बताया है। इस संदर्भ में वह कहता है, "शक्ति राज्य की कसौटी हो सकती है, किंतु सार नहीं।"[4]

9. सामाजिक एकता के लिए राज्य को असीमित शक्ति नहीं—**मैकिवर** अनेकता में विश्वास करता है और अनेकता में एकता स्थापित करना चाहता है। सामाजिक एकता के लिए वह राज्य को जिम्मेवारी सौंपता है, लेकिन इस कार्य के लिए वह राज्य की प्रभुता को आवश्यक नहीं मानता। मैकिवर का यह विचार स्पष्ट नहीं है।

बहुलवाद की आलोचनाएँ (Criticisms of Pluralism)

आज बहुलवाद की निम्नलिखित आलोचनाएँ प्रचलित हैं—

1. अराजकता को निमंत्रण—आलोचकों का कहना है कि बहुलवाद का सबसे गंभीर दोष समाज में अराजकता को निमंत्रण है। राज्य के अभाव में समाज में अशांति फैल जाएगी। विभिन्न समुदायों में झगड़े बढ़ने से गृहयुद्ध की स्थिति पैदा हो जाएगी।

2. अंतर्विरोध—बहुलवाद में भीषण अंतर्विरोध पाया जाता है। एक ओर तो बहुलवादी राज्य को समुदायों के समकक्ष मानते हैं, प्रभुसत्ता से वंचित करते हैं, तो दूसरी ओर वे राज्य को विभिन्न समुदायों से ऊपर तथा उसके विवादों के निर्णय के लिए आवश्यक प्रभुशक्ति प्रदान करते हैं। इस प्रकार, बहुलवादी एक बड़े आत्मविरोध में फँस जाते हैं।

3. कानून विषयक भ्रांतिपूर्ण दृष्टिकोण—उनका **तीसरा दोष** कानून के विषय में भ्रांतिपूर्ण दृष्टिकोण है। बहुलवादी विचारक **डयूग्वी** तथा **क्रैब** ऑस्टिन के इस मत का खंडन करते हैं कि कानून प्रभुसत्तासंपन्न व्यक्ति का आदेशमात्र है। **डयूग्वी** का कहना है कि कानून संप्रभु का आदेश नहीं, वरन कानून का एकमात्र स्रोत औचित्य की वृद्धि है। जब तक कानून समाज की परंपराओं के अनुकूल नहीं होता तब तक उसको मान्यता नहीं दी जा सकती।

4. देशभक्ति-विरोधी—बहुलवाद का **चौथा दोष** इसका देशभक्ति-विरोधी होना है। लॉस्की का बहुलवाद अंतरराष्ट्रीयता पर बल देता है। राष्ट्रीयता के अभाव में बहुलवाद एक कपोल-कल्पना है।

---

1. "Law is permanent and fundamental as compared with command."—*Ibid*
2. "The State is both child and the parents of law."—*Ibid*
3. "The root of obedience to law is not coercion, but the will to obey."—*Ibid*, p. 21
4. "Coercive power is criterian of the State, but not its essence."—*Ibid*, p. 223

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

5. भ्रांत धारणाओं पर आधारित—इस आधार पर भी बहुलवाद की आलोचना की जाती है कि यह भ्रांत धारणाओं पर आधारित है तथा मानव समाज के विभिन्न समुदायों में कलह की वृद्धि करता है। बहुलवादी विभिन्न समुदायों की स्वतंत्रता की माँग करते हैं। यदि इन्हें स्वतंत्रता दे दी जाए तो उस दशा में यह बात विशेष रूप से आवश्यक है कि इन समुदायों के अत्याचारों से व्यक्तियों की रक्षा के लिए राज्य की सर्वोपरि सत्ता बनी रहे।

6. राज्य एक अनिवार्य संस्था है—राज्य एक अनिवार्य संस्था है, क्योंकि व्यक्ति जन्म से ही किसी-न-किसी राज्य का सदस्य हो जाता है। वह स्वभाववश राज्य के कानूनों का पालन करता है और राज्य भी उसकी सुरक्षा का दायित्व लेता है।

7. राज्य का बहिष्कार या महत्त्व—बहुलवादियों ने राज्य की संप्रभुता को मर्यादित करने की तो सिफारिश की है, परंतु वह राज्य के महत्त्व को सर्वथा मानते रहे हैं। एक ओर, बहुलवादियों ने राज्य की सर्वोपरिता की आलोचना की है; परंतु दूसरी ओर राज्य के अद्वितीय महत्त्व को स्वीकार भी कर लिया है। **लॉस्की** का कहना है, "राज्य में कुछ ऐसे अंग हैं जिनकी शक्ति असीमित है।"[1]

निष्कर्ष (Conclusion)—अंततः बहुलवाद की उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद इसने महत्त्वपूर्ण कार्यों का संपादन किया है। इसने सर्वप्रथम व्यक्ति के नैतिक विकास में सहायता पहुँचाई है। इसने यह सिखाया है कि राज्य को हम अपनी निष्ठा और भक्ति इसलिए प्रदान करते हैं कि वह हमारे नैतिक विकास के प्रयोजन को पूरा करता है। यदि राज्य हमारे व्यक्तित्व के विकास में बाधक है तो हम भी उसके आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं हैं। तीसरा कार्य बहुलवाद ने यह किया है कि इसने मानव के विकास के लिए अन्य समुदायों की महत्ता तथा उनके द्वारा किए जानेवाले उपयोगी कामों पर बल दिया है। इसने प्रभुसत्ता के वास्तविक स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। इस प्रकार, बहुलवादियों ने एकत्ववाद की अतिशयता की जड़ में यद्यपि अनेक ऐसी बातों का भी प्रतिपादन किया है जो अतिशयतापूर्ण हैं, फिर भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि बहुलवाद ने एकत्ववाद के उस एकाधिकारवादी गुण को तोड़ दिया है जिसकी आड़ में समय-समय पर व्यक्ति को दास बनाया जाता रहा है। इसने यह बता दिया है कि व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए, अपने जीवन के विविध पहलुओं से संबद्ध समुदायों के अंतर्गत संगठित होने की स्वतंत्रता होनी चाहिए और इन समुदायों को भी मानव-जीवन के विकास के लिए कार्य करने की आवश्यक स्वतंत्रता होनी चाहिए। इसने बताया है कि सच्चा लोकतंत्र वह है जिसमें सत्ता का विकेंद्रीकरण हो, व्यक्ति सामाजिक जीवन की समस्याओं के प्रति सदा सजग रहे और सामूहिक सामाजिक विकास में वह अपनी सामर्थ्य-भर योगदान दे सके।

इस प्रकार बहुलवादियों ने राज्य का विरोध तो किया है, फिर भी राज्य की आवश्यकता की हमलोग उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि आज विभिन्न समुदायों में सामंजस्य रखने के लिए तथा समाज में शांति तथा व्यवस्था कायम रखने के लिए राज्य की आवश्यकता है। इस रूप में राज्य की उपयोगिता बहुलवादियों को भी स्वीकार करनी पड़ेगी और इस दृष्टि से प्रभुसत्ता का परंपरागत विचार बिल्कुल ठीक है। इसे राजनीतिक चिंतन-क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता।

प्रश्नावली

1. संप्रभुता-संबंधी बहुलवादी विचारों को स्पष्ट करें।
   (Explain the pluralistic views regarding sovereignty.)
2. बहुलवाद से आप क्या समझते हैं? संप्रभुता-संबंधी सिद्धांत के विरुद्ध इसके तर्कों की व्याख्या कीजिए।
   (What do you understand by pluralism ? Bring out the main points of its criticisms against the concept of sovereignty.)
3. लॉस्की और मैकिवर के विचारों के संदर्भ में बहुलवाद की विवेचना कीजिए।
   (Explain pluralism with special reference to Laski and MacIver.)

1. "Legally no one can deny that there exists in every state some organs whose authority is unlimited."—LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

4. संप्रभुता के बहुलवादी सिद्धांत का आलोचनात्मक विवेचन करें।
(Discuss critically the pluralistic doctrine of sovereignty.)
5. बहुलवाद क्या है ? बहुलवाद के संबंध में लॉस्की के विचारों की व्याख्या कीजिए।
(What is pluralism ? Explain Laski's veiws on pluralism.)
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें—
(i) ल़ॉस्की, (ii) बहुलवाद का विकास, (iii) मैकिवर।
(Write brief notes on the following :
(i) Laski, (ii) Evolution of Pluralism, (iii) MacIver.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 14

कानून
[LAW]

---

1. कानून के पालन न करने से हमें दंड मिलेगा, इस भय से हम कानून का पालन नहीं करते, वरन उसका पालन हम इसलिए करते हैं कि हम उसे न्यायोचित और अच्छा समझते है।—ह्यूगो क्रैब

2. एक प्रभुतासंपन्न राजनीतिक शक्ति द्वारा लागू किए जानेवाले बाह्य आचरण के सामान्य नियम को कानून कहा जाता है।—हॉलैंड

विषय-प्रवेश (Introduction)

राजनीतिशास्त्र में कानून की अवधारणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शासन किसी भी राज्य के संगठन में विशिष्ट योगदान देता है। इसकी अनुपस्थिति में एक व्यवस्थित राज्य तथा समाज की हम कल्पना नहीं कर सकते हैं। समाज की शांति और नैतिकता के संदर्भ में ही व्यक्ति को कानून का पालन करना चाहिए। इस संबंध में **ह्यूगो क्रैब** (Hugo Krabbe) ने कहा है, "कानून का पालन दंड के भय से नहीं, वरन उसका पालन हम इसलिए करते हैं कि हम उसे न्यायोचित और अच्छा समझते हैं।" **मैकिवर** ने कहा है, "राज्य की विधि स्वतंत्र, उन्नत समाज में दंड दे सकती है।" राज्य मानव कल्याण की व्यवस्था के लिए नागरिकों को एक सुनिश्चित कानूनी व्यवस्था में चलाता है और कुछ ऐसे कानूनों का निर्माण करता है जिनका पालन करना व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है और जिनका पालन न करने से व्यक्ति दंड का भागी बनता है। ऐसे कानूनों को हम राजनीतिक कहते हैं और राजनीतिशास्त्र ऐसे ही कानूनों का अध्ययन करता है। इस प्रकार, कानून ऐसी वस्तु के रूप में हमारे सामने आती है जो सदा स्थिर और निश्चित होनी चाहिए।

कानून-संबंधी विभिन्न अवधारणाएँ (Different Concepts of Law)

कानून का स्वरूप निर्धारित करने के लिए अनेक विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया है—

1. विश्लेषणात्मक अवधारणा (Analytical concept)—इस अवधारणा का सबसे प्रबल प्रतिपादक **जॉन ऑस्टिन** है। **ऑस्टिन** कहता है, "राज्य की सर्वोच्च सत्ता का आदेश ही कानून होता है।" हॉलैंड ने भी इसी अवधारणा का समर्थन करते हुए कानून को आचरण का वह नियम माना है, जिसका संबंध मनुष्य के केवल बाह्य क्रियाकलापों से होता है। इस अवधारणा के अनुसार कानून का स्वरूप राज्यसत्ता की मान्यता पर आधारित है। इस अवधारणा के अनुसार राज्यसत्ता की मान्यता ही कानून का सार है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कानून का पालन व्यक्ति द्वारा इसलिए किया जाता है कि उसे ऐसी राज्यसत्ता की मान्यता प्राप्त है, जो कानून की अवज्ञा के लिए व्यक्ति को दंड दे सकती है। हॉलैंड के अलावा प्लेटो, एक्वीनॉस, कांट, बोदाँ, बेन्थम, ऑस्टिन तथा विलोबी आदि विद्वानों ने भी इस अवधारणा का समर्थन किया है। चूँकि यह विचाराधारा विधि का आलोचनात्मक अध्ययन नहीं करती, वरन विधि जिस रूप में है, उसी रूप की व्याख्या करती है और इसमें परंपराओं एवं रीति-रिवाजों का कोई स्थान नहीं है, इसलिए इसकी आलोचनाएँ की जाती हैं। इस विचारधारा का एक दोष यह है कि यह कानून और आदेश में कोई अंतर नहीं मानती। गेटेल कहता है कि इसकी आलोचना इसके अधिक औपचारिक, अपरिवर्तनशील होने के चलते हुई है। फिर भी, इस अवधारणा की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि इसके द्वारा कानून को लिखित रूप देकर उसे अधिक स्पष्ट बना दिया गया है।

2. ऐतिहासिक अवधारणा (Historical concept)—कानून विषयक दूसरी अवधारणा ऐतिहासिक और विकासवादी है। इस अवधारणा के अनुसार शासन का स्वरूप राज्य-सत्ता की मान्यता पर आधारित नहीं

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

होता, वरन उसका आधार वह परिवर्तनशील एवं दीर्घकालीन सामाजिक प्रक्रिया होती है जिसके परिणामस्वरूप कानून बनते हैं।

इस अवधारणा के प्रतिपादन का सार है कि कानूनों का जो वर्तमान स्वरूप है, उसके पीछे एक इतिहास है और उनका यह स्वरूप पुरातनकाल से चल रही एक सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम है। मॉण्टेस्क्यू, बर्क, हेनरी मेन, मेटलैंड इत्यादि विद्वानों ने ऐतिहासिक अवधारणा का समर्थन किया है। इस अवधारणा की आलोचनाएँ निम्नलिखित **तीन आधारों** पर की गई हैं—

(i) चूँकि यह विचारधारा सिर्फ भूतकालीन स्थिति पर ध्यान देती है, इसलिए यह रूढ़िवादी है।

(ii) यह विचारधारा कानून के औपचारिक पक्ष का समर्थन नहीं करती।

(iii) यह कानून के ऐतिहासिक पक्ष पर ध्यान देती है, और दार्शनिक पक्ष की अवहेलना करती है।

3. समाजशास्त्रीय अवधारणा (Sociological concept)—कानून के स्वरूप के संबंध में एक अन्य अवधारणा समाजशास्त्रीय है। **डयूग्वी, क्रैब** तथा **लॉस्की** आदि विद्वानों ने इस अवधारणा का समर्थन किया है। यह अवधारणा कानून के स्वरूप को न तो राज्य-सत्ता के आदेशों का परिणाम मानती है और न उसे केवल प्रथाओं या परंपराओं पर आधारित मानती है, वरन इसके प्रतिपादन के अनुसार कानून का स्वरूप सामाजिक है। इस अवधारणा के अनुसार समाज की इकाई के रूप में व्यक्ति के क्रियाकलाप का एक स्तर स्थापित हो जाता है और कानून का कार्य उस स्तर को ही विधिवत स्वीकृति देना है। इस प्रकार, कानून का समाज से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। उसका उद्देश्य सामाजिक हित-साधन होता है। व्यक्ति के आचरण का कोई नियम राज्य-सत्ता के आदेश होने के कारण नहीं, वरन जनता के नैतिक विश्वास के कारण तथा सामाजिक वातावरण के अनुकूल होने के कारण 'कानून का रूप धारण करता है। यदि कोई कानून जनता के नैतिक विश्वास के अनुकूल नहीं है या सामाजिक वातावरण में ठीक नहीं बैठता तो हमें उसे कानून नहीं कहना चाहिए। इसका समर्थन **लॉस्की** ने भी किया है।

4. दार्शनिक अवधारणा (Philosophical concept)—यह अवधारणा कुछ निश्चित सिद्धांत के आधार पर कानून के नैतिक पक्ष पर जोर देती है। इसके द्वारा कानून और न्याय में अटूट संबंध स्थापित करने का प्रयास किया गया है। यह कानून को न्यायपूर्ण तथा विवेकपूर्ण बनाती है। इस विचारधारा के समर्थकों का कहना है कि कानून संस्कृति की उपज है तथा इसका उपयोग संस्कृति के विकास के लिए होता है। **ग्रोसियस, जॉन लॉक, रूसो, हैरिंग, जोसेफ, कोलहन** इत्यादि विद्वानों ने इसका समर्थन किया है। इसके निम्नलिखित दोष हैं—

(i) यह केवल कानून के नैतिक पक्ष पर जोर देती है।

(ii) इसके अंतर्गत कानून के सिर्फ अमूर्त रूप की ही कल्पना की गई है।

5. तुलनात्मक अवधारणा (Comparative concept)—यह अवधारणा 20वीं शताब्दी की देन है। इसके अनुसार अतीत और वर्तमान की सभी वैज्ञानिक पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद ही कानून के स्वरूप का निर्धारण किया जाता है। इस विचारधारा पर डार्विन के सिद्धांत, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान तथा मानव-विज्ञान के विकास का प्रभाव पड़ा है। मैक्समूलर, ह्वटने मार्गन तथा स्पेंसर आदि ने भी इसका समर्थन किया है।

कानून के स्वरूप-संबंधी उपर्युक्त विभिन्न अवधारणाओं में—विश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक तथा समाज-शास्त्रीय अवधारणाओं का विशेष महत्त्व है। यदि हम इन तीनों अवधारणाओं का विश्लेषण करते हैं तो यह स्पष्ट है कि इन तीनों विचारों में सत्यांश अवश्य है। ये तीनों कानून की ऐसी विशेषताओं को प्रकाश में लाती हैं जिनको समष्टि में रखने से कानून का आधुनिक रूप पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। विश्लेषणात्मक अवधारणा कानून के संबंध में यदि हमें यह बताती है कि कानून के पीछे राज्य-सत्ता की मान्यता होना आवश्यक है, तो ऐतिहासिक अवधारणा कानून के संबंध में हमें महत्त्वपूर्ण तथ्य का ज्ञान कराती है कि कानून का रूप स्थायी या अप्रगतिशील नहीं हो सकता। कानून वांछनीय बना रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि वह समय के अनुकूल प्रगतिशील बना रहे, अन्यथा प्रगति के प्रतिकूल स्थायी बने रहनेवाले कानून रद्दी की टोकरी में फेंक देनेवाली वस्तु हो सकते हैं। इन दो महत्त्वपूर्ण बातों के अलावा समाजशास्त्रीय विचारधारा हमें इस बात की जानकारी देती है कि राज्य की मान्यता केवल उन्हीं कानूनों को मिलनी चाहिए, जिनसे सामाजिक हितों की साधना होती हो।

WWW.GRADESETTER.COM

कानून का अर्थ (Meaning of Law)

'कानून' अँगरेजी शब्द लॉ (Law) का हिंदी रूपांतर है। लॉ (law) शब्द ट्यूटॉनिक धातु (lag) से निकला है, जिसका अर्थ है 'ऐसी चीज जो स्थिर या समान रूप से बनी रहे।' इस शब्द का प्रयोग अँगरेजी भाषा में इस अर्थ में होता है 'वह जो एकरूप बना रहे' (That which is uniform)। लेकिन, शब्द-व्युत्पत्ति के आधार पर कानून का बोध स्थिर एवं निश्चित से होता है। जब इसका प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में किया जाता है, तब इसका अर्थ ऐसे नियमों और सिद्धांतों से होता है जो अपरिवर्तनीय और अलंघनीय होते हैं; जैसे—गुरुत्वाकर्षण का नियम (law of gravitation), गति के नियम (law of motion) आदि। आचारशास्त्र में 'कानून' का प्रयोग मनुष्य के चरित्र के संदर्भ में किया जाता है। जब हम इस अर्थ में इसका प्रयोग करते हैं तब यह सत्कर्म और दुष्कर्म, सत्य और असत्य, भला और बुरा इत्यादि की विवेचना करता है। 'कानून' शब्द का प्रयोग आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में अलग-अलग अर्थों में किया जाता है। सामाजिक नियम अथवा सामाजिक कानून का संबंध, समाज का संगठन, सामाजिक परंपराएँ तथा सामाजिक रीति-रिवाजों से है। इनके पीछे समाज की स्वीकृति होती है और उल्लंघनकर्ता को सामाजिक दंड दिया जाता है। सामाजिक आचरण को नियमित करनेवाली ये परंपराएँ या रीति-रिवाज कानून का रूप ले लेते हैं और तब इन्हें राज्य की विधिवत स्वीकृति मिल जाती है। राजनीतिशास्त्र में 'कानून' शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया जाता है। इस विषय के अंतर्गत केवल उन नियमों पर विचार किया जाता है जिनपर विचार राज्य के द्वारा होता है और जिनके पीछे राज्य की शक्ति होती है। संक्षेप में, कानून से उन नियमों, प्रथाओं, रीति-रिवाजों या परंपराओं का बोध होता है जिनका निर्माण या तो राज्य द्वारा होता है अथवा जिन्हें राज्य द्वारा मान्यता या स्वीकृति दी जाती है।

कानून की परिभाषा (Definition of Law)

कानून राजनीतिशास्त्र का एक ऐसा विवादास्पद विषय है जिसपर विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न रूप से विचार किया है। कानून की एक सर्वसम्मत परिभाषा देना आसान काम नहीं है। **पोलॉक** ने ठीक ही कहा है कि कानून की परिभाषा करना संभव नहीं है। **एलन** ने भी अपना विचार प्रकट किया है, "अच्छा यही होगा कि विधि की परिभाषा ही नहीं की जाए, क्योंकि परिभाषा या तो अतिलघु या अतिदीर्घ होगी।" राजनीतिशास्त्र के कुछ अन्य विद्वानों ने भी विधि की परिभाषा की है जिसे हम निम्नांकित रूप में रख सकते हैं—

ऑस्टिन—"कानून संप्रभु की आज्ञा है।"[1]

वुडरो विल्सन—"कानून स्थिति, विचार तथा स्वभाव का वह अंश है जिसे सरकार की शक्ति लागू करती है।"[2]

डयूग्वी—"आधारभूत अर्थ में कानून आचरण के नियमों के उस समूह को कहते हैं जिसका पालन साधारण मनुष्य सामाजिक जीवन से प्राप्त लाभ या सुविधा के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए करता है।"[3]

हॉलैंड—"कानून मनुष्यों के आचरण का वह साधारण नियम है जो केवल बाह्य आचरण पहचानता है और किसी निश्चित सत्ता द्वारा लागू किया जाता हो, और वह सत्ता मानवीय हो तथा मानवीय सत्ताओं में भी वह जिसे राजनीतिक समाज में सर्वोच्च शक्तिसम्पन्न माना जाता हो या संक्षेप में एक प्रभुतासंपन्न राजनीतिक शक्ति द्वारा लागू किए जाने वाले बाह्य आचरण के सामान्य नियम को कानून कहा जाता है।"[4]

पाउण्ड—"न्याय के प्रशासन में जनता तथा नियमित अदालतों द्वारा मान्यताप्राप्त लागू किए गए सिद्धांतों को कानून कहते हैं।"[5]

---

1. "Law is the command of the sovereign."—AUSTIN
2. "Law is that portion of established thought and habit which has gained distinct and formal recognition in the shape of uniform rules backed by the authority and power of government."—W. WILSON
3. "Laws in the fundamental sense, are rules of conduct which normal men know they must observe in order to preserve the benefits derived from life in society."—DUGUIT
4. "A law is a general rule of action taking cognizance only of external acts enforced by a determinate authority, which authority is human and among human authorities is that which is paramount in a political society, or briefly a law is a general rule of external action enforced by a sovereign political authority."—HOLLAND
5. "The body of principles recognised and enforced by public and regular tribunals in the administration of justice."—POUND

WWW.GRADESETTER.COM

मैक्स वेबर—"कानून समाज द्वारा स्वीकृत वे नैतिक निर्देश हैं जिनको मानने के लिए बाध्य किया जाता है और जिनके उल्लंघन होने पर राज्य-कर्मचारियों द्वारा दंड दिया जाता है।"[1]

ग्रीन—"कानून अधिकारों एवं कर्तव्यों की उस पद्धति को कहते हैं जिसको सरकार लागू करती है।"[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'कानून' शब्द की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि सचमुच कानून परंपरागत या राज्य द्वारा निर्मित वे लिखित या अलिखित नियम हैं जो मानव के बाह्य आचरण का नियमन कर समाज में शांति एवं सुव्यवस्था बनाए रखते हैं।

कानून के आवश्यक तत्त्व (Essential Elements of Law)

कानून के अर्थ एवं परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि कानून में निम्नलिखित तत्त्वों का रहना आवश्यक है—(i) कानून केवल नागरिक समाज में ही लागू हो सकता है। (ii) कानून एक सामान्य नियम है। (iii) कानून मानव के बाह्य आचरण से संबद्ध है। (iv) कानून का निर्माण संप्रभुशक्ति के द्वारा होता है। (v) कानून के पीछे राज्य की शक्ति रहती है। (vi) कानून का उद्देश्य सार्वजनिक हित है।

(i) कानून केवल नागरिक समाज में ही लागू हो सकता है—कानून के लिए नागरिक समाज का रहना आवश्यक है, क्योंकि नागरिक समाज ही एक सुव्यवस्थित संगठन है और एक सुव्यवस्थित संगठन के संचालन के लिए नियमों की आवश्यकता हो सकती है। यहाँ तक कि एक क्लब को चलाने के लिए उसके सदस्यों को समान रूप से कुछ निश्चित नियमों का पालन करना पड़ता है, अन्यथा क्लब का जीवन ही समाप्त हो सकता है। अतएव, कानून के लिए नागरिक समाज का होना आवश्यक है।

(ii) कानून एक सामान्य नियम है—साधारणतः सामान्य नियम का तात्पर्य है कि वह सभी नागरिकों पर सामान्य रूप से लागू हो, लेकिन ऐसा संभव नहीं है। इसलिए सामान्य नियम से यह अभिप्राय लगाया जाता है कि उसका निर्माण हमेशा संपूर्ण समाज के हित को ध्यान में रखते हुए होना चाहिए।

(iii) कानून मानव के बाह्य आचरण से संबद्ध है—कानून केवल हमारे बाह्य आचरण का नियमन करते हैं। उनका संबंध मानव की आतंरिक प्रवृत्तियों, भावनाओं या मन के विचार से नहीं होता। आंतरिक भावनाओं या विचारों का संबंध तो आचारशास्त्र से है, परंतु जब हमारे आंतरिक विचार बाह्य आचरण में प्रकट होते हैं तब उनको नियमित करना कानून का कार्य है। दूसरे को मारने या घायल करने का विचार कानून की परिधि के अंतर्गत नहीं आता, परंतु ऐसे कार्य से कानून का संबंध है।

(iv) कानून का निर्माण संप्रभु-शक्ति द्वारा होता है—कानून का निर्माण संप्रभु-शक्ति के द्वारा होता है; क्योंकि जिस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह में संप्रभुता निवास करती है उसी को कानून निर्माण करने का एकमात्र अधिकार प्राप्त रहता है। यदि किसी राज्य में एक व्यक्ति में संप्रभुता निवास करती है तो ऐसी स्थिति में उसकी इच्छा ही कानून होती है। वह निरंकुश बन जाता है। जहाँ पर संप्रभुता व्यक्ति-समूह या जनता के प्रतिनिधियों में निवास करती है वहाँ कानून निर्माण करने का अधिकार उस पूरे व्यक्ति-समूह को होता है।

(v) कानून के पीछे राज्य की शक्ति रहती है—कानून के पीछे राज्य की शक्ति इसलिए होती है कि राज्य कानून का पालन करने के लिए बाध्य करता है। राज्य कानून का उल्लंघन करनेवाले को दंड देता है।

(vi) कानून का उद्देश्य सार्वजनिक हित है—कानून सामाजिक जीवन में शांति, सुव्यवस्था तथा संतुलन बनाए रखता है। यह समाज की गतिशीलता को कायम रखता है। किसी वर्ग-विशेष का वह पक्षपात नहीं करता, वरन समाज के सभी प्राणियों की भलाई को ध्यान में रखता है।

कानून के उद्देश्य (Aims of Law)

कानून सामाजिक व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण आधारशिला है। कानून की अनुपस्थिति में समाज में अराजकता पनपने की आशंका रहती है। हम कानून का पालन उसकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर ही करते हैं। हम कानून के उद्देश्यों को अग्रांकित रूप में रख सकते हैं—(i) राज्य का शासन-संचालन, (ii) मतभेदों

1. "Law may be defined as the ethical directives in a community, deviations from which are met usually by measures to compel conformity or by punishment applied by public officers."—MAX WEBER
2. "The system of rights and obligations which the state enforces."—GREEN

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

और झगड़ों का निबटारा, (iii) नागरिक-कल्याण तथा व्यक्ति का विकास, (iv) शांति तथा सुव्यवस्था की स्थापना, (v) स्वतंत्रता तथा समानता की रक्षा, (vi) भय की समाप्ति।

(i) राज्य का शासन-संचालन—कानून का मौलिक उद्देश्य राज्य का शासन संचालन है। किसी भी राज्य के अस्तित्व का सही पता कानूनों द्वारा ही लगाया जा सकता है। राज्यरूपी भावनात्मक वस्तु को व्यावहारिक रूप देने की जिम्मेवारी कानून पर है। कानून के माध्यम से ही राज्य अपनी इच्छाओं को अभिव्यक्त करता है। अतएव, राज्य के संचालन में कानून का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

(ii) मतभेदों और झगड़ों का निबटारा—कानून का दूसरा दायित्व राज्य के नागरिकों के पारस्परिक झगड़ों और मतभेदों का समाधान करना तथा राज्य और व्यक्ति के बीच उत्पन्न झगड़ों का निबटारा है। अगर कानून नहीं रहे तो समाज के झगड़ों का निबटारा असंभव है। कानून की अनुपस्थिति में अराजकता उत्पन्न होती है। प्राकृतिक तथा आदिम अवस्था में कानून के अभाव के कारण ही झगड़े हुआ करते थे। हॉब्स ने कहा है कि प्राकृतिक राज्य झगड़ों, कलह, द्वेष तथा असुविधाओं का राज्य था। इसलिए लॉक ने कहा है कि प्राकृतिक राज्य में निश्चित कानून नहीं रहने के कारण झगड़ों के निबटाने में काफी कठिनाई होती थी।

(iii) नागरिक कल्याण तथा व्यक्तित्व का विकास—कानून का एक अन्य उद्देश्य नागरिकों का कल्याण तथा उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास है। कानून के माध्यम से ही राज्य के अंतर्गत लोक-कल्याणकारी भावनाओं और महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कार्यों का संचालन किया जा सकता है।

(iv) शांति तथा सुव्यवस्था की स्थापना—कानून का दायित्व राज्य में शांति और सुव्यवस्था को बनाए रखना भी है। शांति को भंग करनेवाले बदमाशों, गुंडों तथा डकैतों को दंड देना कानून का धर्म है, क्योंकि राज्य में कानून की स्थापना सबसे पहले इसी उद्देश्य के लिए की जाती है।

(v) स्वतंत्रता तथा समानता की रक्षा—कानून मानवीय स्वतंत्रता तथा समानता की रक्षा करता है। स्वतंत्रता और समानता एक-दूसरे के विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। कानून की अनुपस्थिति में स्वतंत्रता और समानता की हिफाजत नहीं हो सकती।

(vi) भय की समाप्ति—कानून का अंतिम उद्देश्य भय को समाप्त करना है। सदियों से दलित मानवता को यह त्राण देता रहा है। गरीबों को राहत देता है। यह शोषण को समाप्त करने का प्रयास करता है।

कानून का वर्गीकरण (Classification of Laws)

राजनीतिशास्त्र के कुछ विद्वानों ने कानून का वर्गीकरण शासक और शासित के संबंधों को, कुछ ने इसके उद्गम-स्थल को तथा कुछ ने अंतरराष्ट्रीयता के तत्त्वों को ध्यान में रखकर किया है। **मैकिवर** ने अपनी पुस्तक *Modern State* में कानून का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किया है—

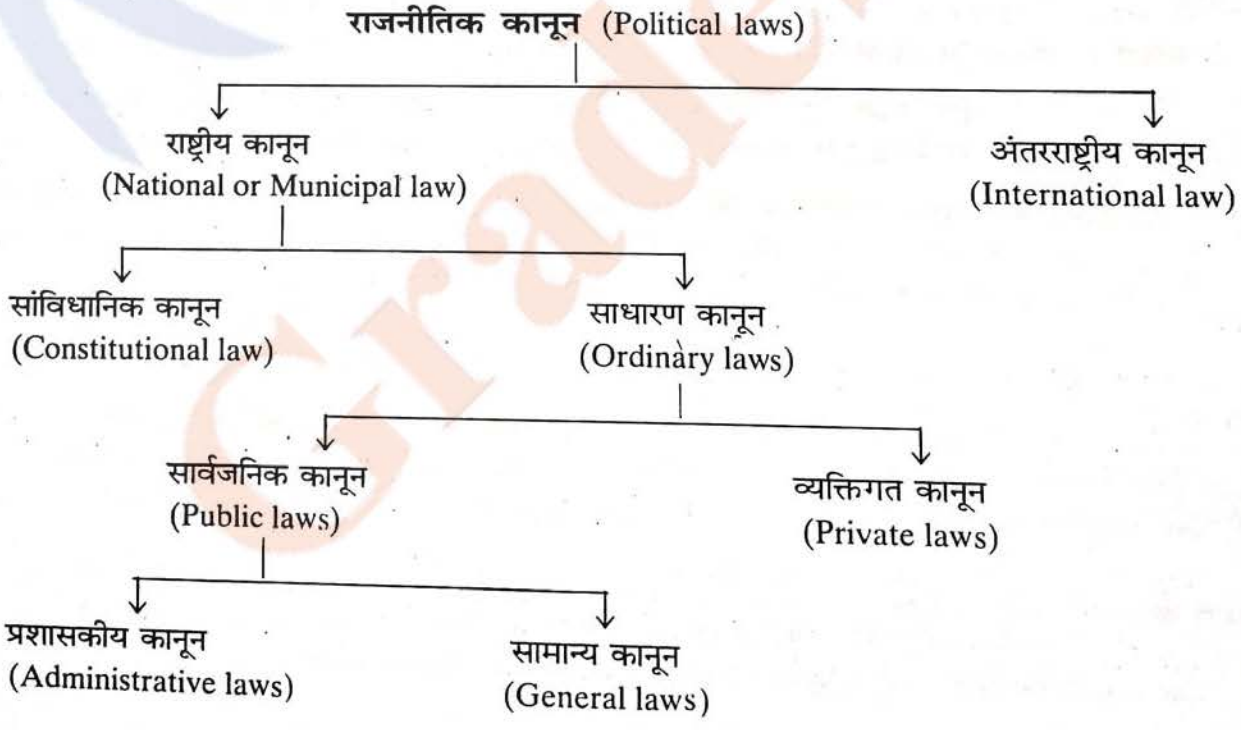

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

राष्ट्रीय कानून (National law)—राष्ट्रीय कानून से तात्पर्य उस प्रकार के कानूनों से है जो किसी राज्य की सीमा के अंदर लागू होते हैं। ऐसे कानून राज्य के अंतर्गत रहनेवाले सभी व्यक्तियों, समुदायों तथा संस्थाओं पर लागू होते हैं।

अंतरराष्ट्रीय कानून (International law)—अंतरराष्ट्रीय कानून वे नियम तथा नियमों के समूह हैं जो विभिन्न राज्यों के संबंधों को नियमित करते हैं। **लॉरेन्स** (Lawrence) ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा है कि अंतरराष्ट्रीय कानून वे नियम हैं जो विभिन्न राज्यों के पारस्परिक व्यवहारों में उनके आचरण का निर्धारण करते हैं।[1] अर्थात, अंतरराष्ट्रीय कानून सिर्फ विभिन्न राज्यों के बीच लागू होता है। अंतरराष्ट्रीय कानून का निर्माण किसी राज्य की विधायिका से नहीं होता, वे विभिन्न राज्यों के पारस्परिक समझौते तथा अंतरराष्ट्रीय परंपराओं पर आधारित होते हैं। लेकिन, ऑस्टिन-जैसे विद्वानों ने अंतरराष्ट्रीय कानून को कानून मानने से इनकार किया है। हॉलैंड ने इसे 'विधिशास्त्र का लोपी बिंदु' (vanishing point of jurisprudence) कहा है।

सांविधानिक कानून (Constitutional law)—सांविधानिक कानून उन कानूनों को कहा जाता है जो सरकार के विभिन्न अंगों—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका—के संगठन, अधिकार तथा कार्यक्षेत्र को बताते हैं, उनके पारस्परिक संबंधों का विवेचन करते हैं और शासक एवं शासितों के संबंध को निश्चित करते हैं। अर्थात, ये नागरिकों के राज्यों के प्रति अधिकार तथा कर्तव्यों का वर्णन करते हैं। संक्षेप में, सांविधानिक कानून सरकार की शक्ति को निश्चित तथा शासक एवं शासितों के बीच संबंध स्थापित करते हैं। सांविधानिक कानून के दो प्रकार हो सकते हैं—(i) लिखित कानून (written law), (ii) अलिखित कानून (unwritten law)। अमेरिका, भारत, चीन, आदि देशों के सांविधानिक कानून लिखित हैं, पर इंगलैंड के अलिखित। सांविधानिक कानून का विकास ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन है।

साधारण कानून (Ordinary laws)—सांविधानिक कानून के अलावा किसी राज्य के अंदर जो भी अन्य कानून होते हैं, वे साधारण कानून कहलाते हैं। इनका निर्माण साधारणतः व्यवस्थापिका (lagislature) द्वारा होता है। **मैकिवर** ने कहा है, "राज्य विधान की रचना भी है और उसका जनक भी।" अर्थात, राज्य कानून के जनक के रूप में व्यवस्थापिका द्वारा कानून बनाता है जो रीति और परंपराओं पर आधारित होते हैं।"

सार्वजनिक कानून (Public laws)—हॉलैंड ने सार्वजनिक कानून और व्यक्तिगत कानून का वर्णन किया है। सार्वजनिक कानून राज्य और व्यक्ति के संबंध को नियमित करते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में वे नागरिकों के कार्यों को नियंत्रित करते हैं। इसमें राज्य स्वयं एक पक्ष और पंच होता है। मार-पीट, नरहत्या, चोरी-डकैती इत्यादि मामले सार्वजनिक कानून के क्षेत्र में आते हैं।

व्यक्तिगत कानून (Private laws)—व्यक्तिगत कानून वे कानून हैं जो व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों को निर्धारित करते हैं। इनका संबंध मनुष्य के सामाजिक जीवन से नहीं होता। उदाहरण के लिए, हम दीवानी कानून, जायदाद खरीदने या बेचने से संबद्ध कानून को ले सकते हैं।

प्रशासकीय कानून (Administrative laws)—प्रशासकीय कानून वे कानून हैं जो सरकारी कर्मचारियों का संबंध नागरिकों के साथ निर्धारित करते हैं। बहुत-से देशों में साधारण नागरिकों से भिन्न सरकारी कर्मचारियों के लिए अलग कानून होते हैं जिन्हें हम प्रशासकीय कानून कहते हैं। **डायसी** के शब्दों में, "प्रशासकीय कानून वे नियम हैं जो राज्य के सभी कर्मचारियों के अधिकारों तथा कर्तव्यों को निश्चित करते हैं।" फ्रांस प्रशासकीय कानून के लिए प्रसिद्ध है।

सामान्य कानून (General laws)—सामान्य कानून भी सार्वजनिक कानून का एक अंग है। यह भी राज्य तथा व्यक्तियों के संबंध को नियमित करता है। इसके चार भेद हैं—

(i) संविधि (Statutes)—संविधि विधानमंडल द्वारा निर्मित वे कानून हैं जो शासन के दैनिक कार्यों का संचालन करते हैं।

(ii) अध्यादेश (Ordinance)—किसी विशेष परिस्थिति का सामना करने के लिए कार्यपालिका निश्चित अवधि के लिए आदेश निकाल सकती है जिसे हम अध्यादेश कहते हैं।

(iii) दृष्टांत (Case laws)—ये मुकदमों के कानून हैं जिन्हें न्यायाधीश मुकदमों पर विचार करते समय बनाते हैं।

---

1. "International laws are those rules which determine the conduct of the general body of civilized states in their mutual dealings." —LAWRENCE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(iv) प्रथागत कानून (Customary law)—इनका आधार देश में प्रचलित रीति-रिवाज या परंपराएँ हैं। न्यायालय इन्हें मान्यता देकर कानून का रूप दे देते हैं। इंगलैंड का कॉमन लॉ इसका उदाहरण है।

कानून के स्रोत
(Sources of Laws)

राज्य की तरह कानून भी इतिहास की उपज है। कानून के स्रोत का अर्थ उन साधनों से है जो प्रत्यक्ष रूप से कानून के निर्माण में सहायता देते हैं। आज कानून के निर्माण में विधानमंडलों का विशेष हाथ रहता है; लेकिन विधानमंडल के अलावा भी बहुत-से ऐसे स्रोत रहते हैं जो कानून के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे स्रोत हैं—1. रीति-रिवाज (custom or usage), 2. धर्म (religion), 3. न्यायालयों के निर्णय (judicial decisions), 4. वैज्ञानिक टीकाएँ (scientific commentaries), 5. औचित्य (equity), 6. न्यायानुकरण (case laws) और 7. विधायन (legislation)।

1. रीति-रिवाज (Custom or usage)—रीति-रिवाज कानून के प्राचीन और प्रारंभिक स्रोत हैं। ये रीति-रिवाज सामाजिक आचरण के वे नियम हैं जिनका पालन मनुष्य स्वाभाविक रूप से करता है। प्राचीन काल का सामाजिक जीवन इन्हीं रीति-रिवाजों के द्वारा संचालित होता था। परंपराएँ या रीति-रिवाज ही वास्तविक सम्राट थे। इनसे न केवल सामाजिक जीवन सुविधापूर्वक चलता था, वरन सुव्यवस्था एवं शांति के भी ये आधार थे। इन प्रथाओं, परंपराओं तथा रीति-रिवाजों को समाज में धीरे-धीरे मान्यता मिलती गई और अंततः इन्हें राज्य द्वारा वैधानिक मान्यता भी मिलती रही है। इसी क्रम में ये रीति-रिवाज कानून का रूप धारण कर लेते हैं। आज इंगलैंड में रीति-रिवाज कानून के सबसे बड़े स्रोत हैं। प्रायः सभी राज्यों में कानून का अधिकतर भाग ऐसा है जिसका निर्माण परंपरागत रीति-रिवाज के आधार पर हुआ है। यहाँ यह स्पष्ट होना चाहिए कि सभी रीति-रिवाज या प्रथाएँ कानून का रूप धारण नहीं कर सकतीं। इसके लिए रीति-रिवाजों में निम्नलिखित शर्तों का होना आवश्यक है—

1. वे रीति-रिवाज अत्यंत प्राचीन हों,
2. संपूर्ण समाज में उनका प्रचलन हो,
3. संपूर्ण समाज से उन्हें मान्यता मिली हो और
4. वे नैतिकता तथा लिखित कानून के विरोधी न हों।

2. धर्म (Religion)—कानून के निर्माण में धर्म का महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्रारंभिक काल में रीति-रिवाज और धर्म में अन्योन्याश्रय संबंध था। लोग रीति-रिवाज का पालन करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझते थे। इसलिए धार्मिक नियमों और रीति-रिवाज के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा खींची नहीं जा सकती थी। धर्म ने स्वतंत्र एवं प्रत्यक्ष रूप से कानून-निर्माण में सहायता पहुँचाई है। सामाजिक नियम तो धार्मिक नियमों के अनुसार ही संचालित होते थे। प्राचीन रोमन कानून धर्म पर आधारित थे। हिंदुओं की सामाजिक व्यवस्था धार्मिक नियमों पर आधारित है। मुसलमानों का धार्मिक ग्रंथ 'कुरान' तथा ईसाइयों का धार्मिक ग्रंथ 'बाइबिल' उनके जीवन को निर्देशित करते हैं। इस तरह, कानून के निर्माण में धर्म का एक महत्त्वपूर्ण हाथ है।

3. न्यायालयों के निर्णय (Judicial decisions)—**गेटेल** ने कहा है, "राज्य का उदय कानून-निर्माता के रूप में नहीं, बल्कि रीति-रिवाज की व्याख्या और कार्यान्वित करनेवाले के रूप में हुआ।"[1] प्राचीन सामाजिक जीवन का संचालन रीति-रिवाज के द्वारा होता था। दो व्यक्ति या विभिन्न व्यक्ति-समूहों के बीच उत्पन्न झगड़ों का निर्णय प्रचलित रीति-रिवाज के आधार पर होता था। झगड़ों के निर्णय में समाज के प्रधान व्यक्ति (head man) तथा पुरोहित पंच का काम किया करते थे। लेकिन, कभी-कभी ऐसे भी झगड़े उनके सामने आ जाते थे जिनका निर्णय प्रचलित रीति-रिवाज से होना संभव नहीं था। ऐसी दशा में उन झगड़ों के निर्णय के लिए न्यायाधीशों को अपनी सामान्य बुद्धि का सहारा लेना पड़ता था। इस प्रकार के निर्णय न्यायिक दृष्टांत (judicial precedent) का रूप धारण कर काननू बन जाते थे। **ब्लैकस्टोन** का कहना है, "न्यायाधीश नए कानून का निर्माण नहीं करते", लेकिन ऑस्टिन तथा हॉलैंड का विचार है कि न्यायाधीश कानूनों की व्याख्या करते समय नए कानूनों का निर्माण करते हैं तथा पूराने कानूनों में संशोधन भी करते हैं। **गिलक्राइट**

1. "State arose not as the creator of laws, but as the interpreter and enforcer of laws."—GETTELL

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

के शब्दों में, "ये न्यायिक दृष्टांत पहले मौखिक थे जिन्हें बाद में लिख दिया गया।" इस प्रकार, प्राचीन काल के समान ही आज बीसवीं शताब्दी में भी न्यायालयों के निर्णय कानून-निर्माण के प्रधान स्रोत हैं।

4. वैज्ञानिक टीकाएँ (Scientific commentaries)—कानून के निर्माण में वैज्ञानिक टीकाओं ने महत्त्वपूर्ण काम किया है। हर देश में बड़े-बड़े विधिवेत्ताओं तथा न्यायविशारद हुए हैं जिन्होंने कानून का शास्त्रीय तथा तात्त्विक विवेचन किया है। ऐसे विधिवेत्ताओं ने न केवल प्रचलित रीति-रिवाज और परंपराओं की व्याख्या की है, वरन लिखित नियमों की भी व्याख्या तथा टीका प्रस्तुत की है। **गिलक्राइस्ट** के मतानुसार, "टीकाकार कानूनी सिद्धांतों, रीति-रिवाजों और निर्णयों का संग्रह करता है, उनकी तुलना करता है और उन्हें बुद्धिमानी से व्यवस्थित करता है और तब उनमें से ऐसे निर्देशक सिद्धांतों का निश्चय करता है जो भविष्य में संभावित मामलों में पथ-निर्देशन कर सकें। वह भूलों की ओर संकेत करता है। इस प्रकार, वह नए कानूनों का आधार प्रस्तुत करता है, पर स्वयं कानूनों का निर्माण नहीं करता।" अतएव, टीकाकारों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत न्यायिक निर्णय से भी अधिक प्रामाणिक हो जाते हैं। उन्हें न्यायालयों द्वारा अक्सर मान्यता प्राप्त होती है और उनका प्रयोग होता है। न्यायिक निर्णयों और टीकाओं में अंतर होता है। न्यायिक निर्णय केवल किन्हीं विशिष्ट मामलों से संबंधित होते हैं जबकि टीकाओं का संबंध सूक्ष्म सिद्धांत (abstract principles) से होता है। इंगलैंड में कोल और ब्लैकस्टोन-जैसे विशिष्ट विधिवेत्ताओं की टीकाओं के आधार पर कानून में अनेक संशोधन किए गए हैं।

5. औचित्य (Equity)—औचित्य भी कानून के निर्माण और विकास में एक महान स्रोत रहा है। 'औचित्य' शब्द अँगरेजी के 'इक्विटी' (equity) का हिंदी रूपांतर है जिसका अर्थ बराबर या समान करना है। न्यायिक क्षेत्र में औचित्य का अर्थ न्याय की समानता से है, अर्थात जब न्याय का समान और उचित दृष्टि से पालन होता है तब वह औचित्य कहलाता है। **गिलक्राइस्ट** ने औचित्य की परिभाषा देते हुए कहा है, "स्वाभाविक निष्पक्षता और व्यवहार की समानता के आधार पर नया विधान बनाने या पुराने विधान को परिवर्तित करने की एक अनौपचारिक पद्धति को औचित्य कहते हैं।"[1] **सर हेनरी मेन** के अनुसार, "औचित्य नियमों का वह समूह है जो नागरिक-विधि के साथ-साथ चलता है। परंतु, यह कुछ सिद्धांतों पर आधारित रहता है और उन सिद्धांतों में निहित उच्च भावनाओं के कारण नागरिक विधान से अधिक मान्यता रखने का दावा रखता है।"[2]

हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि औचित्य न्यायिक निर्णय का ही रूप है, लेकिन न्यायिक निर्णय और औचित्य में अंतर है। जहाँ न्यायिक निर्णय में न्यायाधीश मौजूदा कानून की व्याख्या करता है वहाँ 'औचित्य सिद्धांत' के द्वारा न्यायाधीश व्याख्या के साथ-साथ कानून की मौजूदा कमियों को पूरा भी करता है। जब समाज की प्रगति होती है और परिस्थितियाँ बदलती हैं तब उस प्रगति और परिवर्तन की दौड़ में कानून पीछे पड़ जाते हैं। बदलती हुई परिस्थितियों में कानून अनुपयुक्त हो जाते हैं। उस समय न्यायालय 'औचित्य सिद्धांत' का सहारा लेते हैं और मौजूदा कानून में परिवर्तन करके तथा नया कानून बनाकर उन्हें सामाजिक जीवन के अनुकूल बनाते हैं। ऐसा करते समय न्यायाधीश अपनी न्याय-बुद्धि (sense of justice) से काम लेते हैं। और, इसी न्याय-बुद्धि पर आधारित नये कानून बनाने अथवा पुराने कानूनों में परिवर्तन करने की अनौपचारिक पद्धति को औचित्य कहा जाता है। अतः, औचित्य भी कानून का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

6. न्यायानुकरण (Case-laws)—जब किसी कानून का अर्थ स्पष्ट नहीं होता तथा वह संदिग्धावस्था में रहता है तब ऐसे कानूनों का भाष्य कर न्यायाधीश ही अपने विवेक से निर्णय करते हैं। अंत में ये ही निर्णय दृष्टांत (precedents) का कार्य करते हैं। ऐसे कानून मुकदमे के कानून कहलाते हैं। इनका अनुकरण न्यायाधीश अन्य मुकदमों में करते हैं। ऐसे मुकदमे के कानून (case-laws) का स्थान इंगलैंड और अमेरिका में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार, न्यायानुकरण कानून का एक प्रमुख स्रोत है।

7. विधायन (Legislation)—विधायन कानून का अंतिम और सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत है। यह जनता की इच्छा का प्रकाशन है। आज व्यवस्थापिका-सभाओं द्वारा निर्मित कानून रीति-रिवाज और औचित्य का स्थान ले रहे हैं। विधायन आज कानून के अन्य स्रोतों को आत्मसात करता जा रहा है। कानून के स्रोत

---

1. "Equity is an informal method of making laws or altering old laws, depending on intrinsic fairness or equality of treatment."—GILCHRIST

2. "Equity is body of rules existing by the side of the original civil law, founded on distinct principles and claiming incidentally to supersede the civil law in virtue of a superior sanctity in those principles."
—SIR HENRY MAINE

WWW.GRADESETTER.COM

के रूप में विधायन की भूमिका बताते हुए **गिलक्राइस्ट** ने कहा है, "रीति-रिवाज, धर्म तथा औचित्य आज भी कानून-निर्माण को प्रभावित करते हैं; परंतु आज वे कानून-निर्माण के प्रत्यक्ष स्रोत न रहकर अप्रत्यक्ष प्रभावमात्र हैं।" आज विधायन के अतिरिक्त कानून-निर्माण का कोई भी प्रत्यक्ष स्रोत नहीं है। विधायिका द्वारा निर्मित कानूनों को ही आज न्यायालय मान्यता देता है। अतः, विधायिका सर्वाधिक प्रत्यक्ष और महत्त्वपूर्ण कानून-निर्माण का स्रोत है।

अच्छे कानून की पहचान (Identification of Good Laws)

किसी भी अच्छे कानून की अनेक पहचानें होती हैं—(i) स्थायित्व (permanence), (ii) सर्वव्यापकता (universality), (iii) सर्वोच्चता (supremacy), (iv) सूक्ष्मता (brevity), (v) सरलता (simplicity), (vi) अनुभव पर आधारित (based on experience) और (vii) कानून के उद्देश्य (objectives of laws)।

(i) **स्थायित्व** (Permanence)—एक अच्छे कानून की सबसे बड़ी पहचान उसका स्थायी होना है, क्योंकि कोई कानून अच्छा होने पर ही स्थायी हो सकता है।

(ii) **सर्वव्यापकता** (Universality)— अच्छा कानून वही है जो सबको एकसमान तथा न्यायपूर्ण दृष्टि से देखे। कानून का समदर्शी होना आवश्यक है। यदि कानून ऐसा नहीं है तो उसे अच्छा नहीं कहा जा सकता।

(iii) **सर्वोच्चता** (Supremacy)—किसी देश के अंदर जब व्यक्ति की इच्छा प्रधान न होकर कानून प्रधान होता है, अर्थात जब शासक और शासित कानून के नीचे होते हैं तब वह कानून अच्छा होता है।

(iv) **सूक्ष्मता** (Brevity)—कानून में यदि सूक्ष्मता का गुण है तो उसे सभी आसानी से समझ सकते हैं। कानून का आधार बड़ा नहीं होना चाहिए।

(v) **सरलता** (Simplicity)—किसी अच्छे कानून की भाषा सरल तथा स्पष्ट होनी चाहिए एवं उसकी शब्दावली जनता के समझने योग्य होनी चाहिए।

(vi) **अनुभव पर आधारित** (Based on experience)—यदि कानून अनुभव पर आधारित है तो निश्चित ही वह समाज के लिए हितकारक सिद्ध होगा। अनुभव पर आधारित कानून में कोई दोष नहीं होता है।

(vii) **कानून के उद्देश्य** (Objectives of law)—कानून का उद्देश्य हमेशा आदर्श होना चाहिए। उसमें नागरिक अधिकारों को सुरक्षित रखने की क्षमता होनी चाहिए। कानून को व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

कानून और नैतिकता (Law and Morality)

कानून राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का विषय है जो नैतिक आचारशास्त्र (Ethics) की सीमा के अंतर्गत आता है। लेकिन, इन दोनों में घनिष्ठ संबंध है। प्राचीन काल में तो कानून और नैतिकता को एक ही माना जाता था, लेकिन आज दोनों की विषयवस्तु में काफी अंतर है। फिर भी, कानून और नैतिकता के उद्देश्यों में समानता है। दोनों का उद्देश्य मानव के एक उत्कृष्ट नैतिक जीवन का आदर्श प्राप्त करना है। दोनों का उद्देश्य समाज में व्यक्तियों के आचरण को नियमबद्ध तथा नियंत्रित करना है। **प्लेटो** का कहना था, "सर्वोत्तम राज्य वही है जो सद्गुणों में व्यक्ति के सबसे नजदीक है।" **विल्सन** के विचार में भी, "कानून देश की नैतिक उन्नति का दर्पण है।" कानून और नैतिकता एक-दूसरे पर आश्रित हैं। नैतिकता कानून का एक बहुत बड़ा स्रोत है। यदि नैतिकता को कानून का रूप न दिया जाए तो वह केवल आदर्श रह जाएगा। इस प्रकार, नैतिकता तथा कानून में बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है।

नैतिकता और कानून में अंतर भी है। दोनों के अलग-अलग अस्तित्व हैं। एक का संबंध नीतिशास्त्र से है तो दूसरे का संबंध राजनीतिशास्त्र से। दोनों के क्षेत्रों में पर्याप्त विभिन्नताएँ हैं। जहाँ नैतिकता का संबंध मनुष्य के संपूर्ण आंतरिक विचारों तथा बाह्य कृतियों से है, वहाँ कानून का संबंध आंतरिक विचारों से न होकर केवल बाह्य कृतियों से है। कानून का स्वरूप बाह्य है, पर नैतिकता का स्वरूप आंतरिक है। जहाँ कानून सर्वव्यापक होता है, वहाँ नैतिकता वैयक्तिक होती है। जहाँ नैतिकता उचित तथा अनुचित पर ध्यान देती है, वहाँ कानून उपयोगिता अथवा सुविधा को देखता है। नैतिकता का संबंध पूर्ण तथा निर्दिष्ट आदर्शों से है, जबकि कानून का संबंध व्यावहारिक आदर्शों तक सीमित रहता है। जहाँ कानून के पीछे राज्य की भौतिक शक्ति की मान्यता है, वहाँ नैतिकता के पीछे सामाजिक निंदा और तिरस्कार है।

WWW.GRADESETTER.COM

कानून और स्वतंत्रता (Law and Liberty)

कानून और स्वतंत्रता का संबंध राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का एक प्रमुख विषय है। आचरण के उन नियमों को कानून कहते हैं, जिनका पालन करने के लिए राज्य बाध्य करता है। उन नियमों से हमारा आचरण नियंत्रित होता है। इसलिए प्रश्न है—क्या वे कानून, जो नियंत्रण के रूप में हैं, हमारी स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक हैं? इस संबंध में हमारे सामने कई विचार हैं। कुछ विचारकों की दृष्टि में कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के विरोधी हैं, तो कुछ लोगों ने कहा है कि कानून स्वतंत्रता का साधक है। कुछ लोगों की दृष्टि में कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं। अब हमें इन तीनों विचारों का अलग-अलग अध्ययन करना पड़ेगा।

1. कानून स्वतंत्रता का बाधक है।

कानून और स्वतंत्रता दोनों परस्पर-विरोधी तथ्य हैं। इस विचार के समर्थकों की दृष्टि में स्वतंत्रता का अर्थ नकारात्मक है, अर्थात बंधनों का नहीं रहना ही स्वतंत्रता है। व्यक्तियों के कार्य पर राज्यशक्ति का किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रहना चाहिए; क्योंकि किसी प्रकार का नियंत्रण स्वतंत्रता का विरोधी है। इस विचार के प्रमुख हिमायती व्यक्तिवादी, अराजकतावादी, श्रम-संघवादी तथा अन्य विद्वान हैं। व्यक्तिवादियों की दृष्टि में कानून स्वतंत्रता के रास्ते में एक बहुत बड़ी बाधा है। इन्होंने कानून को 'आवश्यक बुराई' कहकर पुकारा है। राज्य का कार्य सिर्फ शांति और व्यवस्था बनाए रखना है। इस प्रकार, व्यक्तिवादी विचारकों के अनुसार कानून स्वतंत्रता का बाधक है। अराजकतावादियों ने उग्र विचारधारा का समर्थन किया है और कहा है कि राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है। वे 'राज्यविहीन समाज' (stateless society) की स्थापना के पक्ष में हैं। उनके विचार में, "राजसत्ता किसी भी रूप में अनावश्यक एवं अवांछनीय है।" राज्य और कानून के हस्तक्षेप के रहते मानव स्वतंत्र होकर स्वाभाविक इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकता और न अपना सर्वांगीण विकास कर सकता है। कानून के संबंध में **गाडविन** ने कहा है, "कानून सबसे अधिक हानिकारक संस्था है।" इसलिए, कानून स्वतंत्रता का सबसे बड़ा दुश्मन है। श्रम-संघवादियों ने भी राजसत्ता और कानून को स्वतंत्रता का बाधक बताया है। अँगरेज-लेखक **सीले** ने भी लिखा है, "पूर्ण स्वतंत्रता का अर्थ सरकार का पूर्णतः न होना है। अर्थात, सरकार की अनुपस्थिति में ही स्वतंत्रता की प्राप्ति हो सकती है।" अँगरेज दार्शनिक **हर्बर्ट स्पेंसर** ने भी कानून और स्वतंत्रता को परस्पर-विरोधी माना है। **एडम स्मिथ** तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता की माँग की है।

2. कानून स्वतंत्रता का साधक है।

कानून स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है—यह एक सही और सर्वथा मान्य तर्क है। आदर्शवादी विचारकों ने कानून को स्वतंत्रता की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। यह स्वतंत्रता का सकारात्मक अर्थ है। **लॉक** का कहना है कि "जहाँ कानून नहीं है वहाँ स्वतंत्रता नहीं है" (Where there is no law, there is no freedom), अर्थात स्वतंत्रता कानून की एक अनिवार्य दशा है। **लॉक** यह भी कहता है कि "कानून स्वतंत्रता का हनन तथा नियंत्रण नहीं करता, वरन उसका संरक्षण तथा संवर्द्धन करता है।" **रूसो** की दृष्टि में, सार्वजनिक इच्छा के पालन में ही स्वतंत्रता का निवास है। यदि कोई आदमी सार्वजनिक इच्छा का पालन नहीं करता, तो राज्य उसे पालन करने के लिए मजबूर करता है। **रूसो** के विचारानुसार, राज्य के द्वारा जो भी कानून लागू होता है, उसके पालन में ही स्वतंत्रता है; क्योंकि **रूसो** ने स्पष्ट लिखा है कि स्वतंत्रता उस कानून का पालन है, जो हम अपने ऊपर आप लागू करते हैं। आदर्शवादियों के अनुसार, वास्तविक स्वतंत्रता का निवास कानून के पालन में है। **हीगेल, बोसाँके** आदि विद्वानों ने इसी विचार का समर्थन किया है। **हीगेल** का कहना है कि स्वतंत्रता राज्य के अंतर्गत ही संभव है। राज्य के विरुद्ध व्यक्ति की कोई स्वतंत्रता नहीं हो सकती। व्यक्ति राज्य में ही अपनी स्वतंत्रता का दर्शन कर सकता है। राज्य स्वतंत्रता का मूर्त रूप है (The state is the actualization of freedom)। **बोसाँके** के शब्दों में, "बौद्धिक इच्छा के पालन में ही स्वतंत्रता है तथा राज्य और बौद्धिक इच्छा में कोई अंतर नहीं है।" **सिसरो** ने स्पष्ट रूप से कहा है, "हम स्वतंत्र होने के लिए ही कानून के बंधन में पड़ते हैं।" अतएव, **सिसरो** की राय में कानून तथा राज्य द्वारा नियमित स्वतंत्रता ही वास्तविक स्वतंत्रता है।

3. कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं।

वास्तविक संबंध—उल्लिखित दोनों विचारधाराओं में केवल आंशिक सत्यता है। सच पूछिए, तो न कानून स्वतंत्रता का बाधक है और न साधक ही। वास्तविकता है कि कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

पूरक हैं। पहले मत के समर्थकों के विचारानुसार, स्वतंत्रता के लिए कानूनों की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन, हमें यह ध्यान में रखना होगा कि जहाँ पूर्ण स्वतंत्रता होगी और कानून-जैसी कोई नियंत्रक शक्ति नहीं होगी, वहाँ स्वेच्छाचारिता और उच्छृंखलता का साम्राज्य स्थापित हो जाएगा। वहाँ 'जंगल-नियम' (rule of jungle) की स्थापना हो जाएगी। स्वतंत्रता की परिभाषा बलवानों की इच्छा हो जाएगी। 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' (might is right) की कहावत चरितार्थ हो जाएगी। अतः, ऐसी अनियंत्रित स्वतंत्रता का कोई महत्त्व नहीं होगा। ऐसी स्वतंत्रता से समाज में संघर्ष, कलह एवं द्वेष का वातावरण फैल जाएगा। राज्य के अंतर्गत चोरों, लुटेरों तथा अपराधियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो जाएगी। कानून-रहित स्वतंत्रता 'प्राकृतिक अवस्था' (state of nature) में बदल जाएगी। इसलिए, मनमानी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने के लिए कानून का रहना आवश्यक है। कानून व्यक्ति के असामाजिक और हानिकारक कार्यों को नियंत्रित कर सबके लिए स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करता है। कानून से केवल एक व्यक्ति की रक्षा दूसरे व्यक्ति से नहीं होती, वरन शांति और सुव्यवस्था भी बनी रहती है। अतः, स्वतंत्रता के लिए कानून का रहना आवश्यक है। कानून द्वारा स्वतंत्रता की रक्षा तीन प्रकार से होती है—**प्रथमतः** कानूनों द्वारा सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक दशाओं और वातावरण की स्थापना होती है तथा अपराधियों को दंड दिया जाता है। **द्वितीयतः** कानून द्वारा नागरिकों के अधिकार का निर्धारण और उनकी रक्षा होती है। अधिकारों के कारण ही नागरिक शासन-कार्यों में सम्मिलित होते हैं। **तृतीयतः,** सांविधानिक कानूनों से शासन के विभिन्न अंगों की शक्तियाँ सीमित की जाती हैं और वे नागरिकों की स्वतंत्रता में अनुचित हस्तक्षेप नहीं कर सकते। अतः, कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं। **डी॰ सी॰ रिची** का कहना है, "आत्मोन्नति के निश्चित अवसर प्रदान करने के अर्थ में स्वतंत्रता कानून की उत्पत्ति है और वह कोई ऐसी चीज नहीं है जो राज्य के कार्य से अलग रह सके।"[1] इससे भी बढकर **हाकिंग** ने अपना विचार दिया है। उनके मत में, "व्यक्ति जितनी अधिक स्वतंत्रता चाहता है, उतनी ही अधिक सीमा तक उसे शासन की अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिए।" जहाँ तक दूसरे मत का प्रश्न है कि कानून स्वतंत्रता का साधक है, एक अतिरंजित कथन है। प्रत्येक कानून को हम स्वतंत्रता का सहायक नहीं कह सकते। निरंकुश और अधिनायकों द्वारा बनाए हुए कानून सामाजिक हित में नहीं हो सकते। ऐसे कानूनों से स्वतंत्रता पर आघात पहुँचता है। उदाहरण के लिए, अँगरेज शासकों द्वारा बनाए गए 1878 ई॰ के **वर्नाकुलर प्रेस ऐक्ट** (Vernacular Press Act) को हम ले सकते हैं। उसके अनुसार, भारतीय प्रेसों की स्वतंत्रता समाप्त कर दी गई थी। भारतीयों ने इसे 'गलाघोंट कानून' (Gagging Act) की संज्ञा प्रदान की थी और इसका घोर विरोध किया था। इसी प्रकार, 1919 ई॰ में अँगरेज शासकों द्वारा **रॉलेट ऐक्ट** (Rowlatt Act) पास किया गया। इसके अनुसार बिना मुकदमा चलाए किसी भी व्यक्ति को नजरबंद किया जा सकता था। ऐसे कानून स्वतंत्रता के साधक नहीं हो सकते। राजकीय नियंत्रण सिर्फ उसी स्थिति में अनिवार्य है जब वह स्वतंत्रता की वृद्धि में सहायक हो।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्वतंत्रता के लिए कानून का होना परमावश्यक है। लेकिन, ऐसे कानूनों का महत्त्व उनके स्वभाव और रूप पर निर्भर करता है कि हमारी स्वतंत्रता के पोषण में वे कितने सहायक होते हैं। मनमाने ढंग से बनाए गए कानूनों को हम स्वतंत्रता का पोषक नहीं कह सकते। इस संबंध में **लॉस्की** का विचार है, "वे कानून मेरी स्वतंत्रता के साधक हैं, जो मेरी आत्मोन्नति में बाधा न पहुँचाते हों।" आदर्शवादी विचारक **ग्रीन** ने भी कुछ स्थितियों में कानून का विरोध करने का समर्थन किया है। **लॉस्की** ने पुनः कहा है, "प्रत्येक कानून आदेश ही नहीं है, अनुरोध भी है" (Law is not merely a command; it is also an appeal)। अतएव, निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि जिन कानूनों से हमारी क्रियात्मक और प्रेरक शक्तियों को स्वाभाविक विकास का अवसर मिलता है और जो बिना भेदभाव के सबको आत्मविकास का सुअवसर प्रदान करते हैं, वास्तव में वे स्वतंत्रता का पोषण एवं संवर्द्धन करते हैं। अतएव, स्वतंत्रता के लिए कानून की आवश्यकता है; क्योंकि कानून अधिकारों के रूप में स्वतंत्रता का निर्माण करता है; परंतु ऐसे कानूनों का न्यायसंगत होना परमावश्यक है। अर्थात, सच्ची स्वतंत्रता की प्राप्ति उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं के समन्वय से ही हो सकती है।

1. "Liberty in the sense of positive opportunity of self-development is the creation of law and not something that can exist apart from action of State."—D. C. RITCHIE

WWW.GRADESETTER.COM

प्रश्नावली

1. कानून-संबंधी विभिन्न अवधारणाओं की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
   (Critically explain the different concepts of law.)
2. कानून की परिभाषा कीजिए। इसके विभिन्न स्रोतों का वर्णन कीजिए।
   (Define law and discuss its various sources.)
3. कानून क्या है ? आधुनिक राज्यों में कितने प्रकार के कानून पाए जाते हैं ?
   (What is law ? What are the different kinds of laws found in modern states ?)
4. कानून की परिभाषा दीजिए और इसके विभिन्न भेदों का उल्लेख कीजिए।
   (Define law and mention its different kinds.)
5. कानून की उत्पत्ति और उसके स्वरूप के संबंध में विभिन्न विचारधाराओं को स्पष्ट कीजिए।
   (Discuss the various schools of law regarding its origin and nature.)
6. कानून और स्वतंत्रता के बीच संबंधों को स्पष्ट कीजिए।
   (Discuss the relations between law and liberty.)
7. "बंधन-रहित स्वतंत्रता लाइसेंस है।" समीक्षा कीजिए।
   ("Liberty without restraint is a licence." Examine.)
8. कानून और नैतिकता में क्या संबंध है ?
   (What is the relationship between law and morality ?)
9. "कानून संप्रभु की आज्ञा है।" स्पष्ट कीजिए।
   ("Law is the command of the sovereign." Discuss.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 15

स्वतंत्रता की अवधारणा

[THE CONCEPT OF LIBERTY]

---

1. स्वतंत्रता उस वातावरण को बनाए रखने की उत्सुकता है जिसमें लोगों को अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप के विकास का अवसर मिलता है।—लॉस्की

2. स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।—तिलक

विषय-प्रवेश (Introduction)

स्वतंत्रता जीवन का सबसे पवित्र अधिकार है। यह प्रत्येक देश और काल में उत्पीड़न, अत्याचार और दासता से मुक्ति के लिए प्रेरणा देती रही है। इसकी प्राप्ति के लिए प्रारंभ से ही मानव संघर्ष करता रहा है। यह मानव की स्वाभाविक विशेषता है। आधुनिक युग में 'स्वतंत्रता' शब्द का प्रयोग जिस प्रसंग में किया जा रहा है, उसे हम फ्रांसीसी क्रांति की देन कह सकते हैं। फ्रांसीसी क्रांति ने स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व (liberty, equality and fraternity) का नारा बुलंद किया था। इसी से हमने अपने राष्ट्रीय संग्राम में 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'—का नारा बुलंद किया था। इस महामंत्र में अद्भुत शक्ति है जो प्रत्येक देश और काल में उत्पीड़ित मानवता को विवशता और दासता से मुक्ति दिलाती है। अमेरिकी स्वतंत्रता की घोषणा ने इसे और भी सुदृढ़ बनाया है। स्वतंत्रता की भावना ने लोकतंत्र और समानता की भावना को भी सुढ़ृढ़ किया है।

स्वतंत्रता का अर्थ तथा परिभाषा
(Meaning and Definition of Leberty)

स्वतंत्रता अँगरेजी शब्द 'लिबर्टी' (liberty) का हिंदी रूपांतर है। अँगरेजी के इस शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'लिबर' *(liber)* शब्द से है, जिसका अर्थ होता है—बंधनों का न होना। अतः, व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्वतंत्रता का अर्थ बंधनों का अभाव होता है। इस अर्थ में यदि हम 'स्वतंत्रता' शब्द का प्रयोग करें तो यह स्पष्ट होता है कि एक पूर्ण स्वतंत्र मनुष्य वह है जो किसी भी नियंत्रण से बाधित नहीं होता और जो कोई भी नियम स्वीकार करने को बाध्य नहीं। अर्थात, स्वतंत्रता के इस संदर्भ में मनुष्य की इच्छा और कार्य पर किसी प्रकार का बंधन नहीं होता। इसका अर्थ स्वेच्छाचारिता तथा अराजकता होता है। हॉब्स, रूसो आदि विद्वानों के अनुसार, 'प्राकृतिक अवस्था' (state of nature) में मानव को ऐसी स्वतंत्रता प्राप्त थी। उसपर किसी भी प्रकार का बंधन नहीं था। **हॉब्स** ने कहा भी है कि स्वतंत्रता का अर्थ बंधनों के अभाव से है (Liberty means the absence of restraints)। महान दार्शनिक **रूसो** के अनुसार, मनुष्य स्वतंत्र रूप से जन्म लेता है, लेकिन सभी जगह बंधनों में रहता है (Man is born free, but everywhere he is in chains)। व्यक्तिवादी विचारकों ने भी स्वतंत्रता को राजकीय बंधनों से अलग रखने का विचार दिया है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति अपनी भलाई के संबंध में अपने-आप विचार कर सकता है। उनलोगों ने राज्य को एक 'आवश्यक बुराई' (necessary evil) स्वीकारा है। उनकी राय में राज्य को व्यक्ति के कार्यों में कम-से-कम हस्तक्षेप करना चाहिए।

स्वतंत्रता का गलत अर्थ—लेकिन, स्वतंत्रता का यह गलत और भ्रामक अर्थ है। स्वतंत्रता का अर्थ बंधनों का अभाव तथा रुकावट नहीं है। बंधनों के पूर्ण अभाव की अवस्था को स्वतंत्रता न कहकर स्वेच्छाचारिता (licence) कहा जाता है। निरंकुश या असीमित स्वतंत्रता को ही स्वेच्छाचारिता कहा जाता है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

स्वेच्छाचारिता की स्थिति में 'मत्स्य-न्याय' और 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का बोलवाला रहता है। अतः, स्वतंत्रता का अर्थ बंधनों का पूर्ण अभाव नहीं होता, क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसे अपने अधिकार का प्रयोग करते समय दूसरे लोगों के अधिकारों को भी ध्यान में रखना पड़ता है।

जहाँ तक स्वतंत्रता के सही अर्थ का प्रश्न है, वह 'पूर्ण स्वतंत्रता', अर्थात स्वेच्छाचारिता नहीं है। इसके सही अर्थ की व्याख्या करने के पूर्व हमें राजनीतिशास्त्र के विद्वानों द्वारा स्वतंत्रता के संबंध में की गई परिभाषाओं पर विचार करना चाहिए। वास्तविकता है कि स्वतंत्रता का रूप नकारात्मक (negative) नहीं, वरन स्वीकारात्मक (positive) है। इसका अर्थ बंधनों का अभाव नहीं वरन सामाजिक बंधनों से जकड़ा रहना होता है।

स्वतंत्रता की परिभाषाएँ (Definitions of Liberty)

हरबर्ट स्पेंसर—"प्रत्येक मनुष्य वह करने को स्वतंत्र है जिसे वह करने की इच्छा करता है, यदि वह किसी दूसरे मनुष्य की समान स्वतंत्रता का हनन नहीं करता हो।"[1]

लॉस्की—"स्वतंत्रता उन सामाजिक दशाओं के ऊपर नियंत्रण का अभाव है जो कि आधुनिक सभ्यता में व्यक्ति के सुख के लिए आवश्यक है।"[2]

लॉस्की—"स्वतंत्रता उस वातावरण को बनाए रखने की उत्सुकता है जिसमें लोगों को अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप के विकास का अवसर मिलता हो।"[3]

ग्रीन—"स्वतंत्रता उन कार्यों को करने या बंधनों के उपयोग करने की शक्ति है जो करणीय और उपभोग्य हैं।"[4]

रैम्जे म्योर—"स्वतंत्रता का अर्थ है व्यक्तियों और समुदायों द्वारा अपने विचारों के अनुसार सोचने, प्रकट करने तथा उसके अनुसार कार्य का सुरक्षित उपभोग; उन्हें कानून की रक्षा के अंदर अपनी प्राकृतिक शक्तियों को अपनी इच्छा के अनुसार प्रयोग का अधिकार प्राप्त हो, बशर्ते वे दूसरों के समान अधिकारों का हनन न करते हों।"[5]

मैकेंजी—"स्वतंत्रता सब प्रकार के प्रतिबंधों के अभाव को नहीं कहते, अपितु अनुपयुक्त प्रतिबंधों के स्थान पर उपयुक्त प्रतिबंधों की स्थापना को कहते हैं।"

बोसाँके—"स्वतंत्रता अन्य व्यक्ति द्वारा दमन शक्ति का अभाव है।"[6]

जी० डी० एच० कोल—"किसी भी व्यक्ति द्वारा, बिना उसके व्यक्तित्व में बाह्य बाधाएँ प्राप्त हुए, अपने को अभिव्यक्त करने की इच्छा को स्वतंत्रता कहा जाता है।"[7]

स्वतंत्रता के प्रकार
(Kinds of Liberty)

लॉस्की का यह कहना सही है कि स्वतंत्रता का अर्थ स्वतंत्रताओं में है। परिणामस्वरूप, स्वतंत्रता के विभिन्न प्रकारों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है—

---

1. "Every man is free to do that which he wills, provided he infringes not the equal freedom of any other man."—HERBERT SPENCER
2. "Liberty is the absence of restraints upon the existence of those social conditions which in modern civilization are the necessary guarantees of individual happiness."—LASKI
3. "Liberty is the eager maintenance of that atmosphere in which men have the opportunity to be their best selves."—LASKI
4. "Freedom is the positive power or capacity of doing or enjoying something worth doing or enjoying and that too, something we do or enjoy with others."—T. H. GREEN
5. "Liberty means the secure enjoyment by individuals and by associations, of the power to think their own thought and to express and act upon them, using their own gifts in their own way under the shelter of the law, provided they do not impair the correspondnig rights of others."—RAMSAY MUIR
6. "Absence of physical menace or coercion on the part of other persons."—BOSANQUET
7. "The freedom of individual to express without external hindrance to his personality."—G. D. H: COLE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. प्राकृतिक स्वतंत्रता (Natural liberty)—प्राकृतिक स्वतंत्रता का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। साधारण बोलचाल की भाषा में प्राकृतिक स्वतंत्रता का अर्थ मनमानी करना है। अर्थात, उसके ऊपर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं है, लेकिन ऐसी मनमानी स्वतंत्रता समाज में संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा होने से अराजकता का साम्राज्य स्थापित हो जाएगा और सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाएगी। दूसरे संदर्भ में, प्राकृतिक स्वतंत्रता का अर्थ राज्य की उत्पत्ति से पहलेवाली 'प्राकृतिक अवस्था' (state of nature) की स्वतंत्रता से है, जिसका वर्णन **हॉब्स, लॉक** तथा **रूसो** ने अपने दर्शन में किया है। **रूसो** ने कहा है, "मनुष्य स्वतंत्ररूप से जन्म लेता है, लेकिन सभी जगह वह बंधनों में बँध जाता है।" उसके विचार में वास्तविक स्वतंत्रता का उपभोग तो मानव प्राकृतिक अवस्था से ही करता रहा है। बाद में, समाज के अंतर्गत उसकी स्वतंत्रता सीमित हो गई और उसपर अनेक प्रकार के बंधन लगा दिए गए। लेकिन, प्राकृतिक स्वतंत्रता की यह धारणा एक कोरी कल्पना है। आधुनिक विद्वानों के मतानुसार राज्य या समाज के निर्माण के पूर्व स्वतंत्रता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्राकृतिक स्वतंत्रता अराजकता का द्योतक है। उपर्युक्त तथ्यों के बावजूद प्राकृतिक स्वतंत्रता की धारणा ने आधुनिक राज्यों के अधिकारों को निरंकुश होने से बचाया है और इस मान्यता को महत्त्व दिया है कि 'स्वतंत्रता मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है'।

2. वैयक्तिक स्वतंत्रता (Personal liberty)—वैयक्तिक स्वतंत्रता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार अपने जीवन को नियोजित करने का अधिकार होना चाहिए जिससे वह अपनी शक्तियों का उपभोग कर अपना विकास इच्छानुसार कर सके। **लॉस्की** ने वैयक्तिक स्वतंत्रता का अर्थ ऐसे अवसरों से लगाया है, जिसका प्रयोग व्यक्ति स्वेच्छा से जीवन के उन क्षेत्रों में करता है जिनका प्रभाव उसी तक सीमित रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि हर व्यक्ति को इच्छानुसार एक विशिष्ट ढंग से अपना जीवन चलाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए; बशर्ते उससे सामाजिक शांति और सुरक्षा को कोई खतरा न पहुँचता हो।

3. नागरिक स्वतंत्रता (Civil liberty)—नागरिक स्वतंत्रता वह स्वतंत्रता है जो किसी समाज में प्राप्त होती है। यह व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है, क्योंकि इसमें स्वतंत्ररूप से कार्य करने का अधिकार शामिल है। **गेटेल** ने कहा है कि नागरिक स्वतंत्रता उन अधिकारों और विशेषाधिकारों को कहते हैं जिनको राज्य अपने नागरिकों के लिए उत्पन्न करता है और रक्षा करता है। नागरिक स्वतंत्रता के दो पहलू हैं—(i) सकारात्मक और (ii) नकारात्मक।

4. राजनीतिक स्वतंत्रता (Political liberty)—राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ उन अधिकारों से है जिनके द्वारा नागरिकों को शासन-कार्य में भाग लेने का अवसर मिलता है। **लॉस्की** के विचार में राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग लेने के अधिकार को राजनीतिक स्वतंत्रता कहते हैं। **लीकॉक** ने राजनीतिक स्वतंत्रता को वैधानिक स्वतंत्रता के नाम से पुकारा है। राजनीतिक स्वतंत्रता केवल जनतांत्रिक प्रणाली में ही संभव है। इसीलिए **गिलक्राइस्ट** ने राजनीतिक स्वतंत्रता को जनतंत्र का ही एक दूसरा नाम बताया है।

5. आर्थिक स्वतंत्रता (Economic liberty)—आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना मनुष्य अपना विकास नहीं कर सकता। इस स्वतंत्रता का अर्थ इस प्रकार की व्यवस्था से है जिसके अंतर्गत कोई व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से दूसरे व्यक्तियों के अधीन न रहे और समाज के सभी व्यक्तियों को अपना आर्थिक विकास करने का समान अवसर प्राप्त हो। संक्षेप में, आर्थिक स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ आर्थिक सुरक्षा है। अर्थात, व्यक्ति को आनेवाले कल की चिंता, दैनिक भोजन आदि के लिए न हो।

6. नैतिक स्वतंत्रता (Moral liberty)—यह सभी स्वतंत्रताओं का मूल है। सारी स्वतंत्रताओं के संयोग से भी व्यक्ति सच्चे अर्थ में तबतक स्वतंत्र नहीं हो पाता जबतक उसे नैतिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो जाती। **आशीर्वादम** ने नैतिक स्वतंत्रता के संबंध में लिखा है, "यदि मैं अपनी सार्वभौम (universal) अर्हता को समझ पाता हूँ, उसे सबमें देख पाता हूँ, यदि स्वार्थहीन विवेक से मुझे कार्य करने की प्रेरणा मिलती है और यदि प्रत्येक व्यक्तित्व का सम्मान मेरे हृदय में है तो मेरी नैतिक स्वतंत्रता निश्चित ही परिपूर्ण है।"

7. धार्मिक स्वतंत्रता (Religious liberty)—धर्म का मनुष्य के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्म मानव को पवित्र और संयमित जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता है। अतएव, धार्मिक स्वतंत्रता का रहना आवश्यक है। धार्मिक स्वतंत्रता का तात्पर्य है प्रत्येक मनुष्य को अपने विश्वास के अनुसार कोई भी धर्म स्वीकार करने की स्वतंत्रता। धार्मिक मामलों में राज्य का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

8. वैधानिक स्वतंत्रता (Constitutional liberty)—वैधानिक स्वतंत्रता विधान-निर्माण की स्वतंत्रता है जिसके द्वारा जनता स्वशासन की व्यवस्था करती है। वैधानिक स्वतंत्रता की उत्पत्ति तब होती है, जब हम

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

विदेशी शासन से मुक्ति पाकर स्वशासन की बात करते हैं। विदेशी शासन के बाद हम स्वतंत्रता की व्यवस्था अपने द्वारा निर्मित संविधान के अनुसार करना चाहते हैं।

9. राष्ट्रीय स्वतंत्रता (National liberty)—राष्ट्रीय स्वतंत्रता का अर्थ स्वराज्य, देश की आजादी या स्वाधीनता है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के अभाव में कोई भी राज्य संप्रभु नहीं कहा जा सकता। किसी भी राज्य की स्वतंत्रता वहाँ की राष्ट्रीय स्वतंत्रता में निहित है।

स्वतंत्रता-संबंधी विभिन्न अवधारणाओं का विकास
(Development of the Concept of Liberty)

स्वतंत्रता की अवधारणा का इतिहास काफी पुराना है। प्रत्येक युग के विचारकों ने स्वतंत्रता के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया है। इस प्रश्न को लेकर बराबर संघर्ष होता रहा है। इसीलिए, विद्वानों ने स्वतंत्रता के सैद्धांतिक विश्लेषण में काफी अभिरुचि दिखाई है।

प्राचीनकाल में स्वतंत्रता-संबंधी अवधारणा—प्राचीनकाल राजतंत्र का काल था। राजाओं को प्रजा का पिता समझा जाता था। राजतंत्र का रूप निरंकुश था। आम प्रजा को राजा के विरुद्ध किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। व्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित थी। फिर भी, धर्मभीरु राजा न्याय के द्वारा प्रजा की स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए इच्छुक रहता था। अतः, प्राचीनकाल में स्वतंत्रता-संबंधी अवधारणा में आम लोगों की अभिरुचि नहीं थी।

फिर भी, यूनान और भारत में कहीं-कहीं प्रजातंत्र की स्थापना की गई थी। यूनान के नगर-राज्य और भारत के वैशाली और लिच्छवी-जैसे गणराज्य इतिहास-प्रसिद्ध हैं। इन राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की प्रणाली थी। **प्लेटो** तथा **अरस्तू** ने यूनानी नगर-राज्यों में एथेंस की शासन-प्रणाली की चर्चा की है। प्लेटो ने न्याय और अरस्तू, ने **उत्तम-जीवन** को राज्य का लक्ष्य माना है। यद्यपि छोटे-छोटे नगर-राज्यों में नागरिकों को स्वतंत्रता प्राप्त थी, फिर भी कुछ ऐसी सामाजिक प्रथाएँ थीं जो नागरिक स्वतंत्रता के विरुद्ध थीं। गुलामी की प्रथा सबसे बड़ी अभिशाप थी।

मध्ययुग में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष—मध्ययुग में भी स्वतंत्रता की अवधारणा के संबंध में कोई उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ। फिर भी, जनता यह विश्वास करने लगी थी कि स्वतंत्रता उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। प्राचीनकाल में राजा अपने को धार्मिक और नैतिक बंधनों में बँधा हुआ पाते थे, लेकिन मध्ययुग के राजा और उनके सामंत अपने को ईश्वर का पुत्र समझने लगे। आम प्रजा के हित की जिम्मेवारी को वे भूल गए और मनमाने ढंग से शासन करने लगे। जनता की स्वतंत्रता का कोई ख्याल नहीं किया गया। जनता सत्ता को चुनौती नहीं दे सकती थी। इसके बाद कुछ धार्मिक विचारकों ने धर्म के बंधन में राजाओं को बाँधने का प्रयास किया। वे जनता के जीवन और संपत्ति की सुरक्षा राजाओं का कर्तव्य मानने लगे। वे चर्च की निरंकुश सत्ता को स्थापित करना चाहते थे। परिणामस्वरूप, चर्च राजाओं से अधिक-से-अधिक शक्ति अपने जिम्मे करने का प्रयास करने लगा।

धर्मसुधार और पुनर्जागरण का युग—स्वतंत्रता की अवधारणा के विकास की दृष्टि से 15वीं सदी से 17वीं सदी तक का युग विशिष्ट स्थान रखता है। **कौंस्टैंटोनोपुल** की पराजय (1543 ई०) से 17वीं सदी के अंत तक की अवधि को पुनर्जागरण का काल कहते हैं। राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में **संत टॉमस एक्वीनॉस** से **जॉन लॉक** का यह युग विशेष उल्लेखनीय है। बौद्धिक दृष्टि से इस युग की मुख्य विशेषता लौकिक और सांसारिक वस्तुओं में बढ़ती रुचि है। जहाँ मध्ययुग में आध्यात्मिक और शाश्वत वस्तुओं में अधिक रुचि ली जाती थी वहाँ इस युग में विचारकेंद्र व्यक्ति हो गया, ईश्वर नहीं। यह सिद्धांत स्वीकार कर लिया गया कि व्यक्ति सभी चीजों का मापदंड है। व्यक्ति के जीवन और उसकी भावनाओं और दुखों का वर्णन सिर्फ शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता, इसके लिए नई मानवतावाद को अपनाना होगा। **बेन्थम** ने कहा कि यद्यपि राज्य का ध्येय अधिकतम स्वतंत्रता नहीं, वरन अधिकतम सुख है, लेकिन स्वतंत्रता अधिकतम सुख की एक कसौटी है। बेन्थम की विचारधारा में, इस प्रकार स्वतंत्रता को गौण स्थान दिया गया है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सबसे बड़ा समर्थक **जॉन स्टुअर्ट मिल** था। उसने अपने निबंध **ऑन लिबर्टी** *(On Liberty)* में स्वतंत्रता के संबंध में अपने विचारों को प्रकट किया है। 19वीं शताब्दी के मध्य में व्यक्ति की स्वतंत्रता राजनीतिक चिंतकों का प्रधान विषय बन गया था। **मिल** ने केवल व्यवस्थापिका के हस्तक्षेप के विरुद्ध ही नहीं, बल्कि जनमत तथा परंपराओं के दबाव के विरुद्ध भी विचार की अभिव्यक्ति तथा कर्म की

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

स्वतंत्रता का जोरदार समर्थन किया। **मिल** के अनुसार व्यक्ति अपने शरीर और मस्तिष्क का स्वामी है। राज्य उसके स्व-संबंधी (self-regarding) कार्यों में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

स्वतंत्रता के सकारात्मक स्वरूप का विकास—अभी तक स्वतंत्रता का जो स्वरूप विकसित हुआ था, उसे नकारात्मक कहा जा सकता है। स्वतंत्रता का अर्थ बंधनों का अभाव था। 19वीं शताब्दी के आदर्श विचारकों में **कांट, फिक्टे** और **टी० एच० ग्रीन** प्रमुख हैं। **कांट** एक महान व्यक्तिवादी था। वह कहता है कि राज्य को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जो व्यक्ति द्वारा अपनी सच्ची स्वतंत्रता की अनुभूति में बाधक हो। वह राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में न देखकर भलाई के एक आवश्यक उपकरण के रूप में देखता है। **फिक्टे** ने कांट की अपेक्षा आदर्शवादी सिद्धांत को कुछ अधिक अतिवादी रूप दिया। उसने व्यक्तिगत इच्छा और सामान्य इच्छा की चर्चा की। उसने बताया कि समुदाय और राज्य का निर्माण रूसो के अनुबंध द्वारा ही संभव है। उसके अनुसार कोई भी व्यक्ति समाज में रहकर ही अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है। उसके अनुसार राज्य का प्रमुख कार्य ऐसी दशाओं का निर्माण करना है जिनमें व्यक्ति को स्वतंत्रता प्राप्त हो। काण्ट की भाँति ग्रीन भी अपने राजनीतिक विचारों का प्रारंभ स्वतंत्रता की समीक्षा के साथ करता है। उसका विश्वास है कि मानव-चेतना अपने विकास के लिए स्वतंत्रता को एक आवश्यक स्थिति समझती है। ग्रीन कहता है कि राज्य को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे कि व्यक्ति को अपने आदर्श चरित्र के निर्माण करने की स्वतंत्रता में बाधा पड़ती हो।

आधुनिक युग में उदारवादियों द्वारा स्वतंत्रता की धारणा का विकास—आदर्शवादी विचारकों ने स्वतंत्रता के संबंध में जिस धारणा की शुरुआत की, 20वीं शताब्दी में उसे उदारवादियों ने और सुदृढ़ किया। स्वतंत्रता के नकारात्मक स्वरूप को लगभग त्याग दिया गया और उसके सकारात्मक पक्ष पर विशेष बल दिया गया। **मैकिवर, लॉस्की** और **बार्कर**-जैसे उदारवादी विचारकों ने इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार किया। **मैकिवर** आधुनिक राज्य को मनुष्य की भलाई का साधन मानता है। वह राज्य के लोकहितकारी स्वरूप में विश्वास करता है। **लॉस्की** स्वतंत्रता को मनुष्य के विकास के लिए अति आवश्यक शर्त मानता है। उसके अनुसार, स्वतंत्रता का अर्थ बंधनों के अभाव से नहीं है। **बार्कर** ने भी स्वतंत्रता के सकारात्मक पक्ष पर बल दिया है। वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सामाजिक हित के सदंर्भ में देखता है। उसके अनुसार **स्वतंत्रता, समानता** और **न्याय**—इन तीनों में घनिष्ट संबंध है। व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का उपभोग करते समय समाज के अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता का भी ख्याल करेगा। इसके साथ ही, आर्थिक स्वतंत्रता की मान्यता का भी प्रश्न उठाया गया।

स्वतंत्रता का नकारात्मक और सकारात्मक पहलू
(Negative and Positive Aspects of Liberty)

स्वतंत्रता-संबंधी उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर स्वतंत्रता के दो पक्ष हैं—(i) नकारात्मक और (ii) सकारात्मक। उदारवाद के प्रारंभिक विचारक स्वतंत्रता को नकारात्मक मानते थे। वे इसे बंधनों के अभाव में देखते थे। 18वीं सदी के बाद उदारवादियों ने स्वतंत्रता की सकारात्मक धारणा का विकास किया। स्वतंत्रता के इन दोनों पहलुओं की विवेचना निम्नलिखित है—

1. नकारात्मक स्वतंत्रता (Negative Liberty)

शास्त्रीय उदारवादियों के मतानुसार स्वतंत्रता बाहरी बाधाओं का अभाव है। व्यक्ति की इच्छा और उसके कार्यों पर किसी भी प्रकार का प्रतिबंध नहीं होना चाहिए। व्यक्ति को अपने अंतःकरण के अनुसार कार्य करने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। व्यक्ति सिर्फ अपने 'सही विवेक' की आज्ञा के अनुसार कार्य करेगा, इसका नियमन प्राकृतिक कानून के द्वारा होगा। **लॉक, एडम स्मिथ, पेन, स्पेंसर** तथा **मिल** जैसे शास्त्रीय उदारवादियों ने स्वतंत्रता के नकारात्मक पक्ष पर ही बल दिया है।

नकारात्मक स्वतंत्रता के प्रतिपादकों का विचार है, "यह सिर्फ वह क्षेत्र है जिसमें व्यक्ति दूसरे से बाधा-रहित कार्य कर सके।" यहाँ प्रश्न उठता है कि नकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थक किसी तरह के हस्तक्षेप को नहीं चाहते हैं। ब्रिटिश उदारवादी परंपरा की भाषा में स्वतंत्रता 'राज्य, समाज या अन्य व्यक्तियों द्वारा जबर्दस्ती क्षेत्र का अभाव' है। लेकिन, सभी प्रकार के बंधनों को हम स्वतंत्रता नहीं कह सकते, क्योंकि सभी प्रकार के बंधनों का अभाव अराजकता एवं स्वतंत्रता होगी।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

नकारात्मक स्वतंत्रता की विशेषताएँ—नकारात्मक स्वतंत्रता की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

1. स्वतंत्रता राज्य या समाज द्वारा आरोपित प्रतिबंधों का अभाव है।
2. राज्य की सत्ता और व्यक्ति की स्वतंत्रता में स्वाभाविक विरोध है।
3. वह सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करती है।
4. जीवन संपत्ति और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता असीम है।
5. नागरिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रताएँ व्यक्ति के लिए आवश्यक हैं।
6. पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एक स्वाभाविक प्रणाली है जिसके अंतर्गत व्यक्ति को अधिकतम आर्थिक स्वतंत्रता स्वतः उपलब्ध हो जाती है।
7. आर्थिक असमानता स्वतंत्रता की एक आवश्यक शर्त तथा उसका एक आवश्यक परिणाम है।

आलोचना—नकारात्मक स्वतंत्रता का सिद्धांत अधूरा तथा एकांगी है। स्वतंत्रता सिर्फ 'बंधनों का अभाव' ही नहीं है, वरन उन दशाओं की प्राप्ति भी है जो व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक है। व्यक्ति के हर विचार और कार्य का प्रभाव समाज पर पड़ता है। परिणामस्वरूप, उस समाज के बंधनों के अंतर्गत ही व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का उपभोग कर सकेगा। नकारात्मक स्वतंत्रता वस्तुतः 'स्वतंत्रता की दशाएँ' हैं, स्वयं स्वतंत्रता नहीं । यह 'स्वतंत्र समाज में स्वतंत्र मनुष्य' की कल्पना नहीं करती, वरन समाज से अलग व्यक्ति की बातें करती है। नकारात्मक स्वतंत्रता की एक अन्य बड़ी कमजोरी यह है कि इसका लक्ष्य सिर्फ राजनीतिक एवं नागरिक स्वतंत्रता को प्राप्त करना है, जबकि राजनीतिक स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता का एकमात्र रूप नहीं है। आर्थिक जीवन में स्वतंत्रता कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए साम्यवादी स्वतंत्रता के आर्थिक स्वरूप पर अधिक जोर देते हैं। उनका यह विचार सही है कि आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में अन्य स्वतंत्रताएँ निरर्थक हैं। पूर्ण स्वतंत्रता के लिए उसके सकारात्मक पहलू का होना आवश्यक है।

2. सकारात्मक स्वतंत्रता (Positive Liberty)

स्वतंत्रता की सही और उचित व्याख्या केवल सकारात्मक अर्थ में हो सकती है, क्योंकि वास्तव में यह एक सकारात्मक वस्तु है। इसका अर्थ केवल बंधनों के अभाव से ही नहीं है, इसका अर्थ है, "आत्मविकास के लिए वास्तविक अवसर या मनुष्य के व्यक्तित्व के निरंतर विकास का अवसर।" **आशीर्वादम** ने भी इसी संदर्भ में स्वतंत्रता की परिभाषा की है। इससे स्पष्ट है कि स्वतंत्रता वे वास्तविक सुअवसर हैं जिनको प्राप्त कर मनुष्य अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करता है। व्यक्तित्व के विकास के लिए सुअवसरों का सर्वाधिक उपयोग वहीं पर हो सकेगा, जहाँ अधिक-से-अधिक अधिकारों की रक्षा का प्रश्न हो। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि राज्य सिर्फ सुअवसरों को प्रदान कर सकता है; उनसे लाभ उठाकर व्यक्तित्व का विकास करने के लिए वह लोगों को विवश नहीं कर सकता। राज्य शिक्षा की व्यवस्था कर सकता है, परंतु इन अवसरों से लाभ उठाना व्यक्तियों पर निर्भर करता है। अतएव, सकारात्मक अर्थ में स्वतंत्रता का अभिप्राय आत्म-विकास अथवा अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए उपलब्ध समुचित अवसर से है। अपने सकारात्मक अर्थ में स्वतंत्रता का अर्थ नागरिकों के सर्वांगीण विकास से है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ही **गेटेल** ने कहा है कि "स्वतंत्रता का समाज में सिर्फ नकारात्मक स्वरूप ही नहीं है, वरन सकारात्मक स्वरूप भी है।" स्वतंत्रता का एकमात्र लक्ष्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व का विकास करना है। इसी दृष्टि से **टी॰ एच॰ ग्रीन** ने विधिवत रूप में सकारात्मक स्वतंत्रता की धारणा का प्रतिपादन किया। सबसे पहले तो स्वतंत्रता के सकारात्मक स्वरूप की नकारात्मक स्वरूप से भिन्नता बताते हुए **टी॰ एच॰ ग्रीन** ने लिखा है कि "जिस प्रकार सौंदर्य कुरूपता के अभाव का नाम ही नहीं होता, उसी प्रकार स्वतंत्रता प्रतिबंधों के अभाव का नाम नहीं है।" आगे चलकर ग्रीन स्वतंत्रता के सकारात्मक रूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "स्वतंत्रता ऐसे कार्य करने और उपभोग करने की शक्ति का नाम है, जो करने योग्य या उपभोग करने के योग्य हो।"[1] स्वतंत्रता का लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास होता है, और यदि राज्य इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु श्रम, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि के संबंध में नियमों की व्यवस्था करता है तो इससे व्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित नहीं होती, वरन उसमें वृद्धि ही होती है।

आधुनिक समय में **लॉस्की** और **गार्नर** आदि विद्वानों ने सकारात्मक स्वतंत्रता की इस धारणा को ही अपनाया है। **लॉस्की** स्वतंत्रता को मनुष्य के विकास हेतु अतिआवश्यक शर्त मानते हुए स्वतंत्रता की व्याख्या

1. "The positive power of doing or enjoying something worth doing or enjoying."—T. H. GREEN

WWW.GRADESETTER.COM

इन शब्दों में करते हैं, "स्वतंत्रता उस वातावरण को बनाए रखना है, जिसमें व्यक्ति को अपने जीवन का सर्वोत्तम विकास करने की सुविधा प्राप्त हो।"[1] **बार्कर** ने भी स्वतंत्रता के सकारात्मक पक्ष पर बल दिया है। वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सामाजिक हित के संदर्भ में देखता है और स्वतंत्रता को व्यक्तित्व के विकास की एक स्थिति मानते हुए स्वतंत्रता, समानता और न्याय में घनिष्ठ संबंध का प्रतिपादन करता है। आधुनिक समय में राज्य के कार्यक्षेत्र के संबंध में सर्वाधिक प्रमुख रूप से 'लोककल्याणकारी राज्य' की धारणा ही मान्य है और यह धारणा सकारात्मक स्वतंत्रता के विचार पर आधारित है।

इस प्रकार, सकारात्मक सिद्धांत के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आम व्यक्ति अपने हित को समझने में असमर्थ होता है। इसका अभिप्राय यह भी है कि व्यक्ति को नहीं, बल्कि समाज को स्वतंत्र जीवन का सही ज्ञान है। कोई भी व्यक्ति निजी साधनों के बल पर स्वतंत्र जीवन नहीं पा सकता। स्वतंत्रता का सकारात्मक सिद्धांत व्यक्ति को उच्च स्तर तक उठाने से संबद्ध है। संक्षेप में, स्वतंत्रता सब प्रकार के प्रतिबंधों का अभाव नहीं है, बल्कि अनुचित के स्थान पर उचित प्रतिबंधों की स्थापना ही स्वतंत्रता है। सामाजिक संगठन में रहते हुए एक व्यक्ति के कार्यों का प्रभाव दूसरे व्यक्ति पर पड़ता है।

सकारात्मक स्वतंत्रता के लक्षण—सकारात्मक स्वतंत्रता के निम्नलिखित लक्षण हैं—

(i) संपूर्ण प्रतिबंधों का अभाव स्वतंत्रता नहीं, वरन स्वच्छंदता है। वास्तविक स्वतंत्रता उचित बंधनों द्वारा मर्यादित होने में निहित है।

(ii) राज्य की सत्ता और व्यक्ति की स्वतंत्रता में कोई विरोध नहीं है। राज्य द्वारा उत्पन्न अनुकूल परिस्थितियों में ही व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकता है।

(iii) केवल बाह्य परिस्थितियाँ ही वास्तविक स्वतंत्रता प्रदान नहीं कर सकतीं।

(iv) स्वतंत्रता का उपभोग करने के लिए लोगों को दो काम करना होगा—एक ओर लोगों के संपत्ति के अधिकार को सीमित करना होगा और दूसरी ओर उन्हें कानून का बंधन स्वीकार करना होगा।

(v) नागरिक को राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ आर्थिक स्वतंत्रता भी देनी होगी।

(vi) पूँजीपतियों और मजदूरों के आर्थिक हितों में सामंजस्य लाना होगा।

निष्कर्ष—अतः, यह कहा जा सकता है कि सकारात्मक स्वतंत्रता नकारात्मक स्वतंत्रता से अधिक व्यापक, मानवीय, आधुनिक और व्यावहारिक है। यह पूर्ण स्वतंत्रता की अवधारणा है। **स्वतंत्रता जीवन की ऐसी अवस्था का नाम है जिसमें व्यक्ति के जीवन पर न्यूनतम प्रतिबंध हो और व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अधिकतम सुविधाएँ प्राप्त हों।**

स्वतंत्रता की मार्क्सवादी धारणा
(Marxist Concept of Liberty)

स्वतंत्रता के संबंध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण उदारवादी दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है। यह इस धारणा पर आधारित है कि राज्य एक कृत्रिम संगठन है तथा यह शोषण का हथकंडा है। यह पूँजीवादी व्यवस्था की रक्षा करता है। मार्क्सवादियों का विश्वास है कि समाज जहाँ विरोधी वर्गों में बँटा हुआ है, वहाँ जनसाधारण के लिए स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है। इसीलिए मार्क्सवादियों ने राजनीतिक स्वतंत्रता से अधिक बल आर्थिक स्वतंत्रता पर दिया है। उनकी दृष्टि में, चूँकि, समस्या एक मानवीय समस्या है, इसलिए वह सिर्फ राजनीतिक नहीं हो सकती। मार्क्स के स्वतंत्रता-संबंधी विचार उसके व्यक्ति और समाज से संबद्ध विचारों पर आधारित है। वह व्यक्ति को अकेला, समाज से अलग और अहंकारी जीवन के रूप में नहीं देखता। व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है। **मार्क्स** और **एङ्गिल्स** का कहना है, "केवल समाज में ही प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों के साथ मिलकर अपने गुणों को हर दिशा में आगे बढ़ाने का मौका मिल सकता है, इसलिए केवल समाज में ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता संभव है।" अतः, मार्क्स की स्वतंत्रता की अवधारणा में मूलभूत एकता पाई जाती है।

1. "Liberty is the eager maintenance of that atmosphere in which men have opportunity of their selves."—LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

मार्क्सवादी स्वतंत्रता की प्रमुख बातें—मार्क्सवादी स्वतंत्रता की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं—

1. स्वतंत्रता की बुर्जुआ धारणा में अविश्वास—स्वतंत्रता की मार्क्सवादी धारणा उदारवादी धारणा को 'बुर्जुआ धारणा' कहते हुए इसमें अविश्वास प्रकट करता है। मार्क्सवादी धारणा के अनुसार पाश्चात्य लोकतंत्रों के नागरिकों की स्वतंत्रताएँ वास्तविक नहीं हैं। वे जिस पूँजीवादी समाज में रह रहे हैं, उसमें उन्हें निरंतर शोषण की स्थिति सहन करनी होती है और इस कारण उनके लिए स्वतंत्रता का उपभोग कर पाना संभव नहीं है।

2. आर्थिक स्वतंत्रता को प्राथमिकता—मार्क्सवादी स्वतंत्रता की धारणा नागरिक के राजनीतिक स्वतंत्रता की अपेक्षा आर्थिक स्वतंत्रता को प्राथमिकता देती है। मार्क्सवादी धारणा के अनुसार आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त होने पर ही उन्हें सही अर्थों में स्वतंत्र कहा जा सकता है। आर्थिक स्वतंत्रता से उनका अभिप्राय सभी नागरिकों को काम का अधिकार, विश्राम तथा अवकाश का अधिकार, निःशुल्क शिक्षा का अधिकार और आर्थिक सुरक्षा के अधिकार आदि से है।

3. उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण ही स्वतंत्रता का सार है—मार्क्सवादी धारणा के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि समाज का कोई वर्ग किसी अन्य वर्ग का शोषण न कर सके। पूँजीवादी समाज में जब उत्पादन के साधनों पर समाज के कुछ विशेष व्यक्तियों का अधिकार होता है तब ये विशेष व्यक्ति समस्त सुखों का उपभोग करते हुए बहुसंख्यक श्रमिक और किसानों का शोषण करते हैं और समाज बुर्जुआ तथा सर्वहारा—दो विरोधी वर्गों में बँट जाता है। ऐसी परिस्थिति में बहुसंख्यक श्रमिक और किसानों को कोई स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती। अतः, जब तक उत्पादन के साधन समस्त समाज की संपत्ति नहीं बन जाते, तब तक स्वतंत्रता और न्याय की प्राप्ति असंभव है। इस प्रकार, मार्क्सवादी धारणा के अनुसार, उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण ही स्वतंत्रता का सार है।

4. न्यायपालिका की स्वतंत्रता में विश्वास नहीं—मार्क्सवादी धारणा स्वतंत्रता की रक्षा के लिए न्यायपालिका की स्वतंत्रता में विश्वास नहीं करती, जबकि परंपरागत या उदारवादी धारणा में न्यायपालिका की स्वतंत्रता को नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए आवश्यक शर्त माना जाता है। मार्क्सवाद के अनुसार, न्यायालय कार्यपालिका के ही अंग हैं और उनका कर्तव्य समाजवादी व्यवस्था को शक्तिशाली बनाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए न्यायपालिका को साम्यवादी दल की अधीनता में कार्य करना है।

5. समाज के विरोधियों को राजनीतिक तथा नागरिक स्वतंत्रताएँ प्राप्त होना संभव नहीं—मार्क्सवादी धारणा का विश्वास है कि बहुसंख्यक नागरिकों को समाजवादी व्यवस्था में ही स्वतंत्रता प्राप्त हो सकती है। समाजवाद जब स्वतंत्रता की आवश्यक शर्त है, तो समाजवाद के विरोधियों को नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रताएँ प्राप्त होना संभव नहीं है। नागरिकों को समाजवादी राज-व्यवस्था की आलोचना करने या समाजवाद विरोधी संगठनों की स्थापना का अधिकार नहीं हो सकता।

6. पूर्ण स्वतंत्रता तो राज्यविहीन समाज में ही संभव है—**मार्क्स** और **ऐङ्गिल्स** ने कल्पना की है कि पूँजीवाद के अंत के बाद 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद' की स्थापना होगी और इस अधिनायकवाद के माध्यम से ऐसे समाज की स्थापना के लिए प्रयत्न किया जाएगा, जिसमें सभी कामगार हों। ऐसे समाज में शोषण की स्थिति और इस स्थिति से उत्पन्न होनेवाला वर्ग-विभेद समाप्त हो जाएगा। जब अलग-अलग वर्ग नहीं होंगे, तो राज्य भी विलुप्त हो जाएगा। ऐसे राज्यहीन समाज में व्यक्तियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होगी।

7. शासन पर साम्यवादी दल का एकाधिकार स्वतंत्रता के हित में है—मार्क्सवादी धारणा के अनुसार किसी भी देश के बहुसंख्यक सर्वहारा-वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व साम्यवादी दल ही कर सकता है। अतः, शासन पर साम्यवादी दल का नेतृत्व और एकाधिकार न केवल स्वतंत्रता के अनुरूप, वरन नागरिकों की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक शर्त है।

इस प्रकार, निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि स्वतंत्रता के संबंध में प्रतिपादित मार्क्सवादी दृष्टिकोण एकांगी है। मार्क्स ने स्वतंत्रता की धारणा पर बहुत विस्तार से विचार नहीं किया, लेकिन व्यवहार में साम्यवादी देशों ने इसे व्यावहारिक रूप देकर इसे अधिक विस्तृत रूप देकर नए आयाम प्रदान किया। इन देशों ने राज्य का अंत करने के बजाए उसकी शक्तियों में काफी वृद्धि की। इन राज्यों में नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रताओं को बहुत अधिक सीमित कर दिया गया है। इन राज्यों को स्वतंत्रता की दृष्टि से आदर्श स्थिति नहीं कहा जा सकता।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

स्वतंत्रता के संरक्षण
(Safeguards of Liberty)

चूँकि स्वतंत्रता पर आए दिन प्रहार होते हैं; इसलिए उसकी सुरक्षा के लिए निम्नलिखित विशेष दशाएँ आवश्यक हैं—

1. मौलिक अधिकारों की उद्घोषणा (Declaration of fundamental rights)—स्वतंत्रता की रक्षा के लिए संविधान के अंतर्गत नागरिकों के मौलिक अधिकारों की उद्घोषणा कर दी जाए। विश्व के सभी देशों के संविधानों में मौलिक अधिकारों की उद्घोषणा तथा व्यवस्था-संबंधी उपायों की चर्चा कर दी गई है।

2. नागरिकों की जागरूकता (Consciousness of the citizens)—सतत जागरूकता स्वतंत्रता का मूल मंत्र है। किसी भी देश के नागरिकों के अचेत रहने से स्वतंत्रता पर खतरा उपस्थित हो सकता है। स्वतंत्रता की रक्षा के लिए नागरिकों को सदैव सतर्क रहना चाहिए। **लॉस्की** ने कहा है कि आकस्मिक अराजकता का भय शासन-सत्ता के दुरुपयोग के विरुद्ध एक रक्षा-कवच है (The threat of contingent march is a safeguard against the absence of government)।

3. कानून का शासन (Rule of law)—किसी भी देश के कानून का शासन स्वतंत्रता की रक्षा की एक आवश्यक शर्त है। **प्रो॰ डायसी** ने कानून के शासन की व्याख्या तीन रूपों में की है—(i) कानून की सर्वोच्चता, (ii) कानून के समक्ष समानता और (iii) सामान्य अधिकार सामान्य कानून की उपज है। सचमुच में, कानून का शासन स्वतंत्रता के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। कानून के शासन में प्रशासकीय पदाधिकारियों को विशेष सुविधाएँ प्राप्त नहीं होतीं। इसमें राजा और रंक के साथ एक-जैसा बर्ताव किया जाता है।

4. वैध प्रभु तथा राजनीतिक प्रभु में सहयोग (Co-operation between legal and political sovereigns)—वैध प्रभु, अर्थात सरकार तथा राजनीतिक प्रभु अर्थात जनता में स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सहयोग होना चाहिए। चूँकि वैध प्रभु का निर्माण राजनीतिक प्रभु के द्वारा होता है, इसलिए वैध प्रभु की इच्छानुसार कार्य करना चाहिए।

5. सांविधानिक उपचार की व्यवस्था (Provision of constitutional remedies)—यदि राज्य या कोई व्यक्ति नागरिक अधिकार का अपहरण करे तो न्यायालय को हस्तक्षेप करने का अधिकार होना चाहिए। नागरिकों के मौलिक अधिकारों के विरुद्ध संसद या राज्य के विधानमंडलों के द्वारा पारित किसी भी विधेयक को न्यायपालिका असांविधानिक घोषित कर सकती है। भारतीय तथा अमेरिकी संविधानों में सांविधानिक उपचारों की व्यवस्था की गई है।

6. निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायपालिका (Impartial and independent judiciary)—किसी भी देश में स्वतंत्रता की रक्षा के लिए एक स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायपालिका महत्त्वपूर्ण है। अलिखित तथा संघीय शासन-प्रणाली वाले देशों में नागरिक-स्वतंत्रता की रक्षा के लिए निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायपालिका की आवश्यकता है।

7. शक्तियों का पृथक्करण (Separation of powers)—स्वतंत्रता की रक्षा के लिए विभिन्न शक्तियों का पृथक्करण आवश्यक है। फ्रांसीसी विद्वान **मॉण्टेस्क्यू** ने कहा है कि नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए शक्तियों का पृथक्करण अत्यावश्यक है। शक्तियों के पृथक्करण का तात्पर्य सरकार के तीन अंगों—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका का बिना एक-दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप किए अलग-अलग काम करना है।

8. लोकतांत्रिक शासन (Democratic government)—स्वतंत्रता की रक्षा के लिए लोकतांत्रिक शासन-पद्धति की आवश्यकता है। चूँकि 'लोकतांत्रिक शासन जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा संचालित होता है' इसलिए स्वतंत्रता का अपहरण नहीं हो सकता।

9. शासन का विकेंद्रीकरण (Decentralization of power)—**लॉस्की** के विचार में, "राज्य में सत्ता का जितना अधिक वितरण होगा, जितनी ही अधिक विकेंद्रीकृत उसकी पद्धति होगी, मनुष्य में स्वतंत्रता के लिए उतना ही अधिक उत्साह होगा।" शासन का विकेंद्रीकरण स्थानीय स्वशासन तक होना चाहिए। स्थानीय संस्थाओं के माध्यम से ही नागरिक शासन-व्यवस्था में भाग लेता है।

10. विशेषाधिकारों का अंत (End of privileges)—स्वतंत्रता की रक्षा के लिए किसी भी समाज या राज्य में जाति, धर्म या संपत्ति इत्यादि के आधार पर समाज के कुछ लोगों या वर्गों को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होने चाहिए। इससे सामाजिक विद्रोह के पनपने की आशंका बनी रहती है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

11. आर्थिक असमानता का अंत (Abolition of economic inequality)—स्वतंत्रता की वास्तविक अनुभूति के लिए किसी राज्य या समाज के अंतर्गत आर्थिक समानता की स्थापना आवश्यक है। आर्थिक असमानता उच्च वर्ग को धन-लोलुप, मध्यमवर्ग को अशिष्ट तथा निम्नवर्ग को पशुतुल्य बना देती है। स्वतंत्रता की असल अनुभूति तो आर्थिक समानता में ही है। भूखी, नंगी और बेकार जनता के लिए स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं है।

12. निष्पक्ष राज्य (Impartial state)—स्वतंत्रता की रक्षा के लिए राज्य को अपनी नीतियों के संचालन में निष्पक्ष होना चाहिए। राज्य को वर्ग-विशेष का पक्ष न लेकर सार्वजनिक कल्याण की भावना से काम करना चाहिए। पाकिस्तान-जैसे राज्य को हम निष्पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ हिन्दुओं की स्वतंत्रता का कोई महत्त्व नहीं।

13. नागरिकों में स्वतंत्रता, प्रेम तथा त्याग की भावना (Liberty, affection and sacrifice-feeling)—हर देश के नागरिकों में स्वतंत्रता के लिए प्रेम की भावना का होना आवश्यक है। स्वतंत्रता एक मंजिल है जिस तक पहुँचने के लिए नागरिकों को तैयार रहना चाहिए। **टॉकविले** ने कहा है, "अनेक राष्ट्रों ने सभी प्रकार के कष्ट सहन करके अपनी स्वतंत्रता की हिफाजत की है।"

कानून और स्वतंत्रता में संबंध
(Relationship between Law and Liberty)

कानून और स्वतंत्रता का संबंध राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का एक प्रमुख विषय है। आचरण के उन नियमों को कानून कहते हैं जिनका पालन करने के लिए राज्य बाध्य करता है। उन नियमों से हमारा आचरण नियंत्रित होता है। इसलिए प्रश्न उठता है—क्या वे कानून, जो नियंत्रण के रूप में है, हमारी स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक हैं? इस संबंध में हमारे सामने कई विचार हैं। कुछ विचारकों की दृष्टि में कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के विरोधी हैं, तो कुछ लोगों ने कहा है कि कानून स्वतंत्रता का साधक है। कुछ लोगों की दृष्टि में तो कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं। अब हमें इन तीनों विचारों का अलग-अलग अध्ययन करना होगा।

1. कानून स्वतंत्रता का बाधक है—कानून और स्वतंत्रता दोनों परस्पर-विरोधी तथ्य हैं। इस विचार के समर्थकों की दृष्टि में स्वतंत्रता का अर्थ नकारात्मक है, अर्थात बंधनों का नहीं रहना ही स्वतंत्रता है। व्यक्तियों के कार्य पर राज्य-शक्ति का किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रहना चाहिए, क्योंकि किसी प्रकार का नियंत्रण स्वतंत्रता का विरोधी है। इस विचार के प्रमुख हिमायती व्यक्तिवादी, अराजकतावादी, श्रम-संघवादी तथा अन्य विद्वान हैं। व्यक्तिवादियों की दृष्टि में कानून स्वतंत्रता के रास्ते में एक बहुत बड़ी बाधा है। इन्होंने कानून को 'आवश्यक बुराई' कहकर पुकारा है। राज्य का कार्य सिर्फ शांति और व्यवस्था बनाए रखना है। इस प्रकार, व्यक्तिवादी विचारकों के अनुसार कानून स्वतंत्रता का बाधक है। अराजकतावादियों ने उग्र विचारधारा का समर्थन किया है और यहाँ तक कहा है कि राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है। वे 'राज्यविहीन समाज' (stateless society) की स्थापना के पक्ष में हैं। उनके विचार में, राजसत्ता किसी भी रूप में अनावश्यक एवं अवांछनीय है। राज्य और कानून के हस्तक्षेप के रहते मानव स्वतंत्र होकर स्वाभाविक इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकता और न अपना सर्वांगीण विकास ही कर सकता है। कानून के संबंध में **गाडविन** ने कहा है कि कानून सबसे अधिक हानिकारक संस्था है। कानून स्वतंत्रता का सबसे बड़ा दुश्मन है। श्रम-संघवादियों ने भी राज्य-सत्ता और कानून को स्वतंत्रता का बाधक स्वीकार किया है। अँगरेज लेखक **सीले** ने भी लिखा है कि पूर्ण स्वतंत्रता का अर्थ सरकार का पूर्णतः न होना है। अर्थात, सरकार की अनुपस्थिति में ही स्वतंत्रता की प्राप्ति हो सकती है। अँगरेज दार्शनिक **हरबर्ट स्पेंसर** ने भी कानून और स्वतंत्रता को परस्पर-विरोधी माना है। **एडम स्मिथ** तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता की माँग की है।

2. कानून स्वतंत्रता का साधक है—कानून स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है—यह एक सही और सर्वथा मान्य तर्क है। आदर्शवादी विचारकों ने कानून को स्वतंत्रता की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। यह स्वतंत्रता का सकारात्मक अर्थ है। **लॉक** का कहना है कि जहाँ कानून नहीं है, वहाँ स्वतंत्रता नहीं है (Where there is no law, there is no freedom)। अर्थात, स्वतंत्रता कानून की एक अनिवार्य दशा है। **लॉक** यह भी कहता है कि कानून स्वतंत्रता का हनन तथा नियंत्रण नहीं करता, वरन उसका संरक्षण तथा वृद्धि करता है। **रूसो** की दृष्टि में सार्वजनिक इच्छा के पालन में ही स्वतंत्रता का निवास है। यदि कोई आदमी सार्वजनिक

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

इच्छा का पालन नहीं करता तो राज्य उसे पालन करने के लिए मजबूर करता है। **रूसो** के विचारानुसार, राज्य द्वारा जो भी कानून लागू होता है उसके पालन में ही स्वतंत्रता है, क्योंकि **रूसो** ने स्पष्ट लिखा है कि स्वतंत्रता उस कानून का पालन है जो हम अपने ऊपर आप लागू करते हैं। आदर्शवादियों के अनुसार वास्तविक स्वतंत्रता का निवास कानून के पालन में है। **हीगेल, बोसाँके** आदि विद्वानों ने इसी विचार का समर्थन किया है। **हीगेल** का कहना है कि स्वतंत्रता राज्य के अंतर्गत ही संभव है। राज्य के विरुद्ध व्यक्ति की कोई स्वतंत्रता नहीं हो सकती है। व्यक्ति राज्य में ही अपनी स्वतंत्रता का दर्शन कर सकता है। राज्य स्वतंत्रता का मूर्त रूप है (The state is the actualization of freedom)। **बोसाँके** के अनुसार बौद्धिक इच्छा के पालन में ही स्वतंत्रता है तथा राज्य और बौद्धिक इच्छा में कोई अंतर नहीं है। **सिसरो** ने स्पष्ट लिखा है कि हम स्वतंत्र होने के लिए ही कानून के बंधन में पड़ते हैं। अतएव, **सिसरो** की राय में कानून तथा राज्य द्वारा नियमित स्वतंत्रता ही वास्तविक स्वतंत्रता है।

3. कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं—उल्लिखित दोनों विचारधाराओं में केवल आंशिक सत्यता है। सच पूछिए तो न कानून स्वतंत्रता का बाधक है और न साधक ही। वास्तविकता यह है कि कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के पूरक हैं। पहले मत के समर्थकों के विचारानुसार, स्वतंत्रता के लिए कानूनों की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन, हमें यह ध्यान में रखना होगा कि जहाँ पूर्ण स्वतंत्रता होगी और कानून-जैसी कोई नियंत्रक शक्ति नहीं होगी, वहाँ स्वेच्छाचारिता और उच्छृंखलता का साम्राज्य स्थापित होगा। वहाँ 'जंगल-नियम' (rule of jungle) की स्थापना हो जाएगी। स्वतंत्रता की परिभाषा बलवानों की इच्छा हो जाएगी। 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' (might is right) की कहावत चरितार्थ होगी। अतः, ऐसी अनियंत्रित स्वतंत्रता का महत्त्व नहीं होगा। ऐसी स्वतंत्रता से समाज में संघर्ष, कलह एवं द्वेष का वातावरण फैलेगा। राज्य के अंतर्गत चोरों, लुटेरों तथा अपराधियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि होगी। कानून-रहित स्वतंत्रता 'प्राकृतिक अवस्था' (state of nature) में बदल जाएगी। इसलिए मनमानी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने के लिए कानून का रहना आवश्यक है। कानून व्यक्ति के असामाजिक और हानिकारक कार्यों को नियंत्रित कर सबके लिए स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करता है। कानून से केवल एक व्यक्ति की रक्षा दूसरे व्यक्ति से ही नहीं होती, वरन शांति और सुव्यवस्था भी बनी रहती है। अतः, स्वतंत्रता के लिए कानून का रहना आवश्यक है। जहाँ तक दूसरे मत का प्रश्न है कि कानून स्वतंत्रता का साधक है, एक अतिरंजित कथन है। प्रत्येक कानून को हम स्वतंत्रता का सहायक नहीं कह सकते हैं। निरंकुश और अधिनायकों द्वारा बनाए हुए कानून सामाजिक हित में नहीं हो सकते। ऐसे कानूनों से स्वतंत्रता पर आघात पहुँचता है। उदाहरण के लिए, अँगरेज शासकों द्वारा बनाए गए 1878 ई० के **वर्नाकुलर प्रेस ऐक्ट** (Vernacular Press Act) को हम ले सकते हैं। उसके अनुसार भारतीय प्रेसों की स्वतंत्रता समाप्त कर दी गई थी। भारतीयों ने इसे 'गलाघोंट कानून' (Gagging Act) की संज्ञा प्रदान की थी और इसका घोर विरोध किया था। इस प्रकार, 1919 ई० में अँगरेज शासकों द्वारा **रॉलेट ऐक्ट** (Rowlett Act) पास किया था। इसके अनुसार बिना मुकदमा चलाए किसी भी व्यक्ति को नजरबंद किया जा सकता था। ऐसे कानून स्वतंत्रता के साधक नहीं हो सकते। राजकीय नियंत्रण सिर्फ उसी स्थिति में अनिवार्य है जब वह स्वतंत्रता की वृद्धि में सहायक हो।

निष्कर्ष (Conclusion)—स्वतंत्रता-संबंधी उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि स्वतंत्रता-संबंधी कानूनों की आवश्यकता है, लेकिन ऐसे कानूनों का महत्त्व उनके स्वभाव और रूप पर निर्भर करता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता के परिवर्द्धन में वे कितने सहायक होते हैं। स्वेच्छापूर्ण ढंग से बनाए गए कानूनों को स्वतंत्रता का पोषक नहीं कहा जा सकता। इस संबंध में **हैरोल्ड जे० लॉस्की** ने कहा है, "वे ही कानून मेरी स्वतंत्रता के साधक हैं जो मेरी आत्मोन्नति में बाधा न पहुँचाते हों।" आदर्शवादी विचारक **टी० एच० ग्रीन** ने भी कुछ स्थितियों में कानून का विरोध करने का समर्थन किया है। **लॉस्की** ने पुनः कहा है, "प्रत्येक कानून आदेश ही नहीं है, अनुरोध भी है।"[1] अतः, निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि जिन कानूनों से हमारी क्रियात्मक और प्रेरक शक्तियों को स्वाभाविक विकास का अवसर मिलता है और जो बिना भेदभाव के सबको आत्मविकास का सुअवसर प्रदान करता है, वास्तव में स्वतंत्रता का पोषण एवं संवर्द्धन करता है। इसीलिए स्वतंत्रता के लिए कानून की आवश्यकता है, क्योंकि कानून अधिकारों के रूप में स्वतंत्रता का निर्माण करता है। लेकिन, ऐसे कानूनों का न्यायसंगत भी होना आवश्यक है।

1. "Law is not merely a command, it is also an appeal."—LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्रश्नावली

1. स्वतंत्रता से आप क्या समझते हैं ? इसको परिभाषित करें।
   (What do you mean by liberty ? Define it.)
2. "स्वतंत्रता प्रतिबंधों का अभाव है।" स्पष्ट करें।
   ("Liberty is the absence of restraints." Discuss.)
3. स्वतंत्रता की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट करें कि "नियंत्रण स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है।"
   (Explain the term liberty and discuss the proposition that " Restraint is essential for liberty.")
4. कानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे से संबद्ध हैं। कैसे ?
   (Law and liberty are corelated. How ?)
5. स्वतंत्रता की अवधारणाओं के विकास पर एक निबंध लिखें।
   (Write an essay on the evolution of the concept of liberty.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 16

समानता की अवधारणा
[THE CONCEPT OF EQUALITY]

1. यह स्वीकारना कि सभी मनुष्य समान हैं, उतना ही गलत है जितना कि यह कहना कि भूमंडल समतल है।—अप्पादोराय

2. जबतक मानव योग्यता और आवश्यकता में असमान है, व्यवहार की समानता असंभव है।—लॉस्की

विषय-प्रवेश (Introduction)

स्वतंत्रता की तरह ही समानता की अवधारणा भी मानव-विकास की एक महान कुंजी है। स्वस्थ तथा विकसित सामाजिक जीवन के लिए यह आवश्यक शर्त है। यह ऐतिहासिक महत्त्व का शब्द है जिसपर प्राचीन समय से लेकर आज तक विचार-विमर्श होता रहा है। समानता की अवधारणा ने राजनीतिशास्त्र के सामने आज अनेक सवाल खड़ा किए हैं कि वास्तव में समानता की अवधारणा क्या हो? क्या समानता की अवधारणा सभी को समान मानने की हो? ये सारे ऐसे सवाल हैं जिनके संदर्भ में समानता की कानूनी और राजनीतिक व्याख्या की जाती रही है। प्राचीन समाज में प्रचलित भीषण असमानता के विरुद्ध एक प्रतिवाद के रूप में समानता का विचार उत्पन्न हुआ। यूरोप में सामंतवादी प्रथा के अंतर्गत कुछ ही लोगों को सभी प्रकार के राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक विशेषाधिकार प्राप्त थे। समाज का शेष भाग ऐसे अधिकारों से वंचित था और सामंतों के शोषण का शिकार था। समाज में इस असमानता के विरुद्ध अनेक राजनीतिक दार्शनिकों ने अपना नारा बुलंद किया। फ्रांस की राज्यक्रांति के समय (1789 ई०) समानता के सिद्धांत का वास्तविक प्रतिपादन हुआ। फ्रांस की राष्ट्रीय सभा (National Assembly) के द्वारा नागरिक अधिकारों की घोषणा में यह कहा गया, "मानव हमेशा स्वतंत्र तथा समान पैदा होते हैं और निरंतर इसी प्रकार रहते हैं।" ठीक ऐसी ही घोषणा 1776 ई० में अमेरिकी स्वतंत्रता-संग्राम के अवसर पर की गई थी कि "हमलोग इसको स्वयं सिद्ध मानते हैं कि सभी मानव समान पैदा होते हैं।"[1]

समानता का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Equality)

अमेरिकी स्वतंत्रता-संग्राम की उद्घोषणा कि 'मानव समान पैदा होते हैं'—को हम स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि प्रकृति ने सभी मानवों को एक-दूसरे से मानसिक, शारीरिक और नैतिक दृष्टि से असमान बनाया है। इसीलिए समानता का यह अर्थ नहीं कि सबको समान शिक्षा दी जाए या सबको समान कार्य करने के लिए कहा जाए। 'समानता' का यह भी अर्थ नहीं है कि सभी को—चाहे वे डॉक्टर, इंजीनियर या कुली हों—समान वेतन मिले। समानता का यह अर्थ नहीं होता है कि सबके साथ समान व्यवहार (identical treatment) किया जाए। **लॉस्की** ने ठीक ही लिखा है, "जब तक मानव योग्यता और आवश्यकता

1. "We hold these truths to be self-evident that all are created equal."—*American Declaration of Independence*, 1776.

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

में असमान है, व्यवहार की समानता असंभव है।"[1] **अप्पादोराय** ने भी कहा है, "यह स्वीकारना कि सभी मनुष्य समान हैं उतना ही गलत है जितना कि यह कहना कि भूमंडल समतल है।"[2]

अब प्रश्न है कि आखिर समानता का अर्थ क्या है। इस संबंध में **लॉस्की** ने लिखा है कि (i) "सर्वप्रथम समानता का अर्थ विशेषाधिकार का अभाव है" और (ii) "सभी के लिए समुचित अवसर का मार्ग प्रशस्त करना है।" इसका हम निम्नलिखित दो शीर्षकों में अध्ययन कर सकते हैं—

(i) विशेषाधिकारों का अभाव (Absence of special privileges)—अर्थात, विशेष सुविधाएँ या अधिकार जो समाज के कुछ लोगों को जन्म, जाति, धर्म के द्वारा प्राप्त होते हैं, उनकी समाप्ति होनी चाहिए। मानव और मानव में कोई विभेद नहीं होना चाहिए। राज्य के नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए। ज्ञान और योग्यता रहते समाज के किसी भी व्यक्ति के विकास में बाधा नहीं आनी चाहिए। जिन राजनीतिक अधिकारों का उपयोग दूसरे लोग करते हैं उनका उपयोग सबको करने का अधिकार होना चाहिए। राज्य के उच्चतम पद पर सबको अपनी योग्यता के अनुसार पहुँचने का अधिकार होना चाहिए। अतः, समानता का सही अर्थ समाज के सभी व्यक्तियों को समान अधिकारों की प्राप्ति और विशेषाधिकारों का उन्मूलन है।

(ii) सभी के लिए समुचित अवसर (Adequate opportunities to all)—समानता का अर्थ सभी के लिए समुचित अवसर का मार्ग प्रशस्त करना है। अतएव, राज्य और समाज का यह कर्तव्य होना चाहिए कि सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के उन समुचित अवसरों को प्रदान करे जो उनके सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक हों।

लॉस्की की असहमति—समुचित अवसर का तात्पर्य समान अवसर नहीं होता, क्योंकि **लॉस्की** ने कहा है कि समान अवसर (equal opportunities) असंभव है। असंभव इस अर्थ में है कि प्रारंभिक अवसर के रूप में सभी को एकसमान ये प्राप्त नहीं होते। **लॉस्की** के अनुसार, इसका कारण यह है कि "आधुनिक विश्व में मोटे तौर पर अवसर पैतृक परिस्थिति पर निर्भर करते हैं।" बच्चों पर उनके माँ-बाप के चरित्र का प्रभाव पड़ता है। जिस वातावरण में बौद्धिक वस्तुओं का महत्त्व ऊँचा है और जो बच्चे वहाँ पाले जाते हैं, वे निश्चित रूप से जीवन की दौड़ में आगे रहेंगे। लॉस्की ने भी कहा है कि जब तक परिवार-पद्धति कायम है, इसके द्वारा विभिन्न प्रकार के वातावरण बनेंगे जिनके कारण समान अवसरों का विचार कोरी कल्पना हो जाएगा। गरीब परिवार के बच्चे जो स्कूल भूखे जाते हैं, निश्चित रूप से धनी-परिवार के बच्चों से औसतन शिक्षा का लाभ नहीं उठा सकते। अतः, लॉस्की के विचार में सबको समान अवसर प्रदान नहीं किया जा सकता।

समानता के दो रूप—समानता के अर्थ-संबंधी उपर्युक्त विश्लेषण के बाद समानता के निम्नलिखित दो रूपों का संकेत मिलता है—(i) नकारात्मक (negative), और (ii) सकारात्मक (positive)। नकारात्मक रूप में समानता का तात्पर्य उन सब विशेषाधिकारों की प्राप्ति से है जो जन्म, संपत्ति, धर्म या रंग के आधार पर कुछ लोगों को प्राप्त होते हैं। सकारात्मक रूप में समानता का अर्थ सभी को बिना किसी भेदभाव के समान अवसर प्रदान करना है।

समानता के विभिन्न रूप
(Various Aspects of Equality)

समानता के निम्नलिखित विभिन्न रूप होते हैं—

1. नागरिक समानता (Civil equality)—नागरिक समानता का तात्पर्य सभी नागरिकों को बिना किसी भेद-भाव के समान नागरिक अधिकार और स्वतंत्रता प्रदान करना है। अर्थात, नागरिक स्वतंत्रता के लिए सभी व्यक्तियों को एक ही तरह के नागरिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। इसके अलावा, कानून की नजरों में सबको समान होना चाहिए। अर्थात्, संपूर्ण राज्य के नागरिकों के लिए एक प्रकार का कानून होना चाहिए।

1. "There can be no ultimate identity of treatment so long as men are different in want and capacity and need."—LASKI

2. "The statement, then, that men are equal, is erroneous as that the surface of the earth is level."—APPADORAI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

संक्षेप में, नागरिक समानता का अभिप्राय यह है कि धर्म, जाति, वंश और लिंग के आधार पर नागरिकों के बीच राज्य को किसी प्रकार का विभेद नहीं करना चाहिए।

2. सामाजिक समानता (Social equality)—समाज के हर व्यक्ति को सामाजिक अधिकार प्राप्त होना चाहिए। समाज में धर्म, जाति, रंग, लिंग इत्यादि के आधार पर किसी प्रकार का विभेद या पक्षपात नहीं किया जाना चाहिए। इसके अंतर्गत जन्म, वंश तथा लिंग इत्यादि के आधार पर किसी प्रकार का सामाजिक भेदभाव नहीं होना चाहिए। भारत-जैसे देश में अभी सामाजिक असमानता की स्थिति विद्यमान है। सरकार के लाख प्रयास के बावजूद अछूतों को अस्पृश्य मानना, उन्हें कुओं से पानी नहीं लेने देना, मंदिरों में प्रवेश-निषेध इत्यादि भारतीय सामाजिक जीवन की असमानता के ज्वलंत उदाहरण हैं। भारतीय संविधान में इन असमानताओं को समाप्त कर दिया गया है और आज किसी भी रूप में इनका आचरण निषिद्ध है। दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद की नीति भी सामाजिक असमानता का रूप प्रस्तुत करती है।

3. राजनीतिक समानता (Political equality)—राजनीतिक समानता का तात्पर्य राज्य के शासन-कार्य में भाग लेने का समान अधिकार है। मतदान, निर्वाचित होने और राज्य के किसी भी उच्च पद को अपनी योग्यता के अनुसार प्राप्त करने को राजनीतिक समानता कहते हैं। अर्थात, राजनीतिक समानता की स्थिति में प्रत्येक नागरिक को किसी भी पद के लिए निर्वाचित होने तथा मतदान करने से मना नहीं किया जाता। धर्म, जाति, लिंग, वंश इत्यादि के आधार पर नागरिकों के बीच राजनीतिक अधिकारों के संबंध में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिए। पाकिस्तान में कोई हिंदू राष्ट्रपति का पद नहीं प्राप्त कर सकता, जबकि भारत में इस प्रकार का कोई भेदभाव नहीं है। इस प्रकार, राजनीतिक समानता प्रजातंत्र का आधार है। इनकी अनुपस्थिति में आज हम प्रजातंत्र की सफलता की कल्पना नहीं कर सकते हैं। इसके अंतर्गत अपराधियों, पागलों तथा बूढ़ों तथा बालकों की अयोग्यताओं के आधार पर उनको राजनीतिक अधिकारों से वंचित किया जा सकता है।

4. आर्थिक समानता (Economic equality)—आर्थिक समानता का विचार मार्क्सवाद की देन है। यह समाजवादी पद्धति की आधारशिला है। आर्थिक समानता का तात्पर्य मनुष्यों को समान संपत्ति मिलने के अधिकार से है। लेकिन, पूर्ण आर्थिक समानता असंभव है। इसलिए **ह्यूम** ने भी इस संबंध में ठीक कहा है कि "आप सबको समान संपत्ति दे दें तब भी व्यक्ति की कला, उसका उद्योग तथा सतर्कता इस समानता को समाप्त कर देगी या आप इन गुणों को रोक देते हैं तो आप समाज को निम्न धरातल पर पहुँचा देते हैं।" अतः, आर्थिक दृष्टि से सभी को पूर्णतः समान नहीं बना सकते।

अब प्रश्न है कि आर्थिक समानता हम किसे कहेंगे। **लॉस्की** ने लिखा है, "बिना आर्थिक समानता के राजनीतिक समानता कदापि संभव नहीं है; अन्यथा राजनीतिक शक्ति को आर्थिक शक्ति की दासी होना पड़ेगा।"[1] उसने पुनः लिखा है, "मुझे केक खाने का कोई अधिकार नहीं है, जबकि मेरे पड़ोसी को बिना रोटियों के गुजारा करना पड़ता है।"[2] आर्थिक समानता की अनुपस्थिति में सचमुच हमें अन्य प्रकार की समानताओं से हाथ धोना पड़ता है। आर्थिक समानता का वास्तविक अर्थ सभी को पर्याप्त अवसर की प्राप्ति, सभी को काम करने का अधिकार, श्रम के निर्धारित घंटे तथा विश्राम और व्यवसाय आदि में अधिकार होना चाहिए, जिससे मनुष्य अपने गुणों के विकास में समर्थ हो सके। अर्थात, सभी को न्यूनतम आर्थिक समानता के अवसर प्राप्त हो सके। जैसे—रहने, खाने, पहनने, शिक्षा, दवा-दारू आदि की सुविधाएँ प्राप्त हों। आर्थिक समानता का यह भी अर्थ है कि समाज में बहुत अधिक विषमता नहीं हो। जिस समाज में मालिक और दास, शोषक और शोषित तथा बहुत धनी और बहुत निर्धन की स्थिति विद्यमान हो, वहाँ हम आर्थिक समानता की कल्पना नहीं कर सकते।

5. प्राकृतिक समानता (Natural equality)—प्राकृतिक समानता का अभिप्राय है कि प्रकृति ने सभी मनुष्यों को समान बनाया है। असमानता हमारे समाज की देन है। लेकिन, यह विचार भी उचित नहीं है, क्योंकि मनुष्य असमान रूप से जन्म लेता है। कोई लंबा, कोई नाटा, कोई गोरा, कोई काला, कोई स्वस्थ, कोई दुर्बल, कोई मंद तथा कोई तेज होता है। अतएव, प्राकृतिक समानता एक काल्पनिक व्याख्या है। परंतु, इन विभिन्नताओं के बावजूद नैतिक दृष्टि से मनुष्य समान होते हैं। समाज में फैली असमानताएँ कृत्रिम हैं।

---

1. "Political equality, therefore, is never real, unless it is accompanied by virtual economic equality, political power, otherwise, is bound to be the handmaid of economic power."—LASKI
2. "I have no right to take cake when my neighbour is compelled to go without bread."—LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

समानता की अवधारणा का विकास

प्राचीन काल में स्वतंत्रता के आदर्श की तरह समानता का आदर्श लोकप्रिय नहीं था। असमानता समाज का सामान्य नियम था। समाज का शक्तिशाली वर्ग ही सुख-सुविधाओं का प्रयोग किया करता था। प्लेटो तथा अरस्तू ने भी समानता के सिद्धांत को मिथ्या बताया। प्राचीन यूनान में सिद्धांत और व्यवहार दोनों में समानता-सिद्धांत को अस्वीकार किया गया। प्राचीन हिंदू धर्म भी समानता के सिद्धांत को अस्वीकार करता है। प्राकृतिक असमानता के आधार पर सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक असमानताओं को उचित ठहराया जाता था। समानता-सिद्धांत का यह रूप 18वीं सदी तक रहा। जैसे-जैसे जनतंत्र का विकास होता गया वैसे-वैसे समानता के संबंध में भी आवाज उठने लगी। **लॉक, वाल्टेयर, रूसो, जेफर्सन, पेन** आदि दार्शनिकों ने मनुष्य को प्राकृतिक रूप से समान स्वीकार किया। **फ्रांस की क्रांति के घोषणापत्र** में भी कहा गया है, "मनुष्य समान उत्पन्न होते हैं और सदा अपने अधिकारों के संबंध में स्वतंत्र और समान होते हैं।" आज विश्व के प्रायः सभी राज्यों ने सामाजिक, राजनीतिक, नागरिक और आर्थिक समानता को स्वीकार कर लिया है।

समानता की कानूनी और राजनीतिक व्याख्या
(Legal and Political Interpretation of Equality)

समानता का सिद्धांत आज के प्रजातंत्र का आधार है। आज भी 20वीं शताब्दी में विश्व के प्रायः प्रत्येक देश का राजनीतिक संविधान समानता के अधिकार को मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता प्रदान करता है। समानता के इस अधिकार के विभिन्न पक्ष होते हैं, जैसे—कानून के समक्ष समानता, राजनीतिक समानता, आर्थिक तथा सामाजिक समानता। हमारे देश के संविधान में समानता के इन तमाम पक्षों का उल्लेख मिलता है। यहाँ हम सिर्फ कानूनी तथा राजनीतिक समानता का वर्णन करेंगे।

समानता की कानूनी व्याख्या (Legal Interpretation of Equality)

कानूनी समानता का साधारण अर्थ यह होता है कि सभी नागरिक कानून के समक्ष समान हैं। कानून उनके बीच किसी तरह का भेदभाव या मनमाना व्यवहार नहीं करता। यह विचार दो मुख्य बातों से प्रभावित है—

(i) कानून के समक्ष समानता और

(ii) कानून का समान संरक्षण।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 में यह कहा गया है कि भारत राज्य क्षेत्र में राज्य किसी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता या कानून द्वारा समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा। इसके अलावा भी कानूनी समानता के कुछ निम्नलिखित पक्ष हैं—

(i) कानून के समक्ष समानता (Equality before law)—इसका अर्थ है कि कानून के सामने सभी व्यक्ति समान हैं और इसके अंतर्गत सभी व्यक्तियों के लिए राज्य एक-से कानून बनाता है तथा उन्हें एकसमान लागू करता है। कानून के संबंध में राज्य धनी-गरीब, ऊँच-नीच आदि का भेद-भाव नहीं करता। जन्म, वंश, कुल, लिंग तथा जन्म-स्थान के आधार पर कानून किसी भी व्यक्ति को प्राथमिकता नहीं देता। **पश्चिम बंगाल बनाम अनवर अली** मुकदमे में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि समान परिस्थितियों में सभी के साथ कानून का व्यवहार एक-सा होना चाहिए। कानूनी समानता के संबंध में इसी तरह की बात **डायसी** ने कही है। उसके शब्दों में, "हमारे देश में प्रत्येक अधिकारी चाहे तो वह प्रधानमंत्री हो या पुलिस का सिपाही या कर वसूल करनेवाला, अवैधानिक कार्यों के लिए उतना ही दोषी माना जाएगा, जितना अन्य कोई नागरिक।"

(ii) कानून का समान संरक्षण (Equal protection of law)—कानून के समक्ष समानता कानूनी अधिकार का नकारात्मक पहलू है। यह राज्य पर बंधन लगाता है। इसके विपरीत, इसका सकारात्मक पहलू है कि सभी व्यक्तियों को कानून का समान संरक्षण प्राप्त हो। अपने अधिकारों के संरक्षण के लिए प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से न्यायालय की शरण ले सकता है। इस संबंध में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश **श्री दीक्षित** ने कहा था कि कानूनी प्रयोग में किसी प्रकार का स्वेच्छाचारी भेदभाव नहीं होना चाहिए और यही कानून द्वारा समान संरक्षण है। यह कानून के समक्ष समानता का सकारात्मक पहलू है तथा अमेरिकी संविधान की देन है।

(iii) कानून के समक्ष समानता का यह अर्थ नहीं कि राज्य किसी विशेष उद्देश्य से नागरिकों का उचित तथा तर्कसंगत वर्गीकरण नहीं करेगा। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कर-निर्धारण या किसी अन्य उद्देश्य से सरकार नागरिकों को विभिन्न वर्गों में रख सकेगी और इस प्रकार उनके बीच भेद-भाव कर सकती है। इसका अभिप्राय है कि कानून के समक्ष समानता का अर्थ व्यक्तियों की पूर्ण समानता नहीं है, वरन इसका अर्थ है कि जन्म, जाति या अन्य सामान्य कारणों के आधार पर किसी व्यक्ति को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होगा।

(iv) प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी भी पद पर क्यों न हो, देश के सामान्य न्यायालयों के अंतर्गत माना जाएगा और न्यायालय बिना भेद-भाव के सबके साथ समान रूप से व्यवहार करेगा।

(v) समान अधिकारों के साथ सभी के कर्तव्य भी एकसमान होंगे। जन्म, वंश, धर्म या संपत्ति के आधार पर न तो किसी को विशेष सुविधाएँ प्राप्त होंगी और न उनके कर्तव्य ही अलग-अलग माने जाएँगे।

(vi) करों का निर्धारण करते समय इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि कर का बोझ सभी के ऊपर आमदनी के अनुसार पड़े।

अतएव, यह स्पष्ट है कि कानून के समक्ष समानता का अर्थ है कि **कानून का शासन** (rule of law) हो। विश्व के प्रायः सभी प्रजातंत्रात्मक देशों ने इस सिद्धांत को अपनाया है और अपने-अपने नागरिकों को समान अधिकार प्रदान किए हैं।

समानता की राजनीतिक व्याख्या (Political Interpretation of Equality)

राजनीतिक समानता का अभिप्राय है कि सभी नागरिकों को बिना किसी भेद-भाव के समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। प्रत्येक व्यक्ति को शासन के कार्यों में भाग लेने का समान अधिकार होना चाहिए। राजनीतिक समानता जनतंत्र का मुख्य तत्त्व है। जैसे-जैसे गणतंत्र विकसित होता गया, वैसे-वैसे राजनीतिक समानताओं की भावना भी बढ़ती गई। जनतंत्र की स्थापना के पूर्व राजनीतिक समानता का कोई अर्थ नहीं था, क्योंकि राजनीतिक सत्ता सिर्फ कुछ लोगों के हाथों में केंद्रित थी। आम जनता को प्रशासनिक क्रियाओं से कोई मतलब नहीं था। राजनीतिक समानता में नागरिकों के निम्नलिखित मुख्य अधिकार हैं—

(i) **मतदान का अधिकार**—यह सबसे पहला राजनीतिक अधिकार है। सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेद-भाव के मत देने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। इस अधिकार पर धर्म, जाति, संपत्ति या शिक्षा आदि का प्रतिबंध नहीं लगाना चाहिए। स्त्रियों तथा पुरुषों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए।

(ii) **चुनाव में खड़ा होने का अधिकार**—सभी नागरिकों को चुनाव में खड़ा होने का समान अधिकार होना चाहिए। कुछ साल पहले तक इंगलैंड में स्त्रियों को यह अधिकार प्राप्त नहीं था। अब यह अधिकार उन्हें भी प्राप्त हो गया है।

(iii) **प्रार्थना-पत्र का अधिकार** (Rights of petition)—नागरिकों को प्रार्थना-पत्र देने और उसके माध्यम से अपनी शिकायतों को सरकार तक पहुँचाने का अधिकार होना चाहिए। इंगलैंड का प्रार्थना-पत्र का अधिकार इतिहासप्रसिद्ध है। इस अधिकार के उपयोग के लिए नागरिकों को विचारों की अभिव्यक्ति तथा दल-निर्माण करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

(iv) उर्पयुक्त राजनीतिक अधिकारों के अलावा, सभी नागरिकों को **समान रूप से राजकीय पदों पर नियुक्त होने तथा राजकीय सम्मान प्राप्त करने का अधिकार** मिलना चाहिए। केवल शिक्षा, सेवा या किसी विशेष योग्यता के आधार पर इस संबंध में भेदभाव किया जा सकता है।

राजनीतिक अधिकारों के उपर्युक्त विवेचन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन अधिकारों के सदुपयोग से नागरिकों का सर्वांगीण विकास संभव है।

समानता के सामाजिक तथा आर्थिक पक्ष
(Socio-economic Dimensions of Equality)

समानता का सामाजिक पक्ष (Social Dimension of Equality)

प्राचीन तथा मध्यकालीन समाज में असमानता का बोलबाला था। समाज के कुछ विशेष वर्गों ने अपने

WWW.GRADESETTER.COM

स्वार्थ-सिद्धि के लिए विषमता को तर्कसंगत आधार प्रदान करने का प्रयास किया। लेकिन, आज के युग में यह सर्वमान्य सिद्धांत हो गया है कि सभी व्यक्ति एकसमान हैं। उनमें धर्म, जाति, कुल तथा लिंग आदि के आधार पर भेदभाव नहीं किया जा सकता। व्यक्ति चाहे किसी भी जाति, धर्म या आर्थिक स्तर का क्यों न हो, उसे सामाजिक संबंधों में अन्य लोगों के बराबर का स्तर मिलना चाहिए।

चूँकि आरंभ से ही भारतीय समाज में असमानता विद्यमान है, इसलिए भारतीय संविधान में विशेष रूप से प्रयास किया गया है कि यहाँ सामाजिक असमानताओं की समाप्ति हो। संविधान में कहा गया है कि राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूल, वंश, जाति, जन्म-स्थान या इनमें किसी के आधार पर भेद-भाव नहीं करेगा। यह भी कहा गया है कि किसी भी नागरिक को केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान या इनमें किसी भी आधार पर दूकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश करने से नहीं रोका जाएगा। इसके साथ ही, सार्वजनिक कुँओं, घाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग से किसी भी व्यक्ति को वंचित नहीं किया जाएगा। इस प्रकार के भेदभाव करनेवाले व्यक्ति को दंड देने की व्यवस्था की गई है। इन व्यवस्थाओं के अलावा छुआछूत की प्रथा को निषिद्ध कर दिया गया है और इसे व्यवहार में लानेवाले व्यक्ति को दंड देने का प्रबंध किया गया है।

भारत की तरह विश्व के अनेक देशों में भी सामाजिक असमानता को मिटाने का प्रयास किया गया है। लेकिन, व्यवहारों में इसे समाप्त कर देना आसान नहीं है। अमेरिका तथा भारत में कानूनी समानता मिलने के बावजूद क्रमशः नीग्रो जाति के लोगों और शूद्रों को सामाजिक समानता नहीं मिल सकी है। आज भी दक्षिण अफ्रीका में गोरे-काले में भेदभाव बना हुआ है। रूस में भी यहूदियों के साथ सामाजिक भेदभाव बढ़ता जा रहा है।

इस सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए आज विश्वव्यापी कदम उठाए गए हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 1948 ई० में मानवीय अधिकारों की घोषणा की और सामाजिक समानता पर विशेष बल दिया। इसे व्यवहार में भी लागू करने के लिए काफी प्रयास हो रहे हैं। सामाजिक असमानता को प्रोत्साहित करनेवाले देशों की खुलकर आलोचना की जा रही है। संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक परिषद ने इस दिशा में सराहनीय कार्य किया है।

समानता का आर्थिक पक्ष (Economic Dimension of Equality)

समानता का आर्थिक पक्ष भी बहुत मजबूत है। प्रायः हर युग में आर्थिक विषमताओं को दूर करने का प्रयास किया गया है। लेकिन, एक निश्चित अवधारणा के रूप में इसका विकास वर्तमान युग में हुआ है। मार्क्सवादी विचारधारा ने इसे काफी प्रभावित किया है। आज के समाजवादी विचारकों ने आर्थिक समानताओं की सभी प्रकार की मान्यताओं का विश्लेषण किया है।

सामान्यतः आर्थिक समानता का अभिप्राय यह लगाया जाता है कि हर व्यक्ति को भौतिक पदार्थ के उपयोग का समान अधिकार है। **ब्राइस** का कहना है, "इसका अर्थ है धन-संबंधी अंतरों को समाप्त कर दिया जाए एवं प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष को सांसारिक वस्तुएँ समान रूप से प्राप्त हों।" दूसरी तरफ व्यक्तिवादियों की राय में आर्थिक क्षेत्र में सभी व्यक्तियों को समान रूप में स्वतंत्र छोड़ दिया जाना चाहिए। राज्य की ओर से नागरिकों की आर्थिक क्रियाओं में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए तथा सभी लोगों को समान रूप से प्रतियोगिता द्वारा संपत्ति अर्जित करने तथा खर्च करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

आर्थिक समानता का यह भी अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता तथा क्षमता के अनुसार आर्थिक उपलब्धि का अवसर मिलना चाहिए और सभी की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। ऐसा तभी संभव है जबकि राज्य में संपत्ति का विकेंद्रीकरण कुछ व्यक्तियों या वर्ग-विशेष के हाथ में न हो, वरन निजी संपत्ति और उससे मुनाफे पर राज्य द्वारा नियंत्रण रखा जाए तथा आवश्यकतानुसार उत्पादन के मौलिक साधनों पर और वितरण की व्यवस्था पर राज्य का स्वामित्व और नियंत्रण बना रहे।

इसके विपरीत, यदि उग्र पूँजीवादी व्यवस्था को कायम रहने दिया जाए तो समाज में आर्थिक विषमता बनी रहेगी। **मार्क्स** ने इस संबंध मे कहा है, "जिस देश में संपत्ति तथा उत्पादन के साधन कुछ गिने-चुने लोगों के हाथों में केंद्रित होते हैं, उस देश की राजनीतिक, सांस्कृतिक, शिक्षण-संस्थाओं तथा न्यायपालिका पर पूर्णतया धन हावी हो जाता है।" इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिए संपत्ति के अधिकार पर मर्यादा तथा नियंत्रण का लगाया जाना आवश्यक है। यदि आज के औद्योगिक युग में राज्य आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

नहीं करता है तो आर्थिक असमानताएँ बढ़ती ही जाएँगी और धनी वर्ग गरीबों का शोषण करता रहेगा। मार्क्स द्वारा की गई समानता की आर्थिक व्याख्या का यही निष्कर्ष है।

यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि समानता का अर्थ एक समान व्यवहार से नहीं है। मानवीय जीवन के अन्य क्षेत्रों में समानता की भाँति आर्थिक क्षेत्र में भी सभी को बराबर धन, संपत्ति या भौतिक साधन प्राप्त नहीं हो सकते। केवल इतना ही संभव है कि एक निश्चित न्यूनतम सीमा तक सभी को आर्थिक साधन प्राप्त हो और उसके बाद प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार धन उपार्जन के अवसर प्राप्त हों।

आर्थिक समानता-संबंधी उपर्युक्त विवरण से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(i) प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए, जैसे—भोजन, वस्त्र तथा आवास आदि की सुविधाएँ।

(ii) समाज में ऐसा नहीं होना चाहिए कि कुछ लोग भोग-विलासता में डूबे रहें और दूसरी तरफ किसी को भोजन भी उपलब्ध न हो।

(iii) विभिन्न लोगों में आर्थिक विषमता की दूरी कम-से-कम होनी चाहिए।

(iv) प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार, पर्याप्त मजदूरी तथा विश्राम के लिए पर्याप्त अवकाश मिलना चाहिए।

(v) समान कार्य के लिए समान वेतन मिलना चाहिए।

(vi) स्त्रियों तथा बच्चों को आर्थिक मजबूरी के कारण ऐसी परिस्थितियों में काम नहीं करना पड़े जो उनकी स्वतंत्रता और जीवन के लिए हानिकारक हों।

(vii) बेकारी, बुढ़ापे, बीमारी व अन्य ऐसी स्थितियों में लोगों को राज्य की ओर से आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए।

(viii) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी कार्यक्षमता और योग्यता को बढ़ाने के लिए पर्याप्त भौतिक साधन, उपकरण तथा रहन-सहन के उचित स्तर की प्राप्ति होनी चाहिए।

आर्थिक असमानता को दूर करने के लिए मार्क्सवादियों तथा उदारवादियों ने जो उपाय सुझाए हैं, उनमें काफी भिन्नता है। मार्क्सवादी निजी संपत्ति को बिल्कुल समाप्त कर देने के पक्ष में हैं। वे उत्पादन तथा वितरण के साधनों का समाजीकरण चाहते हैं। उनकी राय में सभी मनुष्य अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेंगे और उन्हें आवश्यकतानुसार सभी चीजें प्राप्त होंगी। एक दिन ऐसा आएगा कि समाज में धन की कमी नहीं रहेगी तथा उत्तम जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का अभाव नहीं रह जाएगा। साम्यवादी देशों में निजी संपत्ति को समाप्त कर दिया गया हैं। केवल निजी उपयोग की वस्तुओं पर व्यक्तियों का अधिकार रहने दिया गया। आधुनिक उदारवादियों की राय है कि राज्य को लोक-कल्याणकारी होना चाहिए। इसके अंतर्गत राज्य केवल समाज के हित के दृष्टिकोण से उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण भौतिक साधनों को अपने हाथ में ले लेता है। शेष धंधों को निजी हाथों में छोड़ देता है। संक्षेप में, वे समाजवादी प्रकार के समाज की स्थापना करने के पक्ष में हैं। उदारवादी लोकतंत्रात्मक देशों में मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाई गई है।

स्वतंत्रता और समानता में संबंध
(Relationship between Liberty and Equality)

स्वतंत्रता और समानता के संबंध को लेकर भी राजनीतिशास्त्र के विद्वानों में दो विरोधी मत हैं—(i) पहले मत के अनुसार स्वतंत्रता और समानता परस्पर-विरोधी हैं और (ii) दूसरे मत के अनुसार दोनों एक-दूसरे के सहायक हैं। अब हम दोनों मतों का संक्षिप्त अध्ययन करेंगे—

(i) स्वतंत्रता और समानता परस्पर-विरोधी हैं—इस विचारधारा के प्रमुख समर्थक **एक्टन** और **टॉकविले** हैं। इस विचारधारा के अनुसार स्वतंत्रता प्रकृति की देन है, जबकि समानता प्रकृति की देन नहीं है। **एक्टन** के विचार से "समानता की उत्कट अभिलाषा ने स्वतंत्रता की आशा को बेकार कर दिया है।"[1] अर्थात, समानता स्वतंत्रता का दुश्मन है। जहाँ समानता होती है वहाँ स्वतंत्रता की कल्पना नहीं की जा सकती है और जहाँ कहीं भी स्वतंत्रता होगी वहाँ समानता असंभव है। इसका कारण यह है कि मनुष्य

1. "The passion for equality has made vain the hope for freedom."—LORD ACTON

WWW.GRADESETTER.COM

शारीरिक, मानसिक आदि दृष्टियों से असमान होते हैं। यदि सभी लोगों को स्वतंत्र रूप से कार्य करने के लिए छोड़ दिया जाए तो मूर्खों और आलसियों से बुद्धिमान और परिश्रमी अवश्य ही जीवन की दौड़ में आगे निकल जाएँगे। अर्थात, प्राकृतिक असमानता को हम दूर नहीं कर सकते। हम केवल मानव द्वारा रचित सामाजिक असमानता ही दूर कर सकते हैं।

(ii) स्वतंत्रता और समानता एक-दूसरे के पोषक हैं—अर्थात, दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध है। समानता की अनुपस्थिति में स्वतंत्रता महत्त्वहीन है। **लॉस्की** के अनुसार स्वतंत्रता और समानता परस्पर-विरोधी नहीं हैं। **आर० एच० टॉनी** के अनुसार समानता स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है। **लॉस्की** का कहना सही है कि बिना आर्थिक समानता के राजनीतिक स्वतंत्रताओं का कोई मूल्य नहीं है। एक धनी व्यक्ति को कोई गरीब व्यक्ति अपनी तमाम योग्यताओं के बावजूद आसानी से पराजित नहीं कर सकता । **पोलार्ड** ने भी कहा है, "स्वतंत्रता की समस्या का केवल एक ही हल है; वह समानता में अवस्थित है।"[2] **रूसो** ने भी इसका समर्थन किया है।

निष्कर्ष (Conclusion)—निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि समानता के रहने पर ही समाज के नागरिक अपनी स्वतंत्रता का उपभोग कर सकते हैं। यदि समाज के सभी व्यक्तियों को उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसर न दिए जाएँ तो स्वतंत्रता कायम नहीं रह सकती है। बिना आर्थिक समानता के राजनीतिक स्वतंत्रता कदापि संभव नहीं है। और, आर्थिक समानता की अनुपस्थिति में राजनीतिक शक्ति को आर्थिक शक्ति के अधीन रहना पड़ता है। अतएव, समानता के बिना स्वतंत्रता खोखली है और स्वतंत्रता के बिना समानता निरर्थक है। परिणामस्वरूप, स्वतंत्रता और समानता एक-दूसरे के विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। आज जैसे-जैसे समाज तथा राज्य के अंतर्गत नई-नई अवधारणाओं का विकास हो रहा है, वैसे-वैसे समानता-संबंधी अवधारणा भी राजनीतिशास्त्र का एक रोचक विषय होती जा रही है।

प्रश्नावली

1. समानता किसे कहते हैं ? समानता के विभिन्न रूपों को स्पष्ट करें।
   (What is equality ? Discuss the various types of equality.)
2. स्वतंत्रता और समानता के संबंधों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
   (Critically examine the relationship between liberty and equality.)
3. स्वतंत्रता और समानता में अंतर स्पष्ट करें। क्या दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं ?
   (Distinguish between liberty and equality. Are they opposed to each other ?)
4. "समानता के उत्साह ने स्वतंत्रता की आशा को निरर्थक कर दिया है"—लॉर्ड एक्टन। स्पष्ट करें।
   ("The passion for equality has made vain the hope for freedom."—Lord Acton. Illustrate this statement.)
5. समानता के आर्थिक तथा सामाजिक पक्ष की विवेचना कीजिए।
   (Examine the socio-economic dimension of equality.)
6. समानता की कानूनी और राजनीतिक व्याख्या कीजिए।
   (Examine the legal and political interpretation of equality.)

□ □ □

1. "There is only one solution of the problem of liberty. It lies in equality."—POLLARD

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 17

अधिकार और उसके सिद्धांत

[RIGHTS AND ITS THEORIES]

अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना साधारणतः कोई मनुष्य पूर्ण विकास नहीं कर सकता है।—लॉस्की

विषय-प्रवेश (Introduction)

आज 20वीं शताब्दी में अधिकार और कर्तव्य केवल राजनीतिशास्त्र के ही महत्त्वपूर्ण अंग नहीं हैं, वरन मानव-जाति के लिए अपने विकास तथा उन्नत जीवन के लिए भी ये आवश्यक हो गए हैं। आज के प्रजातंत्रात्मक युग में अधिकार और कर्तव्य को जीवन-आधार के रूप में स्वीकार किया गया है। मानवीय विकास के लिए ये आज आवश्यक तत्त्व हो गए हैं। अधिकाररहित मानव आज जीवित नहीं रह सकता और अपने कर्तव्यों को समझ नहीं सकता; क्योंकि अधिकार एक ऐसी क्षमता है जिसके आधार पर मानव अपने कर्तव्यों का पालन करने में समर्थ हो सकता है। अधिकारों की सृष्टि समाज द्वारा होती है, राज्य द्वारा नहीं। राज्य तो सिर्फ अधिकारों को मान्यता प्रदान करता है। **लॉस्की** ने भी कहा है, "राज्य अधिकारों का निर्माण नहीं करता, बल्कि उनको मान्यता प्रदान करता है तथा किसी समय राज्य के स्वरूप को उसके द्वारा अधिकारों की मान्यता के आधार पर जाना जा सकता है।"[1] समाज सिर्फ ऐसी ही माँगों को स्वीकार करता है जो आवश्यक हैं और जिनमें सार्वजनिक कल्याण की भावना निहित है। जिस माँग के पीछे सार्वजनिक भावना निहित रहती है, केवल उसी माँग को समाज का नैतिक बल प्राप्त होता है और वह माँग जब समाज द्वारा स्वीकृत हो जाती है, तब अधिकार का रूप धारण कर लेती है। अधिकार और कर्तव्य दो पहिए हैं जिनके आधार पर सामाजिक शांति और सुव्यवस्था बनी रहती है। अर्थात, ये दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। जहाँ अधिकार है, वहाँ कर्तव्य भी है। उदाहरण के लिए, यदि हमें जीवन का अधिकार है तो दूसरे लोगों का कर्तव्य है कि वे हमारे जीवन पर आक्रमण न करें और जीवन के अधिकार को बना रहने दें।

अधिकार का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Rights)

अधिकार-संबंधी उपर्युक्त विवेचन के बाद चार तथ्य दीख पड़ते हैं। ये अधिकार के अर्थ का स्पष्ट रूप से संकेत करते हैं—(i) अधिकार समाज की सृष्टि है; (ii) समाज से बाहर अधिकारों की सृष्टि नहीं होती; (iii) अधिकार का आधार सार्वजनिक कल्याण है; (iv) अधिकार का महत्त्व उसके उपभोग में है। इन चारों तथ्यों का संक्षिप्त विश्लेषण आवश्यक है—

(i) अधिकार समाज की सृष्टि है—अधिकार का निर्माण समाज के द्वारा होता है। जब माँगें समाज द्वारा स्वीकृत हो जाती हैं, तब वे अधिकार का रूप ग्रहण कर लेती हैं। राज्य और समाज के निकट संबंध के कारण कुछ लोग अधिकार को राज्य की ही सृष्टि स्वीकार कर लेते हैं; लेकिन यह सही नहीं है। अधिकारों की सृष्टि राज्य द्वारा नहीं, बल्कि समाज द्वारा होती है। **लॉस्की** ने भी कहा है, "राज्य अधिकारों की सृष्टि नहीं करता, वरन उन्हें मान्यता प्रदान करता है।"

1. "The State does not create, but recognizes rights, its character will be apparent from the rights that, at any given period, secures recognition."—LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(ii) समाज से बाहर अधिकारों की सृष्टि नहीं होती—अधिकार का निर्माण तो केवल समाज के लिए होता है। समाज से बाहर अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं है। जंगलों या पहाड़ों की गुफाओं में रहनेवाले मनुष्यों द्वारा बनाए गए समाज में अधिकारों का निर्माण नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ प्राकृतिक अवस्था रहती है और प्राकृतिक अवस्था में कोई माँग नहीं होती।

(iii) अधिकार का आधार सार्वजनिक कल्याण है—अधिकार का निर्माण सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से होता है। जिस माँग के पीछे सार्वजनिक भलाई निहित रहती है, केवल उसी को समाज का नैतिक बल प्राप्त होता है और वह माँग जब समाज के द्वारा मान ली जाती है, तब अधिकार का रूप ग्रहण कर लेती है। **हाब्स** ने भी कहा है, "अधिकार तथा कर्तव्य सामाजिक कल्याण की दशाएँ हैं।"

(iv) अधिकार का महत्त्व उसके उपभोग में है—वैसे तो अधिकार के पीछे समाज की नैतिक शक्ति होती है, फिर भी राज्य-शक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अधिकारों का पालन करवाए। अधिकार सार्थक तभी हो सकते हैं, जबकि राज्य उनके उपभोग के लिए उचित वातावरण का निर्माण करे।

परिभाषाएँ (Definitions)

अधिकार-संबंधी उपर्युक्त विवेचन के बाद अब प्रश्न उठता है कि इसकी परिभाषा क्या है। अधिकार की परिभाषा विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न रूपों में दी गई है।

1. **लॉस्की**—"अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना साधारणतः कोई मनुष्य अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता।"[1]

2. **हॉलैंड**—"अधिकार एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के कार्यों को समाज के मत और शक्ति द्वारा प्रभावित करने की क्षमता है।"[2]

3. **ग्रीन**—"अधिकार वह शक्ति है जिसकी लोक-कल्याण के लिए ही माँग की जाती है और मान्यता भी प्राप्त होती है।"[3]

4. **मैक्कन**—"अधिकार सामाजिक हितार्थ कुछ लाभदायक परिस्थितियाँ हैं जो नागरिक के वास्तविक विकास के लिए आवश्यक हैं।"[4]

5. **वाइल्ड**—"अधिकार कोई विशेष कार्य करने के लिए स्वतंत्रता की युक्तिसंगत माँग है।"[5]

6. **श्रीनिवास शास्त्री**—"वास्तव में अधिकार वह व्यवस्था, नियम या रीति है जो किसी समुदाय के कानून द्वारा स्वीकृत है और जो नागरिक के उच्चतम नैतिक कल्याण में सहायक है।"[6]

7. **बेनीप्रसाद**—"अधिकार केवल वे सामाजिक परिस्थितियाँ हैं जो व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक या अनुकूल हैं।"[7]

8. **हेनरिशी**—"मानव-व्यक्तित्व के अस्तित्व और पूर्णता के लिए जो कुछ आवश्यक हो, वही अधिकार है।"[8]

---

1. "Rights are those conditions of social life without which no man can seek, in general, to be himself at his best."—LASKI
2. "One man's capacity of influencing the act of another by means of the opinion and the force of the society."—HOLLAND
3. "A right is a power claimed and recognised as contributory to common good."—T H GREEN
4. "Rights are certain advantageous conditions of social well-being indispensable to the true development of the citizen."—MACCONN
5. "A Right is a reasonable claim to freedom in the exercise of certain activities."—WILDE
6. "In its essence a right is an arrangement, rule or practice sanctioned by the law of the community and conducive to the highest moral good of the citizen."—SHRINIVAS SHASTRI
7. "Rights are nothing more and nothing less than those social conditions which are neccessary or favourable to the development of personality."—BENI PRASAD
8. "Right is really neccssary to the maintenance of material conditions essential to the existence and perfection of human personality."—HENRICI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

9. सालमंड—"सत्य के नियम द्वारा रक्षित हित का नाम अधिकार है। कोई भी हित जिसका आदर करना कर्तव्य हो और जिसका अतिक्रमण अनुचित हो, अधिकार कहलाता है।"[1]

अधिकार की विशेषताएँ या आवश्यक तत्त्व (Essential Elements or Features of Rights)

अधिकार के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझने के लिए उसके निम्नलिखित आवश्यक तत्त्वों और विशेषताओं पर ध्यान देना होगा—

(i) अधिकार व्यक्ति या व्यक्तिसमूह की माँग है—अर्थात, व्यक्ति के विकास के लिए कुछ सुविधाओं की आवश्यकता होती है जिनकी पूर्ति पर ही मानवीय विकास निर्भर करता है। व्यक्ति इन सुविधाओं को माँग के रूप में समाज के सामने रखता है। समाज से स्वीकृति मिलने पर ही इन माँगों को अधिकार का रूप मिलता है।

(ii) सामाजिक मान्यता—समाज के बिना अधिकार की कल्पना हम नहीं कर सकते। कोई भी मानव-अधिकार, जब तक उसको समाज की स्वीकृति नहीं प्राप्त होती, तब तक वह अधिकार का रूप नहीं धारण कर सकता। अतः, यह कहा जाता है कि समाज के द्वारा ही अधिकारों की सृष्टि होती है। समाज द्वारा स्वीकृत अधिकारों को ही राज्य मान्यता देता है।

(iii) समानता—यदि समानता न हो तो अधिकारों का कोई मूल्य या महत्त्व नहीं होता। तात्पर्य है कि समाज के सभी व्यक्तियों को समान रूप से अधिकार प्राप्त होने चाहिए। अधिकार को किसी एक वर्ग या जाति के लिए सुरक्षित नहीं रहना चाहिए। समानता अधिकार का मूल तत्त्व है।

(iv) नैतिकता और सामाजिक सदाचरण—माँग को तर्क और नैतिकता की दृष्टि से समाज के सामने रखना चाहिए, जैसे—जीवन का अधिकार, भाषण का अधिकार तथा धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार । इसके विपरीत मद्यपान, व्यभिचार और आत्महत्या-संबंधी माँगें अनैतिक एवं सामाजिक सदाचरण के विपरीत हैं। इन्हें अधिकार का रूप नहीं दिया जा सकता।

(v) सामाजिक हित—अधिकार में सामाजिक हित का भाव छिपा रहता है। इसका उद्देश्य और ध्येय दूसरों की भलाई करना होता है। इसीलिए ऐसी माँगों को अधिकार की स्थिति प्रदान की जाती है जो सामाजिक स्थिति के पक्ष में हों। आशीर्वादम ने भी इसका समर्थन किया है।

(vi) अधिकार का निर्माण राज्य द्वारा नहीं होता—राज्य का काम अधिकारों का निर्माण करना नहीं है। यह समाज द्वारा स्वीकृत अधिकारों को केवल वैधानिक मान्यता प्रदान करता है और उनकी रक्षा करता है।

(vii) विकासशील—मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुरूप अधिकार का स्वरूप भी बदलता रहता है। सामाजिक विकास के साथ उसका भी विकास होता रहता है।

(viii) असीमितता का अभाव—अधिकार असीमित नहीं होते हैं। असीमित अधिकार समाज में संभव नहीं है। किसी व्यक्ति को कार्य करने का असीमित अधिकार नहीं होना चाहिए। उसे केवल उन्हीं कार्यों को करने का अधिकार होना चाहिए, जिनसे दूसरों के समान अधिकारों को कोई धक्का न पहुँचता हो। एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे व्यक्ति के अधिकारों से सीमित हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो समाज में अराजकता फैल सकती है।

(ix) अधिकार और कर्तव्य में अन्योन्याश्रय संबंध है—अधिकार एवं कर्तव्य परस्पर-आश्रित हैं। एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे का कर्तव्य हो जाता है। अधिकार में कर्तव्य की भावना निहित है। कर्तव्यरहित अधिकार का कोई मूल्य नहीं होता। जैसे—यदि हमें भाषण करने का अधिकार है तो दूसरों का यह कर्तव्य हो जाता है कि हमारे इस अधिकार के उपयोग में वे बाधा न उत्पन्न करें।

अधिकार-संबंधी विभिन्न सिद्धांत (Different Theories of Rights)

अधिकारों की उत्पत्ति के संबंध में अग्रलिखित पाँच मुख्य सिद्धांत हैं—

1. "A right is an interest protected by a rule of right (justice). It is an interest the respect for which is a duty and the violation of which is wrong."—SALMOND

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. नैसर्गिक या प्राकृतिक सिद्धांत
(The Theory of Natural Rights)

यह अधिकार-सिद्धांत यह बताता है कि अधिकार मानवीय स्वभाव में निहित है। ये प्राकृतिक अधिकार मानव के जन्मसिद्ध अधिकार हैं। इससे तात्पर्य है कि समाज अथवा राज्य की स्थापना के पूर्व से ही मानव इन अधिकारों का प्रयोग करता आ रहा है। **आशीर्वादम** ने कहा है, "इन अधिकारों का संबंध मानव-प्रकृति के अनुसार वैसा ही है जैसा कि शरीर के चमड़े या उसके रंग का संबंध है।"[1] मानव ने सामाजिक या राजनीतिक जीवन इसलिए स्वीकार किया है कि इन प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग अच्छी तरह हो सके। हॉब्स, लॉक और रूसो ने अपने सामाजिक अनुबंधों (social contracts) में इन अधिकारों का वर्णन किया है। हॉब्स ने मानव के सभी अधिकारों को नैसर्गिक माना है, जबकि लॉक ने मानव के कुछ ही अधिकारों को नैसर्गिक स्वीकार किया है। **रूसो** ने कहा है कि राज्य के जन्म होने के बाद मानव के सभी प्राकृतिक अधिकार सामान्य इच्छा (General Will) में बदल गए। अमेरिकी स्वतंत्रता की घोषणा (1776 ई०) में भी इन प्राकृतिक अधिकारों की चर्चा की गई है और कहा गया है कि "हम इसे नितांत सत्य मानते हैं कि परमात्मा ने सभी मानवों को समान पैदा किया है। हम यह भी मानते हैं कि परमात्मा ने सभी को कुछ अविच्छेद्य अधिकार प्रदान किए हैं।" **जोड** (Joad) ने प्राकृतिक अधिकारों के अंतर्गत निम्नलिखित बातों को शामिल किया है—

1. मानव समाज-निर्माण के पहले से है।
2. मानव के कुछ प्राकृतिक अधिकार हैं।
3. इन अधिकारों की रक्षा के लिए मानव समाज का निर्माण करता है।
4. अधिकार का निर्माण समाज के द्वारा नहीं होता है, वरन मानव उन्हें अपने साथ समाज में लाता है।
5. समाज का उद्देश्य इन अधिकारों की रक्षा करना है।
6. यदि समाज ऐसा नहीं करता तो व्यक्ति को विद्रोह करने का अधिकार प्राप्त है।
7. मानव को विद्रोह करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि समाज का निर्माण साधारणतया मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए हुआ था। किसी विशेष अवसर पर मानव के किसी एक अधिकार के उल्लंघन का अर्थ उसके दूसरे अधिकारों की रक्षा के लिए होता है।

आलोचनाएँ—प्राकृतिक अधिकारों की आलोचनाएँ **बर्क, ग्रीन, बेन्थम, रिची** आदि विद्वानों द्वारा निम्नलिखित रूप में की गई हैं—

1. आलोचकों का कहना है कि 'प्राकृतिक' शब्द का एक निश्चित अर्थ नहीं है। इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है, जैसे—प्रारंभिक, संपूर्ण ब्रह्मांड, आदर्श, पूर्ण, विकसित आदि।

2. प्राकृतिक अधिकारों की कोई ऐसी सूची नहीं बन पाई है जो इसके समर्थकों को सर्वमान्य हो। **रिची** ने इसी आधार पर इसकी आलोचना की है।

3. प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांत में विरोधाभास भी है। इस सिद्धांत के अनुसार प्राकृतिक अधिकारों के क्षेत्र में राज्य या समाज हस्तक्षेप नहीं कर सकता, अर्थात ये अनियंत्रित हैं। लेकिन व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से इन अधिकारों पर समुचित नियंत्रण आवश्यक है, क्योंकि एक अनियंत्रित अधिकार अन्य अधिकारों को नष्ट कर देता है।

4. प्राकृतिक अधिकार का सिद्धांत इस तथ्य पर जोर देता है कि समाज से बाहर भी हम इन अधिकारों का उपयोग कर सकते हैं; लेकिन यह विचार न्यायसंगत नहीं है। समाज से बाहर अधिकार का कोई महत्त्व नहीं है।

5. आलोचकों का कहना है कि यदि इस तथ्य को स्वीकार भी कर लिया जाए कि प्राकृतिक अधिकारों का जन्म प्राकृतिक अवस्था में हुआ था, तो प्राकृतिक अवस्था में प्रचलित विभिन्न संस्थाओं—बहुपत्नीवाद (poligamy) तथा बहुपतिवाद (polyandry)—को भी हमें प्राकृतिक अधिकारों में शामिल करना होगा, जो उचित नहीं है।

1. "They (rights) are as much a part of man's nature as, say, the colour of his skin."—ASIRVATHAM

WWW.GRADESETTER.COM

6. प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांत के अनुसार सामाजिक संगठन साधारणतः कृत्रिम होते हैं और इस अर्थ में वे राज्य को भी कृत्रिम मानते हैं। लेकिन, बात ऐसी नहीं है। राज्य एक प्राकृतिक विकास है, वह कृत्रिम संस्था नहीं है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांत में सत्यांश है। यदि हम इसको आदर्शमूलक और नैतिक अधिकारों के संदर्भ में रखते हैं, तो वह हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

2. वैधानिक अधिकार का सिद्धांत
(Legal Theory of Rights)

वैधानिक अधिकार-सिद्धांत प्राकृतिक या नैसर्गिक अधिकार-सिद्धांत में विश्वास नहीं करता है। यह सिद्धांत इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य का कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं होता। अधिकारों की सृष्टि राज्य करता है और उनका पोषण भी वही करता है। अधिकार प्रकृति की देन नहीं है। इन्हें राज्य अपनी इच्छा से छीन भी सकता है, अर्थात वैधानिक अधिकार का सिद्धांत इस बात पर जोर देता है कि राज्य की इच्छा के विरुद्ध व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता है।

आलोचनाएँ—बहुलवादी विचारकों ने विशेष रूप से वैधानिक अधिकार-सिद्धांत की निम्नलिखित आलोचनाएँ की हैं—

(i) राज्य अधिकारों का स्रष्टा नहीं है—प्रो॰ लॉस्की की दृष्टि में राज्य अधिकारों का स्रष्टा नहीं है। राज्य तो अधिकारों को केवल मान्यता प्रदान करता है। **लॉस्की** ने कहा है, "अधिकारों का वैधानिक सिद्धांत यह तो बता सकता है कि राज्य का स्वभाव या चरित्र कैसा है, परंतु यह नहीं बता सकता कि किन अधिकारों को मान्यता दी गई है और वे मान्यता के योग्य हैं या नहीं।"[1] अधिकार तो राज्य के पहले से है। यह कहना कि राज्य ही अधिकारों का निर्माण करता है—एक भ्रामक और गलत सिद्धांत है। **वाइल्ड** ने कहा है, "राज्य हमारे अधिकारों की रचना नहीं करता; वह केवल उन्हें स्वीकृति प्रदान करता है।"

(ii) नैतिक तत्त्व का अभाव—वैधानिक सिद्धांत के समर्थकों ने केवल वैधानिक तत्त्वों पर ही जोर दिया है। उन्होंने नैतिक तत्त्व की अवहेलना की है। आलोचकों का कहना है कि जो बातें हमारी नैतिक धाराओं के विपरीत हैं, वे कानून के द्वारा मान्यता प्राप्त होने पर भी अधिकार नहीं बन सकतीं। क्या राज्य चोरी, डकैती आदि को वैधानिक मान्यता देकर अधिकार का रूप दे सकता है? राज्य ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि ये चीजें हमारी नैतिक धारणाओं के विपरीत हैं। अतएव, अधिकार में वैधानिकता के साथ-साथ नैतिकता भी होनी चाहिए।

(iii) अधिकार स्थायी नहीं हैं—यदि हम वैधानिक सिद्धांत में विश्वास कर लेते हैं तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राज्य के निर्मित होने के कारण अधिकार स्थायी हैं। लेकिन, इतिहास साक्षी है कि समाज की आर्थिक तथा नैतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ अधिकारों के स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहता है।

(iv) वैधानिक सिद्धांत राज्य को अधिकारों का जन्मदाता स्वीकार कर राज्य को निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी बना देता है।

3. ऐतिहासिक अधिकार का सिद्धांत
(The Historical Theory of Rights)

ऐतिहासिक सिद्धांत अधिकार को ऐतिहासिक उपज मानता है। उदाहरण के लिए, हम पुराने रीति-रिवाजों या परंपराओं को ले सकते हैं जिनका लोग आदतन पालन करने लगते हैं और कालक्रम में वे अधिकार का रूप ग्रहण कर सकते हैं। कुछ रीति-रिवाजों को राज्य स्वीकार कर लेता है और उन्हें राज्य की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसीलिए अधिकार ऐतिहासिक परंपराओं की देन हैं।

1. "A legal theory of right will tell us what is fact. That character of State is, it will not tell us whether the rights thereon recognized are the rights which claim recognition."—LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

आलोचनाएँ—ऐतिहासिक अधिकार-सिद्धांत की आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) यह स्वीकार करना कि अधिकार परंपरागत रीति-रिवाजों से पैदा होते हैं, उचित तथा न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि यदि रीति-रिवाज और परंपरा को अधिकार का एकमात्र आधार स्वीकार कर लिया जाए तो ऐसी दशा में सामाजिक बुराइयों को दूर नहीं किया जा सकता।

(ii) चूँकि ऐतिहासिक सिद्धांत केवल रूढ़ियों और परंपराओं को अधिकार का आधार मानता है, इसलिए यह एक प्रतिक्रियावादी (reactionary) सिद्धांत है।

4. लोककल्याणकारी अधिकार का सिद्धांत
(The Social Welfare Theory of Rights)

इस सिद्धांत के प्रमुख समर्थकों में **बेन्थम, मिल** और **लॉस्की** के नाम उल्लेखनीय हैं। इस सिद्धांत के अनुसार अधिकार का आधार सामाजिक उपयोगिता है, अर्थात जो अधिकार सामाजिक कल्याण के लिए नहीं हैं, वे अधिकार नहीं हो सकते। **बेन्थम** के विचार में, सामाजिक उपयोगिता से तात्पर्य 'अधिकाधिक लोगों को अधिकाधिक सुख' (greatest happiness of the greatest number) की प्राप्ति से है। जिस अधिकार के द्वारा समाज का कल्याण होता है, अर्थात अधिकाधिक लोगों को अधिकाधिक सुख प्राप्त होता है, उसी को अधिकार के रूप में राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त होती है। **लॉस्की** के शब्दों में, "यदि राज्य किसी वर्ग-विशेष के हित में शासन करता है, तब इसका विरोध करने का नागरिक को अधिकार होना चाहिए।" वह पुनः कहता है, "अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके अभाव में साधारणतया कोई भी व्यक्ति अपनी सर्वोत्तम स्थिति पर नहीं पहुँच सकता है।"[1]

आलोचनाएँ (Criticisms)—लोक-कल्याणकारी अधिकार-सिद्धांत के निम्नलिखित तीन दोष हैं—

(i) इस सिद्धांत का **पहला दोष** यह है कि इस बात का निर्णय कैसे किया जा सकता है कि कोई अधिकार अधिकाधिक सुख पहुँचा सकता है या नहीं, क्योंकि अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित का कोई सर्वमान्य मापदंड नहीं है।

(ii) इसका **दूसरा दोष** यह है कि यह सिद्धांत सिर्फ अधिकाधिक लोगों को सुख पहुँचाना चाहता है, अर्थात् यह केवल बहुसंख्यक भाग का ही कल्याण चाहता है और इस प्रकार यह अल्पसंख्यकों के हितों की उपेक्षा करता है।

(iii) इस सिद्धांत का **तीसरा दोष** यह है कि 'सुख' शब्द को स्पष्ट नहीं किया गया है। 'सुख' से क्या अर्थ लिया जाए?—यह बताया नहीं गया है। किसी व्यक्ति के लिए भरपेट भोजन की प्राप्ति सुख है तो किसी के लिए वेश्यावृत्ति। किसी को सामाजिक कल्याण में सुख मिलता है तो किसी को चोरी-डकैती तथा चुगलखोरी में ही सुख की प्राप्ति होती है।

5. आदर्शवादी अधिकार-सिद्धांत
(The Idealistic Theory of Rights)

इस सिद्धांत को व्यक्तिवादी सिद्धांत भी कहते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार अधिकारों का आधार नैतिक है। अधिकार मनुष्य के आंतरिक एवं वास्तविक उत्थान के लिए आवश्यक बाह्य अवस्था है। समाज का हर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास चाहता है और इसकी प्राप्ति के लिए उसके अंदर शक्ति भी रहती है। **ग्रीन** ने अधिकार की परिभाषा करते हुए लिखा है कि इससे तात्पर्य 'उन शक्तियों से है जो व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक हैं।' अर्थात, अधिकारों के बिना कोई भी व्यक्ति अपने में निहित क्षमता की सर्वोच्च पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह है कि यह प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार और कर्तव्य है कि वह अपनी सारी क्षमता और शक्ति का स्वाधीनतापूर्वक विकास करे। आदर्शवादी सिद्धांत के विश्लेषण से निम्नलिखित **तीन** तथ्य स्पष्ट होते हैं—

(i) अधिकारों का अस्तित्व समाज में है;

1. "We have rights so that we may contribute to the common good and only those rights are recognized without which society cannot realize its end. Our rights, therefore, are built upon our contribution to that well-being of the society."—LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

(ii) अधिकार मानव-स्वभाव में निहित है; और

(iii) प्रत्येक अधिकार में कर्तव्य भी सन्निहित है।

आलोचनाएँ (Criticisms)—उपर्युक्त अधिकार-संबंधी विभिन्न सिद्धांतों में आदर्शवादी सिद्धांत निश्चित रूप से संतोषप्रद है, परंतु इसमें भी निम्नलिखित कठिनाइयाँ हैं—

(i) यह सिद्धांत यह बताने में असमर्थ है कि व्यक्तित्व क्या है।

(ii) यह भी निश्चित करना कठिन है कि व्यक्ति के विकास के लिए किन-किन परिस्थितियों की आवश्यकता है।

(iii) यह सिद्धांत व्यावहारिक नहीं है।

(iv) इस सिद्धांत के द्वारा केवल नैतिक अधिकारों की चर्चा की गई है, वैधानिक तथा ऐतिहासिक अधिकारों का इसमें उल्लेख नहीं किया गया है।

लेकिन, उपर्युक्त दो कठिनाइयों के अलावा, अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धांत मानव की लोकतंत्रीय भावनाओं को उभारता है, क्योंकि यह अधिकारों को वैधता की अपेक्षा नैतिकता से संबद्ध मानता है। साथ ही, यह मानव-आत्मविकास को समाज के अंतर्गत नहीं करता। यह सिद्धांत महान दार्शनिक **कांट** के इस विश्वास को स्पष्ट करता है कि किसी अन्य के लक्ष्य के लिए किसी मनुष्य के साथ साधन-जैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए।

निष्कर्ष (Conclusion)—निष्कर्ष के रूप में, विभिन्न अधिकार-संबंधी सिद्धांतों के विश्लेषण के बाद हम कह सकते हैं कि आदर्शवादी अधिकार का सिद्धांत और सामाजिक कल्याण के सिद्धांत में उचित समन्वय आवश्यक है। सामाजिक कल्याण व्यक्तियों के कल्याण पर निर्भर है। इसीलिए यही न्यायसंगत और श्रेयष्कर है कि समाज और व्यक्ति दोनों का साथ-साथ विकास हो। यदि व्यक्ति और समाज की साथ-साथ उन्नति होगी तो समाज में नैतिकता की आधारशिला सुदृढ़ होगी।

अधिकारों का वर्गीकरण (Classification of Rights)

अधिकारों का स्वरूप सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन से बदलता रहता है। यही कारण है कि पुराने समय में हम जिन अधिकारों को महत्त्व देते थे, आज वे महत्त्वहीन हो गए हैं। **लॉक** संपत्ति को ऐसा अधिकार मानता था जिसमें राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता था, लेकिन आज की बदली हुई परिस्थितियों में संपत्ति-संबंधी अधिकार के स्वरूप में परिवर्तन हो गया है और राज्य उसमें हस्तक्षेप कर रहा है। संक्षेप में, हम अधिकारों का वर्गीकरण निम्नलिखित तरीके से कर सकते हैं—

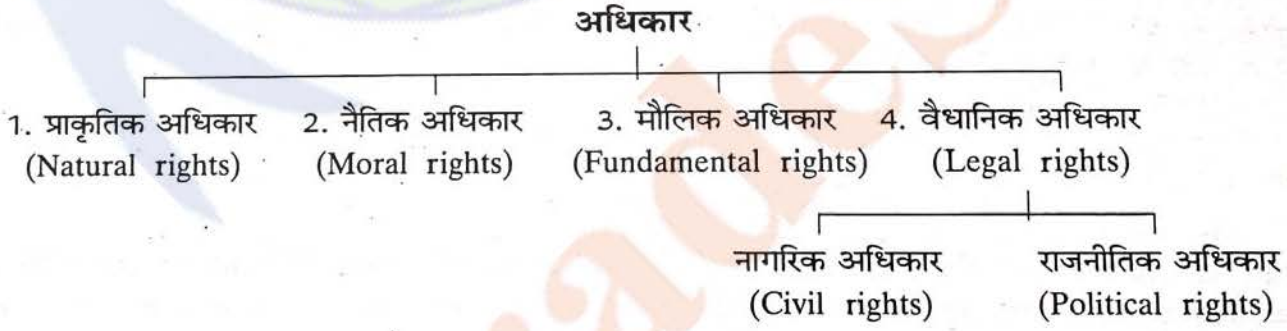

1. प्राकृतिक अधिकार (Natural rights)—प्राकृतिक अधिकारों का अर्थ उन अधिकारों से है जो लोगों को प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त था। **हॉब्स** ने प्राकृतिक अधिकार के संबंध में कहा है कि यह मनुष्य की शक्ति है जिसे वह अपनी इच्छापूर्ति के लिए मनमाना प्रयोग करता है, अर्थात हॉब्स 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' (might is right) के सिद्धांत को भी प्राकृतिक अधिकार समझता है। **जॉन लॉक** ने 'जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति' (life, liberty and property) के अधिकारों को भी प्राकृतिक अधिकार स्वीकारा है। ये प्राकृतिक अधिकार मानव-स्वभाव में निहित हैं। मनुष्य न तो इन्हें दूसरों को दे सकता है और न राज्य इनका अपहरण कर सकता है। **ग्रीन** के अनुसार, "प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार हैं जिनके अभाव में मानव अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता।"

2. नैतिक अधिकार (Moral rights)—नैतिक अधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जो समाज की नैतिक धारणा पर आधारित होते हैं; जैसे—शिष्टाचार, सच्चरित्रता तथा छोटे-बड़ों का ख्याल रखना—रीति-

WWW.GRADESETTER.COM

रिवाजों और परंपराओं के ये विकसित रूप होते हैं। मनुष्य अपना नैतिक कर्तव्य समझकर इन अधिकारों का पालन करता है। इनके पालन का आधार राज्य की शक्ति नहीं होती। राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त होने पर ये अधिकार वैधानिक रूप ग्रहण कर लेते हैं।

3. मौलिक अधिकार (Fundamental rights)—मौलिक अधिकार मानव के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक हैं। मौलिक अधिकारों के बिना सभ्य एवं श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती। मौलिक अधिकारों के पीछे कानून की शक्ति रहती है। यदि सरकार इन अधिकारों को छीनने का प्रयास करती है तो न्यायालय इनकी रक्षा के लिए तैयार हो जाते हैं। यही कारण है कि बहुत-से देशों ने अपने संविधानों में नागरिकों के मौलिक अधिकारों को शामिल कर उन्हें सुरक्षित करने का प्रयास किया है। ये अधिकार हैं—समता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, संपत्ति का अधिकार आदि।

4. वैधानिक अधिकार (Legal rights)—वैधानिक अधिकार वे हैं जिन्हें राज्य मान्यता प्रदान करता है और जिनकी रक्षा राज्य के कानूनों द्वारा होती है। **लीकॉक** ने वैधानिक अधिकार की परिभाषा देते हुए कहा है, "वैधानिक अधिकार वह विशेषाधिकार है जिसका प्रत्येक नागरिक अपने सह-नागरिकों के साथ उपभोग करता है जो राज्य की सर्वोच्च सत्ता द्वारा प्रदान किया जाता है और उसी सत्ता द्वारा उसकी रक्षा भी होती है।"[1] वैधानिक अधिकार का उल्लंघन करनेवाले को राज्य दंड देता है। जैसे—'जीवन का अधिकार' व्यक्ति का कानूनी अधिकार है, इसलिए यदि कोई किसी की हत्या कर देता है तो वह दंड का भागी बनता है। वैधानिक अधिकार दो तरह के होते हैं—

(A) नागरिक अधिकार (Civil rights) एवं

(B) राजनीतिक अधिकार (Political rights)।

(A) नागरिक अधिकार (Civil rights)—नागरिक अधिकार उन्हें कहते हैं जो राज्य द्वारा भी व्यक्तियों, नागरिकों और विदेशियों को प्रदान किए जाते हैं। इसका आधार राज्य की नागरिकता तथा व्यक्तित्व का विकास है। इन अधिकारों से व्यक्ति अपने जीवन, संपत्ति, वैयक्तिक विशेषता की रक्षा करता है और अपनी आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। वर्तमान काल में निम्नलिखित नागरिक अधिकार पाए जाते हैं—

(i) जीवन का अधिकार (Right of life)—यह सबसे महत्त्वपूर्ण नागरिक अधिकार है। इस अधिकार का तात्पर्य जीवन-रक्षा से है, क्योंकि जीवन के अभाव में अन्य नागरिकों का कोई अर्थ नहीं है। राज्य का यह कार्य है कि वह नागरिकों की जीवन-रक्षा का प्रबंध करे। राज्य जीवन के इस अधिकार को साकार करने के लिए सेना, पुलिस और न्यायालय की व्यवस्था करता है। यदि व्यक्ति का जीवन खतरे में हो तो वह अस्त्र-शस्त्रों का भी प्रयोग कर सकता है।

अपवाद—(अ) राज्य के कानून के विरुद्ध अपराध करनेवालों को शारीरिक दंड और प्राणदंड दिया जा सकता है।

(ब) आत्महत्या करने की कोशिश करनेवालों को भी राज्य दंड देता है।

(स) यदि आत्मरक्षा में कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति का प्राण ले लेता है तो उसका अपराध राज्य की दृष्टि में क्षम्य है।

(ii) वैयक्तिक स्वतंत्रता का अधिकार (Right to personal liberty)—इस अधिकार के अभाव में जीवन का अधिकार अधूरा है। **ग्रीन** ने कहा है, "किसी व्यक्ति को केवल जीवन का अधिकार अपने इच्छानुसार जीवन के प्रयोग के अधिकार के बिना निरर्थक है।" इसीलिए ग्रीन ने जीवन के अधिकार और वैयक्तिक स्वतंत्रता को मिलाकर स्वतंत्र जीवन का अधिकार कहा है। वैयक्तिक स्वतंत्रता से तात्पर्य आवागमन की स्वतंत्रता तथा अपनी आंतरिक शक्तियों के उपभोग के अधिकार से है। व्यक्तियों को अपने इच्छानुसार अपने देश या विदेश में आने-जाने का अधिकार रहना चाहिए। वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है कि किसी भी व्यक्ति को तबतक नजरबंद नहीं किया जाए, जबतक कि न्यायालय के द्वारा उसका अपराध साबित न हो जाए।

(iii) विचार-स्वतंत्रता का अधिकार (Right of freedom of speech)—विचार की अभिव्यक्ति मानवीय व्यक्तित्व के विकास के लिए परमावश्यक है। मानव अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाना चाहता है जिससे

1. "A legal right is a privilege enjoyed by a citizen against his fellow citizens granted by the sovereign power of the State and upheld by that power."—LEACOCK

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

उसे परम संतोष मिलता है। यदि विचारों की स्वतंत्रता का अधिकार मनुष्य को नहीं मिले तो वह पशुतुल्य हो जाता है। मिल्टन, लॉस्की आदि विद्वानों ने इस स्वतंत्रता का जोरदार समर्थन किया है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि विचार-शक्ति-जैसी अमूल्य निधि को बनाए रखने के लिए विचार-स्वतंत्रता का अधिकार आज आवश्यक है। जनतंत्र के युग में तो इस अधिकार की उपयोगिता पहले की अपेक्षा काफी बढ़ गई है।

अपवाद—(अ) राजद्रोह के लिए नागरिकों को उभारना तथा (ब) किसी को गाली देना तथा अपमान करना आदि विचार-स्वतंत्रता-अधिकार पर मर्यादाएँ हैं।

(iv) संगठन बनाने का अधिकार (Right of assembly)—विचार-स्वतंत्रता के अधिकार के अंतर्गत ही संगठन बनाने का अधिकार शामिल है, क्योंकि सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य के व्यक्तित्व का संबंध उसके सामूहिक जीवन से अत्यधिक है। अतः, समुदाय या संगठन का निर्माण करना मानवीय स्वभाव में निहित है। मानव अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के संगठनों का निर्माण करता है, लेकिन ऐसे समुदायों को संगठन के निर्माण का अधिकार नहीं दिया जा सकता जिनका उद्देश्य समाज-विरोधी हो। जैसे—चोरों और डकैतों को अपना संगठन बनाने का अधिकार नहीं दिया जा सकता।

(v) धर्म का अधिकार (Right of religion)—प्रत्येक व्यक्ति को अपने विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म को मानने की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। इस अधिकार का तात्पर्य अपने विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म को स्वीकार करने, पूजा करने और धार्मिक प्रचार की स्वतंत्रता से है। लेकिन, उस अधिकार पर मर्यादाएँ हैं। यदि धार्मिक कार्य का प्रचार समाज-विरोधी हो, तो राज्य उस पर नियंत्रण भी लगा सकता है।

(vi) शिक्षा का अधिकार (Right to education)—शिक्षा के अभाव में मनुष्य अपना सर्वांगीण विकास नहीं कर सकता। मनुष्य का आंतरिक और मानसिक विकास शिक्षा के द्वारा ही संभव है। चूँकि शिक्षा से हमारी संकीर्ण भावनाएँ समाप्त होती हैं और यह मस्तिष्क को विशाल बनाती है; इसलिए यह अधिकार हमारे लिए आवश्यक है। **बेनी प्रसाद** ने ठीक ही कहा है, "उत्तम शिक्षा जीवन का मूलाधार है"। इसलिए, राज्य का यह कर्तव्य है कि वह प्रारंभिक और उच्च शिक्षा की समुचित व्यवस्था करे।

(vii) संपत्ति का अधिकार (Right to property)—संपत्ति मानव के स्वभाव में निहित है। इसके बिना मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता। **अरस्तू** ने कहा है कि परिवार की तरह संपत्ति भी मनुष्य के लिए आवश्यक है। **लॉस्की** के विचार में, "यदि व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास की दृष्टि से संपत्ति रखना आवश्यक हो तो संपत्ति के अधिकार का अस्तित्व स्पष्ट है।"[1] इस अधिकार के अंतर्गत भोजन, वस्त्र, मकान, भूमि, धन आदि की प्राप्ति है। लेकिन, संपत्ति के इस मौलिक अधिकार पर सामाजिक हित की दृष्टि से आज नियंत्रण स्थापित किया जाने लगा है। साम्यवादियों ने वैयक्तिक संपत्ति के अधिकार को समाप्त करने का नारा बुलंद किया है।

(viii) पारिवारिक जीवन का अधिकार (Right to family life)—परिवार सामाजिक जीवन की आधारशिला है। परिवार के बिना मनुष्य अपने चरम उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकता। इस अधिकार के अंतर्गत विवाह का अधिकार, तलाक का अधिकार, पति-पत्नी के संबंध को निश्चित करने का अधिकार, बच्चों पर नियंत्रण का अधिकार, उत्तराधिकार आदि शामिल हैं। पारिवारिक जीवन-संबंधी अधिकारों में राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता, परंतु इसकी पवित्रता को बनाए रखने के कुछ नियम निर्धारित कर सकता है।

(ix) समानता का अधिकार (Right of equality)—इस अधिकार का अर्थ मुख्य रूप से राजनीतिक समानता से है, अर्थात राज्य के प्रत्येक नागरिक को मतदान का अधिकार रहना चाहिए। किसी को इस संबंध में विशेषाधिकार नहीं होना चाहिए। जाति, धर्म, लिंग आदि में बिना भेद किए सभी नागरिकों को योग्यता के आधार पर नौकरी मिलनी चाहिए। धनी, गरीब, विद्वान और मूर्ख सबके लिए समान दंड की व्यवस्था होनी चाहिए, अर्थात कानून का शासन स्थापित होना चाहिए।

(x) संविदा का अधिकार (Right to contract)—इस अधिकार से तात्पर्य है कि समाज और राज्य के लोगों को आपस में कानूनी समझौते का अधिकार होना चाहिए। किसी भी संविदा में दो दल होते हैं, जो कुछ शर्तों को स्वीकार करते हैं और जिनका पालन दोनों के लिए आवश्यक होता है। एक दल बिना दूसरे की सहमति के संविदा को समाप्त नहीं कर सकता । **गिलक्राइस्ट** ने कहा है, "संविदा व्यापार और प्रगति के लिए आवश्यक है।" अतएव, राज्य के नागरिकों को यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

---

1. "If property must be possessed in order that a man may be his bestself, the existence of such a right is clear."—LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(xi) न्याय-प्राप्ति का अधिकार (Right to justice)—प्राचीनकाल में केवल वर्ग-विशेष के व्यक्तियों को ही ये अधिकार प्राप्त थे। सर्वसाधारण नागरिकों के जीवन में इस न्याय का कोई महत्त्व नहीं था। आज के प्रजातंत्रात्मक राज्य में प्रजातंत्र के विकास के साथ सभी नागरिकों को न्याय-प्राप्ति के अधिकार प्राप्त हो गए हैं। इस संदर्भ में, अब अमीर-गरीब, ऊँच-नीच, रंग-रूप इत्यादि का भेद नहीं बरता जाता। इसके लिए सभी व्यक्ति न्यायालय की शरण ले सकते हैं।

(B) राजनीतिक अधिकार (Political rights)—राजनीतिक अधिकार के द्वारा ही नागरिक राज्य की शासन-प्रणाली में भाग लेता है। राजनीतिक अधिकार उन व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं जिन्हें राज्य अपनी प्रभुसत्ता में भागीदार बनाना चाहता है। राजनीतिक अधिकार के अंतर्गत हम निम्नलिखित अधिकारों को शामिल कर सकते हैं—

(i) मतदान का अधिकार (Right to vote)—मतदान का अधिकार सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार है। इस अधिकार के अंतर्गत नागरिक अपने उन प्रतिनिधियों को चुनते हैं, जो देश का कानून बनाकर शासन करते हैं। मताधिकार का अर्थ जाति, धर्म, लिंग, जन्म, संपत्ति आदि का भेद किए बिना सबको प्रतिनिधियों के चुनाव में मत देने के अधिकार से है। मताधिकार इतना पवित्र अधिकार है कि नागरिकों को बड़ी सतर्कता के साथ इसका प्रयोग करना चाहिए।

(ii) निर्वाचित होने का अधिकार (Right to be elected)—निर्वाचित होने तथा जनता का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार एक अन्य महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार है। ये दोनों अधिकार लोकतंत्रीय शासन-प्रणाली के लिए अति आवश्यक हैं। इस अधिकार के अंतर्गत देश का कोई भी नागरिक स्वयं मतदाताओं के मतों को प्राप्त कर विधानमंडल, ग्राम-पंचायत, पंचायत-समिति, जिला परिषदों आदि में सदस्यता प्राप्त कर सकता है।

(iii) सरकारी पद प्राप्त करने का अधिकार (Right to hold public office)—इस अधिकार का तात्पर्य है कि प्रत्येक नागरिक को अपने योग्यतानुसार सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अवसर मिलना चाहिए। ऊँच-नीच, लिंग, वर्ण-जाति आदि के आधार पर किसी भी व्यक्ति को सरकारी पदों से वंचित नहीं करना चाहिए। इन पदों पर नियुक्त होने का समान अवसर सभी नागरिकों को प्राप्त होना चाहिए। यदि देश के नागरिकों को उनके योग्यतानुसार पद प्राप्त नहीं होते हैं तो वे विद्रोही हो सकते हैं।

(iv) प्रार्थनापत्र देने का अधिकार (Right to petition)—देश के नागरिकों को अपनी असुविधाओं और कठिनाइयों को दूर करने के लिए सरकार के पास आवेदनपत्र देने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। यदि जनता अपने कष्टों से सरकार को सूचित करती है तो सरकार का यह कर्तव्य है कि वह जनता के कष्टों को दूर करे। **गुरुमुख निहाल सिंह** ने कहा है, "यह अधिकार व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से व्यक्ति की दिक्कतों एवं शिकायतों को दूर करने का प्राचीन तथा बहुमूल्य अधिकार है।" **लॉस्की, लॉक** तथा **ग्रीन** ने भी कुछ स्थितियों में सरकारी आज्ञाओं तथा आदेशों का विरोध करने का समर्थन किया है। जनतंत्र की रक्षा के लिए यह अधिकार महत्त्वपूर्ण है।

(v) आलोचना करने का अधिकार (Right to criticise the government)—आज के लोकतांत्रिक युग में आलोचना करने का अधिकार नागरिकों का एक प्रमुख राजनीतिक अधिकार है। राजतंत्र और कुलीनतंत्र में सरकारी नीति की आलोचना संभव नहीं है। साम्यवादी शासन-प्रणाली में भी सरकारी नीति की आलोचना का अधिकार नागरिकों को नहीं है। लेकिन, जनतंत्रीय शासन-व्यवस्था की यह विशेषता हो गई है कि सरकार को सही रास्ते पर रखने के लिए तथा जनता के अधिकारों की रक्षा के लिए आलोचना के संदर्भ में ही हम विरोधी दलों की भूमिका को देख सकते हैं। इसीलिए जो सरकार प्रशासन और नीतियों की आलोचना का जितना अधिक अवसर प्रदान करती है, वह सरकार उतनी ही अधिक लोकतंत्रात्मक है।

(vi) प्रतिरोध का अधिकार (Right to resistance)—राजनीतिशास्त्र के कुछ विद्वानों की राय में यदि नागरिक यह महसूस करें कि अंतःकरण किसी कानून या सरकारी आज्ञा मानने के लिए तैयार नहीं है तो उसे यह अधिकार है कि वह सरकार का प्रतिरोध करे। **ग्रीन** तथा **लॉस्की** ने इस अधिकार का समर्थन किया है। **लॉस्की** ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि सरकार की आज्ञा उचित और न्यायसंगत न हो तो उसके विरुद्ध विद्रोह करने का कर्तव्य हो जाता है।

(vii) अधिकार लागू करने का अधिकार (Right to enforce rights)—विभिन्न अधिकारों को लागू कराने के लिए अधिकार का रहना आवश्यक है। इस अधिकार की अनुपस्थिति में अन्य नागरिक और

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

राजनीतिक अधिकारों का कोई मूल्य ही नहीं है। इसी को ध्यान में रखकर भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए सांविधानिक उपचारों के अधिकार की व्यवस्था की गई है। इस अधिकार के महत्त्व को दर्शाते हुए संविधान-सभा में **डॉ० अम्बेदकर** ने कहा था, "उपचार से ही अधिकार वास्तविक बनते हैं। यदि उपचार न हो तो अधिकार का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।"

मौलिक अधिकारों का सैद्धांतिक विवेचन
(Theoretical Analysis of Fundamental Rights)

अपनी अंतर्निहित शक्तियों के विकास से मानव के व्यक्तित्व का विकास होता है। इन अंतर्निहित शक्तियों के विकास के लिए मानव को कुछ सुविधाओं की आवश्यकता पड़ती है जिनके लिए वह समाज के सामने कुछ माँगें रखता है। समाज द्वारा स्वीकृत व्यक्ति की माँगों को अधिकार कहा जाता है। अब प्रश्न है कि मौलिक अधिकार क्या है? वे अधिकार जो व्यक्ति के जीवन के लिए मौलिक और अपरिहार्य हैं, मौलिक अधिकार कहलाते हैं। उदाहरण के लिए, जीवन का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, समानता का अधिकार आदि। ये मौलिक इसलिए हैं कि ये व्यक्ति के पूर्ण नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिए नितांत आवश्यक हैं। इनके अभाव में उसके व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं है। ये मौलिक इसलिए भी हैं कि इन्हें देश की मौलिक विधि, अर्थात संविधान में स्थान दिया जाता है और साधारणतः सांविधानिक संशोधन-प्रक्रिया के अलावा उनमें किसी प्रकार का संशोधन नहीं लाया जाता है। मौलिक अधिकार साधारणतः अनुल्लंघनीय हैं तथा सभी नागरिकों को समान रूप से प्राप्त होते हैं। सभी सार्वजनिक पदाधिकारी उनका अनुकरण करते हैं।

आधुनिक जनतंत्र की सबसे बड़ी समस्या नागरिक स्वतंत्रता तथा सामाजिक नियंत्रण का समुचित समन्वय है। **पायली** ने कहा है, "यदि मानव को वाणी तथा कर्म की निर्बाध स्वतंत्रता दे दी जाए तो अनाचार, अराजकता तथा विनाश के सिवा उनका और कोई फल नहीं हो सकता । इसके विपरीत, यदि शासन व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सीमा निर्धारित करने लगेगा तो वह अत्याचारी बन जाएगा।" इसी उद्देश्य से आधुनिक संविधानों में मौलिक अधिकारों का उल्लेख कर दिया गया है।

अब प्रश्न है कि इन मौलिक अधिकारों की प्रत्याभूति का प्रयोजन क्या है? **पायली** के विचार में, "अधिकारों की प्रत्याभूति करने का उद्देश्य उनको परिवर्तनशील राजनीतिक प्रतिवादों से मुक्त तथा विधानमंडलीय बहुमत एवं शासन-कर्मचारियों के हस्तक्षेप से बाहर रखना है ताकि वे वैधानिक सिद्धांतों के रूप में न्यायालयों द्वारा प्रयुक्त हों।" संविधानों द्वारा एक तरफ व्यक्ति की स्वतंत्रता की गारंटी दी जाती है तथा दूसरी तरफ शासन की शक्ति को सीमित तथा मर्यादित कर दिया जाता है। अधिकारों की सुरक्षा के लिए एक स्वतंत्र न्यायपालिका को उनका अभिरक्षक नियुक्त कर दिया जाता है।

आधुनिक संविधानों में मौलिक अधिकार—आधुनिक युग के प्रायः सभी लिखित संविधानों में मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है। सर्वप्रथम फ्रांसीसी राज्य-क्रांति (1789) के समय राष्ट्रीय सभा ने मानव-अधिकारों की घोषणा करते हुए संविधान में नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार दिया। इसके बाद अमेरिकी संविधान के प्रथम दस संशोधनों द्वारा मूल अधिकारों को संविधान का अंग बनाया गया। सामूहिक रूप से इन संशोधनों को 'अधिकार-पत्र' (Bill of rights) कहा जाता है। **मेडिसन** ने इसके औचित्य के संबंध में लिखा था, "पृथ्वी पर सभी सरकारों के विरुद्ध मूल अधिकारों की प्राप्ति का अधिकार जनता को है।" मेडिसन की इस बात का प्रभाव अन्य सरकारों पर भी पड़ा। परिणामस्वरूप, जर्मनी के वायमर संविधान, आयरलैंड, सोवियत संघ, स्विट्जरलैंड, भारत और जापान के संविधानों में मूल अधिकारों को लिपिबद्ध किया गया। इंगलैंड-जैसे अलिखित संविधान में भी **मैग्नाकार्टा, अधिकारों का प्रार्थना-पत्र** आदि प्रलेखों द्वारा उन्हें लिपिबद्ध किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने **अटलांटिक चार्टर** में नागरिकों की चार स्वतंत्रताओं की उद्घोषणा की। ये स्वतंत्रताएँ हैं—(1) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, (2) अपने विश्वास के अनुसार ईश्वर की पूजा करने की स्वतंत्रता, (3) अभाव से मुक्ति तथा (4) भय से मुक्ति। संयुक्त राष्ट्र ने भी 'मानव-अधिकारों के विश्वव्यापी घोषणापत्र' (Universal Declaration of Human Rights) निकाला है। इससे स्पष्ट है कि आज विश्व के प्रायः सभी देशों के संविधानों में मौलिक अधिकार-संबंधी अध्याय जुटने लगे हैं।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अधिकार का उदारवादी-व्यक्तिवादी सिद्धांत
(Liberal Individualistic Theory of Rights)

उदारवादी विचारधारा का इतिहास काफी लम्बा है। यह जनतंत्र और व्यक्तिवाद का मिश्रण है। आधुनिक युग में इस विचारधारा का प्रारंभ लॉक के विचार से हुआ है। **लॉक** व्यक्ति और उसके अधिकार को सर्वोपरि मानता है और नैसर्गिक अधिकार के सिद्धांत को स्वीकार करता है। 17वीं शताब्दी में उग्र सुधारवादियों ने इसमें संशोधन लाया और प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांत को अमान्य ठहराया । 19वीं शताब्दी में मध्यवर्ग के उदय के साथ उदारवाद का रूप आधुनिक हो गया और अधिकारों को सामाजिक उपयोगिता के संदर्भ में आँका जाने लगा। पुनः 19वीं शताब्दी के अंत में उदारवाद का आदर्शवादी संशोधन प्रारंभ हुआ और अधिकारों को नैतिक आधार प्रदान किया गया। अधिकार के उदारवादी सिद्धांत निम्नलिखित हैं—

1. मानव के व्यक्तित्व के परम मूल्य और सभी व्यक्तियों की आध्यात्मिक समानता में विश्वास।
2. व्यक्ति के अदेय अधिकारों में विश्वास।
3. "वह सरकार सर्वोत्तम है जो कम-से-कम शासन करती है"—के सिद्धांत में विश्वास ।
4. व्यक्ति के प्रत्येक क्षेत्र में स्वतंत्रता का समर्थन।
5. उदारवादियों द्वारा प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत की मान्यता।
6. अधिकार राज्य की सृष्टि से पहले ही मौजूद थे, क्योंकि **हॉब्स** ने कहा है कि सभी अधिकार व्यक्तियों ने राज्य को सौंप दिया। **लॉक** कहता है कि सिर्फ कुछ अधिकार ही राज्य को सौंपे गए ।
7. प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांत में अविश्वास का आधार है, क्योंकि **बेन्थम** ने ऐसे अधिकारों को काल्पनिक और निरर्थक बताया है। वह कहता है कि अधिकार प्राकृतिक नहीं हो सकते।
8. उदारवादियों के अनुसार अधिकांश अधिकार असीम हैं।
9. राजनीतिक और नागरिक अधिकारों की प्राथमिकता।
10. व्यक्तिगत सुरक्षा के अधिकार पर अधिक बल।

इस प्रकार, उदारवादियों ने अधिकारों की गणना के साथ-साथ उनकी सुरक्षा पर भी बल दिया है। अधिकांश उदारवादी इस बात पर सहमत हैं कि विकेंद्रित शासन में ही व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा संभव है। शक्ति का केंद्रीकरण अधिकारों का शत्रु है। वे अधिकारों को लिखित रूप में पाए जाने की भी बात करते हैं। वे निष्पक्ष न्यायालयों की स्थापना पर बल देते हैं और नागरिक अधिकारों की सुरक्षा की उन्हें जिम्मेवारी सौंपते हैं।

लॉस्की के अधिकार-संबंधी सिद्धांत
(Laski's Theory of Rights)

लॉस्की ने अधिकारों की विवेचना काफी गंभीरता से की है। वह अधिकारों को अनिवार्य मानता है। प्राकृतिक अधिकारों को मान्य घोषित करते हुए वह कहता है कि राज्य अधिकारों का सृजन नहीं करता, वरन उन्हें मान्यता प्रदान करता है। वह कहता है, "अधिकार सार्वजनिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना सामान्यतः कोई भी व्यक्ति अपना सर्वोच्च विकास नहीं कर सकता।" लॉस्की इस बात को स्पष्ट करता है कि अधिकार का संबंध मात्र इच्छा-संतुष्टि से नहीं लगाया जाना चाहिए। प्रो॰ लॉस्की ने कुछ ऐसे निम्नलिखित अधिकारों को अदेय माना है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए अत्यंत आवश्यक हैं—

1. काम पाने का अधिकार, क्योंकि इससे व्यक्ति की क्षमता का उपयोग होता है और उसकी कार्य-क्षमता बढ़ती है। लेकिन, वह कहता है कि मनुष्य को अपनी क्षमता का प्रयोग उसी उत्पादन-कार्य में करना चाहिए, जिसमें समस्त समाज़ का हित-साधन निहित हो।
2. उचित पारिश्रमिक पाने का अधिकार—लॉस्की सभी व्यक्तियों के लिए उचित मजदूरी का पक्ष लेता है।
3. जीवन का अधिकार—व्यक्ति को जीवन का अधिक्रार है, लेकिन लॉस्की यह भी कहता है कि इस अधिकार का नकारात्मक प्रयोग नहीं होना चाहिए।
4. उचित अवकाश का अधिकार।

WWW.GRADESETTER.COM

5. शिक्षा का अधिकार।
6. राजनीतिक अधिकार।
7. विचार-अभिव्यक्ति का अधिकार।
8. समुदाय बनाने और सम्मेलन करने का अधिकार।
9. संपत्ति का अधिकार।
10. न्यायिक सुरक्षा का अधिकार।

मार्क्सवाद के प्रभाव में आकर लॉस्की अपने विचार में भी परिवर्तन की बात सोचने लगा। चूँकि मार्क्स आर्थिक न्याय की स्थापना करना चाहता था, इसलिए लॉस्की भी ऐसा सोचने लगा और पूँजीवादी व्यवस्था की जड़ खोदने पर तुल गया । वह मार्क्स की भाँति पूँजीवाद और राज्य को संदेह की दृष्टि से देखने लगा। वह सत्ता और नियंत्रण के बीच संतुलन स्थापित करना चाहता है। वह व्यक्ति में पहल करने की शक्ति को ही सकारात्मक स्वतंत्रता की संज्ञा देता है।

अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धांत
(Marxist Theory of Rights)

मार्क्स ने अलग से अधिकारों पर विचार नहीं किया है। अधिकारों के संबंध में उसके विचारों को उसके राज्य और लोकतंत्रीय विचारों में पाया जाता है। हीगेल के विचारों की आलोचना करते हुए भी वह अधिकारों की चर्चा करता है। अधिकारों के मार्क्सवादी सिद्धांत का विकास वस्तुतः बाद के साम्यवादी विचारकों ने किया जिसे व्यावहारिक रूप साम्यवादी देशों, जैसे—सोवियत रूस, चीन, पोलैंड, हंगरी, रोमानिया, युगोस्लाविया आदि देशों के संविधानों ने दिया। इन संविधानों में भी मनुष्य के अधिकारों और कर्तव्यों की विस्तृत चर्चा की गई है। अधिकारों के मार्क्सवादी सिद्धांत का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों में कर सकते हैं—

मार्क्स द्वारा हीगेल के दर्शन की आलोचना—मार्क्स हीगेल के राज्य और अधिकार-संबंधी विचारों की आलोचना करते हुए कहता है कि वे अमूर्त और काल्पनिक हैं। मानव-अधिकारों के संबंध में मार्क्स कहता है कि वे स्वार्थी व्यक्ति के अधिकार हैं। निजी संपत्ति के अधिकार में मार्क्स मनुष्य की बुर्जुआ धारणा की अभिव्यक्ति पाता है।

अधिकारों की बुर्जुआ व्यवस्था में अविश्वास—मार्क्स मूल रूप से राज्य-विरोधी था। वह अपने राज्य-विरोधी विचार को उदार लोकतंत्र की कटु आलोचना करके अभिव्यक्त करता है। वह वर्तमान लोकतंत्र को धोखे की टट्टी बताता है जिसकी आड़ में मज़दूरों का शोषण किया जाता है। अधिकारों की रक्षा के लिए न्याय की व्यवस्था की भी आलोचना साम्यवादी करते हैं। इस प्रकार, साम्यवादी जनतंत्रीय देशों द्वारा रक्षित अधिकारों की लंबी सूची को खोखला मानते हैं। **स्टालिन** ने कहा है कि "एक भूखे बेरोजगार के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं है।"

प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत गलत—मार्क्स प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांत को गलत बताता है। जन्मसिद्ध अधिकार का सिद्धांत उसके अनुसार अमान्य, अमूर्त और मिथ्या है।

अधिकार समाज के प्रति दावे नहीं हैं—मार्क्सवादी कहते हैं कि अधिकार समाज के विरुद्ध दावे नहीं हैं, वरन वे समाजवादी, आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था के प्रतिफल हैं।

अधिकारों का समाजवादी आधार—साम्यवादी देशों में अधिकारों का आर्थिक व्यक्तिवाद से कोई संबंध नहीं है। उनका आधार समाजवादी व्यवस्था है जो नियोजित अर्थव्यवस्था पर आधारित है। व्यक्तिगत संपत्ति और व्यक्तिगत लाभ के लिए उनमें कोई स्थान नहीं है।

अधिकारों का आर्थिक आधार—पाश्चात्य देशों में नागरिक-अधिकारों को प्राथमिकता दी जाती है, जबकि समाजवादी देशों में सामाजिक और आर्थिक अधिकारों को प्रथम स्थान दिया जाता है तथा नागरिक अधिकारों को गौण। उनकी मान्यता है कि वास्तविक स्वतंत्रता आर्थिक स्वतंत्रता में ही निहित है।

व्यक्तिगत संपदा का विरोधी—मार्क्सवादी व्यक्तिगत संपदा के विरोधी हैं, फिर भी आज के साम्यवादी देशों में नागरिकों को सीमित संपत्ति का अधिकार प्राप्त है।

WWW.GRADESETTER.COM

सर्वहारावर्ग के हितों की रक्षा—साम्यवादी देशों में संविधानों का मौलिक उद्देश्य सर्वहारावर्ग के हितों की प्राप्ति और समाजवादी व्यवस्था की दृढ़ स्थापना है। ये संविधान नागरिकों के ऐसे अधिकारों को मान्यता प्रदान नहीं करते जो सर्वहारावर्ग के हितों अथवा समाजवादी व्यवस्था के विरुद्ध हों।

कुछ अनोखे अधिकार—मार्क्सवादी अधिकारों की एक विशेषता यह भी है कि वे कुछ नवीन अधिकारों का उल्लेख करते हैं; जैसे—नागरिकों को शरणगति का अधिकार (right to Asylum) तथा नास्तिकता-प्रचार का अधिकार (right to propagate against religion)।

अधिकारों के साथ कर्तव्यों का उल्लेख—साम्यवादी अधिकारों की एक अन्य विशेषता यह भी है कि यह अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों का भी उल्लेख करता है, जबकि उदारवादी देशों के संविधानों में कर्तव्यों को लिपिबद्ध करने का प्रयास नहीं किया जाता है, हालाँकि भारतीय संविधान में 42वें सांविधानिक संशोधन द्वारा कर्तव्यों की एक सूची जोड़ दी गई है।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि मार्क्सवादी अधिकारों के सकारात्मक पहलू पर ज्यादा जोर देते हैं और पश्चिमी देशों के अधिकारों को कागजी महत्त्व का बताते हैं। सचमुच में आर्थिक अधिकारों के अभाव में राजनीतिक अधिकार बेकार हैं। इसके साथ ही, वे कर्तव्यों की दुनिया में ही अधिकारों को सार्थक मानते हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)—निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि अधिकार-अवधारणा मानव के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है। एक अधिकार-विहीन व्यक्ति अपने जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता। विश्व के जनतंत्रीय संविधानों में मूल-अधिकारों की उद्घोषणाओं का यही उद्देश्य रहा है। अतः, ऐसा उपाय होना चाहिए कि नागरिक-अधिकारों के मार्ग में बाधाएँ खड़ी न हों और इसके लिए नागरिकों को सदा सचेत और सजग रहना है। इस संबंध में **लॉस्की** ने यहाँ तक कहा है कि "यदि सरकार की आज्ञाएँ उचित और न्यायसंगत न हों तो नागरिकों को उनके विरुद्ध विद्रोह करने का कर्तव्य हो जाता है।"

प्रश्नावली

1. अधिकारों की परिभाषा दें। उनके स्वभाव की विवेचना करें। आधुनिक राज्यों में पाए जानेवाले विभिन्न अधिकारों का वर्णन करें।
   (Define rights. Discuss their nature. Describe the various kinds of rights found in modern States.)
2. अधिकार के विभिन्न सिद्धांतों का विश्लेषण करें।
   (Discuss the various theories of rights.)
3. अधिकारों का वर्गीकरण करें तथा उनका संक्षिप्त वर्णन करें।
   (Classify rights and describe them briefly.)
4. प्रजातंत्रात्मक राज्य में नागरिकों के अधिकारों की विवेचना करें।
   (Describe the civil rights in the democratic state.)
5. अधिकारों से आप क्या समझते हैं? अधिकारों के उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोणों में अंतर बताइए।
   (What do you mean by Rights ? Distinguish between the Liberal and Marxist views of Rights.)
6. अधिकारों के मार्क्सवादी सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
   (Discuss the Marxist Theory of Rights.)
7. अधिकार के संबंध में लॉस्की के विचारों की विवेचना कीजिए।
   (Describe Laski's Theory of Rights.)
8. अधिकार का उदारवादी-व्यक्तिवादी सिद्धांत क्या है? वर्णन कीजिए।
   (What is Liberal-Individualistic Theory of Rights ? Describe.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 18

न्याय

[JUSTICE]

न्याय कानून का अंतिम पथ-प्रदर्शक है और कानून वह बुनियादी तकनीक है जिसके द्वारा न्याय की प्राप्ति हो सकती है।—सालमंड

विषय-प्रवेश (Introduction)

न्याय की अवधारणा का उल्लेख नैतिक और क़ानूनी विचारों से संबद्ध पाश्चात्य और पूर्वात्य दोनों ही राजनीतिक दर्शनों में पाई जाती है। न्याय न सिर्फ राजनीतिक है, वरन नैतिक चिंतन का एक अनिवार्य अंग भी है। यह मानव-समाज की सबसे बड़ी विशेषता है। सभ्यता के प्रारंभिक दिनों से ही न्याय की समस्या मानव-समाज की सबसे बड़ी समस्या रही है। आधुनिक युग की भी सबसे बड़ी पद्धति न्याय-पद्धति ही है। आज प्रत्येक देश का प्रशासन न्याय पर ही आधारित है। यह प्रत्येक राज्य की स्थायी आवश्यकता है तथा इसकी प्राप्ति राज्य का प्राथमिक कर्तव्य है। न्याय के अभाव में हम राज्य या मानव-समाज के अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते।

राजनीतिक चिंतन में न्याय की धारणा
(Concept of Justice in Political Thought)

प्लेटो के अनुसार—जैसा कि ऊपर बताया गया कि पाश्चात्य और पूर्वात्य—दोनों ही राजनीतिक दर्शनों में न्याय के संबंध में विचार किया गया है। पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में न्याय का अध्ययन **प्लेटो** की विचारधारा से प्रारंभ होता है। **प्लेटो** की प्रसिद्ध ग्रंथ **रिपब्लिक** *(Republic)* का सबसे केंद्रीय विषय न्याय की प्रकृति और उसके निवास की खोज करना है। इस ग्रंथ में इस न्याय-संबंधी धारणा को इतना प्रमुख स्थान प्राप्त है कि **रिपब्लिक** का उपशीर्षक 'न्याय से संबंधित' (Concerning Justice) रखा गया है। प्लेटो ने न्याय शब्द का प्रयोग नैतिक अर्थ में किया है। प्लेटो का विचार है, "न्याय मानवीय आत्मा की उचित अवस्था और मानवीय स्वभाव की प्राकृतिक माँग है।" उसने न्याय के दो रूपों का वर्णन किया है—व्यक्तिगत न्याय और सामाजिक या राज्य से संबद्ध न्याय। प्लेटो के अनुसार, मानवीय आत्मा में तीन तत्त्व मौजूद हैं—इच्छा तत्त्व (Appetite), शौर्य (Spirit) और बुद्धि (Wisdom)। इन तीनों तत्त्वों के प्रतिनिधि की हैसियत से राज्य के तीन वर्ग होते हैं—(1) शासक वर्ग, (2) सैनिक या रक्षक वर्ग तथा (3) उत्पादक या सेवक वर्ग। प्लेटो के विचार में, राज्य समाज की आवश्यकता और व्यक्ति की योग्यता को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति के लिए कुछ कर्तव्य निश्चित करता है और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा संतोषप्रद ढंग से अपने-अपने कर्तव्य का पालन करना ही न्याय है। अतः, प्लेटो का न्याय नैतिक सिद्धांत में विश्वास करता है।

अरस्तू के अनुसार—प्लेटो की भाँति **अरस्तू** ने भी राज्य के लिए न्याय को आवश्यक बताया है। उसने न्याय का प्रतिपादन प्लेटो से भिन्न रूप में किया है। उसके अनुसार न्याय के दो भेद हैं—(1) वितरणात्मक या राजनीतिक न्याय और (2) सुधारक न्याय। **वितरणात्मक न्याय** (distributive justice) का सिद्धांत है कि राजनीतिक पदों की पूर्ति नागरिकों की योग्यता और उनके द्वारा राज्य के प्रति की गई सेवा के अनुकूल हो, जबकि सुधारक न्याय (corrective or rectificatory justice) का तात्पर्य एक नागरिक के दूसरे नागरिक के साथ संबंध को निर्धारित करते हुए सामाजिक जीवन को व्यवस्थित रखना है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

ऑगस्टाइन के अनुसार—**संत ऑगस्टाइन** ने न्याय को ईश्वरीय राज्य (City of God) का सर्वप्रमुख तत्त्व माना है। उसके विचार में, "जिन राज्यों में न्याय नहीं रह जाता, वे डाकुओं के झुंड-मात्र कहे जा सकते हैं।" उसके द्वारा परिवार, लौकिक राज्य और ईश्वरीय राज्य के संदर्भ में न्याय की विवेचना की गई है। न्याय से उसका आशय व्यक्ति द्वारा ईश्वरीय राज्य के प्रति कर्तव्यपालन से है।

थॉमस एक्वीनॉस के अनुसार—**थॉमस एक्वीनास** ने कानून और न्याय को परस्पर संबंधित मानते हुए न्याय की विवेचना किया है। वह न्याय के संबंध में रोमन विधिशास्त्रियों के मत का अनुसरण करते हुए कहता है, "प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने अधिकार देने की निश्चित और सनातन इच्छा है।"

भारतीय दर्शन में न्याय—भारत के प्राचीन चिंतकों, जैसे—**मनु, कौटिल्य, वृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज** तथा **सोमदेव** आदि ने राज्य की व्यवस्था में न्याय को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। **कौटिल्य** ने समुचित न्याय-प्रणाली को राज्य का प्राण स्वीकार किया है। उसका विचार है कि जो राज्य अपनी प्रजा को न्याय प्रदान नहीं कर सकता, वह शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।

न्याय का अर्थ तथा परिभाषा (Meaning and Definition of Justice)

हिंदी का 'न्याय' शब्द यूनानी भाषा के 'डिकैयोसीन' *(dikaiosyne)* शब्द का रूपांतर है। यह 'डिकैयोसीन' शब्द अँगरेजी के 'जस्टिस' (justice) शब्द से अधिक व्यापक है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक **रिपब्लिक** *(Republic)* में न्याय की सही और न्यायसंगत परिभाषा दी है। इस शब्द को परिभाषित करने के पहले प्लेटो से पूर्व प्रचलित परिभाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक है। न्याय की विभिन्न अवधारणाएँ निम्नलिखित हैं—

1. **सेफलस** (Cephalus)—"सदा सच बोलना और कर्ज की अदायगी ही न्याय है।"[1]

2. **थ्रैसीमेकस** (Thrasymachus)—"न्याय शक्तिशाली का हित है।"[2]

3. **प्लेटो** (Plato)—"अपने निश्चित कर्तव्यों को करना तथा दूसरे के कर्तव्य में हस्तक्षेप नहीं करना ही न्याय है।"

4. **जोवेट** (Jowet)—"न्याय वह गुण है जो राज्य में निवास करता है, जबकि धैर्य, साहस और विवेक के अन्य गुण क्षीण हो जाते हैं; और इन सब गुणों का अंतिम कारण तथा आवश्यक शर्त है..... प्लेटो का न्याय और कुछ नहीं, बल्कि अपने कर्तव्यों का व्यवहार में प्रयोग है।"

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि प्लेटो की न्याय की परिभाषा काफी व्यापक है। यह इस बात पर जोर देती है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना-अपना काम, जो समाज द्वारा उस पर सौंपा गया है, करना चाहिए और उसे किसी दूसरे व्यक्ति के काम में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। आधुनिक विद्वानों ने भी न्याय को परिभाषित किया है। न्याय की विभिन्न परिभाषाओं के बावजूद आज मानव-समाज तथा राज्य की सबसे बड़ी समस्या न्याय की रही है। नागरिकों को अधिकतम न्याय कैसे मिले, यह प्रत्येक राज्य का मूल प्रश्न हो गया है। यदि बिना भेद-भाव के सबके साथ समान व्यवहार किया जाए और कानून के समक्ष सबको एक स्तर दिया जाए तो वहाँ न्याय का एक रूप हो सकता है।

न्याय के प्रकार
(Kinds of Justice)

अपने मूल रूप में न्याय एक है, फिर भी विभिन्न दृष्टिकोणों से न्याय के अनेक रूपों का उल्लेख किया गया है। विधिशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान **सालमंड** ने न्याय के अनेक रूपों का उल्लेख किया है—

1. प्राकृतिक या नैतिक न्याय—जो न्याय जीवन के अस्तित्व और सुरक्षा के लिए अनिवार्य है, उसे प्राकृतिक या नैतिक न्याय कहा जाता है। इस न्याय के अंतर्गत नैतिक मापदंड के आधार पर व्यक्ति को अधिकार प्रदान किए जाते हैं और इसी नैतिक मापदंड के आधार पर ही अपराधियों को भी दंड दिया जाता है। इसमें न्याय कानून से बिल्कुल स्वतंत्र रहता है। इस न्याय को राज्य की स्वीकृति और सहायता की आवश्यकता नहीं है।

---

1. "Justice means to speak the truth and pay debts."—CEPHALUS
2. "Justice lies in the interest of the stronger."—THRASYMACHUS

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

2. वैधानिक न्याय—जिस न्याय को राज्य निर्मित कानून द्वारा मान्यता प्रदान करता हो, उसे वैधानिक न्याय कहा जाता है। ऐसे न्याय का प्रशासन या वितरण न्यायालय द्वारा होता है। राज्यांतर्गत ही ऐसे न्याय की महत्ता है, राज्य के बाहर नहीं। **सालमंड** ने एक अन्य दृष्टि से भी न्याय का वर्गीकरण किया है, जिसे उसने सार्वजनिक और निजी न्याय कहकर पुकारा है।

3. सार्वजनिक न्याय—यह वह न्याय है जो न्यायालय द्वारा संचालित होता है। जब कभी व्यक्तियों के दो समूह अपनी शिकायतें न्यायालय के सामने रखते हैं और वहाँ से जो न्याय प्राप्त करते हैं, तब उसे ही सार्वजनिक न्याय कहा जाता है। सार्वजनिक न्याय के माध्यम से ही वादी और प्रतिवादी के अधिकार निर्धारित नहीं होते, वरन उसे लागू करने की भी व्यवस्था की जाती है।

4. निजी न्याय—निजी न्याय के द्वारा एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ संबंध निर्धारित होता है। इस न्याय का क्रियान्वयन न्यायालय के क्षेत्र के बाहर किया जाता है।

आधुनिक विद्वानों के अनुसार—आधुनिक विद्वानों ने **सालमंड** के उपर्युक्त दोनों वर्गीकरणों को सही तथा न्यायसंगत नहीं माना है। आधुनिक विद्वानों के विचारानुसार न्याय के निम्नलिखित तीन प्रकार होते हैं—

1. सामाजिक न्याय (Social justice)—समाज में रहनेवाले विभिन्न लोगों के साथ समान व्यवहार करना ही सामाजिक न्याय का उद्देश्य है। चूँकि समाज में विभिन्न धर्मों, भाषाओं, जातियों तथा संप्रदायों के लोग रहते हैं, इसलिए सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से उनमें सामाजिक समानता आवश्यक है। सामाजिक समानता ही सामाजिक न्याय का दूसरा रूप है। सामाजिक न्याय यह माँग करता है कि धर्म, जाति, लिंग, जन्म-स्थान, संपत्ति इत्यादि के आधार पर किसी व्यक्ति के साथ भेदभाव का बरताव नहीं हो और न किसी व्यक्ति को कोई विशेष सुविधा ही प्रदान की जाए। आज के युग में विभिन्न देशों में सामाजिक न्याय की स्थापना का प्रयास जारी है। सामाजिक न्याय के संबंध में जहाँ तक भारत का प्रश्न है, यहाँ सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए प्रयास जारी है। भारत में सदियों से अस्पृश्यता का रोग चला आ रहा है। इसलिए भारतीय संविधान के अनुच्छेद 17 के अंतर्गत इसे समाप्त करने की व्यवस्था करके सामाजिक न्याय की स्थापना का प्रयास किया गया है। जहाँ तक अमेरिका और अफ्रीका के कुछ राज्यों का प्रश्न है, आज भी वहाँ गोरे और काले का भेद व्यापक रूप से चल रहा है। यह रंगभेद सामाजिक न्याय के मौलिक सिद्धांतों के प्रतिकूल है।

सामाजिक न्याय का निर्वचन **प्लेटो** ने भी अपनी पुस्तक **रिपब्लिक** में किया है। **प्लेटो** के अनुसार व्यक्ति और राज्य दोनों में साम्य है। दोनों में विवेक (reason), शौर्य (spirit) और क्षुधा (appetite) के तत्त्व विद्यमान हैं। **प्लेटो** के विचारानुसार, सामाजिक न्याय समाज में रहनेवाले विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों, अर्थात शासक-वर्ग, रक्षक-वर्ग और उत्पादक-वर्ग के द्वारा अपने निर्धारित कर्तव्यों में निहित है। **प्लेटो** के विचारानुसार, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति के अनुसार एक ही कार्य करना चाहिए जो उसके लिए सर्वोत्तम रूप से अनुकूल हो। यही कारण है कि **प्लेटो** ने प्रशासन, संरक्षण तथा उत्पादन-संबंधी कार्यों को क्रमशः समाज के प्रशासक, रक्षक तथा उत्पादक-वर्ग के जिम्मे कर दिया। **प्लेटो** कहता है कि यदि हर कोई अपने स्वभाव या क्षमता के अनुसार अपना कार्य करता है और दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता है तो वह सामाजिक न्याय के सिद्धांतों का पालन करता है। **प्लेटो** के अलावा सामाजिक न्याय-सिद्धांत का दर्शन हमें भारतीय धर्मग्रंथ—**गीता**—में भी मिलता है। **गीता** में वर्णाश्रमधर्म के अनुकूल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को अपने स्वभाव और प्रवृत्ति के अनुसार क्रमशः ज्ञानार्जन, रक्षा, उत्पादन और सेवा का काम सौंपा गया है।[1] इन चारों वर्णों द्वारा अपने-अपने कार्य करने में ही सामाजिक न्याय की स्थापना हो सकती है। **गीता** में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।' इससे सामाजिक न्याय के सिद्धांतों का स्पष्टीकरण होता है।

2. आर्थिक न्याय (Economic justice)—आर्थिक न्याय सामाजिक न्याय का ही एक रूप है। आर्थिक न्याय ही सामाजिक न्याय की आधारशिला है। राज्य और समाज में रहनेवाले लोगों में आर्थिक दृष्टिकोण से समानता ही आर्थिक न्याय कहलाता है। इस न्याय के अनुसार संपत्ति का समान और न्यायोचित वितरण समाज और राज्य में सभी व्यक्तियों के बीच होता है। यह न्याय समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका का साधन प्राप्त करने का अधिकार देता है और सबको समान कार्य के लिए समान वेतन देने की व्यवस्था

1. ब्राह्मणक्षत्रियविशां शुद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।—श्रीमद् भगवत्गीता, अध्याय 18

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

करता है। आज का प्रजातांत्रिक युग इसी न्याय पर आधारित है। आर्थिक न्याय के संदर्भ में ही आज समाजवादी सिद्धांत की उत्पत्ति हुई है। यह न्याय समाज की संपत्ति पर समाज का नियंत्रण स्थापित करता है। भारतीय संविधान के नीति-निर्देशक तत्त्वों में भी राजनीतिक और आर्थिक न्याय-सिद्धांत की स्थापना का उल्लेख किया गया है।

3. राजनीतिक न्याय (Political Justice)—राजनीतिक न्याय राजनीतिक क्षेत्र के नागरिकों के बीच विभेद की समाप्ति करता है। राज्य का प्रमुख लक्ष्य राजनीतिक न्याय की स्थापना करना है। राज्य में रहनेवाले प्रत्येक नागरिक को राजनीतिक अधिकार प्रदान किए जाते हैं। उसे अनेक प्रकार की स्वतंत्रताएँ एवं सुविधाएँ दी जाती हैं और प्रत्येक नागरिक को अपने अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं का समुचित ढंग से उपयोग करने का अवसर दिया जाता है। इसके अंतर्गत राज्य की दृष्टि में सभी नागरिक समान होते हैं। सबको समान अवसर मिलता है और बिना भेद-भाव के भाषण, विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, मतदान का अधिकार तथा निर्वाचन में खड़ा होने की सुविधा मिलती है।

न्याय-संबंधी उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि आज विश्व के सारे राज्यों का प्रशासन न्याय-रूपी इमारत पर आधारित है। विश्व के सभी देशों के संविधानों में न्याय पर विशेष रूप से जोर दिया गया है। न्याय के उपर्युक्त सभी प्रकारों में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो देश सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय की स्थापना नहीं करता, उस देश में हिंसा, क्रांति, विद्रोह, तनाव और कटुता की स्थिति हमेशा बनी रहती है। यही कारण है कि **भारतीय संविधान** की **प्रस्तावना** में भी कहा गया है, "हम भारत के लोग .....सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की सुरक्षा प्रदान करने के लिए दृढ़-संकल्प हैं।"[1]

न्याय और कानून (Justice and Law)

बहुत-से लोग न्याय और कानून को प्रायः एक ही अर्थ में प्रयोग कर देते हैं, लेकिन दोनों में मौलिक अंतर है, जिसे हम निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट कर सकते हैं—

कानून (Law)	न्याय (Justice)
1. कानून एक साधन है, जिसका उद्देश्य न्याय प्राप्त करना है।	1. न्याय एक साध्य है।
2. कानून सदा न्याय नहीं होता है।	2. न्याय हमेशा न्याय होता है।
3. कानून राज्य द्वारा निर्मित होता है।	3. न्याय राज्य के ऊपर और स्वतंत्र है, परंतु वैधानिक न्याय, सार्वजनिक न्याय आदि इसके अपवाद हैं।
4. इसका स्वरूप परिवर्तनशील है, यानी अलग-अलग शासन-व्यवस्थाओं में बदलता रहता है।	4. इसका मौलिक स्वरूप एक ही होता है।
5. कानून राज्य की कुछ स्थितियों के साथ बदलता रहता है; जैसे—आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियों के साथ।	5. न्याय के स्वरूप में परिवर्तन हो सकता है, परंतु राज्य-विशेष की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियों के साथ न्याय के मूल तत्त्व जो चिरंतन है, परिवर्तित नहीं हो सकते।

इन अंतरों के बावजूद कानून और न्याय में घनिष्ठ संबंध है। न्याय साध्य (end) है और कानून एक साधन (means)। इसी संदर्भ में **सालमंड** ने कहा है, "न्याय कानून का अंतिम पथ-प्रर्दशक है और कानून वह बुनियादी तकनीक है जिसके द्वारा न्याय की प्राप्ति हो सकती है।"[2]

1. "We, the people of India having solemnly resolved.....to secure to all its citizens Justice, Social, Economic and Political....."—*Preamble to the Constitution of India*
2. "Justice is the ultimate guide by which law is judged and that law is a basic technique by which justice may be achieved."—SIR JOHN SALMOND

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

न्याय और नैतिकता (Justice and Morality)

न्याय और नैतिकता में अटूट संबंध है। जहाँ नैतिकता न्याय की उपलब्धि में सहायता देती है, वहाँ नैतिकता को न्याय सुदृढ़ करता है। लेकिन, इस संबंध के बावजूद न्याय और नैतिकता में काफी अंतर है, जिसे हम निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट कर सकते हैं—

नैतिकता (Morality)	न्याय (Justice)
1. नैतिकता का रूप वैयक्तिक होता है। यह मूल रूप से मनुष्य के आचरण से संबद्ध है।	1. न्याय वैयक्तिक और सार्वजनिक दोनों होता है। यह राज्य और व्यक्ति दोनों में निहित है।
2. नैतिकता में अभिप्राय (motive) पर ज्यादा जोर दिया जाता है।	2. न्याय में व्यक्ति और राज्य के सभी पक्ष निहित हैं।
3. नैतिकता राज्य के न्यायालय के क्षेत्र से बाहर है। न्यायालय उसे क्रियान्वित नहीं कर सकता है।	3. न्याय न्यायालय के क्षेत्रांतर्गत है और न्यायालय उसे लागू करता है।
4. नैतिकता का संबंध आदर्श से है।	4. न्याय का संबंध आदर्श तथा वास्तविकता दोनों से है।
5. नैतिकता के भंग होने पर राज्य कोई कार्यवाही नहीं कर सकता।	5. न्याय भंग होने पर राज्य आवश्यक कार्यवाही कर सकता है।

न्याय का प्रशासन (Administration of Justice)

न्याय-प्रशासन वर्तमान युग की एक स्थायी आवश्यकता है। यह राज्य का प्राथमिक दायित्व है। यह राज्यशक्ति द्वारा न्याय करने की एक कला है, इसलिए राज्य के तीन अंग—कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका—न्याय के संरक्षण, कार्यान्वयन और प्रशासन में लगे रहते हैं। **गार्नर** के विचारानुसार, "न्याय-प्रशासन आज राज्य का अनन्य दायित्व है।"[1]

न्याय-प्रशासन का संचालन प्रारंभिक अवस्था में व्यक्तियों द्वारा ही होता था। प्रारंभिक अवस्था में, चूँकि, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धांत प्रचलित था, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षति की पूर्ति के लिए क्षति पहुँचानेवाले से बदला लेकर न्याय करता था; यानी उस अवस्था में न्याय का मूल तत्त्व 'बदला' में निहित था। इसके बाद संगठित मनुष्यों में न्याय-प्रशासन के पूर्व रूप में परिवर्तन हुआ, यानी 'बदला' के स्थान पर 'रुपए द्वारा हर्जाना' देने की व्यवस्था पनपी। अपराधियों को समाज द्वारा दंड दिए जाने की व्यवस्था 'बदला' के बदले पनपी। कुछ धार्मिक मान्यताओं को भी अपराधों को रोकने के लिए निर्धारित किया गया।

लेकिन, राज्य के विकास के साथ-साथ न्याय-प्रशासन की जिम्मेवारी राज्य की प्रमुख जिम्मेवारी हो गई। न्याय-प्रशासन राज्य का प्रमुख कर्तव्य हो गया है। आधुनिक राज्यों का भी सर्वप्रमुख उद्देश्य न्याय-वितरण और न्याय-प्रशासन है। आज न्यायपालिका के माध्यम से विश्व के प्रमुख राज्य न्याय-वितरण और न्याय-प्रशासन का कार्य करते हैं। न्याय-प्रशासन को सफल बनाने के लिए राज्य शक्ति का इस्तेमाल करता है। आज न्याय-प्रशासन में जनमत, राजनीतिक दल, विभिन्न दबाव डालनेवाले समूह इत्यादि महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। प्रजातंत्र के अंतर्गत न्याय-प्रशासन में हम जनमत की अवहेलना नहीं कर सकते। आज न्याय सामाजिक मान्यताओं पर आधारित है। यह बात सही है कि आज न्याय-प्रशासन की जिम्मेवारी न्यायपालिका पर सौंपी गई है; परंतु इस कार्य में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का भी सहयोग अपेक्षित है।

निष्कर्ष (Conclusion)—न्याय-संबंधी उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि न्याय सचमुच वर्तमान-युग की एक स्वाभाविक आवश्यकता है। न्याय के बिना हम किसी भी राजनीतिक संस्था की सफलता की उम्मीद नहीं कर सकते। न्याय-प्रशासन को न्यायसंगत बनाने के लिए आज न्याय-वितरण की जिम्मेवारी न्यायपालिका को सौंपी गई है और उसे अधिक-से-अधिक कार्यपालिका और व्यवस्थापिका से स्वतंत्र रखने का प्रयास

1. "The administration of justice, the chief task of judiciary, is today universally a function belonging exclusively to the state."—GARNER

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

किया गया है। सुझाव के रूप में हम कह सकते हैं कि न्याय-प्रशासन और न्याय-वितरण तभी अपना न्यायसंगत रूप प्राप्त कर सकते हैं जब कार्यपालिका और व्यवस्थापिका न्यायपालिका के कार्यों में कम-से-कम हस्तक्षेप करें।

न्याय का कानूनी, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक पक्ष
(Legal, Political, Social and Economic Dimensions of Justice)

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया है कि न्याय एक जटिल अवधारणा है। इसके अनेक पक्ष होते हैं—कानूनी, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक। न्याय के ये सारे पक्ष एक-दूसरे से संबद्ध हैं। अतः, न्याय को एक संपूर्ण अवधारणा के रूप में देखना होगा। सिर्फ अध्ययन के दृष्टिकोण से इसके विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण अलग-अलग किया जा सकता है।

न्याय का कानूनी पक्ष (Legal Dimension of Justice)

न्याय और कानून में गहरा संबंध है। कानून न्याय की स्थापना का एक साधन है। राज्य अपनी सत्ता द्वारा न्याय की स्थापना करता है और सत्ता का प्रतीक कानून है। कानून की परिभाषा देते हुए **सालमंड** ने कहा है, "यह राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त कार्यान्वित किए जानेवाले वे नियम हैं जो न्याय को प्रशासित करने के लिए होते हैं।" **संत ऑगस्टीन** के अनुसार, "यदि न्याय को अलग कर दिया जाए तो राज्य एक लुटेरे की संपत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"[1] इसका तात्पर्य यह है कि राज्य की सत्ता का आधार ही न्याय है। प्रजातांत्रिक देशों में कानून का उद्देश्य न्याय की स्थापना है।

न्याय के कानूनी पक्ष को दो भागों में बाँटा जा सकता है—1. न्यायपूर्ण कानून का निर्माण (Making of just law) और 2. कानून के अनुरूप न्याय (Justice according to law)।

1. न्यायपूर्ण कानून का निर्माण (Making of just law)—न्यायपूर्ण कानून के निर्माण का अर्थ है न्याय पर आधारित कानून का निर्माण । न्याय पर आधारित कानून के संबंध में लोगों ने विभिन्न विचार प्रकट किए हैं। कुछ लोग संप्रभु के आदेश को कानून का आधार मानते हैं तो कुछ लोग सामाजिक नैतिकता को न्यायपूंर्ण कानून का आधार। कुछ लोगों के अनुसार हर कानून न्यायपूर्ण व्यवस्था को स्थापित करने का साधन है तो अन्य लोगों के अनुरूप केवल शासक की इच्छा को शासितों पर थोपने का माध्यम कानून है। इन विभिन्न विचारों से यह स्पष्ट होता है कि केवल न्याय ही कानून का आधार नहीं हो सकता, प्रत्येक उत्तम कानून को न्यायपूर्ण अवश्य होना चाहिए। कानून न्यायपूर्ण है या नहीं, इसका निश्चय करना अपने-आपमें एक समस्या है। हर समाज में प्रचलित सामाजिक मूल्यों और नैतिकता को कानून का रूप नहीं दिया जा सकता। सिर्फ कुछ को ही सकारात्मक कानून का रूप दिया जा सकता है। अधिकांश सामाजिक नियम, परंपराओं, व पूर्व निश्चित मूल्यों के रूप में रह जाते हैं जो अलिखित रूप में पाए जाते हैं। फिर भी, राज्य के लिखित कानूनों की तरह उन्हें भी प्रशासन द्वारा कानून के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है। इन अलिखित कानूनों को ब्रिटेन में सामान्य कानून (common law) कहते हैं। संक्षेप में, राज्य न्याय की स्थापना के लिए कानून का निर्माण करता है और न्याय की स्थापना में उसकी सहायता के लिए सामान्य कानूनों या परंपराओं का सहारा लेता है।

2. कानून के अनुरूप न्याय (Justice according to law)—न्याय के प्रशासन की दूसरी प्रक्रिया कानून के अनुसार न्याय है। समाज में न्याय की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि कानून को न्यायपूर्ण तरीके से लागू किया जाए। वर्तमान समय के न्यायिक परंपराओं में 'कानून के अनुसार न्याय' की अवधारणा पर विशेष बल दिया जाता है। कानून के अनुसार न्याय की अवधारणा की शुरुआत **अरस्तू** के विचारों में पाई जाती है। **अरस्तू** ने कानून की सरकारों की चर्चा करते हुए बताया कि सामाजिक व्यवस्था को न्यायपूर्ण बनाने में कानून का प्रयोग किस रूप में होना चाहिए। विधि का शासन (Rule of law) ब्रिटेन की देन है। विधि के शासन के अनुसार स्वयं सरकार की प्राप्त शक्तियाँ कानून की देन हैं। सरकार के सभी अंग तथा संस्थाएँ कानूनी व्यवस्था के अंतर्गत ही कार्य करेंगी। न्यायपूर्ण प्रक्रिया के दो प्रमुख आधार हैं—1. कानून के समक्ष सभी लोग समान तथा 2. कानून सभी को समान रूप से संरक्षण प्रदान करेगा। इन दोनों का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है—

1. "If you take away justice, kingdoms are nothing but robbers' possession."—ST. AUGUSTINE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. कानून के समक्ष सभी लोग समान—यहाँ यह उल्लेखनीय है कि न्याय की समानता का अर्थ पूर्ण समानता से नहीं है। असमान व्यक्तियों या परिस्थितियों में कानून के समक्ष असमान व्यवहार ही होगा। कानून का उद्देश्य न्याय प्रदान करने के अतिरिक्त व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा भी करना है। संपूर्ण समाज या कमजोर वर्गों के हित को ध्यान में रखते हुए कानून भेद-भाव कर सकता है। लेकिन, इस तरह का भेद-भाव या असमानताओं का आधार न्यायोचित होना चाहिए और उन्हें कानून द्वारा मान्यता मिलनी चाहिए।

2. कानून का सभी को समान रूप से संरक्षण प्रदान—न्याय देने के लिए कानून केवल व्यक्तियों व संस्थाओं को अधिकारों और सुविधाएँ ही प्रदान नहीं करता है, वरन अन्यायापूर्ण कार्यों को रोकने के लिए दंड की भी व्यवस्था करता है। **सालमंड** के अनुसार, "कानून का उद्देश्य औचित्य की स्थापना करना, न्याय की रक्षा करना और अनुचित कार्यों से छुटकारा दिलाना है।"

जहाँ तक दंड का प्रश्न है, यह अपराध का परिणाम है। कुछ विचारक अपराध को असामान्य मानसिक प्रक्रिया का परिणाम मानते हैं, लेकिन अधिकांश अपराध उन लोगों द्वारा किए जाते हैं जो औसत व्यक्ति से कुछ ज्यादा होशियार होते हैं और सोच-समझकर अपराध की योजना बनाते हैं। अतः, असामान्य मानसिक प्रक्रिया वाले अपराधियों को सुधारने का प्रयास होना चाहिए और सोच-समझकर अपराध की योजना बनानेवालों को दंड मिलना चाहिए। कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो अपराध को आर्थिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का परिणाम मानते हैं। अतः, न्यायाधीश को दंड का निर्धारण करते समय अपराधी की प्रवृत्तियों पर भी ध्यान देना चाहिए। दंड का उद्देश्य अपराधियों को दंडित करना एवं उन्हें सुधारने की दृष्टि से होना चाहिए। दंड की व्यवस्था के लिए दो प्रकार के कानून होते हैं—

1. फौजदारी कानून और
2. दीवानी कानून ।

किसी की हत्या, मानहानि, अपहरण, प्रहार, व्यभिचार आदि अपराधों के लिए दंड की व्यवस्था जहाँ फौजदारी कानूनों द्वारा की जाती है, वहाँ दीवानी कानूनों का संबंध मालिक और नौकर, स्वामी और अभिकर्ता के झगड़े आदि से संबद्ध मामलों से होते हैं।

न्याय का राजनीतिक पक्ष (Political Dimension of Justice)

राजनीतिक न्याय पर प्राचीनकाल से ही विचार-विमर्श होता रहा है। साधारणतः राजनीतिक न्याय का तात्पर्य राजसत्ता और जनता के आपसी संबंधों से लगाया जाता है। यदि सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेद-भाव के राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं, तो उस राज्य में शांति बनी रहती है।

राजनीतिक न्याय के उत्प्रेरक आदर्श—चूँकि राजनीतिक न्याय राजसत्ता और जनता के आपसी संबंधों का परिणाम है, इसलिए इस संबंध को परिभाषित करने का प्रयास होता रहा है—

1. फ्रांस की क्रांति के नेताओं की यह माँग थी कि धन और कुल के भेदभाव के बिना सभी को राजनीतिक अधिकार दिया जाए।

2. अमेरिका की स्वतंत्रता की घोषणा में कहा गया था, "सरकारें शासितों की इच्छाओं द्वारा प्राप्त न्यायपूर्ण आधार या शक्ति लेकर व्यक्तियों के बीच स्थापित की जाती हैं।"

3. इसी तरह मानव-अधिकारों की घोषणा में भी कहा गया कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश की शासन-व्यवस्था में हाथ बँटाने का अधिकार है।

वयस्क-मताधिकार का सिद्धांत राजनीतिक न्याय का आधार—वयस्क-मताधिकार के सिद्धांत का आधार राजनीतिक न्याय है। वयस्क-मताधिकार के अनुसार सभी वयस्क नागरिकों को समान राजनीतिक अधिकार दिया जाता है। इन अधिकारों के द्वारा नागरिकों को चुनाव में मत देने और खड़ा होने का अधिकार मिलता है। राजनीतिक न्याय तभी स्थापित हो सकता है जब शासन की शक्ति शासितों की इच्छा या स्वीकृति पर आधारित हो।

राजनीतिक निर्णय—राजनीतिक निर्णय राजनीतिक न्याय का दूसरा पक्ष है। राजनीतिक निर्णय लिए जाने की प्रक्रिया को प्रायः संविधान के कानून द्वारा निर्मित किया जाता है। राज्य की विभिन्न संस्थाएँ और अधिकारी निश्चित नियमों के अनुसार ही निर्णय देते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें मनमानी करने की गुंजाइश नहीं होती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राजनीतिक निर्णय पूरे समाज को हित में रखकर लिया जाना चाहिए।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि न्याय का राजनीतिक पक्ष वयस्क मताधिकार और संविधान के कानूनों द्वारा संचालित होते हैं।

न्याय का सामाजिक पक्ष (Social dimension of Justice)

सामाजिक न्याय की अवधारणा काफी पुरानी है। **प्लेटो, अरस्तू** और **कौटिल्य** ने सामाजिक न्याय की अवधारणा को विकसित करने में सहयोग किया है। 19वीं शताब्दी के विभिन्न सामाजिक आंदोलनों ने सामाजिक न्याय की धारणा को काफी आगे बढ़ाया। फ्रांस की राज्यक्रांति में सामाजिक न्याय के तत्त्वों पर जोर दिया गया । आधुनिक समय में भी यह कहा जाता है कि विश्वशांति की स्थापना सामाजिक न्याय के आधार पर ही संभव है।

सामाजिक न्याय का अर्थ और परिभाषा—सामाजिक न्याय की अवधारणा को भिन्न-भिन्न तरीकों से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है—

1. **लॉस्की**—सामाजिक न्याय का अर्थ सामाजिक अधिकारों से है।

2. **बार्कर**—प्रत्येक समाज का उद्देश्य समाज के प्रत्येक व्यक्ति में निहित गुणों को विकसित करना है और इसके लिए उचित व्यवस्था की स्थापना ही सामाजिक न्याय है।

कुछ विचारकों ने समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित भाग प्रदान करने को सामाजिक न्याय कहा है। कुछ अन्य विचारकों के अनुसार सामाजिक सुविधाओं एवं अधिकारों का वैधानिक नियमों के आधार पर वितरण ही सामाजिक न्याय है। अतः, हम कह सकते हैं कि सामाजिक न्याय की स्थापना का दायित्व राज्य पर है। सामाजिक न्याय की प्रमुख बातें निम्नलिखित रूप से रखी जा सकती हैं—

सामाजिक समानता—सामाजिक न्याय का आधार सामाजिक समानता है। सामाजिक जीवन विविधताओं से भरपूर है। जाति, मजहब, व्यवसाय आदि के चलते समाज में अनेक वर्ग पाए जाते हैं। इन वर्गों में किसी प्रकार का विभेद नहीं होना भी सामाजिक न्याय है। भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय की स्थापना का उद्देश्य रखा गया है।

सामाजिक न्याय से शांति और व्यवस्था की स्थापना—सामाजिक न्याय से सार्वजनिक शांति और व्यवस्था की स्थापना होती है। सार्वजनिक स्थानों; जैसे—भोजनालयों, शिक्षणालयों, तालाबों तथा कुँओं के संबंध में भारतीय संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि किसी भी व्यक्ति को सिर्फ धर्म, वंश, जाति, भाषा या रंग के आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा।

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण के बाद हम निम्नलिखित बातें कह सकते हैं—

1. सामाजिक न्याय की स्थापना से समाज का सर्वांगीण विकास होता है।
2. सामाजिक न्याय के चलते वैमनस्य और घृणा की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है।
3. सामाजिक न्याय की स्थापना से समाज में शांति बनी रहती है और तनाव कम हो जाते हैं।
4. सामाजिक न्याय देश में विघटनकारी प्रवृत्ति को रोककर राष्ट्रीयता के विकास में सहायता प्रदान करता है।
5. जिस देश में सामाजिक न्याय होता है, उस देश में भ्रातृत्व, सांप्रदायिक भावना तथा राष्ट्रीय एकता का विकास होता है।

न्याय का आर्थिक पक्ष (Economic Dimension of Justice)

उदारवादी विचारधारा में न्याय के राजनीतिक और सामाजिक पक्षों पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। मार्क्सवादी विचारधारा में न्याय के आर्थिक पक्ष को प्राथमिकता दी गई है। मार्क्सवादियों के अनुसार आर्थिक न्याय के अभाव में सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की प्राप्ति नहीं हो सकती। **अरस्तू** ने भी आर्थिक असमानता को अनुचित बताया और न्याय को समानता पर आधारित बताया। **कौटिल्य** ने भी लिखा है, "राज्य अनाथों, असहायों, अपंगों आदि को निर्वाह के साधन प्रदान करेगा; स्त्रियों, बच्चों और बीमारों को सुविधाएँ प्रदान करेगा और आर्थिक व्यवस्था का गठन इस रूप में करेगा कि नागरिकों को न्याय प्रदान किया जा सके।"

आर्थिक न्याय क्या है—आर्थिक न्याय की व्याख्या मार्क्स के अलावा फ्रांसीसी तथा जर्मन विचारकों द्वारा दिया गया है। **बेन** और **पीटर्स** के शब्दों में, "एक दृष्टि से समाज राष्ट्र की तरह ही वस्तुओं और

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

सेवाओं के सामाजिक उत्पादन एवं वितरण के लिए एक व्यवस्था है और यह प्रक्रिया नियमों द्वारा संचालित है।"[1] **एम० सी० शीतलवाद** के अनुसार, "आर्थिक न्याय का अर्थ नागरिकों को धन प्राप्त करने एवं जीवन में उसका प्रयोग करने के समान अवसर प्रदान करने से है। इसमें यह भी निहित है कि जो व्यक्ति असहाय, वृद्ध या बेकार है वह धन प्राप्त नहीं कर सकता, समाज को उनकी सहायता करनी चाहिए।"[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि आर्थिक न्याय का तात्पर्य सभी नागरिकों को धन कमाने या उसे खर्च करने के समान अवसर प्रदान करने से है। यह तभी संभव है जब भौतिक साधनों के वितरण की एक न्यायोचित व्यवस्था हो।

उत्पादन और वितरण का न्यायपूर्ण आधार क्या हो ?

अब प्रश्न है कि उत्पादन और वितरण के न्यायपूर्ण आधार क्या हो जिससे जनता को आर्थिक न्याय मिल सके। पूँजीवादी, समाजवादी तथा लोककल्याणवादी इस प्रश्न का उत्तर अपने-अपने ढंग से देते हैं—

1. पूँजीवादियों का कहना है कि बाजारू समाज में खुली प्रतियोगिता अपने-आप में न्याय की स्थापना करेगी।

2. आधुनिक उदारवादी विचारक पूँजीवादी समाज को नियमित और नियंत्रित करना चाहते हैं जिससे उत्पादन के साधनों को निजी स्वामित्व के साथ-साथ पूँजीपति द्वारा अन्य वर्गों के शोषण को कम किया जा सके। वे मुनाफा और समाज-हित के बीच समझौता करना चाहते हैं।

3. लोककल्याणवादियों ने आर्थिक न्याय का प्रचार करना परम कर्तव्य समझा है। उनके विचार में यह आवश्यक है कि राज्य व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित का सामंजस्य स्थापित करने से उत्पादन-वितरण की व्यवस्था को नियंत्रित करे। कल्याणकारी राज्यों में असहाय और कमजोर वर्गों की आर्थिक सुरक्षा पर ध्यान दिया गया है।

आर्थिक न्याय के गुण—आर्थिक न्याय के निम्नलिखित फायदे हैं—

1. आर्थिक न्याय से आर्थिक असमानता समाप्त होती है। आर्थिक असमानता से ही किसी समाज में अशांति उत्पन्न होती है।

2. आर्थिक न्याय, आर्थिक दृष्टि से कमजोर, असहाय और वृद्धों को सुरक्षा प्रदान करता है।

3. आर्थिक न्याय में उत्पादन के साधनों और उद्योगों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को श्रम और योग्यता के अनुसार मजदूरी मिलने लगती है।

4. आर्थिक न्याय काम के प्रति लोगों में उत्साह भरता है।

इस प्रकार, अंत में हम कह सकते हैं कि आर्थिक न्याय का मूलभूत आधार आर्थिक समानता है और आर्थिक समानता के दो मूल रूप होते हैं—**पहला,** प्रत्येक व्यक्ति की मौलिक आवश्यकताओं; जैसे—भोजन, मकान, कपड़ा आदि की पूर्ति होनी चाहिए। **दूसरा,** इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति की आमदनी पर्याप्त होनी चाहिए। इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि वितरण की व्यवस्था संतोषप्रद हो। न्यायपूर्ण समाज की स्थापना सिर्फ आर्थिक न्याय के द्वारा ही की जा सकती है।

स्वतंत्रता, समानता और न्याय का परस्पर संबंध
(Relation between Liberty, Equality and Justice)

स्वतंत्रता और समानता दोनों का लक्ष्य एक न्यायपूर्ण स्थिति को प्राप्त करना है और इस दृष्टि से स्वतंत्रता और समानता को न्याय का महत्त्वपूर्ण अंग समझा जाता है। वैसे तो, स्वतंत्रता और समानता एक-दूसरे के पूरक हैं, लेकिन किसी विशेष स्थिति में इन दोनों के बीच टकराव उत्पन्न हो सकता है। उदाहरण के लिए,

1. "A society like a nation is, from one point of view, an organisation for the co-operative production and distribution of goods and service which is a process governed by rules."—BENN & PETERS

2. "Economic justice is a provision of equal opportunities to the citizens to acquire wealth and use it for their living, is implied to that those persons who are disabled or old or unemployed, and therefore, not in a position to acquire wealth, should be helped by the society to live."—M. C. SITALVAD

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

'नागरिक स्वतंत्रता' और 'आर्थिक स्वतंत्रता' के बीच जब टकराव की स्थिति उत्पन्न होगी, तब ऐसी स्थिति में संघर्ष के समाधान का कार्य न्याय की अवधारणा के आधार पर ही किया जाता है। **अर्नेस्ट बार्कर** ने लिखा है, "न्याय ही वह अंतिम सिद्धांत है जो स्वतंत्रता व समानता तथा इन दोनों के विविध दावों के बीच तालमेल उत्पन्न करता है।" स्वतंत्रता, समानता और न्याय के परस्पर संबंध का चित्रण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

स्वतंत्रता और न्याय (Liberty and Justice)

व्यक्ति और समाज एक-दूसरे के पूरक हैं। स्वतंत्रता का लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास और समाज के सामूहिक हित की साधना होता है। अतः, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक हितों के बीच आमतौर से कोई टकराव नहीं होता, लेकिन व्यवहार में कुछ परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, जब समाज के सामूहिक हित में व्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित करना पड़े। युद्धकाल या संकट की स्थिति में सरकार दुश्मन देश के विदेशियों या अपने देश के ऐसे नागरिकों को, जिनसे अपराध की आशंका हो, बिना मुकदमा चलाए जेल में बंद कर देती है। प्रशासन द्वारा किए गए ऐसे कार्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विरुद्ध हैं। ऐसी स्थिति में **न्याय की माँग** यह है कि व्यक्ति को उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता से कम-से-कम समय के लिए वंचित किया जाए और जैसे ही संकट समाप्त हो, स्वतंत्रता पर लगाए गए प्रतिबंध हटा दिए जाएँ। राष्ट्रीय संकट के अलावा अन्य स्थितियों में भी नागरिक शक्तियों को सीमित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में **न्याय की माँग** है कि राज्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अपेक्षा सामूहिक हितों को अधिक महत्त्व दे। **न्याय की माँग** है कि स्वतंत्रता समाज के किसी एक वर्ग या कुछ विशेष व्यक्तियों को नहीं, वरन समस्त मानव-समुदायों को प्राप्त हो। न्याय का सिद्धांत स्वतंत्रता को व्यापक बनाने पर बल देता है और इस दृष्टि से स्वतंत्रता पर प्रतिबंध न्यायसंगत है।

समानता और न्याय (Equality and Justice)

न्याय का सिद्धांत समानता के सिद्धांत की भी पूरक है और इस बात की यह माँग करता है कि समानता के सिद्धांत को न्यायसंगत रूप में लागू किया जाना चाहिए। समानता की माँग है कि सभी नागरिकों को बराबर-बराबर अधिकार प्राप्त हों और उनके कर्तव्य भी एक-जैसे हों। उदाहरण के लिए, राज्य को अपने सभी नागरिकों को शिक्षा और स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों में समान सुविधाएँ देनी चाहिए। अतः, **न्याय की माँग** है कि सदियों से सताए गए लोगों के विकास के लिए विशेष सुविधाएँ प्रदान करने पर ही वे समानता का उपभोग कर सकते हैं। इस रूप में न्याय का सिद्धांत वास्तविक अर्थ में समानता की प्राप्ति का मार्ग बताता है।

न्याय—स्वतंत्रता और समानता की प्राप्ति का साधन

स्वतंत्रता और समानता आज के जीवन के महत्त्वपूर्ण सिद्धांत हैं। इन्हें अपनाना आवश्यक है। लेकिन, व्यवहार में स्वतंत्रता और समानता के बीच टकराव की स्थिति खड़ी हो सकती है। श्रमिकों द्वारा अधिक मजदूरी की माँग करते हुए हड़ताल, पूँजीपतियों द्वारा की गई उद्योगों की तालेबंदी, प्रशासन द्वारा लागू की गई निवारक-निरोध कानून की व्यवस्था और दलित वर्गों को उनके विकास के लिए दी गई विशेष सुविधाएँ ऐसी ही स्थितियाँ हैं। **न्याय** का सिद्धांत इस बात की माँग करता है कि ऐसी प्रत्येक स्थिति में संपूर्ण समाज के हित को ही सर्वोपरि समझा जाए। स्वतंत्रता और समानता के प्रसंग में उत्पन्न होनेवाली ऐसी दुविधापूर्ण समस्याओं का समाधान न्याय के सिद्धांत के आधार पर ही संभव है। **प्रो॰ अर्नेस्ट बार्कर** ने लिखा है, "न्याय का सिद्धांत न सिर्फ व्यक्ति व व्यक्ति के बीच ही समन्वय पैदा करता है, बल्कि विभिन्न सिद्धांतों के बीच सामंजस्य उत्पन्न करने का भी साधन है।"

प्रश्नावली

1. न्याय से आप क्या समझते हैं? न्याय के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या करें।
   (What do you mean by justice ? Discuss the various kinds of justice.)
2. सामाजिक न्याय से आप क्या समझते हैं? इसकी उपयोगिता स्पष्ट करें।
   (What do you understand by Social justice ? Discuss its utility.)

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

3. न्याय के कानूनी और राजनीतिक पक्ष का वर्णन कीजिए।
(Describe the legal and political Dimensions of justice.)
4. स्वतंत्रता, समानता और न्याय के संबंधों को स्पष्ट कीजिए।.
(Discuss the relations between liberty, equality and justice.)
5. न्याय की धारणा पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
(Write a short note on the conception of justice.)
6. न्याय-प्रशासन की व्याख्या करें। न्याय और कानून में क्या अंतर है ?
(Discuss the administration of justice. Distinguish between justice and law.)
7. न्याय के सामाजिक-आर्थिक आयाम की विवेचना करें।
(Examine the socio-economic dimension of justice.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 19

प्रजातंत्र की शास्त्रीय, बहुलवादी, विशिष्ट वर्गीय और मार्क्सवादी धारणा

[THE CLASSICAL, PLURALIST, ELITIST AND MARXIST VIEWS OF DEMOCRACY]

प्रजातंत्र का अभिप्राय एक ऐसी सरकार से है, जो शासितों की सक्रिय सहमति पर आधारित हो।—स्ट्रॉंग

प्रजातंत्र का अर्थ जनता की, जनता के लिए और जनता द्वारा सरकार है।—लिंकन

प्रजातंत्र प्रतियोगी निर्वाचित अल्पसंख्यकों की चयन व्यवस्था है।—लेखक

विषय-प्रवेश (Introduction)

आज प्रजातंत्र एक युगधर्म बन चुका है। चाहे कोई शासन-व्यवस्था, विचारवाद या राजनेता क्यों न हो, सभी अपने-आप को प्रजाप्रेमी (demophil) उद्घोषित करते हैं। इसने शासन-सत्ताओं का स्वरूप बदला है और साम्राज्यों को धराशायी किया है। आज यह सभी स्वीकार करते हैं कि मानव-शक्ति को उन्मुक्त करने के लिए कोई विचारवाद इतना प्रबल नहीं है जितना कि प्रजातंत्र । वास्तव में, अब यह विचारवाद न रहकर मानव-धर्म बन गया है। वर्तमानकाल को 'साधारण आदमी का युग' कहा जाता है। प्रजातंत्र कतिपय 'शाश्वत वरीयताओं' (universal preferences) पर आधारित है, जिन्हें **डैल, डेविड ईस्टन, हैरोल्ड डी० लॉसवेल** आदि सभी व्यवहारवादी राजनेताओं ने परम मूल्य के रूप में स्वीकार किया है। वे आनुभविक सन्दर्भ में इसके निरंतर सत्यापन के पक्ष में हैं, किन्तु समानताओं के होते हुए भी, **पैरीक्लीज** के एथेन्स तथा **टॉमस जेफरसन** और **एण्ड्रयू जैक्सन** के प्रजातंत्र से आज का प्रजातंत्र पर्याप्त रूप से भिन्न है। इन्हें एक-दूसरे का समरूप समझना युक्तिसंगत नहीं है। वर्तमान प्रजातंत्र राज्य-प्रधान है और उसमें अनेक विचारधाराएँ मिश्रित हैं, जैसे—राष्ट्रीय प्रजातंत्र, समाजवादी प्रजातंत्र, जनवादी प्रजातंत्र, मूलभूत या पंचायत प्रजातंत्र आदि। प्रजातंत्र के ऐतिहासिक तथा शास्त्रीय स्वरूप में वर्तमान युग के संदर्भ में पर्याप्त परिवर्तन हो जाने से अनेक राजनीतिशास्त्रियों ने नए नाम सुझाए हैं। **रॉबर्ट ए० डैल** ने उसे 'लोकप्रिय शासन' या बहुतंत्र (polyarchy) कहा है तो **लोवेस्टीन** (Lowestein) ने 'पोलिक्रैसी' (polycracy) कहना पसन्द किया है। अन्य विद्वानों ने उसे दलीय तंत्र, निर्वाचित बहुतंत्र, जनतंत्र, लोकतंत्र आदि नामों से पुकारा है। हिन्दी भाषा में 'जनतंत्र' आर्थिक प्रजातंत्र के लिए तथा 'लोकतंत्र' राजनीतिक प्रजातंत्र के लिए प्रयोग किया जाता है। इन विभिन्न नामों के प्रयोग से प्रजातंत्र के स्वरूप में अस्पष्टता, अनिश्चयात्मकता, भ्रांति आदि वैचारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई हैं। पश्चिमी और अमेरिकी प्रजातंत्रों में यह एक जीवन-प्रणाली बनकर राजव्यवस्थाओं में समा गया है। **सारटोरी** ने इस अवस्था के कारण वर्तमान अवस्था को 'प्रजातंत्रात्मक भ्रांति का युग' (age of democratic confusion) कहा है।

प्रजातंत्र का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Democracy)

'प्रजातंत्र' शब्द अँगरेजी भाषा के 'डिमोक्रेसी' (democracy) का हिंदी रूपांतर है। अँगरेजी का यह 'डिमोक्रेसी' शब्द दो ग्रीक शब्दों **डिमॉस** *(demos)* और **क्रेटिया** *(kratia)* से बना है। इन दोनों शब्दों का अर्थ क्रमशः जनता और शासन होता है। इसीलिए व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रजातंत्र का अभिप्राय जनता के शासन से है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

परिभाषाएँ (Definitions)—प्रजातंत्र की परिभाषाएँ निम्नलिखित रूपों में दी गई हैं—

1. **हिरोडोटस** (Herodotus)—"प्रजातंत्र उस शासन का नाम है जिसमें राज्य की सर्वोच्च शक्ति संपूर्ण जनता में निवास करती है।"[1]

2. **ब्राइस** (Bryce)—"प्रजातंत्र शब्द का प्रयोग हिरोडोटस के समय से ही ऐसे शासनतंत्र से है, जिसमें शासन-शक्ति किसी एक व्यक्ति और वर्ग-विशेष में सीमित न होकर संपूर्ण जनता में स्थित रहती है।"[2]

3. **सीले** (Seeley)—"प्रजातंत्र वह शासन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का एक भाग होता है।"[3]

4. **डायसी** (Dicey)—"प्रजातंत्र वह शासन-व्यवस्था है जिसमें राष्ट्र का अधिकांश शासक हो।"[4]

5. **आशीर्वादम** (Ashirvatham)—"हमारा विश्वास है कि प्रजातंत्र मानवता के प्रति हमारे उत्साह की व्यावहारिक अभिव्यक्ति है।"[5]

6. **डिवी** (Dewey)—"प्रजातंत्र का आधार मानव-प्रकृति की क्षमता तथा मानवीय बुद्धि एवं संचित तथा सहकारी अनुभव की शक्ति में विश्वास है।"[6]

7. **हाल** (Hall)—"प्रजातंत्र राजनीतिक संगठन का वह स्वरूप है जिसमें जनमत का नियंत्रण रहता है।"[7]

8. **लेविस** (Lewis)—"प्रजातंत्र मुख्य रूप से वह सरकार है, जिसमें संपूर्ण राष्ट्र की बहुसंख्यक जनता संप्रभु-शक्ति के प्रयोग में भाग लेती है।"[8]

9. **स्ट्राँग** (C F Strong)—"प्रजातंत्र का अभिप्राय ऐसी सरकार से है, जो शासितों की सक्रिय स्वीकृति पर आधारित हो।"[9]

10. **ऑस्टिन** (Austin)—"प्रजातंत्र वह शासन है जिसमें जनता का अपेक्षाकृत बड़ा भाग शासन करता है।"

11. **लिंकन** (Lincoln)—"प्रजातंत्र का अर्थ जनता की, जनता के लिए और जनता द्वारा सरकार है।"[10]

12. **गिडिंग्स** (Giddings)—"प्रजातंत्र केवल एक शासन का ही नाम नहीं है, वरन राज्य का भी एक रूप है और समाज के रूप का भी नाम है या फिर तीनों का एक सम्मिश्रण है।"[11]

13. **हर्नशॉ** (Hearnshaw)—"प्रजातंत्र केवल सरकार ही का स्वरूप नहीं है, बल्कि वह एक राज्य और समाज का भी स्वरूप है।"

14. **बेनी प्रसाद** (Beni Prasad)—"प्रजातंत्र की नैतिक धारणा की व्याख्या करते हुए **बेनी प्रसाद** ने लिखा है, "यह जीवन का एक ढंग है । इसका मूलाधार यही है कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रसन्नता का मूल्य

---

1. "Democracy is that form of government in which the supreme power of the State is in the hands of the community as a whole."—HERODOTUS
2. "The word 'democracy' ever since the time of Herodotus has been used to denote that form of government in which the ruling power of the State is vested not in a particular class or classes but in the numbers of the community as a whole."—BRYCE
3. "Democracy is a government in which every one has a share."—SEELEY
4. "Democracy is a form of government in which the governing body is comparatively a large fraction of the entire nation."—DICEY
5. "Democracy, we believe, is a particular manifestation of the enthusiasm for humanity."—ASHIRVATHAM
6. "The foundation of democracy is faith in the capacities of human nature, faith in human intelligence and in the power of pooled and co-operative experience.—DEWEY
7. "Democracy is that form of political organisation in which public opinion has control."—HALL
8. "Democracy properly signifies a government in which the majority of the whole nation or community partakes of the sovereign powers."—LEWIS
9. "Democracy implies that government shall rest on active consent of the governed."—C. F. STRONG
10. "Democracy is a government of the people, for the people and by the people."—LINCOLN
11. "Democracy may be either a form of government, a form of State, a form of society or a combination of all the three."—GIDDINGS

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

उतना ही है, जितना किसी अन्य व्यक्ति की प्रसन्नता का और किसी की प्रसन्नता के लिए किसी अन्य व्यक्ति को साधन नहीं समझना चाहिए।''[1]

15. मैक्सी (Maxey)—''यह एक ऐसी जीवन-पद्धति की खोज है जिसमें कम-से-कम बल-प्रयोग या दबाव से व्यक्ति की स्वतःप्रेरित स्वतंत्र बुद्धि और उसके कार्यपालन का मेल बैठाया जा सके और यह विश्वास है कि ऐसी ही जीवन-पद्धति समस्त मानवता के लिए आदर्श पद्धति होगी जो मनुष्य की प्रकृति और विश्व की प्रकृति के साथ सर्वाधिक संबंध स्थापित करेगी।''[2]

शास्त्रीय या उदारवादी प्रजातंत्र का अर्थ
(Meaning of Classical or Liberal Democracy)

प्रजातंत्र की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि प्रजातंत्र को विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। इन परिभाषाओं में अमेरिकी भूतपूर्व राष्ट्रपति **अब्राहम लिंकन** की परिभाषा अधिक व्यापक और उपयुक्त है, क्योंकि सचमुच में प्रजातंत्र प्रजा का, प्रजा के लिए और प्रजा के द्वारा शासन है। उपर्युक्त तमाम परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि सचमुच में प्रजातंत्र राज्य और समाज का एक स्वरूप, जीवन का एक रूप तथा नैतिक और सामाजिक दर्शन भी है। **कुमारी फॉलेट** ने कहा है, ''प्रजातंत्र एक आध्यात्मिक आदर्श है। यह एक संगठन तथा जीवन-मार्ग है जहाँ व्यक्तित्व तथा मानवता का पूर्ण विकास संभव है।''

प्रजातंत्र का व्यापक अर्थ—अपने व्यापक अर्थ में प्रजातंत्र के विभिन्न निम्नलिखित स्वरूप होते हैं—

1. शासन का स्वरूप (A form of government)—प्रजातंत्र को आम तौर से एक शासनतंत्र के रूप में स्वीकार किया गया है। इस संदर्भ में प्रजातंत्र सरकार का एक संगठन है जो जनता द्वारा निर्मित, नियंत्रित एवं संचालित होता है।

2. राज्य का स्वरूप (A form of state)—प्रजातंत्र राज्य के रूप में वह व्यवस्था है जिसमें संप्रभुता जनता में निवास करती है। शासन-व्यवस्था पर अंतिम अधिकार एवं निर्णय जनता के हाथ में रहता है। इसीलिए **हर्नशा** ने कहा है कि इसमें राज्य का समस्त जनसमूह संप्रभुता का अधिकारी होता है।

3. समाज का एक स्वरूप (A form of society)—समानता प्रजातंत्र की आत्मा है। प्रजातंत्रीय समाज में सामाजिक विभेद का लोप हो जाता है। इसमें लोग बिना किसी भेद-भाव के समान अधिकारों का उपयोग करते हैं। इसमें वर्गगत विशेषाधिकारों का अंत करके सामाजिक तथा सांस्कृतिक समानता की स्थापना की जाती है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का समान अवसर दिया जाता है। इसीलिए **आशीर्वादम** ने कहा है, ''प्रजातंत्रीय समाज वह है, जिसमें समानता और भ्रातृत्व की भावना विद्यमान रहती है।''[3]

4. नैतिक स्वरूप (Ethical aspect)—इस दृष्टिकोण से प्रजातंत्र एक नैतिक एवं आध्यात्मिक आदर्श के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रजातंत्र न केवल जीवन की एक कल्पना है, वरन यह एक मंजिल है, जहाँ पहुँचने पर मानव अपने व्यक्तित्व की पूर्णता प्राप्त कर ले सकता है। जनतंत्रात्मक व्यवस्था में मनुष्य साध्य होता है, साधन नहीं। इसीलिए **जेफर्सन** ने कहा है कि प्रजातंत्रात्मक शासन इस विश्वास पर आधारित है कि जनता का अधिकांश स्वशासन की योग्यता रखता है तथा साधारण व्यक्ति के भीतर भी इतनी योग्यता होती है कि वह ऐसे शासकों का निर्वाचन करे जो सामाजिक हित के संदर्भ में कार्य करें।

5. आर्थिक स्वरूप (Economic aspect)—राजनीतिक स्वरूप से कम महत्त्वपूर्ण प्रजातंत्र का आर्थिक पहलू नहीं है। आर्थिक स्वतंत्रता और समानता ही प्रजातंत्र के वास्तविक आधार हैं, क्योंकि एक भूखे व्यक्ति

1. "It is .....a way of life. It proceeds at the axiom that the happiness of every person counts for as much as the happiness of any one else and that no body is to be regarded as the means to the happiness of others."—BENI PRASAD

2. "It is a search for a way of life in which the voluntary free intelligence and activity of man can be harmonised and co-ordinated with the least possible coercion and it is the belief that such a way of life is the best way for all mankind, the way most in keeping with the nature of man and the nature of the universe."—MAXEY

3. "A democratic society is one in which the spirit of equality and fraternity prevails."—ASHIRVATHAM

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

के लिए प्रजातंत्र का कोई महत्त्व नहीं है। आर्थिक प्रजातंत्र का अर्थ ऐसी व्यवस्था से है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी भौतिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित साधन उपलब्ध हों और किसी तरह का शोषण न हो। जहाँ कहीं भी आर्थिक विषमता है, वहाँ प्रजातंत्र का कोई मूल्य नहीं है। ठीक ही कहा गया है, "आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता मात्र एक भ्रम है।"[1]

6. जीवन का एक रूप (A way of life)—प्रजातंत्र जीवन का एक रूप भी है। जीवन के प्रति यह एक विशिष्ट दृष्टिकोण अपनाता है। इसमें मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्मान होता है तथा उसकी नैतिक एवं आध्यात्मिक क्षमता में विश्वास किया जाता है। इससे व्यक्ति की गरिमा बढ़ती है और उसका नैतिक स्तर ऊँचा उठता है। प्रजातंत्र सहमति पर आधारित है। सबके हृदय में क्षमा, सहिष्णुता, सेवा, परोपकार, विरोधी दृष्टिकोण के प्रति आदरभाव, समझौता इत्यादि प्रजातंत्र के विशिष्ट भाव हैं।

उपर्युक्त विभिन्न व्यापक दृष्टिकोणों से यह स्पष्ट है कि प्रजातंत्र एक ऐसी शासन-प्रणाली और सामाजिक व्यवस्था का सिद्धांत है जिसकी एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति होती है और जिसका एक आर्थिक आधार होता है। इसके अंतर्गत राजनीतिक, सामाजिक और दैनिक व्यवहार के सारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक मापदंड समाहित हैं। लेकिन, इनसे 'प्रजातंत्र' के वास्तविक स्वरूप की जानकारी प्राप्त नहीं होती। इनसे यह ज्ञात नहीं होता कि प्रजातंत्र किस रूप में कार्य करता है और उसे किस प्रकार कार्य करना चाहिए।

शास्त्रीय या उदारवादी प्रजातंत्र के भेद
(Kinds of Classical or Liberal Democracy)

प्रजातंत्र के दो भेद निम्नलिखित हैं—

1. प्रत्यक्ष प्रजातंत्र (Direct democracy) तथा
2. अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र (Indirect democracy)।

प्रत्यक्ष प्रजातंत्र (Direct Democracy)

प्रत्यक्ष प्रजातंत्र शासन का वह रूप है, जहाँ संपूर्ण जनता स्वयं शासन का संचालन करती है। इसमें संपूर्ण जनता एक सभा या परिषद में एकत्र होकर अपनी इच्छा प्रकट करती है। प्रजातंत्र के इस रूप का दर्शन हमें प्राचीन काल के **भारत, चीन, रोम** तथा **यूनान** में होता है। चूँकि प्राचीन काल के राज्य बहुत छोटे थे, इसलिए प्राचीन काल में ही प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की व्यवस्था संभव थी। आज के व्यापक और विशाल राज्य में हम प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की उम्मीद नहीं कर सकते। फिर भी, आज स्विट्जरलैंड के कुछ कैंटनों और संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के उदाहरण पाए जाते हैं। प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के विभिन्न रूपों को हम निम्नलिखित तालिका द्वारा समझ सकते हैं।

प्रत्यक्ष प्रजातंत्र

जनमत-संग्रह (Referendum)	आरंभण (Initiative)	प्रत्यावर्तन (Recall)	लोक-निर्णय (Plebiscite)	लेण्ड्सजिमेण्डे (Landsgemende)
इसका मतलब है किसी प्रमुख विषय को जनता के सम्मुख निर्णयार्थ रखना। विधानमंडल जब कोई कानून बनाना चाहता है या संवि-	इसका अभिप्राय उस तरीके से है, जिसके अनुसार मतदाताओं की एक निश्चित संख्या आरंभण (initiative) कर सकती	यह प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का सर्वोत्तम साधन और जनता का वह अधिकार है जिसके अनुसार जनता अपने द्वारा विधायिका सभा में	लोक-निर्णय प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का एक ऐसा साधन है जिसके अनुसार किसी भी महत्त्व-पूर्ण विषय पर जनता का मत	यह पद्धति स्विट्-जरलैंड के कुछ ही कैंटनों में प्रचलित है जिसके अनुसार वहाँ की जनता प्रत्येक वर्ष आम सभा करती है और

1. "Political liberty without economic equality is a mere myth."—COLE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

जनमत-संग्रह (Referendum)	आरंभण (Initiative)	प्रत्यावर्तन (Recall)	लोक-निर्णय (Plebiscite)	लेण्ड्सजिमेण्डे (Landsgemende)
संविधान में संशोधन लाना चाहता है, तब उस विषय को जनता के समक्ष रखकर जनमत लेने के बाद ही ऐसा कर सकता है। इस प्रकार, जनमत-संग्रह के आधार पर जनता प्रत्यक्ष रूप से विधिनिर्माण में भाग लेती है। जनता का बहुमत प्राप्त होने पर ही विधानमंडल के प्रस्ताव कानून का रूप लेते हैं। जनमत-संग्रह के दो रूप हैं, एक अनिवार्य और दूसरा ऐच्छिक। स्विट्जरलैंड में जनमत-संग्रह का उदाहरण मिलता है।	है। यह जनता का अधिकार है, जिसके द्वारा एक निश्चित जनसंख्या विधानमंडल को किसी विषय पर कानून बनाने के लिए बाध्य कर सकती है। स्विट्जरलैंड के कैंटनों में इसका उदाहरण मिलता है।	भेजे गए प्रतिनिधि को पुनः वापस बुलाने या पदच्युत करने का अधिकार रखती है। एक निश्चित बहुमत से यह व्यवस्थापिका में लगे हुए किसी भी सदस्य को उसके पद से हटा सकती है। प्रत्यावर्तन का उदाहरण अमेरिका के अनेक उपराज्यों, विशेषतया ओरिगन में मिलता है। पहले जर्मनी और लेटेविया में इसका प्रयोग किया जाता था। भारत में स्वर्गीय जयप्रकाश नारायण भी प्रत्यावर्तन को लागू करना चाहते थे।	लिया जा सकता है। लोक-निर्णय से यह पता लग जाता है कि किसी भी महत्त्वपूर्ण समस्या पर जनता का क्या निर्णय है। लोक-निर्णय जनमत-संग्रह (referendum) से इसी अर्थ में भिन्न है कि पहले का संबंध कानून से है तो दूसरे का संबंध किसी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न से।	उसी सभा में शासन-कार्यों पर विचार कर विधि का निर्माण करती है।

अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र (Indirect Democracy)

आज प्रजातंत्र में जनता शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग न लेकर अपने द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों से शासन का संचालन कराती है। इसीलिए इसे प्रतिनिध्यात्मक प्रजातंत्र भी कहते हैं। इसके अंतर्गत कानून का निर्माण जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा होता है। **जे॰ एस॰ मिल** ने अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र के संबंध में कहा है, "इसमें सारी-की-सारी जनता या फिर उसका बहुसंख्यक भाग शासन-सत्ता का अपने नियत काल पर निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा प्रयोग करता है।" अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र के भी विभिन्न रूप होते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र

संसदीय या मंत्रि-मंडलात्मक (Parliamentary System)	अध्यक्षात्मक (Presidential)	संघात्मक (Federal)	एकात्मक (Unitary)
इस प्रणाली में वास्तविक शासन-सत्ता संसद या मंत्रिमंडल में निवास	इस प्रणाली में शासन-शक्ति राज्याध्यक्ष या राष्ट्रपति में निवास करती	इस प्रणाली में शासन-शक्ति का विभाजन केन्द्र और विभिन्न राज्यों या	यह ऐसी शासन-प्रणाली है जिसमें शासन-शक्ति केवल केन्द्र में निवास

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

संसदीय या मंत्रि-मंडलात्मक (Parliamentary System	अध्यक्षात्मक (Presidential)	संघात्मक (Federal)	एकात्मक (Unitary)
करती है, जिसमें जनता के चुने हुए प्रतिनिधि ही रहते हैं; जैसे—भारत और ब्रिटेन की संसद या मंत्रिमंडल।	है जो जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है; जैसे—अमेरिकी राष्ट्रपति।	इकाइयों के बीच होता है। उदाहरण के लिए, भारतीय संघ में 25 राज्य और 7 संघीभूत इकाइयाँ हैं, जिनके शासनाधिकारों को संघ-सूची, राज्य-सूची और समवर्ती सूची में बाँट दिया गया है।	करती है। यहाँ विभिन्न इकाइयों और राज्यों को अलग से कोई अधिकार नहीं दिया गया है। उदाहरण के लिए, हम ब्रिटेन की शासन-प्रणाली को लेते हैं।

उदारवादी प्रजातंत्र का मूल्यांकन
(Evaluation of Liberal Democracy)

प्रारंभ से ही प्रजातंत्र का मूल्यांकन इसके गुण-अवगुणों के आधार पर होता आया है। **प्लेटो, अरस्तू** आदि यूनानी दार्शनिकों ने प्रजातंत्र को सरकार का विकृत रूप बताया है। कुछ लोगों ने इसे 'भीड़तंत्र' कहा है तो अन्य लोगों ने इसे 'बेवकूफों का शासन' कहा है। **एच॰ जी॰ वेल्स** ने प्रजातंत्र को 'सपनों का महल' कहा है। कुछ अन्य विद्वानों ने प्रजातंत्र की प्रशंसा भी की है और इसे समस्त सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं की कुँजी कहा है। **जे॰ एस॰ मिल** ने कहा है, "उत्तम शासन और जनता के चरित्र-निर्माण की दृष्टि से प्रजातंत्र ही सबसे अच्छा शासन है।"

उदारवादी प्रजातंत्र के दोष (Demerits of Liberal Democracy)

प्रजातंत्र की आलोचनाएँ निम्नलिखित तर्कों के आधार पर की गई हैं—

(i) अयोग्यों का शासन (A cult of incompetence)—**एच॰ जी॰ वेल्स** के अनुसार, प्रजातंत्र बुद्धिहीनों तथा अयोग्यों का शासन है। **सर हेनरी मेन** ने भी इसका समर्थन किया है। यूनानी दार्शनिक **प्लेटो** ने इसे 'अज्ञानता का राज्य' कहा है। **लेकी** के विचारानुसार, "प्रजातंत्र वह शासन-प्रणाली है, जिसका संचालन सबसे अधिक दरिद्र और सबसे अधिक अज्ञानी लोगों के हाथों में होता है, जिनकी संख्या स्वभावतः अधिक होती है।" भारतीय प्रजातंत्र के सन्दर्भ में ये सारी बातें सत्य हैं।

(ii) अनुत्तरदायी शासन (Irresponsible administration)—कुछ लोगों ने प्रजातंत्र को अनुत्तरदायी शासन पुकारा है। **फैगेट** (Faguet) के अनुसार, "प्रजातंत्र-शासन के अंतर्गत शासन-सत्ता एक अव्यवस्थित भीड़ के हाथ में रहती है। अतः, किसी को कोई शिकायत करनी हो तो किससे करे?"[1] **हर्नशॉ** ने स्पष्ट रूप से कहा है कि प्रजातंत्र मनुष्यों में सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीनता उत्पन्न करता है।

(iii) कोरा आदर्शवाद (Hollow idealism)—प्रजातंत्र का एक अवगुण है कि यह कोरे आदर्शवाद पर आधारित है। यह समानता की रट तो लगाता है, लेकिन उसे व्यावहारिक रूप नहीं देता। इसलिए **बर्क** ने कहा है, "प्रजातंत्र समानता का एक भयानक प्रपंच है।" इसमें सिद्धांत के तौर पर उन समस्त चीजों की माँग की जाती है जिनका व्यावहारिक जगत से मतलब नहीं रहता।

(iv) वीर-पूजा (Hero-worship)—प्रजातंत्र वीर-पूजा की भावना पर आधारित है। प्रजा अपनी अज्ञानता के कारण एक नेता को पूजने लगती है। इतिहास साक्षी है कि इसी वीर-पूजा की भावना के परिणामस्वरूप फ्रांस में नेपोलियन और जर्मनी में हिटलर तानाशाह बने।

1. "In democracy the sole governing power resides in a confused mass which offers no point to which a man can address himself if he has a complain, claim or an indignant protest."—FAGUET

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(v) बहुमत का अत्याचार (Tyranny of the majority)—प्रजातंत्र बहुमत का शासन है, इसलिए बहुमत अल्पसंख्यकों के हितों का गला घोंटने लगता है। इसमें 51 प्रतिशत जनता 49 प्रतिशत लोगों पर शासन करती है।

(vi) धनवानों का शासन (Administration of rich persons)—प्रजातंत्र की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि इसमें धनवानों की ही प्रबलता होती है। धनी और महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति पैसों के बल पर गरीबों के मत खरीदकर निर्वाचित हो जाते हैं। निर्वाचन में जीतने के बाद वे धनवानों के हितों पर ही ध्यान देते हैं और गरीबों को भूल जाते हैं।

(vii) वर्ग-विरोध को प्रोत्साहन (Encouragement to class antagonism)—प्रजातंत्र वर्ग-विरोध एवं वर्ग-संघर्ष को प्रोत्साहित करता है। प्रजातंत्र में शासन, चूँकि, पूँजीपति-वर्ग के हाथों में चला जाता है, इसलिए संपदा के बल पर मतदाताओं और मंत्रियों को भी वे खरीद लेते हैं। प्रजातंत्र पूँजीपतियों का शासन बन जाता है और इस प्रकार धनी और गरीब के बीच एक लम्बी दीवार खड़ी हो जाती है। इससे देश का वास्तविक वातावरण अशान्त और विद्रोहात्मक हो जाता है।

(viii) सभ्यता-विरोधी (Anti civilization)—प्रजातंत्र सभ्यता, संस्कृति तथा विज्ञान का दुश्मन है। **लेकी** के अनुसार, "प्रजातंत्र बौद्धिक विकास तथा वैज्ञानिक सत्य की प्रगति के विपरीत है।" **सर हेनरी मेन** ने भी कहा है, "प्रजातंत्र बौद्धिक उन्नति, साहित्य, कला तथा विज्ञान का विरोधी है।" बुद्धिजीवी लोग प्रजातंत्र की खामियों के प्रति उदासीन हो जाते हैं।

(ix) धन और समय का अपव्यय (Misuse of wealth and time)—प्रजातांत्रिक शासन की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि इसमें धन और समय का अपव्यय होता है। इसके निर्वाचन, प्रतिनिधियों के वेतन एवं भत्ते आदि के कारण अनावश्यक खर्च बढ़ जाता है। इसलिए **गेटेल** ने कहा है, "प्रजातंत्र में न केवल अपव्यय होता है, वरन इसके कारण प्रजातंत्रीय व्यवस्था की आत्मा को ही समाप्त कर देने की प्रवृत्ति रहती है। इसके निरर्थक वाद-विवाद और संपत्ति-पद्धति के कारण व्यर्थ में समय की बर्बादी होती है।"

(x) नैतिक दृष्टिकोण से भी गलत (Unsuitable from moral point of view)—आलोचकों की दृष्टि में नैतिक दृष्टि से भी प्रजातंत्र गलत धारणा पर आधारित है। इसमें ईमानदारी का प्रचार किया जाता है; किन्तु झूठ और निन्दा ही राजनीति के आधार बन जाते हैं।

(xi) दलगत बुराइयाँ (Partisan evils)—प्रजातंत्र अपनी दलगत बुराइयों का भी शिकार है। दलगत भावना के कारण बुराइयों के दौरान आपस में लड़ाई-झगड़ा होता है और एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास किया जाता है।

(xii) संख्यात्मक शासन (Numerical administration)—प्रजातंत्र एक संख्यात्मक शासन है जिसमें गुण पर ध्यान नहीं दिया जाता है। योग्य तथा अल्पमत व्यक्तियों का शासन में कोई स्थान नहीं रहता।

(xiii) लॉर्ड ब्राइस की आलोचनाएँ (Lord Bryce's criticisms)—प्रजातंत्र के समर्थक **लॉर्ड ब्राइस** ने अपनी पुस्तक **आधुनिक प्रजातंत्र** में जनतंत्र के निम्नलिखित दोषों का उल्लेख किया है—

1. शासन-व्यवस्था को विकृत करने में धन-बल का प्रयोग ।
2. राजनीति को लाभ का पेशा बनाने की प्रवृत्ति।
3. शासन-व्यवस्था में अत्यधिक व्यय।
4. समानता के सिद्धांत का दुरुपयोग।
5. प्रशासकीय पटुता या योग्यता का उचित मूल्यांकन नहीं।
6. दलबन्दी पर अत्यधिक बल ।
7. विधायिका-सभाओं के सदस्य तथा राजनीतिक अधिकारियों द्वारा कानून पारित करते समय मतों को ध्यान में रखना और अनुचित व्यवस्था के भार को सहन करना।

उपर्युक्त दोषों के आधार पर आज प्रजातंत्र की आलोचनाएँ की जाती हैं। फिर भी, प्रजातंत्र के अपने गुण हैं, जिनके कारण विश्व के अधिकांश देशों में आज यह शासन-प्रणाली प्रचलित है। इसकी मान्यताओं में अब भी किसी तरह की गिरावट नहीं आई है। यह बात दूसरी है कि इसकी प्रकृति को लेकर आज राजनीतिशास्त्रियों में व्यापक मतभेद है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

उदारवादी प्रजातंत्र के गुण (Merits of Liberal Democracy)

प्रजातंत्र-संबंधी विभिन्न आलोचनाओं के बावजूद राजनीतिशास्त्र के विद्वानों ने प्रजातंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन-प्रणाली की संज्ञा दी है। **लॉर्ड ब्राइस** के विचारानुसार प्रजातंत्र की अनेक खामियाँ दूर की जा सकती हैं। **प्रो॰ डनिंग** (Dunning) के भी विचार में, "लोकतंत्र ने कुछ पुराने दोषों की नहरों को पार किया है, लेकिन कुछ नए दोषों की नहरें भी खोद डाली हैं, पर इसने पानी का बहाव नहीं बढ़ाया है।"[1] **प्रो॰ फाइनर** भी लॉर्ड ब्राइस तथा डनिंग के विचारों से सहमत हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में इस शासन-प्रणाली में कुछ दोष अवश्य हैं; लेकिन इसने मानवता को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में आधार दिया है जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रजातंत्र के गुणों को हम निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत रख सकते हैं—

1. जनमत पर आधारित (Based on public opinion)—प्रजातंत्र का सबसे बड़ा गुण है कि यह जनमत की सहमति पर संचालित होता है। इसका मूल आधार जनता की सामान्य इच्छा (General Will) है। जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनकर प्रजातांत्रिक शासन का संचालन करती है। जनता के प्रतिनिधि ही कानूनों का निर्माण करते हैं। चूँकि जन-सहमति इसका आधार है, इसलिए शासक और शासितों में मधुर संबंध बना रहता है। भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति **अब्राहम लिंकन** ने इसी आधार पर प्रजातंत्र को परिभाषित किया है, "प्रजातंत्र जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा शासन है।"[2]

2. समानता, स्वतंत्रता तथा भ्रातृत्व पर आधारित (Based on equality, liberty and fraternity)—प्रजातंत्र अपने उच्च तथा मौलिक आदर्शों पर आधारित है। यह समानता, स्वतंत्रता तथा भ्रातृत्व की भावना को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास करता है। इसके अंतर्गत जाति, वंश, धर्म, लिंग इत्यादि का भेदभाव नहीं होता। प्रत्येक नागरिक कानून की नजर में समान होता है। इसीलिए, **लॉवेल** ने ठीक ही कहा है, "पूर्ण जनतंत्र में किसी को यह शिकायत नहीं रहती कि उसकी सुनवाई नहीं हुई है।"[3]

3. चारित्रिक विकास (Character development)—प्रजातंत्र में उत्कृष्ट प्रकार का चारित्रिक विकास होता है। चूँकि देश के नागरिक सार्वजनिक कार्यों में सक्रिय भाग लेते हैं, इसलिए उनके बौद्धिक एवं मानसिक गुणों की वृद्धि होती है। कोई भी नागरिक अपनी प्रतिभा और शक्ति के आधार पर राज्य के किसी भी पद पर पहुँच सकता है। प्रजातंत्र ही व्यक्ति के आत्मसम्मान, महत्त्वाकांक्षा एवं सक्रियता का विकास कर सकता है। इसमें नागरिकों को सहानुभूति, उत्तरदायित्व की भावना तथा आत्मनिर्भरता का प्रशिक्षण मिलता है।

4. व्यक्तित्व का विकास एवं आत्मज्ञान (Development of personality and self-realization)—प्रजातांत्रिक शासन-व्यवस्था में ही व्यक्तित्व के विकास एवं आत्मज्ञान प्राप्त करने का सबसे अधिक अवसर प्राप्त होता है। इसी संदर्भ में कुछ विद्वानों ने प्रजातंत्र को साध्य माना है। **डिवी** (Dewey) के विचारानुसार, "प्रजातंत्र उस सामाजिक संगठन के अत्यंत निकट है जिसमें व्यक्ति एवं समाज का सावयव संबंध स्थापित होता है ....व्यक्ति में समाज घनीभूत होता है और प्रत्येक व्यक्ति अपने को संप्रभु मानने लगता है।"[4]

5. राष्ट्रीयता एवं देशप्रेम की भावना को प्रोत्साहन (Encouragement to patriotism and nationality)—प्रजातंत्र राष्ट्रीयता एवं देशप्रेम को प्रोत्साहित करता है। प्रत्येक व्यक्ति महसूस करता है कि कानून एवं शासन का वह स्वयं निर्माता है। इससे नागरिकों में देश के प्रति भक्ति एवं निष्ठा का विकास होता है।

6. सार्वजनिक कल्याण (Public welfare)—प्रजातंत्र सार्वजनिक कल्याण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इसके अंतर्गत बिना किसी भेदभाव के समस्त नागरिकों का हितसाधन किया जाता है। यह लोककल्याण की भावना पर आधारित है।

7. राजनीतिक जागृति (Political consciousness)—प्रजातंत्र ही जनता में राजनीतिक जागृति उत्पन्न कराने में सहायक होता है। चुनाव आदि में भाग लेकर जनता अपने मौलिक अधिकारों को समझती है और अपने इच्छानुसार जनप्रतिनिधियों के माध्यम से शासन का संचालन करती है। इस संबंध में **अप्पादोराय**

---

1. "Democracy has closed some of the old channels of evil, has opened some new ones but it has not increased the streams."—DUNNING
2. "Democracy is a government of the people, for the people and by the people."—LINCOLN
3. "In a complete democracy no one can complain that he has not a chance to be heard."—LOWELL
4. "In conception at least democracy approaches most nearly to the ideal of all social organisations, viz., that in which the individual and society are organic to each other..... the individual is society concentrated, he is the localized manifestation of its life. Thus every citizen is a sovereign."—DEWEY

WWW.GRADESETTER.COM

(Appadorai) ने कहा है, "प्रजातंत्र-प्रणाली शासन की जिम्मेवारी जनता के जिम्मे करके उनमें बुद्धिमत्ता, आत्मनिर्भरता, नए-नए कार्यों को करने की प्रवृत्ति तथा सार्वजनिक भावना को प्रोत्साहित करती है।"[1]

8. क्रांति एवं विद्रोह की असंभावना (Impossibility of revolt and revolution)—प्रजातंत्र का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें क्रांति एवं विद्रोह का भय कम होता है। चूँकि चुनाव हमेशा होता रहता है, इसलिए सरकार को जनता नियंत्रित करती है और अपने असंतोष का बदला गोली (bullet) से न लेकर मतदान (ballot) से लेती है। **गिलक्राइस्ट** ने ठीक ही कहा है, "लोकप्रिय सरकार सर्वसम्मति की सरकार है, इसलिए स्वभाव से ही वह क्रांतिकारी नहीं होती है।"[2]

9. शासन की कुशलता (Efficiency in administration)—प्रजातंत्र का एक अन्य गुण यह है कि प्रजातंत्र में शासन की कार्यक्षमता अधिक रहती है। प्रजातंत्र में सर्वश्रेष्ठ सरकार के सभी लक्षण मौजूद हैं। **लॉवेल** के विचार में वही सरकार सर्वश्रेष्ठ है, जो लोगों को नैतिक शक्ति में, संगठन में, उद्योग में, आत्मनिर्भरता और साहस में दृढ़ बनाती है। प्रजातंत्र को छोड़कर कोई शासन-प्रणाली में इतनी कार्यकुशलता नहीं पाई जाती।

10. जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण (Political training to the masses)—प्रजातांत्रिक शासन में जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण मिलता है। **गेटेल** के विचारानुसार, "प्रजातंत्र नागरिकों के प्रशिक्षण के लिए विद्यालय का काम करता है।" **सी० डी० बर्न्स** ने ठीक ही कहा है, "प्रत्येक शासन-पद्धति शिक्षा की एक पद्धति है, लेकिन सबसे अच्छी शिक्षा आत्मशिक्षा है, इसलिए सर्वोत्तम शासन स्वशासन है, जिसे प्रजातंत्र कहते हैं।"[3]

11. नैतिकता और मानवीय मूल्यों पर आधारित (Based on morality and human values)—प्रजातंत्र नागरिकों की नैतिकता एवं मानवीय मूल्यों पर आधारित है। यह हमेशा मानवीय पक्ष पर जोर देता है और लोगों के सर्वांगीण विकास के लिए सारी सुविधाएँ प्रदान करता है।

12. सामाजिक एवं आर्थिक सुधार (Social and economic reformation)—प्रजातंत्र सामाजिक एवं आर्थिक सुधारों से उचित अवसर एवं अनुकूल वातावरण उपस्थित करने में अधिक सफल हुआ है। प्रजातंत्रीय शासन-व्यवस्था में प्रगतिशील कानूनों द्वारा आवश्यक सामाजिक एवं आर्थिक सुधार संभव होते हैं।

13. कर्तव्यपालन की भावना का विकास (Development of the sense of duty)—**ब्राइस** ने कहा है कि मताधिकार से व्यक्तित्व गौरवपूर्ण होता है और इस अधिकार से नागरिकों में कर्तव्य की भावना का विकास होता है।

14. लोकप्रिय तथा स्थायी शासन (Popular and permanent administration)—यह लोकप्रिय शासन-प्रणाली इसलिए है कि जनता का इसमें अधिक खयाल रखा जाता है। **गार्नर** ने कहा है, "सार्वजनिक चुनाव, सार्वजनिक नियंत्रण तथा सार्वजनिक उत्तरदायित्व में अन्य किसी भी शासन-प्रणाली से अधिक कार्यदक्षता होने की संभावना है।"

15. स्वशासन, समानता और संप्रभुता का नारा—**सारटोरी** ने कहा है कि राजनीतिक प्रजातंत्रवाद स्वशासन, समानता और संप्रभुता-संबंधी समाज की आधारभूत अवधारणाओं से संबद्ध है। प्रजातंत्र उस समानता पर जोर देता है, जो विभिन्नताओं को निष्क्रिय कर देना चाहती है। उसका उद्देश्य एकीकरण तथा राज्य में लोकप्रियता के तत्त्व को लाना है।

प्रजातंत्र की सफलता की आवश्यक शर्तें

(Essential Conditions for the Success of Democracy)

प्रजातंत्र की सफलता के लिए निम्नलिखित आवश्क शर्तें हैं—

1. प्रजातंत्रात्मक आस्था (Democratic faith)—प्रजातंत्रात्मक आस्था प्रजातंत्र की बुनियाद है। यदि

1. "Democracy encourages intelligence, self-reliance, and social sense of free men by placing the ultimate responsibility for government on the citizens themselves."—APPADORAI
2. "Popular government is a government by common consent. From its very nature, therefore, it is not likely to be revolutionary."—GILCHRIST
3. "All government is a method of education, but the best education is self-education, therefore, the best government is self-government, which is democracy."—C. D. BURNS

WWW.GRADESETTER.COM

जनता को प्रजातंत्रात्मक मान्यताओं में विश्वास न हो तो प्रजातंत्र नहीं चल सकता है। **आइवर ब्राउन** (Ivor Brown) ने इसी दृष्टि से 'प्रजातंत्रात्मक धारणा' का उल्लेख किया है। प्रजातंत्र की सफलता की यह एक महत्तम कड़ी है।

2. जन-जागरूकता (Consciousness of the people)—केवल प्रजातंत्रात्मक आस्था से ही हम प्रजातंत्र की मंजिल तक नहीं पहुँच सकते। जबतक प्रजातंत्र की रक्षा के लिए जनता जागरूक नहीं होती, अपने अधिकारों और कर्तव्यों से अबोध रहती है तब तक प्रजातंत्र की सफलता की कामना एक दिवास्वप्न है। प्रजातंत्र में जनता को अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति हमेशा जागरूक रहना चाहिए, क्योंकि 'जागरूकता ही प्रजातंत्र की कीमत है' (Vigilance is the price of democracy)। यदि जनता जग जाती है तो तानाशाही की लम्बी दीवारें धराशायी हो जाती हैं। जनमानस में जागरूकता आने से प्रजातंत्रात्मक मूल्यों की रक्षा होती है।

3. जनता का आदर्श (Ideal character of the citizen)—प्रजातंत्र की सफलता बड़े पैमाने पर जनता के चरित्र पर निर्भर करती है, प्रजातंत्र की स्थापना के लिए जनता को योग्य होना चाहिए। उसमें ईमानदारी और नैतिकता होनी चाहिए। राजनीतिक जागृति, सार्वजनिक कार्यों के प्रति दिलचस्पी और उत्तरदायित्व की भावना से ही आदर्श नागरिकता का निर्माण और प्रजातंत्र की रक्षा हो सकती है। जनता को आगाह करते हुए **ब्राइस** ने कहा है, "जनता का आलस्य और उदासीनता प्रजातंत्र के दो बड़े दुश्मन हैं।" **बेनी प्रसाद** के अनुसार, "प्रजातंत्रात्मक सरकार की सफलता जनता के उच्चकोटि के चारित्रिक गठन, स्वराज्य की लालसा और समाज-सेवा की भावना पर आधारित है।"

4. शिक्षा का प्रसार (Extension of education)—अशिक्षा प्रजातंत्र का सबसे बड़ा दुश्मन है। जिस देश की जनता अशिक्षित है, वहाँ का प्रजातंत्र हमेशा भ्रष्ट रहेगा। इसलिए प्रजातंत्र के इस बड़े दुश्मन की समाप्ति आवश्यक है। शिक्षा के अभाव में जनता को अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों का बोध नहीं हो सकता है। एक शिक्षित व्यक्ति ही अपने मतदान के महत्त्व को समझ सकता है और प्रशासनिक कार्यों का मूल्यांकन कर सकता है।

5. सामाजिक और आर्थिक समता (Social and economic equality)—आर्थिक समानता के अभाव में प्रजातंत्र सफल नहीं हो सकता। इसीलिए **कोल** ने भी कहा है, "आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतंत्रता मात्र एक भ्रम है।"[1] सामाजिक और आर्थिक समानता के लिए प्रशासन को काफी चुस्त होना पड़ता है। एक ओर संपत्ति का केंद्रीकरण और दूसरी ओर विपन्नता हो तो प्रजातंत्र नहीं चल सकता। इसी संदर्भ में हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री **स्व० जवाहरलाल नेहरू** ने कहा था, "एक भूखे व्यक्ति के लिए मत का कोई महत्त्व नहीं।"[2] महान दार्शनिक **रूसो** ने भी कहा है, "समानता के अभाव में स्वतंत्रता संभव नहीं हो सकती।"

6. समाचारपत्रों की स्वतंत्रता (Freedom of the Press)—प्रजातंत्र की सफलता के लिए समाचारपत्रों को स्वतंत्र तथा निष्पक्ष होना चाहिए। स्वतंत्र तथा निष्पक्ष समाचारपत्र ही स्वस्थ जनमत का निर्माण कर सकता है। इसी से राजनीतिक चेतना उत्पन्न होती है। **ब्राइस** ने भी कहा है, "बड़े देशों में समाचारपत्रों द्वारा ही प्रजातंत्र सफल हो सकता है।"[3]

7. स्वस्थ एवं सच्चा लोकमत (Healthy and honest public opinion)—सचेत और प्रबुद्ध जनमत प्रजातंत्र की सफलता की पहली शर्त है। यदि जनमत स्वस्थ, सुनिश्चित और सच्चा है तो प्रजातंत्र कभी असफल नहीं हो सकता है। स्वस्थ जनमत को बनाए रखना बहुत आवश्यक है।

8. राजनीतिक दल (Political parties)—प्रजातंत्र की सफलता के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों का रहना भी आवश्यक है। प्रजातंत्र-रूपी शरीर के लिए राजनीतिक दल जीवनदायी रक्त हो गए हैं (Party system is the life-blood of democracy)। इन राजनीतिक दलों का संगठन विशुद्ध राजनीतिक एवं आर्थिक-कार्यक्रमों के आधार पर होना चाहिए।

9. स्थानीय स्वराज्य (Local autonomy)—स्थानीय स्वराज्य प्रजातंत्र-रूपी शरीर का प्राण है। प्रजातंत्र में शक्ति का विकेंद्रीकरण होना चाहिए। शक्ति के विकेंद्रीकरण से ही प्रत्येक नागरिक राज्य के कार्य में अधिक-

---

1. "Political liberty without economic equality is a mere myth."—COLE
2. "A vote is of little use to a hungry man."—JAWAHARLAL NEHRU
3. "It is the newspaper press that has made democracy possible in large countries."—BRYCE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

से-अधिक भाग ले सकता है। स्थानीय स्वराज्य जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करता है। स्थानीय संस्थाओं में भाग लेने से ही जनता को प्रशासनिक अनुभव प्राप्त होता है। इसीलिए **डी टॉकविले** ने कहा है, "स्वायत्तशासी संस्थाएँ प्रजातंत्रीय राज्य की आत्मा हैं।"

10. शान्ति एवं सुरक्षा (Peace and security)—प्रजातंत्र की सफलता के लिए शान्ति और सुरक्षा भी परम आवश्यक हैं। आंतरिक अशान्ति में प्रजातंत्र सफल नहीं हो सकता। युद्ध और राष्ट्रीय संकट के दिनों में अधिनायकतंत्र की आशंका होने लगती है।

11. कानून का शासन (Rule of law)—इसकी सफलता के लिए कानून का शासन भी एक आवश्यक शर्त है। एक व्यक्ति-विशेष या समूह-विशेष के हाथ में कानून होने से प्रजातंत्र मर जाता है। कानून के शासन का अर्थ हुआ कि कानून के समक्ष देश के सभी नागरिक समान हैं।

12. राष्ट्रीय एकता की भावना (Feeling of national unity)—प्रजातंत्र की सफलता की एक आवश्यक शर्त है जनता में राष्ट्रीय एकता की भावना। राष्ट्रीय एकता की भावना से ही जातीयता तथा स्थानीय संकीर्णता की समाप्ति होगी। **प्रो॰ बर्गेस** ने प्रजातंत्र की सफलता के लिए इसे आवश्यक शर्त कहा है।

13. सहिष्णुता की भावना (Feeling of tolerance)—प्रजातंत्र एक प्रयोग है जिसमें अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों को समान दर्जे पर लाने का प्रयास होता है। जब तक इन बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों में पारस्परिक सहिष्णुता का वातावरण नहीं रहेगा तब तक प्रजातंत्र का प्रयोग तनाव और गलतफहमी में चलेगा और इन दोनों वर्गों में रस्सा-कशी (tug-of-war) की स्थिति बनी रहेगी।

14. नागरिक स्वतंत्रता का वातावरण (Atmosphere of civil liberty)—प्रजातंत्र की सफलता के लिए नागरिक स्वतंत्रता का वातावरण देश में बना रहना चाहिए। भाषण की स्वतंत्रता और वाद-विवाद पर प्रतिबंध नहीं लगाना चाहिए। यदि भारत में नागरिक स्वतंत्रता का वातावरण नहीं बना रहता तो शायद 1977 ई॰ का आम चुनाव और उसके बाद जनतां सरकार की स्थापना न हुई रहती और भारत का प्रजातंत्र हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त हो गया रहता।

15. आकाशवाणी की स्वतंत्रता और निष्पक्षता (Freedom and impartiality of the radio)—आज के युग में आकाशवाणी का महत्त्व बढ़ गया है। इसीलिए आकाशवाणी की स्वतंत्रता और निष्पक्षता प्रजातंत्र की सफलता के लिए आवश्यक हो गया है।

भारत में प्रजातंत्र की स्थिति
(Conditions of Democracy in India)

भारत ने अपने प्रजातंत्र का सफल प्रयोग किया है। अब हमें देखना है कि प्रजातंत्र की सफलता की उपर्युक्त शर्तें भारत में कहाँ तक विद्यमान हैं। निम्नलिखित कारणों से भारत में प्रजातंत्र अभी तक पूर्ण सफल नहीं हुआ है—

(i) **अशिक्षा** (Illiteracy)—अशिक्षा प्रजातंत्र का सबसे बड़ा दुश्मन है और यह दुश्मन भारत में विद्यमान है। भारत में 70 प्रतिशत जनता अशिक्षित है। अभी तंक भारत की जनता अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों को नहीं समझ पाई है। परिणामस्वरूप, जनता को सरकार के कार्यों में कोई दिलचस्पी नहीं है। अशिक्षा का नाजायज फायदा उठाकर मतों को खरीदा जाता है।

(ii) वर्गहीन समाज का अभाव (Absence of classless society)—प्रजातंत्र एक वर्गहीन समाज में ही पुष्पित हो सकता है। जब हम भारत के संदर्भ में इसकी विवेचना करते हैं, तब ठीक विपरीत पाते हैं। भारतीय समाज में अमीर-गरीब, ऊँच-नीच की भावनाएँ विद्यमान हैं। यहाँ धार्मिक विभिन्नताएँ, आर्थिक विषमताएँ तथा हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य कायम हैं। औरतों को हेय दृष्टि से देखा जाता है और उन्हें पुरुषों के सदृश सामाजिक स्तर प्रदान नहीं किया गया है। हरिजनों की समस्या लाखों प्रयास के बावजूद ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। यहाँ सामाजिक स्थिति में इतनी विभिन्नताएँ हैं कि हम प्रजातंत्र की सफलता की उम्मीद नहीं कर सकते। यहाँ उच्चवर्ग तथा पिछड़ी जातियों में स्पष्टतः हर स्तर पर रस्सा-कशी है। इस रस्सा-कशी और साम्प्रदायिक संदर्भ की स्थिति में भारत में जनतंत्र सफल नहीं हो पा रहा है।

(iii) आर्थिक और सामाजिक विषमता (Economic and social disparity)—प्रजातंत्र वहीं सफल हो सकता है, जहाँ सामाजिक और आर्थिक समानता हो। भारत में सामाजिक और आर्थिक विषमता है। एक

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

ओर समाज का एक वर्ग संपदा में निवास करता है, तो दूसरी ओर अधिकांश लोगों को भरपेट भोजन प्राप्त नहीं होता।

(iv) सुव्यवस्थित राजनीतिक दलों का अभाव (Absence of well-organised political parties)—प्रजातंत्र की सफलता के लिए सुव्यवस्थित राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। भारत में इनका आज अभाव हो गया है।

(v) नैतिक गुणों का अभाव (Absence of moral values)—भारत के लोगों में प्रजातंत्र के अनुकूल नैतिक गुणों का विकास नहीं हो पाया है। यहाँ के राजनेताओं और राजनीतिक दलों में नैतिक आदर्शों का अभाव है। जनता के प्रतिनिधि शासन-भार सँभालते ही जनता का स्वार्थ भूल जाते हैं और अपने राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति में लग जाते हैं।

(vi) संगठित जनमत का अभाव (Absence of organised public opinion)—जनमत प्रजातंत्र का प्राण है। स्वस्थ जनमत के चलते ही प्रजातंत्र की रक्षा हो सकती है। भारत में स्वस्थ जनमत नहीं है। यहाँ के जनमत को हम 'भेड़ियाधसान' की संज्ञा दे सकते हैं। यहाँ का जनमत प्रतिक्रिया में बौखलाता है और बिना सोचे-समझे बड़ी-से-बड़ी भूल भी कर जाता है। इसका कारण है कि भारतीय जनमत को राजनीतिक प्रशिक्षण प्राप्त नहीं है।

(vii) निष्पक्ष समाचारपत्रों का अभाव (Absence of impartial newspapers)—भारत की स्थिति ऐसी है कि कोई भी समाचारपत्र निष्पक्ष नहीं हो सकता। कुछ समाचारपत्रों को छोड़कर सारे-के-सारे समाचारपत्र किसी-न-किसी दल-विशेष से संबंधित हैं और अपने दल-संबद्ध बातों का प्रचार करते हैं।

(viii) राष्ट्रीय चरित्र दोषपूर्ण (Defect in national character)—भारत में अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था भी सफल नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ के लोग तनावों में रहना पसंद करते हैं तथा भय से ही अनुशासित रह सकते हैं। उन्हें अनुशासन में रखने के लिए उनमें भय लाना आवश्यक है। यदि यहाँ के लोगों को स्वतंत्रता दे दी जाए तो सारी राष्ट्रीय संपत्ति वे अपने घर ले जाएँ। यहाँ के लोगों का राष्ट्रीय चरित्र गिरा हुआ है। देश के बड़े-से-बड़े पदाधिकारी भी इस आरोप के शिकार हैं। जनता दल और काँगरेस दल के कुछ सदस्यों की स्थिति से इसका आभास होता है।

उपर्युक्त तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि भारत का वातावरण प्रजातंत्र के अनुकूल नहीं है। फिर भी, 1947 ई० से अब तक इस दिशा में काफी प्रयास हुए हैं, जिन्हें हम निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट कर सकते हैं—

(i) शिक्षा का प्रचार तीव्र गति से हो रहा है।

(ii) आर्थिक तथा सामाजिक विषमताओं का उन्मूलन किया जा रहा है और इसके लिए कुछ राज्य-सरकारें आवश्यक कानून भी बना रही हैं, जैसे—जमींदारी-प्रथा का उन्मूलन।

(iii) भूमि की जोत की सीमा निर्धारित की जा रही है। शहरी संपत्ति की सीमा पर भी नियंत्रण लगाने के प्रयास हो रहे हैं। आर्थिक समानता के नाम पर संविधान में अनेक संशोधन किए जा रहे हैं।

(iv) बैंकों तथा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण प्रजातंत्र की सफलता में आवश्यक कदम है।

(v) अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए पूर्ण व्यवस्था की गई है।

(vi) वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए अंतरजातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

(vii) समाचारपत्रों को स्वतंत्र और निष्पक्ष बनाए रखने के लिए सरकार ने प्रतिबंधों को समाप्त कर दिया है और विरोधी राजनीतिक दलों को भी चुनावों के दौरान आकाशवाणी-प्रयोग की सुविधा प्रदान कर दी गई है।

उपर्युक्त सारे कदम यह सिद्ध करते हैं कि भारत प्रजातंत्र के प्रयोग में आगे बढ़ रहा है। महात्मा गाँधी तथा जवाहरलाल नेहरू ने भारत को प्रजातंत्र की भूमि कहा है।

लोकतंत्र की बहुलवादी धारणा
(Pluralist View of Democracy)

जहाँ उदारवादी लोकतंत्र व्यक्ति, व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसके अधिकारों की रक्षा के लिए समुचित व्यवस्था पर आधारित है, वहाँ बहुलवादी लोकतंत्र इस मान्यता पर आधारित है कि समस्त व्यवस्था में

WWW.GRADESETTER.COM

व्यक्तियों द्वारा सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में निर्मित विविध समुदाय अपनी प्रभावपूर्ण स्थिति बनाए रखते हैं। वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना तभी संभव है जब समस्त व्यवस्था में ऐसी ऐच्छिक समुदायों की महत्त्वपूर्ण स्थिति को मान्यता दी जाए।

अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप की शासन-व्यवस्था को बहुलवादी लोकतंत्र के नाम से पुकारा जाता है। **मोरिस दुवर्जर, रॉबर्ट ए॰ डैल, लोवेस्टीन** और **लिपसेट** आदि विद्वानों ने बहुलवादी लोकतंत्र की अवधारणा का प्रतिपादन किया है। बहुलवादी लोकतंत्र की मूल धारणा सत्ता का विकेंद्रीकरण है। **दुवर्जर** ने बहुलवादी लोकतंत्र को परिभाषित करते हुए इसे 'निर्णय के विभिन्न केंद्रों का होना' (Plurality of decision centres) बताया है। **रॉबर्ट ए॰ डैल** ने इसे 'बहुतंत्र' (Polyarchy) कहा है, जबकि **लोवेस्टीन** ने 'Polycracy' के नाम से पुकारा है। **रॉबर्ट ए॰ डैल** का कहना है, "सरकारी नीतियों का निर्धारण कोई एक वर्ग नहीं, बहुत-से वर्ग करते हैं; जैसे व्यापारी, उद्योगपति, मजदूर-संघ, किसान-संघ, राजनीतिक मतदाता तथा स्वयंसेवी संस्थाएँ।" **लिपसेट** ने अपने **पॉलिटिकल मैन** *(Political Man)* में बहुलवादी लोकतंत्र से संबद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डाला है; जैसे—निम्न वर्गों का राजनीति में योगदान, मतदान पर सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव, राजनीति पर बुद्धिजीवियों का प्रभाव तथा मजदूर-संघों से संबद्ध राजनीतिक गतिविधियाँ। इन विद्वानों की दृष्टि में लोकतंत्र एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें अनेक दल, दबावगुट तथा हित-समूह राजनीतिक क्रियाओं को प्रभावित करने में प्रयत्नशील रहते हैं। इस व्यवस्था में प्रत्येक दल परस्पर एक-दूसरे की शक्तियों पर अंकुश का कार्य करते हैं। इसमें कोई एक वर्ग या व्यक्ति या समूह राजनीतिक या आर्थिक समस्याओं के संबंध में निर्णय नहीं लेता । निर्णय लेने के अनेक केंद्र होते हैं, अर्थात बहुलवादी लोकतंत्र में शक्तियों का विकेंद्रीकरण पाया जाता है। लोकतंत्र की यह विशुद्ध और ऐतिहासिक धारणा है।

बहुलवादी लोकतंत्र की प्रमुख बातें—बहुलवादी लोकतंत्र की निम्नलिखित प्रमुख बातें हैं—

1. इसमें राज्य का संगठन तथा राजनीतिक शक्ति का स्वरूप ऐसा होता है कि प्रजातंत्र का रूप बहुलवादी हो जाता है। इस लोकतंत्र की यह मान्यता है कि शासन में प्रत्येक व्यक्ति भागीदार होता है।

2. इस लोकतंत्र में शासन की शक्तियों को साधारणतः तीन भागों—(क) विधायी शक्ति, (ख) कार्यकारी शक्ति तथा (ग) न्यायिक शक्ति में विभाजित कर दिया जाता है। शासन-शक्तियों के विभाजन के इस सिद्धांत को 'शक्ति-पृथक्करण' सिद्धांत कहा जाता है।

3. सरकार और शक्तियों का विभाजन सिर्फ कार्यों की दृष्टि से नहीं, बल्कि प्रादेशिक आधार पर भी किया जाता है। शक्तियों को विभिन्न क्षेत्रीय सरकारों में विभाजित कर दिया जाता है। संघीय शासन-व्यवस्था में शासन की शक्तियाँ केंद्र तथा राज्यों के बीच वितरित कर दी जाती हैं। अमेरिका, कनाडा, स्विट्जरलैंड, भारत तथा आस्ट्रेलिया आदि देशों में ऐसी शासन-प्रणाली है।

4. संघीय सरकारों के विपरीत एकात्मक सरकारें भी होती हैं, जिनमें शासन का स्रोत केंद्रीय सरकार में होता है। लेकिन, केंद्रीय सरकार के अधिकार को सीमित करने और शासन को अधिक कुशल बनाने के उद्देश्य से उनकी शक्तियों को स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं में विभाजित कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, इंगलैंड तथा फ्रांस-जैसे **एकात्मक राज्यों** में स्थानीय संस्थाएँ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

5. न्यायालयों को निष्पक्ष और ईमानदार बनाए रखने के उद्देश्य से लोकतांत्रिक देशों में न्यायपालिका की स्वतंत्रता की गारंटी दी जाती है।

6. स्वतंत्र नियामक आयोग सरकार की शक्तियों के विकेंद्रीकरण की दिशा में वर्तमान शताब्दी की एक उपलब्धि है। इन आयोगों के जिम्मे विशेष कार्य सौंपे जाते हैं, जिनके सम्पादन में ये आमतौर से कार्यपालिका से स्वतंत्र रहते हैं। इन्हें 'स्वायत्तता का द्वीप' कहा गया है।

7. बहुलवादी लोकतंत्र में परिवार, चर्च, क्लब, विद्यालय की भाँति राज्य को भी एक संघ माना जाता है।

8. आज के लोक-कल्याणकारी युग में आर्थिक क्षेत्र में राज्य एक व्यवसायी या उद्योगपति के रूप में कार्य करने लगा है। सार्वजनिक हित में श्रेयष्कर सभी कार्य राज्य का उद्देश्य हो गया है।

9. बहुलवादी लोकतंत्र में सभी नागरिकों को विचार-अभिव्यक्ति तथा सम्मेलन आदि की स्वतंत्रताएँ प्राप्त होनी चाहिए। प्रेस, रेडियो और टेलीविजन आदि विचार-अभिव्यक्ति के साधन सरकारी नियंत्रण से स्वतंत्र होने चाहिए।

10. बहुलवादी लोकतंत्र इस बात की माँग करता है कि नागरिकों को राजनीतिक दलों के गठन की स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए तथा व्यवहार में एक से अधिक राजनीतिक दल अवश्य होने चाहिए।

WWW.GRADESETTER.COM

मूल्यांकन (Evaluation)—बहुलवादी लोकतंत्र की यह बात सही है कि राजसत्ता विकेंद्रित होनी चाहिए और समुदायों को अधिकाधिक स्वतंत्रता की स्थिति प्राप्त होनी चाहिए। समुदायों को ऐसी स्थिति प्रदान करने से मानव-जीवन श्रेष्ठता में आगे बढ़ सकेगा, क्योंकि—

1. समुदाय जनमत के निर्माण में सहायक बनते हैं । समाचारपत्रों, जनसभाओं, पुस्तकों, हड़तालों और आंदोलनों के माध्यम से अपना विचार सामान्य जनता तक पहुँचाते हैं।

2. समुदाय एक संगठित विकास होता है और संगठित विकास द्वारा की गई कारवाई से लोगों की माँग की शीघ्र सुनवाई हो जाती है।

3. समुदाय या संघ सरकार की शक्तियों पर अंकुश का कार्य करते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका ने सही अर्थ में बहुलवादी लोकतंत्र के विचार को अपनाया है। अमेरिकी समाज में आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों के समुदायों को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त है।

उपर्युक्त तथ्यों के बावजूद इस प्रसंग में एक शंका है। प्रश्न है कि क्या बहुलवादी लोकतंत्र के माध्यम से शासन-सत्ता का संचालन समस्त जनता के लिए हो सकता है। इस संबंध में **सी॰ राइट मिल्स** तथा **रैल्फ मिलिबैंड** का कहना है कि जिन्हें हम बहुलवादी लोकतंत्र कहते हैं, उन देशों में 'शासन' जनता का न रहकर 'जन संगठनों' का हो जाता है। **डब्लू॰ वाई॰ इलियट** ने भी विचार दिया है कि बहुलवादी समाज में राज्य-रूपी दानव का स्थान समुदाय-रूपी दानव ले लेंगे। कुछ लोगों ने यह भी कहा है कि बहुलवादी धारणा का सिर्फ सैद्धांतिक महत्त्व है। व्यवहार में प्रायः सभी लोकतंत्रीय देशों में एक सशक्त विशिष्ट वर्ग के हाथों में सारी सत्ता केंद्रित हो गई है। इसे हम पूँजीवादी लोकतंत्र के नाम से भी पुकार सकते हैं।

लोकतंत्र का अभिजनवादी सिद्धांत
(Elitist Theory of Democracy)

परंपरागत लोकतंत्र बहुसंख्यक के शासन में विश्वास करता है। **लॉर्ड ब्राइस** ने भी ऐसी ही बातें कही हैं। उनके विचार में, "लोकतंत्र एक ऐसी शासन-पद्धति है जिसमें राज्य-शक्ति किसी वर्ग-विशेष के हाथों में नहीं, वरन बहुसंख्यक के हाथों में केंद्रित होती है।" लोकतंत्र के इस परंपरागत सिद्धांत के विपरीत अनेक विचारकों की यह धारणा है कि यह बहुसंख्यक का शासन नहीं बल्कि अल्पसंख्यक का शासन है। किसी भी देश में शासन की शक्ति अंततः कुछ विशिष्ट जनों या एक विशिष्ट वर्ग के हाथों में रहती है। **हैरोल्ड डी॰ लॉसवेल** ने कहा है, "सरकार हमेशा अल्पसंख्यक की होती है।" इस वर्ग को विभिन्न नामों से पुकारा गया है, जैसे—अभिजन (elite), राजनीतिक वर्ग (political class), शासक अभिजन (ruling elite), शक्ति अभिजन (power elite) तथा सर्वोच्च नेतृत्व (top leadership) आदि।

इसके प्रतिपादकों में **मोस्का, पैरोटो, माइकेल्स, जेम्स बर्नहम, सी॰ राइट मिल्स** तथा **हैरोल्ड डी॰ लॉसवेल** के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। **रॉबर्ट ए॰ डैल** तथा **सारटोरी** ने भी इसके विश्लेषण में विशेष रुचि दिखाई है।

अर्थ एवं व्याख्या (Meaning and explanation)—अभिजनवर्ग अँगरेजी के 'एलिट' (elite) शब्द का हिंदी अनुवाद है। 'Elite' (एलिट) शब्द की उत्पत्ति *'eligere'* शब्द से हुई है, जिसका अर्थ चयन द्वारा चुनाव (selection by choice) होता है। लेकिन, अँगरेजी भाषा में *'eligere'* शब्द का अर्थ साधारणतया नेतृत्व से लिया जाता है। **पैरोटो** ने अपने अध्ययन में 'शासक-अभिजन' (governing elite) का महत्त्व दर्शाया है, जिसे **मोस्का** ने 'शासकवर्ग' (ruling class) कहकर पुकारा है। **मोस्का** के विचारानुसार, संख्या की दृष्टि से एक अत्यंत छोटा वर्ग समस्त राजनीतिक कार्यों को संपादित करता है तथा शक्ति पर एकाधिकार रखता है। इस शासकवर्ग का निर्माण समाज में पाए जानेवाले उच्चकोटि के समूहों द्वारा होता है। **पैरोटो** ने बताया है कि समाज के उच्चकोटि के संगठनों; जैसे—सैनिक, धार्मिक, व्यापारिक आदि के सामने स्वतंत्रता, समानता आदि मानवीय मूल्य निरर्थक हैं। **मोस्का** के विचारानुसार, शासक-अभिजनवर्ग अपने-आपको निर्वाचित कराता है और बहुसंख्यकों के प्रभाव के अंतर्गत कार्य करता है। **रॉबर्ट ए॰ डैल** ने **मोस्का** और **पैरोटो** की अभिजन-संबंधी विचारधारा को 'शासक-अभिजन-प्राक्कल्पना' (ruling-elite hypothesis) कहकर पुकारा है। **हैरोल्ड डी॰ लॉसवेल** का कहना है कि राजनीति का अध्ययन प्रभाव का अध्ययन है और प्रभावक

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

वे लोग हैं जो अपने हक से अधिक पाते हैं। जनता की तुलना में सर्वाधिक पानेवाले व्यक्ति ही अभिजनवर्ग (elite) कहे जाते हैं। **सी॰ राइट मिल्स** के अनुसार, अभिजनवर्ग प्रभुता-पदों के धारक लोगों से निर्मित होता है जिसमें आर्थिक, सामाजिक और सैनिक वर्गों के सदस्य शामिल होते हैं। **हैरोल्ड डी॰ लॉसवेल** ने **मोस्का** का अनुगमन करते हुए इस अभिजनवर्ग को 'राजनीतिक शक्तिवर्ग' (political power elite) कहकर पुकारा है। इस राजनीतिक शक्तिवर्ग का संगठन नेतागण तथा उनके समर्थकों से होता है। **लॉसवेल** कहता है कि राजनीतिक वर्ग (political class) राजनीतिक अभिजन (political elite) से अधिक व्यापक है, क्योंकि राजनीतिक वर्ग में राजनीतिक अभिजनवर्ग के अलावा अन्य वर्ग, जो राजनीति में रुचि लेते हैं, शामिल हो जाते हैं। **लॉसवेल** की दृष्टि में इन वर्गों में राजनीतिक अभिजन वह समूह है जो निर्दिष्ट समय पर समाज में शक्ति का वास्तविक प्रयोग करता है। इन अभिजनवर्ग के अंतर्गत न केवल उच्च प्रशासकीय पदाधिकारी शामिल रहते हैं, वरन सैन्य, उच्चकुलीन परिवार, नेता तथा उद्योगपति आदि भी शामिल होते हैं।

अभिजनवर्ग की विशेषताएँ (Characteristics of Elites)

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से अभिजनवर्ग की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

(क) अभिजनवर्ग प्रायः समाज का अल्पसंख्यक उच्चवर्ग होता है,
(ख) अभिजनवर्ग के सदस्य सत्ता और प्रभुसत्ता के महत्त्वपूर्ण पदों को प्राप्त किए रहते हैं,
(ग) यह वर्ग राजनीतिक विनिश्चयों (political decisions) को प्रभावित करता है,
(घ) अभिजनवर्ग समाज के श्रेष्ठ व्यक्तियों के वर्ग के रूप में दीख पड़ता है,
(ङ) अभिजनवर्ग का हित शेष जनता से अलग तथा उनका विरोधी होता है,
(च) अभिजनवर्ग प्रायः जनता की स्वतंत्रता और समानता को निरर्थक बताते हैं।

अभिजनवर्ग के उद्देश्य (Objectives of Elites)

अभिजनवर्ग देश और समाज के अधिकाधिक पुरस्कारों एवं लाभों को प्राप्त करने का उद्देश्य रखता है। वह अपने को शक्ति और सत्ता में बनाए रखने का प्रयास करता है। वह शासन से संबद्ध निर्णयों को प्रभावित करने के लिए अपार धन, पारिवारिक प्रतिष्ठा, संचार-साधनों पर नियंत्रण तथा अनेक गुप्त सूचनाओं की प्राप्ति करता है। अभिजनवर्ग के उद्देश्यों को हम निम्नलिखित तीन भागों में बाँट सकते हैं—

(क) सामूहिक हित की प्राप्ति (achievement of collective interest),
(ख) अपने हित, अर्थात स्वहित की उपलब्धि (achievement of self-interest),
(ग) अवचेतनात्मक प्रेरणाएँ (unconscious instincts) जो बचपन या किशोरावस्था में उत्पन्न भावनाओं से पैदा होती हैं।

अभिजनवर्ग के कार्य (Functions of Elites)

अभिजनों के कार्यों को सूचीबद्ध करना कठिन है, क्योंकि वे जनहित की आड़ में अपनी स्वार्थ-सिद्धि करते हैं। सर्वप्रथम अभिजनवर्ग अपनी सत्ता को औचित्यपूर्णता पर आधारित करने का प्रयास करते हैं। इसके लिए वे आदर्शमयी विचारधाराओं का सहारा लेते हैं। इसके बाद धन, पद, सेवाओं आदि द्वारा अपने नेतृत्व को मजबूत करते हैं। वे राष्ट्र का सम्मान, अपनी महान सभ्यता और इतिहास का नाम लेकर जनता को मनोवैज्ञानिक तरीके से अपने वश में करने का प्रयास करते हैं। **सेण्ट सिमन** ने अभिजनवर्ग के कार्यों को तीन भागों में विभाजित किया है—(क) विज्ञान-संबंधी कार्य, (ख) आर्थिक संगठन-संबंधी कार्य तथा (ग) संस्कृति और धर्म-संबंधी कार्य।

पारसन्स (Parsons) ने अभिजनवर्ग के निम्नलिखित चार कार्यों का उल्लेख किया है—

(क) लक्ष्यप्राप्ति-संबंधी कार्य जिनके अंतर्गत अभिजनवर्ग अपनी नीतियों, विनिश्चयों आदि का निर्माण करता है।

(ख) अनुकूलन-संबंधी कार्य—वाणिज्य, सैन्य, राजनीतिक आदि समूहों के कार्यों को यह सम्पादित करता है।

(ग) अपने एकीकरण-संबंधी कार्यों में यह धर्माधिकारियों, दार्शनिकों, शिक्षाशास्त्रियों एवं परिवारों द्वारा किए जानेवाले कार्यों को रखता है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(घ) अपने प्रतिमान संचरण-संबंधी कार्यों के अंतर्गत अभिजनवर्ग कलाकारों, लेखकों, फिल्म अभिनेताओं आदि के कार्यों को रखता है।

अभिजनों के प्रकार—कुछ उपलब्ध अभिजनवर्ग निम्नलिखित हैं—

1. **पैरोटो** ने समस्त समाज को अभिजन एवं अभिजनेतर में विभाजित किया है और अभिजनों के दो प्रकार बताए हैं— शासक अभिजनवर्ग और अशासक अभिजनवर्ग। अशासक अभिजनों में वैज्ञानिक, बुद्धिजीवी तथा अभियंता आदि आते हैं।

2. **अंतरराष्ट्रीय ज्ञान कोष** (1968 ई०) ने ऐतिहासिक दृष्टि से अभिजनों को निम्नलिखित चार वर्गों में बाँटा है—(i) शासक प्रजाति (ruling caste), (ii) कुलीनतंत्र (aristocracy), (iii) शासकवर्ग (ruling class), (iv) व्यूहिक अभिजन (strategic elites)।

3. **टी० बी० बोटोमोर** ने अनेक अभिजनवर्गों का अस्तित्व स्वीकार किया है—

(i) बुद्धिजीवी, (ii) प्रबंधक, तथा (iii) नौकरशाह।

4. विकासशील देशों के अध्ययन के संदर्भ में **एडवर्ड शिल्स** ने पाँच प्रकार के अभिजनवर्ग बताए हैं, जैसे—(i) वंश-परंपरागत, (ii) क्रांतिकारी, (iii) मध्यवर्गीय, (iv) औपनिवेशिक प्रशासक तथा (v) राष्ट्रीय नेता। इनमें तीसरे तथा पाँचवें प्रकार के अभिजन विकासशील देशों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। **एरन** ने इस सूची में ग्रामीण तथा सैनिक अभिजनों को भी जोड़ने का सुझाव दिया है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि राजनीतिक अभिजन ही जनतंत्रात्मक देशों में प्रशासन को अपने हाथ में रखते हैं। आम जनता को मनोवैज्ञानिक ढंग से विभिन्न नारों के माध्यम से यह अपने पक्ष में करके उनका मतदान लेता है और बाद में शेष जनता का ख्याल न कर अपना राजनीतिक तथा सामाजिक स्वार्थ सिद्ध करता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि प्रजातंत्र को अराजकता में नहीं बदलना है तो नेतृत्व का महत्त्व स्वीकार करना होगा। नेतृत्व शासकत्व (rulership) या प्रधानत्व (leadership) से भिन्न है। नेतृत्व करनेवाले लोग सक्रिय जनों में से होते हैं। **सारटोरी** ने इन्हें 'नेतृत्व करनेवाले अल्पसंख्यक लोग' (leading minorities) कहा है। वह इन्हें एक वर्ग मानने पर अभिजनवादियों की आलोचना करता है। अच्छे नेतृत्व की हमेशा आवश्यकता होती है। निर्वाचन और चयन का मूल उद्देश्य सही एवं स्वीकार्य नेतृत्व को खोज निकालना होता है, क्योंकि इसके बिना स्वशासन संभव नहीं है। बुद्धिवादी नेतृत्व की महत्ता को स्वीकार करते हैं, किंतु वे इसे व्यवस्था की अपूर्णता एवं आवश्यक बुराई मानते हैं। यह न तो प्रजातंत्र के विरुद्ध है और न समानता के। स्थायी रूप से शक्ति न तो बहुसंख्यकों के पास रहती है और न अल्पसंख्यकों के पास।

नेतृशील अल्पसंख्यकों, जिन्हें **सारटोरी** अभिजन कहता है, की स्थिति समानता-विरोधी भी नहीं है। उनसे सामान्य जन को उच्चस्तरीय बनने की प्रेरणा मिलती है। चूँकि प्रजातंत्र 'है' और 'चाहिए' के मध्य में रहनेवाली व्यवस्था है, इसलिए नेतृवर्ग ही उसे अतियों से बचा सकता है। सारटोरी ने प्रजातंत्रात्मक नेतृत्व की अनेक विशेषताएँ बताई हैं। जहाँ अप्रजातंत्रात्मक अभिजन स्वयं को प्रजा पर थोपते हैं, वहाँ प्रजातंत्रात्मक नेतृवर्ग अपने-आपको प्रस्तावित करते हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)—इस प्रकार **सारटोरी** नेतृशील अल्पसंख्यकों (leading minorities) की सक्रियात्मक अवधारणा द्वारा प्रजातंत्र की शास्त्रीय धारणाओं में निहित अपर्याप्तताओं एवं अपूर्णताओं का परिष्कार कर देता है। प्रजातंत्र के सक्रिय संगठन के लिए यह अवधारणा अत्यावश्यक है और इस दृष्टि से **रॉबर्ट ए० डैल** के इस निष्कर्ष को अंतिम नहीं मानता कि प्रजातंत्र एक समानतावादी बहुतंत्र है। सही अर्थ में प्रजातंत्र नियमित निर्वाचन, वयस्क मताधिकार तथा प्रजातंत्रात्मक प्रतियोगिता पर आधारित नेता एवं अनुगामियों के बीच खुला संबंध है। यह एक गत्यात्मक प्रक्रिया है। यह हमेशा मुक्त एवं प्रतियोगी अल्पसंख्यकों का निर्माण करती है। इस प्रकार **सारटोरी** अपनी परिभाषा में तीनों को मिलाकर प्रजातंत्र को स्पष्ट करता है कि वह ऐसी राज्य-व्यवस्था है, जिसमें बहुमत का प्रभाव निर्वाचित एवं प्रतियोगी अल्पसंख्यकों द्वारा, जिन्हें वह सौंपा जाता है, आश्वस्त कर दिया जाता है। प्रायः नागरिकों से यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वे इन नेताओं को नियंत्रित करें। यह कार्य दूसरे नेताओं द्वारा किया जाता है। अतः, नेतृशील अल्पसंख्यक प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था में अनिवार्य हैं। इस प्रकार, प्रजातंत्र प्रतियोगी निर्वाचित अल्पसंख्यकों की चयन-व्यवस्था है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

लोकतंत्र की मार्क्सवादी अवधारणा
(Marxist View of Democracy)

आधुनिक समय में लोकतंत्र की एक नवीन अवधारणा का जन्म हुआ है। यह नवीन अवधारणा **कार्ल मार्क्स** और **लेनिन** के विचारों पर आधारित 'लोकतंत्र की मार्क्सवादी धारणा' कहलाती है। इसे 'जनवादी लोकतंत्र' (Peoples' Democracy) के नाम से भी पुकारा जाता है। 'लोकतंत्र की मार्क्सवादी अवधारणा' के प्रतिपादकों का विचार है कि 'शास्त्रीय लोकतंत्र' या 'उदार लोकतंत्र' की शासन-व्यवस्था लोकतंत्र का सिर्फ दिखावा-मात्र है। मार्क्सवादी अवधारणा के अनुसार पश्चिमी लोकतंत्रों में शासन पर सिर्फ साधन-संपन्न वर्ग के नियंत्रण होने के चलते शासन-तंत्र का प्रयोग इसी वर्ग के हितों के पोषण के लिए किया जाता है। **मार्क्स** की मान्यता है कि जिस राज्य में शासन-व्यवस्था का संचालन सिर्फ साधन-संपन्न वर्ग के हित के रूप में किया जाता है, वह लोकतांत्रिक नहीं है। सही अर्थ में 'लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था' उस शासन-तंत्र को कहा जाना चाहिए, जहाँ इसका प्रयोग सभी वर्गों के कल्याण और वर्गरहित समाज की स्थापना के लिए होता है।

लोकतंत्र की मार्क्सवादी अवधारणा की सफलता की आवश्यक शर्तें (Essential Conditions for the Success of Marxist Democracy)—लोकतंत्र की मार्क्सवादी अवधारणा की मूल मान्यता है कि राजनीतिक शक्ति आर्थिक शक्ति की दासी होती है। इस अवधारणा के अनुसार सच्चा लोकतंत्र तभी स्थापित हो सकता है, जब आर्थिक स्थिति संपूर्ण समाज में निहित हो। इसके लिए मार्क्सवादी लोकतंत्र की पूर्व शर्तों के रूप में निम्नलिखित तीन संस्थागत व्यवस्थाओं को अपनाने की आवश्यकता पर बल देते हैं—

1. **उत्पादन और वितरण के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व**—मार्क्सवादी अवधारणा के अनुसार उत्पादन के साधनों पर संपूर्ण समाज का स्वामित्व व्यवस्था को उन बंधनों से मुक्त कर देता है जो लोकतंत्र के आदर्श की पूर्ति में रुकावट डालते हैं।

2. **संपत्ति का समान वितरण और सभी व्यक्तियों को आर्थिक सुरक्षा**—सही अर्थ में लोकतंत्र की स्थापना तभी संभव है जब समानता पर आधारित समाज-व्यवस्था हो और इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए संपत्ति का समान वितरण आवश्यक है। **स्टालिन** ने कहा था, ''वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना उसी समाज में संभव है जहाँ शोषण का अंत कर दिया गया हो, बेरोजगारी और निर्धनता न हो तथा व्यक्ति को यह चिन्ता न हो कि कल उसे काम या रोटी से वंचित कर दिया जाएगा।''

3. **साम्यवादी दल का सत्ता पर एकाधिकार**—मार्क्सवादी धारणा मार्क्सवाद पर आधारित लोकतंत्रों में राजनीतिक दलों की अनेकता को स्वीकार नहीं करती। समानता पर आधारित इस समाज में संपूर्ण जनता के हितों का प्रतिनिधित्व सिर्फ साम्यवादी दल ही कर सकता है। साम्यवादी दल सबका सच्चा प्रतिनिधित्व करता है और सबके हित में राजनीतिक शक्तियों का हित संभव बनाता है।

मार्क्सवादी लोकतंत्र की विशेषताएँ—**एलेन बॉल** ने मार्क्सवादी अवधारणा पर आधारित लोकतंत्र के निम्नलिखित लक्षणों का जिक्र किया है—

1. एक ही राजनीतिक दल विधिक तथा वास्तविक रूप से प्रभावी होता है। सारी राजनीतिक सक्रियता इसी के माध्यम से गुजरती है।

2. सिद्धांततः व्यक्तिगत तथा सामाजिक गतिविधि के सभी पहलुओं से सरकार राजनीतिक रूप से संबद्ध होती है।

3. न्यायपालिका और जन-संपर्क के सभी माध्यमों पर सरकार का कठोर नियंत्रण होता है।

4. यह एक ऐसा सर्वाधिकारवादी शासन है जो लोकतंत्रीय आधार उपलब्ध करने के उद्देश्य से और शासन के लिए व्यापक जन-समर्थन प्राप्त करने हेतु जन-सक्रियता को अपनाने पर जोर देता है।

5. सैद्धांतिक रूप से एक ही सुस्पष्ट विचारधारा होती है जो उस व्यवस्था के अंतर्गत संपूर्ण राजनीतिक सक्रियता का विनियमन करती है।

लोकतंत्र की मार्क्सवादी अवधारणा का मूल्यांकन
(Evaluation of Marxist View of Democracy)

लोकतंत्र की मार्क्सवादी अवधारणा के पक्ष और विपक्ष में तर्क दिए गए हैं। जहाँ तक इसके पक्ष में

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

दिए गए तर्कों का प्रश्न है, मार्क्सवादी विचारक मानते हैं कि मार्क्सवादी अवधारणा और व्यवस्था पश्चिमी देशों के उदारवादी लोकतंत्रीय व्यवस्था से कहीं ज्यादा व्यापक और वास्तविक अर्थ में लोकतांत्रिक है। इस लोकतंत्र की स्थापना से पूँजीवादी व्यवस्था की समाप्ति होती है और सारी जनता को प्रशासन में भागीदारी का अवसर मिलता है। यह आर्थिक शांति संपूर्ण समाज में निहित कर सच्चे लोकतंत्र के उद्देश्यों की ओर उत्प्रेरित करता है।

विपक्ष में तर्क—दूसरी ओर, उदारवादी विचारकों का कथन है कि 'मार्क्सवादी अवधारणा पर आधारित लोकतंत्र, लोकतंत्र का निषेध है।' उदारवादी विचारकों ने निम्नलिखित तर्कों के आधार पर इसकी आलोचनाएँ की हैं—

1. एकदलीय व्यवस्था—मार्क्सवादी अवधारणा एकदलीय व्यवस्था में विश्वास करती है और इसमें विरोधी दलों का कोई अस्तित्व नहीं होता। एकदलीय व्यवस्था में शासन-कार्य में जनता की भागीदारी बहुत सीमित होकर रह गई है। **माइकेल टी॰ फ्लोरेन्सकी** ने ठीक ही लिखा है, "राजनीतिक लोकतंत्र का सार शासकवर्ग से असहमत व्यक्तियों द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक अपने विचार व्यक्त करने में निहित है। आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था का सबसे प्रमुख तत्त्व संगठित विरोध है।"[1]

2. विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर नियंत्रण—मार्क्सवादी अवधारणा नागरिकों के लिए विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में विश्वास नहीं करती। मार्क्सवादी विधिशास्त्री **विशिंस्की** ने लिखा है, "हमारे राज्य में निःसंदेह उन लोगों को भाषण या समाचारपत्र निकालने की स्वतंत्रता नहीं है, जो समाजवाद के शत्रु हैं।"

3. निजी जीवन में राज्य का अत्यधिक हस्तक्षेप—लोकतंत्र की मूल मान्यता है कि व्यक्ति के निजी जीवन में राज्य का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। लेकिन, मार्क्सवादी धारणा धार्मिक स्वतंत्रता में विश्वास नहीं करती।

4. न्यायपालिका स्वतंत्र नहीं है—स्वतंत्र न्यायपालिका लोकतंत्र का एक प्रमुख आधार होती है। मार्क्सवादी अवधारणा न्यायपालिका की स्वतंत्रता में विश्वास नहीं करती। यहाँ न्यायपालिका को सामान्य प्रशासन का ही एक अंग समझा जाता है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता के अभाव में नागरिक अधिकारों की सुरक्षा संभव नहीं है।

5. राज्य और साम्यवादी दल के कार्यकरण में अत्यधिक केंद्रवाद—लोकतंत्र मर्यादित शासन के साथ सत्ता के विकेंद्रीकरण में विश्वास रखता है, लेकिन मार्क्सवादी धारणा अमर्यादित सत्ता को जन्म देकर समस्त व्यवस्था में अत्यधिक केंद्रवाद को अपनाती है। मार्क्सवादी धारणा पर आधारित राज्यों में इसे 'लोकतांत्रिक केंद्रवाद' (Democratic Centralism) के नाम से पुकारा जाता है।

6. जनसक्रियता का यह तात्पर्य नहीं है कि शासन लोकतंत्रीय है—मार्क्सवादी धारणा पर आधारित राज्य-व्यवस्था में जनसक्रियता की स्थिति अत्यधिक मात्रा में देखने को मिलती है। समय-समय पर इन राज्यों में भूमि-सुधारक कानूनों को लेकर विशाल जन-अभियान देखा जाता है। ऐसे जन-अभियानों और चुनावों से यह प्रतीत होता है कि शासन को व्यापक जनसमर्थन प्राप्त है। लेकिन, व्यवहार में एक ही राजनीतिक दल अर्थात साम्यवादी दल का अस्तित्व इन राज्यों में संभव है। इसीलिए **रैल्फ मिलिबैंड** ने लिखा है, "जन सक्रियता का अर्थ यह नहीं कि शासन वास्तव में लोकतंत्रीय है। जनसक्रियता के बावजूद यह संभव है कि शासन का लोकतंत्रीय आधार बहुत कमजोर हो।"[2]

निष्कर्ष—उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि मार्क्सवादी धारणा पर आधारित लोकतंत्र एक उच्चस्तरीय लोकतंत्र नहीं है। इसे हम एक विशेष प्रकार की शासन-व्यवस्था कह सकते हैं, जो लोकतंत्र की तुलना में अधिनायकतंत्र के ही अधिक समीप है। यह बात दूसरी है कि इस लोकतंत्र के समर्थक इस शासन-व्यवस्था को वस्तुतः 'बहुजन हिताय' बताते हुए इसे एक 'उच्च प्रकार का लोकतंत्र' कहते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि मार्क्सवादी

---

1. "The essence of political democracy is the right to express freely opinions which do not agree with those of the group in power. Organised opposition is the most vital element of a modern democratic State."
—MICHAEL T. FLORINSKY : *Government of Continental Europe*, p. 928

2. "Popular involvement is not the same thing as democratic participation and control; and it is perfectly possible to have a very large measure of the one without having much (or even any) of the other."
—RALPH MILIBAND : *Marxism and Politics*, pp. 150-51

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अवधारणा 'आर्थिक लोकतंत्र' की स्थापना करती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लोकतंत्र की उदारवादी अवधारणा 'राजनीतिक लोकतंत्र' को जन्म देती है। इस प्रकार लोकतंत्र की उदारवादी और मार्क्सवादी—दोनों अवधारणाएँ एकांगी हैं और अधूरे लोकतंत्र को जन्म देती हैं। वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना तभी संभव है जब राजनीतिक लोकतंत्र और आर्थिक लोकतंत्र का समन्वय किया जाए।

प्रश्नावली

1. प्रजातंत्र की परिभाषा दीजिए। उदार लोकतांत्रिक व्यवस्था के मुख्य सिद्धांतों की विवेचना करें।
   (Define democracy. What are the main principles of a liberal democratic system ?)
2. प्रजातंत्र के गुण-दोषों का उल्लेख करें।
   (Point out the merits and demerits of democracy.)
3. प्रजातंत्र से आप क्या समझते हैं ? उदार लोकतंत्र के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।
   (What do you understand by democracy ? Discuss the merits and demerits of a liberal democracy.)
4. प्रजातांत्रिक शासन की सफलता के आवश्यक शर्तों का उल्लेख करें। भारत में प्रजातंत्र किस सीमा तक विद्यमान है ?
   (Describe the conditions necessary for the successful working of a democratic government. To what extent these conditions are present in India ?)
5. प्रजातंत्र के परंपरागत उदारवादी तथा विशिष्ट वर्गीय सिद्धांतों का अंतर स्पष्ट करें।
   (Distinguish between the classical, liberal and elitist theories of democracy.)
6. लोकतंत्र के बहुलवादी सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या करें।
   (Discuss critically the pluralist theory of democracy.)
7. लोकतंत्र के अभिजनवर्गीय सिद्धांत पर एक आलोचनात्मक लेख लिखें।
   (Write a critical essay on the Elitist theory of democracy.)
8. लोकतंत्र की मार्क्सवादी अवधारणा की आलोचनात्मक व्याख्या करें।
   (Describe critically the Marxist concept of democracy.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 20

राजनीतिक दल
[POLITICAL PARTIES]

संगठित नागरिकों के उस समुदाय को राजनीतिक दल कहते हैं, जिसकी स्थापना किसी विशेष सिद्धांत या नीति के समर्थन के लिए हुई हो, जो सांविधानिक उपायों का सहारा लेकर इस सिद्धांत या नीति को सरकार का आधार बनाने का प्रयत्न करता हो।—मैकिवर

विषय-प्रवेश (Introduction)

आज की जनतांत्रिक प्रणाली में राजनीतिक दलों की विशिष्ट भूमिका रहती है। राजनीतिक दल ही जनता के नाम राज्य के कार्यों का संचालन करते हैं। इसीलिए, कुछ विद्वानों ने राजनीतिक दलों को अदृश्य सरकार (invisible government) की संज्ञा दी है। राजनीतिक दलों की अनुपस्थिति में हम जनतंत्र की सफलता की उम्मीद नहीं कर सकते। राजनीतिक दलबंदी का उदाहरण आज नवीन नहीं है। प्रायः सभी युगों में इसके आभास मिलते हैं। परंपरागत राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय हित के सम्पादन का उपादान माना गया है और इसे जनतंत्रात्मक कार्यक्रमों की पूर्ति का आधार स्वीकार किया गया है। इन्हीं संदर्भों में राजनीतिक दलों को परिभाषित किया गया है।

राजनीतिक दल की परिभाषाएँ
(Definitions of Political Party)

साधारण बोलचाल की भाषा में व्यक्तियों के किसी समूह को, जो एकसमान उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कार्य करता है, दल कहा जाता है। यदि उस दल-विशेष का उद्देश्य राजनीतिक है, तो हम उसे राजनीतिक दल कहते हैं। विभिन्न विद्वानों ने राजनीतिक दल की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं—

1. **बर्क** (Burke)—"राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो किसी राष्ट्रीय हित की पूर्ति के लिए किसी एक विशिष्ट सिद्धांत को आधार मानकर, जिसमें वे सहमत हों, अपना संगठन करते हैं।"[1]

2. **गेटेल** (Gettell)—"राजनीतिक दल प्रायः संगठित नागरिकों का एक ऐसा समुदाय है, जो राजनीतिक इकाई की तरह कार्य करता है और अपने मतदान की शक्ति का प्रयोग कर सरकार को संगठित करना तथा अपनी सामान्य नीति को पूर्ण करना चाहता है।"[2]

3. **मैक्स वेबर** (Max Webber)—"राजनीतिक दल स्वेच्छा से बनाया हुआ वह संगठन है, जो शासन-शक्ति को अपने हाथ में लेना चाहता है और इसको हस्तगत करने के लिए प्रचार और आंदोलन का सहारा लेता है। इस शासन-शक्ति को अपने हाथ में लेने के पीछे एक ही उद्देश्य हो सकता है, जो या तो वस्तुनिष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति हो या व्यक्तिगत स्वार्थ हो, या दोनों हो।"

1. "A political party is a body of men united for promoting by their joint endeavours the national interest upon some particular principle on which they are agreed."—BURKE
2. "A political party consists of group citizens, more or less organised, who act as political unit and who by the use of their voting power aim to control the government and carry out their general principle."—GETTELL

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

4. मैकिवर (MacIver)—"संगठित नागरिकों के उस समूह को राजनीतिक दल कहा जाता है, जिसकी स्थापना किसी विशेष सिद्धांत या नीति के समर्थन के लिए हुई हो, जो सांविधानिक उपायों का सहारा लेकर इस सिद्धांत या नीति को सरकार का आधार बनाने का प्रयत्न करता हो।"[1]

5. लीकॉक (Leacock)—"राजनीतिक दल संगठित नागरिकों के उस समूह को कहते हैं, जो इकट्ठे मिलकर एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। उनके विचार सार्वजनिक मामलों पर एक-जैसे होते हैं और सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग कर सरकार पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं।"

6. गिलक्राइस्ट (Gilchrist)—"राजनीतिक दल नागरिकों के उस समूह को कहते हैं, जिसमें सभी सदस्यों के राजनीतिक विचार एक-से होते हैं तथा जो एक राजनीतिक इकाई की तरह काम करके सरकार को नियंत्रित करने का प्रयत्न करते हैं।"[2]

उपर्युक्त परिभाषाएँ पूर्ण नहीं हैं, क्योंकि आधुनिक मूल्य-मुक्त (value-free) राजनीतिशास्त्र में इन परिभाषाओं को स्वीकारना मुश्किल है, क्योंकि आधुनिक राजनीतिशास्त्र किसी भी सिद्धांत या मान्यता की सत्यता को अनुभववादी सत्यापनता के नियमों पर परीक्षित करता है। यदि इन परिभाषाओं की परीक्षा अनुभववादी तुला पर की जाए तो ये स्वीकार्य नहीं होंगी, क्योंकि—

1. आधुनिक राजनीतिक दल सचेतनता के साथ राष्ट्रीय हित का सम्पादन नहीं करते। वे केवल अस्पष्ट रूप से राष्ट्रीय हित का समर्थन करते हैं।

2. राजनीतिक दल के सभी लोग स्पष्टतः एकताबद्ध नहीं रहते और उनके अंदर भी हितों का संघर्ष चलता रहता है।

3. राजनीतिक दलों की स्थापना सिद्धांतों पर होती है, लेकिन व्यवहार में चुनाव जीतने और शक्ति प्राप्त करने-जैसे उद्देश्यों के चलते वामपंथी दलों को भी अपने उद्देश्यों से विचलित होना पड़ता है।

4. इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेने से अधिकांश विरोधी दलों को अराष्ट्रीय मानना होगा।

उपर्युक्त तथ्यों के संदर्भ में राजनीतिक दल विवाद के विषय हो गए हैं कि वस्तुतः राजनीतिक दल क्या हैं, और इनका वर्गीकरण कैसे हो तथा इन्हें एक-दूसरे से किस प्रकार पृथक किया जाए? इस संदर्भ में **न्यूमेन** ने राजनीतिक दल की परिभाषा देते हुए कहा है, "राजनीतिक दल समाज के उन क्रियाशील राजनीतिक लोगों के सुनियोजित संगठन का नाम है जो सरकार की शक्ति पर नियंत्रण करना चाहते हैं तथा जो विभिन्न विचारधाराओं पर आधारित तत्संबंधी उद्देश्यों पर संगठित समूहों के साथ सरकार की शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रतियोगितारत रहते हैं। इस दृष्टि से राजनीतिक दल उस मध्यस्थ कड़ी का काम करता है जो सरकारी संस्थाओं के साथ सामाजिक शक्तियों और विचारधाराओं को संबद्ध करता है तथा उन्हें बृहत राजनीतिक समुदाय के अंतर्गत होनेवाली राजनीतिक क्रियाओं के साथ संयोजित करता है।"[3]

जोसेफ शुम्पेटर (Joseph Schumpeter) ने भी न्यूमेन की तरह समान विचार व्यक्त करते हुए राजनीतिक दल की परिभाषा दी है। उसने कहा है, "प्रत्येक राजनीतिक दल का प्रथम एवं सर्वोपरि उद्देश्य राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना है तथा इसे कायम रखने के लिए दूसरे दलों पर हावी रहना है।" न्यूमेन की परिभाषा वस्तुतः शुम्पेटर की परिभाषा पर आधारित होने के साथ-ही-साथ विस्तृत और सटीक भी है। यह परिभाषा केवल राजनीतिक दलों के संगठनात्मक एवं उद्देश्यात्मक पक्षों पर ही बल नहीं देती, वरन प्रतियोगिता को सार्थकता प्रदान करने के लिए विचारात्मक आयाम को भी शामिल करती है। इन दोनों परिभाषाओं में मूल्यपरकता का अभाव है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता है कि इन्हें स्वीकार कर लेने से राजनीतिक दलों से संबद्ध ऐसे मूल्य के दृष्टिकोण से बचा जा सकता है जिसके अनुसार राजनीतिक दलों को 'राष्ट्रविरोधी' माना जाता है। **बर्क** ने राष्ट्रहित को आदर्श माना है। अतः, यदि कोई राजनीतिक दल प्रतियोगिता तथा कार्यक्रमों के संदर्भ में राष्ट्रहित की चर्चा नहीं करता तो उसे राष्ट्रविरोधी कहा जा सकता है। **न्यूमेन** राजनीतिक दलों की कल्पना जनतंत्रात्मक परिप्रेक्ष्य में करता है। न्यूमेन के शब्दों में, "राजनीतिक दलों से संबद्ध यह

1. "A political party is an association organised in support of some principles or policy which by constitutional means endeavours to make the determinant of the government."—MacIver

2. "A political party may then be defined as an organised group of citizens, who profess to share the same political views, and, who by acting as a political unit try to control the government."—Gilchrist

3. Sigmund Neumann : *Modern Political Parties*, p. 356

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

परिभाषा इस मान्यता को पूर्वनिर्धारित कर देती है कि राजनीतिक दलों के अस्तित्व के लिए जनतंत्रात्मक पर्यावरण की आवश्यकता है तथा तानाशाही के अंतर्गत राजनीतिक दलों के अस्तित्व की कल्पना करना ही गलत है। एकदलीय व्यवस्था अपने-आप में विरोधी है।'' यद्यपि यह मान्यता सत्य है, फिर भी साम्यवादी राजनीतिक पद्धतियों में अवस्थित एकदलीय व्यवस्था के भी कुछ कार्य हैं जिन्हें हम नजरअंदाज नहीं कर सकते।

इसके अलावा, हमें कुछ ऐसी मान्यता की भी आवश्यकता है जो जनतंत्रीय दलों एवं सर्वसत्ताधारी राजनीतिक पद्धतियों में अवस्थित दलों में अंतर बता सके। इन आवश्यकताओं की पूर्ति **रेनी** तथा **केण्डल** (Renny and Kendall) की यह परिभाषा करती है—''राजनीतिक दल उन संगठित एवं स्वायत्त समूहों को कहते हैं जो अपने प्रत्याशियों का नामांकन चुनाव के लिए इस उद्देश्य से करते हैं कि उनके माध्यम से सरकारी नीतियों एवं कर्मचारियों पर नियंत्रण स्थापित हो सकेगा।''[1] सचमुच में यह परिभाषा सिर्फ जनतंत्र में ही नहीं, वरन अन्य राजनीतिक पद्धतियों में भी राजनीतिक दलों की भूमिका की कल्पना करती है। सर्वसत्ताधारी राजनीतिक पद्धतियों में भी राजनीतिक दल 'जनतंत्रात्मक संधार' (democratic framework) के अंदर अपना कार्य करते हैं तथा विरोधी दलों को पराजित करने की कोशिश करते हैं। अतः, **रेनी** तथा **केण्डल** की परिभाषा से जनतंत्रीय तथा सर्वसत्ताधारी राजनीतिक पद्धतियों में अवस्थित दलों की प्रकृति तथा विशेषताओं में होनेवाले अंतरों की जानकारी मिल जाती है। यह परिभाषा सभी परिभाषाओं में सर्वोत्तम तथा आधुनिक परिस्थितियों में सटीक है।

राजनीतिक दलों का विकास
(Evolution of Political Parties)

प्रथम अवस्था—वैसे तो राजनीतिक दलों का धुँधला विकास बहुत पहले हो गया था, लेकिन शहरीकरण तथा औद्योगीकरण के फलस्वरूप समाज में बृहत सामाजिक गतिशीलता की भी उत्पत्ति हुई। इस सामाजिक गतिशीलता ने सामान्य लोगों में अपनी सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति के प्रति सजगता पैदा की और उसके परिणामस्वरूप उनमें एक अस्पष्ट एकता की भावना उत्पन्न हुई। इस भावना के चलते **सामंतवादी** एवं **अल्पतंत्रीय राजनीतिक पर्यावरण** के अंदर असंतुष्ट लोगों में सामाजिक तथा राजनीतिक एकता का उदय हुआ। इसके लिए वे निम्नलिखित उपायों का सहारा लेने लगे—

1. पारंपरिक श्रेष्ठजनवर्ग (traditional elites) की इच्छा के विरुद्ध अपनी शक्ति को प्रदर्शित करने के लिए अपने प्रत्याशियों का नामांकन करने लगे तथा चुनावों में ज्यादा-से-ज्यादा मत प्राप्त करने की कोशिश करने लगे;

2. अपने तथा समाज के भविष्य का सपना देखने के लिए छोटे-छोटे विचार-समूहों की स्थापना करने लगे;

3. पारंपरिक श्रेष्ठजनों के द्वारा परंपरा से अधिकृत पदों की प्राप्ति के लिए उनके विरुद्ध साजिश तथा अन्य दबाव के उपायों का सहारा लेने लगे तथा

4. आवश्यकता पड़ने पर क्रांतिकारी तथा हिंसात्मक माध्यम से 'षड्यंत्रों' की संरचना करने लगे।

पीटर मर्क्ल का कहना है कि जिन-जिन समाजों में गैरश्रेष्ठजनवर्गीय लोगों में, ऐसे उपायों का सहारा लेने तथा ऐसे कार्यक्रमों के आधार पर सामूहिक कार्य करने की प्रवृत्ति आई, उन समाजों में राजनीतिक दल का उदय हुआ। ब्रिटेन में अनुदार दल की प्रारंभिक रूपरेखा श्रेष्ठजनवर्ग की एकता एवं स्वहित-संरक्षण की भावना का कार्यात्मक रूप थी। ब्रिटेन में दो राजनीतिक दलों का उदय हुआ। गैरश्रेष्ठजनों की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक एकता का प्रतिनिधित्व करनेवाला दल उदारवादी दल (Liberal or Whig party) कहलाया। बाद में मजदूरों के हितों की रक्षा करनेवाला दल मजदूर दल कहलाया।

द्वितीय अवस्था—राजनीतिक संस्थाओं की प्रकृति जब प्रतिनिध्यात्मक हो गई तब उसके बाद राजनीतिक दलों के विकास की दूसरी अवस्था प्रारंभ हुई। जहाँ पहली अवस्था में राजनीतिक दलों की स्थिति वर्गीय हित-संपादन करनेवाले गुटों की थी, वहाँ प्रतिनिध्यात्मक संस्था की स्थापना ने राजनीतिक शक्ति के प्रयोग में साझेदारी की आवश्यकता पैदा की। परिणामस्वरूप, राजनीतिक दल समाज के विभिन्न वर्गों का वह माध्यम बना जिनके द्वारा राजनीतिक शक्ति में साझेदारी की जा सकती थी। 18वीं सदी में ब्रिटेन में

1. Austin Ranney & Willmoore Kendall : *Democracy and American Party System* (New York : Harcourt, 1956), p. 85

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

राजा ने राजकीय कोष एवं इसके कमिश्नरों के लिए संसदीय सचिवों के पद की स्थापना की जिन्हें बहुमत के बल पर चुना जाता था। बाद में यही पद राजनीतिक दलों के संसदीय सचेतकों के रूप में विकसित हुआ। यूरोप के अन्य देशों में भी संसदीय प्रतिनिधित्व एवं राजनीतिक दलों के रूप में कुछ संगठनों का अस्तित्व था।

तृतीय अवस्था—आरंभ में राजनीतिक दल अपनी क्रियाओं को संसदों तक सीमित रखते थे तथा स्थानीय लोगों के नामांकन एवं चुनावी प्रक्रिया से उनका प्रत्यक्ष संबंध नहीं था। किंतु, आपसी प्रतियोगिता की तीव्रता में विस्तार के साथ विभिन्न दलों ने अपने समर्थकों को बढ़ाने की आवश्यकता महसूस की और चुनावी प्रक्रिया के लिए यथायोग्य रणनीति अपनाने लगे। इन आवश्यकताओं के चलते निबंधित समितियों का उदय यूरोप के लगभग सभी देशों में हुआ।

वर्तमान अवस्था—राजनीतिक दलों के विकास की तीसरी अवस्था उनके जनसामूहिक दलों के रूप में विकसित होने का बोध कराती है। इस क्रम ने धीरे-धीरे आधुनिक राजनीतिक दलों को वर्तमान अवस्था तक पहुँचाया है। सर्वप्रथम ब्रिटेन और तब अमेरिका में राजनीतिक दल विकसित हुए। आज विश्व के प्रायः सभी देशों में किसी-न-किसी रूप में राजनीतिक दल अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। आज वे पूर्ण विकसित अवस्था में हैं और हरसंभव उपायों से शक्ति में आना चाहते हैं।

राजनीतिक दल के आवश्यक तत्त्व
(Essential Elements of Political Parties)

राजनीतिक दल में निम्नलिखित आवश्यक तत्त्व होते हैं—

1. आधारभूत सिद्धांतों में एकता (Unity in fundamental principles)—अर्थात, दल के विभिन्न सदस्यों में आधारभूत सिद्धांतों पर साधारणतया मतैक्य होना चाहिए।

2. संगठन (Organisation)—अर्थात, समान विचारवाले व्युक्तियों का संगठन होना चाहिए।

3. वैधानिक उपायों का प्रयोग (Use of constitutional methods)—अर्थात, राजनीतिक दल को सांविधानिक ढंग से ही अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रयास करना चाहिए।

4. राष्ट्रीय हित-वृद्धि (Promotion of national interests)—अर्थात, राजनीतिक दलों का उद्देश्य सांप्रदायिक या जातीय न होकर राष्ट्रहित होना चाहिए।

राजनीतिक दलों के निर्माण के आधार
(Basis of the Formation of Political Parties)

प्राचीनकाल से ही विभिन्न राजनीतिक दलों के निर्माण में निम्नलिखित आधारों का हाथ रहा है—

1. राजनीतिक आधार (Political basis)—विभिन्न राजनीतिक दलों का संगठन राजनीतिक आधार पर होता है। राजनीतिक बातों पर जनता के मत में विभिन्नता रहती है। इस मतभिन्नता के आधार पर जिन विभिन्न दलों का निर्माण होता है, उन्हें राजनीतिक आधार पर बने राजनीतिक दल कहते हैं।

2. आर्थिक आधार (Economic basis)—प्रारंभ से ही राजनीतिक दलों के निर्माण का यह आधार रहा है। कुछ राजनीतिक दल समाजवाद का समर्थन तथा कुछ पूँजीवाद का समर्थन इसलिए करते हैं कि उनका निर्माण इसी आर्थिक आधार पर हुआ है। साम्यवादी दल का निर्माण भी इसी आर्थिक आधार पर हुआ है। ब्रिटेन का मजदूर दल भी इसी आधार पर राजनीतिक दल के रूप में उभरा है।

3. वैचारिक तथा मानसिक आधार (Ideological and intellectual basis)—यह आधार भी राजनीतिक दलों के निर्माण में सहायता पहुँचाता है। समाज में कुछ लोग अनुदार विचार के, तो कुछ लोग प्रगतिशील विचार के होते हैं। कुछ लोग दक्षिणपंथी तो कुछ लोग वामपंथी होते हैं। अतएव, विभिन्न विचारों के कारण विभिन्न प्रकार के राजनीतिक दलों का निर्माण होता है। प्रारंभिक समय से लेकर आज तक राजनीतिक दलों के निर्माण में यह तत्त्व उत्तरदायी रहा है।

4. सामाजिक आधार (Social basis)—समाज में विभिन्न जातियों तथा संप्रदायों के लोग होते हैं जिनका विभिन्न सामाजिक दृष्टिकोण रहता है। ये लोग अपने-अपने वर्गहित तथा स्वार्थसिद्धि की दृष्टि से

WWW.GRADESETTER.COM

विभिन्न राजनीतिक दलों का निर्माण करते हैं। वर्तमान काल में भारत के अधिकांश राजनीतिक दलों का निर्माण इसी आधार पर हुआ है। लेकिन, ऐसे आधारों पर बने राजनीतिक दल अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह सकते।

5. **सांप्रदायिक आधार** (Communal basis)—कभी-कभी साम्प्रदायिक आधार पर भी राजनीतिक दलों का निर्माण होता है; जैसे—हिंदू-महासभा का संगठन, मुस्लिम लीग का संगठन। सांप्रदायिक आधार पर बने राजनीतिक दलों में, चूँकि संकीर्णता रहती है, इसलिए राष्ट्रीय स्तर पर इनका विकास नहीं हो पाता है।

राजनीतिक दलों के कार्य
(Functions of Political Parties)

आधुनिक युग में दल-पद्धति जनतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है। राजनीतिक दलों को जनतंत्र का प्राण कहा जाता है। **टी० बी० स्मिथ** के अनुसार, राजनीतिक दल जनतंत्र की रीढ़ हैं। जनता की समस्याओं को राजनीतिक रूप देना इनका प्रमुख काम है। जनता की समस्याओं के आधार पर ही ये राजनीतिक दल अपनी नीतियों को निर्धारित करते हैं। राजनीतिक दलों के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कार्य हैं—

1. **सार्वजनिक नीतियों के निर्माण में जनता का दिशा-निर्देश**—राजनीतिक दल जनता की समस्याओं को समझकर उसके सही समाधान का सुझाव जनता के समक्ष पेश करते हैं। **डॉ० आशीर्वादम** का कहना है कि निस्संदेह आधुनिक राज्यों की जटिल परिस्थितियों में समस्याओं तथा नीतियों को स्पष्ट करने में राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं।

2. **स्वस्थ जनमत का संगठन** (Forming of healthy public opinion)—चूँकि राजनीतिक दल सामान्य जनता को राजनीतिक समस्याओं से अवगत कराते हैं, इसलिए स्वस्थ जनमत का निर्माण होता रहता है।

3. **राजनीतिक शिक्षा-प्रचार** (Propaganda of political education)—साधारणतया जनता सार्वजनिक समस्याओं तथा राजनीतिक प्रश्नों के प्रति उदासीन रहती है। देश के राजनीतिक दल जनता की इस उदासीनता को दूर कर उनमें राजनीतिक शिक्षा एवं चेतना का प्रसार करते हैं।

4. **कुशल प्रशासन** (Efficient administration)—आज राजनीतिक दल ही वास्तविक सरकार हो गए हैं। राजनीतिक दल विधानमंडलों में अपने सदस्यों को भेजकर सरकार का निर्माण करते हैं। चूँकि सत्तारूढ़ दल का सरकार पर नियंत्रण रहता है, इसलिए प्रशासन की सारी जिम्मेवारी उसी दल पर होती है। देश को कुशल प्रशासन देने की जिम्मेवारी आज राजनीतिक दलों की है।

5. **सरकार और जनता के बीच एक कड़ी** (Link between government and public)—सरकार और जनता के बीच एक कड़ी का काम करना भी राजनीतिक दलों का एक प्रमुख काम है। विभिन्न राजनीतिक दलों के नेता और कार्यकर्ता जनता के बीच कार्य करते हैं। वे सरकार को जनता की परेशानियों को सूचित करते हैं और सरकार की समस्त कार्यवाहियों से जनता को अवगत कराते हैं।

6. **जनता के मनोबल को प्रोत्साहन** (Encouragement to public morale)—राजनीतिक दलों का एक अन्य प्रमुख कार्य है कि वे जनता के मनोबल को हमेशा ऊँचा बनाए रखते हैं। यदि सरकार से जनता असंतुष्ट है तो वे जनता के उत्साह को मरने नहीं देते और कहते हैं कि उनकी सरकार होने पर जनता का असंतोष समाप्त हो जाएगा। इससे सारा राष्ट्र जागता रहता है।

7. **निर्वाचन में भाग लेना** (Taking part in elections)—आज चुनाव प्रजातंत्र का सबसे बड़ा शस्त्र है और चुनाव लड़ना राजनीतिक दलों का सबसे प्रमुख काम है। इसके लिए वे जनता के सामने अपनी नीतियों को स्पष्ट करते हैं, मतदाताओं की सूची तैयार करवाते हैं और चुनावों में अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं।

8. **दलीय कार्य** (Party work)—अपने दल को लोकप्रिय बनाने के लिए राजनीतिक दल न केवल अपनी नीतियों तथा कार्यक्रमों को जनता के सामने पेश करते हैं, वरन दल का सदस्य बनाना, मतदाता-सूची तैयार करवाना तथा सार्वजनिक सभाओं और अधिवेशनों का भी आयोजन करना उनके काम हैं।

9. **सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्य** (Social and cultural work)—सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्य किसी भी देश तथा समाज की पहली आवश्यकता है। राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यों को सम्पन्न करते हैं। गरीबों की सहायता, छुआछूत-उन्मूलन, भूमि-वितरण तथा कुटीर-उद्योग

WWW.GRADESETTER.COM

के विकास-संबंधी कार्यों को भी वे सफल बनाना चाहते हैं। जिन देशों के राजनीतिक दलों ने ईमानदारी और निष्ठापूर्वक इस कार्य को निभाया है, उन देशों का सर्वांगीण विकास शीघ्र हुआ है।

10. सरकार की आलोचना (Criticism of government)—सरकार की आलोचना करना जनतंत्र की विशेषता है। जो राजनीतिक दल बहुमत में नहीं रहता, वह सत्तारूढ़ दल का विरोध करता है। विरोधी दल सत्तारूढ़ दल के कार्यों की आलोचना करके उसकी स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाता है। इंगलैंड में विरोधी दल काफी सक्रिय हैं और सरकार की आलोचना करके सरकार की गलतियों को जनता तक पहुँचाने की उसकी जिम्मेवारी है। ब्रिटिश संसद में 'छाया मंत्रिमंडल' (shadow cabinet) विरोधी दल ही बनाते हैं।

11. सरकार के विभिन्न अंगों में सामंजस्य लाना (Co-ordination among different organs of the government)—राजनीतिक दल केवल जनता और सरकार के बीच कड़ी का काम ही नहीं करते, वरन सरकार के विभिन्न अंगों, जैसे—व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के बीच सामंजस्य भी स्थापित करते हैं। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में जहाँ कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में शक्ति-विभाजन है, राजनीतिक दलों का काम वहाँ महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

12. सरकारी अधिकारियों का चुनाव (Selection of government officials)—सरकारी अधिकारियों के चयन में भी राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये प्रतियोगी व्यक्तियों को छाँटकर अनुकूल व्यक्तियों को सरकारी पदों पर निर्वाचित करने में सहायता प्रदान करते हैं। इससे योग्य व्यक्तियों का चयन होता है और सरकारी कार्यों में कार्यकुशलता की वृद्धि होती है।

13. सार्वजनिक सभाएँ और वार्षिक अधिवेशन (Public meetings and annual session)—राजनीतिक दल समय-समय पर सार्वजनिक सभाएँ और वार्षिक अधिवेशनों का आयोजन करते हैं। इन सभाओं और वार्षिक अधिवेशनों में वे अपने नीतियों तथा कार्यक्रमों से जनता को अवगत कराते हैं। इनके माध्यम से वे सरकार और जनता के बीच एक कड़ी का काम करते हैं।

14. अनुशासन की शिक्षा (Training of discipline)—राजनीतिक दलों का अनुशासनात्मक महत्त्व भी है। दल के सदस्यों पर अनुशासन होने से राष्ट्र का भी कल्याण होता है। यदि शासक दल अनुशासित हो जाता है तो सारा राष्ट्र अनुशासन के सूत्र में बँध जाता है।

निष्कर्ष—राजनीतिक दलों द्वारा संपादित उपर्युक्त कार्यों से यह स्पष्ट होता है कि किसी देश के निर्माण तथा विकास में राजनीतिक दलों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। इसी संदर्भ में **ब्राइस** ने कहा है कि राजनीतिक दल राष्ट्र के मस्तिष्क को ठीक उसी प्रकार क्रियाशील बनाए रखता है जिस प्रकार ज्वार-भाटा समुद्र के जल को ताजा रखता है। राजनीतिक दलों की अनुपस्थिति में हम लोकतंत्र की सफलता की उम्मीद नहीं कर सकते। इसी कारण से दलीय प्रथा को लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली का प्राण कहा गया है।

दल-पद्धति
(Party System)

दल-पद्धति लोकतंत्रात्मक शासनप्रणाली का प्राण है। यही कारण है कि लोकतंत्रात्मक शासन को दलीय शासन भी कहा जाता है। आमतौर से किसी भी देश में दल-पद्धतियों के तीन रूपों में से एक रूप मिलता है—एकदलीय पद्धति, द्विदलीय पद्धति और बहुदलीय पद्धति। निम्नांकित तालिका से हम इसे स्पष्ट कर सकते हैं—

दलीय पद्धति

(i) एकदलीय पद्धति (Single-party system)	(ii) द्विदलीय पद्धति (Bi-party system)	(iii) बहुदलीय पद्धति (Multi-party system)
एकदलीय पद्धति में एक ही राजनीतिक दल का अस्तित्व रहता है और उसी दल का नियंत्रण सरकार पर रहता है; जैसे—फासीवादी तथा साम्यवादी दल।	द्विदलीय पद्धति में दो दलों की प्रधानता रहती है। अमेरिका, ग्रेट-ब्रिटेन आदि में द्विदलीय प्रणाली है।	बहुदलीय पद्धति में अनेक राजनीति दल होते हैं; जैसे—फ्रांस, इटली, भारत इत्यादि देशों में।

WWW.GRADESETTER.COM

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि दल-पद्धति के जो तीन रूप होते हैं, उनका प्रयोग आज विश्व में हो रहा है। एकदलीय पद्धति इसलिए अच्छी नहीं है कि इसमें एक दल अधिनायक हो जाता है, समस्त नागरिक अधिकारों को समाप्त कर देता है। द्विदलीय पद्धति निश्चित रूप से अच्छी व्यवस्था है, क्योंकि इसमें जनता अपनी स्वेच्छा से किसी भी एक दल को अपना मतदान दे सकती है। लेकिन, इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष है कि शासन पर बहुमत दल का एकाधिकार हो जाता है तथा मंत्रिमंडल पर तानाशाही स्थापित हो जाती है और संसद की स्थिति कमजोर पड़ जाती है। इसमें निर्वाचकों को मतदान की स्वतंत्रता नहीं रह जाती; क्योंकि बाध्य होकर उन्हें दो में से किसी एक को मत देना ही पड़ता है। बहुदलीय पद्धति का जहाँ तक प्रश्न है, इसमें किसी एक दल की निरंकुशता स्थापित नहीं होती है। लेकिन, इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष है कि इसके अंतर्गत बनाई गई संयुक्त सरकार अत्यंत कमजोर तथा अस्थायी रहती है।

दलीय-पद्धति के गुण (Merits of Party System)

दलीय-पद्धति के निम्नलिखित गुण हैं—

1. राजनीतिक चेतना का विकास (Development of political consciousness)—दलीय-पद्धति के कारण ही जनता की राजनीतिक चेतना का विकास होता है। विभिन्न राजनीतिक दल जनता की राजनीतिक निद्रा भंग करते हैं और अपने व्याख्यानों तथा पत्र-पत्रिकाओं द्वारा जनता को राजनीतिक भोजन प्रदान करते हैं। वे जनता को राष्ट्रीय समस्याओं से परिचित कराकर उसकी राजनीतिक चेतना का विकास करते हैं।

2. सरकार का निर्माण (Formation of government)—राजनीतिक दल ही सरकार का निर्माण करते हैं। वे निर्वाचन में भाग लेकर प्रतिनिधि सरकार की भावना साकार करते हैं। जो दल चुनावों से बहुमत में आता है, वही सरकार बनाने का अधिकारी होता है।

3. लोक-कल्याणकारी कानूनों का निर्माण (Enactment of welfare laws)—दलीय-पद्धति में ही लोककल्याणकारी कानूनों का निर्माण हो सकता है। इसमें एक दल दूसरे दल की त्रुटियों को स्पष्ट करता है। विधानमंडलों में विरोधी दल सत्तारूढ़ दल की कानून-निर्माण प्रक्रिया को हमेशा ध्यान में रखता है। इससे श्रेष्ठ कानूनों का निर्माण होता है।

4. शासन के विभिन्न अंगों में सामंजस्य (Co-ordination among different organs of government)—दलीय-पद्धति के अंतर्गत ही शासन के विभिन्न अंगों, जैसे—कार्यपालिका तथा विधायिका में हम मधुर संबंध की उम्मीद कर सकते हैं। राजनीतिक दल ही व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के बीच सामंजस्य स्थापित कर एक कड़ी का काम करते हैं।

5. संघीय प्रणाली के अनुकूल (Congenial to federal system)—दलीय-पद्धति संघीय व्यवस्था के अनुकूल है। देश में एकता, संगठन, राष्ट्रीयता इत्यादि की भावना को बनाए रखने में राजनीतिक दलों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

6. राष्ट्रीय एकता (National unity)—दलीय-व्यवस्था में ही राष्ट्रीय एकता बनी रह सकती है। विभिन्न राजनीतिक दल स्थानीयता, जातीयता, सांप्रदायिकता तथा अन्य धार्मिक और क्षेत्रीय संकीर्णताओं को त्याग कर नागरिकों को राष्ट्रीय हित में सोचने के लिए उत्प्रेरित करते हैं।

7. विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता—दलीय-व्यवस्था में ही नागरिकों को विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्राप्त रहती है। जब-जब देश में तानाशाही की स्थिति उत्पन्न होती है तब-तब विभिन्न राजनीतिक दल विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए देश में वातावरण बनाने लगते हैं।

8. निर्वाचन की आदर्श तथा उचित व्यवस्था (Proper and ideal management of election)—दलीय-पद्धति के अंतर्गत ही निर्वाचन की आदर्श तथा उचित व्यवस्था संभव है। जिस देश में दल-पद्धति नहीं, वहाँ निर्वाचन की प्रणाली निश्चित रूप से त्रुटिपूर्ण होगी। जिस देश की निर्वाचन-प्रणाली त्रुटिपूर्ण होगी, वहाँ जनतंत्र कभी सफल नहीं हो सकता।

9. गैर-राजनीतिक सुधार (Non-political reforms)—दलीय-पद्धति का एक अन्य गुण है कि इसमें गैर-राजनीतिक क्षेत्रों—धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों—में भी महत्त्वपूर्ण सुधार होते रहते हैं। राजनीतिक दल ही धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियों को दूर कर सकते हैं।

WWW.GRADESETTER.COM

10. मनोबल को प्रोत्साहन (Boosting morale)—जब देश और समाज का मनोबल गिर जाता है तब विभिन्न राजनीतिक दल देश तथा समाज के मनोबल को ऊँचा उठाने का काम करते हैं।

11. स्वस्थ राष्ट्रीय तथा सामाजिक चेतना (Healthy national and social consciousness)—राजनीतिक दल ही देश के अंतर्गत प्रबुद्ध तथा स्वस्थ राष्ट्रीय तथा सामाजिक चेतना का विकास करते हैं। वे समस्त राष्ट्र को भ्रातृत्व के प्रेम से जकड़ देते हैं। **डॉ॰ फाइनर** के अनुसार, "राजनीतिक दल इस तरह काम करते हैं कि हर नागरिक को समस्त राष्ट्र का ज्ञान प्राप्त हो जाता है जो अन्य प्रकार से समय और प्रदेश की दूरी के कारण प्राप्त करना असंभव है।"

12. सरकार पर नियंत्रण (Control over government)—राजनीतिक दल केवल सरकार का संगठन ही नहीं करते, वरन सरकार पर नियंत्रण भी रखते हैं। सत्तारूढ़ दल की नीतियों की आलोचना करके विरोधी दल उसकी स्वेच्छाचारिता को समाप्त करते हैं और इस प्रकार सरकार नियंत्रित रहती है।

13. जनमत का दर्पण (Mirror of public opinion)—दलीय-व्यवस्था के कारण ही विचारों का आदान-प्रदान होता है। **मैकिवर** ने कहा है कि इस प्रणाली के बिना राज्य में न तो लोच होती है और न सच्चा आत्मनिश्चय ही। राजनीतिक दलों के कारण ही सरकार का संचालन जनमत के अनुसार होता है। यदि सरकार जनता की इच्छाओं के अनुसार नीतियों का निर्माण नहीं करती तो जनता अन्य दलों के माध्यम से उसे अपदस्थ कर सकती है। इसी संदर्भ में **लॉवेल** ने राजनीतिक दलों को 'विचारों का दलाल' (broker of ideas) कहा है, क्योंकि जनता की इच्छा को संगठित करने का यह एक साधन है।

14. अनुशासन को प्रोत्साहन (Encouragement to discipline)—दलीय व्यवस्था में ही अनुशासन तथा आज्ञाकारिता की भावना का हम दर्शन करते हैं। दल के सारे सदस्य अनुशासन की कड़ी में बँधे रहते हैं।

दलीय-पद्धति के दोष (Demerits of Party System)

दलीय-व्यवस्था के उपर्युक्त गुणों की विवेचना से यह स्पष्ट है कि किसी भी देश में राजनीतिक दलों का रहना आवश्यक है। फिर भी, दलीय व्यवस्था में निम्नलिखित दोष हैं—

1. अस्वाभाविक (Unnatural)—दलीय-व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष है कि इसका आधार ही अस्वाभाविक है। यह मानव-स्वरूप का परिणाम न होकर स्वयं में कृत्रिम है, क्योंकि मानव ने जातिगत और दलगत भावनाओं की तृप्ति के लिए राजनीतिक दलों का निर्माण किया है।

2. दूषित राजनीतिक वातावरण (Dirty political atmosphere)—दलीय-व्यवस्था से देश का राजनीतिक वातावरण अशांत, गंदा तथा घृणित हो जाता है। प्रत्येक दल एक-दूसरे की आलोचना करता है। इससे पाखंड, छल, प्रपंच इत्यादि का साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

3. राष्ट्रीय एकता का बाधक (Obstacle to national unity)—दलीय-पद्धति से राष्ट्रीय एकता की समाप्ति होती है, क्योंकि विभिन्न दल अपने-अपने स्वार्थ की बातें करते हैं और इस प्रकार जनमत को गुमराह करते हैं। **न्यूमेन** ने इसी आधार पर परंपरागत राजनीतिक दलों की आलोचना की है।

4. स्वार्थ-सिद्धि का साधन (Means of selfish-feeling)—दलीय-पद्धति स्वार्थ-सिद्धि को प्रोत्साहित करती है। राजनीतिक दलों के अंतर्गत कभी-कभी कुछ स्वार्थी नेताओं का गुट बन जाता है जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि में लगे रहते हैं। इससे देश का अहित होता है।

5. दलगत भावना को प्रोत्साहन (Encouragement to partisan politics)—राजनीतिक दल अपने दलीय हित की पूर्ति में ही लगे रहते हैं। दलीय स्वार्थ के आगे वे राष्ट्र को भूल जाते हैं।

6. नागरिकों का नैतिक पतन (Moral downfall of the citizens)—दलीय-पद्धति में देश के नागरिकों का नैतिक पतन होता है। सार्वजनिक जीवन में बेईमानी, भ्रष्टाचार तथा अवसरवाद का आगमन हो जाता है। मत-प्राप्ति के लिए विविध अनैतिक कार्य अपनाए जाते हैं।

7. अप्रजातांत्रिक संगठन (Undemocratic organisation)—दलीय-पद्धति के अंतर्गत अनेक राजनीतिक दलों का संगठन अप्रजातांत्रिक तरीके से होता है। कुछ मनचाहे लोगों का दल में बोलबाला हो जाता है और वे अपनी इच्छा से दल की नीतियों का संचालन करते हैं। इससे प्रजातंत्र की आत्मा को धक्का पहुँचता है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

8. सरकार के स्थायित्व पर खतरा (Danger on the state stability)—दलीय-व्यवस्था का एक अन्य दुर्गुण है कि इसमें कोई सरकार अपने स्थायित्व का दावा नहीं कर सकती। विरोधी राजनीतिक दल हमेशा सत्तारूढ़ दल की आलोचना करते हैं जिससे सरकार के विरुद्ध जनमत तैयार होता रहता है। सरकार भी इस डर से कोई निश्चित नीति नहीं लागू करती। उसे हमेशा परिवर्तन का भय बना रहता है।

9. वैयक्तिक स्वतंत्रता की समाप्ति (End of personal liberty)—दलीय-पद्धति में व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण हो जाता है। दल के सदस्य दल के नियंत्रण और आदेश के अनुसार काम करते हैं। दल में रहकर वे स्वविवेक का प्रयोग नहीं कर सकते हैं। **गिलबर्ट** के अनुसार, "मैंने सदैव अपने दल के अनुसार मतदान किया और स्वयं कभी कुछ नहीं सोचा।"

10. अयोग्यों का प्रशासन (Rule of incompetent persons)—दलीय-पद्धति में अयोग्य व्यक्ति प्रशासन के ऊँचे-ऊँचे पदों पर पहुँच जाते हैं एवं ईमानदार और योग्य व्यक्ति का सफाया हो जाता है।

11. धनीवर्ग का नियंत्रण (Control of the rich class)—दलीय-पद्धति तो वास्तव में धनिकों की व्यवस्था है। पैसे के बल पर राजनीतिक दलों का निर्माण होता है। चुनावों में भी पैसे की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि केवल धनीवर्ग ही चुनावों में प्रतिनिधियों को खड़ा करता है और पानी की तरह पैसा बहाकर चुनाव जीत जाता है।

12. अवसरवादियों का गढ़ (Palace of the opportunists)—दलीय-पद्धति अवसरवादियों का गढ़ है। समाज के अयोग्य तथा बेईमान नेता हमेशा अवसर की ताक में रहते हैं और हमेशा किसी-न-किसी राजनीतिक दल से अपना संबंध बनाए रखते हैं। इन अवसरवादियों से प्रशासन को हमेशा खतरा रहता है, क्योंकि ये अपने दलों को बदलकर राजनीतिक स्वार्थसिद्धि करते रहते हैं।

13. समाज का अनेक गुटों में विभाजन (Several divisions of the society)—दलीय-व्यवस्था समाज को विभिन्न गुटों में बाँट देती है जिससे समाज में वैर-भावना, ईर्ष्या, द्वेष तथा आतंक का साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

14. यंत्रवत विरोध (Instrumental opposition)—**गिलक्राइस्ट** का कहना है कि दलीय-पद्धति किसी देश के राजनीतिक जीवन को यंत्रवत बना देती है। विरोधी दल का एकमात्र उद्देश्य सत्तारूढ़ दल का विरोध करना होता है। वे शासक दल के हर कदम का अंधाधुँध विरोध करते हैं, भले ही वह कदम गलत हो या सही।

दलीय-पद्धति के दोषों को दूर करने के उपाय (Methods to Root out the Maladies of the Party System)

दलीय-पद्धति के दोषों का उन्मूलन दलों को समाप्त करके नहीं किया जा सकता। इस पद्धति से उत्पन्न बुराइयों को समाप्त करके ही दलीय-प्रथा के दोषों पर काबू पाया जा सकता है। इसके दोषों को दूर करने के लिए निम्नलिखित तथ्यों पर जोर दिया गया है—

1. आर्थिक तथा राजनीतिक सिद्धांतों पर दलों का संगठन—राजनीतिक दलों का संगठन आर्थिक तथा राजनीतिक सिद्धांतों के आधार पर होना चाहिए।

2. शिक्षा की व्यवस्था—यदि जनता शिक्षित है तो उसे कोई भी राजनीतिक दल गुमराह नहीं कर सकता। दलीय पद्धति के दोषों को दूर करने के लिए शिक्षा की समुचित व्यवस्था आवश्यक है।

3. गरीबी का उन्मूलन—जब तक जनता गरीब रहेगी तब तक दलीय पद्धति के दोष भी मौजूद रहेंगे। जनता की गरीबी का उन्मूलन आवश्यक है। गरीब जनता का मत खरीदा जाता है, धनी का नहीं।

4. दलों का बृहत दृष्टिकोण—आज राजनीतिक दलों के विचार अत्यधिक संकीर्ण हो गए हैं। परिणामस्वरूप, विभिन्न राजनीतिक दलों को भी अपने-अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना होगा।

5. संकुचित आधार पर संगठित दलों की समाप्ति—सरकार को संकुचित आधारों पर संगठित दलों (जैसे—सांप्रदायिकता, प्रादेशिकता, जातीयता आदि के आधार पर संगठित) को अवैधानिक घोषित कर देना चाहिए।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

6. सत्तारूढ़ दल की नेकनीयती—सत्तारूढ़ दल को विरोधी दलों के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए। उसे विरोधी दल के अच्छे सुझावों को ध्यान में रखना चाहिए तथा उन्हें भी प्रचार आदि कामों के लिए समान सुविधा देनी चाहिए।

7. सिजविक का विचार—दल-पद्धति के दोषों को दूर करने के लिए सिजविक ने कुछ व्यावहारिक साधनों का जिक्र किया है। उसके अनुसार अध्यक्षात्मक शासन-पद दलबंदी के अनुसार नहीं होना चाहिए। उसने यह सुझाव दिया है कि संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत निर्माण की जिम्मेवारी कार्यपालिका के अलावा धारासभा की अन्य समितियों को दी जानी चाहिए। विभागीय अध्यक्षों की बहाली दलबंदी के अनुसार न हो तथा विधायिका के अविश्वास-प्रस्ताव के बाद मंत्रिमंडल को त्याग-पत्र दे देना चाहिए।

निष्कर्ष (Conclusion)—दलीय पद्धति से संबद्ध विभिन्न उपर्युक्त पहलुओं के विश्लेषण से यह जानकारी मिलती है कि आज के जनतांत्रिक युग में राजनीतिक दलों का रहना अतिआवश्यक है। विशेष तौर पर गणतंत्र की सफलता राजनीतिक दलों की सफल कार्यप्रणाली तथा महत्त्व पर ही निर्भर करती है। अब प्रश्न है राजनीतिक दलों के उद्देश्यों का। जहाँ तक उनके उद्देश्यों का प्रश्न है, राजनीतिक दलों के दृष्टिकोण में राष्ट्रीय हित तथा लोक-कल्याण की भावना सन्निहित होनी चाहिए। यदि दलीय पद्धति संकीर्णताओं का शिकार हो गई हो तो उसका उन्मूलन होना चाहिए। आज की दलीय पद्धति में इतनी दुर्गंध आ गई है कि स्वर्गीय जयप्रकाश नारायण ने दलविहीन लोकतंत्र का नारा दिया था। लेकिन, दलविहीन लोकतंत्र भी विभिन्न गुटों और समुदायों से अप्रभावित रहेगा—इसकी गारंटी नहीं दी जा सकती।

प्रश्नावली

1. राजनीतिक दल की परिभाषा दें। इसकी कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं ?
   (Define Political Party. What are its characteristics ?)
2. जनतांत्रिक राज्यों में राजनीतिक दलों की भूमिका स्पष्ट करें। क्या यह कहना न्यायसंगत है कि "दल-पद्धति जनतंत्र का प्राण है" ?
   (Discuss the role of political parties in democratic States. Is it reasonable to say that "party system is the life-blood of democracy" ?)
3. राजनीतिक दलों के गुण-दोषों की विवेचना करें।
   (Explain the merits and demerits of political parties.)
4. राजनीतिक दलों के निर्माण के कौन-से आधार हैं ? दल-पद्धति के दोषों को कैसे दूर किया जा सकता है ?
   (What are the bases of the organization of political parties ? How can the evils of party system be removed ?)
5. एकदलीय, द्विदलीय तथा बहुदलीय पद्धति में भेद स्पष्ट करें। इनमें कौन-सी सबसे अच्छी पद्धति है ?
   (Differentiate the single-party system, bi-party system and multi-party system. Which of the systems is the best ?)
6. दल-पद्धति के गुण-दोषों को स्पष्ट कीजिए।
   (Point out the merits and demerits of the party system.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 21

दबाव-समूह
[PRESSURE GROUPS]

दबाव-समूह एक संगठित समूह है जो सरकारी निर्णयों के संदर्भ को सरकार में अपने प्रतिनिधियों को स्थापित किए बिना भी, प्रभावित करना चाहता है।—एच० जेगलर

विषय-प्रवेश (Introduction)

आज की 20वीं शताब्दी का सामाजिक जीवन विभिन्न जटिलताओं से युक्त है। विश्व के प्रायः प्रत्येक देश में समान हितवाले व्यक्ति अपने को समूहों में संगठित करके अपने विभिन्न हितों एवं स्वार्थों की रक्षा करने का प्रयास करते हैं। साधारण भाषा में इन्हें दबाव-समूह या हित-समूह कहा जाता है। दबाव-समूह आधुनिक लोकतंत्र के अभिन्न अंग हैं। आज के लोकतंत्रीय देशों में विभिन्न राजनीतिक दलों के विकास के साथ-साथ दबाव-समूहों या हित-समूहों का भी विकास हुआ है। प्रायः विश्व के सभी विकसित तथा अविकसित देशों में दबाव-समूह राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। अमेरिका, इंगलैंड तथा भारत-जैसे देशों में इनकी भूमिका पहले की अपेक्षा काफी बढ़ गई है। 19वीं सदी तक अमेरिका को छोड़कर अन्य यूरोपीय देशों में ऐसे कार्यकलाप पर राजनीतिशास्त्र के विद्वानों का या तो ध्यान ही नहीं था या उन्हें उपहास की दृष्टि से देखा जाता था। **फ्रेडरिक** का विचार है, "उन्हें ऐसी शैतानी शक्ति माना जाता था जो आधुनिक लोकतंत्र और प्रतिनिधि शासन की जड़ों को धीरे-धीरे काट रही हो।" 'लॉबी' शब्द का अर्थ दोष, भ्रष्टाचार, धोखाधड़ी आदि के समूह से समझा जाता था।"[1] इसके साथ ही, ऐसे कार्यकलाप संगठित भी नहीं थे। लेकिन, इस काल में भी व्यक्ति सरकार एवं राजनीतिक पद्धतियों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया समूह के माध्यम से ही व्यक्त करता था, क्योंकि मनुष्य की यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह भी सही है कि मानव की संगठित प्रतिक्रिया को अभिव्यक्त करने में राजनीतिक दलों का उदय पहले हुआ, लेकिन दबाव-गुटों के अस्तित्व को हम नजरअंदाज नहीं कर सकते। इस संबंध में **डी० बी० ट्रूमैन** ने ठीक कहा है, "कोई भी समाज चाहे वह कितना ही पुरातनवादी क्यों न हो, विभिन्न विशिष्ट एवं परस्पर व्याप्त समूहों की पच्चीकारी (mosaic) है। इन्हीं समूहों के माध्यम से व्यक्ति समाज के अस्तित्व का अनुभव करता है और इसी तरीके से समूह का अध्ययन और मनन होना चाहिए।"[2] यही कारण था कि शनैः-शनैः दबाव-समूहों को सामाजिक मान्यता मिलने लगी और आज इन्हें आवश्यक बुराई न मानकर स्वस्थ संस्था एवं राजनीतिक जीवन का एक अंग माना जाता है। **वरनी** नामक एक विद्वान का कहना है कि आज से दो वर्ष पूर्व संयुक्त राज्य अमेरिका में दबाव-समूहों को आवश्यक नहीं समझा जाता था,[3] लेकिन आज प्रायः हर अमेरिकी विधायक किसी-न-किसी हितविशेष का अधिकृत प्रवक्ता तथा उसका प्रतिनिधित्व करता है। आज दबाव-समूहों द्वारा विधानमंडलों को अपने हित में प्रभावित करने का हरसंभव प्रयास किया जाता है।

दबाव-समूहों का बढ़ता महत्त्व—**प्रो० फाइनर** ने इन दबाव-समूहों को 'अज्ञात साम्राज्य'[4] की संज्ञा दी है। ऐसे समूहों का तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में महत्त्व गत वर्षों में बहुत बढ़ गया है, क्योंकि अब

1. "They were held upto scorn both by the muckrakers and by same students of politics. They were the sinisters forces gnawing at the foundations of modern democracy, of representative government and the word 'Lobby' supposedly comprehended a whole congeries of abuses, corruption, fraud and like."
—CARL J FRIEDRICH : *Constitutional Government and Democracy*. p. 460
2. DAVID B. TRUMAN: *The Governmental Process* (New York : Alfred K. Knopf, 1955), p. 43-44
3. VERNY : Cited in M. G. GUPTA: *Modern Government: Theory and Practice*, 1966, p. 206
4. "Pressure groups are anonymous empire."—HERMAN FINER

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

राजनीतिशास्त्र मनोविज्ञान और समाजशास्त्र-जैसे विषयों के अधिकाधिक निकट आता जा रहा है। आज राजनीति का एक नया अर्थ दिया जा रहा है जिसके अनुसार यह वह प्रक्रिया है जिनके माध्यम से सामाजिक मूल्य अधिकाधिक रूप में स्थापित किए जाते हैं।[1] आज के अध्ययन में राजनीति केवल राज्य तथा शासन का विज्ञान नहीं है, वरन इसमें निर्णयकारी प्रक्रिया का भी विशेष महत्त्व है। चूँकि निर्णय अधिकांशतः समूह-संघर्षों के परिणाम होते हैं, इसलिए राजनीतिशास्त्र के आधुनिक अध्ययन का क्षेत्र उन तमाम समूहों तक व्याप्त हो गया है जो निर्णयकारी प्रक्रिया में अपनी भूमिका निभाते हैं।[2]

इसके साथ ही, राजनीति का आधुनिक अध्ययन एक राजनीतिक मानव के चारों ओर केंद्रित होता जा रहा है जिसके अंतर्गत व्यक्ति को किसी 'पृथक इकाई' के रूप में न मानकर 'समूहजनित प्राणी' के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार, आज के परिवर्तित संदर्भ में समस्या 'व्यक्ति बनाम राज्य' के स्थान पर 'समूह बनाम राज्य' की हो गई है। अतएव, यह स्पष्ट है कि जब व्यक्ति अपने हितों के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए समूहों में संगठित होकर दबाव की नीति अपनाते हैं तब समाज में इसे हम 'सक्रिय लोगों के समूह' की संज्ञा देते हैं। आज समाज के विभिन्न स्तरों पर जो निर्णय लिए जाते हैं, वे बड़े पैमाने पर विभिन्न समूहों तथा हितों के बीच निरंतर संघर्ष का ही परिणाम होते हैं। इस दृष्टि से किसी भी राजनीतिक समाज में दबाव एवं हित-समूहों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। यही कारण है कि आज पाश्चात्य तथा गैर-पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं में दबाव एवं हित-समूहों के अध्ययन का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इनकी उपयोगिता इस दृष्टि से भी बढ़ गई है कि वे राजनीतिक दलों की तरह सत्ता को प्राप्त करना नहीं चाहते, वरन सत्तारूढ़ दल की नीतियों को अपने पक्ष में प्रभावित करना चाहते हैं। प्रत्येक देश में दबाव एवं हित-समूहों के महत्त्व में वृद्धि के लिए पृथक तत्त्व उत्तरदायी हैं। फिर भी, कुछ सामान्य तत्त्व ऐसे हैं जो प्रत्येक देश में सक्रिय हैं। अमेरिका, ग्रेटब्रिटेन, कनाडा एवं आस्ट्रेलिया में प्रायः प्रत्येक दबाव एवं हित-समूह राजनीतिक दलों को प्रभावित करते हैं। **फ्रांस**-जैसे देश में, चूँकि बहुदलीय पद्धति है, इसलिए विभिन्न दबाव-समूह अपने को विभिन्न राजनीतिक दलों से संबद्ध कर लेते हैं। अतएव, फ्रांस में विभिन्न दल विभिन्न हित-समूहों से अभिन्न रूप से संबद्ध हैं। फ्रांस के राजनीतिक दलों के द्वारा इन वर्गीय एवं विशिष्ट हितों को सामान्य राष्ट्रीय हितों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। **संयुक्त राज्य अमेरिका** में दबाव-समूहों के विकास के लिए मुख्य रूप से देश का विशाल आकार, राजनीतिक दलों का अस्पष्ट कार्यक्रम एवं संसदीय शासन-व्यवस्था का अभाव उत्तरदायी है। इसके अलावा, शक्ति-पृथक्करण के सिद्धांतों पर आधारित अध्यक्षात्मक व्यवस्था के अंतर्गत विधि-निर्माण का दायित्व कार्यपालिका के हाथों में न होकर काँगरेसजनों के हाथों में केंद्रित है। परिणामस्वरूप, संयुक्त राज्य अमेरिका में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं कि समान व्यवसाय या उद्योगों से संबद्ध व्यक्ति अपने हितों के रक्षार्थ एक समूह में संगठित होने लगे तथा अपने स्वार्थों के अनुकूल विधियों के निर्माण, विरोधी विधियों के निर्माण को रोकने तथा विधायकों को प्रभावित करने के प्रयास करने लगे। **ग्रेटब्रिटेन** में 19वीं सदी के सुधार-आंदोलनों के परिणामस्वरूप दबाव-समूहों का विकास हुआ है। **बेन्थम, मिल** एवं **कॉब्डन** ऐसे हित-समूहों से काफी संबद्ध थे। इसके साथ ही, लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा के विकास तथा आर्थिक जीवन में राज्य के बढ़ते हुए हस्तक्षेप के कारण दबाव-समूहों की गतिविधियों में असाधारण वृद्धि हुई है। साथ-ही-साथ आज राज्य बड़े पैमाने पर कर्मचारियों को नियुक्त करता है तथा शासन जीवन से संबंधित विभिन्न पहलुओं से भी संबद्ध हो गया है। परिणामस्वरूप, व्यक्ति शासन पर अधिकाधिक निर्भर होने लगे हैं और उनमें यह धारणा घर करती जा रही है कि प्रशासन पर दबाव डालकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति राज्य के विपरीत प्रभाव एवं हस्तक्षेप से अपने हितों की रक्षा के लिए हरसंभव प्रयास करता है। ब्रिटेन में राजनीतिक दलों के माध्यम से विभिन्न दबाव-समूह अपने पक्ष में संबंधित विधान को प्रभावित करने में सफल होते हैं, क्योंकि इन राजनीतिक दलों में विभिन्न हित-समूह होते हैं। इस प्रकार, आज विश्व के प्रायः सभी देशों में दबाव तथा हित-समूहों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है।

दबाव एवं हित-समूहों का विकास
(Evolution of Pressure and Interest Groups)

राजनीति में दबाव एवं हित-गुट अमेरिकी राजनीतिक व्यवस्था की देन हैं। वैसे तो अमेरिकी गणतंत्र की स्थापना के साथ ही ये पैदा हो गए थे, लेकिन इनकी स्पष्ट भूमिका 20वीं शताब्दी में दिखने लगी। 1788 ई०

1. See J. C. JOHARI : *Comparative Politics*, p. 1
2. *Ibid*, p. 58

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

में अमेरिका में संघात्मक पत्रों के आधार पर इसके लेखकों ने दबाव के गुट की स्वीकृति चाही थी और 1846 ई० में ब्रिटिश एंटीकोर्न लॉ (Anticorn Law) ने इस संबंध में अपूर्व सफलता प्राप्त की थी।[1] दबाव-समूहों के संबंध में विश्वविख्यात राजनीतिज्ञ **चर्चिल** ने एक बार ब्रिटिश लोकसभा में कहा था, "हमसे यह आशा नहीं की जाती कि हम सब एक शालीन सभा के ऐसे सदस्य हैं जिनका अपना कोई विशिष्ट हित नहीं है, यह हास्यास्पद है। यह केवल स्वर्ग में ही संभव हो सकता है, यहाँ नहीं।" अर्थात, दबाव-समूहों का उदय कोई अस्वाभाविक घटना नहीं है। इसके बाद दबाव-गुटों के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाने लगा। इस सिलसिले में हम 1908 ई० में प्रकाशित **आर्थर बेंटले** की पुस्तक **दि प्रोसेस ऑफ गवर्नमेंट** (The Process of Government) को ले सकते हैं जिसमें दबाव एवं हित-समूहों पर सर्वप्रथम क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। फिर भी, 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक इसका अध्ययन अमेरिकी क्षितिज तक ही सीमित रहा। 1928 ई० में अमेरिका में **पीटर ऑडगार्ड** (Peter Odegard) ने अमेरिकी नशाबंदी-आंदोलन पर एक आधिकारिक अध्ययन प्रस्तुत किया।[2] जहाँ तक ब्रिटेन का प्रश्न है, दबाव एवं हित-समूहों पर 1850 ई० के आसपास से रुचि ली जाने लगी। भारत में इनका विकास स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से हुआ। आज के राजनीतिक क्षेत्र तथा नीति-निर्धारण-प्रक्रिया में इनका प्रभाव दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है।

दबाव-समूह से संबद्ध शब्दावली

दबाव-गुट के अध्ययन के सिलसिले में सर्वप्रथम समस्या इससे संबंधित शब्दावली को लेकर है। इसके लिए हित-गुट (Interest group), प्रकोष्ठ या प्रतीक्षाकक्ष (The Lobby) या राजनीतिक गुट (Political group) जैसे विभिन्न शब्दों का प्रयोग होता है। कुछ विद्वानों ने 'दबाव गुट' शब्द पर इसलिए आपत्ति प्रकट की है कि इससे निर्णय-निर्माण-पद्धति को प्रभावित करनेवाले तरीकों का बोध अधिक होता है। **एस० इ० फाइनर** (S E Finer) ने इन विभिन्न शब्दों से उत्पन्न झंझट से बचने के लिए 'प्रकोष्ठ' (Lobby) शब्द का प्रयोग किया है, हालाँकि उनका कहना था कि इसके लिए सबसे लोकप्रिय शब्द 'दबाव-गुट' या 'हित-गुट' है। अतः, यह स्पष्ट है कि कुछ लोग दबाव-गुट का प्रयोग या तो करते ही नहीं या करते हैं तो यदा-कदा।[3] **एलेन पॉटर** ने दबाव-गुट-संबंधी अपने अध्ययन में 'संगठित गुट' (Organised group) जैसे शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि यह दबाव के अर्थ की अपेक्षा विभिन्न संगठनों के व्यापक क्षेत्र का बोध कराता है।[4] दबाव-गुट से संबद्ध दूसरी समस्या यह है कि इस शब्द का प्रयोग निरपेक्ष भाव से ज्यादा अपशब्द रूप में होता है। अमेरिकी राजनीतिशास्त्री **प्रो० वी० ओ० की** (V. O. Key) ने इस शब्द के विषय में लिखा है कि इससे एक ऐसा चित्र स्पष्ट होता है जिसमें ईमानदार विधायक दुष्ट प्रकोष्ठकों द्वारा जनकल्याण-संबंधी कार्यों में गलत रास्तों को अपनाने के लिए बाध्य किया जा रहा है।[5] दबाव-गुट के कार्यों के संबंध में भी ऐसा विचार प्रकट किया जा रहा है और विशेषकर ब्रिटेन में इस गुट के संबंध में यही कहा गया है कि इसके द्वारा प्रतिनिध्यात्मक सरकार को गुप्त षड्यंत्र द्वारा उलटने का प्रयास किया जाता है।[6] इसी प्रकार, प्रकोष्ठ शब्द को भी दबाव-गुट, जैसे शब्दों की तरह अनादरपूर्ण अर्थों में प्रयोग किया जाता है, क्योंकि इस शब्द से ऐसा बोध होता है कि प्रकोष्ठकों के शिकार मुख्य रूप से विधायक लोग होते हैं।[7]

उपर्युक्त समस्याओं का समाधान तभी संभव है जब दबाव-समूह शब्दों का व्यापक सामूहिक शीर्षक के तौर पर इस्तेमाल किया जाए, लेकिन यह भी ध्यान रखा जाय कि इन शब्दों को किन्हीं बाध्यकारी तत्त्वों या मूल्यात्मक निर्णयों के साथ न जोड़ा जाए, क्योंकि इससे मूल्यांकन-निर्णय (value judgement) का दोष लग सकता है। इसीलिए **डॉ० बाल** के विचार में यह उचित होगा कि दबाव-समूहों को दो श्रेणियों में विभाजित

---

1. *The Federalist Papers* (New American Library ed. New York, 1961), pp. 77-84
2. See P. ODEGARD : *Pressure Politics :* The Story of the Antisaloon League (New York : Columbia University Press, 1928), p. 117
3. S. E. FINER, "Interest Group and the Political Process in Great Britain" in *Interest Groups on Four Continents,* ed., H. W. HERMANN (Pilts Burgh, U.P. 1964), p. 117
4. A. POTTER : *Organized Groups in British National Politics* (London, Pall Mill, 1961), p. 15
5. V. O. KEY : *Politics, Parties and Pressure Groups,* 5th edition (New York : Thomas Y. Gowell, 1964), p. 132
6. W. J. M. MACKENZIE : '*Pressure Groups* : The Conceptual Framework', *Political Studies* (1955), p. 249
7. See WOOTON : *Interest Groups* (Euglewood Cliffs, N.J. Prentic Hall, 1970), pp. 15-19

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

किया जाए—(1) हित-समूह और (2) दृष्टिकोण-गुट। इस प्रकार, दबाव-गुटों की परिभाषा एक ऐसे गुट के रूप में की जा सकती है जिसके सदस्यों के दृष्टिकोण आपसी साझेदारी पर आधारित होते हैं। हित-समूह के संदर्भ में दबाव-गुट की परिभाषा एक ऐसे गुट के रूप में की जा सकती है जिसके सदस्यों की साझेदारी पर आधारित दृष्टिकोण की उत्पत्ति उसके सामान्य उद्देश्यों से होती है, अर्थात वे सभी एक ही व्यवसाय से संबद्ध रहते हैं। दूसरा संवर्ग दृष्टिकोण-गुट कहलाता है। दृष्टिकोण-गुट के सदस्यों के मूल्य-संबंधी विचार एकसमान होते हैं। उदाहरण के लिए, वे सभी पशुओं के प्रति की गई बेरहमी से घृणा करते हैं या परमाणु-अस्त्रों के प्रयोग पर प्रतिबंध लगाना चाहते हैं। **डॉ० आलन आर० बाल** ने हित-समूहों और दृष्टिकोण या अभिवृत्ति-समूहों के बीच इस भेद में कुछ व्यापक नियम निकाले हैं। उन्होंने लिखा है—"आमतौर से नियोक्ता संघ और ट्रेड यूनियन जैसे हित-समूहों के, सरकारों को प्रभावित करने की अपेक्षा, कुछ अन्य प्राथमिक उद्देश्य हैं और कभी-कभी 'लॉबीबाजी' उनकी कुल गतिविधियों का अपेक्षाकृत छोटा भाग होता है। दूसरी तरफ अभिवृत्ति-समूहों के निर्माण का प्राथमिक उद्देश्य सरकारी निर्णयों को प्रभावित करना है। इसके अलावा, हित-समूह जब अपनी पूरी ताकत लगाते हैं तब उसमें राजनीतिक रूप से अधिक शक्तिशाली होने की प्रवृत्ति होती है। आमतौर पर अभिवृत्ति-समूहों के राजनीतिक उद्देश्य अधिक सीमित और हित-समूहों की अपेक्षा अधिक बारीकी से परिभाषित होते हैं।"

हित एवं दबाव-समूह का अर्थ, परिभाषा तथा प्रकृति (Meaning, Definition and Nature of the Interest and Pressure Groups)

हित-समूह तथा दबाव-समूह के संबंध में दी गई परिभाषाओं को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

मायरन वीनर (Myron Weiner)—"दबाव-समूह से तात्पर्य ऐच्छिक रूप से संगठित ऐसे समुदाय से है जो प्रशासकीय ढाँचे से बाहर रहकर शासकीय अधिकारियों के निर्वाचन, मनोनयन तथा सार्वजनिक नीति के निर्माण एवं क्रियान्वयन को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है।"[1]

कार्टर एवं हर्ज (Carter & Herz)—"एक स्वतंत्र समाज के हित-समूहों को स्वतंत्र रूप से संगठित होने की अनुमति होती है और जब ये समूह सरकारी यंत्र या प्रक्रिया पर प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं और इस प्रकार कानूनों, नियमों, लाइसेंसों, करारोपण (taxation) तथा अन्य विधायी और प्रशासकीय कार्यों को अपने अनुकूल ढालने की चेष्टा करते हैं, तो स्पष्टतः ये हित दबाव-समूहों में बदल जाते हैं। अब इन हित-समूहों की गतिविधियाँ सरकार पर दबाव डालने की हो जाती हैं।"[2]

ऑडिगार्ड (Odegard)—"एक दबाव-समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिनके एक सामान्य उद्देश्य एवं स्वार्थ हों और जो घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करें कि उनके हितों की रक्षा और वृद्धि हो सके।"

एम० जी० गुप्ता (M G Gupta)—"दबाव या हित-समूह एक ऐसा माध्यम है जिससे सामान्य उद्देश्यवाले व्यक्तियों द्वारा सार्वजनिक मामलों की कार्यविधि को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है। इस दृष्टि से हर सामाजिक समूह जो औपचारिक रूप से शासन पर नियंत्रण करने की कोशिश किए बिना ही प्रशासकीय एवं विधायी दोनों प्रकार के राजनीतिक पदाधिकारियों के आचरण को प्रभावित करने का प्रयास करता है, वह दबाव-समूह या हित-समूह कहलाता है।"[3]

वी० ओ० की (V O Key)—"हित-समूह ऐसे असार्वजनिक संगठन हैं जिनका निर्माण सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने के लिए किया जाता है। ये प्रत्याशियों के चयन तथा सरकार के व्यवस्थापन के उत्तरदायित्व की अपेक्षा सरकार को प्रभावित करने का प्रयत्न करके अपने हित-साधन में लगे रहते हैं।"

---

1. "By interest or pressure group we mean any voluntary organized group, outside of the governmental structure which attempts to influence the nomination or appointment of governmental personnel, the adoption of public policy, its administration or its adjudication."—MYRON WEINER
2. CARTER & HERZ : *Government and Politics in the Twentieth Century*, pp. 167-68
3. "Pressure groups may, therefore, be defined as a medium through which people with common interests may endeavour to affect the course of public affairs. In this sense, any social group which seeks to influence the behaviour of political officers, both administrative and legislative, without attempting to gain formal control of government, would be a pressure groups."
—M. G. GUPTA : *Modern Governments: Theory and Practice* (1967), pp. 204-5

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

एच॰ जेगलर (H. Zeigler)—"यह एक संगठित समूह है जो सरकारी निर्णयों के संदर्भ को, सरकार में अपने प्रतिनिधियों को स्थापित किए बिना भी, प्रभावित करना चाहता है।"[1]

उपर्युक्त अधिकांश परिभाषाओं में 'संगठन' शब्द पर विशेष बल दिया गया है। इससे ये परिभाषाएँ सीमित हो गई हैं, क्योंकि इन परिभाषाओं द्वारा हम उन्हीं समूहों को हित-समूह स्वीकार करेंगे जिनका कोई औपचारिक संगठन हो और जिनके सदस्य नियमों से बँधे हों तथा जिनमें सहयोग अपेक्षाकृत स्थायी रूप में पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि इन परिभाषाओं के अंतर्गत वे समूह नहीं आते जिनमें स्थायी संगठन का अभाव है, लेकिन वे हित-स्पष्टीकरण का कार्य करते हैं। सच पूछा जाए तो यह मान्यता सही नहीं है। आधुनिक राजनीतिशास्त्र केवल औपचारिक रूप से संगठित हित-समूहों का अध्ययन ही पर्याप्त नहीं मानता। समूह-सिद्धांत के हिमायती **आर्थर बेंटले** ने ऐसा विचार दिया है। उन्होंने हित की परिभाषा संगठन के आधार पर न करके क्रिया के आधार पर की है। ऐसे लोगों की परिभाषाओं को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

आर्थर बेंटले (Arther Bentley)—"समूह समाज के लोगों का एक भाग है जिसे किसी ऐसे भौतिक पुंज के रूप में नहीं जो कि व्यक्तियों के अन्य पुंजों से पृथक हो, वरन सामूहिक क्रिया के रूप में माना गया है, जो सहभागी व्यक्तियों पर इसी प्रकार की अन्य सामूहिक क्रियाओं में भाग लेने पर कोई रुकावट उत्पन्न नहीं करता।"[2]

स्टीफेन एल॰ वास्बी (Stephen L. Wasby)—"वर्तमान समाजशास्त्रियों की भाषा में समान व्यक्तियों के एकत्रीकरण से कोई भी व्यवस्थित अंतःक्रिया एक समूह का निर्माण करेगी और क्रिया-हित की ओर संकेत करेगी। इस आधार पर यद्यपि औपचारिक रूप से संगठित अनेक हित-समूह हैं, तथापि हम अनेक और भी जोड़ सकते हैं तथा राजनीतिक प्रक्रिया में और उसपर उसके प्रभाव की पूर्ण जानकारी के लिए उनका भी अध्ययन आवश्यक है।"[3]

आमंड एवं पावेल (Almond & Powell)—"हित-समूह से हमारा अभिप्राय व्यक्तियों के उस समूह से है जो आपस में कार्य-व्यापार तथा लाभ के बंधनों से जुड़े हैं और जिन्हें इन बंधनों की जानकारी भी रहती है। हित-समूह संगठित भी हो सकते हैं, अर्थात समूह के सदस्य उन कार्यों को करते हैं जो हित-समूह में रहकर उन्हें करने चाहिए, या यह भी हो सकता है कि व्यक्तियों में हित-समूह की चेतना सामयिक और विरामी हो।"

फ्रांसिस कैसिल्स—"दबाव-समूह से तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो शासकीय कार्यकलाप या उनके बिना ही राजनीतिक परिवर्तन लाने का प्रयास करते हैं। ऐसे दबाव-समूहों को विधानमंडल में राजनीतिक दल के रूप में कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता।"

इन सभी परिभाषाओं के सम्यक विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि हित-समूह की आधुनिक और पुरानी परिभाषाओं के अंतर्गत विभिन्न तत्त्वों का समावेश किया गया है। जहाँ हित-समूह की आधुनिक परिभाषाओं के अंतर्गत उनका संगठित होना कोई आवश्यक नहीं है, वहाँ पुरानी परिभाषाओं में उनका संगठित होना आवश्यक बताया गया है। इस दृष्टि से हित-समूह की बहुत ही स्पष्ट और तुलनात्मक रूप से अधिक पूर्ण परिभाषा **आमंड** और **पावेल** ने की है। अतः, संक्षेप में हम कह सकते हैं कि "हित एवं दबाव-समूह उन व्यक्तियों का एक ऐसा संगठित या सामयिक समूह है जो पारस्परिक कार्य-व्यापार तथा लाभ के बंधनों से जुड़े हैं और जिन्हें इन बंधनों की जानकारी भी रहती है। ये हमेशा उन कार्यों को करते हैं जो हित-समूह में रहने के नाते उन्हें करने चाहिए।"

दबाव-समूह की प्रकृति (Nature of the Pressure Groups)

हित या दबाव-समूह का रूप ऐच्छिक और गैर-राजनीतिक होता है। इनका संबंध किसी भी राजनीतिक दल से नहीं होता और न वे किसी राजनीतिक दल के अंग होते हैं। इनकी सदस्यता का आधार इनके सदस्यों के मध्य समान हित की चेतना है। यह बात सही है कि इनका संबंध किसी भी राजनीतिक दल से नहीं होता, लेकिन अपने हितों को देखते हुए ये किसी-न-किसी राजनीतिक दल से अपना संबंध स्थापित

1. H. ZEIGLER : *Interest Groups in American Society*, p. 30
4. See ARTHUR BENTLEY : *The Process of Government*, p. 212
3. See STEPHEN L. WASBY : *Political Science— The Discipline and its Dimensions*, p. 365

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

कर ही लेते हैं। दबाव-समूहों के संगठन का मौलिक कारण सामाजिक, आर्थिक तथा व्यावसायिक होता है। अतएव, इनके संगठन का आधार राजनीतिक न होते हुए भी अंततोगत्वा राजनीति को प्रभावित करने लगते हैं। ये राजनीतिक दल नहीं होते, लेकिन राजनीतिक दलों की तरह संगठित अवश्य होते हैं जिनकी निजी सदस्यता, उद्देश्य, संगठन, एकता, प्रतिष्ठा और साधन होते हैं। **जे० सी० जौहरी** का कहना है कि दबाव-समूह का अध्ययन स्वहित की मनोवैज्ञानिक आधारशिला (the psychological foundation of self interest) पर आधारित है। वास्तव में, स्वहित ही वह मुख्य कारक है जो समान विचारों और हितों वाले व्यक्तियों को संगठित होने के लिए बाध्य करता है, ताकि वे व्यक्ति अपने विशिष्ट हित की पूर्ति और संरक्षण की दिशा में अपनी स्थिति सुदृढ़ बना सकें।[1]

दबाव-समूह तथा राजनीतिक दल
(Pressure Groups and Political Parties)

हमने दबाव-समूहों की परिभाषा-संबंधी समस्याओं पर विचार किया। परिभाषा एवं वर्गीकरण की समस्या के साथ-साथ दबाव-समूहों को राजनीतिक दल से स्पष्ट रूप से विलग करने की समस्या भी जुड़ी हुई है। फ्रांस तथा अमेरिका जैसे देशों में अन्य उदारवादी गणतंत्रों की तुलना में राजनीतिक दलों और दबाव-समूहों में अंतर करना आसान इसलिए है कि इन देशों में दबाव-समूह राजनीतिक दलों के साथ बहुत घनिष्ठता पसंद नहीं करते, जबकि ब्रिटेन में कुछ श्रमिक-संघों का मजदूर दल के साथ बहुत गहरा संबंध है। जहाँ तक अर्द्धविकसित तथा विकासशील देशों का प्रश्न है, वहाँ दलीय पद्धति की कमजोरी के कारण राजनीतिक दल एवं दबाव-समूहों में स्पष्ट अंतर करना और भी मुश्किल है। **प्रो० न्यूमेन** ने इन दोनों में अंतर करने के लिए यह सुझाव दिया है कि मौलिक रूप से दबाव-समूह के द्वारा उन समरूप हितों का प्रतिनिधित्व होता है, जिनका उद्देश्य अभाव पैदा करना है। दबाव-समूह तब और भी प्रभावशाली तथा शक्तिशाली होता है, जब उसके समक्ष स्पष्ट उद्देश्य रहते हैं। राजनीतिक दल, उनके विपरीत, सरकार पर नियंत्रण करने तथा निर्णय-पद्धति पर नियंत्रण करने के लिए समरूपी हितों को अपने-आप में समाहित करते हैं। वस्तुतः, राजनीतिक दलों के मुख्य उद्देश्यों में एक यह है कि विषम-रूपी हितों में किस प्रकार सामंजस्य पैदा किया जाए। इसके कार्य सबके लिए समान होते हैं, लेकिन हितों के साथ ऐसी बात नहीं। इस प्रकार, राजनीतिक दलों तथा दबाव-समूहों में निम्नलिखित दृष्टि से अंतर किया जा सकता है—

(i) राजनीतिक दलों में सभी व्यक्ति राजनीतिक उद्देश्य से शामिल होते हैं, जबकि दबाव-गुटों के सदस्यों का कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं होता।

(ii) राजनीतिक दलों का उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना तथा उसके माध्यम से अपनी नीतियों तथा कार्यक्रमों को लागू करना होता है, लेकिन दबाव-समूह का उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना नहीं, वरन अपने हितों की रक्षा करना होता है।

(iii) राजनीतिक दलों को सभी वर्गों के मतदाताओं का व्यापक समर्थन प्राप्त रहता है, जबकि दबाव-समूहों को केवल एक ही वर्ग का समर्थन प्राप्त रहता है।

(iv) राजनीतिक दल निर्वाचन में भाग लेते हैं, जबकि दबाव-समूह निर्वाचन में भाग नहीं लेते। अतः, उनका कोई चुनाव-क्षेत्र नहीं होता, वरन वे दूर-दूर तक फैले लगभग समान हित के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(v) राजनीतिक दल विधानमंडल के अंदर और बाहर दोनों जगह कार्य करते हैं, लेकिन दबाव-समूह केवल विधानमंडल के बाहर ही कार्य करते हैं।

(vi) एक व्यक्ति एक समय सिर्फ एक ही राजनीतिक दल का सदस्य हो सकता है, लेकिन जहाँ तक दबाव-समूहों का प्रश्न है, एक समय एक व्यक्ति अनेक दबाव-समूहों का सदस्य हो सकता है, अर्थात दबाव-समूहों की सदस्यता परस्परव्यापी है। यही कारण है कि राजनीतिक दल की तुलना में एक दबाव-समूह किसी प्रश्न पर अपने सभी सदस्यों का पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं कर पाता।

इसके साथ ही, राजनीतिक दलों का निर्माण अनेक समूहों के मिलने से होता है। दबाव-समूह उसके सहयोगी संगठन के रूप में कार्य करते हैं। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वे प्रायः राजनीतिक दलों के

1. J. C. JOHARI : *Comparative Politics*, p. 58

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

माध्यम से शासन एवं विधायकों पर दबाव डालने को सचेष्ट रहते हैं। दोनों में एक बड़ा अंतर यह है कि जहाँ राजनीतिक दलों का सर्वोपरि उद्देश्य सरकार पर कब्जा करना होता है, वहाँ दबाव-समूह केवल अपने हितों के संरक्षण के लिए सरकार और विधायन-कार्य को प्रभावित करते हैं।

अनेक विद्वानों का विचार है कि राजनीतिक दलों की तुलना में दबाव एवं हित-समूह आवश्यक रूप से हानिकारक हैं, क्योंकि वे सार्वजनिक हितों की अपेक्षा छोटे और निजी हितों की वकालत करते हैं। लेकिन, इस विचार को हम पूर्णतः सत्य नहीं मान सकते। यह तो बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि दबाव-समूह शासन को कहाँ तक प्रभावित कर सकते हैं और उनका आंतरिक संगठन कितना सुदृढ़ है तथा समाज के प्रति उत्तरदायित्व की जनतांत्रिक भावना उनमें कितनी सशक्त है। प्रतिनिधि शासन का यह मूल सिद्धांत है कि शक्ति और उत्तरदायित्व दोनों ही सहवर्ती होने चाहिए, क्योंकि दोनों की पृथकता लोकतंत्र के लिए घातक है। यदि शासन सचमुच समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझता है तो वह दबाव-समूह से इस रूप में प्रभावित होने से बचा रहेगा कि सार्वजनिक हितों को ठेस पहुँचे। ठीक इसी तरह एक स्वस्थ लोकतंत्र के दबाव-समूह सार्वजनिक हितों के पूर्ण बलिदान की कीमत पर निजी हितों का संरक्षण नहीं चाहेंगे। इसके अलावा, जिस राज्य में ऐच्छिक संघ या समूह बनाने की छूट है, वहाँ एक-दो के स्थान पर सैकड़ों-हजारों दबाव-समूह पनपेंगे। ये दबाव-समूह एक-दूसरे की निरंकुश इच्छाओं पर रोक और संतुलन का काम करेंगे।

दोनों में संबंध—यह बात सही है कि राजनीतिक दलों और दबाव-समूहों के आधारभूत रूप में अंतर है, फिर भी ये एक-दूसरे के विरोधी नहीं, वरन सहयोगी हैं। प्रायः सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में दोनों में सहयोग और अंतर का यह रूप विद्यमान है। इसकी स्पष्ट जानकारी के लिए इनका संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है—

एंग्लो-अमेरिकी ढंग की राजनीतिक व्यवस्था (The Anglo-American type of political system)—एंग्लो-अमेरिकी ढंग की राजनीतिक व्यवस्था में दबाव या हित-समूह समाज की राजनीतिक माँगों को स्पष्ट और संयुक्त करते हैं। इसके लिए सौदेबाजी द्वारा या तार्किक ढंग से अन्य समूहों का इन माँगों के लिए समर्थन प्राप्त करते हैं और राजनीतिक सेवा में लगे व्यक्तियों तथा सार्वजनिक नीति-निर्माण और क्रियान्वयन की विभिन्न प्रक्रियाओं को प्रभावित करके इन माँगों को अधिकाधिक सार्वजनिक नीति में बदलने का प्रयास करते हैं। राजनीतिक दलों की यह चेष्टा रहती है कि वैचारिक तथा सैद्धांतिक कठोरता में समुचित लचीलापन रखते हुए वे सामुदायिक भावना से कार्य करें और अधिकाधिक हित-समूहों को एक विशाल और संयुक्त रूप देने का प्रयास करें। दल-व्यवस्था विभिन्न हितों को संयुक्त करके उन्हें सामान्य नीतियों की अपेक्षाकृत एक छोटी संख्या में बदल देती है। इस प्रकार, दल व्यवस्था तथा हित-समूह-व्यवस्था मिलकर व्यवस्थापिका में प्रस्तुत होनेवाली आम नीतियों में छाँट और चयन को संभव बनाती हैं और यह निश्चित करती हैं कि नौकरशाही राजनीतिक अभिकरणों के एक तटस्थ साधन के रूप में कार्य करेगी।

गैरपाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाएँ (Nonwestern political systems)—गैरपाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं में हम एशिया, मध्यपूर्व और लातीनी अमेरिका की राजनीतिक व्यवस्थाओं को शामिल कर सकते हैं। इन देशों में न तो राजनीतिक दलों और न हित-समूहों में ही पूरा अंतर किया जाता है। समाज के उन शहरी क्षेत्रों में, जिनका बहुत-कुछ पश्चिमीकरण हो चुका है, ट्रेड-यूनियन तथा व्यावसायिक संघ जैसे संघीय या समुदायात्मक हित-समूह पाए जाते हैं। लेकिन, जहाँ तक गाँव और देहाती क्षेत्रों का प्रश्न है, वहाँ हित-संगठनों का स्वरूप बहुत-कुछ जाति-वर्ग तथा धार्मिक समूहों आदि का है। ऐसी राजनीतिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक दलों का कोई सुदृढ़ संगठन नहीं पाया जाता तथा अनेक दल तो मुख्यतः चुनाव-अवधि में ही अस्तित्व में रहते हैं। चुनाव के बाद वे निष्प्रभावी हो जाते हैं। एशिया और मध्यपूर्व की अनेक राजनीतिक व्यवस्थाओं में महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समूह न तो दलों का रूप ही होते हैं और न ही वे संघीय या सामुदायिक हित-समूह होते हैं। जहाँ तक भारत-जैसे विकासशील देश का प्रश्न है, यहाँ निश्चित प्रकार की दलीय व्यवस्था के लक्षण उभर रहे हैं।

फ्रांसीसी-इटालियन 'क्राइसिस व्यवस्था' (The French-Italian crisis system)—इस व्यवस्था में दल और हित-समूह संगठित हैं, किंतु वे स्वायत्त व्यवस्थाओं के रूप में नहीं हैं। कुछ ऐसे राजनीतिक दल हैं जो हित-समूहों को न्यूनाधिक नियंत्रित करते हैं। इनके साथ ही, कुछ ऐसे हित-समूह भी हैं जो दूसरे हित-समूह तथा दलों को थोड़ा-बहुत नियंत्रित करते हैं। जब राजनीतिक दल हित-समूहों को नियंत्रित करते हैं तब वे हित-समूहों की ऐसी क्षमता पर अंकुश का काम करते हैं जिसके बल पर वे अनुचित माँगों का

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

निर्माण करते हैं। दूसरी तरफ, जब हित-समूह दलों का नियंत्रण करते हैं तब वे उनकी उस क्षमता पर रोक लगाते हैं जिसके द्वारा वे विशिष्ट हितों में कार्यक्रमों के रूप में संयुक्त करके सार्वजनिक रूप देने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार, राजनीतिक दलों और हित-समूहों के माध्यम से व्यवस्थापन-प्रक्रिया तक जो भी सामग्री पहुँचती है, वह बिल्कुल कच्ची और अपरिपक्व होती है।

इस संदर्भ में यह कहा जाता है कि जब दबाव-समूह अत्यधिक संगठित तथा प्रभावशाली रूप में समाज में व्याप्त रहते हैं तब राजनीतिक दल उनके प्रभाव और संगठन की तुलना में कमजोर पड़ जाते हैं। जहाँ राजनीतिक दल विशेष रूप से सबल एवं संगठित होते हैं वहाँ दबाव-समूह पिछड़ जाते हैं। इस संबंध में **हरमन फाइनर** ने कहा है, "जहाँ सिद्धांत और संगठन में राजनीतिक दल कमजोर होंगे वहाँ दबाव-समूह पनपेंगे, जहाँ राजनीतिक दल शक्तिशाली होंगे, वहाँ दबाव-समूह दबा दिए जाएँगे।" लेकिन, फाइनर के इस कथन का यदि हम विश्लेषण करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि यह कथन आंशिक रूप से ही सत्य है। इसका कारण यह है कि ब्रिटेन में संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना में राजनीतिक दल सिद्धांत और संगठन में बहुत अधिक शक्तिशाली हैं, लेकिन ब्रिटेन में दबाव-समूह अमेरिकी तुलना में अधिक प्रभावहीन नहीं है। अमेरिका में दलीय ढाँचों की कमजोरी, अनुशासन की कमी तथा विभिन्न दलों के बीच वैचारिक विभेदों के कारण अमेरिकी विधायक दबाव-समूह का शिकार आसानी से बन जाते हैं। विशेषकर, यदि वह दबाव-समूह संबंधित विधायकों के निर्वाचन-क्षेत्र से संबद्ध हो तो स्थानीय प्रभाव के कारण अमेरिकी विधायक दबाव-समूह के प्रभाव में जल्द आ जाते हैं। चूँकि, ब्रिटेन में संसदीय शासन-व्यवस्था है और यहाँ स्थानीय दबाव का अभाव रहता है, इसलिए अमेरिका की तुलना में दबाव-समूहों की कम चलती है। फिर भी, ब्रिटिश दबाव-समूहों के पास व्यवस्थापन को प्रभावित करने के अन्य सबल साधन प्राप्त हैं। ये राजनीतिक दलों को आतंरिक दृष्टि से अत्यधिक प्रभावित करते हैं और जब वह दल सत्तारूढ़ होता है तब मंत्रिगण पहले से परिचित व्यवस्थापन का ही श्रीगणेश करते हैं।

इस प्रकार, संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उदारवादी जनतंत्रों में दबाव-समूहों द्वारा उद्देश्यों की प्राप्ति के अपनाए गए तरीके निम्नलिखित आधार पर बदलते रहते हैं—

1. राजनीतिक संस्थात्मक ढाँचा,
2. दलीय पद्धति की प्रकृति तथा
3. राजनीतिक संस्कृति।

जहाँ तक संस्थात्मक ढाँचे का प्रश्न है, यह दबाव-समूहों के कार्यों को निश्चित रूप से प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में एकात्मक व्यवस्था के कारण शक्ति कार्यपालिका के हाथों में केंद्रित है। अतः, दबाव-समूह अपने प्रयासों को तब सफल बनाते हैं जब सामान्य सभा विधायकों को प्रभावित करने से ज्यादा मंत्रियों तथा लोकसेवकों को प्रभावित कर पाते हैं। अमेरिका में द्विसदनात्मक केंद्रीय विधायिका है जिसमें प्रतिनिधि-सभा तथा सीनेट दोनों हैं। राजनीतिक महत्त्व के खयाल से ये दोनों बराबर हैं। यहाँ शक्ति-पृथक्करण के सिद्धांत के कारण दबाव-समूह प्रशासन तथा विधायिका दोनों को प्रभावित करने के लिए एक-दूसरे के विभागों को उलझाकर काम निकालने का प्रयास करते हैं। चूँकि अमेरिकी संसद में शक्तिशाली समिति-प्रणाली है इसलिए समितियों के अध्यक्ष दबाव-समूहों के लिए दबाव डालने में उपयोगी सिद्ध होते हैं। दबाव-समूहों की राजनीति में उनके कार्यकलाप को प्रभावित करनेवाला तत्त्व, परिवर्ती राजनीतिक दलों से उनका संबंध और इस संबंध का राजनीतिक दलों पर प्रभाव है। ब्रिटिश एवं अमेरिकी दबाव-समूहों का राजनीतिक दल से बहुत दूर का संबंध रहता है। एक अन्य परिवर्ती राजनीति संस्कृति है। अमेरिका में यूरोपीय उदारवादी जनतंत्रों की अपेक्षा दबाव-समूहों के प्रति सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण का परिचय किया जाता है।

दबाव एवं हित-समूहों का वर्गीकरण
(Classification of Pressure and Interest Groups)

दबाव एवं हित-समूहों के छोटे-बड़े, स्थायी-अस्थायी अनेक प्रकार निम्नलिखित हैं—

कार्ल फ्रेड्रिक का वर्गीकरण

कार्ल फ्रेड्रिक ने दबाव एवं हित-समूहों को अग्रलिखित दो प्रकार से विभाजित किया है—

WWW.GRADESETTER.COM

हित-समूह

1. सामान्य हित-समूह
2. विशिष्ट हित-समूह

सामान्य हितों को ही आधार मानकर चलनेवाले समूह प्रथम श्रेणी में आते हैं और विशिष्ट हितों की पूर्ति के लिए अपना कार्य-संचालन करनेवाले समूह दूसरी श्रेणी में लिए गए हैं।

आमंड का वर्गीकरण

प्रख्यात अमेरिकी विद्वान **आमंड** ने विभिन्न समूहों का एक विश्वव्यापी संवर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जिसके आधार पर विश्व के विभिन्न देशों में अवस्थित समूहों—विशेषकर हित-समूहों और दबावक गुटों—का तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है। **आमंड** द्वारा संवर्गीकृत विभिन्न समूहों के निम्नलिखित चार रूप होते हैं—

आमंड का वर्गीकरण

1. संयोजित हित-समूह (Associational Interest Groups)
2. असंयोजित हित-समूह (Non-associational Interest Groups)
3. संस्थागत हित-समूह (Institutional Interest Groups)
4. प्रदर्शनात्मक या उद्दंड हित-समूह (Anomic Interest Groups)

1. संयोजित हित-समूह (Associational Interest Groups)—ये हित-समूह विशेष लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए औपचारिक रूप में संगठित होते हैं और स्पष्ट नीतियों एवं कार्यक्रमों का प्रदर्शन करते हैं। आधुनिक राजनीतिशास्त्र में हित-समूहों से संबंधित अधिकांश अध्ययन इन्हीं संयोजित हित-समूहों से संबद्ध हैं। **पीटर ऑडिगार्ड** (Peter Odegard) का 'एंटी सैलून लीग' (Anti-saloon League) संबंधी अध्ययन इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

2. असंयोजित हित-समूह (Nonassociational Interest Groups)—असंयोजित हित-समूह उन हित-समूहों को कहते हैं जो औपचारिक रूप से संगठित नहीं होते तथा जो अपने हितों के संपादन के लिए विभिन्न माध्यमों के जरिए अप्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं। ये हित-समूह वर्ग, रक्त-संबंध, धर्म या मेल-मिलाप या संचार के किसी अन्य परंपरागत धरातल पर आधारित होते हैं। इस प्रकार, पैतृक-समूह, जाति-समूह, धार्मिक-समूह, वंश-समूह, रक्त-संबंधी समूह आदि को अंसयोजित या असाहचर्य हित-समूह कहा जाता है।

3. संस्थागत हित-समूह (Institutional Interest Groups)—संस्थागत समूह की श्रेणी में **आमंड** ने उन समुदायों की गणना की है जो किसी राजनीतिक दल या अन्य संगठनों के अंतर्गत समूह के रूप में कार्य करते हैं। ऐसे समूह विधायिकाओं, लोक-प्रशासकीय संगठनों, सेनाओं तथा व्यापारिक एवं सरकारी निगमों में अवस्थित हैं। ये संयोजित हित-समूहों से भी ज्यादा सुदृढ़ एवं संगठित रहते हैं। ये अपने हितों के साथ-साथ उन संस्थाओं के हितों को भी व्यक्त करते हैं, जिनमें ये अवस्थित रहते हैं।

4. प्रदर्शनात्मक या उद्दंड हित-समूह (Anomic Interest Groups)—ऐसे हित-समूह मूलतः असंगठित एवं अस्थायी होते हैं तथा आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार इनका संगठन अस्थायी रूप से हो जाता है। ऐसे हित-समूहों के अस्तित्व एवं कार्यों की उपस्थिति, मनुष्य में भावना तथा विश्वास के रूप में होती है, जो आवश्यकता एवं परिस्थितिवश संगठित रूप में व्यक्त हो जाते हैं। ऐसे हित-समूह का आशय उन प्रभावकारियों से है जो समाज में उत्पन्न होकर राजनीतिक व्यवस्था में अनायास प्रवेश करने में सफल हुए हैं। यह प्रवेश उद्दंड या आकस्मिक चामत्कारिक व्यवहार से होता है, अर्थात ये उद्दंड-समूह प्रदर्शनों, आंदोलनों, जुलूसों, दंगों आदि के रूप में प्रकट होकर अचानक अपने प्रभाव का विस्तार कर लेते हैं।

सदस्यता और साधन की दृष्टि से दबाव-समूहों का वर्गीकरण

दबाव-समूहों को आर्थिक तथा अन्य प्रकार के विभिन्न समूहों में भी विभाजित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, भारत में ट्रेड यूनियन काँगरेस, चैम्बर ऑफ कॉमर्स, किसान-सभा आदि आर्थिक हित-समूहों

WWW.GRADESETTER.COM

के उदाहरण हैं। लेकिन, शिक्षकों, डॉक्टरों, वकीलों तथा छात्रों आदि के संघ आर्थिक नहीं है। इसीलिए **प्रो० जिंक, पैनीमेन** तथा **हैथोर्न** ने अपने अध्ययन में लिखा है, "दबाव-समूहों का वर्गीकरण करने के अनेक तरीके होते हैं। उन्हें सरकार के क्षेत्र या उसकी शाखा के आधार पर, जिसपर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं, विभाजित किया जा सकता है या उन्हें स्थानीय, राज्यीय और राष्ट्रीय सरकार के स्तरों पर, जहाँ ये क्रियाशील होते हैं, वर्गीकृत किया जा सकता है। लेकिन, संभवतः सर्वाधिक संतोषजनक वर्गीकरण तो वही है, जो दबाव-समूहों की सदस्यता तथा उनके कार्यक्रम आदि भी सामान्य प्रकृति के आधार पर किया जाए।"[1] अतएव, सदस्यता और साधन की दृष्टि से दबाव-समूहों का वर्गीकरण निम्नलिखित है[2]—

1. प्रथम श्रेणी में वे समूह आते हैं जिनकी सदस्य-संख्या तो कम है, लेकिन जिनके पास कर्मचारियों को नियुक्त करने और जनसंपर्क स्थापित करने के लिए प्रचुर धन हैं।

2. दूसरी श्रेणी में वे हित-समूह आते हैं जिनके पास सदस्य-संख्या तो अधिक है, लेकिन धन कम हैं। ऐसे हित-समूहों में अमेरिका के नीग्रो हित-समूहों को लिया जा सकता है।

3. तीसरी श्रेणी में वे हित-समूह हैं जिनके पास धन और सदस्य-संख्या दोनों की कमी है।

4. चौथी श्रेणी में वे हित-समूह हैं जिनके पास धन तथा सदस्य-संख्या दोनों ही सीमित हैं, लेकिन वे अपनी प्रतिष्ठा और महत्त्वपूर्ण कार्य-पद्धति द्वारा नीति-निर्माण-प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, हम परमाणु ऊर्जा संघ को ले सकते हैं।

ब्लौंडल का वर्गीकरण[3]

जीन ब्लौंडल (Jean Blondel) ने दबाव-समूहों का वर्गीकरण उनके निर्माण के प्रेरक तत्त्वों के आधार पर किया है। उनके वर्गीकरण को हम निम्नलिखित तालिका द्वारा समझ सकते हैं—

जीन ब्लौंडल का वर्गीकरण

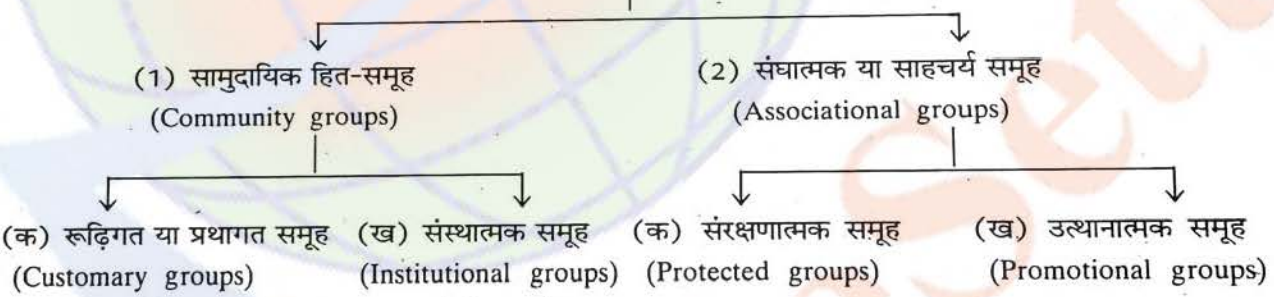

1. सामुदायिक हित-समूह (Community groups)—ऐसे समूहों का निर्माण सामाजिक संबंधों के कारण होता है। साथ-साथ रहने से सामाजिक संबंध, सामान्य दृष्टिकोण और एक-दूसरे के प्रति लगाव उत्पन्न होता है। इससे सामुदायिक एकता की भावना का विकास होता है। इस सामुदायिक एकता के कारण कालान्तर में लोग ऐसे समूहों के बंधनों में बँध जाते हैं और एक-दूसरे के सुख-दुःख में हाथ बँटाते हैं। ऐसे समूहों में हम जातियों, प्रजातियों तथा पड़ोस आदि को ले सकते हैं। भारत जातिगत समूहों की दृष्टि से विश्व में प्रमुख स्थान रखता है।

(क) रूढ़िगत या प्रथागत समूह (Customary groups)—जिन समूहों के सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार में तथा उनकी अर्थप्रणाली में सामाजिक रीति-रिवाजों की प्रधानता होती है, उन्हें हम प्रथागत या रूढ़िगत समूह के नाम से पुकारते हैं। जातियों तथा प्रजातियों के सामुदायिक समूहों को उसमें रखा जा सकता है। किसी भी समाज की प्रारंभिक स्थिति में ऐसे समूहों की प्रधानता होती है, लेकिन जैसे-जैसे समाज का विकास होता जाता है, ऐसे समूहों का महत्त्व घटता जाता है। अन्य पश्चिमी देशों की तुलना में भारत में प्रथागत समूहों की संख्या अधिक होती है और वे काफी सक्रिय भी हैं।

---

1. See JINK, PENNIMAN & HATHORN : *American Government and Politics*, p. 99
2. See ADRIAN R. CHARLES : *The American Politics Process*, pp. 228-29
3. See JEAN BLONDEL : *An Introduction to Comparative Government*, Chapter 5, 6

WWW.GRADESETTER.COM

(ख) संस्थात्मक समूह (Institutional groups)—कुछ संस्थाओं के सदस्य प्रायः साथ-साथ रहते हैं। बाद में उन सदस्यों में रागात्मक संबंध भी विकसित हो जाते हैं। ऐसे समूह अपने सदस्यों के सामान्य हितों की सिद्धि के लिए काफी प्रयत्नशील रहते हैं। यही कारण है कि **ब्लौंडल** ने इन्हें 'संस्थात्मक समूह' के नाम से पुकारा है। ऐसे समूहों में सैनिक कल्याण परिषदें, कर्मचारी-संरक्षण परिषदें तथा वृद्धजन कल्याण समिति आदि शामिल हैं।

2. संघात्मक साहचर्य समूह (Associational groups)—ऐसे समूहों की स्थापना विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की जाती है। **ब्लौंडल** का कहना है कि ऐसे समूहों का एक न्यूनाधिक निश्चित लक्ष्य है जिसके माध्यम से सामाजिक माँगों का प्रवेश राजनीतिक व्यवस्था में होता है। ऐसे समूह अपनी माँगों के साथ चलते हैं और औद्योगिक विकास के साथ-साथ इनकी संख्या तेजी से बढ़ती जाती है। ऐसे समूह भी दो प्रकार के होते हैं—

(क) संरक्षणात्मक समूह (Protective groups)—ऐसे समूहों का लक्ष्य विशिष्ट होते हुए भी प्रायः व्यापक और सामान्य होता है। ये समूह अपने सदस्यों के सामान्य हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। व्यावसायिक संगठनों, श्रमिक संघों, व्यापार-संघों आदि को संरक्षणात्मक समूहों की श्रेणी में गिना जाता है। ये श्रमिकों के लिए सेवा-शर्तों की सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। **जीन ब्लौंडल** ने कहा है कि ऐसे समूह राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी श्रमिक हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

(ख) उत्थानात्मक समूह (Promotional groups)—ऐसे समूहों का निर्माण किसी विशेष विचार या दृष्टिकोण के प्रचार और उस दृष्टि से समाज को उन्नत बनाने के लिए होता है। उदाहरण के लिए, गो-रक्षण, नारी-स्वतंत्रता, निःशस्त्रीकरण तथा सार्वभौमिक मताधिकार आदि को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। संरक्षणात्मक संघों की अपेक्षा कहीं अधिक विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए ऐसे समूहों का निर्माण किया जाता है।

हितों-समूहों के वर्गीकरण-संबंधी जब उपर्युक्त तथ्यों का हम विश्लेषण करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि हित-समूहों के संघटन के पीछे कोई एक कारण नहीं है, वरन विभिन्न तत्त्वों तथा परिस्थितियों के संयोग से इनका निर्माण किया जाता है। अतएव, दबाव-समूहों का कोई सुनिश्चित तथा वैज्ञानिक वर्गीकरण हमारे लिए संभव नहीं है, क्योंकि सभी लोगों के हितों में सामंजस्य न होकर अनेक विभिन्नताएँ हैं।

दबाव-समूहों के साधन और तरीके
(Means and Methods of Pressure Groups)

दबाव-समूहों द्वारा अपनाए जानेवाले साधनों को हम निम्नलिखित रूपों में रख सकते हैं—

1. संगठन-निर्माण (Organisation)—विश्व के अधिकांश दबाव-समूह संगठित होते हैं, हालाँकि विश्व के विभिन्न देशों में असंगठित दबाव-समूहों के भी उदाहरण मिल सकते हैं। दबाव-समूह अपना संगठन बनाकर अपने प्रभाव में वृद्धि करते हैं। संगठन के अंतर्गत अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्यों का विभाजन, नेताओं का चयन तथा नीति-निर्माण-शक्ति का विनियोजन शामिल है।

2. प्रकोष्ठ-क्रिया (Lobbying)—दबाव-समूहों के कार्य करने का सबसे सुपरिचित तरीका 'लॉबिईंग' है। अमेरिका में यह काफी लोकप्रिय होता जा रहा है। वहाँ प्रत्येक व्यवस्थापिका-सदन के साथ लगे हुए कमरे के बरामदे को लॉबी या प्रकोष्ठ कहा जाता है। वहाँ विधायक अवकाश के समय आकर बैठते हैं और वहाँ दबाव-समूहों के प्रतिनिधि उनसे अपना संपर्क स्थापित करते हैं। अधिकांश दबाव-समूह अपने वैधानिक प्रतिनिधियों द्वारा लॉबिईंग का काम करते हैं।[1]

3. सामूहिक प्रचार (Mass propaganda)—विभिन्न दबाव-समूह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सामूहिक प्रचार करते हैं तथा हठ के लिए विभिन्न तरीकों को अपनाते हैं।

1. वर्तमानकाल में लॉबिईंग की पद्धति में नया विकास हुआ है जिसे 'ग्रासरूट्स लॉबिईंग' (Grass Roots Lobbying) कहते हैं। इसका अभिप्राय है कि लॉबी विधायिका के सदस्यों को प्रभावित करने के लिए उनके विधानसभा क्षेत्र के मतदाताओं से तार, पत्र या टेलीफोन आदि कराते हैं। अमेरिका में लॉबिईंग के बढ़ते हुए प्रभाव को दूर करने के लिए अनेक कानून बनाए गए हैं। भारत में भी उद्योगपतियों तथा व्यवसायियों के दबाव-समूह इन तरीकों को अपनाने का प्रयास करते हैं।

WWW.GRADESETTER.COM

4. पत्र-पत्रिकाएँ (Papers and magazines)—दबाव-समूह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक तथा दैनिक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करते रहते हैं। इन पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा वे अपने हितों को जनता के सामने रखकर अपने पक्ष में जनमत का निर्माण करते हैं और सरकार को अपने हितों के अनुकूल नीतियाँ बनाने के लिए बाध्य करते हैं।

5. जनता के साथ सीधा संपर्क (Direct contact with the public)—दबाव-समूहों के कार्य करने का दूसरा तरीका जनता के साथ सीधा संपर्क स्थापित करना है और किसी भी विधायन के समर्थन या विरोध के लिए जनता को प्रेरित करना है। इसके लिए वे अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन अभियान चलाते हैं।

6. राजनीतिक दलों के अंदर क्रियाशील रहना (Working inside political parties)—आधुनिक समय में दबाव-समूहों का एक अन्य साधन राजनीतिक दलों में शामिल होकर हित-साधन करना भी है। उदाहरण के लिए, जनतांत्रिक व्यवस्था में अवस्थित लगभग हर समाजवादी दल के साथ श्रमिक-संगठनों का गठबंधन रहता है।

7. चुनाव में भाग लेना (Electioneering)—यह बात सही है कि दबाव-समूहों का चुनाव से कोई मतलब नहीं होता है, लेकिन सच पूछा जाए तो वे परोक्ष रूप में चुनाव में भाग लेते हैं। उनका कोई उम्मीदवार चुनाव में खड़ा नहीं होता, लेकिन ये विभिन्न राजनीतिक दलों के उम्मीदवारों को अपना समर्थन देते हैं। ये दबाव-समूह इन दलों के चुनाव में धन, बल तथा कानून-शक्ति की मदद करते हैं और बदले में विधायिका में इन दलों के माध्यम से अपने हितों का संपादन करवाते हैं। भारत में अखिल भारतीय श्रमिक संघ (AITUC) समाजवादी दलों से तथा भारतीय राष्ट्रीय श्रमिक संघ (INTUC) काँगरेस पार्टी से संबद्ध हैं। इसी तरह, भारतीय मजदूर संघ भारतीय जनता पार्टी से संबद्ध है।

8. हड़ताल तथा प्रदर्शन (Strike and demonstration)—हड़ताल करना भी दबाव-समूह का एक साधन है। हड़ताल का सामान्य अर्थ औद्योगिक कार्यों में संलग्न कर्मचारियों द्वारा सामूहिक रूप से कार्य-स्थगन है, किंतु इसका प्रयोग राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए समाज के अन्य तत्त्वों द्वारा भी हो सकता है। दबाव-समूहों में श्रमिक को छोड़कर अन्य गुटों द्वारा इस साधन का प्रयोग सामान्यतः राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही किया जाता है। इसके साथ ही, वे सरकार पर दबाव डालने के लिए कभी-कभी प्रदर्शनों का भी आयोजन करते हैं।

9. हिंसा (Violence)—हड़ताल की असफलता या अल्प प्रभाव के कारण दबाव-समूहों द्वारा यदा-कदा हिंसा का भी सहारा लिया जाता है। हिंसा का प्रयोग सामान्यतः दबाव-समूहों के आंतरिक संघर्षों के कारण ज्यादातर किया जाता है।

10. अहिंसक सविनय अवज्ञा (Nonviolent civil disobedience)—अहिंसात्मक अवज्ञा आंदोलन[1] भी दबाव-समूहों का एक साधन है। भारत में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने इस साधन का प्रयोग प्रभावशाली ढंग से किया था। संयुक्त राज्य अमेरिका के दबाव-समूह में भी इसी साधन की नकल की जा रही है। उदाहरण के लिए, अमेरिका में नीग्रो-आंदोलन का एक साधन अहिंसात्मक अवज्ञा आंदोलन रहा है। **स्वर्गीय मार्टिन लूथर किंग** ने अमेरिका में अश्वेतों के हितों की रक्षा के लिए इस साधन का प्रयोग प्रभावशाली ढंग से किया था। भारत के दबाव-समूहों द्वारा इस साधन का प्रयोग इतनी प्रचुर मात्रा में किया जा रहा है कि यहाँ की संपूर्ण सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था पर इसका बुरा प्रभाव पड़ रहा है।

11. न्यायालयों द्वारा दबाव (Pressure through the courts)—दबाव-समूह न्यायालयों के माध्यम से भी अपने हितों को आगे बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ये दबाव-समूह ऐसे विधेयकों का विरोध करते हैं जो उनके हितों के प्रतिकूल होते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण तथा प्रिवी-पर्स के उन्मूलन से संबद्ध अध्यादेशों को न्यायालयों में चुनौती दी गई थी।

12. आँकड़ा-प्रकाशन (Data-publication)—नीतिनिर्माताओं के समक्ष अपना पक्ष व्यवस्थित और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने के लिए दबाव-समूह विश्वस्त आँकड़े एकत्र और प्रकाशित करते हैं।

13. दबाव-समूह और गोष्ठियाँ-आयोजन (Pressure groups and conferences)—अनेक साधन-संपन्न दबाव-समूह विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद के लिए समय-समय पर गोष्ठियों, सेमिनारों, भाषणमालाओं तथा वार्ताओं का आयोजन करते हैं, जिनमें विधायकों तथा प्रशासकों को आमंत्रित किया जाता है।

---

1. See AUSTIN RANNEY: *The Governing of Men* (New York : Holt Rinchart and Winston, Inc, 1966), pp. 373-379

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

14. मुख्य कार्यपालिका पर दबाव (Pressure on the chief executive)—बहुत उच्च तथा महत्त्वाकांक्षी उद्देश्यों से उत्प्रेरित होकर राजनीतिक समूह सीधे कार्यपालिका पर दबाव डालने के लिए प्रयत्नशील हैं। भारत में अनेक व्यावसायिक समूह जैसे बिड़ला-समूह, डालमिया-समूह, टाटा-समूह किसी नीति-विषयक प्रश्न पर सीधे प्रधानमंत्री को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार, अमेरिका में भी राष्ट्रपति को प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। ये हित-समूह राष्ट्रपति की पत्नी और उसके परिवार के सदस्यों तक पहुँच जाते हैं। श्रीमती फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट आमतौर से अपने पति से उदार समूहों के हितों की वकालत करती थीं। इस प्रकार की दबाव-नीति ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी राष्ट्रपति पर भी लागू होती है।

15. दबाव-समूह और कर्मचारीतंत्र (Pressure groups and the bureaucracy)—विश्व की प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में सरकारी कार्य अधिकाधिक जटिल होते जा रहे हैं। इसके कारण विधानमंडल कानूनों में विस्तार के विशाल क्षेत्र प्रशासकीय विवेक पर छोड़ देते हैं और इस प्रकार दबाव-समूहों के लिए सरकारी कर्मचारीतंत्र को प्रभावित करने का मनचाहा निमंत्रण दे डालते हैं। प्रदत्त विधायन ने इस भावना को बढ़ाने में सक्रिय भूमिका निभाई है। इसने नौकरशाही को इतना समर्थ बना लिया है कि दबाव-समूह उसे अपने प्रभाव में लाकर अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए दौड़-धूप करते रहते हैं। भारत या अमेरिका-जैसी संघात्मक शासन-व्यवस्था हो या ब्रिटेन-जैसी एकात्मक शासन-प्रणाली, ये दबाव-समूह सर्वत्र एकसमान भूमिका निभाते हैं। ये कभी आयकर की माफी के लिए, कभी निर्यात लाइसेंसों की मंजूरी के लिए और कभी किसी प्राइवेट चैरिटेबेल संस्था की आवश्यक सरकारी स्वीकृति के लिए नौकरशाही की दाढ़ी में हाथ डालते हैं, कभी गले-से-गले मिलते हैं और कभी सिर पर चढ़कर बोलते हैं, अर्थात नौकरशाही को प्रभावित करने के लिए साम, दाम, दंड, भेद आदि सभी नीतियाँ अपनाते हैं। चूँकि अमेरिका में स्वतंत्र नियामक उद्योग बहुत सत्तासंपन्न हैं, इसलिए आयोग के सदस्यों को अपने पक्ष में करने के लिए भी दबाव-समूह बहुत-कुछ करते हैं।

दबाव-समूह के बढ़ते हुए महत्त्व के लिए उत्तरदायी तत्त्व

विश्व के प्रत्येक देश में दबाव-समूहों के महत्त्व में वृद्धि के लिए विभिन्न तत्त्व उत्तरदायी होते हैं। लेकिन, कुछ सामान्य तत्त्व ऐसे हैं जो प्रायः प्रत्येक देश में सक्रिय हैं। अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया में प्रायः प्रत्येक दबाव-समूह राजनीतिक दलों को प्रभावित करता है। **फ्रांस-जैसे बहुदलीय पद्धतिवाले देश में** विभिन्न दबाव-समूह अपने को विभिन्न राजनीतिक दलों से संबद्ध कर लेते हैं। इसीलिए फ्रांस में विभिन्न दल विभिन्न हित-समूहों से अभिन्न रूप से संबद्ध रहते हैं। फ्रांस के राजनीतिक दल इस वर्गीय या विशिष्ट हितों को सामान्य राष्ट्रीय हितों के रूप में प्रस्तुत किया करते हैं। **जहाँ तक अमेरिका का प्रश्न है,** दबाव-समूह के लिए मुख्य रूप से देश का विशाल आकार, राजनीति का अस्पष्ट कार्यक्रम तथा संसदीय शासन-व्यवस्था का अभाव उत्तरदायी है। **ग्रेटब्रिटेन में** 19वीं सदी के सुधार-आंदोलन के कारण दबाव-समूहों का विकास हुआ है। **बेन्थम, कॉब्डन** एवं **मिल** का ऐसे दबाव-समूहों से संबंध था। लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा के विकास तथा आर्थिक जीवन में राज्य के बढ़ते हुए हस्तक्षेप के कारण दबाव-समूहों की गतिविधियों में असाधारण वृद्धि हुई है। **एक अन्य जिम्मेवार तथ्य** यह है कि जिस अनुपात में शासन-शक्तियों में वृद्धि हुई है उसी अनुपात में संसदीय शक्ति का ह्रास हुआ है। राजनीतिक दलों के विशेष हितों से संबद्ध हो जाने से विधानमंडल भी उन्हीं हितों के हाथ में खेलने लगा है। इसके अलावा, आज दलीय अनुशासन भी कठोर हो गया है और उसी अनुपात में प्रतिनिधि-सभा के व्यक्तिगत सदस्यों का स्तर भी गिरता गया है। इसलिए ब्रिटिश कॉमन्स-सभा में होनेवाले वाद-विवादों एवं मतदान में अब जनता की रुचि पहले की भाँति नहीं रही है। इसी संदर्भ में दबाव-समूहों को 'विधानमंडल के पीछे एक अन्य विधानमंडल' की संज्ञा दी जाती है। वस्तुतः, दबाव-समूह शासन के निर्माता बन गए हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में इन्हें 'तृतीय सदन' या सहायक शासक कहा जाता है।

दबाव-समूहों के कार्य
(Functions of the Pressure Groups)

दबाव-समूहों द्वारा संपादित कार्यों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. दबाव-समूह अपने सदस्यों के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक, हितों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। शासन की सत्ता-रूपी तलवार से ये अपने सदस्यों के हितों की रक्षा करते हैं।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

2. आधुनिक समाज में हितों में अत्यधिक विभिन्नताएँ हैं। दबाव-समूहों द्वारा हितों की विविधता एवं उनमें प्रतिस्पर्धा को सहज ही प्रश्रय दिया जाता है। ये अप्रत्यक्ष रूप से सामान्य मत के निर्माण में सहायक होते हैं।

3. दबाव-समूह लोकतंत्र की व्यवस्था में सहायक होते हैं। यदि इन्हें हम लोकतंत्र का पर्यायवाची कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं हो सकती। आधुनिक समाज में व्यक्ति एवं समूहों के हितों में कोई विरोध नहीं है। समाज में विभिन्न हित-समूहों द्वारा शासन की अनुचित नीतियों का विरोध समाज में संगठित जनों की तरफ से किया जाता है।

4. निर्वाचनकाल के दौरान दबाव-समूहों द्वारा लोकतांत्रिक व्यवस्था को जीवित एवं जागृत रखा जाता है। इस काल में वे कार्यपालिका की निरंकुशता पर अवरोधक के रूप में कार्य करते हैं।

5. ये दबाव-समूह अपने हितों की रक्षा के लिए अपने विशिष्ट ज्ञान तथा प्रभावित करने की असाधारण कला का उत्साहपूर्वक प्रयोग करते हैं तथा सदन एवं समिति-स्तर पर विधि-निर्माण को प्रभावित करते हैं।

6. ये दबाव-समूह सार्वजनिक हितों की अपेक्षा अपने व्यक्तिगत समूह-हित में अधिक सक्रिय होते हैं। फिर भी, इनके द्वारा संबंधित विषयों में (विशेषकर तकनीकी एवं विशिष्ट मामलों में) जो आँकड़े और तथ्य प्रस्तुत किए जाते हैं, प्रशासकों तथा विधायकों के लिए विधि-निर्माण में सहायक होते हैं।

7. दबाव-समूह समाज के औद्योगिक एवं आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा विधायकों को अपने पक्ष में करने का प्रयास करते हैं।

8. निर्वाचन के दौरान प्रतिनिधियों के चयन में भी ये महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये राजनीतिक दलों को समय-समय पर आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं।

दबाव-समूहों की सफलता की शर्तें (Essential Conditions for the Success of the Pressure Groups)

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में दबाव-समूहों की सफलता अनेक बातों पर निर्भर करती है। इनकी सफलता के लिए जिम्मेवार आवश्यक शर्तों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. आकार (Size)—दबाव-समूहों की सफलता में उनके आकार का बहुत बड़ा योगदान रहता है। आमतौर से यह बात कही जाती है कि बहुसदस्यीय समूहों को अल्पसदस्यीय समूहों की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त होती है जिसे हम पूर्णतः स्वीकार नहीं कर सकते। कभी-कभी अल्पसदस्यीय दबाव-समूह भी बड़े समूहों की अपेक्षा अधिक सफल हो जाते हैं।

2. सामाजिक स्थिति (Social status)—दबाव-समूहों की सफलता की यह दूसरी शर्त है। दूसरे शब्दों में, इसे हम सामाजिक सम्मान भी कह सकते हैं। जिस दबाव-समूह की प्रसिद्धि और कुशलता के प्रति राजनीतिक पद्धति में जितने सम्मान की भावना होगी उसे उतनी ही अधिक मात्रा में सफलता प्राप्त होगी।

3. संसक्तिशीलता (Cohesion)—संसक्तिशीलता भी दबाव-समूहों की सफलता का संभवतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। जिस दबाव-समूह में जितनी अधिक संसक्तिशीलता है, वह उतनी ही गति एवं कुशलता से राजनीतिक पद्धति का ध्यान अपनी ओर खींचता है।

4. नेतृत्व (Leadership)—नेतृत्व पर भी दबाव-समूहों की सफलता बहुत-कुछ निर्भर करती है। दबाव-समूह के अंदर नेतृत्व एवं सदस्यों के बीच वही संबंध है जो सेना में सेनानायक और सैनिकों के बीच रहता है।

5. राजनीतिक-सरकारी पर्यावरण (Political governmental environment)—दबाव-समूहों की सफलता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व राजनीतिक-सरकारी पर्यावरण है। इसके अंतर्गत राजनीतिक पद्धति का ढाँचा, उसका आतंरिक सिद्धांत, संवैधानिक आधार तथा सरकार का संगठन एवं नेतृत्व शामिल हैं। उदारवादी जनतांत्रिक व्यवस्था में जो राजनीतिक-सरकारी पर्यावरण होता है, वह दबाव-समूहों के विकास में बहुत सहायक होता है। यही कारण है कि ब्रिटेन तथा अमेरिका दोनों देशों में दबाव-समूहों को आरंभ में बहुत संदेह की दृष्टि से देखा गया। बाद में अमेरिकियों ने इनके प्रति सहानुभूति का रुख अपनाया और वहाँ

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

इनका काफी विकास हुआ। लेकिन, **सैनेल एच॰ बीयर** (Sannel H Beer) जैसे विद्वानों का कहना है, "वर्तमान समय में संयुक्त राज्य अमेरिका की अपेक्षा ब्रिटेन में ही दबाव-समूह अधिक शक्तिशाली हैं।"[1]

दबाव-समूहों की आलोचनाएँ : उनके भ्रष्ट तथा अलोकतांत्रिक तरीके (Criticisms of Pressure Groups: Their Corrupt and Undemocratic Ways)

एक समय इन समूहों को संदेह की दृष्टि से देखा जाता था। राजनीति के गंभीर विद्यार्थी तथा सामान्य जन दोनों की दृष्टि में दबाव-समूह उपहास के पात्र थे। **कार्ल जे॰ फ्रेडरिक** का कहना है कि उन्हें ऐसी शैतानी शक्ति माना जाता था, जो आधुनिक लोकतंत्र एवं प्रतिनिधि शासन को धीरे-धीरे काट रही हो। 'लॉबी' शब्द का अर्थ दोष, भ्रष्टाचार, धोखाधड़ी आदि के समूह से समझा जाता था।[2] शनैः-शनैः इन दबाव-समूहों को सामाजिक मान्यता मिलती गई और आज इन्हें आवश्यक बुराई न मानकर स्वस्थ संस्था एवं राजनीतिक जीवन का एक तत्त्व माना जाता है। लेकिन, आज भी वे आलोचना से परे नहीं हैं। दबाव-समूह प्रायः जिन भ्रष्ट और अनैतिक तत्त्वों का सहारा लेते हैं, वे राष्ट्र के चरित्र पर तथा किसी भी राजनीतिक तथा सामाजिक ढाँचे पर स्वस्थ प्रभाव नहीं डालते। संयुक्त राज्य अमेरिका में लॉबिईंग की प्रायः दो आलोचनाएँ की जाती हैं—**प्रथम,** इनके द्वारा अपनाए गए तरीके अनैतिक होते हैं। **द्वितीय,** ये लॉबियाँ (Lobbies) राष्ट्र के विभिन्न हितों का सही प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। लॉबिईंग से जनतांत्रिक मूल्यों पर जिस तरह का आघात पहुँचता है, इसका स्पष्टीकरण **सीनेटर पॉल डगलस** की इस घोषणा से होता है, जिसमें उन्होंने कहा था कि वह 2·50 डॉलर से अधिक का उपहार स्वीकार नहीं करेगा। इससे यह स्पष्ट है कि दबाव-समूहों द्वारा सीनेटरों को अपने पक्ष में करने के लिए भारी धनराशि के उपहार दिए जाते हैं या उन्हें भारी रिश्वत या घूस दी जाती है। अमेरिकी काँगरेस के सदस्य अनेक बार ऐसे हित-समूहों द्वारा खरीद लिए जाते हैं। उन्हें बड़े-बड़े उपहार प्रायः कोई राजनीतिक अभियान चलाने के लिए चंदे के रूप में दिए जाते हैं। एक सीनेटर के रूप में रिचर्ड निक्सन ने कैलीफोर्निया के हित-समूहों से 18,000 डॉलर अपने व्यक्तिगत कोष हेतु लिए थे। साउथ डकोटा के सीनेटर फ्रांसिस केश का विचार है कि उसे तेल और प्राकृतिक हित-समूहों की ओर से जो 2,500 डॉलर चंदा दिया गया था, वह 'प्राकृतिक गैस रेग्यूलेशन बिल' पर उसके मत को खरीदने के लिए था। भारत में भी टाटा-हित समूह, बिड़ला-हित-समूह आदि द्वारा विधायकों तथा बड़े पदाधिकारियों को इसी तरह पक्ष में किया जाता है।

ये दबाव-समूह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से 'स्वर्णमेंट' का आश्रय तो लेते ही हैं, साथ-ही-साथ 'सुरा और सुंदरी' का प्रयोग करने से भी नहीं हिचकते। अमेरिकी हित-समूहों के संबंध में **प्रो॰ वी॰ ओ॰ की** (Prof V. O. Key) ने कहा है, "ये हित-समूह विधायकों के लिए अच्छी-अच्छी दावतों का आयोजन करते हैं, उनके लिए नशीली वस्तुएँ मुहैया करते हैं। इतना ही नहीं, ये विधायकों के लिए दुराचारी औरतों का भी प्रबंध करते हैं जिन्हें लॉबी की ओर से वेतन मिलता है।"

दबाव-समूहों की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि वे चुनाव के दौरान अपने इच्छित प्रत्याशियों के लिए मत खरीदते हैं और अपने द्वारा समर्थित विजयी उम्मीदवार को बाध्य करते हैं कि वे अपने संसदीय कर्तव्यों तथा राष्ट्रीय कीमतों पर भी उनके हितों का संरक्षण करें। इसके साथ ही, ये दबाव-समूह विधायकों पर भ्रष्टाचार का आरोप लगाकर, बदनामी का भय दिखाकर तथा अन्य प्रकार के आतंक द्वारा उन्हें बाध्य करते हैं कि वे उनके अनुचित हितों का पोषण करें। जहाँ तक सरकारी पदाधिकारियों का प्रश्न है, अनुचित रूप से उन्हें प्रभावित करने के लिए वे किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। भारत तथा अन्य पश्चिमी देशों में ऐसा देखने को मिलता है।

एक अन्य आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि दबाव-समूहों के हितों के संघर्ष में तीव्रता और व्यापकता अधिक बढ़ जाती है। इससे सामाजिक एकता को खतरा पहुँचने की संभावना बढ़ जाती है। **प्रो॰ फाइनर** ने लिखा है, "राजनीतिक दलों के कमजोर होने पर दबाव-समूह अधिक पनपते हैं जिससे राष्ट्रीय हितों के स्थान पर विशिष्ट हितों की ओर ध्यान आकर्षित होता है।"

---

1. SANNEL H. BEER : *'Pressure Groups and Parties in Britain'*, American Political Science Review, Vol. I, No. 3 (March, 1956)

2. See CARL J. FRIEDRICH : *Constitutional Government and Democracy*, 1966, p. 460

WWW.GRADESETTER.COM

दबाव-समूहों की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि वे लोकतांत्रिक आदर्शों से मेल नहीं खाते। उनकी कार्यप्रणाली लोकतंत्र के लिए असंगत है। लेकिन, इस आलोचना को हम पूर्णतः स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि आज के बहुलवादी समाज में यह खरा नहीं उतरता।

भारतीय दबाव-समूह की प्रकृति और पाश्चात्य दबाव-समूहों से उनकी भिन्नता के उत्तरदायी कारण

भारत में दबाव-समूहों का अस्तित्व बहुत पहले से रहा है । स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 के अंतर्गत संघ बनाने की उद्घोषणा की गई है। इसके बावजूद, भारतीय दबाव-समूहों की प्रकृति, कार्यपद्धति तथा उनके कार्य के रास्ते पश्चिमी देशों के दबाव-समूह से काफी भिन्न रहे हैं। **डॉ० रजनी कोठारी** ने अपने ग्रंथ **भारत की राजनीति** में इस संबंध में उत्तरदायी निम्नलिखित तत्त्वों का जिक्र किया है—

1. भारत में सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक विकास का मुख्य संबंध सरकार से रहा है। समाज के विभिन्न हितों की पुष्टि तथा प्रतिनिधित्व राजनीतिक दलों तथा सरकारी अभिकरणों द्वारा हुआ है। परिणामस्वरूप, भारत में दबाव-समूह हमेशा राजनीतिक दल के अंग बने रहे हैं।

2. इसका एक अन्य परिणाम यह हुआ है कि इन हितों तथा समूहों का संगठन स्वतंत्र तथा अलग-अलग न होकर राजनीतिक दलों के गठबंधन की तरह मिला-जुला होता है। उदाहरण के लिए, वाणिज्य-संघों, मजदूर-संघों, अध्यापक-संघों आदि की राष्ट्रीय संस्थाएँ भी हैं, लेकिन राष्ट्रीय राजनीति में वे कारगर नहीं हैं। उनके सदस्य भी विभिन्न राजनीतिक दलों से संबंधित रहे हैं।

3. वर्गों या हितों के इस सम्मिश्रण में पुराने पारिवारिक और रिश्तेदारी या बिरादरी के संबंधों का भी हाथ है, जबकि अन्य नए देशों में व्यापार एवं उद्योग पर परदेशियों का नियंत्रण रहा है। इन परिवारों ने अपनी पुश्तैनी व्यापारिक प्रतिभा को आधुनिक व्यापार-उद्योगों में लगाया है। ट्रेड यूनियनों के अध्ययन से भी ऐसा ही आभास मिलता है।

4. **रजनी कोठारी** ने यह भी कहा है कि भारत में वर्ग या हित का संगठन आर्थिक या सामाजिक आधार पर न होकर पुरानी जातीयता के आधार पर हुआ है।

5. भारतीय सरकार सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की प्रेरक है। आर्थिक एवं सामाजिक हितों की अभिव्यक्ति यहाँ राजनीतिक दलों तथा सरकारी तंत्र द्वारा हुई है, विभिन्न संस्थाओं तथा संगठनों द्वारा नहीं। इसके साथ ही, वर्ग-विशेष तथा हित-विशेष आदि संगठनों को राजनीतिक महत्त्व नहीं दिया जाता है तथा राजनीति में उनका भाग लेना भी पसंद नहीं किया जाता है। यदि इन्हें राजनीति में भाग लेना हो तो वे स्वतंत्र रूप से भाग न लेकर राजनीतिक दलों के माध्यम से भाग ले सकते हैं। इसके अलावा, परिवर्तन तथा आधुनिकीकरण का माध्यम सरकार है, विभिन्न हित या वर्ग तो केवल सरकार को प्रभावित कर सकते हैं। इसीलिए जहाँ पाश्चात्य देशों में राजनीतिक माँगों के लिए आर्थिक कार्यवाही की जाती है वहाँ भारत में आर्थिक माँगों के लिए हड़ताल तथा प्रदर्शनों का सहारा लिया जाता है।

6. **रजनी कोठारी** का कहना है कि इससे नुकसान भी होता है, क्योंकि आर्थिक माँगों को तभी माना जाता है जब वे राजनीतिक ढंग से उठाई जाएँ। इसी कारण ये आंदोलन उग्र और हिंसात्मक रूप ले लेते हैं। वे प्रत्यक्ष कार्यवाही तथा उपद्रव मचाने लगते हैं। जिन हितों को कोई राजनीतिक दल उठाने को तैयार नहीं होते, वे प्रत्यक्ष कार्यवाही और उपद्रव करने लगते हैं।

उपर्युक्त कारणों के चलते भारतीय दबाव-समूहों की प्रकृति और विशेषताएँ पाश्चात्य देशों के दबाव-समूहों की प्रकृति से काफी भिन्न हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)—निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि इन दबाव-समूहों को आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। **कार्ल जे० फ्रेडरिक** ने दबाव-समूहों को, 'दलों के पीछे सक्रिय जन' कह कर पुकारा है। राजनीतिक क्षेत्र में नीति-निर्धारण और प्रशासन पर इनके बढ़ते हुए प्रभाव के कारण सभी देशों में ये अध्ययन के विषय बन गए हैं। आज राज्य का व्यवस्थापन-कार्य इन दबाव-समूहों द्वारा इतना प्रभावी होता जा रहा है कि इन्हें 'विधानमंडल के पीछे विधानमंडल' तथा फाइनर के शब्दों में 'अदृश्य सरकार' कहा जाने लगा है। आज उनकी बढ़ती हुई लोकप्रियता के जिम्मेवार अनेक कारण हैं, जैसे— **प्रथम,** संघीय व्यवस्था में दबाव-समूह शासन के सभी स्तरों पर कार्यशील रहते हैं। **द्वितीय,** उनके माध्यम से सार्वजनिक अधिकारियों पर आवश्यक अंकुश लगा रहता है। **तृतीय,** सरकारी अधिकारियों तथा अन्य

WWW.GRADESETTER.COM

लोक-संस्थाओं को दबाव-समूह के माध्यम से मूल्यवान आँकड़े प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर विवेकपूर्ण व्यवस्थापन संभव होता है। **चतुर्थ,** इनके कारण विभिन्न हितों के बीच संतुलन बना रहता है। **पंचम,** दबाव-समूहों का महत्त्व शासन के लिए सूचनाएँ एकत्रित करनेवाले संगठनों के रूप में भी है।

इस प्रकार, दबाव-समूह आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था के अभिन्न अंग बन गए हैं। उनकी लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि में कमी नहीं आए, इसके लिए यह आवश्यक है कि उन्हें नैतिक तथा वैधानिक स्वरूप प्रदान किया जाए। इस संबंध में उपयोगी सुझाव दिए जा सकते हैं ताकि उन पर सार्वजनिक नियंत्रण स्थापित हो सके। ये सुझाव निम्नलिखित हैं—

1. उनके संगठन व्यवस्थित एवं अधिकारी निर्वाचित तथा उनकी अपनी कार्यकारिणी होनी चाहिए।
2. उन पर अनेक नियंत्रण होने चाहिए जिससे वे अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण रीति से अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सकें।
3. जनता को यह अवसर उपलब्ध हो कि वह दबाव-समूहों और उनके सक्रिय सदस्यों की गतिविधियों की निगरानी करे ताकि उन्हें विश्वास होता रहे कि दबाव-समूह लोकतांत्रिक माध्यमों का ही प्रयोग कर रहे हैं।
4. कानून द्वारा सांप्रदायिक, आर्थिक एवं समुचित दृष्टिकोणवाले दबाव-समूहों पर प्रतिबंध लगाना चाहिए।
5. कानून द्वारा यह व्यवस्था होनी चाहिए कि दबाव-समूह अपनी गतिविधियों आदि का वार्षिक विवरण प्रस्तुत कर सकें।
6. दबाव-समूह तथा सार्वजनिक हित को एक-दूसरे का पूरक होना चाहिए।
7. दबाव-समूहों में अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा और प्रतियोगिता की समाप्ति होनी चाहिए।

यदि दबाव-समूहों को उपर्युक्त सुझावों के साँचे में ढाल दिया जाए तो वे हमारे लिए अत्यंत उपयोगी बन सकते हैं। आज इनको मान्यता देना तथा वैधानिकता प्रदान करना हमारे लिए आवश्यक हो गया है, क्योंकि आज उनका प्रभाव जनतांत्रिक व्यवस्था के हर सोपान पर छा गया है और स्थिति ऐसी हो चुकी है कि दबाव-समूह और सार्वजनिक हित एक-दूसरे के पूरक तथा पर्यायवाची बन गए हैं।

प्रश्नावली

1. दबाव-समूह क्या है? भारत का उदाहरण देकर दबाव-समूहों के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करें।
   (What are pressure groups ? Describe the different kinds of pressure groups with special reference to India.)
2. राजनीतिक जीवन में दबाव-समूहों की भूमिका की व्याख्या कीजिए। जनतांत्रिक प्रक्रिया में वे कहाँ तक आवश्यक अवयव समझे जा सकते हैं?
   (Describe the role of pressure groups in political life. How far they can be considered the essential ingredient of democratic process ?)
3. भारत, अमेरिका तथा सोवियत राजनीतिक पद्धतियों में दबाव-समूहों की भूमिका बताएँ।
   (Describe the role of pressure groups in India, America and Soviet political systems.)
4. भारत-जैसे विकासशील देश में दबाव-समूहों के कार्यों की विवेचना कीजिए।
   (Describe the functions of pressure groups in a developing country like India.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

मताधिकार और प्रतिनिधित्व की पद्धतियाँ
[FRANCHISE AND METHODS OF REPRESENTATION]

प्रतिनिधि वह है जो अपने वैज्ञानिक अधिकारों की सीमा में लोगों के बदले अपनी स्वतंत्र निर्णय-शक्ति के अनुसार कार्य करने के लिए निर्वाचित किया गया है। उसे कार्य और निर्णय की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। यदि कोई प्रतिनिधि अपने विवेक और विचार-शक्ति से कार्य न कर केवल निर्वाचकों की सहमति से कार्य करता है तो वह वास्तव में प्रतिनिधि नहीं है।—ब्लंश्ली

विषय-प्रवेश (Introduction)

आज के लोकतांत्रिक युग में जनता को अनेक प्रकार के राजनीतिक अधिकार प्रदान किए गए हैं। मताधिकार और निर्वाचन का आधार उनमें प्रमुख हैं। इसके साथ ही, आज स्वतंत्र और जनतांत्रिक देशों की प्रणाली का आधार प्रतिनिधित्व है। प्राचीनकाल में यूनानी नगर-राज्यों तथा प्राचीन भारतीय ग्रामीण गणतंत्रों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र प्रचलित था। अतः, इन राज्यों के शासन-संचालन में जनता का कोई विशेष हाथ नहीं रहता था। राजा और उसके द्वारा नियुक्त कर्मचारी शासन का संचालन करते थे। चूँकि आधुनिक युग में अधिकांश राज्यों का स्वरूप जनतांत्रिक है, इसलिए जनता आज प्रत्यक्ष रूप से शासनकार्य में भाग लेती है। आधुनिक युग में विशालकाय राज्यों के होने से प्रत्यक्ष प्रजातंत्र संभव नहीं रह गया है। आज प्रतिनिध्यात्मक जनतंत्र की प्रणाली का आविष्कार हुआ है। इस प्रणाली में जनता स्वयं शासन-संचालन नहीं करती, वरन उसके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि शासन-संचालन करते हैं। ये निर्वाचित प्रतिनिधि व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और जनता के विचारों तथा इच्छाओं को व्यक्त करते हैं। अतः, जब राज्य के सभी स्त्री-पुरुष को जाति, धर्म आदि के भेदभाव को ध्यान में न रखकर अपने मतदान द्वारा प्रतिनिधि चुनने का अवसर दिया जाता है तब उसे मताधिकार या निर्वाचन का अधिकार कहते हैं। निर्वाचन आधुनिक युग में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया है।

प्रतिनिधिक प्रणाली का विकास
(Evolution of Representation System)

जहाँ तक प्रतिनिधिक प्रणाली के विकास का प्रश्न है, **मॉण्टेस्क्यू** के विचार में विशुद्ध प्रतिनिधि की कल्पना आधुनिक है। प्राचीन समय के लोगों को विशुद्ध प्रतिनिधि की कल्पना नहीं थी। राजा ही कानून बनाता था। यदि कभी समूह एकत्रित भी होता था तो वह जनता का समूह होता था, उसके प्रतिनिधियों का नहीं। **रूसो** ने इस विचार का समर्थन किया है और कहा है कि प्रतिनिधित्व की कल्पना आधुनिक है। फिर भी, प्राचीन जनतांत्रिक राज्यों में इसकी थोड़ी-बहुत शुरुआत हो गई थी। मध्यकालीन युग में वह स्पष्ट रूप में सामने आई। राजाओं को जब धन की आवश्यकता होती थी तब करारोपण के संबंध में मंत्रणा लेने के लिए कुछ जनप्रतिनिधियों को आमंत्रित करते थे। प्रतिनिधियों के समूह ने धीरे-धीरे प्रतिनिधिक संस्था का रूप ग्रहण कर लिया जिसे इंगलैंड तथा भारत में **संसद,** जापान में **डायट,** फ्रांस में **राष्ट्रीय सभा,** तथा अमेरिका में **प्रतिनिधि सभा** कहा जाता है। प्रतिनिधि संस्थाओं तथा राजाओं के बीच सदियों तक संघर्ष चलता रहा। संघर्ष के अभियान में राजाओं की शक्ति क्षीण होने लगी और प्रतिनिधि-संस्थाओं की शक्ति बढ़ने लगी। सन 1213 ई॰ में **जॉन** ने प्रत्येक काउंटी से चार-चार बुद्धिमान नाइटों को बृहत सभा की बैठक में बुलाया। सन 1256 ई॰ में **हेनरी तृतीय** ने इस प्रकार की सभा बुलाई। 1295 ई॰ में **एडवर्ड प्रथम**

WWW.GRADESETTER.COM

ने संसद की बैठक बुलाई जो इतिहास में आदर्श संसद के नाम से विख्यात है। इसमें 400 व्यक्तियों में प्रायः सभी प्रमुख वर्गों के प्रतिनिधि थे। इसके बाद ब्रिटिश शासन-व्यवस्था का यह एक स्थायी अनिवार्य अंग बन गई। इसके बाद ट्यूडर और स्टुअर्ट काल में सांविधानिक तथा राजनीतिक क्रांतियाँ चलती रहीं जिनके परिणामस्वरूप संसद अधिक शक्तिशाली तथा **प्रतिनिध्यात्मक** बनती गई। 18वीं शताब्दी में सम्राट एक सांविधानिक प्रधानमात्र रह गया और संसद पूर्ण सावभौम हो गई। 19वीं तथा वर्तमान शताब्दी में इसका विकास पूर्ण हो गया।

यदि हम इंगलैंड के इतिहास का विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट होता है कि प्रारंभ से ही वहाँ संसद का रूप अंशतः प्रतिनिध्यात्मक रहा है, क्योंकि नगरों और सामंतों के प्रतिनिधि किसी-न-किसी रूप में चुने हुए होते थे। सच्चे अर्थ में संसद के रूप में इसका उदय मध्ययुग में हुआ। लेकिन, मध्ययुगीन संसद बदनाम थी, क्योंकि सदस्यता किसी के सिर पर जबर्दस्ती मढ़ी जाती थी। अतः, सच्ची प्रतिनिध्यात्मक सरकार की स्थापना वर्तमानकाल की देन है। इसके उदय का कारण स्वतंत्रता या स्वशासन के प्रति प्रेम न होकर राजाओं की कर प्राप्त करने की शक्ति का विरोध था।

इंगलैंड की तरह अन्य देशों में भी प्रतिनिधिक संस्थाओं की स्थापना के लिए संघर्ष प्रारंभ हुआ। फ्रांस की महान क्रांति ने इस दिशा में एक महान संघर्ष किया। अमेरिकी उपनिवेशों ने 'बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं' (no taxation without representation) का नारा लगाया। वे लोकतंत्रीय प्रतिनिध्यात्मक सरकार की स्थापना में सफल हुए। विश्व के अन्य देशों में इनकी स्थापना के लिए आंदोलन हुए। परिणामस्वरूप, लोकतंत्रीय तथा अधिनायकवादी देशों में आज समान रूप से प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली अपनाई जा रही है।

जहाँ तक भारत में प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली का प्रश्न है, इसके विकास की कहानी ब्रिटिश शासन की स्थापना से प्रारंभ होती है। प्राचीन मुगलकालीन भारत में दरबार की प्रथा के अंतर्गत जागीरदारों तथा सामंतों को आमंत्रित किया जाता था, लेकिन उन्हें प्रतिनिधि का स्थान प्राप्त नहीं था। सन 1857 ई० के विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने यह महसूस किया कि भारतीयों के सहयोग के बिना शासन चलाना असंभव है। अतः, भारतीय परिषद अधिनियम 1861, 1892 ई० आदि द्वारा गवर्नर जेनरल तथा गवर्नरों की परिषदों में कुछ भारतीयों को स्थान दिया गया। 1909 ई० के **मॉर्ले-मिंटो सुधार** द्वारा भारतीयों के प्रतिनिधित्व को बढ़ा दिया गया तथा मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन की व्यवस्था की गई। 1919 ई० के **मॉण्टेस्क्यू-चेम्स फोर्ड सुधार** द्वारा उत्तरदायी शासन की स्थापना का प्रयास किया गया। विधान परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। 1935 ई० के भारत सरकार अधिनियम में प्रतिनिधिक संस्थाओं की जड़ को मजबूत किया गया और निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या बहुत बढ़ा दी गई। जब स्वतंत्र भारत के संविधान का निर्माण हुआ तब संविधान-सभा के प्रतिनिधियों का चुनाव अप्रत्यक्ष रीति से हुआ था, फिर भी इस सभा में सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हो सका। आज निर्वाचन को पूर्ण जनतांत्रिक बना दिया गया है जिसका आधार असीमित वयस्क मताधिकार है।

प्रतिनिधित्व का अर्थ (Meaning of Representation)—मानव अपने अधिकांश कार्यकलापों का संपादन प्रतिनिधित्व के माध्यम से करता है। इस अर्थ में प्रतिनिधित्व 'प्रतीक' का रूप धारण कर लेता है। प्रतिनिधित्व को परिभाषित करते हुए राजनीतिशास्त्र के विभिन्न विद्वानों ने अपना-अपना मत दिया है—

बार्कर (Barker)—"प्रतिनिधित्व वह नाली या कुल्या (sluice) है जिसके माध्यम से सामाजिक चिंतन एवं विचार राजनीतिक मशीन के पहिए के माध्यम से प्रवाहित होकर उन्हें क्रियाशील करते हैं।"[1]

ऑस्टिन रेने (Austin Ranny)—"राजनीतिक प्रतिनिधित्व का अर्थ प्रतिनिधि कहे जानेवाले लोगों के द्वारा संपादित किए जानेवाले उन कार्यों से है, जिनका संपादन वे समाज के उन सदस्यों के बदले में करते हैं जिन्हें निर्वाचक कहा जाता है।"[2]

फ्रेडरिक (Friedrich)—"सरकारी कार्यों पर संपूर्ण नागरिकों एवं उनके किसी भाग द्वारा प्रभाव डालने की क्रिया का संपादन उनके व्यक्त अनुमोदन के बल पर उस नागरिक-समाज में निवास करनेवाले कुछ लोगों के द्वारा प्रतिनिधित्व करनेवाले लोगों के ऊपर बंधनकारी प्रभाव से किया जाता है तो प्रतिनिधित्व

1. EARNEST BARKER : *Reflection on Government*, p. 39
2. AUSTIN RANNY : *The Governing of Men*, p. 258

WWW.GRADESETTER.COM

करनेवाले लोगों के ऊपर प्रयुक्त किए जानेवाले प्रभाव की उस प्रक्रिया को राजनीतिक प्रतिनिधित्व कहा जाता है।"[1]

उपर्युक्त परिभाषा का जब हम विश्लेषण करते हैं तब निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

1. पहली बात है कि फ्रेडरिक ने इस परिभाषा से नागरिकों के 'प्रभाव' की चर्चा की है।

2. 'सरकारी क्रियाओं' से आशय है कि सभी प्रकार की सरकरी क्रियाओं पर सभी नागरिक प्रभाव डाल सकते हैं।

3. 'व्यक्त अनुमोदन' जैसे कथन का आशय है कि यह अनुमोदन प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं से संबद्ध सांविधानिक प्रावधानों में व्यक्त रहता है।

4. प्रतिनिधियों की सत्ता का निर्धारण न केवल सांविधानिक प्रावधानों द्वारा होता है, अपितु संविधान में परिवर्तन लानेवाली शक्ति के अधीन उनकी शक्तियाँ भी हैं।

प्रतिनिधित्व के विभिन्न सिद्धांत (Different Theories of Representation)

प्रतिनिधित्व-संबंधी विभिन्न सिद्धांतों को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. उदारवादी जनतंत्रीय सिद्धांत (Liberal democratic theory of representation) और

2. समूहवादी सिद्धांत (Collectivist theory of representation)।[2]

उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों की उत्पत्ति समान भावभूमि से हुई है और यद्यपि इन दोनों की मान्यताओं के संदर्भ में समानताएँ हैं, तथापि इन दोनों के विकास की धारा विभिन्न रही है जिसके कारण दोनों उत्पन्न दृष्टिकोणों में विभिन्नताएँ हैं।

1. उदारवादी जनतंत्रीय सिद्धांत (Liberal democratic theories of representation)—इस सिद्धांत की पहली विशेषता यह है कि व्यक्ति के अधिकारों पर और विशेष तौर से संपत्ति के अधिकार की सुरक्षा पर विशेष बल दिया जाता है और इन अधिकारों की रक्षा के लिए सरकारी शक्तियों पर पाबंदी को आवश्यक समझा जाता है। इन अधिकारों के औचित्य का आधार प्राकृतिक अधिकार है, जिनपर सरकार का हस्तक्षेप गैरकानूनी है। अतः, उदारवादी जनतंत्रीय सिद्धांत के अनुसार न केवल चुनाव का विस्तार होना चाहिए, वरन मताधिकार में सबको समान समझा जाना चाहिए। प्रतिनिधि व्यक्तियों के हितों और दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए वह वर्ग, पेशा या विशेष हितों के आधार पर न चुना जाकर भौगोलिक आधार पर विभाजित निर्वाचन-क्षेत्र के आधार पर चुना जाता है। द्वितीयतः; प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली-संबंधी उदारवादी जनतंत्रीय सिद्धांतों का आधार बौद्धिक विचारधाराएँ हैं, जिनके अनुसार मानव बौद्धिक प्राणी है। अतः, वह अपने हितों और दृष्टिकोणों के साथ-साथ संपूर्ण समुदाय के दावे को समझ सकता है। वह अपने मताधिकार का प्रयोग बौद्धिक आधार पर करता है और इसलिए उसे चुनाव में भाग लेने का अधिकार है। इससे प्रतिनिधित्व-संबंधी तीसरी विशेषता स्पष्ट होती है और वह है 'जनसंप्रभुता' जिसे सर्वमताधिकार के द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसी विचारधारा से प्रेरित होकर ब्रिटिश सुधारवादी परंपरा ने 19वीं शताब्दी में अनेक प्रयास किए जिसके चलते निर्वाचकों की संख्या में वृद्धि हुई तथा निर्वाचन-क्षेत्रों के आकार में समानता लाई गई। गुप्त मतदान-प्रणाली का प्रारंभ हुआ तथा चुनाव-व्यवहारों के भ्रष्ट तरीकों पर प्रहार किया गया।

प्रतिनिधित्व-प्रणाली के इस ढाँचे के अंदर प्रतिनिधि को कुछ विशिष्ट भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। वह अपने निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी है, लेकिन उनका प्रत्यायुक्त नहीं। वह एक भौगोलिक इकाई के अंदर सामूहिक विचारों का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन अपने विचारों का परित्याग नहीं करता। बहुसंख्यकों की संप्रभुता एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बीच होनेवाले संघर्षों के संबंध में **रॉबर्ट ए॰ डैल** ने भी अपना विचार दिया है। इस सिद्धांत का प्रयोग डैल ने संपूर्ण अमेरिकी सांविधानिक व्यवस्था और विशेषकर अवरोध और संतुलन के सिद्धांत पर किया है।

---

1. "Representation is the process through which the influence which the entire citizenary or a part of them have upon the governmental action is, with their expressed approval, exercised on their behalf by a smaller number among them, with binding effect upon those represented.—CARL J. FRIEDRICH

2. A. R. BALL : *Modern Politics and Government*

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

2. प्रतिनिधित्व का समूहवादी सिद्धांत (Group theory of representation)—इसका विकास 19वीं सदी के यूरोपीय समाजवादियों द्वारा हुआ। उनलोगों ने उदारवादी सिद्धांतवादियों के व्यक्तिवादयुक्त प्रतिनिधित्व-सिद्धांत को ठुकराकर वर्गसंघर्ष एवं मध्यमवर्ग द्वारा राज्य का शोषणयंत्र के रूप में प्रयोग किए जाने-संबंधी धारणाओं पर बल दिया है। इन लोगों के अनुसार, व्यवस्थापिकाओं में व्यक्ति का प्रतिनिधित्व न होकर उस बहुसंख्यक समुदाय के नेतृत्व का होना चाहिए जिसमें हितों को मध्यमवर्गीय सांसदों द्वारा दबाया गया है। अतः, इनलोगों ने जनसंप्रभुता एवं बहुसंख्यक वर्ग की इच्छा पर एक साथ बल दिया है। इस संबंध में एक रूसी न्यायविद का कहना था कि सोवियत रूस में सभी शक्तियों को जनता से प्राप्त किया गया। राज्य के सभी अंगों ने अपनी शक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचकों के द्वारा या राज्य की प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं से प्राप्त किया।[1] 1936 ई० में सोवियत संघ में कार्यात्मक एवं पेशात्मक प्रतिनिधित्व को अपनाया गया। फिर भी सोवियत सिद्धांतवादी यह दावा करते थे कि सोवियत प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएँ जनतंत्रीय संस्थाओं की अपेक्षा अधिक अच्छी थीं, क्योंकि यहाँ जनता की साझेदारी ज्यादा व्यापक थी और प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों की सामाजिक पृष्ठभूमि का सही चित्रण प्रस्तुत कर सकते थे।

उपर्युक्त दो सिद्धांतों के अलावा, प्रतिनिधित्व के संबंध में दो अन्य सिद्धांत प्रचलित हैं, जिन्हें हम **आदिष्ट प्रतिनिधित्व** तथा **आदेशहीन प्रतिनिधित्व** कहते हैं।

3. आदिष्ट प्रतिनिधित्व (Instructed representation)—आदिष्ट प्रतिनिधित्व का अर्थ है कि प्रतिनिधि निर्वाचकों के अधीन हैं। उनकी अपनी कुछ भी इच्छा नहीं है। वह निर्वाचकों की इच्छा को अभिव्यक्त करता है। प्रतिनिधित्व का यह रूप आज पुराना पड़ गया है, फिर भी कुछ ऐसे प्रतिनिधि हैं जो स्वामी की इच्छा के अंतर्गत ही कुछ कर सकते हैं, जैसे—विदेशों में राजदूत। विधि-निर्माण के कार्य इतने पेचीदे और कठिन हो गए हैं कि कोई भी प्रतिनिधि हर कदम पर निर्वाचकों द्वारा निर्देशित नहीं हो सकता है। वर्तमान निर्वाचन-प्रणाली के अंतर्गत आदिष्ट प्रतिनिधित्व का सिद्धांत व्यावहारिक नहीं दीख पड़ता है, क्योंकि चुनाव का आधार दलीय-पद्धति है। आज के मतदाता किसी प्रतिनिधि-विशेष को नहीं, वरन राजनीतिक दलों को मत देते हैं। विजयी दल अपनी नीतियों को कार्यान्वित करता है, न कि मतदाताओं की नीतियों को। वैसे भी मतदाताओं की कोई एक नीति हो भी नहीं सकती। यह किसी भी प्रतिनिधि की शक्ति के बाहर की बात है कि वह किसी दल की नीति को व्यक्तिगत रूप से लागू करे। अतः, यह व्यावहारिक नहीं दीख पड़ता है कि कोई प्रतिनिधि निर्वाचकों के आदेश के अंतर्गत ही अपने कार्यक्षेत्र को सीमित रखे। इसलिए **लॉस्की** ने आदिष्ट प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को गलत तथा **लोबर** ने इसे 'न्यायविरुद्ध, असंगत और अवैधानिक' कहा है।

4. आदेशहीन प्रतिनिधि (Uninstructed representation)—आदेशहीन प्रतिनिधित्व के अंतर्गत प्रतिनिधिगण निर्वाचकों के अभिकर्ता नहीं हैं; वे निर्वाचकों के अधीनस्थ नहीं हैं और न उनके आदेश के अनुसार कार्य करते हैं। सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से यह संभव नहीं है कि कोई प्रतिनिधि सभा निर्वाचकों के आदेश के अनुसार या निर्वाचकों के समक्ष की गई प्रतिज्ञाओं के अनुसार कार्य करे। अतः, आधुनिक युग में प्रतिनिधित्व के सर्वमान्य सिद्धांतों के संबंध में कोई सही निष्कर्ष नहीं निकल सका है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि प्रतिनिधि निर्वाचकों का अभिकर्ता नहीं है, वरन उनके हित के लिए स्वेच्छित नीतियों का निर्धारक भी है। **बर्क** ने निर्वाचकों तथा प्रतिनिधियों के पारस्परिक संबंध की परिभाषा देते हुए बताया है—"निःसंदेह आप सदस्य चुनते हैं, किंतु जब आप उसे चुन लेते हैं तब वह 'ब्रिस्टल' का सदस्य नहीं होता, वरन संसद का सदस्य होता है।"

पदावधि—जनप्रतिनिधियों की कार्यावधि के संबंध में कोई निश्चित नियम नहीं है। विभिन्न देशों ने इस संबंध में विभिन्न नियम अपनाया है। व्यवस्थापिका-सभाओं के लोकप्रिय सदनों का जहाँ तक प्रश्न है, उनका कार्यकाल भारत, ब्रिटेन तथा कनाडा में 5 वर्ष, अमेरिका में 5 वर्ष और सोवियत संघ, स्वीडेन तथा जापान में 4 वर्ष है। द्वितीय सदनों (second chambers) के प्रतिनिधियों का कार्यकाल अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा भारत में 6 वर्ष, दक्षिण अफ्रीका में 10 वर्ष, फ्रांस में 9 वर्ष, सोवियत रूस में 4 वर्ष तथा ब्रिटेन में आजीवन है। **जॉन स्टुअर्ट मिल** ने प्रतिनिधियों की कार्यावधि निश्चित करने के लिए युक्तिसंगत सिद्धांत की व्याख्या की है। उन्होंने कहा है, "एक ओर सदस्य के पद की अवधि इतनी लंबी नहीं होनी चाहिए जो उसे अपना उत्तरदायित्व ही भुला दे या जो अपने कर्तव्यों को बहुत नरमी से ग्रहण करे और व्यक्तिगत स्वार्थों

1. V. E. Котик, quoted in L G Churchward: *Contemporary Soviet Government* (London, 1968), p. 264

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

की दृष्टि से उसका पालन करे या अपने विचारकों के साथ उन संपूर्ण मेल-मिलापों की अपेक्षा करे जिनके विषय में सहमत या भिन्न मत हो। यह प्रतिनिधि सरकार के लोगों में से एक है। उसके पद की अवधि ऐसी होनी चाहिए कि उसे केवल एक कार्य द्वारा निरीक्षण योग्य न बनाए, वरन उसके कार्यक्रम के द्वारा निरीक्षण योग्य ठहराए।''

इस प्रकार, निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि प्रतिनिधियों की अवधि न तो बहुत लंबी होनी चाहिए और न बहुत छोटी ही। उनके कार्य की अवधि उनके कार्य की प्रकृति के अनुकूल होनी चाहिए। यदि छोटी अवधि है तो उन्हें शासनकार्य का ज्ञान प्राप्त करने में समय लग जाता है और अंतिम वर्ष सामान्य निर्वाचन की तैयारी में वे व्यस्त हो जाते हैं। इससे उनके पास समय इतना कम रहता है कि वे देश से अधिक अपने स्वार्थ को ही सर्वोपरि समझने लगते हैं। यदि अवधि बहुत लंबी है तो वे आलसी होकर जनविरोधी कार्यों को भी कर सकते हैं।

प्रतिनिधियों की योग्यताएँ—जन-प्रतिनिधियों को विशिष्ट तथा उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करने पड़ते हैं। उन्हें जटिल तथा पेचीदे कानूनों का निर्माण करना पड़ता है। वे देश के कुशल शासन-संचालन के साथ-साथ सामान्य हित का कल्याण भी चाहते हैं। इस संदर्भ में यह आवश्यक है कि जन-प्रतिनिधि योग्य, कुशल तथा देशसेवी हों। अर्थात, उनका गुणात्मक पक्ष ऊँचा होना चाहिए। इसलिए **जॉन स्टुअर्ट मिल** उनके लिए कुछ ऊँची योग्यताएँ निर्धारित करने के पक्ष में थे। भारतीय संविधान-सभा में अनेक सदस्यों ने यह सुझाव दिया था कि व्यवस्थापिका-सभा की सदस्यता के लिए कुछ विशिष्ट योग्यताएँ निर्धारित की जानी चाहिए। इस संबंध में **आर० आर० दिवाकर** का विचार था, ''हमलोग ऐसा विधायक चाहते हैं जो सिर्फ एक प्रतिनिधि नहीं हो, वरन ऐसा प्रतिनिधि हो जो विधि-निर्माण कर सके और जो दूरदर्शी हो।''[1] **डॉ० राजेन्द्र प्रसाद** का कहना था, ''मैं विधानमंडलों के प्रतिनिधियों के लिए कतिपय योग्यताएँ निर्धारित करने के पक्ष में हूँ। यह अजीब-सा दीख पड़ता है कि कानून के प्रशासकों के लिए हम ऊँची योग्यता निर्धारित करें, लेकिन जो इसका निर्माण करते हैं उनके लिए निर्वाचित होने के अतिरिक्त कुछ नहीं।''[2] **प्रो० के० टी० शाह** ने भी अपना विचार व्यक्त किया था, ''व्यापक रूप में फैली निरक्षरता के चलते विधानमंडलों में अशिक्षित व्यक्तियों के चुने जाने का भय है। अतः, विधानमंडल की सदस्यता के लिए शिक्षित होना अनिवार्य कर देना चाहिए।''

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जनप्रतिनिधियों पर कुछ मर्यादाएँ आवश्यक हैं जो जनतंत्र-विरोधी अवश्य दीख पड़ती हैं, फिर भी उम्र, नागरिकता, उनकी मानसिक स्थिति आदि का ख्याल जनतंत्र के हित में हो सकता है। विभिन्न देशों के जनप्रतिनिधियों के लिए निर्धारित योग्यताओं के संदर्भ में उनके लिए निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है—

1. नागरिकता—साधारणतः विश्व में सभी देशों में यह परंपरा-सी विकसित हो गई है कि देश का नागरिक ही जनप्रतिनिधि हो सकता है। प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार प्राप्त है कि वह जन-प्रतिनिधि हो, चाहे जन्मजात या पंजीकृत या अंगीकृत नागरिक ही क्यों न हो। विदेशी नागरिक को जनप्रतिनिधित्व का अधिकार इसलिए प्राप्त नहीं है और न होना चाहिए, क्योंकि उनके द्वारा पद का दुरुपयोग अपने निजी स्वार्थ या अपनी मातृभूमि के स्वार्थ के लिए कर सकने की संभावनाएँ हैं। यही कारण है कि प्रायः सभी देशों में नागरिकता जनप्रतिनिधियों के लिए आवश्यक शर्त घोषित कर दी गई है।

2. आयु—विश्व के अधिकांश संविधानों में जनप्रतिनिधियों की आयु का उल्लेख किया गया है। भारतीय संविधान में लोकसभा के सदस्यों के लिए न्यूनतम आयु 25 वर्ष तथा राज्यसभा के सदस्यों के लिए 30 वर्ष निश्चित की गई है। द्वितीय सदनों के सदस्यों की न्यूनतम आयु प्रायः सभी देशों में अधिक इसलिए रखी जाती है कि उच्च सदन की कार्यवाहियों पर वे अधिक गंभीरतापूर्वक विचार कर सकें तथा निम्न सदन को उत्तेजित होने एवं क्षणिक आवेशों से बचा सकें।

3. आवास—विश्व के अधिकांश देशों में जनप्रतिनिधियों के लिए आवास की योग्यता भी निर्धारित की गई है। अमेरिकी प्रतिनिधि-सभा के सदस्य के लिए यह आवश्यक है कि वे जिस राज्य से निर्वाचित हों,

1. "We want a legislator, who is not merely a representative but can legislate and who has a certain perspective."—R. R. DIWAKAR: *Constituent Assembly Debates*, VII, p. 291

2. "I would have liked to have some qualifications laid down for member of the legislatures. It is anomalous that we should insist upon high qualifications for those who administer or help in administering the law but not for those who make it except that they are elected."—DR RAJENDRA PRASAD: *Ibid*, p. 553

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

उस राज्य के निवासी हों। जहाँ तक भारत का सवाल है, आवास को अनिवार्य नहीं बनाया गया है। यहाँ सिर्फ एक क्षेत्र का निवासी दूसरे क्षेत्र से नहीं, वरन एक राज्य का निवासी दूसरे राज्य से भी खड़ा हो सकता है।

4. संपत्ति—अधिकांश देशों में संपत्ति को भी प्रतिनिधि की योग्यता का आधार माना जाता है। जिस व्यक्ति के पास अपनी संपत्ति होती है, उसे कानून-निर्माण के लिए पर्याप्त समय मिलता है। साथ ही, चुनाव में घूमने-फिरने और अपने विचारों का प्रचार करने के लिए उसके पास पर्याप्त साधन रहता है। इसके अलावा, अपनी संपत्ति की रक्षा के लिए वह राज्य का भी भक्त हो जाता है। लेकिन, आज संपत्ति की योग्यता का धीरे-धीरे लोप हो रहा है। प्रगतिशील जनतांत्रिक देशों में यह लगभग समाप्त-सा हो गया है। आज राजनीतिक समता के सिद्धांत को अपनाने की परंपरा चल पड़ी है। यही कारण है कि धनवान और निर्धन सभी को आज समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं।

5. पद—अनेक राज्यों में यह बंधन लगा दिया गया है कि कुछ विशेष पदों पर आसीन अधिकारी व्यवस्थापिका-सभा का सदस्य नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए, भारत में कोई भी व्यक्ति जो सरकारी या किसी लाभ के पद पर हो, विधानमंडल का सदस्य नहीं हो सकता। अमेरिका में भी कार्यपालिका के अधिकारी काँगरेस के सदस्य नहीं हो सकते।

6. पागलपन या दिवालियापन—भारतीय संविधान यह प्रतिबंध लगाता है कि कोई भी व्यक्ति जो न्यायालय द्वारा पागल या दिवालिया करार दिया गया हो, वह संसद या विधानमंडल का सदस्य नहीं बन सकता।

7. चुनाव-दुराचरण—निर्वाचन के लिए न्यायपूर्ण आचरण और नियमों का पालन आवश्यक है। जो प्रत्याशी चुनाव में नियमों को भंग करता है, उसे अयोग्य घोषित कर दिया जाता है। चुनाव-दुराचरण का निर्धारण एक स्वतंत्र न्यायालय द्वारा होता है। ज्ञातव्य है कि भूतपूर्व भारतीय प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी द्वारा रायबरेली के निर्वाचन-क्षेत्र में 1971 ई० के आम चुनाव में अपनाए गए गलत तरीकों के संदर्भ में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने उनका चुनाव रद्द घोषित कर दिया था।

8. धर्म—अनेक देशों में धर्म को भी प्रतिनिधियों की योग्यता के लिए आवश्यक बताया गया है। इंगलैंड में स्थापित गिरजाघरों के अधिकारी, मंत्री और रोमन कैथोलिक चर्च के पादरी लोकसभा के सदस्य नहीं हो सकते। इसी प्रकार, नेपाल में एक हिंदू ही सम्राट हो सकता है और पाकिस्तान में मुसलमान ही राष्ट्रपति।

9. अनुभव—**प्रो० लॉस्की** ने कहा था कि सिर्फ अनुभवी व्यक्ति को ही व्यवस्थापिका के चुनाव में खड़ा होने की अनुमति मिलनी चाहिए। किसी भी जन-प्रतिनिधि को स्थानीय संस्थाओं में काम करने का कम-से-कम तीन वर्ष का अनुभव अवश्य होना चाहिए।

प्रतिनिधियों के विशेषाधिकार—विश्व के प्रत्येक देश में जन-प्रतिनिधियों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त रहता है। उन्हें विधानसभा या उसके बाहर विचार-अभिव्यक्ति की पूरी स्वतंत्रता रहती है। भाषण देने के दौरान उनपर कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती। सदन के अधिवेशन के समय उन्हें साधारणतः गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। उन्हें नियमित रूप से वार्षिक या मासिक वेतन तथा अन्य प्रकार के भत्ते मिलते हैं।

प्रतिनिधियों के कर्तव्य—जन-प्रतिनिधियों को संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखने की तथा अपने कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक पालन करने की शपथ लेनी पड़ती है। आधुनिक काल के प्रतिनिधि किसी दल, जाति, वर्ग या समूह के आधार पर भले ही चुना जाए, लेकिन वह संपूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है। जन-प्रतिनिधियों को संकुचित हित की भावना से बँधना नहीं चाहिए। प्रतिनिधियों को अपने विवेक के अनुसार कार्य करना चाहिए। इस संबंध में **ब्लंश्ली** ने कहा है, "प्रतिनिधि वह है जो अपने वैधानिक अधिकारों की सीमा में लोगों के बदले अपनी स्वतंत्र निर्णय-शक्ति के अनुसार कार्य करने के लिए निर्वाचित किया गया है।" आमतौर से प्रतिनिधि दो तरह के कार्यों—कारकीय तथा प्रतीकात्मक कार्यों को संपादित करता है। अर्थात, वह उन कार्यों को संपादित करता है, जिन्हें निर्वाचकगण स्वयं करते हैं। इसके साथ ही, वह कतिपय प्रतीकात्मक कार्यों का भी संपादन करता है। इसके अंतर्गत प्रतिनिधियों से यह उम्मीद की जाती है कि वे अपने निर्वाचकों के व्यक्तित्व, व्यक्तिगत पसंद-नापसंद इत्यादि आंतरिक मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करें।

मताधिकार का सिद्धांत (Theory of Franchise)

अब प्रश्न है कि मताधिकार किन लोगों को प्राप्त होना चाहिए। इस संबंध में विद्वानों के दो मत हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि मताधिकार नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है। दूसरी ओर, अन्य विद्वानों

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

का कहना है कि मताधिकार नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है। यह केवल उन नागरिकों को प्राप्त होना चाहिए जो अपने पवित्र अधिकार को समझ सकें। इस संबंध में **रूसो** ने कहा था कि प्रभुसत्ता लोगों में निवास करती है, इसलिए मताधिकार प्रत्येक वयस्क नागरिक को मिलना चाहिए। **मॉण्टेस्क्यू** ने इस विचारधारा के समर्थन में कहा था, "प्रतिनिधियों को चुनने के लिए मत देने का अधिकार राज्य के उन निवासियों को छोड़कर जिनकी दशा इतनी हीन हो कि उनकी अपनी कोई इच्छा ही न हो, सबको प्राप्त होना चाहिए।"[1] इस विचार की व्याख्या **मिल** ने भी की है और कहा है, "लोकतंत्र मनुष्यों की बराबरी को स्वयंसिद्ध मान लेता है और राजनीतिक समानता तभी आ सकती है जब नागरिकों को मताधिकार दिया जाए। सरकार के कानून और नीतियों से सब संबद्ध होते हैं और जिस बात का प्रभाव सब पर पड़ता है, उसका निर्णय सबके द्वारा होना चाहिए।"[2] दूसरी विचारधारा का समर्थन **ब्लंश्ली, मिल** और **सर हेनरी मेन** ने किया है। इन विद्वानों के विचार में मताधिकार ऐसा अधिकार है जो राज्य द्वारा प्रदान किया जाता है। यह अधिकार सबको प्राप्त नहीं है। प्रतिनिधियों के चुनाव में विवेक की आवश्यकता है। केवल विवेकपूर्ण और बुद्धिमान व्यक्तियों को प्रतिनिधियों के चुनाव में भाग लेने का अधिकार होना चाहिए। आज इन दोनों विचारधाराओं का समन्वय किया गया है। जनतांत्रिक देशों में सार्वजनिक मताधिकार के सिद्धांत को अपनाया गया है। **गार्नर** ने कहा है, "मताधिकार का आधुनिक दृष्टिकोण यह है कि यह एक पद या कृत्य है, जो राज्य द्वारा केवल ऐसे लोगों को प्रदान किया जाता है जो सार्वजनिक हित के लिए सर्वाधिक योग्यता के साथ लागू करने योग्य समझा जाता है और यह प्राकृतिक अधिकार नहीं है जो भेदभाव के बिना सभी नागरिकों को प्राप्त हो।"[3]

मताधिकार के लिए आवश्यक शर्तें (Essential Qualifications for Franchise)

किसी भी राज्य की संपूर्ण आबादी को मतदान का अधिकार प्राप्त नहीं रहता है और न यह संभव ही है। राज्य के नागरिकों को मताधिकार प्रदान करने के निमित्त कुछ शर्तों की आवश्यकता है जो ऊपर जन-प्रतिनिधियों के लिए आवश्यक बताई गई हैं। ये शर्तें निम्नलिखित हैं—

1. उम्र (Age)—उम्र मताधिकार की सबसे बड़ी शर्त होती है। बच्चों को मताधिकार इसलिए नहीं दिया जाता, क्योंकि बच्चे मतदान का न तो अर्थ समझते हैं और न मताधिकार का सही प्रयोग ही। परिणामस्वरूप, राज्य मतदान के लिए एक निश्चित उम्र निर्धारित कर देता है। भारत में यह उम्र 18 वर्ष है।

2. लिंग (Sex)—कुछ देश अपने मताधिकार के लिए लिंग-संबंधी शर्त भी निर्धारित कर देते हैं। अभी भी मिस्र में महिलाओं को मतदान का अधिकार नहीं है। अमेरिका में 1920 ई० के पहले तथा इंगलैंड में 1928 ई० के पहले औरतों को मताधिकार प्राप्त नहीं था। स्विट्जरजैंड में 1971 ई० में औरतों को मताधिकार दिया गया। भारत ने अपनी स्वतंत्रता-प्राप्ति के दिन से ही बिना लिंग-भेद के वयस्क-मताधिकार का सिद्धांत लागू कर दिया है।

3. संपत्ति (Wealth)—संपत्ति के आधार पर भी मताधिकार प्रदान किया जाता है। 19वीं शताब्दी में मताधिकार का मुख्य आधार संपत्ति तथा कर देने की क्षमता थी। **जॉन स्टुअर्ट मिल** ने इसका समर्थन किया है। ब्रिटिश भारत में भी मताधिकार की मुख्य शर्त संपत्ति ही थी। 1932 ई० तक इंगलैंड में करदाताओं को मताधिकार दिया जाता था। संपत्ति को मताधिकार का आधार माननेवालों का कहना है कि (i) जिन लोगों के पास संपत्ति होती है, वे लोग कानून और सामाजिक व्यवस्था का महत्त्व समझते हैं; (ii) जिन लोगों के पास संपत्ति होती है उन्हें राज्यकार्यों में दिलचस्पी लेने का काफी समय मिलता है और (iii) संपत्तिहीन व्यक्ति हमेशा संपत्ति की वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन लाने की सोचता है। इसके अलावा, (iv) संपत्तिधारी व्यक्ति शिक्षित एवं सुसंस्कृत होते हैं। लेकिन, आधुनिक विचारक संपत्ति के आधार पर मताधिकार स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि संपत्ति के आधार पर मताधिकार गैर-लोकतांत्रिक है, क्योंकि इससे जनसंख्या

1. "All inhabitants ought to have right at the election of representative except such as are in so mean a situation as to be deemed to have no will of their own."—MONTESQUIEU
2. "Democracy postulates the equality of men and political equality can be assured only when all citizens are granted the right to vote. Laws and policies of the government concern all people, what touches all, should be decided by all."—J. S. MILL
3. "It is an office or function which is conferred by the state upon only such persons as are believed to be most capable of exercising it for the public good and not a natural right which belongs without distinction to all citizens of the state."—GARNER

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

का अधिकांश मताधिकार से वंचित रह जाता है। आज भी अमेरिका के कुछ राज्यों में दिवालिया को मताधिकार नहीं दिया गया है।

4. शिक्षा (Education)—मताधिकार की सबसे महत्त्वपूर्ण शर्त शिक्षा है। **जे॰ एस॰ मिल** ने कहा है कि शिक्षा के आधार पर ही मताधिकार मिलना चाहिए। यही कारण है कि वयस्क मताधिकार का सिद्धांत लागू करने के पहले उन्होंने वयस्क-शिक्षा की सिफारिश की है। वे कहते हैं—"मैं इस बात का समर्थन नहीं कर सकता कि किसी भी व्यक्ति को लिखने-पढ़ने का ज्ञान हुए बिना मताधिकार मिलना चाहिए।"[1] विश्व के अधिकांश देश आज शिक्षा को मताधिकार की आवश्यक शर्त नहीं मानते। फिर भी, विश्व के कुछ देशों में शिक्षा के आधार पर ही मताधिकार प्रदान किया गया है; जैसे—अमेरिका के कुछ राज्यों में शैक्षणिक योग्यता के आधार पर ही कुछ निग्रो को मताधिकार दिया गया है। **जे॰ एस॰ मिल** ने कहा है, "जिसे साधारण लिखना-पढ़ना तथा हिसाब करना भी नहीं आता, उसे मताधिकार देना व्यर्थ है।"

5. निवास-स्थान (Residence)—निवास-स्थान भी मताधिकार की एक आवश्यक शर्त है। किसी भी व्यक्ति को एक चुनाव में एक ही बार, एक ही स्थान पर मतदान करने का अधिकार मिलता है। आम चुनाव के दौरान प्रत्येक मतदाता को अपने निर्वाचन-क्षेत्र की मतदाता-सूची (voter list) में अपना नाम पंजीकृत (registered) कराना पड़ता है। मतदाता-सूची में नाम नहीं रहने पर कोई भी व्यक्ति मतदान नहीं कर सकता। निवास-स्थान की यह शर्त प्रायः विश्व के सभी देशों में लागू है।

6. नागरिकता (Citizenship)—नागरिकता मताधिकार की एक अनिवार्य शर्त है। विदेशियों या गैर-नागरिकों को मताधिकार नहीं मिलता। लेकिन, मतदाता होने के लिए सिर्फ नागरिकता ही आवश्यक नहीं है वरन उसके साथ उम्र, शिक्षा तथा निवास-स्थान की भी आवश्यकता है।

7. धर्म (Religion)—बहुत-से देशों में मताधिकार का आधार धर्म है। इंगलैंड में रोमन कैथोलिक धर्म का पादरी कॉमन-सभा का सदस्य नहीं हो सकता। पाकिस्तान का राष्ट्रपति वही हो सकता है जो इस्लाम-धर्म का समर्थक हो। लेकिन, आधुनिक युग के बहुत-से राज्यों (जैसे—भारत) ने धर्मनिरपेक्षता का सिद्धांत लागू किया है।

8. मानसिक स्थिति (Mental Condition)—मताधिकार का प्रयोग एक स्वस्थ मस्तिष्क वाला नागरिक ही कर सकता है। पागल, जड़ तथा उन्मत्त व्यक्तियों को मताधिकार से वंचित रखा जाता है, क्योंकि ये लोग मताधिकार के मूल तत्त्वों को नहीं समझ सकते।

मताधिकार-संबंधी सिद्धांत
(Suffrage-principles)

आज विश्व के अधिकांश देशों का प्रयास अधिक-से-अधिक लोगों को मताधिकार देना है। आज अधिकांश राज्यों में वयस्क मताधिकार का सिद्धांत लागू किया गया है, फिर भी कुछ ऐसे राज्य हैं जहाँ वयस्क-मताधिकार वहाँ के निर्वाचन-प्रणाली का आधार नहीं है। मताधिकार के निम्नलिखित मुख्य सिद्धांत हैं—

1. प्राकृतिक अधिकार सिद्धांत (Natural right theory)—इस सिद्धांत के अनुसार सभी व्यक्तियों को समान रूप से मताधिकार के प्रयोग का प्राकृतिक अधिकार है। सबको मताधिकार का अवसर मिलना चाहिए। **टॉमस पेन, मॉण्टेस्क्यू** तथा **रूसो** इस सिद्धांत के समर्थक हैं।

2. वैधानिक सिद्धांत (Legal theory)—वैधानिक सिद्धांत के अनुसार मताधिकार प्राकृतिक अधिकार न होकर राज्य द्वारा प्रदत्त है। वैधानिक सिद्धांत के अंतर्गत मताधिकार का दावा नहीं किया जा सकता।

3. नैतिक सिद्धांत (Moral theory)—इस सिद्धांत के समर्थकों का दावा है कि मताधिकार नैतिक मान्यताओं पर आधारित है। यह राजनीतिक मामलों में व्यक्ति द्वारा अपने विचारों को व्यक्त करने का एक माध्यम है। मताधिकार व्यक्ति का नैतिक और आध्यात्मिक विकास करता है।

4. जनजातीय सिद्धांत (Tribal theory)—इस सिद्धांतानुसार मताधिकार सामुदायिक जीवन का एक मुख्य अंग है। अतः, सीमित क्षेत्र में नागरिकों को मताधिकार होना चाहिए। यह सिद्धांत रोम और जर्मनी की देन है।

---

1. "I regard it as wholly inadmissible that any person should participate in the suffrage without being able to read and write."—J. S. MILL

WWW.GRADESETTER.COM

उपर्युक्त सिद्धांतों के अलावा, मताधिकार से संबद्ध और भी विभिन्न सिद्धांत हैं। इन विभिन्न सिद्धांतों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि मताधिकार-संबंधी सिद्धांत अपने-अपने पक्ष में विभिन्न तर्क पेश करते हैं। कुछ भी हो, मताधिकार आधुनिक युग का सबसे बड़ा वरदान है। कुछ राज्यों ने तो अनिवार्य मताधिकार-सिद्धांत लागू किया है। उदाहरण के लिए, हम बेल्जियम, रूमानिया, अर्जेंटाइना तथा स्विट्जरलैंड के कुछ प्रांतों (cantons) को ले सकते हैं, जहाँ अनिवार्य मताधिकार-सिद्धांत लागू किया गया है। इसके पक्ष और विपक्ष में अनेक तर्क-वितर्क दिए गए हैं।

वयस्क-मताधिकार
(Adult Franchise)

वयस्क-मताधिकार आधुनिक लोकतांत्रिक युग का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम है। इसी वयस्क-मताधिकार के आधार पर जनता अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से प्रशासन का संचालन कराती है। आज विश्व के अधिकांश देशों ने सार्वजनिक वयस्क-मताधिकार लागू किया है।

वयस्क-मताधिकार का अर्थ (Meaning of Adult Franchise)

जब राज्य के हर वयस्क नागरिक को बिना किसी जाति, धर्म, लिंग और संप्रदाय के भेदभाव के मताधिकार प्रदान किया जाता है, तब उसे हम वयस्क-सार्वजनिक मताधिकार (adult universal suffrage or franchise) कहते हैं। इसके अंतर्गत एक निश्चित उम्र तक के पुरुषों एवं औरतों को बिना किसी जाति, धर्म, लिंग, संपत्ति इत्यादि के भेदभाव के मताधिकार प्रदान किया जाता है। चूँकि मताधिकार सभी वयस्क स्त्रियों एवं पुरुषों को ही दिया जाता है और उनके बीच जाति, धर्म और लिंग का अंतर्भेद नहीं किया जाता, इसलिए इसे सार्वजनिक मताधिकार कहा जाता है। उदाहरण के लिए, भारत के प्रत्येक 18 वर्ष के पुरुष एवं स्त्री को मताधिकार प्राप्त है। सभी वयस्कों को मताधिकार नहीं दिया जा सकता। जैसे—पागल, विदेशी या कानून द्वारा मताधिकार-वंचित अपराधी को वयस्क होने के बावजूद मताधिकार नहीं मिल सकता।

वयस्क-मताधिकार के पक्ष में तर्क (Arguments in Favour of Adult Franchise)

विश्व के सभी प्रजातांत्रिक देशों में आज वयस्क मताधिकार का सिद्धांत अपनाया गया है। इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

1. समानता का अधिकार (Right to equality)—चूँकि लोकतंत्र समानता के सिद्धांत पर आधारित है, इसलिए वयस्क-सार्वजनिक मताधिकार राजनीतिक समानता की स्थापना करता है। वयस्क-मताधिकार के अंतर्गत सभी वयस्कों को समान रूप से मतदान का अधिकार दिया जाता है और किसी तरह का भेदभाव नहीं बरता जाता, इसलिए यह समानता के सिद्धांत को लागू करता है।

2. लोकतंत्रीय सिद्धांतों के अनुकूल (Favourable to democratic principles)—वयस्क-मताधिकार लोकतंत्रीय सिद्धांतों के अनुकूल है। चूँकि लोकतंत्र में संप्रभुता का निवास जनता में होता है, इसलिए जनता को बिना किसी भेदभाव के मताधिकार देना चाहिए। वयस्क-मताधिकार के अभाव में लोकतंत्रीय व्यवस्था की सफलता की हम उम्मीद नहीं कर सकते।

3. राजनीतिक प्रशिक्षण (Political training)—मताधिकार शिक्षा का एक साधन है। वयस्क-सार्वजनिक मताधिकार के द्वारा राज्य के प्रत्येक व्यक्ति का राजनीतिक प्रशिक्षण होता है। इससे राज्य में शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित होती है।

4. स्वाभिमान का भाव (Feeling of self-glory)—वयस्क-मताधिकार जनता में स्वाभिमान का भाव उत्पन्न करता है। जनता अपने को राज्य बनाने या बिगाड़नेवाली समझती है और सरकार के प्रशासन-कार्य में सक्रिय भाग लेती है।

5. राष्ट्रीयता का अधिकार (Right to nationality)—वयस्क सार्वजनिक मताधिकार से जनता अपने को राज्य का आवश्यक अंग समझती है। जनता में राष्ट्रीय प्रेम उत्पन्न होता है। इससे राष्ट्रीयता का विकास होता है और राज्य की शक्ति में वृद्धि होती है।

WWW.GRADESETTER.COM

6. सार्वजनिक हित की रक्षा (Protection of public interest)—वयस्क-मताधिकार सार्वजनिक हित का रक्षक है। कुछ व्यक्तियों को वयस्क-मताधिकार देकर सार्वजनिक हित की रक्षा नहीं की जा सकती। जब देश की संपूर्ण जनता मतदान में भाग लेती है तो स्वतः सार्वजनिक हित की रक्षा होती है। **प्रो॰ लॉस्की** के अनुसार, "शक्ति से अलग होने का अर्थ शक्ति के लाभों से वंचित होना है।"[1]

7. कानून पालन में सुविधा (Easy to abide by law)—वयस्क-मताधिकार में संपूर्ण राष्ट्र की जनता निर्वाचन में भाग लेती है और अपने शासकों तथा कानून-निर्माताओं का चयन करती है। वह अपने प्रतिनिधियों द्वारा बनाए गए कानूनों का पालन आसानी से करने लगती है।

8. क्रांति और विद्रोह की असंभावना (Impossibility of revolt and revolution)—वयस्क-मताधिकार में सभी वयस्क लोगों को मतदान में भाग लेने का अधिकार मिलता है। परिणामस्वरूप, राज्य में विद्रोह और क्रांति की संभावना कम हो जाती है।

9. सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व (Representation of all classes)—वयस्क सार्वजनिक मताधिकार संपत्ति, शिक्षा, धर्म, जाति, लिंग इत्यादि पर आधारित नहीं रहता। यह अपने अंतर्गत सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है। इससे सभी वर्गों को समान अवसर तथा समान अधिकार प्राप्त होते हैं जिससे उनमें प्रेम तथा सद्भावना का भाव जागृत होता है।

10. लोकसत्ता का जन्म (Origin of public power)—प्रजातंत्र के अंतर्गत राज्य की सर्वोच्च सत्ता जनता में निवास करती है। इससे लोकसत्ता का जन्म होता है। जनता में सर्वोच्च राज्य-सत्ता की अभिव्यक्ति वयस्क-मताधिकार के द्वारा ही होती है।

11. अनेक बुराइयों की समाप्ति (End of several evils)—वयस्क-मताधिकार में, चूँकि, नागरिक प्रौढ़ विचार के होते हैं और मतदाताओं की संख्या अधिक होती है, इसलिए धनी लोग मतदाताओं को धन से प्रभावित नहीं कर सकते। उनकी जागरूकता के चलते उन्हें गुमराह नहीं किया जा सकता।

12. न्यायसंगत (Reasonable)—वयस्क-मताधिकार का सिद्धांत न्यायसंगत इसलिए है कि राज्य के कानून सबके लिए समान होते हैं। अतएव, कानून-निर्माण में सबको समान अधिकार मिलना चाहिए। वयस्क-मताधिकार इस अधिकार की पूर्ति करता है।

13. मतनिषेध के दुष्परिणाम से रक्षा (Protection from the repercussions of non-franchise)—जिन लोगों को मतदान का अधिकार नहीं दिया जाता, उनके हितों का प्रतिनिधित्व नहीं होता। ऐसे लोग प्रशासन से संतुष्ट नहीं रहते हैं। इससे राज्य में अशांति तथा अव्यवस्था की संभावना रहती है। वयस्क-मताधिकार इस दोष की समाप्ति करता है।

वयस्क-मताधिकार के विपक्ष में तर्क (Arguments Against Adult Franchise)

वयस्क-मताधिकार के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

1. मताधिकार का दुरुपयोग (Misuse of franchise)—वयस्क-मताधिकार के आलोचकों का कहना है कि मताधिकार के लिए कुछ आवश्यक शर्तें रहनी चाहिए। सामान्य नागरिक जो शिक्षित नहीं हैं, वे राजनीतिज्ञों के प्रभाव में आकर अपने मताधिकार का दुरुपयोग करते हैं।

2. साधारण जनता की अयोग्यता (Inability of common people)—वयस्क-मताधिकार के विपक्ष में यह भी कहा जाता है कि साधारण जनता अशिक्षित तथा अज्ञानी होती है। जनता को इतना विवेक नहीं होता कि वह निर्णय कर सके कि किस व्यक्ति के पक्ष में मतदान करना उचित है या किसके पक्ष में अनुचित। वास्तव में, वयस्क मताधिकार के द्वारा शासन को मूर्खों तथा अयोग्यों के हाथों सुपुर्द करना है।

3. निर्धनों के मताधिकार का दुरुपयोग (Misuse of poor men's franchise)—वयस्क-मताधिकार निर्धनों को भी मतदान का अधिकार देता है, इसलिए निर्धन मतदाता आसानी से धनाढ्य लोगों के प्रभाव में आ जाते हैं और धन के लालच में अपना बहुमूल्य मत (vote) उनके हाथ बेच डालते हैं। यह वयस्क-मताधिकार का सबसे बड़ा दुर्गुण है।

1. "Exclusion from power means exclusion from the benefits of power."—LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

4. सरकार की जटिल समस्याएँ (Complicated issues of the government)—वयस्क-मताधिकार के आलोचकों का कहना है कि शासन-संबंधी कार्य जटिल होते हैं। मताधिकार उन्हीं व्यक्तियों को मिलना चाहिए जो शासनकार्य की जटिलता को समझ सकें।

5. महिला-मताधिकार का दुरुपयोग (Misuse of women's franchise)—आलोचकों का कहना है कि स्त्रियों को मताधिकार देना व्यर्थ है। उनमें शारीरिक दुर्बलता तथा मानसिक कमजोरियाँ रहती हैं। वे अपने उत्तरदायित्व को नहीं निभा सकतीं। जिस देश में उन्हें मताधिकार प्राप्त है (जैसे—भारत में), वहाँ स्त्रियाँ निर्वाचन में अभिरुचि नहीं लेतीं। अतः, स्त्रियों का वयस्क-मताधिकार न्यायसंगत नहीं है।

6. मूर्ख और बुद्धिमान में अंतर नहीं (No distinction between the foolish and the wise)—वयस्क-मताधिकार मूर्खों तथा बुद्धिमानों में कोई अंतर नहीं करता। मताधिकार में समानता के सिद्धांत को अपनाकर एक अज्ञानी तथा विवेकशील मनुष्य के मत में कोई अंतर नहीं किया जाता। इसमें न योग्य व्यक्तियों का चुनाव हो पाता है और न चुनाव की पवित्रता ही बनी रहती है।

7. हिंसा का प्रयोग (Use of violence)—जनतांत्रिक देशों में हुए निर्वाचनों से यह स्पष्ट होता है कि वयस्क-मताधिकार के कारण मार-पीट, लूट-खसोट तथा अन्य हिंसात्मक कार्य किए जाते हैं। अब तक भारत का कोई भी चुनाव शांतिपूर्ण और अहिंसात्मक नहीं रहा है।

8. मताधिकार की पवित्रता की समाप्ति (End of the sanctity of franchise)—आलोचकों का कहना है कि मताधिकार एक अधिकार ही नहीं है, वरन एक पवित्र कर्तव्य भी है। इसका प्रयोग सावधानी और बुद्धिमानी के साथ करना चाहिए। **गार्नर** के विचारानुसार, "यह एक कर्तव्य है जो राज्य द्वारा उन व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है जिनके संबंध में यह समझा जाता है कि वे इसका प्रयोग राष्ट्रीय हित में करने की आवश्यक योग्यता रखते हैं।" लेकिन, इतिहास बताता है कि वयस्क-मताधिकार का प्रयोग राष्ट्रीय हित में न कर जातीय, दलीय तथा सांप्रदायिक हित में होता है। इससे मताधिकार की पवित्रता ही नष्ट हो जाती है।

निष्कर्ष (Conclusion)—वयस्क-मताधिकार के पक्ष तथा विपक्ष में दिए गए उपर्युक्त तर्कों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वयस्क-मताधिकार के अंतर्गत अनेक त्रुटियाँ, कठिनाइयाँ तथा कमजोरियाँ हैं। लेकिन, इन कमजोरियों और त्रुटियों के बावजूद वयस्क-मताधिकार की प्रणाली समाप्त नहीं की जा सकती, क्योंकि जनतांत्रिक शासन-प्रणाली की यह सबसे बड़ी देन है। आवश्यकता इस बात की है कि इसकी त्रुटियों को दूर करने का प्रयास किया जाए। मतदाताओं को शिक्षित तथा जागरूक बनाकर ही वयस्क-मताधिकार के दोषों को हम दूर कर सकते हैं। औरतों की संकीर्णताओं को दूर कर उन्हें अधिक-से-अधिक सुशिक्षित बनाएँ। ऐसा करने से ही लोकतांत्रिक व्यवस्था के अनुकूल वयस्क-मताधिकार को ढाला जा सकता है।

भारत में वयस्क-मताधिकार (Adult Franchise in India)

चूँकि वयस्क-मताधिकार जनतांत्रिक व्यवस्था का आधारस्तंभ है, इसलिए स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान में भी जनता को वयस्क सार्वजनिक मताधिकार प्रदान किया गया है। भारत में सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के मताधिकार प्राप्त है। भारत में वयस्क-मताधिकार के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

(i) भारत की अधिकांश जनता अशिक्षित है।

(ii) भारत की जनता में धर्म, जाति और सांप्रदायिक ऊँच-नीच का भेदभाव है। वह निष्पक्ष होकर योग्य व्यक्ति के पक्ष में मतदान नहीं कर सकती।

(iii) धार्मिक संकीर्णता तथा राजनीतिक चेतना के अभाव में भारत की जनता मताधिकार का दुरुपयोग करती है।

(iv) भारत की अधिकांश जनता, चूँकि, गाँवों में निवास करती है, इसलिए अपनी दरिद्रता तथा अंधविश्वास के चलते वह अपने कर्तव्यों तथा अधिकारों के प्रति सचेत नहीं रहती।

(v) जहाँ तक भारतीय स्त्रियों का प्रश्न है, उनकी स्थिति और भी बुरी है। अधिकांश औरतें अशिक्षित हैं और परदे में रहती हैं, जिसके चलते वे अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं कर सकतीं।

(vi) पिछले आम चुनावों से यह स्पष्ट है कि मतदाताओं ने बहुत कम संख्या में अपने मताधिकार का प्रयोग किया है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

निष्कर्ष (Conclusion)—इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि भारत का सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक वातावरण वयस्क-मताधिकार के अनुकूल नहीं है। लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं कि भारत के लोगों को वयस्क-मताधिकार से वंचित रखा जाए। यदि भारतीय जनता को सही राजनीतिक प्रशिक्षण दिया जाए और शिक्षा की समुचित व्यवस्था हो जाए, तो भारतीय वयस्क-मताधिकार के विपक्ष में दिए गए समस्त तर्क समाप्त हो जाएँगे।

महिला-मताधिकार
(Woman Franchise)

राजनीतिशास्त्र के अनेक विद्वानों ने महिला-मताधिकार का विरोध किया है। 1920 ई० के पहले अमेरिका में और 1928 ई० के पूर्व तक इंगलैंड में महिलाओं को मताधिकार नहीं था। स्विट्जरलैंड में 1 फरवरी, 1971 के बाद से महिलाओं को मताधिकार दिया गया। लेकिन, आज विश्व के अधिकांश देशों में महिला-मताधिकार का सिद्धांत अपनाया गया है।

महिला-मताधिकार के पक्ष में तर्क (Arguments in Favour of Woman Franchise)

महिला-मताधिकार के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं—

1. लिंग का आधार गलत—लिंग के आधार पर मताधिकार का निर्धारण गलत है, क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनों समान होते हैं। महान यूनानी दार्शनिक **प्लेटो** ने पुरुषों तथा स्त्रियों के बीच समानता स्वीकार की थी। उसने पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी शासनकार्य के लिए उपयुक्त समझा था। अतः, मताधिकार में लिंग का निर्धारण ही गलत है।

2. समानता को प्रोत्साहन—औरतों के मताधिकार के समर्थकों का कहना है कि प्रजातंत्र का आधारभूत सिद्धांत समानता, स्वतंत्रता तथा भ्रातृत्व है। लिंग के आधार पर औरतों को मताधिकार से वंचित करना सर्वथा अन्याय है। यह प्रजातंत्र के समानता के सिद्धांत के विरुद्ध है।

3. महिलाओं के हितों की रक्षा—महिलाओं के मताधिकार के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क यह है कि यदि उन्हें मतदान का अधिकार प्राप्त न हो सके तो उनके हितों की रक्षा नहीं हो सकती। उनके हितों की रक्षा के लिए उन्हें मताधिकार आवश्यक है।

4. नारी-स्वतंत्रता—सदियों से नारियों को घर की चहारदीवारी में जकड़कर रखा गया है। नारी केवल संपत्ति का भाग नहीं है। नारी-स्वतंत्रता के खयाल से महिला-मताधिकार वर्तमान समाज के लिए आवश्यक है।

5. न्याय के औचित्य के लिए—जब अशिक्षित और दरिद्र मजदूरों को मताधिकार दिया जाता है तब औरतों को इस अधिकार से वंचित रखना न्यायोचित नहीं है।

6. समान योग्यता—यह कहना कि औरतें मानसिक तथा शारीरिक दृष्टि से पुरुषों की अपेक्षा दुर्बल हैं, न्यायसंगत नहीं है। आज अनेक क्षेत्रों में औरतों ने पुरुषों की तुलना में अधिक कुशलता के साथ अपनी योग्यता का परिचय दिया है।

7. राष्ट्रीय हित के संदर्भ में—महिलाओं को मताधिकार देने से राष्ट्र के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन के विकास में सहायता पहुँचती है। जिस प्रकार सर्वोत्तम पारिवारिक जीवन के लिए स्त्री और पुरुषों का सहयोग आवश्यक है उसी प्रकार स्त्रियों और पुरुषों का एक साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलने से ही राष्ट्रीय हित की प्राप्ति हो सकती है।

8. पारिवारिक जीवन पर प्रभाव—यदि औरतों को मताधिकार दिया जाता है तो इससे उनका दृष्टिकोण व्यापक होगा तथा उनके व्यक्तित्व का विकास होगा, जिसका प्रभाव मनुष्य के सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन पर पड़ेगा।

महिला-मताधिकार के विपक्ष में तर्क (Arguments against Woman Franchise)

अनेक विद्वानों ने औरतों को मताधिकार देने का विरोध किया है। औरतों के मताधिकार के विपक्ष में अग्रलिखित तर्क हैं—

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. औरतों में शारीरिक और मानसिक दुर्बलता—नारी-मताधिकार के विपक्ष में सबसे बड़ा तर्क यह है कि स्त्रियाँ शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से पुरुषों की अपेक्षा दुर्बल होती हैं। अतएव, पुरुषों की तरह उन्हें समान अधिकार नहीं मिलना चाहिए।

2. कार्यक्षेत्र की दृष्टि से—औरतों का कार्यक्षेत्र पुरुषों से भिन्न है। उनका कार्यक्षेत्र घर तथा परिवार है। यदि वे राजनीति में भाग लेंगी तो बच्चों का समुचित पालन नहीं हो सकेगा और पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाएगा।

3. प्रकृति की दृष्टि से—प्रकृति की दृष्टि से भी पुरुषों के समान औरतों को अधिकार नहीं मिलना चाहिए। प्रकृति ने औरतों का निर्माण पुरुषों की सेवा करने के लिए किया है। औरतों की प्रकृति पुरुषों की तुलना में झगड़ालू और शंकालु होती है, इसलिए वे अपने मताधिकार का दुरुपयोग कर सकती हैं।

4. पारिवारिक अशांति—यदि औरतें राजनीति में भाग लेने लगीं और उन्हें मताधिकार दिया गया तो पारिवारिक जीवन अशांत हो जाएगा। पति-पत्नी का मधुर प्रेम राजनीतिक मतभेद में बदल जाएगा। इससे पारिवारिक पवित्रता समाप्त हो जाएगी।

5. नारीसुलभ गुणों की समाप्ति—राजनीति में भाग लेने से नारीसुलभ गुणों (जैसे—लज्जा, कोमलता, सुशीलता, सहिष्णुता, दया, सहानुभूति इत्यादि) की समाप्ति हो जाएगी।

6. औरतों की उदासीनता—अनुभव बताता है कि सामान्यतः औरतें मतदान के प्रयोग में उदासीनता दिखाती हैं। वे पारिवारिक व्यस्तता के आगे मतदान के मूल्य को नगण्य समझती हैं। उन्हें मतदान-केंद्रों में जाने में काफी घबराहट होती है। अतः, स्त्रियों को मताधिकार नहीं मिलना चाहिए।

निष्कर्ष (Conclusion)—महिला-मताधिकार-संबंधी उपर्युक्त तर्कों के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महिला-मताधिकार के अनेक दोष हमारे सामने हैं, जिनके चलते उनके मताधिकार का दुरुपयोग होता है तथा जिसका प्रभाव देश और समाज पर बुरा पड़ता है। लेकिन, जहाँ तक व्यावहारिक जीवन का प्रश्न है, हम आज महिला-मताधिकार की उपेक्षा नहीं कर सकते। आज महिलाओं में जागृति आई है और अपने अधिकारों को पुरुषों की तुलना में पाने के निमित्त 'महिला-समाज' आदि संस्थाओं की स्थापना हो गई है। भारत की भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी, इजरायल की प्रधानमंत्री श्रीमती गोल्डामेयर, ब्रिटेन की प्रधानमंत्री मारग्रेट थैचर तथा श्रीलंका की भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती भंडारनायक के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि महिलाएँ भी बड़ी-से-बड़ी प्रशासनिक जिम्मेवारी ले सकती हैं। अतः, आज हम महिलाओं को मताधिकार से वंचित नहीं कर सकते।

निर्वाचन-प्रणाली
(Election System)

साधारणतया निर्वाचन की दो प्रणालियाँ होती हैं जिन्हें हम निम्नलिखित रूप में स्पष्ट कर सकते हैं—

निर्वाचन-प्रणाली

प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली (Direct election)	अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली (Indirect election)

1. प्रत्यक्ष निर्वाचन (Direct election)—जब मतदाता अपने प्रतिनिधियों का चुनाव स्वयं करते हैं, तब उसे प्रत्यक्ष निर्वाचन कहा जाता है। इस प्रणाली के अंतर्गत मतदाता अपने प्रतिनिधियों, विधायकों और शासकों का चुनाव करते हैं। भारत में लोकसभा तथा विधानसभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष होता है। ब्रिटिश कॉमन-सभा और अमेरिकी प्रतिनिधि-सभा के सदस्यों का भी प्रत्यक्ष निर्वाचन होता है।

2. अप्रत्यक्ष निर्वाचन (Indirect election)—अप्रत्यक्ष निर्वाचन में मतदाता अपने प्रतिनिधियों, विधायकों या शासकों के चुनाव में स्वयं भाग नहीं लेते, वरन कुछ ऐसे लोगों को चुनते हैं जो उनके बदले में प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं, अर्थात प्रतिनिधियों का निर्वाचन मतदाता द्वारा निर्वाचित एक निर्वाचक-मंडल (electoral college) द्वारा होता है। उदाहरण के लिए, भारत के राष्ट्रपति तथा राज्यसभा के सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष ढंग से होता है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण (Merits of Direct Election)

प्रत्यक्ष निर्वाचन के निम्नलिखित गुण हैं—

1. जनता में राजनीतिक जागृति—प्रत्यक्ष निर्वाचन का सबसे बड़ा गुण यह है कि इससे जनता में राजनीतिक जागृति होती है। इससे जनता अपने राजनीतिक अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रति जागरूक होती है।

2. आत्मगौरव की भावना—प्रत्यक्ष निर्वाचन में लोगों को पूरा एहसास हो जाता है कि वे भी प्रशासन तथा राष्ट्रीय राजनीति में हकदार हैं। प्रतिनिधियों का चुनाव करते समय उनमें एक विशेष गौरव की भावना उत्पन्न होती है। उनमें यह भावना पैदा होती है कि राज्य की अंतिम सत्ता उनमें निवास करती है। इस प्रकार, उनके आत्मगौरव में वृद्धि होती है।

3. उत्तरदायित्व का विकास—प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली के अंतर्गत प्रतिनिधियों में उत्तरदायित्व का विकास होता है। प्रतिनिधि जनमत के भय के कारण जनमत के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करते, क्योंकि उन्हें पुनः निर्वाचन के समय उसी जनता के पास जाना पड़ता है।

4. भ्रष्टाचार की समाप्ति—प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली के जरिए भ्रष्टाचार की समाप्ति में सहायता मिलती है। इसमें मतदाताओं की संख्या अधिक रहती है, इसलिए उन्हें आसानी से प्रलोभन में नहीं लाया जा सकता।

5. मतदाता एवं प्रतिनिधियों के बीच सीधा संपर्क—प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली के अंतर्गत मतदाता तथा उनके प्रतिनिधियों के बीच प्रत्यक्ष संपर्क बना रहता है। हर उम्मीदवार मतदाताओं से मिलकर अपने कार्यक्रम और नीतियों से उन्हें प्रभावित करने का प्रयास करता है। इससे जनतंत्र को काफी लाभ होता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के अवगुण (Demerits of Direct Election)

प्रत्यक्ष निर्वाचन के निम्नलिखित प्रमुख दोष हैं—

1. मूर्खों का निर्णय—प्रत्यक्ष निर्वाचन का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें अज्ञानी एवं मूर्खों का बहुमत रहता है और उन्हीं के निर्णय पर प्रतिनिधियों का निर्वाचन भी होता है।

2. उम्मीदवारों के व्यक्तित्व का मूल्यांकन—प्रत्यक्ष निर्वाचन में उम्मीदवारों के व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन नहीं होता। मतदाता सस्ती भावुकता के प्रवाह में बहकर मतदान करते हैं। वे उम्मीदवारों के व्यक्तित्व तथा उनके कार्यक्रमों पर ध्यान नहीं देते।

3. खर्चीली प्रणाली—प्रत्यक्ष निर्वाचन की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि यह अत्यधिक खर्चीली प्रणाली है। चुनाव का आयोजन व्यापक स्तर पर होता है, इसलिए निर्वाचन में काफी खर्च होता है। भारत-जैसे विकासशील देश के लिए यह काफी बोझिल हो जाता है।

4. पेशेवर राजनीतिज्ञों का बोलबाला—इस व्यवस्था की आलोचना इसलिए भी की जाती है कि इसमें पेशेवर राजनीतिज्ञों का बोलबाला रहता है। ये पेशेवर राजनीतिज्ञ चुनाव जीतकर अपना राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करते हैं। यह राष्ट्रीय हित के विरुद्ध होता है।

5. तनाव और प्रतिद्वंद्विता—प्रत्यक्ष निर्वाचन में तनाव और प्रतिद्वंद्विता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उम्मीदवार, चूँकि, विभिन्न दलों के होते हैं और मतदाताओं के पास पहुँचते हैं, इसलिए उनमें प्रतिद्वंद्विता की भावना उत्पन्न हो जाती है। मतदाता भी संकीर्णताओं के शिकार हो जाते हैं, जिसके चलते उनमें तनाव और कटुता उत्पन्न हो जाती है।

6. हिंसक घटनाओं को प्रोत्साहन—प्रत्यक्ष चुनाव में हिंसक घटनाओं को प्रोत्साहन मिलता है। यह शक्तिशालियों का चुनाव हो जाता है जिसके चलते वे समाज के कमजोर वर्गों को डराते-धमकाते हैं। कभी-कभी तो चुनाव-केंद्रों पर संघर्ष हो जाते हैं। इसमें बहुतों की जानें चली जाती हैं। भारतीय आम चुनावों में यह आम बात हो गई है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण (Merits of Indirect Election)

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के पक्ष में अग्रलिखित तर्क दिए जाते हैं—

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. अशिक्षित जनता के लिए उपयोगी—अप्रत्यक्ष निर्वाचन का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह उस देश के लिए उचित है जिस देश की जनता अशिक्षित एवं अज्ञानी है। चूँकि अशिक्षित जनता सही निर्णय नहीं ले सकती, इसलिए चुने हुए शिक्षित मतदाता सही निर्णय लेकर इस पद्धति को सफल बनाते हैं।

2. श्रेष्ठ तथा अच्छे उम्मीदवारों का चयन—अप्रत्यक्ष निर्वाचन में मतदाताओं की संख्या सीमित रहती है तथा मतदाता शिक्षित एवं समझदार होते हैं। अतः वे योग्य, कुशल और ईमानदार व्यक्तियों का ही चयन करते हैं। उम्मीदवारों के चुनाव में वे उनके व्यक्तित्व एवं कार्यक्रमों पर विशेष ध्यान देते हैं।

3. सस्ती भावुकता की समाप्ति—अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली का एक अन्य गुण है कि इसमें मतदाता सस्ते नारे तथा सस्ती भावुकता का शिकार नहीं होते। वे उम्मीदवारों के व्यक्तित्व, उनकी नीतियों और कार्यक्रमों के अध्ययन के बाद ही उन्हें अपना मतदान करते हैं। वे पेशेवर राजनीतिज्ञों के झूठे प्रलोभनों का शिकार नहीं होते।

4. कम व्यय—अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली की अपेक्षा कम खर्चीली होती है। चूँकि इसके अंतर्गत मतदाताओं की संख्या सीमित रहती है, इसलिए मतदान का आयोजन सीमित दायरे में होता है। इससे मतदान में कम खर्च होता है।

5. पेशेवर राजनीतिज्ञों का अभाव—अप्रत्यक्ष निर्वाचन के अंतर्गत मतदाताओं की संख्या सीमित होती है। मतदाता शिक्षित और समझदार होते हैं। वे पेशेवर राजनीतिज्ञों के झूठे प्रलोभनों और वादे का शिकार नहीं होते। यही कारण है कि इस प्रणाली में पेशेवर राजनीतिज्ञों का अभाव पाया जाता है।

6. बड़े निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए उपयोगी—प्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली बड़े और व्यापक देशों के लिए उपयोगी होती है। बड़े देशों के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन अनुकूल नहीं होता।

7. बड़े पदाधिकारियों के लिए उपयोगी—अप्रत्यक्ष निर्वाचन-पद्धति बड़े पदाधिकारियों के चुनाव के लिए उपयोगी सिद्ध हुई है, जैसे भारतीय राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष प्रणाली से होता है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष (Demerits of Indirect Election)

अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली के निम्नलिखित दोष हैं—

1. प्रजातंत्र-विरोधी—अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली का सबसे बड़ा दुर्गुण यह है कि इसमें जनता को निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार नहीं दिया जाता। चूँकि मतदाताओं की संख्या बहुत कम होती है, इसलिए यह प्रणाली अप्रजातांत्रिक है।

2. जनता और प्रतिनिधियों से संपर्क नहीं—अप्रत्यक्ष निर्वाचन के अंतर्गत, चूँकि, जनता प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन में भाग नहीं लेती, इसलिए जनता और उनके प्रतिनिधियों के बीच प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित नहीं हो पाता। जनता के चुने हुए प्रतिनिधि ही उच्चतर प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं।

3. उत्तरदायित्व का अभाव—चूँकि जनता प्रत्यक्ष चुनाव में भाग नहीं लेती, इसलिए प्रतिनिधि जनता के प्रति अपना उत्तरदायित्व नहीं समझते।

4. प्रतिनिधियों की स्वेच्छाचारिता—प्रतिनिधि, चूँकि जनता के प्रति उत्तरदायी होने की आवश्यकता महसूस नहीं करते, इसलिए उनमें स्वेच्छाचारिता की भावना विकसित हो जाती है। वे मनमाने कानूनों का निर्माण करने लगते हैं।

5. भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन—अनेक विद्वानों की राय में अप्रत्यक्ष निर्वाचन में भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। इसमें जनता और उम्मीदवार के बीच सीधा संपर्क नहीं रहता। दोनों के बीच बिचौलिये (middlemen) रहते हैं, जिनका चुनाव जनता करती है। इससे राजनीतिक दलबंदी और भ्रष्टाचार बढ़ता है।

6. जनता में असहयोग की भावना का विकास—अप्रत्यक्ष निर्वाचन का एक अन्य दोष है कि यह प्रणाली जनता में असहयोग की भावना विकसित करती है। जनता को अपने शासकों और प्रतिनिधियों के चयन का अधिकार नहीं दिया जाता। परिणामस्वरूप, जनता देश की राजनीतिक स्थिति और प्रशासन के प्रति उदासीन हो जाती है और उसमें असहयोगात्मक प्रवृत्ति का विकास हो जाता है।

7. जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण की कमी—अप्रत्यक्ष निर्वाचन में सभी जनता निर्वाचन में भाग नहीं लेती, अधिकांश जनता राजनीतिक वातावरण से दूर रहती है। जनता को राजनीतिक समस्याओं एवं

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

विभिन्न दलों की नीतियों एवं कार्यक्रमों की जानकारी नहीं मिलती। जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण नहीं मिलने से जन-जागरूकता समाप्त हो जाती है।

8. व्यावहारिक दोष—अप्रत्यक्ष निर्वाचन अपने व्यावहारिक दोष का भी शिकार है। अनुभव यह भी बताता है कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवहार में प्रत्यक्ष रूप ग्रहण कर लेता है। राजनीतिक दलबंदी के चलते इसका रूप विकृत हो जाता है। उदाहरण के लिए, हम भारतीय राष्ट्रपति का चुनाव ले सकते हैं जिसमें प्रत्यक्ष रूप से संसद तथा विभिन्न राज्यों के विधानमंडलों में आई सक्रियता से राजनीतिक वातावरण तनावपूर्ण हो जाता है।

निष्कर्ष—निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन जनतांत्रिक व्यवस्था का एक आधार होते हुए जनतांत्रिक मूल्यों की समाप्ति करता है। व्यवस्थापिका तथा विधानसभाओं के उम्मीदवारों का चुनाव हमेशा प्रत्यक्ष होना चाहिए। बड़े पदाधिकारियों के चुनाव का जहाँ तक प्रश्न है, उसमें अप्रत्यक्ष तरीके अपनाते हुए अधिक-से-अधिक जन-जागरूकता विकसित करने का प्रयास होना चाहिए।

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की प्रणालियाँ
(Methods of Minority Representation)

परिचय (Introduction)—जनतांत्रिक शासन-प्रणाली में जनता अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन का संचालन करती है। प्रत्येक राज्य में प्रतिनिधित्व से साधारणतया बहुमत के प्रतिनिधित्व का बोध होता है, क्योंकि उम्मीदवारों का चुनाव बहुमत के ही आधार पर किया जाता है। प्रत्येक देश में बहुसंख्यकों के अलावा, अनेक प्रकार के अल्पसंख्यक समुदाय भी रहते हैं। सामान्य निर्वाचन-प्रणाली के अंतर्गत अल्पसंख्यकों को समुचित प्रतिनिधित्व नहीं दिया जा सकता। अतएव, विश्व के प्रायः सभी देशों में अल्पसंख्यकों को समुचित प्रतिनिधित्व देने के लिए कुछ व्यवस्थाएँ की गई हैं। **लेवी, जे० एस० मिल** आदि विद्वानों ने अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के प्रश्न को सर्वप्रथम उठाया था। **जे० एस० मिल** के विचारानुसार, "यदि अनेक वर्गों को शासन करने का प्राकृतिक अधिकार है तो अल्पसंख्यकों को भी समान अधिकार है कि उनकी बातें सुनी जाएँ।" **मिल** ने पुनः कहा है, "सच्चे जनतंत्र के अंतर्गत प्रत्येक समुदाय को आनुपातिक ढंग से प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।"

आज के युग में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न है। आज अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की हम अवेहलना नहीं कर सकते। अल्पसंख्यक वर्ग राष्ट्र का एक भाग होते हुए बहुसंख्यक जनसमूह से भिन्न होता है। इस भिन्नता का आधार आर्थिक, धार्मिक तथा सांप्रदायिक होता है। अल्पसंख्यक वर्गों के समुचित प्रतिनिधित्व से हम सच्चे लोकतंत्र की स्थापना कर सकते हैं।

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की विभिन्न प्रणालियाँ
(Different Methods of Minority Representation)

आधुनिक विचारकों ने अल्पसंख्यकों के समुचित प्रतिनिधित्व के लिए निम्नलिखित पद्धतियों को प्रस्तुत किया है—

आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली (Proportional Representation)

इसका अर्थ है कि प्रजातंत्र में जनमत के प्रत्येक वर्ग को उसकी शक्ति के अनुपात में विधानमंडल में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। इस प्रणाली का प्रवर्तक इंगलैंड का प्रसिद्ध विद्वान 'टॉमस हेयर' था जिसके नाम पर ही इसे **हेयर-पद्धति** भी कहा जाता है। इसके अंतर्गत व्यवस्था की गई विभिन्न उपपद्धतियों में एकल संक्रमणीय पद्धति और सामान्य सूची-पद्धति मुख्य हैं। एकल संक्रमणीय मतपद्धति (single transferable vote system) के अंतर्गत मतदान तथा मतगणना के लिए एक विशिष्ट पद्धति अपनाई जाती है। आधुनिक युग के प्रायः सभी राज्यों में इस पद्धति को किसी-न-किसी रूप में मान्यता दी गई है। इस पद्धति के अंतर्गत मतदाता को एक मत देने का अधिकार प्राप्त है। प्रत्येक मतदाता मतपत्र पर दिए गए उम्मीदवारों को अपनी इच्छा के अनुसार मतदान करता है। जिसे मतदाता सबसे अधिक पसंद करता है,

WWW.GRADESETTER.COM

उस उम्मीदवार के नाम के आगे अपनी पसंदगी अंकित कर देता है। इसी क्रम में वह (i), (ii), (iii), (iv) आदि चिह्न लगाकर अपनी वरीयता (preference) जाहिर करता है। (i), (ii), (iii), (iv) आदि चिह्नों से यह स्पष्ट होता है कि मतदाता की प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चौथी वरीयता कौन-सी है, अर्थात किस क्रम में वह उम्मीदवार को पसंद करता है। इस पद्धति के अंतर्गत प्रत्येक उम्मीदवार को निर्वाचित होने के लिए मतों की एक निश्चित संख्या प्राप्त करनी पड़ती है, अर्थात इसके अंतर्गत एक यथांश (कोटा) निश्चित कर दिया जाता है। इस निश्चित यथांश (कोटा) या मतसंख्या से अधिक मत प्राप्त करनेवाला व्यक्ति ही निर्वाचित होता है। यथांश (कोटा) निर्धारित करने के लिए एक विशेष पद्धति अपनाई जाती है।

$$\text{यथांश (कोटा)} = \frac{\text{मतों की कुल संख्या}}{\text{चुने जानेवाले सदस्यों की संख्या}} + 1$$

उदाहरण के लिए, यदि किसी निर्वाचन-क्षेत्र में 88,000 मतदाताओं ने मतदान किए हैं और निर्वाचित होनेवाले प्रतिनिधियों की संख्या यदि 10 हो तो किसी भी प्रतिनिधि को निर्वाचित होने के लिए कम-से-कम 8801 मत प्राप्त करना होगा, जिसे निम्नलिखित ढंग से भी स्पष्ट किया जा सकता है।—

$$\text{कोटा} = \frac{88,000}{10} + 1 = 8801$$

मतों की गणना के समय सबसे पहले **पहली वरीयता** की गणना की जाती है। उस वरीयता की गणना के बाद यदि उम्मीदवारों की निर्धारित संख्या पूरी नहीं होती तो निर्वाचित उम्मीदवार के अतिरिक्त प्रथम वरीयता को द्वितीय वरीयता के अनुसार दूसरे उम्मीदवारों में संमति (transfer) कर दिया जाता है और इस प्रकार निर्धारित संख्या की पूर्ति की जाती है। इसे एकल संक्रमणीय मत (single transferable vote) कहा जाता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली के गुण (Merits of proportional representation)—आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली अधिक लोकप्रिय तथा व्यापक है। इसकी व्यापकता तथा लोकप्रियता के निम्नलिखित कारण हैं—

(i) इस प्रणाली के अंतर्गत प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अल्पमत को अपनी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है।

(ii) इस प्रणाली में निर्वाचित व्यवस्थापिका लोकमत का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें बहुमत की निरंकुशता का भय नहीं रहता ।

(iii) इसमें कोई भी मत व्यर्थ नहीं होता।

(iv) आनुपातिक प्रतिनिधित्व में मतदाताओं की स्वतंत्रता सुरक्षित रहती है और उन्हें अधिकांशतः स्वतंत्रतापूर्वक मतदान का अवसर प्राप्त होता है।

(v) यह प्रणाली मतदाताओं के राजनीतिक प्रशिक्षण में भी सहायक होती है, क्योंकि मतदाता अपनी पसंदगी के अनुसार मतदान करते समय उम्मीदवारों की योग्यता का खयाल करते हैं।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली के दोष (Demerits of proportional representation)—**लॉस्की, ऐस्माँ** (Esmaine) आदि कुछ विद्वानों ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली की आलोचना की है। उनके तर्क निम्नलिखित हैं—

(i) यह प्रणाली जटिल और कठिन है। अधिकांश मतदाता इसे समझने में असमर्थ होते हैं।

(ii) इस प्रणाली के अंतर्गत निर्वाचन-क्षेत्र बड़े होते हैं जिसके कारण निर्वाचन में अधिक व्यय होता है और मतदाताओं तथा उम्मीदवारों में संपर्क नहीं हो पाता।

(iii) यह प्रणाली उपचुनाव में लागू नहीं होती। उपचुनाव लोकमत प्रदर्शित करने के लिए आवश्यक होता है, किंतु इस प्रणाली से लोकमत का ज्ञान नहीं हो पाता।

(iv) यह प्रणाली अनेक राजनीतिक दलों तथा समुदायों को जन्म देती है, जिससे शासन कमजोर तथा अनुत्तरदायी हो जाता है।

(v) इस प्रणाली से व्यवस्थापिका का राष्ट्रीय स्वरूप नष्ट हो जाता है। वह अनेक परस्पर-विरोधी समुदायों एवं भागों में बँट जाती है, जिनके बीच संघर्ष होना स्वाभाविक है। इसी संदर्भ में फ्रांसीसी विधिवेत्ता

WWW.GRADESETTER.COM

ऐस्माँ ने कहा है, "आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली की स्थापना करना द्विसदनीय प्रणाली की औषधि को विषरूप में परिणत करना है; कुव्यवस्था की व्यवस्था करना और व्यवस्थापिका को पंगु बनाना है; मंत्रिमंडल को स्थायी बनाना तथा संसदीय शासन को असंभव बनाना है।"[1]

उपर्युक्त आलोचनाओं के अतिरिक्त विभिन्न विद्वानों ने इस पद्धति के अनेक दोषों को स्पष्ट किया है। **प्रो॰ लॉस्की** के विचारानुसार, "यह योजना जन-जीवन के स्तर को उन्नत बनाने में असफल रही है।" **प्रो॰ सिजविक** और **वेजहॉट** ने भी इस पद्धति की आलोचना की है।

सूची-प्रणाली (List-system)

सूची-प्रणाली आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली का ही एक रूप है। इस प्रणाली के अनुसार निर्वाचन-क्षेत्र बहु-सदस्यात्मक होता है। इस पद्धति के अंतर्गत मतदान व्यक्तिगत आधार पर न करके दल के आधार पर किया जाता है। प्रत्येक दल अलग-अलग अपनी सूची तैयार करता है और मतदाता विभिन्न दलों के उम्मीदवारों की सूची के आधार पर ही मतदान करते हैं। मतदान के पश्चात प्रत्येक सूची के लिए डाले गए मतों की पृथक-पृथक गणना होती है और दल को प्राप्त मत-संख्या के अनुपात में उसके निर्वाचित उम्मीदवारों की संख्या निश्चित की जाती है। प्रत्येक मतदाता रिक्त स्थानों की संख्या के बराबर ही मत दे सकता है।

सूची-प्रणाली के लाभ-हानि (Advantages and disadvantages of list-system)—सूची-प्रणाली बहुत ही सरल है। **मिल** के अनुसार, "यह राज्य के अंदर निवास करनेवाले विभिन्न दलों और समूहों के बीच स्थान-वितरण करने का सर्वश्रेष्ठ और सुंदर साधन है।" यह पद्धति कम खर्चीली भी है, परंतु इस पद्धति के अनेक दोष हैं। यह पद्धति बड़े-बड़े देशों के लिए बिल्कुल अव्यावहारिक है। दूसरे, इस पद्धति के अंदर मतदाता और प्रतिनिधि में निकट का संबंध नहीं रहता। तीसरे, प्रत्येक दल का आनुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं होता। साथ ही, इस प्रणाली में राजनीतिक दलों का नियंत्रण और उनकी बुराइयाँ बहुत बढ़ जाती हैं।

सीमित मतदान-प्रथा (Limited Vote-system)

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए सीमित मतदान-प्रणाली भी महत्त्वपूर्ण है। इस प्रणाली का प्रयोग बहु-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए होता है, जिसमें कम-से-कम तीन सदस्यों के निर्वाचित होने की व्यवस्था हो। इस प्रणाली के अंतर्गत प्रत्येक मतदाता को एक से अधिक, किंतु निर्वाचित होनेवाले प्रतिनिधियों की संख्या से कम मत देने का अधिकार प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी निर्वाचन-क्षेत्र से 6 प्रतिनिधियों को निर्वाचित होना है, तो मतदाता को 5 या उससे कम मत देने का अधिकार प्राप्त होगा। परंतु यह प्रथा भी बहुत दोषपूर्ण है, क्योंकि इसमें अल्पसंख्यकों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता।

संचित मतदान-प्रणाली (Cumulative Vote-system)

इस प्रणाली के अंतर्गत मतदाता को उतनी संख्या में मत प्रदान करने का अधिकार होता है, जितने सदस्य को किसी निर्वाचन-क्षेत्र से चुना जाना है, अर्थात मतदाता को उम्मीदवारों की संख्या के बराबर मत देने का अधिकार रहता है। साथ ही, मतदता को यह भी अधिकार रहता है कि अपने मत किसी एक उम्मीदवार को ही दे सकता है। अतएव, अल्पसंख्यक वर्ग के मतदाता अपने सभी मत अपने प्रतिनिधि के पक्ष में दे सकते हैं, जिसके फलस्वरूप उसका प्रतिनिधि निर्वाचित हो सकता है। इस प्रणाली का प्रमुख दोष यह है कि इसमें अल्पसंख्यकों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। इसका दूसरा दोष है कि कभी-कभी उन्हें अनुपात से भी अधिक प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

वैकल्पिक मत-प्रणाली (Alternative Vote-system)

इस प्रणाली का प्रयोग एकसदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए होता है। इस प्रणाली में मतदाता जिस उम्मीदवार को चुनना चाहता है, उसके पक्ष में वह अपनी पहली वरीयता व्यक्त करता है, किंतु उसके साथ-साथ मतदाता को अपने वैकल्पिक मत-प्रयोग करने की भी स्वतंत्रता रहती है। परिणामस्वरूप, मतदाता

1. "To establish the system is to organise disorder and to emasculate legislative powers, it is to render cabinets unstable, destroy their homogeneity, and parliamentary government impossible."—ESMAINE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अन्य उम्मीदवारों के नाम के आगे दूसरी, तीसरी और चौथी पसंद लिख देता है। मतगणना के समय सबसे पहले प्रथम वरीयता की गणना की जाती है और यदि उसी के परिणामस्वरूप किसी एक को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो जाए तो उसे निर्वाचित घोषित किया जाता है; अन्यथा सबसे कम मत प्राप्त करनेवाले उम्मीदवार का नाम काट दिया जाता है और उससे पहली पसंद के मतों को द्वितीय अधिमान के अनुसार अन्य उम्मीदवारों में विभक्त कर दिया जाता है। यह प्रक्रिया तब तक दुहराई जाती है जब तक किसी एक उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो जाए। यह पद्धति अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए कई दृष्टियों से लाभदायक है, फिर भी दोषरहित नहीं है। विद्वानों के मतानुसार, यह पद्धति छोटे-छोटे और असंगठित अल्पसंख्यकों के लिए हितकर नहीं है।

सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली (Communal Electoral-system)

सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली भारत में अँगरेजों की देन है। इसे पृथक निर्वाचन-प्रणाली भी कहा जाता है। इस प्रणाली के अनुसार निर्वाचित होनेवाले प्रतिनिधियों की संख्या धार्मिक संप्रदायों की जनसंख्या के अनुपात में निश्चित कर दी जाती है तथा मतदाताओं को भी धर्म के आधार पर अलग कर दिया जाता है। इसमें मतदाताओं को अपने-अपने धर्म के प्रतिनिधियों को ही मतदान करने का अधिकार रहता है। उदाहरणस्वरूप, हिंदू-मतदाता हिंदू-प्रतिनिधि के लिए मतदान कर सकते हैं तथा मुस्लिम-मतदाता मुस्लिम-प्रतिनिधियों के लिए।

यद्यपि इस प्रणाली के द्वारा अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है, किंतु यह अत्यंत ही बुरी प्रणाली है। इस प्रणाली के कारण राज्य में हमेशा फूट, विभेद और सांप्रदायिक दंगे होने की संभावना रहती है। यह प्रणाली सांप्रदायिक वैमनस्य उत्पन्न करती है और राष्ट्र-विरोधी प्रवृत्तियों को भी जन्म देती है। 'फूट डालो और शासन करो' के उद्देश्य से ही अँगरेजों ने जानबूझकर भारत में सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली चलाई थी।

द्वितीय मतदान-प्रणाली (Second Vote-system)

अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व को व्यापक बनाने के उद्देश्य से द्वितीय मतदान-प्रणाली भी लागू की गई है। यदि एक स्थान के लिए दो से अधिक उम्मीदवार हैं और यदि किसी उम्मीदवार को निरपेक्ष बहुमत नहीं मिलता हो तो इस प्रणाली के द्वारा पहले मतदान में सबसे कम मत पानेवाले उम्मीदवार को निर्वाचन-क्षेत्र से हटाकर शेष दो के लिए दूसरी बार मतदान किया जाता है। इस प्रकार, निरपेक्ष बहुमत प्राप्त करनेवाले उम्मीदवार को निर्वाचित घोषित किया जाता है। इस प्रणाली का दोष है कि इसके द्वारा अल्पसंख्यकों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता और न यह प्रणाली उन क्षेत्रों में लागू हो सकती है जहाँ एक स्थान के लिए तीन से कम उम्मीदवार खड़े हों।

पेशागत प्रतिनिधित्व
(Functional Representation)

श्रेणीसमाज के समर्थकों ने प्रतिनिधित्व का आधार पेशा बताया है। उनका कहना है कि सार्वजनिक प्रतिनिधियों से उचित प्रतिनिधित्व नहीं होता। चूँकि हर व्यक्ति का अपने पेशे से विशेष स्वार्थ रहता है, इसलिए पेशा में लगा हुआ व्यक्ति ही अपने पेशेवालों का सही प्रतिनिधित्व कर सकता है। इसके समर्थकों ने बताया है कि मजदूरों का प्रतिनिधित्व मजदूर, किसानों का प्रतिनिधित्व किसान तथा छात्रों का प्रतिनिधित्व छात्र ही कर सकता है। चूँकि सार्वजनिक प्रतिनिधित्व में एक ही व्यक्ति विभिन्न पेशेवालों का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए वह सभी लोगों की आवश्यकताओं को समझ नहीं सकता। इस पद्धति के अनुसार निर्वाचन-क्षेत्र नहीं होंगे वरन विभिन्न पेशे होंगे। मतदाता अपने ही पेशे के उम्मीदवार को मत देंगे।

गुण (Merits)—पेशागत प्रतिनिधित्व का सबसे बड़ा गुण है कि पेशा के आधार पर प्रतिनिधित्व होगा। पेशे के आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधि ही अपने पेशे में लगे लोगों की आवश्यकताओं को समझ सकता है और उनके प्रति न्याय कर सकता है। इससे राष्ट्रीय और सामाजिक एकता की प्राप्ति होगी तथा निर्वाचन-संबंधी अनेक असुविधाएँ भी समाप्त होंगी। **जी० डी० एच० कोल** के विचारानुसार, "संसद सभी नागरिकों की सभी बातों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है, लेकिन नियमित रूप में वह किसी का भी प्रतिनिधित्व नहीं करती। सच्चे लोकतंत्र की प्राप्ति केवल एक सर्वशक्तिमान प्रतिनिधि-सभा द्वारा नहीं, वरन विभिन्न व्यवसायों के आधार पर समायोजित प्रतिनिधि-संस्थाओं की व्यवस्था से ही संभव है।"

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व-सिद्धांत की त्रुटियाँ—व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के निम्नांकित दोष हैं—

1. इस पद्धति में राष्ट्रीय हित गौण होता है। वर्ग या श्रेणीहित की प्रधानता स्थापित हो जाती है।

2. यह पद्धति सामाजिकता के पक्ष पर कुठाराघात करती है। चूँकि मुनष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए मनुष्य के सभी हितों का प्रतिनिधित्व सामाजिक और नागरिक दृष्टि से होना चाहिए। व्यवसाय के आधार पर प्रतिनिधित्व होने से सामाजिक तथा नागरिक एकता समाप्त हो जाएगी।

3, इस पद्धति को लागू करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। यह नहीं कहा जा सकता है कि किन-किन आर्थिक हितों और व्यवसायों को कितना महत्त्व प्रदान किया जाए और उन्हें किस अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाए। इसीलिए **प्रो॰ लॉस्की** ने व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के मूलाधार में ही संदेह किया है।

4. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व से समाज के विभिन्न हितों के बीच संघर्ष, कलह और वैमनस्य उत्पन्न होते हैं। इससे सामाजिक शांति समाप्त हो जाती है।

5. व्यवसाय के आधार पर चुने गए प्रतिनिधि अनिवार्य रूप से राज्य की सार्वजनिक नीति पर एक मत रखेंगे—यह नहीं कहा जा सकता है।

निष्कर्ष (Conclusion)—व्यावसायिक प्रतिनिधित्व-संबंधी उपर्युक्त तर्क-वितर्कों से स्पष्ट है कि इस पद्धति में न केवल सैद्धांतिक त्रुटियाँ हैं वरन व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी हैं। इससे सच्चे जनतंत्र की स्थापना नहीं होगी वरन सामाजिक अशांति, कलह और वैमनस्य का प्रसार होगा।

आदर्श प्रतिनिधित्व-प्रणाली की आवश्यक शर्तें
(Essentials of a Sound Electoral System)

आदर्श प्रतिनिधित्व-प्रणाली की निम्नलिखित आवश्यक शर्तें हैं—

1. सार्वजनिक वयस्क-मताधिकार (Universal adult franchise)—चूँकि वयस्क-मताधिकार सभी वयस्क नागरिकों को बिना भेदभाव बरते प्रदान होता है, इसलिए इसमें सामाजिक हित की भावना निहित है।

2. प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन का समन्वय (Combination of direct and indirect election)—आम चुनावों में प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था होनी चाहिए तथा विशिष्ट पदों के लिए अप्रत्यक्ष चुनाव-प्रणाली को अपनाया जाना चाहिए।

3. गुप्त मतदान-प्रथा (Secret ballot voting)—अन्य नागरिकों को इस बात की जानकारी नहीं होनी चाहिए कि किस व्यक्ति ने किसे अपना मतदान किया है।

4. अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा (Protection of the interests of minorities)—अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए कम-से-कम कुछ स्थानों को सुरक्षित कर दिया जाना चाहिए।

5. प्रतिनिधियों तथा मतदाताओं में नजदीकी संबंध (Close relationship between representatives and the electorates)—प्रतिनिधियों तथा मतदाताओं में नजदीकी संबंध होने से प्रतिनिधि मतदाताओं की आवश्यकताओं को समझ सकते हैं।

6. पृथक निर्वाचन-प्रणाली (Separate electoral system)—प्रजातंत्र में सभी समान हैं। अतएव, पृथक् निर्वाचन-प्रणाली की व्यवस्था किसी भी वर्ग-विशेष के हित में नहीं होनी चाहिए।

प्रश्नावली

1. जन-प्रतिनिधियों द्वारा संपादित कार्यों की विवेचना कीजिए। उनके लिए कौन-सी योग्यताएँ निर्धारित की गई हैं? (Discuss the functions performed by people's representatives. Which qualifications have been prescribed for them ?)
2. निर्वाचन से आप क्या समझते हैं? प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष निर्वाचन के बीच अंतर स्पष्ट करें। (What do you understand by election? Explain the difference between direct and indirect elections.)

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

3. वयस्क-मताधिकार से आप क्या समझते हैं ? इसके पक्ष और विपक्ष में तर्क प्रस्तुत करें।
(What do you understand by adult franchise ? Point out the arguments for and against universal adult suffrage.)
4. अल्पसंख्यकों के विभिन्न प्रतिनिधित्व-प्रणालियों को स्पष्ट करें।
(Describe the various methods of giving representation to minorities.)
5. आनुपातिक प्रतिनिधित्व से आप क्या समझते हैं ? इसके गुण एवं दोषों का विवेचन करें।
(What do you understand by proportional representation ? Point out its merits and demerits.)
6. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व से क्या समझते हैं ? उसके गुणों एवं अवगुणों की विवेचना करें।
(What do you mean by functional representation ? Examine its merits and demerits.)
7. आधुनिक समय में प्रतिनिधित्व की मुख्य शर्तों की विवेचना करें।
(What are the main qualifications of representation in modern state ?)
8. मताधिकार के विभिन्न सिद्धांतों का वर्णन करें। क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि भारत में सर्वत्र वयस्क-मताधिकार की मान्यता एक महान भूल है ? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दें।
(Discuss the various theories of suffrage. Do you agree with the view that the grant of universal adult suffrage in India has been a mistake ? Give arguments in support of your answer.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 23

व्यवहारवाद या व्यवहारवादी उपागम

[BEHAVIOURALISM OR BEHAVIOURAL APPROACH]

यह (व्यवहारवाद) सामाजिक घटना का पूर्वाभिमुखीकरण है जो मुख्य रूप से अनुभववाद, तार्किक प्रत्यक्षवाद और अनुशासनिक स्वार्थों से संबद्ध रहता है।—जोसेफ डनर

विषय-प्रवेश (Introduction)

आधुनिक राजनीतिशास्त्र का प्रारंभ व्यवहारवादी क्रांति के साथ होता है। राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन आधुनिक समय की एक महत्त्वपूर्ण देन है जो किसी भी निर्णय के पीछे मानवीय व्यवहार का अध्ययन करता है। यह परंपरागत उपलब्धियों के प्रति असंतोष व्यक्त करता है। इसका उद्देश्य एक ऐसी अध्ययन-पद्धति का निर्माण करना है जिसके द्वारा राजनीतिक घटनाओं का परीक्षण कर राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत अनुभवजन्य सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जा सके। व्यवहारवादी आंदोलन ने राजनीतिशास्त्र के सिद्धांतों, अध्ययन-पद्धतियों तथा दृष्टिकोणों को मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा मनोविज्ञान के बहुत ही निकट कर दिया है। सरकार तथा राजनीति-संबंधी तमाम घटनाओं को प्रेषित कर उन्हें प्रेक्षण-योग्य मानव-व्यवहार के रूप में व्यक्त करना व्यवहारवाद का एकमात्र उद्देश्य है। व्यवहारवाद राजनीतिशास्त्र को विज्ञान का स्तर दिलाने का एक प्रयास है। वैज्ञानिक परिशुद्धता, प्रेक्षण, सत्यापन, परीक्षण-परिमाणन तथा प्राक्कल्पना व्यवहारवाद के मुख्य आधार हैं। व्यवहारवादी ऐसे सामान्य सिद्धांतों का प्रतिपादन करना चाहते हैं जो जीवन की वास्तविक घटनाओं पर आधारित हों तथा जिनका उपयोग आनेवाली राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन में किया जा सके। व्यवहारवाद की यह मान्यता है कि सामाजिक विज्ञानों की अवधारणाएँ एवं सिद्धांत प्राकृतिक विज्ञानों की तरह हो सकते हैं। राजनीति-विज्ञान पर प्राकृतिक विज्ञानों के प्रभाव को ही क्रांति कहा जाता है। आज की व्यवहारवादी क्रांति ने समाजशास्त्र, समाज-मनोविज्ञान, मानवजाति-मनोविज्ञान, सांख्यिकी इत्यादि की उपलब्धियों आदि पद्धति को अपनाकर इसे अंतरानुशासनात्मक (Inter-disciplinary) बना दिया है। मोटे तौर पर व्यवहारवाद का प्रयोग निम्नलिखित चार अंतर-संबंधित अर्थों में किया जाता है—

1. अंतरवैषयिक संदर्भ में व्यवहारवाद, परिमाणात्मीकरण के तकनीकों तथा सांख्यिकी-विश्लेषण को आवश्यक मानता है;

2. अपने व्यापक अर्थ में व्यवहारवाद अनुभववाद का समानार्थक है तथा इस अर्थ में, इसके अंतर्गत परिष्कृत या 'अतिवादी' अनुभववाद के साथ-साथ अपरिष्कृत अनुभववाद भी शामिल है;

3. व्यवहारवाद एक विशिष्ट 'मनोभावना' का बोध कराता है जिसका संबंध वैज्ञानिक होने से है तथा

4. व्यवहारवाद एक विशिष्ट उपागम है।

उपर्युक्त विभिन्न अर्थों के चलते शोधकर्ताओं के लिए व्यवहारवाद अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। फिर भी, यदि हम निम्नलिखित तथ्यों को संदर्भ में रखकर चलें तो इसकी अनेक कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं। **प्रथम,** व्यवहारवाद सामान्यतः राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत अनुभववादी विश्लेषण, अध्ययन एवं शोध का बोध कराता है। इस दृष्टि से ही आधुनिक राजनीतिशास्त्र की विषय-वस्तु, विस्तार तथा अध्ययन-प्रणाली को भलीभाँति समझा जा सकता है। **द्वितीय,** द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में 'व्यवहारवादी विज्ञान' के नाम पर प्राकृतिक विज्ञान की प्रणालियों एवं तकनीकों को अपनाने पर ज्यादा बल दिया गया है। इससे राजनीतिशास्त्र में अनुभववादियों ने राजनीतिशास्त्र के कतिपय क्षेत्रों से संबद्ध शोधों में इन तकनीकों

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

के सटीक प्रयोग को आवश्यक माना है। अतः, व्यापक अनुभववाद के संदर्भ में इस लघुटोली को ही सामान्यतः हम व्यवहारवादी कहकर पुकारते हैं। लेकिन, व्यापक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट है कि व्यवहारवाद के अंतर्गत सभी तरह के अनुभववादी शामिल हैं। **तृतीयत,** हमें इस बात का ध्यान हमेशा रखना होगा कि अनुभववाद अपने विभिन्न अर्थों में परंपरागत राजनीतिशास्त्र के अध्ययन एवं शोध-प्रणालियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ और कालांतर में आधुनिक राजनीतिशास्त्र के रूप में प्रतिस्थापित हो गया है। अतः, हम 'व्यवहारवाद' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इससे न सिर्फ अनुभववाद के व्यापक अर्थ का बोध होता है, वरन वैज्ञानिक तकनीकों एवं प्रणालियों पर अतिशय बल देनेवाले अति-अनुभववादियों का भी बोध होता है। ये दोनों तरह के अनुभववादी 'व्यवहारवाद' के अंतर्गत इसलिए आते हैं, क्योंकि दोनों ही मानव-व्यवहार को राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की मूल इकाई मानते हैं। वे आत्मपरकतावाद (subjectivism) के स्थान पर अनुभववाद को ज्ञानशास्त्रीय (epistemological) मानते हुए आधुनिक सामाजिक विज्ञानों में प्रचलित शोध-तकनीकों एवं प्रणालियों की आवश्यकताओं को विभिन्न भाषाओं में स्वीकार करते हैं। वस्तुतः, अनुभववाद ही विज्ञान का आधार हो सकता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर व्यवहार के संबंध में उपर्युक्त चारों अर्थबोधों की सार्थकता स्पष्ट हो जाती है। अतः, व्यवहारवाद आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों की प्रवृत्ति,, मनोभावना तथा दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। आधुनिक राजनीतिशास्त्री राजनीतिशास्त्र को अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक स्तर देने के लिए एक विशिष्ट मनःस्थिति से प्रेरित हैं जिसे **रॉबर्ट ए॰ डैल** ने भी स्वीकार किया है और कहा है कि व्यवहारवाद आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों के अनुभववाद-उन्मुख मनःस्थिति का परिचायक है।[1]

प्रकृति—आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों में यह मनःस्थिति तब उत्पन्न हुई जब उन्होंने अन्य सामाजिक विज्ञानों को वैज्ञानिकता एवं अपनी सार्थकता की ओर अग्रसर पाया और दूसरी ओर उन्होंने परंपरागत राजनीतिशास्त्र को 'विज्ञान' की उपाधि से विभूषित होने के बावजूद आत्मपरकता तथा संस्थानिकतावाद (institutionalism) से ग्रस्त पाया। इन दोनों तत्त्वों के प्रभाव के चलते उन्होंने महसूस किया कि राजनीतिशास्त्र कभी अन्य सामाजिक विज्ञानों की श्रेणी में प्रतिस्थापित नहीं हो सकता। परंपरागत राजनीतिशास्त्र की संस्थानिकता ने राजनीतिशास्त्र की प्रकृति एवं विस्तार को बहुत ज्यादा सीमित कर दिया था। इसका मुख्य उद्देश्य राज्य, राजनीति एवं सरकारी संस्थाओं का अध्ययन करना था। राजनीतिशास्त्र मूलतः सरकार तथा उसके अधीनस्थ संस्थाओं, संगठनों, उससे संबद्ध कानूनों एवं उनके विकास के अध्ययन तक सीमित था। परिणामस्वरूप, संस्थानिकतावाद ने राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-प्रणाली के संदर्भ में ऐतिहासिक-वैधानिक (historico-legal) पर अतिशय बल देने को बाध्य किया। राजनीतिशास्त्र इन संकुचित सीमाओं के अंदर न तो **सामाजिक विज्ञान** का प्रतिनिधित्व कर सकता था और न उसका विकास संभव था।

व्यवहारवाद की उत्पत्ति के कारण (Causes of the Origin of Behaviouralism)

1. परंपरागत राजनीतिशास्त्र में जीवन की वास्तविक घटनाओं का सही और वैज्ञानिक चित्रण नहीं—परंपरागत राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-पद्धतियों के निराशापूर्ण परिणामों को व्यवहारवाद के उदय का पहला कारण कहा जा सकता है, क्योंकि परंपरागत राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-पद्धतियों में जीवन की वास्तविकताओं का न्यायपूर्ण एवं सुस्पष्ट चित्र हमारे सामने नहीं रखा गया है। साथ ही, परंपरागत राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-पद्धति वैज्ञानिक नहीं थी और अन्य सामाजिक विज्ञानों में, चूँकि, दिन-प्रतिदिन अध्ययन के नए तरीकों का प्रयोग हो रहा था, इसलिए राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थियों पर भी इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। अतएव, राजनीतिशास्त्र का ध्यान इन नवीन अध्ययन-पद्धतियों की ओर आकर्षित हुआ।

2. जे॰ डब्लू॰ वाटसन तथा अन्य विद्वानों का योगदान—'व्यावहारिकता' शब्द का प्रयोग सबसे पहले जे॰ डब्लू॰ वाटसन ने किया। इसके द्वारा उसने मानव-व्यवहार की शारीरिक एवं भौतिक व्यवस्था प्रस्तुत की। बाद में **फ्रायड, पैरोटो, मोस्का, मैक्स वेबर, माइकेल्स** तथा अन्य विद्वानों के विचारों का प्रभाव व्यवहारवादी आंदोलन पर पड़ा।

3. अनुभववादी परंपरा का योगदान—आधुनिक व्यवहारवाद का जन्म और विकास अनुभववाद (empiricism) में हुआ। राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत अनुभववाद काफी पुराना है जिसका प्रमुख संस्थापक

1. ROBERT A. DAHL : *The Behavioural Approach in Political Science*—Epitaph for a Monument to a successful protest' A.P.S.R. vol. 55 (December, 1961), डैल के शब्दों में, "व्यवहारवाद परंपरावादी राजनीतिशास्त्र की उपलब्धियों के प्रति असंतोष का परिणाम है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

जॉन लॉक है। अनुभववादी प्रभाव के अंतर्गत ही राजनीतिशास्त्र में व्यवहारवादी दृष्टिकोण की शुरुआत का श्रेय **कॉर्ल मार्क्स, मैक्स वेबर** आदि विद्वानों को है।

4. ग्राहम वॉलास और बेंटले का योगदान—**ग्राहम वॉलास** ने अपनी पुस्तक *Human Nature in Politics* में राजनीति के अध्ययन के लिए मनोवैज्ञानिक पद्धति को अपनाने का सुझाव दिया है। उसने राजनीतिशास्त्र के विद्वानों की संस्थाओं और मानव का विश्लेषण करने से बचने की प्रवृत्ति से असंतोष प्रकट किया और स्पष्ट रूप से बताया कि विवेक तथा अविवेक दोनों का राजनीतिक घटनाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण विवेक और अविवेक के संदर्भ में ही राजनीतिक घटनाओं का अध्ययन होना चाहिए। **आर्थर एफ० बेंटले** (A. F. Bentley) ने अपनी पुस्तक *The Process of Government* में राजनीतिक प्रक्रिया के कार्यकरण तथा समूह-प्रक्रियाओं के अध्ययन की ओर ध्यान आकर्षित किया। **ग्राहम वॉलास** और **बेंटले** ने इस प्रकार के व्यवहारवाद के प्रयोग में योगदान दिया।

5. अमेरिका के शिकागो-संप्रदाय का योगदान—व्यवहारवादी दृष्टिकोण का मार्गदर्शन बाद में **चार्ल्स ई० मेरियम** (Charles E. Merriam) ने किया। 1925 ई० के अमेरिकी राजनीतिशास्त्र परिषद के वार्षिक अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में **मेरियम** ने कहा था, "किसी रोज हमलोग भी अन्य विद्वानों की तरह औपचारिक दृष्टिकोण त्यागकर कुछ भिन्न दृष्टिकोण अपनाएँगे तथा राजनीतिक व्यवहार को अपनी विवेचना का आवश्यक आधार बनाएँगे।" **मेरियम** ने एक पुस्तक *New Aspects of Politics* (1925) का प्रकाशन कराया, जो बाद में व्यवहारवाद का महान स्रोत बना। **मेरियम** ने शिकागो विश्वविद्यालय को व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान के अध्ययन-केंद्र में बदल दिया, जो शिकागो-संप्रदाय (Chicago School) के नाम से विख्यात है। मेरियम के इस प्रयास में **हैरोल्ड डी० लॉसवेल, वी० ओ० की जूनियर** (V. O. Key Junior), **डेविड ट्रूमैन** (David Truman), **हर्बर्ट साइमन** (Herbert Simon), **ऑमंड** (Almond) इत्यादि विद्वानों ने काफी योगदान किया। **स्टुअर्ट राइस** (Stuart Rice), **जी० ई० जी० कैटलिन** (G. E. G. Catlin) आदि विद्वानों ने भी व्यवहारवादी आंदोलन को आगे बढ़ाने में सहयोग दिया। अमेरिका में इस व्यवहारवादी क्रांति को लोकप्रिय बनाने में अमेरिका की निजी संस्थाओं ने करोड़ों डॉलर खर्च किए।

6. अन्य जनतंत्रीय देशों का प्रभाव—आज विश्व के अधिकांश देशों के राजनीतिशास्त्री व्यवहारवादी आंदोलन से प्रभावित हैं। अमेरिका में यूरोपीय छात्रों का आगमन व्यवहारवाद के उदय का एक अन्य कारण है। इन छात्रों ने समाजशास्त्रीय विधियों द्वारा राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन प्रारंभ किया। **मैक्स वेबर** ने उनके विचारों को काफी प्रभावित किया। भारत में भी परंपरागत राजनीतिशास्त्र का स्थान व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान ले रहा है। Indian Council of Social Science Research का इसमें महान योगदान हुआ है। ब्रिटेन भी आज व्यवहारवादी प्रभाव की चपेट में आ गया है।

7. द्वितीय विश्वयुद्ध का योगदान—द्वितीय विश्वयुद्ध ने भी व्यवहारवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इस युद्ध ने राजनीतिशास्त्रियों का ध्यान परंपरागत सिद्धांतों से हटाकर राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओं के बीच लाकर खड़ा कर दिया। युद्धकालीन घटनाओं ने इस बात की संपुष्टि कर दी कि संस्थाओं एवं उसकी रचनाओं के अध्ययन से इस राजनीतिक जीवन की जटिलताओं को हम नहीं समझ सकते। यदि वास्तव में राजनीति की समस्याओं को समझना चाहते हैं तो हमें इन संस्थाओं के व्यवहार का अध्ययन करना होगा। व्यवहार का अर्थ उन संस्थाओं में कार्य करनेवाले व्यक्तियों के व्यवहार से है और इसी से राजनीतिक समस्याओं की जानकारी हो सकती है।

8. ऐतिहासिक जड़ें—यदि हम राजनीतिक विश्लेषण के इतिहास का अध्ययन करें तो व्यवहारवाद की जड़ें ऐतिहासिक पृष्ठों में मिलेंगी। पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का इतिहास यूनानियों से शुरू होता है। सुकरात पहला व्यक्ति है जिसने तत्कालीन चिंतकों एवं विश्लेषकों का ध्यान व्यक्ति के अध्ययन की ओर आकर्षित किया। **सुकरात** ने इस बात पर भी बल दिया कि व्यक्ति के समूहों, समुदायों तथा उनके विभिन्न प्रकार के व्यवहारों का अध्ययन करना चाहिए। **सुकरात** के बाद **प्लेटो** और **प्लेटो** के शिष्य **अरस्तू** ने भी मानव-संबंधी कुछ सामान्यीकरणों के आधार पर अपना सैद्धांतिक कार्य प्रारंभ किया। अरस्तु के बाद अनेक रोमन दार्शनिकों ने अरस्तू के संविधान-संबंधी विचारों का विस्तार किया। **सिसरो** तथा मध्ययुग में कैथोलिक चर्च ने भी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। **संत ऑगस्टीन** ने सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवहार के ऐसे सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जिनके आधार पर चर्च ने अपने को सर्वोच्च विधि-निर्मात्री संस्था सिद्ध किया। पोप तथा राजा के संघर्ष की समाप्ति के बाद **मैकियावेली** ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसके बाद **हॉब्स** ने मानव-व्यवहार के मनोवैज्ञानिक तथ्यों के विश्लेषणों के आधार पर अनुबंध-

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

सिद्धांत का प्रतिपादन कर राज्य की शक्तियों के समर्थन का प्रयास किया। इसके बाद **लॉक** ने इस सिद्धांत के विकास में सहयोग दिया और फिर **रूसो** ने मानव-व्यवहार को नियंत्रित एवं संचालित करनेवाले तत्त्वों का विवेचन किया। उपयोगितावादी विचारक **जे० एस० मिल** ने भी मानव-व्यवहार का अध्ययन किया और उसके बाद **कॉर्ल मार्क्स** ने इसमें सहयोग दिया। इससे यह स्पष्ट है कि व्यवहारवादी क्रांति का श्रेय केवल अमेरिकावासियों को ही नहीं है।

व्यवहारवाद का अर्थ एवं व्याख्या (Meaning and Explanation of Behaviouralism)

व्यवहारवाद यद्यपि बीसवीं शताब्दी का बहुचर्चित विषय है, तथापि इस शब्द को परिभाषित करना एक कठिन कार्य है। व्यवहारवाद व्यक्ति का अध्ययन है, उसकी उत्पत्ति तथा अंत का नहीं। यह व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन है। व्यवहारवादियों का यह तर्क है कि यदि हम व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन करें तो किसी भी राजनीतिक समस्या का सही समाधान निकाल सकते हैं। **जोसेफ डनर** (Joseph Dunner) ने अपनी पुस्तक *Dictionary of Political Science* में व्यवहारवाद को परिभाषित करते हुए कहा है, "यह (व्यवहारवाद) सामाजिक घटना का पूर्वाभिमुखीकरण है जो मुख्य रूप से अनुभववाद, तार्किक प्रत्यक्षवाद और अनुशासनिक स्वार्थों से संबद्ध रहता है।"[1]

इस प्रकार, व्यवहारवाद से यह स्पष्ट है कि विभिन्न संस्थाओं और कार्यालयों के व्यवहारों का अध्ययन कर इसके द्वारा सही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। व्यवहारवादी विचारधारा राजनीति में मानव के आचरण का अध्ययन प्राप्त आँकड़ों के आधार पर करना चाहती है। चूँकि प्रजातंत्रात्मक आचरण ही आधुनिक राजनीतिशास्त्र का प्रमुख विषय है इसलिए प्रजातंत्र में आँकड़ों को प्राप्त करना आज आवश्यक हो गया है। आज की अध्ययन-पद्धति में तथ्यों (facts) तथा मूल्यों (values) में विभेद किया जाता है और तथ्यगत न्याय (factual judgement) को ही वास्तविक तथा सत्य समझा जाता है। **ग्राहम वॉलास** तथा **बेंटले** के विचारों से व्यवहारवाद काफी प्रभावित हुआ है। इन विद्वानों ने मानवीय आचरण के अध्ययन के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का सहारा लिया। इनलोगों ने अंतरानुशासनात्मक उपागम (inter-disciplinary approach) पर अधिक बल दिया है तथा अपनी अध्ययन-प्रणाली में परिमाणात्मक पद्धति (quantitative method) का सहारा लेकर राजनीतिक प्रश्नों का उत्तर गुणात्मक अर्थ (qualitative terms) में देने का प्रयास किया है।

इस प्रकार, व्यवहारवादी उपागम परंपरागत विद्यार्थियों द्वारा छोड़े हुए क्षेत्र का अध्ययन कर इनकी संपुष्टि करता है। राजनीतिशास्त्र में व्यवहारवादी सिद्धांत के अंतर्गत हम विधायकों, मतदाताओं, शासक-वर्गों तथा न्यायाधीशों के आचरण का अध्ययन करते हैं। ये किस प्रकार निर्णय लेते हैं और राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन करते हैं, इसका सही समाधान व्यवहारवाद ही कर सकता है।

व्यवहारवादी पद्धति जीवन के पहलुओं से अधिक संबद्ध है। राजनीति में कानूनी संस्थाएँ किस ढंग से कार्य करती हैं तथा अराजनीतिक संस्थाओं (nonpolitical institutions) की क्या भूमिका है; विभिन्न राजनीतिक दलों, प्रभावी समूहों (pressure groups) और जनमत इत्यादि की क्या प्रतिक्रियाएँ हैं—इन तमाम बातों का अध्ययन व्यवहारवादी दर्शन में ही हो सकता है। इसके अध्ययन के क्षेत्र के अंतर्गत अराजनीतिक संस्थाओं, जैसे—श्रमिक संघ, जातीय संगठन, विचाराधारा (ideology), मनोवेग (attitude) इत्यादि का समावेश हो जाता है। **बेंटले** का कहना है कि व्यवहारवाद में 'how of things' से संबंध स्थापित करना पड़ता है। व्यवहारवाद के अंतर्गत हम छोटे-छोटे शहरों का भी अध्ययन करते हैं। छोटे-छोटे समुदायों की क्या भूमिका है—यह व्यवहारवाद के अध्ययन का एक मुख्य विषय है।

व्यवहारवाद की विशेषताएँ (Characteristics of Behaviouralism)

व्यवहारवाद केवल मुनष्य की बाह्य राजनीतिक क्रियाओं का ही अध्ययन नहीं करता, बल्कि उसके राजनीतिक विश्वासों, मूल्यों एवं लक्ष्यों का भी अध्ययन करता है। **ई० एम० किर्कपैट्रिक** (Evrone M Kirkpatrick) ने व्यवहारवाद की अग्रलिखित चार विशेषताओं की चर्चा की है—

1. "It is orientation to the study of the social phenomenon characterised mainly by empiricism, logical positivism and disciplinary interest."—JOSEPH DUNNER

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. व्यक्ति के व्यवहार के विश्लेषण का मौलिक इकाई के रूप में अध्ययन—किर्कपैट्रिक के अनुसार, व्यवहारवाद राजनीतिक संस्थाओं के स्थान पर व्यक्ति के व्यवहार के विश्लेषण को एक मौलिक इकाई के रूप में स्वीकार कर उसका अध्ययन करता है।

2. अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ राजनीति-विज्ञान की एकता—व्यवहारवाद राजनीति-विज्ञान की अन्य सामाजिक विज्ञानों, जैसे—समाजशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र इत्यादि के साथ एकता पर बल देता है।

3. तथ्यों के पर्यवेक्षण, वर्गीकरण एवं मापन में परिशुद्ध प्रविधियों का प्रयोग—व्यवहारवाद तथ्यों के पर्यवेक्षण, वर्गीकरण तथा मापन के लिए अधिक परिशुद्ध प्रविधियों के उपयोग पर बल देता है।

4. राजनीतिशास्त्र के लक्ष्य का एक व्यवस्थित आनुभविक सिद्धांत के रूप में समर्थन—व्यवहारवाद की अन्य विशेषता यह है कि यह राजनीतिविज्ञान के लक्ष्य को एक व्यवस्थित आनुभविक सिद्धांत के रूप में परिभाषित करता है।

व्यवहारवाद का उद्देश्य (Objectives of Behaviouralism)

व्यवहारवाद अपने अध्ययन में आगमनात्मक पद्धति (inductive method) का सहारा लेता है और इसी के माध्यम से 'क्या', 'कहाँ', 'कैसे' और 'कब' की खोज करता है। व्यवहारवाद के प्रमुख उद्देश्य राजनीतिशास्त्र की अवधारणाओं, पद्धतियों और सिद्धांतों को प्राकृतिक विज्ञानों के स्तर पर लाने का प्रयास करना है। व्यवहारवादी प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति को राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए अपनाकर एक स्वतंत्र 'राजनीति का विज्ञान' (science of politics) का विकास करना चाहते हैं और इसलिए 'क्यों' (why) की खोज के लिए वैज्ञानिक पद्धतियों और सत्यापन का सहारा लेते हैं। इसी उद्देश्य से प्रभावित होकर वे आधुनिक राजनीतिशास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों, जैसे—मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानव-जातिविज्ञान और अर्थशास्त्रों के सिद्धांतों, पद्धतियों तथा दृष्टिकोणों से घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं तथा राजनीति-विज्ञान को एक अंतरआनुशासनिक (interdisciplinary) विषय बना देते हैं। व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्र को एक अनुभवात्मक विज्ञान (empirical science) बनाने का प्रयास करते हैं। डेविड ईस्टन ने व्यवहारवाद की पूर्वमान्यताओं और लक्ष्यों को बौद्धिक आधार शिलाएँ (the intellectual foundation stones) कहा है। व्यवहारवाद की पूर्वमान्यताओं और लक्ष्यों को उन्होंने निम्नलिखित रूप में रखा है—

1. नियमितताएँ (Regularities)—व्यवहारवादियों के अनुसार सामान्यीकरण के आधार पर मानव के व्यवहार का नियमन किया जा सकता है और उनके राजनीतिक व्यवहार में समानताएँ पाई जा सकती हैं; क्योंकि राजनीतिक व्यवहार भी कुछ मामलों में विभिन्न परिस्थितियों में भी लगभग एक ही समान रहता है। मतदान-व्यवहार इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। मानव-व्यवहार में नियमितताओं के आधार पर पाए गए सामान्यीकरण द्वारा राजनीतिक घटनाओं का विश्लेषण किया जाता है और उनके संबंध में भविष्यवाणी की जा सकती है।

2. सत्यापन (Verification)—यह विधि वैज्ञानिकता का आधार है, जिसके अनुसार मानव-व्यवहार की जानकारी वैज्ञानिक विधियों द्वारा की जाती है। उदाहरण के लिए, जो सामान्यीकरण परीक्षणीय न हों, उन्हें स्वीकारा नहीं जा सकता है। इसीलिए व्यवहारवादी मनुष्य के व्यवहारों का पर्यवेक्षण कर उसके राजनीतिक क्रियाकलाप का अध्ययन करते हैं।

3. प्रविधियाँ (Techniques)—व्यवहारवादी अध्ययन की सही प्रविधियों और उपकरणों तथा पद्धतियों के उपयोग पर अधिक बल देते हैं। विभिन्न प्रविधियों के द्वारा आँकड़े प्राप्त किए जाते हैं और उनका निर्वाचन किया जाता है। उपकरणों और पद्धतियों द्वारा विश्वसनीय और तुलनात्मक आँकड़े इकट्ठे किए जाते हैं।

4. परिमाणीकरण (Quantification)—व्यवहारवादियों का कहना है कि मापन में यथासंभव परिमाणीकरण की सहायता लेनी चाहिए।

5. मूल्य (Values)—व्यवहारवादी मूल्य की दृष्टि से तटस्थ रहना पसंद करते हैं। व्यवहारवादियों का कहना है कि मूल्यों को वैज्ञानिक विश्लेषण में वहीं तक स्थान दिया जाना चाहिए, जहाँ तक वे राजनीतिक व्यवहारों को प्रभावित करते हैं। वे नैतिक मूल्यों को कोई स्थान नहीं देते।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

6. क्रमबद्धीकरण (Systematisation)—व्यवहारवाद के अनुसार अनुसंधान क्रमबद्ध होना चाहिए। उनका कहना है कि सिद्धांत एवं अनुसंधान में घनिष्ठ संबंध होना चाहिए। उनकी दृष्टि में सिद्धांत और तथ्य एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते।

7. विशुद्ध विज्ञान (Pure science)—अपने अध्ययन में व्यवहारवादी मूलतः विशुद्ध विज्ञान के दृष्टिकोण को अपनाते हैं। विशुद्ध शोध (pure research) को वे अत्यधिक महत्त्व देते हैं और प्रायोगिक अनुसंधान का सहारा लेते हैं।

8. एकीकरण (Integration)—व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान के अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ एकीकरण के प्रश्न पर विचार करते हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसलिए किसी भी पहलू की सही जानकारी संपूर्ण जीवन के विस्तृत संदर्भ में ही हो सकती है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि व्यवहारवादी सचमुच राजनीतिशास्त्र को राजनीति का विज्ञान (science of politics) की स्थिति प्रदान करने का प्रयास करते हैं। उन्होंने न केवल शोध-प्रणाली के क्षेत्र में क्रांति लाई है, वरन विषय-वस्तु (content) के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। व्यवहारवाद ने केवल अपना सुधार ही नहीं किया है, वरन अपने-आपको वैज्ञानिक ज्ञान की व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की दिशा में प्रतिबद्ध कर अपना पुनर्निर्माण (reconstruction) भी किया है। इसका सबसे बड़ा योगदान यह है कि आज राजनीति-विज्ञान एक अनुभवात्मक विज्ञान (empirical science) बन गया है।

व्यवहारवाद की प्रविधियाँ (Techniques of Behaviouralism)

व्यवहारवाद अपने निष्कर्ष, तथ्य और आँकड़ों के लिए अपनी अध्ययन-पद्धति में निम्नलिखित तरीके अपनाता है—

(क) व्यावहारिक नमूने का प्रतिनिधित्व (Representation of practical sampling),

(ख) साक्षात्कार (Interview),

(ग) प्रश्नावली (questionaire),

(घ) मापन-प्रविधियाँ (Techniques of measurement) और

(ङ) मापदंड के सहारे मनोवृत्ति का अध्ययन (Study of attitude through the use of scale)।

अतएव, व्यवहारवाद अपने अध्ययन-क्रम में उपर्युक्त साधनों का प्रयोग कर सही निष्कर्षों पर पहुँचने का प्रयास करता है। यही कारण है कि आज व्यवहारवाद एक पूर्ण विकसित अध्ययन-पद्धति के रूप में हमारे सामने उपस्थित हुआ है।

व्यवहारवाद की सीमाएँ (Limitations of Behaviouralism)

मूलफोर्ड सिबली (Mulford Sibely) ने व्यवहारवाद की निम्नलिखित सीमाओं का उल्लेख किया है—

मूल्यनिरपेक्षता (Value neutrality)—(क) मूल्य-निरपेक्षता व्यवहारवाद की एक विशेषता है, लेकिन शोधकर्ता के मूल्य और विचारधाराएँ विषय के चयन को प्रभावित करती हैं। शोधकर्ता का व्यक्तित्व, झुकाव, आचरण आदि उसके द्वारा किए जानेवाले अध्ययन की महत्त्वपूर्ण परिवर्तनीयता (variability) के साधन बन जाते हैं।

(ख) शोधकर्ता की अवधारणाएँ एवं मूल्य केवल अध्ययन के 'क्या' और 'कैसे' को ही निर्धारित नहीं करते हैं, वरन उसके लक्ष्यों को भी प्रभावित करते हैं।

(ग) राजनीति का विश्लेषण केवल व्यवहारवादी तरीकों में ही संभव नहीं है। **लियोस्ट्रॉस** ने कहा था कि कुछ ऐसी भी चीजें होती हैं जिन्हें हम आँखों से देख सकते हैं। कुछ ही चीजों को माइक्रोस्कोप या टेलीस्कोप से देखा जाता है।

(घ) मनुष्य के व्यवहार की व्याख्या नियंत्रित परिस्थितियों और विशिष्ट मान्यताओं के अंतर्गत ही की जा सकती है। मनुष्य के आचरण के संबंध में भविष्यवाणी करने के लिए समान परिस्थितियों का होना आवश्यक है। व्यवहारवादी अध्ययन में आरंभ में ही एक निश्चित सीमा झलकने लगती है। अनेक अवधारणाओं को हम व्यवहारवादी तरीकों से भी प्राप्त नहीं कर सकते।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(ङ) नीति-निर्माण के नैतिक पहलू में व्यवहारवाद का कोई योगदान नहीं है, क्योंकि वह मूल्यों को मान्यता प्रदान नहीं करता।

आलोचनाएँ (Criticisms)

यह बात सही है कि व्यवहारवादी आंदोलन ने राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन लाया है, फिर भी आज व्यवहारवादी मान्यताओं का खंडन प्रारंभ हो गया है। **डेविड ईस्टन** ने तो उत्तर-व्यवहारवादी क्रांति की उद्घोषणा कर दी है। व्यवहारवाद की आलोचनाएँ निम्नलिखित आधारों पर की जा रही हैं—

1. मूल्यों के संबंध में गलत धारणा—आलोचकों की राय में मूल्यों के संबंध में व्यवहारवादी धारणा गलत है। उनका कहना है कि हम प्राकृतिक विज्ञानों में मूल्य तथा वास्तविकता में अंतर कर सकते हैं, लेकिन राजनीति-विज्ञान में मूल्य और वास्तविकता एक-दूसरे से इस तरह संबद्ध हैं कि कुछ मामूली उदाहरणों को छोड़कर हम उन्हें अलग नहीं कर सकते। इसके साथ ही, व्यवहारवादियों द्वारा सभी मूल्यों को समान समझना भी भ्रामक है।

2. संगतता से संबद्ध मान्यताओं का अभाव—व्यवहारवादियों के पास संगतता (relevance) से संबद्ध मान्यताओं का अभाव है। अनुभववादियों ने राजनीतिक सिद्धांतों की स्थापना मात्र अपने सिद्धांतों के तुच्छ अन्वेषणों पर आधारित की है, जो मानवीय उद्देश्य के संगत नहीं है।

3. धार्मिक कट्टरपंथी—आलोचकों की राय में व्यवहारवादी धार्मिक कट्टरपंथियों की तरह हैं। एक तरफ वे अपने निष्कर्षों और मान्यताओं को सापेक्ष (relative) मानते हैं तो दूसरी तरफ किसी के अस्तित्व को महत्त्व देने को तैयार नहीं हैं।

4. मानव-व्यवहार के विज्ञान का अभाव—आलोचक कहते हैं कि अभी तक व्यवहारवादियों ने अपने अध्ययन में लाखों डॉलर खर्च करने के बावजूद मानव-व्यवहार का ऐसा विज्ञान प्रस्तुत नहीं किया है जो विश्वसनीय, व्यापक और संतोषप्रद हो सके।

5. आरामकुर्सीवाले बुद्धिजीवी—व्यवहारवादियों पर एक अन्य आरोप यह है कि उन्होंने तात्कालिक एवं गंभीर समस्याओं से अपने को अलग करके समाज को कुछ नहीं दिया। उन्हें आरामकुर्सीवाले बुद्धिजीवी कहकर पुकारा जाने लगा।

6. एक अपूर्ण अध्ययन—व्यवहारवाद एक अपूर्ण विश्लेषण-पद्धति भी है, क्योंकि यह जीवन के केवल एक ही पक्ष का विश्लेषण करता है। व्यवहारवादी केवल रोग का पता लगाना जानते हैं, उसके निदान के संबंध में वे कुछ नहीं कहते। वे राजनीतिक प्रक्रिया के दोषपूर्ण स्थानों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, परंतु उन्हें कैसे दूर किया जाए, इस संबंध में चुप हो जाते हैं।

7. असंतोषप्रद आँकड़े—व्यवहारवादियों द्वारा अपनाए गए तरीके सीमित तथा असंतोषप्रद हैं। इससे भलीभाँति तथ्यों की जानकारी नहीं हो पाती। व्यवहारवाद में जो आँकड़े (data) पाए जाते हैं, वे असंतोषप्रद तथा अविश्वसनीय हैं, क्योंकि आँकड़ों के इकट्ठा करने में अत्यधिक धाँधली होती है। इन आँकड़ों पर हम आधारित नहीं रह सकते।

8. ग्रामीणों तथा अशिक्षितों में आत्मविश्वास का अभाव—यह सही है कि अशिक्षितों और ग्रामीणों में आत्मविश्वास का अभाव रहता है और वे प्रश्नों का उत्तर सही ढंग से नहीं दे पाते, क्योंकि वे साक्षात्कारकर्ता (interviewer) से काफी डरते हैं। इससे वे खुलकर बातें नहीं कर पाते और बहुत-सी बातें अस्पष्ट रह जाती हैं। सांप्रदायिक दंगेवाले क्षेत्रों में तो विपरीत बातें होती हैं। एक हिंदू साक्षात्कारकर्ता को मुस्लिम-क्षेत्र में दिक्कत हो सकती है और एक मुस्लिम को हिंदू-क्षेत्र में।

9. सेक्स, परिवार नियोजन आदि में असफल—सेक्स तथा परिवार नियोजन और बड़े लोगों के संबंध में पूरी जानकारी प्राप्त करने में व्यवहारवाद अभी तक असफल रहा है। ये ऐसे प्रश्न हैं कि कोई भी व्यक्ति सही-सही उत्तर नहीं दे सकता और कभी-कभी तो प्रश्नों के उत्तर देनेवाले अजीब तरह से पेश आते हैं। अतएव, इसमें काफी कमियाँ रह सकती हैं।

10. स्वभाव से रूढ़िवादी—आलोचकों की दृष्टि में एक ओर तो व्यवहारवादी मूल्य-तटस्थता का दावा करते हैं और दूसरी ओर उदारवादी जनतंत्र में अपना विश्वास स्पष्ट कर अपने रूढ़िवादी स्वभाव का परिचय देते हैं। उनकी राय में कोई भी व्यवहारवादी ऐसा नहीं है जो उदार जनतंत्र में विश्वास न रखता हो।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

और, उदारवादी जनतंत्र के मूल्यों में आस्था रखते हुए अपने को मूल्य-निरपेक्ष मानना एक भयंकर भूल है। अतएव, व्यवहारवाद के सिद्धांत एवं व्यवहार में विरोधाभास है।

11. हास्यास्पद तथा कठिन शब्दावली—आलोचकों का एक अन्य आरोप यह भी है कि तटस्थता तथा वस्तुपरकता की खोज में व्यवहारवादियों ने नवीन, जटिल तथा हास्यास्पद शब्दावलियों का निर्माण किया है। इन शब्दावलियों को आम जनता नहीं समझ सकती।

निष्कर्ष (Conclusion)—निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि व्यवहारवाद-संबंधी उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद राजनीति-विज्ञान में व्यवहारवाद के महत्त्व में कोई कमी नहीं आई है। यद्यपि यह 20वीं सदी की देन है, लेकिन इसकी जड़ें पुराने इतिहास से संबद्ध हैं। आज के वैज्ञानिक युग में व्यवहारवाद न केवल एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन-शाखा के रूप में हमारे सामने उपस्थित है, वरन राजनीति-विज्ञान के स्वरूप को बदलने में इसने बड़ा योगदान भी किया है। व्यवहारवाद के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए **डेविड ईस्टन** ने ठीक ही कहा है, "व्यवहारवाद संपूर्ण मानवविज्ञानों में विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक सिद्धांत के प्रारंभ का सूचक है। समाज के विभिन्न परिवर्तनशील अवबोधक उपागमों की एक लंबी पंक्ति में यह एक नूतन विकास है।" यह मतदाताओं, शासकवर्गों, विधायकों का ही अध्ययन नहीं करता, वरन अन्य अराजनीतिक संस्थाओं, जैसें—जातीय संगठन, श्रमिक संघ तथा अन्य छोटे-छोटे शहरों तथा संप्रदायों का भी अध्ययन करता है।

उत्तर-व्यवहारवादी क्रांति
(Post-behavioural Revolution)

रॉबर्ट ए० डैल (Robert A. Dahl) ने अपने व्यवहारवाद-संबंधी निबंध में व्यवहारवाद को एक विरोध (protest) तथा एक मनःस्थिति (mood) की संज्ञा दी थी और बताया था कि राजनीति-विज्ञान में व्याप्त होकर व्यवहारवाद धीरे-धीरे अपनी स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त कर लेगा। डैल की यह भविष्यवाणी बिल्कुल सत्य निकली। आज व्यवहारवादी आंदोलन क्रांति के रूप में नहीं रह गया है। 1970 ई० के आसपास व्यवहारवादी क्रांति को कड़ी चुनौतियों का सामना करना पड़ा। कड़ी चुनौती देनेवालों में डेविड ईस्टन का नाम विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। व्यवहारवाद की कड़ी चुनौतियों को **डेविड ईस्टन** ने उत्तर-व्यवहारवादी क्रांति (post-behavioural revolution) कहकर पुकारा।

उत्तर-व्यवहारवादी क्रांति व्यवहारवादियों द्वारा किए जानेवाले शोध तथा अध्ययन के प्रति एक गहरे असंतोष और परिणाम की प्रतिक्रिया थी। वैज्ञानिक धारणा के अनुसार अस्पष्ट तथा असंदिग्ध रहने की अपेक्षा गलत होना आवश्यक है और उत्तर-व्यवहारवाद इसी बात को दूसरी तरह से व्यक्त करता है—"अस्पष्ट बने रहना अच्छा है, बजाय उस स्पष्टता के जिसका कोई महत्त्व नहीं है" (It is better to be vague than non-relevantly precise); क्योंकि व्यवहारवाद के अंतर्गत अध्ययनकर्ता सभी पहलुओं पर विचार नहीं करते और किसी भी एक क्रिया की उपेक्षा कर किसी विषय को अच्छी तरह नहीं समझा सकते। इसकी तुलना एक टेबुल पर विभिन्न प्लेटों में रखी गई खाने की विभिन्न सामग्री से की जा सकती है। जिस प्रकार, वस्तुओं को मिलाकर भोजन का निर्माण होता है, उसी प्रकार इन क्रियाओं के मिलने से विषय का निर्माण होता है। भोजन का उपयोग सच्चे अर्थों में तभी होगा जब खानेवाले सभी प्लेटों से लेकर कुछ-न-कुछ खाएँ। उसी प्रकार, विषय का न्यायपूर्ण अध्ययन तब होगा जब इन सभी क्रियाओं के माध्यम से विषय-वस्तु का अध्ययन किया जाए। इस प्रकार, व्यवहारवाद के खिलाफ दो तरह की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त हुई हैं—प्रति-व्यवहारवादी (Anti-behaviouralistic reaction) तथा उत्तर-व्यवहारवादी प्रतिक्रिया (Post-behaviouralistic reaction)। एक अर्थ में दोनों ही उत्तर-व्यवहारवादी हैं, क्योंकि कुछ परंपरावादियों के अलावा अधिकांश ने व्यवहारवाद के विकास के बाद इसकी खामियों पर बल दिया है। अधिकांश राजनीतिक दार्शनिकों, जैसे **लियोस्ट्रॉस** (Leo Strauss), **एरिक वोएगेलिन** (Eric Voegelin) तथा **हरबर्ट मारक्यूज** (Herbert Marcuse) ने राजनीतिक दर्शन के औचित्य पर बल देते हुए यह बताने की चेष्टा की है कि राजनीति-विज्ञान मूलतः आत्मपरक, मूल्यपरक एवं आदर्शवादी है। वोएगेलिन तथा मारक्यूज स्वप्नद्रष्टा, चिंतक एवं क्रांतिकारी विचारक हैं। व्यवहारवाद के साथ इनकी भी ज्ञानशास्त्रीय समानता नहीं है। व्यवहारवाद अपनी सीमाओं को स्वीकार करता है तथा हवा में अपना महल खड़ा करने की कोशिश नहीं करता। जहाँ तक स्ट्रॉस का प्रश्न है, उसकी आपत्तियाँ व्यवहारवाद के लिए प्रासंगिक हैं, इसलिए इसका अपना महत्त्व है और उसकी आपत्तियाँ ज्ञानशास्त्रीय होने के साथ-साथ व्यवहारवाद में होनेवाले अपेक्षित सुधारों से भी संबद्ध हैं।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

डेविड ईस्टन (David Easton) के विचारानुसार उत्तर-व्यवहारवाद भविष्य-अभिमुख है। इसका लक्ष्य राजनीति-विज्ञान को नई दिशा देना है तथा प्राचीन परंपराओं को अपनाकर उनमें कुछ जोड़ना है। यह आंदोलन और नैतिक प्रवृत्ति दोनों है। डेविड ईस्टन ने उत्तर-व्यवहारवाद की निम्नलिखित सात विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(क) राजनीति-विज्ञान के अनुसंधान में प्रविधि (technique) से पहले तथ्य (substance) को स्थान मिलना चाहिए।

(ख) आधुनिक राजनीति-विज्ञान को सामाजिक परिवर्तनों (social changes) पर ध्यान देना चाहिए।

(ग) राजनीति-विज्ञान को वास्तविकता से अपना संबंध बनाए रखना चाहिए, क्योंकि व्यवहारवादी युग का राजनीति-विज्ञान वास्तविकता से अपना संबंध तोड़ चुका था।

(घ) राजनीतिक ज्ञान का प्रयोग अगर उचित लक्ष्यों के लिए किया जाना है, तो मूल्यों को महत्त्वपूर्ण स्थान देना होगा।

(ङ) उत्तर-व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान के छात्रों को यह बताना चाहते हैं कि बुद्धिजीवी होने के नाते उन्हें मानवीय मूल्यों की रक्षा करनी है और समाज में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है।

(च) उत्तर-व्यवहारवादी चिंतनशील विज्ञान के कार्य-विज्ञान (action science) चाहते हैं। **ईस्टन** का कहना है कि 'जानने का अर्थ है कार्य करने का दायित्व वहन करना'।

(छ) अगर हम यह स्वीकार कर लें कि (i) बुद्धिजीवियों को समाज में स्वीकारात्मक भूमिका निभानी है और (ii) यह उचित लक्ष्यों का निर्धारण करेगा तो व्यावसायिक बुद्धिजीवियों के व्यावसायिक संघों एवं विश्वविद्यालयों का अनिवार्यतः राजनीतिकरण (politicization) हो जाएगा, जो आवश्यक है।

अतएव, उत्तर-व्यवहारवादियों ने विश्व-समस्याओं की ओर व्यवहारवादियों का ध्यान आकर्षित किया है। इसलिए हम उम्मीद कर सकते हैं कि उत्तर-व्यवहारवाद का युग निश्चित रूप से मानवीय मूल्यों का खयाल रखेगा, क्योंकि वह हमें आदर्श निष्ठाओं की ओर ले जाने का संकल्प करता है। उत्तर-व्यवहारवादी युग में न केवल अध्ययन-अध्यापन संश्लेषणात्मक (synthetic), बहुपद्धति-विज्ञानात्मक (multimethodological) होगा, वरन उसमें पूर्व-व्यवहारवाद के दोषों की भी समाप्ति होगी।

प्रश्नावली

1. व्यवहारवाद के अर्थ, प्रकृति एवं विस्तार का वर्णन कीजिए।
   (Discuss the meaning, nature and scope of behaviouralism.)
2. राजनीति के व्यवहारवादी उपागम की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
   (Critically examine the behavioural approach to politics.)
3. राजनीति-विज्ञान में व्यवहारवादी आंदोलन के उद्देश्यों तथा सीमाओं की समीक्षा कीजिए।
   (Examine the objectives and limitations of behavioural movement in political science.)
4. उत्तर-व्यवहारवाद पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
   (Write a short note on post-behaviouralism.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 24

राजनीतिक व्यवस्था-सिद्धांत और डेविड ईस्टन

[POLITICAL SYSTEM-THEORY AND DAVID EASTON]

मैं समूहों और संगठनों की आंतरिक राजनीतिक व्यवस्थाओं को सहराजनीतिक व्यवस्थाएँ कहूँगा और 'राजनीतिक व्यवस्था' की अवधारणा को विश्लेषण किए जानेवाले समाज में समाहित राजनीतिक जीवन की सर्वाधिक समावेशी इकाई के लिए सुरक्षित रखूँगा।—डेविड ईस्टन

विषय-प्रवेश (Introduction)

आधुनिक राजनीतिशास्त्र का प्रमुख प्रणेता होने के चलते **डेविड ईस्टन** के विचारों का अध्ययन हमारे लिए उपयोगी है। **एस० पी० वर्मा** ने उनके संबंध में लिखा है, "डेविड ईस्टन पहला प्रमुख राजनीतिशास्त्री है, जिसने व्यवस्था-विश्लेषण-उपागम के आधार पर राजनीति के अध्ययन के लिए उसे मानव विज्ञान या समाजशास्त्र से ज्यों-का-त्यों लेने के बदले एक स्वतंत्र व्यवस्थित-संरचना का विकास किया।"[1] **डेविड ईस्टन** के विश्लेषण की इकाई कोई एक व्यक्ति या राजनीतिक समाज न होकर संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था है। ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था को इकाई मानकर विश्लेषण किया है। ईस्टन के राजनीतिक सिद्धांत के आधार पर न केवल राजनीतिक जीवन, शक्ति, आर्थिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान इत्यादि अनेक क्षेत्रों का अध्ययन होने लगा है, वरन इस सिद्धांत को अपनाने से विचारों की दुनिया में जो आंदोलन प्रारंभ हुआ है, उसकी तुलना, हम उन दो आंदोलनों से कर सकते हैं जो **न्यूटन** की मशीनरी द्वारा और दूसरा **डारविन** के सिद्धांतों से हुआ था। संक्षेप में, **डेविड ईस्टन** के राजनीतिक विश्लेषण का संबंध उस विज्ञान से है, जिसका संबंध सूचनाओं की संचार-व्यवस्था और उसके नियंत्रण से है। डेविड ईस्टन के विश्लेषण को 'सिद्धांत अवधारणा' (system analysis) भी कहा जाता है। इस अर्थ में संचार-व्यवस्था और नियंत्रण के साथ-साथ अनेक बातों का भी समावेश होता है। डेविड ईस्टन का कहना है कि राजनीतिक समस्याओं का हल न सिर्फ राजनीतिक तथ्यों के आधार पर ही हो सकता है, वरन इसके लिए राजनीतिक सिद्धांतों का आनुभविक (empirical) भी होना आवश्यक है। उन्होंने सिद्धांत और तथ्य दोनों का सहारा लेकर अपनी 'व्यवस्था अवधारणा' का प्रतिपादन किया है। इसी दृष्टिकोण को उन्होंने अपनी पुस्तक *The Political System* में अभिव्यक्त किया है और बताया है कि तथ्य के अभाव में सिद्धांत आधारहीन हो जाते हैं।[2]

अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition)

डेविड ईस्टन के राजनीतिक व्यवस्था-सिद्धांत को निवेश-निर्गत (input-output), व्यवस्था-सिद्धांत (system's theory), सामान्य व्यवस्था-सिद्धांत का प्रवाह प्रतिरूप (flow model) या प्रकार्यवादी उपागम का एक प्रकार आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया है। **यंग** के अनुसार, यह दूसरा बड़ा व्यवस्थापक उपागम है और इसकी विशेषता है कि यह एक राज्य वैज्ञानिक की मौलिक दृष्टि का परिणाम है। इसे अन्य अनुशासनों से नकल नहीं किया गया है। **मीहान** ने कहा है कि ईस्टन राजविज्ञान का सर्वाधिक सुसंगत तथा सुव्यवस्थित प्रकार्यवादी है, भले ही वह स्वयं को प्रकार्यवादी मानने में असहमत हो। उसने व्यवस्था-उपागम का राजनीति में

1. "David Easton is the first major political scientist who has developed a systematic framework on the basis of the systems analysis approach for the study of politics instead of merely adopting it from Anthropology or Sociology."—S. P. VERMA
2. "Reliability of knowledge and understanding requires us to anchor thought firmly in empirical data, theory without facts may be a well piloted ship with an unsound kneel."—DAVID EASTON

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्रयोग किया। व्यवस्था उसके विश्लेषण की आधारभूत इकाई है। वह अपनी शोध-रचनाओं में अंतर (inter) तथा अंतः (intra) व्यवस्थाओं के व्यवहार का अध्ययन करता है। इस प्रकार, उसका व्यवस्था-उपागम सामान्य व्यवस्था-सिद्धांत के निकट है। लेकिन, वह व्यवस्था-उपागम का सृजनात्मक पक्ष ही ग्रहण करता है और उसका विशिष्ट समस्याओं या व्यवस्थाओं के विश्लेषण में प्रयोग नहीं करता। उसके लिए 'व्यवस्था' विचारात्मक, विश्लेषणात्मक या अमूर्त धारणा है। ईस्टन इस उपागम के माध्यम से एक ऐसा अवधारणात्मक विचारबंध (framework) प्रस्तुत करता है, जो उसके अनुसार समस्त राजनीतिक जीवन के एक सामान्य सिद्धांत के रूप में प्रकट होने की संभावनाएँ रखता है। इस प्रकार, डेविड ईस्टन राजविज्ञान का टॉलकाट पारसंस है जो व्यवस्थाओं के स्थायित्व, सुव्यवस्था तथा सततता से संबद्ध है। लेकिन, ईस्टन का परिप्रेक्ष्य राजनीतिक है।

व्यवस्था की अवधारणा के द्वारा वह अनुशासन के रूप में समस्त राजविज्ञान को क्रमबद्ध करके संबद्धता एवं दिशा प्रदान करना चाहता है। उसका विश्वास है कि इससे आनुभविक संगति से परिपूर्ण अवधारणात्मक संवर्गों का युक्तियुक्त एवं एकीकृत सेट विकसित हो सकेगा। इससे राजनीतिक जीवन का विश्लेषण राजनीतिक व्यवहार की एक व्यवस्था की भाँति करना संभव हो सकेगा। वह व्यवस्था-उपागम को समस्त विज्ञानों की मूलभूत एकता का आधार मानता है। **हरबर्ट जे॰ स्पिरो, एम॰ ए॰ कैपलन** आदि विद्वान उसके इस विचार से सहमत हैं कि राजनीति का वैज्ञानिक अध्ययन एक व्यवस्था के रूप में ही किया जाना चाहिए।

व्यवस्था से डेविड ईस्टन का तात्पर्य उस पारस्परिक संबंध और एक-दूसरे के साथ पारस्परिक और आश्रित संबंधों से है जिसके कारण संपूर्ण वस्तु के अंगीभूत भाग इस प्रकार संबद्ध रहते हैं कि किसी एक भाग में अंतर आने से संपूर्ण वस्तु के अनेक भागों पर असर पड़ता है। **सी॰ जे॰ फ्रेडरिक** ने अपनी पुस्तक *Man and his Government* में व्यवस्था को इसी ढंग से परिभाषित किया है।[1]

फ्रेडरिक द्वारा बताई गई व्यवस्था की परिभाषा में चार बातें मुख्य हैं—

(i) कोई भी वस्तु बहुत-से अलग-अलग भागों के मिलने से बनती है।

(ii) प्रत्येक हिस्सा एक ऐसा काम करता है कि उस पूरी वस्तु के संचालन के लिए अनिवार्य होता है।

(iii) पूरी वस्तु के प्रत्येक भाग का एक-दूसरे से घनिष्ठ संबंध रहता है।

(iv) अगर उस वस्तु का कोई भी एक भाग काम करना बंद कर दे तो पूरी-की-पूरी वस्तु नष्ट हो जाती है।

डेविड ईस्टन के अनुसार, राजनीतिक संगठित जीवन भी एक व्यवस्था का प्रकार है। इन्होंने राजनीतिक व्यवस्था का इस ढंग से विश्लेषण किया है जिसके आधार पर प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को भलीभाँति समझा जा सकता है—चाहे वह राजनीतिक व्यवस्था प्राचीनकाल की हो या आधुनिक काल की, छोटी हो या बड़ी, राष्ट्रीय हो या अंतरराष्ट्रीय, लोकतांत्रिक हो या तानाशाही। डेविड ईस्टन के अनुसार, राजनीतिक व्यवस्था में कुछ ऐसी आधारभूत बातें मिलती हैं जो हरेक system में लागू हो सकती हैं। राजनीतिक संगठित जीवन के इन आधारभूत बातों का विश्लेषण करना ही राजनीतिक व्यवस्था कहलाता है।

ईस्टन की अवधारणा का विकास (Evolution of Easton's concept)—ईस्टन ने 'व्यवस्था' की शोध-संबंधी सृजनात्मक अवधारणा को 1953 ई॰ में *The Political System* में प्रस्तुत किया, जिसमें उसने राजनीति के अध्ययन में उसकी उपयोगिता एवं महत्त्व को बताया। अपने अवधारणात्मक विचारबंध का, ईस्टन ने 1965 ई॰ में अपनी दो पुस्तकों *A Framework for Political Analysis,* 1965 और *A System's Analysis of Political Life,* 1965 ई॰ में विस्तारपूर्वक विवेचन किया। प्रथम पुस्तक में उसने व्यवस्था-विश्लेषण के अवधारणात्मक विचारबंध की रूपरेखा बताई है। द्वितीय पुस्तक की विषय-सामग्री प्रथम पुस्तक का विस्तार है। अतः, उसका नाम भ्रमोत्पादक है, क्योंकि उसमें राजनीतिक जीवन का कोई भी आनुभविक विश्लेषण नहीं किया गया है। इन पुस्तकों के अतिरिक्त ईस्टन ने सैकड़ों शोध-लेख लिखे हैं और अनेक पुस्तकें संपादित की हैं। उसका समग्र ध्यान राजविज्ञान में एक सामान्य सिद्धांत का विकास करके अनुशासनात्मक एकीकरण लाने में लगा हुआ है। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए उसने अपने 'निवेश-निर्गत मॉडल' को माध्यम बनाया है। ईस्टन के 'व्यवस्था-सिद्धांत' प्रारंभ में **अवधारणात्मक विचारबंध** के रूप में अभिव्यक्त किए गए थे, किंतु बाद में उसने राजनीतिक विश्लेषण के लिए एक 'निवेश-निर्गत उपागम' का विकास किया।

---

1. "When several parts that are distinct and different from each other composed a whole theory, a definite functional relation to each other, which establishes a mutual dependent of this part upon each other, so that the destruction of one initial, the destruction of whole then such constitution is called a system."
—C. J. FRIEDRICH

WWW.GRADESETTER.COM

राजनीतिक व्यवस्था : अवधारणात्मक ढाँचा
(Political System : Conceptual Framework)

राजनीतिक व्यवस्था, सामान्यतः व्यवस्था की सीमाओं के पार, पर्यावरण से परस्पर अंतःक्रिया करनेवाली संरचनाओं, प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं का एक ढाँचा है। वह समाज के लिए मूल्यों का निश्चय, सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति तथा राजनीतिक माने जानेवाले कार्यों को निष्पादित करती है। राजनीतिक व्यवस्थाएँ किसी-न-किसी रूप में सर्वत्र पाई जाती हैं। वे राजनीतिक अंतःक्रियाओं की समग्र इकाई या व्यवस्था हैं जिनकी मुख्य समस्या इन राज-व्यवस्थाओं की प्रकृति, दशाओं तथा जीवन-प्रक्रियाओं का अन्वेषण करना है।

एक व्यवस्था के रूप में राजनीति का अध्ययन करके **डेविड ईस्टन** ने राजविज्ञान को परंपरागत, कानूनी, संस्थात्मक एवं औपचारिक प्रतिबंधों से उन्मुक्त कर दिया है। इस व्यवस्था का निर्माण सार्वजनिक जीवन में भाग लेनेवाले उन व्यक्तियों की क्रियाओं द्वारा होता है जो समाज के लिए नीति-निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन से किसी प्रकार संबद्ध हों। एक दृष्टि से देखा जाए तो ईस्टन की व्यवस्था-संबंधी अवधारणा समन्वयात्मक है। उसमें मूल्य, संस्कृति, सत्ता, शासन, क्रियान्वयन, सहभाग, व्यवस्था के लिए राजनीतिक संबंधों एवं प्रक्रियाओं का योगदान आदि सब कुछ आ जाता है। उसके अनुसार, राजनीतिक व्यवस्था अंतःक्रियाओं का नाम है जिसके माध्यम से समाज के लिए मूल्यों का स्वाधिकार विनिधान किया जाता है। राजनीतिक व्यवस्था को वह एक बड़ी इकाई मानता है जो राजनीतिक जीवन की व्यवहार-व्यवस्था के रूप में अंदर से परिचालित होती है तथा जब वह मूल्यों का बाध्यकारी विनिधान करती है तब सामाजिक पर्यावरण के प्रति अनुक्रिया करती है। ईस्टन के अनुसार, राजनीतिक व्यवस्था एक खुली प्रणाली (open system) है, क्योंकि वातावरण से आए हुए प्रभाव, जो दो तरह के होते हैं—समाज के अंदर प्रभाव और समाज के बाहर प्रभाव, से राजनीतिक व्यवस्था अपने-आपको परिस्थितियों के अनुकूल ढालती है। यह 'बंद-प्रणाली' तब होती है जब इसपर वातावरण का प्रभाव नहीं पड़ता। राज-व्यवस्था अपने पर्यावरण तथा व्यवस्थाओं से प्रभाव या निवेश (inputs) ग्रहण करती है तथा उनको बदलकर निर्गतों (outputs) का रूप दे देती है।

डेविड ईस्टन के अनुसार आधारभूत कल्पनाओं को समझने के लिए, जो प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में लागू हो सकती है, निम्नलिखित मॉडल है—

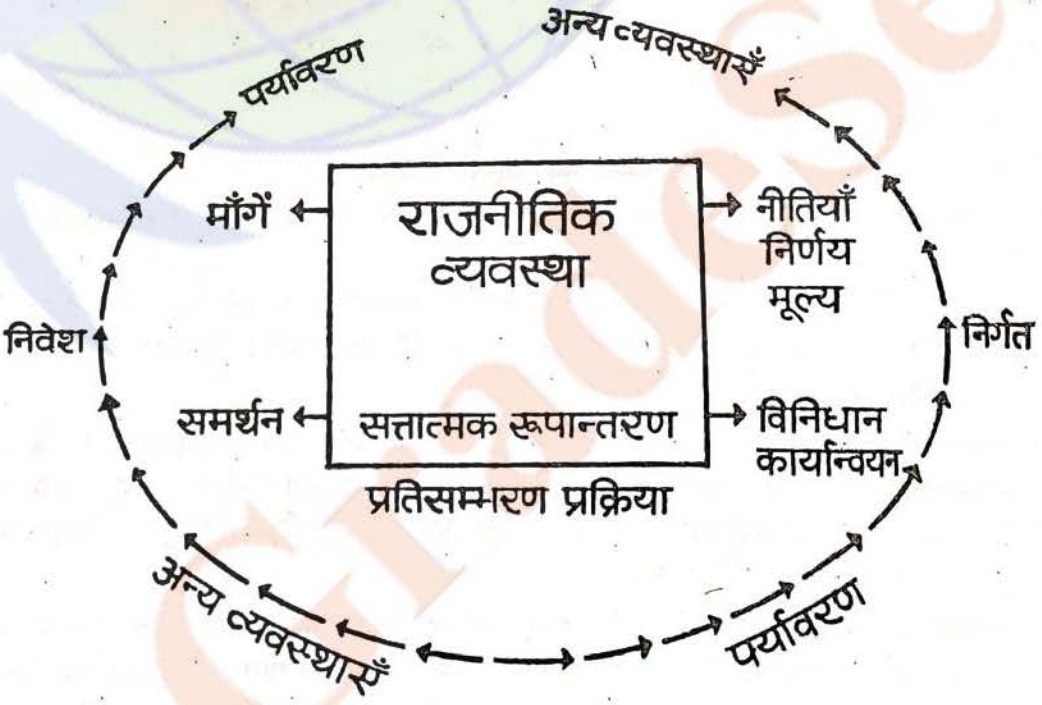

डेविड ईस्टन का व्यवस्था-मॉडल

ईस्टन के व्यवस्था-मॉडल के विश्लेषण से अग्रलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

WWW.GRADESETTER.COM

1. व्यवस्था (system),
2. पर्यावरण (environment),
3. अनुक्रिया (response) तथा
4. प्रतिसंभरण (feedback)।

व्यवस्था और पर्यावरण का प्रतिपादन व्यवस्थावादियों द्वारा किया जा चुका है। जहाँ एक तीसरे और चौथे का सवाल है, वहाँ ईस्टन का अपना योगदान है। चूँकि व्यवस्था का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, इसलिए अन्य तीनों आमुखों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है—

पर्यावरण (Environment)—डेविड ईस्टन राजनीतिक व्यवस्था को प्रक्रियाओं का एक ऐसा सेट मानता है, जो कुछ विशेष प्रकार के निवेशों को संपरिवर्तित करता है। संश्लेषणात्मक दृष्टि से यह कार्य एक विशेष पर्यावरण में किया जाता है। राज-व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि 'खुली प्रणाली' होने के नाते यह पर्यावरण के प्रति अनुक्रिया करने की क्षमता रखे तथा परिस्थितियों के प्रति अपने को अनुकूल बनाए। ऐसा करके ही राज-व्यवस्था जीवित रह सकती है। ईस्टन राज-व्यवस्थाओं की क्षमता पर विशेष जोर देता है।

अनुक्रिया (Response)—एक राज-व्यवस्था को दो प्रकार के कार्य निष्पादित करने पड़ते हैं—

(i) समाज के लिए मूल्यों का विनिधान तथा
(ii) अपने अधिकांश सदस्यों को इन विनिधानों को बाध्यकारी मानने के लिए प्रेरित करने का प्रबंध।

ये दो कार्य राजनीतिक जीवन के अनिवार्य अंग हैं। इनके बिना न तो राज-व्यवस्था का अस्तित्व रहता है और न राज-व्यवस्था के बिना समाज का। परिणामस्वरूप, प्रत्येक राज-व्यवस्था इनसे निबटने के लिए अनुक्रियाएँ करती हैं।

निवेश (Inputs)—प्रत्येक राज-व्यवस्था पर पर्यावरण के द्वारा अनंत प्रकार के प्रभाव-दबाव आदि डाले जाते हैं। चूँकि राजनीतिक प्रणाली एक वातार्वण में काम करती है, इसलिए ये सारे प्रभाव सामाजिक, अंतरराष्ट्रीय या जातीय भी हो सकते हैं। संपूर्ण पर्यावरण से जिस किसी भी तरह का प्रभाव राजनीतिक व्यवस्था पर पड़ता है, उनको हम निवेश (inputs) कहते हैं। यह दो तरह का होता है—1. माँग (demand), तथा 2. समर्थन (support)। **माँग** भी दो प्रकार ही होती है—**विशिष्ट माँग** (specific demand) और **सामान्य माँग** (generalise demand)। **विशिष्ट माँग** किसी विशेष क्षेत्र तक ही सीमित रहती है। अगर किसी इलाके में बाढ़ आ जाती है तो बाँध बनाने की माँग को **विशिष्ट माँग** कहते हैं और यह माँग यहीं तक सीमित रहती है। **सामान्य माँग** के अंतर्गत अनेक माँगें विचारधाराओं (ideology) के रूप में आती हैं। इन माँगों का उद्देश्य समाज में आधारभूत परिवर्तन लाना है। निवेश का दूसरा रूप **समर्थन** (support) है। यह तीन तरह का होता है—

(i) जिसका उद्देश्य सत्तारूढ़ अधिकारियों की सहायता करना है।
(ii) जो राजनीतिक संगठित जीवन के नियमों और कानूनों में स्थायित्व लाना चाहती है और उसको लागू रखना चाहती है।
(iii) समर्थन वह है जो राजनीतिक संगठित समाज के सदस्यों में एकता प्रदान करती है। इन्हीं निवेशों (inputs) के कारण—चाहे वह माँग के रूप में हो या समर्थन के रूप में, राजनीतिक व्यवस्था प्रभावित होती है।

निर्गत (Outputs)—माँग या समर्थन के रूप में जब राजनीतिक व्यवस्था प्रभावित होती है तब राजनीतिक व्यवस्था के अधिकारीवर्ग के लोग निवेशों (inputs) के आधार पर निर्णय लेते हैं, जिन्हें हम निर्गत (outputs) कहते हैं। राजनीतिक निर्गत में अधिकारीवर्ग के निर्णय और कार्य, जैसे—नियुक्ति, कानून और व्यवस्था, समस्याओं के समाधान आदि—शामिल हैं।

प्रतिसंभरणपाश (Feedback loop)—अधिकारीवर्ग के निर्णय के चलते जनता में एक प्रतिक्रिया होती है। जिन साधनों के द्वारा वातावरण में प्रभाव होता है, उनको प्रतिसंभरणपाश (feedback loop) कहते हैं। इसके कारण निर्गत (outputs) की प्रतिक्रिया वातवरण से एक बार पुनः निवेश (inputs) के रूप में राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करती है और इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था हमेशा चलती रहती है। ईस्टन निर्गतों के विशिष्ट समर्थन उत्पन्न कर सकने की क्षमता के निर्णायक आधार पर प्रतिसंभरणपाश की अवधारणा को प्रस्तुत करता है जो निर्गतों के परिणामों को निवेशों के निरंतर आगम (inflow) के साथ जोड़ता है और इस प्रकार वह निवेश और निर्गत के मध्य एक चक्राकार संबंध स्थापित कर देता है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्रवाह-प्रतिरूप (Flow-model)—ईस्टन ने राज-व्यवस्थाओं के निवेश-निर्गत विश्लेषण को 'प्रवाह-प्रतिरूप' के रूप में प्रस्तुत किया है। वह साम्यावस्था विश्लेषण की कमियाँ बताते हुए स्पष्ट करता है कि उसका व्यवस्था-उपागम निवेशों को निर्गतों में बदलनेवाली प्रक्रियाओं का सेटमात्र नहीं है, वरन उसका विश्लेषण दो आधारभूत विचारों को लेकर आगे बढ़ता है—**प्रथम,** व्यवस्था की सततता और दबावों के स्रोत और **दितीय,** दबावों को नियमित करनेवाली प्रक्रियाएँ। सततता (persistence) व्यवस्था को परिवर्तनों के साथ तथा परिवर्तनों के मध्य में बनाए रखती है। यह व्यवस्था निवेशों को विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा संपरिवर्तित करती है। यह संपरिवर्तन उन निर्गतों के रूप में प्रकट होता है, जिनसे व्यवस्था तथा पर्यावरण दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। निर्गतों तथा उनके परिणामों के पर्यावरण पर पड़नेवाले प्रभावों के निवेश के रूप में सूचना-व्यवस्था की प्रतिसंभरण प्रक्रियाएँ दी जाती हैं। इस प्रकार यह व्यवस्था, सततता, दबाव तथा दबावों के नियमन की समस्याओं का सामना करती है। ईस्टन ने इसे 'निवेश-निर्गत विश्लेषण' (input-output analysis) कहा है।

डेविड ईस्टन के व्यवस्था उपागम की विशेषताएँ (Features of David Easton's System Analysis)

राजनीति के अध्ययन के लिए **डेविड ईस्टन** द्वारा जिस **व्यवस्था उपागम** को विकसित किया गया है, उसकी निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ हैं—

1. राजनीतिक पद्धति (political system) सामाजिक पद्धति (social system) का ही एक अंग है। सामाजिक पद्धति राजनीतिक पद्धति की तुलना में अधिक विस्तृत है।
2. राजनीतिक पद्धति में अनुक्रियाशीलता एवं स्वचालित पद्धति मौजूद रहती है। इससे वह अपनी प्रक्रियाओं और संरचनाओं में परिवर्तन करने में समर्थ होती है। इन लक्षणों की मौजूदगी के चलते ही राजनीतिक पद्धति अपनी प्रक्रियाओं तथा संरचनाओं को सही ढंग से समायोजित कर सकती है।
3. राजनीतिक पद्धति गतिशील होती है, स्थिर नहीं।
4. राजनीतिक पद्धति एक खुली पद्धति है। इस पर पर्यावरण के कारकों का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ता है।
5. राजनीतिक पद्धति आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार के पर्यावरणों से घिरी रहती है।
6. **निवेशों** और **निर्गतों** में उचित संतुलन बने रहने की स्थिति में ही राजनीतिक पद्धति स्थिर अवस्था में रह सकती है।

व्यवस्था-सिद्धांत का मूल्यांकन
(Evaluation of System Theory)

डेविड ईस्टन के व्यवस्था-सिद्धांत में गुण एवं दोष दोनों मौजूद हैं। सर्वप्रथम इसके विरुद्ध दिए गए तर्कों का हम अध्ययन करेंगे।

आलोचनाएँ (Criticisms)

डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था-उपागम की आलोचनाएँ निम्नलिखित आधारों पर की गई हैं—

1. कोरावादी सिद्धांत—**डेविड ईस्टन** द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था-उपागम के आधार पर व्यक्तियों के संगठन का विश्लेषण नहीं हो सकेगा, क्योंकि उन्होंने मशीनों में चक्का को भी प्रतिक्रिया का आधार माना है, जो उचित तथा न्यायसंगत नहीं है। यह बात सही है कि आज भी मशीनें व्यक्ति के मस्तिष्क-जैसी काम करने लगी हैं, फिर भी वे व्यक्ति का स्थान नहीं ले सकतीं। **यंग** ने अपनी पुस्तक **सिस्टम ऑफ पॉलिटिकल साईंस** *(System of Political Science)* में बताया है कि मशीनों पर आधारित होने के चलते व्यवस्था-उपागम कोरावादी सिद्धांत है।

2. सिर्फ राजनीतिक अभिजनवर्ग का अध्ययन—इस सिद्धांत का एक दोष यह भी है कि यह मुख्य तौर पर इस बात का अध्ययन करता है कि राजनीतिक व्यवस्था अनेक परिवर्तनों के बावजूद अपने-आपको कैसे बचाए रखती है। अर्थात, सरकारों में परिवर्तन होने पर भी राजनीतिक व्यवस्था अपने-आपको बनाए रखती है। यदि हम इस पर गंभीरतापूर्वक विचार करें तो ऐसा लगेगा कि इस तरीके

WWW.GRADESETTER.COM

में उनलोगों का अध्ययन किया जाता है, जिनके हाथों में शक्ति केंद्रित होती है। अर्थात, यह मॉडल 'राजनीतिक अभिजनवर्ग' का अध्ययन करता है, साधारण जनता से इसका कोई संबंध नहीं है।

3. विकासक्रम के विभिन्न चरणों पर चुप्पी—राजनीतिक व्यवस्था अपने विकासक्रम में किस चरम पर होगी, इस तरफ **डेविड ईस्टन** ने संकेत नहीं किया है, जो उसके सिद्धांत की एक बड़ी भूल है।

4. सिर्फ अमूर्त एवं विश्लेषणात्मक व्यवस्थाओं पर विचार—मानव-व्यवहार के मूर्त प्रतिमानों पर विचार करने के बजाय अमूर्त एवं विश्लेषणात्मक व्यवस्थाओं पर विचार करने के कारण, **डेविड ईस्टन** ने नियंत्रण, शक्ति और प्रभाव-जैसे तथ्यों को छोड़ दिया है। उसमें मतदान, नेतृत्व आदि से संबद्ध जन-राजनीति का कोई स्थान नहीं है।

5. सततता की दृष्टि से भी दोषपूर्ण—सततता की दृष्टि से भी ईस्टन न तो पूरी तरह से तार्किक है और न आनुभविक आधार पर सर्वभावी (inclusive) व्यवस्था के प्रश्नों पर विचार करता है। तथ्यतः राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं पर आधारित होते हुए भी वह अनेक राजनीतिक घटनाओं को छोड़ देता है।

6. व्यक्तियों का गौण स्थान—ईस्टन के सिद्धांत में व्यक्तियों, व्यक्ति-समूहों तथा व्यक्ति के कार्यों का अत्यंत गौण स्थान है। उनका विचार व्यवस्था-संगति की दृष्टि से ही किया जा सकता है।

7. ईस्टन का असफल प्रयास—एक अन्य आलोचना इस आधार पर की जाती है कि ईस्टन राजनीतिक व्यवस्था को अराजनीतिक व्यवस्थाओं से विश्लेषणात्मक आधार पर भी अलग करने में प्रारंभ से ही सफल नहीं हुआ है। व्यवस्था की अवधारणा भी विकसित नहीं की जा सकी है।

महत्त्व (Importance)

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद यह स्वीकार करना पड़ेगा कि एक अनुशासन के रूप में राज-विज्ञान को डेविड ईस्टन ने अपार योगदान किया है। उसने राज-विज्ञान में व्यवस्था-विश्लेषण की नींव डाली है तथा राजनीति का एक सामान्य प्रकार्यात्मक सिद्धांत विकसित किया है। उसके सिद्धांत के महत्त्व को हम निम्नलिखित रूप में आँक सकते हैं—

1. इससे वास्तविक रूप में राजनीति में क्या हो रहा है, उसपर प्रभाव पड़ता है, जिससे तथ्यों पर आधारित सिद्धांतों की उत्पत्ति होती है।

2. इस मॉडल द्वारा राजनीतिक संगठित जीवन की गतिविधियों पर प्रभाव पड़ता है, जिसे व्यवहार में देखा जा सकता है।

3. एक अन्य फायदा यह है कि इस मॉडल और अवधारणा के सहारे हमलोग प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन कर सकते हैं, चाहे उसका रूप जो कुछ भी हो।

निष्कर्ष (Conclusion)—निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्थाओं के गत्यात्मक विश्लेषण को अवधारणात्मक विचारबंध के रूप में प्रस्तुत किया है। इस उपागम को व्यवहारवादी क्रांति का सैद्धांतिक शिशु माना जा सकता है। ईस्टन का यह व्यवस्थात्मक विश्लेषण एक ऐसा अवधारणात्मक विचारबंध है, जो यह बताता है कि कोई व्यवस्था किस प्रकार एक लंबे समय तक निरंतर निर्णय-निर्माण और उनका क्रियान्वयन करती जाती है और वह किस प्रकार किसी समय उसपर आए दबाव का सामना करती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्राधिकारीगण इस बात की सूचना प्राप्त करते रहें कि क्या हो रहा है, ताकि वे स्वेच्छानुसार प्रतिक्रिया कर सकें और एक न्यून स्तर पर व्यवस्था के लिए समर्थन प्राप्त करते रहें।

प्रश्नावली

1. राजनीतिक व्यवस्था सिद्धांत से आप क्या समझते हैं? विवेचना कीजिए।
   (What do you mean by political system theory? Discuss.)
2. डेविड ईस्टन के निवेश-निर्गत सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
   (Discuss the input-output theory of David Easton.)

3. डेविड ईस्टन के सिद्धांत-मॉडल को स्पष्ट करें।
(Examine David Easton's theory model.)
4. डेविड ईस्टन के राजनीतिक व्यवस्था की आलोचनात्मक व्याख्या करें।
(Critically examine David Easton's political system.)
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें—
(i) निवेश,
(ii) निर्गत,
(iii) प्रतिसंभरणपाश तथा
(iv) ईस्टन की आलोचनाएँ।
[Write brief notes on the following:
(i) Inputs,
(ii) Outputs,
(iii) Feedback loop and
(iv) Criticisms against Easton.]

□ □ □

GradeSetter

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 25

संरचनात्मक-कार्यात्मक उपागम
[STRUCTURAL-FUNCTIONAL APPROACH]

यदि राजनीतिक व्यवस्था में संरचनाएँ अपने कार्य संतुलन की दृष्टि से करेंगी तो वह व्यवस्था जीवित या प्राणवान रह सकेगी, किंतु यदि ये संरचनाएँ समुचित रूप में कार्य नहीं करेंगी तो इस बात की पूरी संभावना है कि राजनीतिक व्यवस्था ऐसे परिवर्तन की ओर मुड़ जाए जो उसे विघटित भी कर दे।—आमंड

विषय-प्रवेश (Introduction)

राजनीतिशास्त्र में संरचनात्मक-कार्यात्मक उपागम का अपना विशिष्ट योगदान है। सामान्य अर्थ में कार्यात्मवाद की मूल मान्यता यह है कि समाज तथा राजनीतिक पद्धति को कायम रहने के लिए उनके अंदर कुछ आवश्यक कार्यों का संपादन होना चाहिए। उदाहरण के लिए, समाज को मनुष्यों तथा मनुष्यों के समूहों की कुछ मुख्य आवश्यकताओं, जैसे—आवास, भोजन, सुरक्षा, सांस्कृतिक उत्थान आदि की पूर्ति करनी होगी। कार्यात्मवाद के अंतर्गत समाज तथा राजनीतिक पद्धति को बने रहने या कायम रहने से संबद्ध उपर्युक्त कार्यों के संपादन को **कार्यात्मक आवश्यकताएँ** कहकर पुकारा जाता है। कार्यात्मवादियों का कहना है कि ये कार्यात्मक आवश्यकताएँ समाज के भीतर अपने संपादन के लिए मानकों (norms), आडंबरों तथा संस्थाओं को स्थापित करती हैं जो इन आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता करने के लिए व्यक्ति को नियंत्रित एवं समन्वित करते हैं।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम की आवश्यकता (Need of Structural-functional Approach)

तुलनात्मक राजनीति के अंतर्गत व्यवस्था-विश्लेषण का यह संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम **डेविड ईस्टन** के **निवेश-निर्गत उपागम** से उत्पन्न असंतोष के फलस्वरूप अस्तित्व में आया, यह कहना पूर्णतः सही नहीं है। परंतु, हम कह सकते हैं कि जब ईस्टन ने व्यवस्था-विश्लेषण को अमूर्तीकरण के ऐसे स्तर पर पहुँचा देना चाहा, जहाँ उसका व्यावहारिक प्रयोग कठिन होने लगा तो नए संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम का प्रचलन प्रारंभ हुआ। **डेविड ईस्टन** द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक व्यवस्था के निवेश और निर्गतों का विश्लेषण राजनीति-विज्ञान को सामान्य सिद्धांत-निर्माण में बहुत आगे तक नहीं ला सका।

राजनीतिक विश्लेषणों में डेविड ईस्टन का मॉडल और भी सीमित उपयोगिता रखता है। इसीलिए, **आमंड** ने राजनीतिक व्यवस्थाओं को संरचनाओं और प्रकार्यों के रूप में समझने के लिए इस विचार को रखा। ऑमण्ड के विचार में यदि राजनीतिक व्यवस्थाएँ, संरचनाओं और प्रकार्यों के आधार पर समझी जाएँ तो परिवर्तन और विकास की दिशाओं का स्पष्टीकरण आसान हो जाएगा। इसी उद्देश्य से तुलनात्मक राजनीति में संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक अवधारणा का प्रयोग आवश्यक माना जाने लगा है।

इस उपागम की आवश्यकता का एक अन्य कारण इसके द्वारा प्रयुक्त होनेवाले प्रवर्ग (categories) और प्रत्यय हैं। परंपरागत तुलनात्मक राजनीति में जिन विभिन्न प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता था (जैसे—राज्य, राष्ट्र, संविधान आदि), वे सब तुलनात्मक विश्लेषणों में विशेष उपयोगी नहीं थे; क्योंकि अर्थ की दृष्टि से इसका प्रतिमानित रूप स्थिर नहीं था। संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम में जिन प्रत्ययों और विश्लेषण-प्रवर्गों का प्रयोग किया जाता है, वे चूँकि प्रतिमानित और मानकीय होते हैं, अतः वे राजनीतिक व्यवस्था को एक माध्यम से समझने का मार्ग खोल देते हैं।

डेविड ईस्टन ने संपूर्ण राष्ट्रीय व्यवस्था पर ध्यान केंद्रित करने की बात तो की थी; किंतु उस व्यवस्था की संरचनाओं और उनसे संबद्ध प्रक्रियाओं में संबंध स्थापित करने का प्रयास नहीं किया। अतः, ऐसा प्रयास

WWW.GRADESETTER.COM

आवश्यक हो गया, जो राजनीतिक व्यवस्था की संरचनात्मकता और उसके प्रकार्यों का ज्ञान करा सके। इस उपागम के माध्यम से ऐसा किया गया है।

इसके साथ ही, राजनीतिक व्यवस्थाओं की सामर्थ्य एवं क्षमता को आज तुलनात्मक विश्लेषण में जानना आवश्यक हो गया है। **डेविड ईस्टन** ने इस संबंध में केवल सतही जानकारी दी है और उसकी चिंता व्यवस्था की सततता से अधिक है। संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम राजनीतिक व्यवस्था के ढाँचे या संरचना के गठन और उसके कार्यों की प्रक्रियाओं के बीच तालमेल के कारणों तथा परिणामों को पहचानने का प्रयत्न करके उन तत्त्वों का ज्ञान कराने में सहायक है।

तुलनात्मक राजनीति में **डेविड ईस्टन** का 'निवेश-निर्गत विश्लेषण' सिद्धांत-निर्माण में बहुत अधिक सहायक न होने के कारण संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम जैसी वैकल्पिक अवधारणा की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। '**ऑमंड** का 'संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक विश्लेषण, इस दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययनों में अधिक आवश्यक हो गया है; क्योंकि **डेविड ईस्टन** के विश्लेषण से यह अधिक उपयोगी और सिद्धांत-निर्माण में सहायक है।

उपर्युक्त तथ्यों के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम, एक तरफ **डेविड ईस्टन** द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था-विश्लेषण की व्याख्या के दौरान उभरी कमियों को दूर करने के लिए, तो दूसरी ओर तुलनात्मक राजनीति में राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा को अधिक यथार्थवादी ढंग से प्रयुक्त करने के लिए आवश्यक है। आज इसकी उपयोगिता इसलिए है कि यह व्यवस्था की अंतःवस्तु (contents) के उसके कार्यात्मक पक्ष को अलग करके समझने का प्रयास करता है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मवाद का अर्थ (The Meaning of Structuralism-functionalism)।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम दो प्रत्ययों के प्रयोग पर आधृत है। प्रथम प्रत्यय **संरचना** का है तो द्वितीय प्रत्यय **प्रकार्य** का है। अतः, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक का अर्थ इन दोनों परस्पर-संबंधित प्रत्ययों का अर्थ करके ही समझा जा सकता है। वैसे इनका उद्‌भव प्रकार्यात्मवाद से हुआ है। सामान्य अर्थ में, प्रकार्यात्मवाद की मूल मान्यता यह है कि समाज तथा राजनीतिक-पद्धति को कायम रहने के लिए उसके अंदर कुछ आवश्यक कार्यों का संपादन होना चाहिए। उदाहरण के लिए, समाज को मनुष्यों तथा मनुष्यों के समूहों की कुछ मुख्य आवश्यकताओं, जैसे आवास, भोजन, सुरक्षा, सांस्कृतिक उत्थान आदि की पूर्ति करनी होगी। समाज तथा राजनीतिक पद्धति को बने रहने या कायम रहने से संबद्ध उपर्युक्त कार्यों के संपादन को **कार्यात्मक आवश्यकताएँ** कहा जाता है। प्रकार्यात्मवादियों का कहना है कि ये कार्यात्मक आवश्यकताएँ समाज के अंदर अपने संपादन के लिए मानकों, आडंबरों तथा संस्थाओं को स्थापित करती हैं, जो इन आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता करने के लिए व्यक्ति को नियंत्रित और समन्वित करते हैं।

इस प्रकार, प्रकार्य का संबंध अंततः व्यवस्था के लिए क्रिया-प्रतिमान के वस्तुनिष्ठ परिणामों से होता है। साधारण शब्दों में, इसे हम अंतःसंबद्ध भूमिकाओं का प्रतिमान कह सकते हैं। अर्थात, प्रकार्य राजनीतिक व्यवस्था की पर्यवेक्षणीय गतिविधियाँ हैं। **रॉबर्ट सी॰ बोन** ने इसकी अधिक तर्कसंगत परिभाषा करते हुए लिखा है, "एक प्रकार्य-व्यवस्था को बनाए रखने तथा उसे विकसित करने के लिए किया जानेवाला ऐसा क्रिया-प्रतिमान है, जो नियमित रूप से होता रहता है।" प्रकार्य का यह अर्थ **विकार्य** (disfunction) का भी संकेत देता है। एक स्थिति में, एक प्रकार्य उससे भिन्न स्थिति में विकार्य बन सकता है। **मर्टन** का यह कहना कि प्रकार्य और विकार्य भिन्न-भिन्न क्रिया-प्रतिमानों द्वारा उत्पन्न होते हैं—भ्रामक है। एक क्रिया-प्रतिमान, एक स्तर पर प्रकार्य और दूसरे स्तर पर विकार्य बन सकता है। अतः, हमें प्रकार्य का अर्थ ऐसे क्रिया-प्रतिमान से लेना है, जो व्यवस्था का पोषक या अनुरक्षक हो।

प्रकार्य प्रकट (manifest) या गुप्त (latent) दोनों हो सकता है। **मर्टन** इस अंतर को इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है कि इससे राजनीतिक व्यवस्था की वास्तविकताओं को समझाना संभव है। उसके अनुसार, प्रकट से अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अप्रकट प्रकार्यों की होती है। **डॉ॰ एस॰ पी॰ वर्मा** ने **मर्टन** के अभिमत को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है, "शोधकर्ता के लिए अप्रकट प्रकार्यों को, जो अत्यधिक जटिल हैं और जिन्हें पहचानना कठिन होता है, प्रकट प्रकार्यों से जो सुस्पष्ट रूप से स्वीकृत होते हैं, पहचानना अधिक महत्त्वपूर्ण है।"

प्रकार्य-संबंधी उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि हर क्रिया-प्रतिमान या गतिविधि को तुलनात्मक राजनीति के अंतर्गत प्रकार्य नहीं कहा जा सकता। केवल उन्हीं क्रियाओं को प्रकार्य कहा जा सकता है, जो

WWW.GRADESETTER.COM

(i) राजनीतिक व्यवस्था को बनाए रखनेवाली हों, (ii) राजनीतिक व्यवस्था को विकसित करनेवाली हों, तथा (iii) प्रतिमानित हों, अर्थात नियमित रूप से घटित होनेवाली हों। अतः, किसी भी कार्य को तब तक प्रकार्य (या क्रिया) नहीं कहा जा सकता, जब तक कि वह नियमितता का लक्षण नहीं रखती हो। तुलनात्मक राजनीति में प्रकार्य का विशेष अर्थ ही लिया जाता है। और इसमें इसके प्रकट रूप से अधिक इसके गुप्त या अप्रकट रूप पर बल दिया जाता है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम में दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रत्यय संरचना का है। संरचना राजनीतिक व्यवस्था में प्रकार्यों के निष्पादन की व्यवस्थाओं को कहा जाता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में प्रकार्यों की क्रिया जिस व्यवस्था द्वारा की जाती है, उस व्यवस्थापिका-संगठन को संरचना का नाम दिया जाता है। इससे स्पष्ट है कि संरचनाओं का अर्थ प्रकार्यों के अर्थ के साथ जुड़ा हुआ है और इस अर्थ में कोई भी संगठन प्रकार्यविशेष का निष्पादन करने पर ही संरचना कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, विधायिका केवल निर्वाचित या मनोनीत सदस्यों की सामूहिकता को न कहकर—केवल उसी अवस्था में व्यवस्थापन-संरचना कही जाएगी, जब वह व्यवस्था को बनाए रखने की क्रिया को नियमित रूप से निष्पादित करती हो। अतः, संरचनाओं को हम प्रकार्यों के आधार पर ही परिभाषित कर सकते हैं। हर किसी संगठन को हम संरचना नहीं कह सकते। यह क्रिया, परिचालकता या सुव्यवस्थित संबंधों का प्रतिमान है। यह आवश्यक नहीं है कि एक संरचना केवल एक ही प्रकार्य तक सीमित रहे। **मर्टन** ने भी कहा है कि यह हम स्वीकार नहीं कर सकते कि एक संरचना केवल एक प्रकार्य ही करती है या कर सकती है। अर्थात, एक संरचना अनेक प्रकार्य निष्पादित कर सकती है।

तुलनात्मक राजनीति में संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम विशेष अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। यह केवल **संरचना** और **प्रकार्य-संबंधी** दो प्रत्ययों के इर्द-गिर्द गूँथा गया अध्ययन-उपागम ही नहीं है, वरन यह दोनों प्रत्ययों की विशेष रूप से व्याख्या भी करता है। **डॉ० एस० पी० वर्मा** की मान्यता है कि इस अध्ययन उपागम में तीन आधारभूत प्रश्न सन्निहित हैं—(i) कोई व्यवस्था कौन-सा आधारभूत प्रकार्य पूरा करती है; (ii) ये प्रकार्य किन संरचनाओं द्वारा पूरे होते हैं; और (iii) ये प्रकार्य किन-किन परिस्थितियों में पूरे किए जाते हैं। इन तीनों प्रश्नों का उत्तर देकर संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम, संरचनाओं और प्रकार्यों के प्रत्ययों को विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त करके राजनीति के सामान्य सिद्धांत-निर्माण में प्रयत्नशील माना जा सकता है।

टॉलकोट पारसंस द्वारा निर्दिष्ट चार प्रकार्यात्मक आवश्यकताएँ

आधुनिक समाजशास्त्र तथा अनुभववादी राजनीतिशास्त्र में **टॉलकोट पारसंस** द्वारा बताए गए चार प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं को सार्वभौम रूप से स्वीकार कर लिया गया है। पारसंस का कहना है कि प्रकार्यात्मक आवश्यकताएँ चार प्रकार की होती हैं, जिनका संपादन करना किसी भी पद्धति के लिए आवश्यक ही नहीं, वरन अनिवार्य है। पारसंस के अनुसार, सामाजिक पद्धति-सहित अन्य सामाजिक उप-पद्धतियों को निम्नलिखित प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं को पूरा करना अनिवार्य है—

(i) अनुकूलन (Adaptation)—अपने-आपको अन्य पर्यावरणों के साथ अनुकूलित करना पड़ता है, जिसे हम अनुकूलन कहते हैं।

(ii) लक्ष्य-प्राप्ति (Goal-attainment)—सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति करनी होगी।

(iii) तनाव-प्रवर्धन तथा प्रतिकूल पोषण (Tension management and pattern maintenance)—उसे अपने बाह्य एवं आंतरिक पर्यावरण के तनाव को नियंत्रित करना पड़ता है।

(iv) एकीकरण (Integration)—उसे अपने सदस्यों के विभिन्न कार्यों एवं भूमिकाओं को एकीकृत करना पड़ता है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण वह है, जो अध्ययन की विधियों में ढाँचे या संरचना के गठन और उसके कार्यों की प्रक्रियाओं के बीच तालमेल के कारण और परिणामों को पहचानने का प्रयत्न करता है। स्थूल रूप में इसे हम एक व्यवस्था-विश्लेषण का तरीका भी कह सकते हैं। व्यवस्था-विश्लेषण से अभिप्राय यह है कि राजनीति की दुनिया में जिसे व्यवस्था कहा जाता है, उसकी एक संरचना (structure) होती है और संरचना अपने-आपमें एक गतिशील मशीन की तरह कुछ कार्य करती है। इस संपूर्ण ढाँचे के कुछ कार्य हैं और इसके अलग-अलग अंग-प्रत्यंगों के भी अपने-अपने कार्य हैं। उदाहरण के लिए, शरीर एक

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

व्यवस्था (system) है, जिसका निर्माण हाथ, पैर, आँख, कान आदि से मिलकर होता है। इन सभी अंगों का अपना-अपना विशिष्ट कार्य है और उन सब अंगों की आत्मनिर्भरता एवं सामूहिकता से जो कार्य शरीर करता है, वही संरचनात्मक कार्य (structural function) है। व्यवस्था-विश्लेषकों का कहना है कि सभी व्यवस्थाएँ गत्यात्मकता, अंतःनिर्भरता, विशेषीकरण, चेतना-केंद्र, कार्यक्षमता आदि विशेषताएँ लेकर चलती हैं। एक मशीन की भाँति उनमें कुछ डाला जाता है, जिन्हें **निवेश** (inputs) कहा जाता है। वे निवेश एक क्रियाविशेष से निकलकर **निर्गत** (outputs) का रूप धारण करते हैं। इस तरह, विभिन्न संस्थाओं या अवस्थाओं की कार्यप्रणाली में संगठन का कार्य अपने विभिन्न अंगों से अलग-अलग कार्यों के 'input' पैदा कर उन्हें विशेष प्रकार के 'output' में बदलना है। आज के राजनीतिक वैज्ञानिक इन्हीं 'input' और 'output' के संबंध और प्रक्रियाओं को पहचानना चाहते हैं और इसके लिए वे जो विधियाँ अपना रहे हैं, उनमें एक विधि **संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण** कहलाती है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम की विशेषताएँ
(The Characteristics of Structural-functional Approach)

आम तौर से राजनीतिक व्यवस्था की आधारभूत विशेषताएँ ही संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम में स्वीकार की गई हैं, फिर भी **डेविड ईस्टन** और **आमंड** के विचारों में कुछ आधारभूत अंतर है। ईस्टन ने जहाँ राजनीतिक व्यवस्था को 'माँगों-समर्थनों' तथा 'नीतियों-निर्णयों' के रूप में समझने का प्रयास किया, वहाँ ऑमण्ड उससे आगे बढ़कर संरचनाओं और प्रकार्यों के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था को समझना चाहता है। इससे संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम की अपनी कुछ विशेषताएँ हो जाती हैं—

(i) संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम व्यवस्था-विश्लेषण की इकाई के रूप में संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था पर बल देता है।

(ii) यह व्यवस्था के अनुरक्षण के लिए विशिष्ट कार्यों की शर्त का प्रतिपादन करता है।

(iii) इस उपागम में व्यवस्था की विविध संरचनाओं में प्रकार्यात्मक आत्मनिर्भरता होती है।

(iv) संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम में संरचनात्मक प्रतिस्थापन्नता (structural substitutability) की अवधारणा को मान्यता प्राप्त है।

(v) इस उपागम में प्रकार्यात्मक (functional) और विकार्यात्मक (disfunctional) संरचनाओं को भी मान्यता प्राप्त है।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम में तीन प्रमुख विद्वानों के विचारों का अध्ययन किया गया है। ये तीन विद्वान हैं—आमंड, एप्टर तथा डेविड ईस्टन।

आमंड के विचार (Almond's Views)

आमंड एवं **कोलमैन** की पुस्तक *The Politics of Developing Areas* व्यवस्था-विश्लेषण के क्षेत्र में एक प्रयोग है। आमंड और उसके सहयोगी विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं को दो दृष्टिकोणों से देखने का प्रयास करते हैं—

(i) विकासशील देशों के परंपरागत समाज से आधुनिक समाज की ओर बढ़ने में राजनीतिक विकास का सिद्धांत क्या हो सकता है?

(ii) विकास की इस प्रक्रिया से गुजरनेवाले देश कितने प्रकार के हो सकते हैं और उनमें वर्गीकरण संभव है या नहीं?

आमंड का निष्कर्ष है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन उपर्युक्त दोनों समस्याओं के निदान पर निर्भर करता है। **आमंड** की पद्धति यह रही है कि पहले उसने पश्चिम के विकसित देशों की राजनीतिक व्यवस्था के तथ्य और तत्त्वों का अध्ययन किया और फिर उनकी विद्यमानता को विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं में ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है।

यह देखना आवश्यक है कि आमंड के अनुसार, राजनीतिक व्यवस्था (political analysis) से आशय क्या है। आमंड की दृष्टि में राजनीतिक शब्द राज्य का पर्यायवाची नहीं, बल्कि एक ऐसी स्थिति है जो

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

सामाजिक एकीकरण की प्रक्रिया को केवल संभव ही नहीं बनाती, बल्कि जीवित भी रखती है। इस सामाजिक एकीकरण को जो तत्त्व बाँधकर रखता है, वह है औचित्यपूर्ण शक्ति (legitimate force)। यह औचित्यपूर्ण शक्ति संपूर्ण व्यवस्था में तारतम्य स्थापित करती है। आमंड के शब्दों में, "राजनीतिक व्यवस्था अंतःक्रियाओं की वह व्यवस्था है, जो सभी स्वतंत्र समाजों में पाई जाती है और जो कम या अधिक रूप में वैध भौतिक बाध्यता (legitimate physical compulsion) के प्रयोग अथवा प्रयोग की धमकी द्वारा एकीकरण और अनुकूलन (आंतरिक एवं अन्य समाजों के विरुद्ध दोनों रूपों में) का कार्य करती है। राजनीतिक व्यवस्था समाज में तारतम्य या व्यवस्था स्थापित करनेवाली अथवा परिवर्तन करनेवाली वैध व्यवस्था है। .....वैध शक्ति ही वह धारा है जो राजनीतिक व्यवस्था के **निवेशों** (inputs) और **निर्गतों** (outputs) में प्रवाहित होती रहती है और उसे एक व्यवस्था के रूप में विशेष गुण, विशिष्टता और संशक्ति प्रदान करती है।"[1]

राजनीतिक व्यवस्था को इस प्रकार परिभाषित करनेवाले ऑमण्ड ने उसका संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक विश्लेषण (structural-functional analysis) प्रस्तुत करते हुए व्यवस्था को एक ऐसी इकाई माना है, जो वातावरण को प्रभावित करती है और उससे प्रभावित भी होती है। **आमंड** के अनुसार, संरचना (संगठन) और कार्यों की दृष्टि से किसी राजनीतिक व्यवस्था में निम्नलिखित विशेषताओं का पाया जाना अपेक्षित है—

1. संपूर्णता या व्यापकता (Comprehensiveness),
2. अंतःनिर्भरता (Interdependence),
3. सीमा-रेखाएँ (Boundaries),
4. खुली व्यवस्था (Open system) तथा
5. व्यक्तिगत प्रक्रियाओं के स्थान पर व्यक्ति की भूमिकाओं की प्रतिक्रियाएँ।

आमंड ने संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक तथा संतुलनात्मक दृष्टिकोण में स्थायित्व और परिवर्तन दोनों पर बल दिया। ऑमण्ड के अनुसार, किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में चार प्रकार की संरचनाएँ होती हैं—

1. क्रिया-प्रतिक्रियाओं के वैध एवं औचित्यपूर्ण प्रकार,
2. कुछ निश्चित एवं समान राजनीतिक कार्य,
3. राजनीतिक ढाँचों की बहु-कार्यात्मकता, और
4. एक राजनीतिक संस्कृति।

उपर्युक्त चारों विशेषताओं की व्याख्या करने पर यह वर्गीकरण स्पष्ट है। **आमंड** का कहना है, "प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में संरचनाएँ मिलती हैं और ये संरचनाएँ अन्योन्याश्रित क्रियाओं का वैध प्रतिरूप होती है।" **आमंड** मानता है कि यदि राजनीतिक व्यवस्था में संरचनाएँ संतुलन की दृष्टि से अपना कार्य करती हैं तो वह व्यवस्था जीवित रहेगी। यदि संरचनाएँ अपना निर्धारित कार्य न करें तो व्यवस्था में परिवर्तन आने लगता है और उसके विघटन की संभावना बढ़ जाती है। उसकी मान्यता है कि वयस्क मताधिकार, राजनीतिक दलों, दबाव या हित-समूहों का जन्म तथा संचार-साधनों के विकास ने परंपरागत दृष्टिकोणों को अनुपयोगी बना दिया है। अतः, ऑमण्ड ने इनमें निम्नलिखित तीन अन्य कार्यों को जोड़ा है—

1. हित व्यक्तिकरण (Interest articulation),
2. हित एकत्रीकरण (Interest aggregation) तथा
3. राजनीतिक संचार (Political communication)।

आमंड ने विकसित पाश्चात्य आधुनिक व्यवस्थाओं को समानार्थक माना है तथा एक राजनीतिक व्यवस्था के मुख्यतः दो कार्य बताए हैं—

(i) निवेश-कार्य (Input function) तथा
(ii) निर्गत-कार्य (Output function)।

चूँकि सभी राजनीतिक व्यवस्थाएँ उपर्युक्त दोनों कार्य करती हैं, इसलिए इन कार्यों की संक्षिप्त विवेचना आवश्यक है—

---

1. Political System "is that system of interactions which can be found in all independent societies which perform the functions of integration and adaptation (both internally and vis-a-vis other societies) by means of the employment, or threat of employment, more or less legitimate physical transforming system in the society.....legitimate force is the thread that runs through the inputs and outputs of the political system giving in quality and silence and its coherence as a system."—ALMOND & COLEMAN : *The Politics of Developing Areas*, p. 1

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(i) निवेश-कार्य (Input functions)—प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में ये कार्य कम या अधिक मात्रा में व्यवस्थात्मक क्रियाओं द्वारा संपादित होते हैं। इसके अंतर्गत निम्नलिखित कार्य आते हैं—

1. राजनीतिक समाजीकरण और भर्ती से संबद्ध कार्य (Functions regarding political socialization and recruitment),
2. हित अभिव्यक्ति-संबंधी कार्य (Functions regarding interest articulation),
3. हित समूहीकरण-संबंधी कार्य (Functions regarding interest aggregation),
4. राजनीतिक संचार-संबंधी कार्य (Functions regarding political communication)।

(ii) निर्गत-कार्य (Output functions)—उपर्युक्त चार निवेश-संबंधी कार्यों के अलावा ऑमण्ड ने तीन निर्गत संबंधी कार्यों का भी वर्णन किया है। ये तीन कार्य निम्नलिखित हैं—

1. नियम-निर्माण (Rule-making),
2. नियम-कार्यान्वयन (Rule-application) एवं
3. नियम-अधिनिर्णय (Rule-adjudication)।

ऐसा प्रतीत होता है कि ऑमण्ड ने गैर-सरकारी कार्यों को **निवेश-कार्य** और सरकारी कार्यों को **निर्गत-कार्य** माना है। ऐसा विश्लेषण करने में उसके मुख्यतः तीन उद्देश्य हैं—

1. वह संस्थाओं का वर्णन न कर सिर्फ कार्यों की अवधारणा प्रस्तुत करता है, जो उन संस्थाओं को करना चाहिए।
2. निवेश-कार्य और निर्गत-कार्य की संरचनाओं और कार्यों के माध्यम द्वारा वह बता रहा है कि व्यवस्था जड़ या स्थिर न होकर उप-व्यवस्थाओं एवं वातावरण द्वारा प्रभावित होती रहती है और यथार्थ को समझने के लिए इन प्रक्रियाओं तथा परिणामों को समझना आवश्यक है।
3. निवेश-कार्यों में समाजीकरण और संचार को छोड़कर राजनीतिक संस्कृति के नाम से वह एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन की व्याख्या करता है।

आमंड और **पॉवेल** का मुख्य उद्देश्य एक ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन करना था, जिसके द्वारा यह स्पष्ट किया जा सके कि किस प्रकार राजनीतिक व्यवस्थाएँ परंपरावादी स्वरूप से आधुनिक स्वरूप में प्रवेश करती हैं। इस प्रक्रिया को राजनीतिक विकास की प्रक्रिया कहा जाता है। संरचनात्मक दृष्टि से **ऑमंड** राजनीतिक व्यवस्था के तीन लक्षणों को प्रमुख मानता है—(i) राजनीतिक संरचनाएँ, (ii) राजनीतिक संस्कृति, और (iii) राजनीतिक अभिनेता।

आमंड और **पॉवेल** ने राजनीतिक व्यवस्थाओं के संरचनात्मक तत्त्वों और प्रकार्यात्मक पहलुओं को समझने के लिए यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में मुख्यतः चार विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(i) राजनीतिक संरचनाएँ (Political structures)—अर्थात, प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में कुछ संरचनाएँ अनिवार्यतः विद्यमान रहती हैं

(ii) समान प्रकार्य (Same functions)—ऑमंड और पॉवेल राजनीतिक व्यवस्था का दूसरा प्रमुख लक्षण सभी व्यवस्थाओं द्वारा एक-से कार्य निष्पादित होना मानते हैं। राजनीतिक व्यवस्था का विकास इन कार्यों के निष्पादन से ही निर्धारित होता है।

(iii) बहु-प्रकार्यात्मक राजनीतिक संरचनाएँ (A structure performing functions)—यह अवधारणा राजनीतिक व्यवस्थाओं की संरचनाओं के द्वारा अनेक प्रकार के कार्यों का निष्पादन स्वीकार करती है। अतः, परंपरागत विचार कि एक संरचना एक ही कार्य कर सकती है, यह इस उपागम में मान्य नहीं।

(iv) मिश्रित व्यवस्थाएँ (Mixed systems)—आमंड ने सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं को मिश्रित प्रकृति का माना है। इससे उनका आशय है कि प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में कुछ लक्षण आधुनिकता और कुछ लक्षण परंपरागत के विद्यमान रहते हैं। इसका मुख्य आधार सांस्कृतिक होता है।

ऑमंड के संपूर्ण विश्लेषण का यह निष्कर्ष है कि राजनीतिक व्यवस्था जितनी अधिक विकसित होगी, उसकी संरचनाएँ (structures) उतनी ही अधिक विशेषीकृत तथा सीमा की दृष्टि से व्यापक तथा विस्तृत होंगी। ऑमंड अपने इस विश्लेषण द्वारा राजनीतिक परिवर्तन के सिद्धांत का प्रतिपादन करता है। उसका

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

यह विश्लेषण संगठन और कार्यों के विभिन्न स्तरों को पहचानने तथा उन्हें स्पष्ट करने की क्षमता रखता है। आमंड ने कार्यों के विभिन्न स्तर भी बताए हैं, जैसे—क्षमता-कार्य, परिवर्तन-कार्य, संरक्षण तथा समायोजन-कार्य एवं संचालन-कार्य। इन चारों स्तरों के कार्यों में संबंधों की स्थापना ही परिवर्तन और विकास का सिद्धांत है।

आलोचनाएँ (Criticisms)—आमंड द्वारा प्रस्तुत संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण की अपनी कुछ सीमाएँ हैं, जो उसके विश्लेषण के दोष कहे जा सकते हैं। ये सीमाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) इसमें राजनीतिक जीवन के विभिन्न पहुलओं के प्रभाव आदि का विश्लेषण नहीं हो पाता।

(ii) ऑमण्ड की प्रणाली में कुछ ऐसे तथ्य शामिल हैं, जो अनावश्यक हैं और जिनसे विश्लेषण में अस्पष्टता और जटिलता बढ़ती है।

(iii) ऑमण्ड के सिद्धांत में राजनीतिक संरचना और राजनीतिक कार्यों के बीच जो संबंध बैठाया गया है, उसे **आब्रम कार्डिनर** ने 'प्रकार्यात्मक उद्देश्य का भ्रम' (fallacy of functional teleology) कहा है।

(iv) इस प्रणाली में यह माना गया है कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के लिए राजनीतिक दल अनिवार्य हैं, लेकिन अनेक राज्य ऐसे हैं जहाँ राजनीतिक दल या तो हैं ही नहीं और यदि हैं तो केवल, नाम-मात्र के लिए। फिर भी, व्यवस्था द्वारा कार्य संपन्न हो रहे हैं तो क्या हम यह मान सकते हैं कि व्यवस्था कार्य नहीं कर रही है?

(v) संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम रूढ़िवादी है। यह सामाजिक परिवर्तन के विरुद्ध पूर्वाग्रही है।

(vi) यह उपागम व्यवस्था के अनुरक्षण के संबंध में कोई वस्तुनिष्ठ मानदंड या कसौटी प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा है।

(vii) इस उपागम के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि संरचना में होनेवाले परिवर्तन का संपूर्ण व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। लेकिन, इसके द्वारा परिवर्तनों और उनसे पड़नेवाले प्रभावों की प्रकृति, तीव्रता और मात्रा का ज्ञान प्राप्त करने का कोई सुलभ साधन उपलब्ध नहीं हो पाया है।

(viii) अनेक आलोचकों का दावा है कि इस विश्लेषण द्वारा आनुभविक प्रयोग के जिन उपकरणों की ओर संकेत किया गया है, वे विकासशील देशों में लागू नहीं हो सकते।

(ix) संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम साम्यवादी देशों के राजनीतिक विकास की व्याख्या करने में असमर्थ रहा है। साम्यवादी देशों में अभी तक राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई है। अतः, इसके द्वारा साम्यवादी देशों की राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है।

(x) यह उपागम मूलतः राजनीतिक व्यवस्था को ही इकाई मानकर चलता है। इसके अंतर्गत सामाजिक व्यवस्था को ध्यान में नहीं रखा गया है। यह सामाजिक परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक व्यवस्था की संरचनाओं तथा उनके प्रकार्यों का वर्णन नहीं करता।

(xi) आलोचकों ने यह भी कहा है कि यह उपागम यथास्थिति का समर्थक है। अनेक लोगों ने इसे अमेरिकी पूँजीवादी व्यवस्था को बनाए रखने का एक निश्चित प्रयास माना है।

लाभ—संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम से निम्नलिखित लाभ हैं—

(i) यह उपागम तुलनात्मक राजनीति को परंपरागत जकड़नों से मुक्त कर एक नवीन एवं गत्यात्मक अनुशासन बनाने का प्रयास करता है।

(ii) यह एक सुसंगत तथा समग्रवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इसके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के सभी पहलुओं से संबद्ध स्पष्टीकारक परिकल्पनाएँ निकाली या प्रस्थापित की जा सकती हैं।

(iii) यह उपागम राजनीतिक व्यवस्थाओं के सामान्य सिद्धांत के अंततः निर्माण की संभावनाएँ प्रस्तुत करता है।

(iv) यह उपागम राजनीतिक विश्लेषण के परिवेश के रूप में संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।

(v) यह राजनीतिक व्यवस्थाओं के कार्य-संचालन के संबंध में जानकारी देता है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(vi) इस उपागम की उपयोगिता इस अर्थ में है कि यह राजनीतिक व्यवस्थाओं की सामर्थ्यों, सरचनाओं के विभिन्नीकरण, विशेषीकरण, उप-व्यवस्थाओं की स्वायत्तता और निवेश-निर्गत-जैसे अनेक प्रत्यय तुलना के लिए प्रस्तुत करता है।

(vii) इससे यथार्थवादी निष्कर्ष निकालने और राजनीतिक व्यवस्थाओं की गत्यात्मक शक्तियों को समझने में सहायता मिलती है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त कमियों या सीमाओं के बावजूद **ऑमण्ड** के विश्लेषण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसका उद्देश्य संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति के मौलिक विन्यासों को परिष्कृत कर उनका विस्तार करना है। अतः, राजनीतिक व्यवस्था-संबंधी यह धारणा राजनीतिशास्त्र की अमूल्य निधि है; क्योंकि आधुनिक तुलनात्मक राजनीति का महत्त्व बहुत-कुछ इसी धारणा पर आधृत है। इसने तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में ऐसे राजनीतिक तथ्यों एवं वास्तविकताओं की खोज की है, जो इसके पहले स्पष्ट नहीं थीं। अपनी त्रुटियों के बावजूद इस उपागम की सबसे बड़ी देन यह है कि इसने तुलनात्मक राजनीति के विश्लेषण को वैज्ञानिक और यथार्थवादी स्वरूप देने के उद्देश्य से नए प्रत्यात्मक उपकरणों की खोज की है।

डेविड ईस्टन के विचार

डेविड ईस्टन ने 1965 ई॰ में *A System's Analysis of Political Life* नामक अपने लेख में राजनीतिक जीवन की कुछ विशिष्ट श्रेणियाँ बताई थीं, जिनके आधार पर राजनीतिक तथ्यों के विश्लेषण के साथ-साथ एक स्तरीय सिद्धांत का निर्माण किया जा सकता है। अपने विश्लेषण में ईस्टन महोदय एक ऐसी विश्लेषणात्मक व्यवस्था प्रस्तुत करना चाहते हैं जो विभिन्न प्रकार के आचरणों को बताने में समर्थ हो। उन्होंने अपने विश्लेषण में शक्ति-संबंधों को इतना महत्त्व नहीं दिया है जितना **आमंड** तथा **लॉसवेल** ने। **आमंड** तथा **ईस्टन** के विश्लेषण में सबसे प्रमुख अंतर है कि जहाँ **आमंड** व्यवस्था को जीवित रखने के लिए कुछ तत्त्वों की अपेक्षा करता है वहाँ **ईस्टन** की समस्या व्यवसाय को जीवित रखना नहीं, वरन उसकी निरंतरता है। ईस्टन जीवित रहने की दशाओं में अधिक रुचि रखता है। वह मुक्त रूप से संरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण का आलोचक है। इस संबंध में उसके तर्क निम्नलिखित हैं—

1. संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण सभी प्रकार की व्यवस्थाओं पर एकसमान लागू नहीं होता।

2. इस विश्लेषण में कार्य की अवधारणा किसी सिद्धांत का आधार नहीं बन सकती, चाहे वह सिद्धांत की पूर्व-आवश्यकता ही क्यों न रही हो।

3. **आमंड** का 'संतुलन-मॉडल' ईस्टन को इसलिए मान्य नहीं है, क्योंकि यह वास्तविक को सरल तो बनाता है, लेकिन उसका यर्थाथवादी चित्रण नहीं करता।

डेविड ईस्टन उत्तर-व्यवहारवादी क्रांति का उद्घोषक है। वह **लॉसवेल** के विश्लेषण को इस आधार पर दोषपूर्ण मानता है कि 'व्यावहारिक ज्ञान' की खोज के चक्कर में लॉसवेल ने राजनीति के सैद्धांतिक अध्ययन की काफी अवहेलना की है। ईस्टन **टॉलकाट पॉरसन्स** से भी असहमत है, जिन्होंने राजनीतिक सिद्धांत को 'सामाजिक संस्थाओं का सामान्य सिद्धांत' माना है। **ईस्टन** ने राजनीतिक विश्लेषण की समस्याओं का दो स्तर बताया है—**विविध समस्यात्मक एवं सैद्धांतिक।** प्रथम विश्लेषण में निरंतरता और परिवर्तन दोनों का विवेचन अपेक्षित है, जबकि दूसरे विश्लेषण में समस्या 'राजनीतिक जीवन' के तत्त्वों को पहचानने की है। इसे **ईस्टन** ने 'सिद्धांतवादी ढाँचा' (conceptual framework) या 'विश्लेषण की संरचना' (structure of analysis) की संज्ञा दी है। **ईस्टन** के विश्लेषण का मुख्य ध्येय 'अंतःक्रियाओं की प्रक्रिया' (process of interaction) है, जो **आमंड** से पर्याप्त भिन्न है। जहाँ **आमंड** के विश्लेषण में परिवर्तन संतुलन की ओर जानेवाला है, वहाँ **ईस्टन** के अनुसार संतुलन स्वयं बदलता रह सकता है, लेकिन व्यवस्था अपनी जगह पर स्थिर रहती है। वह कहता है कि व्यवस्था निरंतर बनी रह सकती है, चाहे उससे संबद्ध सभी बातें पूरी तरह बदल जाएँ। उन्होंने ब्रिटिश व्यवस्था को इसका उदाहरण माना है। **डेविड ईस्टन** ने राजनीतिक व्यवस्था को एक 'खुली व्यवस्था' (open system) माना है, जिसमें व्यवस्था-सीमाएँ समाज की अन्य व्यवस्थाओं से भिन्न बनाती है। इस व्यवस्था का वातावरण समाज के भीतर और समाज से बाहर दोनों प्रकार का होता है। 'इनपुट-आउटपुट' में संतुलन बने रहने पर यह 'अचल अवस्था' में रहता है जो निरंतरता का भी लक्षण है।

ईस्टन ने जिस राजनीतिक व्यवस्था को विश्लेषण की इकाई बताया है, वह दो प्रकार के दबावों का सामना करती है—एक **माँगों** का और दूसरे **समर्थन** का। माँग-दबाव से आशय यह है कि कभी-कभी

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

व्यवस्था पर इतनी माँगें आ गिरती हैं कि व्यवस्था उन्हें खपा नहीं पाती। समर्थन-दबाव (support stress) का अभिप्राय यह है कि व्यवस्था जिन व्यक्तियों, समूहों और मूल्यों के सहारे खड़ी होती है, वे कभी-कभी कट जाते हैं और उनमें दरारें आ जाती हैं। इस नाजुक स्थिति में जब 'आवश्यक चर' (essential variables) नहीं रहते तो राजनीतिक जीवन असंभव बन जाता है। यद्यपि ईस्टन ने **एप्टर** की तरह किसी व्यवस्था-विशेष की संरचनाओं (structures) में इतनी रुचि नहीं रखी है जितनी उन संरचनाओं के बने रहने और चलते रहने में, तथापि उसका विश्लेषण संरचनाओं अथवा आधार की वस्तुओं (structures or objects of support) के तीन अंग मानता है—

1. राजनीतिक समाज (political community),
2. शासन (regime) तथा
3. सत्ताएँ (authorities)।

सत्ताएँ और शासन तो आते-जाते रहते हैं, लेकिन 'समाज या समुदाय' (community) एक स्थायी और शाश्वत तत्त्व है। ईस्टन ने यह भी माना है कि अर्द्ध-राजनीतिक समूह द्वारा जो भूमिका निभाई जाती है, उससे राजनीतिक व्यवस्था के चलते रहने में सहायता मिलती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि ईस्टन मुख्यतः 'राजनीतिक समाजीकरण' (political socialisation) का विद्वान है, जिसकी इस तथ्य में अधिक रुचि है कि व्यवस्था के मूल्य व्यक्तियों द्वारा कैसे स्वीकारे जाते हैं। **ईस्टन** के अनुसार, व्यवस्था अपने-आप में एक चलती रहनेवाली प्रक्रिया है जिसे 'कार्य' (function) के आधार पर जाँचना या परीक्षित करना अनुचित होगा।

ऑमण्ड और ईस्टन की राजनीतिक व्यवस्था-संबंधी धारणाओं में दो अंतर हैं—

1. ऑमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था के विश्लेषण में मूलतः संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण का प्रयोग किया है। डेविड ईस्टन ने इस विश्लेषण को यद्यपि उपयोगी माना है तथापि उसने राजनीतिक व्यवस्था के संरचनात्मक पहलू से अधिक बल राजनीतिक व्यवस्थाओं पर पड़नेवाले प्रभावों और उनके कार्यों पर दिया है।

2. संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण की एक प्रमुख मान्यता 'संतुलन की धारणा' है जिसके अनुसार किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत अव्यवस्थित विभिन्न संरचनात्मक उपव्यवस्थाओं के बीच एक प्रकार का संतुलन पाया जाता है और इसी संतुलन के कारण राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन होते हैं, जिसके फलस्वरूप इसकी सभी उपव्यवस्थाओं—परिवार, दबाव-समूह, राजनीतिक दल आदि में परिवर्तन होते हैं। जब इनमें परिवर्तन होते हैं तब स्वयं राजनीतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन हो जाते हैं। **ईस्टन** ने संतुलन की इस धारणा के सीमित उपयोग को ही संभव माना है। **ईस्टन** की मान्यता है कि उनके **इनपुट-आउटपुट-विश्लेषण** के अंतर्गत राजनीतिक व्यवस्था और पर्यावरण के घनिष्ठ संबंध को दिखाया जा सकता है। ईस्टन का विश्लेषण सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं को 'खुली' (open) और 'अनुकूलनशील' (adaptive) मानता है।

एप्टर के विचार

आमंड की तरह **एप्टर** भी अपने विश्लेषण-दृष्टिकोण में 'व्यवस्था-विश्लेषण' का समर्थक है। उसने विकासशील देशों में संक्रमण की स्थिति को अपना अध्ययन-विषय बनाया है। उसने सरकारों का वर्गीकरण किया है और यह जानने का प्रयास किया है कि सामाजिक वातावरण के किस स्तर पर कौन-सी सरकार प्रभावशाली हो सकती है। आधुनिकीकरण की राजनीति (politics of modernisation) के अध्ययन द्वारा **एप्टर** ने यह बताया है कि विचार के नैतिक तथा विश्लेषणात्मक दृष्टिकोणों में एकता की कितनी आवश्यकता है। अपने विश्लेषण में **ईस्टन** के 'सैद्धांतिक ढाँचे' से आगे बढ़कर उसने अपने सिद्धांत की उत्पत्ति के लिए नैतिक आधारभूमियों का परीक्षण किया है। **एप्टर** का व्यवस्था-विश्लेषण राजनीतिक उत्तरदायित्व का मनोवैज्ञानिक सिद्धांत न होकर राजनीति के प्रश्नों की अवधारणा अधिक है।

एप्टर का विश्लेषण मुख्यतः इस मान्यता पर आधारित है कि व्यवस्था में चुनाव-प्रणाली को एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में लिया जाए। **एप्टर** के अनुसार आधुनिकीकरण का यही अर्थ है कि सामाजिक संस्कृति व्यक्ति को प्रकृति तथा समाज के संदर्भ में स्वयं की निगाह में किस तरह प्रस्तुत करती है। किसी भी सरकारी क्षेत्र में कुछ निश्चित चयन करने पड़ते हैं जो कालान्तर में समाज के नैतिक उद्देश्य बन जाते हैं। उसका विचार है कि कुछ प्रकार की सरकारें कुछ प्रकार की समस्याओं के लिए विशेष उपयुक्त होती हैं। इसी प्रकार कुछ

WWW.GRADESETTER.COM

सरकारें दूसरी सरकारों की तुलना से अधिक स्थायी होती हैं। **एप्टर** इन सरकारों में व्यक्ति की जान-बूझकर की गई चयन-प्रक्रिया को खोजने का प्रयास करता है। अपने अध्ययन और विश्लेषण के लिए उसने अफ्रीका के परंपरावादी राष्ट्रों को चुना है। अपने विश्लेषण का ध्येय उसने यह बनाया है कि औपनिवेशिक देशों में राजनीतिक संस्थात्मक हस्तांतरण की प्रक्रिया किस प्रकार प्रभावित होती है। वह राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन के अमूर्त तत्त्वों को पहचानकर परिवर्तन की जटिल प्रक्रिया में उनकी भूमिका जानना चाहता है। उसका विचार है कि सभी सरकारें स्थायित्व चाहती हैं और परिवर्तन धीरे-धीरे शान्तिपूर्वक लाने की आकांक्षी होती हैं। ये परिवर्तन सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों के साथ उपस्थित होते हैं। एक विकासशील देश में इन परिवर्तनों को प्रयोग न मानकर वैज्ञानिक विश्लेषण की प्रयोगशाला कहा जा सकता है। **एप्टर** ने सामाजिक विज्ञानों तथा प्राकृतिक विज्ञानों के विश्लेषण में एक आधारभूत अंतर यह माना है कि सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों का उनके कार्यकर्ताओं पर प्रभाव पड़ता है। अतः, राजनीतिक विश्लेषण के लिए वैज्ञानिक ज्ञान के साथ-साथ नैतिक अंतर्दृष्टि होना आवश्यक है।

आमंड की भाँति **एप्टर** संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण का समर्थक है। उसने भूमिकाओं को कार्यों द्वारा परिभाषित व्यवहारों के संस्थागत रूप माना है। **एप्टर** ने उन परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिनमें आधुनिकीकरण की ओर ले जानेवाली सत्ता जीवित रहने का प्रयास करती है। इस समस्या को उसने 'औचित्य' की समस्या कहा है। वह देखता है कि व्यवस्था में कितना केन्द्रीयकरण है और उसकी मूल व्यवस्था क्या है जो सत्ताधारियों को मान्य हो। उसका कहना है कि सैद्धांतिक निर्णय महत्त्वपूर्ण होते हैं। अतः, उसके संरचनात्मक-व्यवहारात्मक-मूल्यात्मक तत्त्व देखे जा सकते हैं। औचित्य (legitimacy) की चर्चा करते समय **एप्टर** ने नैतिकता और क्षमता के प्रश्न उठाए हैं और उनपर विचार किया है।

आधुनिकीकरण की ओर उन्मुख समाजों में जो व्यवस्था पाई जाती है उसे **एप्टर** ने 'अनुकूलित समायोजित राजनीतिक व्यवस्था' (accommodated political system) कहा है जो उसकी शब्दावली में प्रजातंत्र-विरोधी की अपेक्षा पूर्व-प्रजातांत्रिक है। इस स्थिति में कुछ बाध्यकारी संस्थाएँ आवश्यक हैं जिन्हें 'स्तरीय विश्लेषण' (stage analysis) द्वारा समझना संभव है। उसने इन विकासशील व्यवस्थाओं के दो मॉडल बताए हैं—

1. समाधानपरक व्यवस्था (reconciliation system) तथा
2. संगठनपरक व्यवस्था (mobilisation system)।

पहले में धर्मनिरपेक्ष उदारतावादी तत्त्व अंत तक फैला हुआ है जबकि दूसरे में पवित्र सामूहिकता के मॉडल के समीप है। प्रथम मॉडल में समाज की वर्तमान मूल व्यवस्था के साथ तालमेल बैठाया जाता है, जबकि दूसरे मॉडल में वर्तमान समाज को बदलकर मूल्यों की एक नई व्यवस्था थोपी जाती है।

उसने अपने विश्लेषण में modernising autocracy, military oligarchy, neomerchantile society आदि अनेक वर्गीकरण किए हैं, जिनमें प्रक्रिया के प्रारंभिक तथा बाद के सोपान देखे जा सकते हैं। उसकी मान्यता है कि सरकार एक निश्चित ढाँचा या संरचना है जो सामाजिक व्यवस्था को जीवित रखती है। उसके संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण में सरकार की संरचना और कार्य की खोज स्वाभाविक है। इन दो 'कार्यात्मक पूर्व-माँगों या पूर्व-आवश्यकताओं' को सूचना तथा शक्ति के रूप में देखा जा सकता है। उसके अनुसार, सभी सरकारों के कुछ आकस्मिक कार्य होते हैं जो समाज की सुदृढ़ता की ओर संकेत करते हैं। सरकार आदेश करती है, भूत और भविष्य के संकेत देती है, भूमिकाओं के निर्वहन को व्यवस्थित बनाती हैं और सदस्यता एवं साझेदारी की कसौटियाँ प्रदान करती है। उसके विश्लेषण में दो संरचनात्मक पूर्व-आवश्यकताओं (structural pre-requisites) की चर्चा है। इन्हें उपसंरचनाएँ (substructures) भी कहा जा सकता है, जिनके द्वारा राजनीतिक भर्ती, नियम-कार्यान्विति, भूमि का परिसीमन आदि कार्य सम्पन्न किए जाते हैं। दूसरे शब्दों में, संरचनाओं को नीति-क्रियान्वयन यंत्र कहा जा सकता है। उसने आधुनिकीकरण के क्षेत्र में व्यवसायियों, बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों आदि की भूमिकाओं पर प्रकाश डाला है और यह माना है कि ये लोग स्वातंत्र्य संस्कृति (culture of freedom) के उपासक होते हैं तथा आधुनिकीकरण में नेतृत्व प्रदान करते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों की विवेचना से यह स्पष्ट है कि **आमंड** और **ईस्टन** की तुलना में एप्टर अपने विश्लेषण में कम व्यवस्थित है। इसका मुख्य कारण यह भी है कि **एप्टर** राजनीतिक आचरण की समस्याओं के विस्तार में चला गया है और चिंतनात्मक तथा आदर्शात्मक पहलू पर अधिक बल देता है और ऐसा करते समय वह समाज-विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान से भिन्न मानता है और उनकी विधियों में अंतर करता है।

WWW.GRADESETTER.COM

इस प्रकार, निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि **आमंड, ईस्टन** तथा **एप्टर** द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक व्यवस्थाओं के मॉडलों का इतना वर्णन नहीं दिया गया है जितना कि मॉडलों के पीछे निहित मूल मान्यताओं की विवेचना का। इन तीनों विद्वानों को 'व्यवस्था-विश्लेषक' कहा जा सकता है। इन लोगों ने व्यवस्था को 'समग्र सत्ता' स्वीकार किया है। इन तीनों की दृष्टि मुख्यतः विश्लेषणात्मक रही है जो राजनीतिक संबंधों को आत्मनिर्भर तथा निरंतर मानकर चलती है। इस मूल समानता के साथ-साथ इन तीनों लेखकों के विश्लेषण में आधारभूत अंतर भी है। जहाँ **एप्टर** के अनुसार व्यवस्था में नैतिक प्रश्न तथा लाभों का बँटवारा केन्द्रीय और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, वहाँ **आमंड** की केन्द्रीय धारणा यह नहीं है, यद्यपि वह भी इसकी चर्चा अवश्य करता है। इन दोनों से भिन्न उन समस्याओं को गौण मानता हुआ **ईस्टन** मूल प्रक्रियाओं का अध्येता है जो सभी व्यवस्थाओं में पाई जाती हैं।

हैरी एक्सटीन द्वारा संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण
(Structural-functional Analysis by Harry Eckstein)

हैरी एक्सटीन ने तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण की चर्चा करते हुए लिखा है कि संपूर्ण युद्धोत्तर युग में तुलनात्मक राजनीति के विद्वानों ने संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण के प्रयासों और स्वरूपों का उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग किया है। इस दृष्टिकोण के प्रमुख प्रतिपादक **एम० जे० लेवी** का दावा है कि इस दृष्टिकोण को आजकल अधिकांश राजनीतिशास्त्री लाते हैं और संरचनात्मक-कार्यात्मक सिद्धांतवादी सिवा इसके और कुछ नहीं करते कि वे एक भाषा-विशेष में किसी चीज को व्यक्त कर देते हैं जिसे प्रत्येक व्यक्ति प्रायः दूसरी भाषाओं में व्यक्त करता है।

संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण सर्वप्रथम राजनीति की परिभाषाओं से ही संबद्ध है जिसे हम राजनीतिक व्यवस्था के रूप में जानते हैं। एक राजनीतिक व्यवस्था को हम दो प्रकार से परिभाषित कर सकते हैं—सरकारों या संप्रभु राज्यों-जैसे ठोस संगठनों के एक विशेष समूह के रूप में या ऐसी किन्हीं भी सामाजिक संरचनाओं के रूप में जो उन कार्यों को संपादित करती हैं जिन्हें हम राजनीति का कार्य मानते हैं। **हैरी एक्सटीन** के अनुसार, परिभाषा का यह बाद वाला तरीका संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण का है, अर्थात इसे हम राजनीति की संरचनात्मक-कार्यात्मक परिभाषा कह सकते हैं और राजनीतिक व्यवस्था की इस प्रकार की परिभाषा राजनीति के क्षेत्र में उत्तरोत्तर सामान्य बनती जा रही है। "हमारी प्रवृत्ति अब राजनीतिक व्यवस्थाओं को पूर्ण रूप से संप्रभु राज्यों और उसके औपचारिक उपभागों के रूप में विचारने की नहीं रही, वरन अब हम राजनीतिक व्यवस्थाओं को 'सामूहिक निर्णयकारी संरचना' के रूप में या 'सामाजिक मूल्यों के अधिकाधिक आबंटन' के लिए संरचनाओं के किसी समूह के रूप में या 'समाज के एकीकरण को बनाए रखने' के कार्य का संपादन करनेवाली संरचनाओं के रूप में 'रोजगार की धमकी के माध्यम से समाजों के एकीकरण और अनुकूलन' संरचनाओं के रूप में तथा अन्य इसी प्रकार की संरचनाओं के रूप में लेते हैं।"[1] इस संरचनात्मक-कार्यात्मक परिभाषाओं में से कुछ परिभाषाएँ सिर्फ एक विशेष क्रिया या गतिविधि को परिभाषित करती हैं, क्योंकि अन्य परिभाषाएँ उस गतिविधि को परिभाषित करती हैं जिसे एक वृहत्तर सामाजिक इकाई के लिए आवश्यक माना जाता है।

जिस तरह हम राजनीतिक व्यवस्था को संरचनात्मक-कार्यात्मक शब्दावली में परिभाषित कर सकते हैं, उसी तरह हम राजनीतिक व्यवस्थाओं के विश्लेषणात्मक टुकड़े या विभाजन भी इस शब्दावली में कर सकते हैं और उनकी रचना करनेवाले तत्त्वों की योजनाओं का निर्माण कर सकते हैं। यह दो तरीके से किया जा सकता है—एक तरीका तो केवल उन सहायक गतिविधियों, जो राजनीति की वृहत्तर गतिविधि में संचालित होती हैं, परिभाषित करना है और दूसरा तरीका राजनीतिक कार्य को उन उपगतिविधियों (subactivities) तथा उनको संपादित करनेवाली संरचनाओं में विभाजित करना है जो राजनीतिक कार्य के प्रभावशाली संपादन

1. "We tend no longer to think of political system solely as sovereign states and their formal subdivisions but as any 'collective decision-making structures', or as any set of structures for authoritatively allocating social values' or as structures that perform the function of 'maintaining the integration of society', or as structures that perform the function of 'the integration and adoptation of societies by means of the employment, or threat of employment of more or less physical compulsions'—and in many other ways in similar vein."—HARRY ECKSTEIN

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

के लिए आवश्यक है। **एप्टर** ने राजनीतिक व्यवस्थाओं को पाँच संरचनात्मक व्यवस्थाओं में विभाजित करके ऐसा ही किया है।

कार्यों की सामाजिक संरचनाएँ सामाजिक व्यवस्थाओं पर विभिन्न तरीकों से संघात कर सकती हैं। यह इसके लिए एक माँग या आवश्यकता भी हो सकती है और इस दृष्टि से इसका अस्तित्व अनिवार्य है, क्योंकि इसका उद्देश्य एक वृहत्तर या अपेक्षाकृत बड़े ढाँचे को बनाए रखना है। यदि इससे संबद्ध ढाँचे के दृढ़ होने में सहायता मिलती है तो यह सुकार्यात्मक (enfunctional) हो सकता है और यदि इससे उस ढाँचे का महत्त्व घटता है तो यह दुष्कार्यात्मक (dysfunctional) हो सकता है। यदि उसमें सम्मिलित पात्रों ने इसे भली प्रकार समझ लिया हो तो इसकी कार्यशीलता व्यक्त (manifest) हो सकती है और यदि इसकी कार्यशीलता को उपयुक्त रूप में न समझा जाए तो वह अव्यक्त (latent) भी हो सकती है। संरचनाओं या कार्यों और वृहत्तर सामाजिक इकाइयों के बीच संबंधों के बारे में जो प्रश्न होते हैं, वे प्रायः अन्य शब्दावली में उठाए गए प्रश्नों से गंभीर रूप में भिन्न नहीं होते।[1]

हैरी एक्सटीन ने यह भी कहा है कि समाजों की एक विशिष्ट पूर्व-धारणा संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण के मूल में निहित है जो हमारे प्रश्नों को गहरा रंग या बल प्रदान करता है और यदि इन प्रश्नों को अन्य सैद्धांतिक भाषणों में व्यक्त किया जाए तो वे उतने प्रभावशाली प्रतीत नहीं होते। समाजों की विशिष्ट पूर्व-धारणा या पूर्व-कल्पना यह है कि समाज परस्पर अंतर-संबंधित पूर्ण इकाइयाँ हैं जिसका प्रत्येक पहलू दूसरे पर संघात करता है और पूर्ण इकाइयों (wholes) की प्रभावशीलता या प्रभावशीलता की कमी के प्रति कुछ योगदान करता है। इस धारणा के अनुसार समाज साम्यावस्था प्राप्त इकाइयाँ हैं जिनमें जड़ता की ओर प्रवृत्ति होती है और उनके इस साम्यावस्था की स्थिति को किसी भाग में गंभीर हलचल या अव्यवस्था होने पर ही उनमें परिवर्तन आता है। शब्दावली के तकनीकी अर्थ में उन्हें हम व्यवस्थाएँ (systems) कह सकते हैं और इसलिए उनके कार्यात्मक अंतर-संबंधों में हमारी विशेष रुचि होती है।[2]

हैरी एक्सटीन के विचारों को सारांश के रूप में हम इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकते हैं कि उन्होंने लिखा है कि स्थिर विश्लेषण के साथ संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण की निकटता पर तर्क-वितर्क करने के बजाय हमें बल इस बात पर देना चाहिए कि विश्लेषण सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों के क्षेत्र में एक विशिष्ट दृष्टिकोण को जन्म दे। यह दृष्टिकोण मार्क्सवादी या विकासवादी सिद्धांतों द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोण से कहीं अधिक भिन्न है कि सामाजिक परिवर्तन का स्थिर और साम्यावस्था प्राप्त अवस्था से दूसरी अवस्था में संक्रमण होता है। संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण का आग्रह इस बात पर है कि स्थिर अवस्था यद्यपि आवश्यक है तथापि इसमें आकस्मिक, तीव्र और क्रांतिकारी परिवर्तन की पूर्ण संभावनाएँ हैं। मार्क्सवादी और विकासवादी सिद्धांत समाज में उग्र और क्रांतिकारी रूप में उथल-पुथल कर देनेवाले परिवर्तनों के विचार को कठिन बना देता है। उदाहरणार्थ, मार्क्सवादी सिद्धांत ने 'स्थायी क्रांति' के सिद्धांत (doctrine of permanent revolution) द्वारा कुछ कम कठिनाइयाँ पैदा नहीं की हैं। उसके अनुसार इस प्रकार के सिद्धांत समाज में एक व्यवस्थित और निरंतरप्रवाही अवधारणा को प्रोत्साहन देते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि स्तरों (stages) की ऐसी श्रेणियाँ हैं जिनसे होकर सभी समाजों को अवश्य गुजरना पड़ता है। इसके विपरीत, संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण समाज में बहुत ही व्यापक और तीव्र परिवर्तनों के विचार को दृढ़ता प्रदान करता है। इस विश्लेषण की मान्यता के अनुसार यह संभव है कि एक समाज विकास के उन स्तरों को पीछे छोड़ते हुए तीव्र गति से आगे छलाँग लगाए जिनमें से कोई अन्य समाज गुजरा है, अथवा यह भी संभव है कि वह समाज दूसरे समाज की अपेक्षा अपने कार्यात्मक तत्त्वों (functional elements) में व्यापक परिवर्तनों के माध्यम से विकास का एक सर्वथा नया मार्ग तेजी से ग्रहण कर ले। संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेंषण समाजों के तीव्र रूपांतरणों, क्रांतिकारी विभाजनों और उत्प्रेरणाओं आदि को अपना पूरा समर्थन देता है।

---

1. "Social structures of functions can impinge upon social systems in a variety of ways. The structure of function under consideration may be a 'pre-requisite' for the larger pattern, in that it must exist before the larger pattern can exist. It may be a 'requisite' for it, in that it is required if the larger pattern is to be maintained. It may be 'enfunctional' if it helps the pattern to persist or 'dysfunctional' if it helps to undermine it. Its operation may be 'manifest' if it is intended and understood by the actors involved or 'latent' if its operation is not intended and understood....."—HARRY ECKSTEIN

2. *Ibid*, p. 27

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

आलोचनाएँ (Criticisms)—संरचनात्मक-कार्यात्मक विचारधारा के संबंध में आमंड, डेविड ईस्टन, एप्टर तथा हैरी एक्सटीन के उपर्युक्त विचारों के विश्लेषण के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण में आमंड का स्थान सर्वप्रमुख है। अन्य विद्वानों का जो योगदान है, वह भी सराहनीय है, लेकिन आमंड ने अपने संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण को **इनपुट-आउटपुट** कार्यों की पद्धति में ढाला है और यह बताया है कि राजनीतिक व्यवस्था जिस वातावरण में काम करती है, उस वातावरण से उत्पन्न प्रभाव के कारण वह अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रभाव का कैसे सामना करती है। उसके विश्लेषण की अन्य बात यह है कि इसमें आधुनिक तकनीकी और सांस्कृतिक प्रभाव के कारण राजनीतिक व्यवस्था में जो परिवर्तन हो रहे हैं, वे विकास की दिशा की ओर संकेत करते हैं। लेकिन, इतना होते हुए भी आलोचकों ने विशेष रूप से **आमंड** और आमतौर से अन्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत संरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण की आलोचनाएँ निम्नलिखित आधारों पर की हैं—

1. आलोचकों ने **आमंड** के इस विचार की आलोचना की है कि संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण को प्राणिशास्त्र से प्रेरणा मिली है। **आर० ब्राउन** ने बताया है कि प्राणिशास्त्र के सिद्धांत को समाजशास्त्र पर लागू करने में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन्होंने कहा है कि जानवरों के ढाँचों का अध्ययन तो जीवविज्ञान के बिना भी किया जा सकता है, लेकिन सामाजिक या राजनीतिक संस्थाओं में ऐसी बात नहीं देखने को मिलती, क्योंकि इनका 'structure' तो इनके अंदर के 'function' पर ही निर्भर करता है।

इस सिद्धांत की सीमाओं की तरफ संकेत करते हुए **आर० ब्राउन** ने आगे लिखा है कि किसी भी जानवर की बनावट अपने विकासक्रम में अपने संरचनात्मक ढाँचा को नहीं छोड़ता, जैसे कोई सूअर प्रारंभिक अवस्था से अंतिम अवस्था तक सूअर ही रहता है; लेकिन समाज अपने विकासक्रम में अपना संरचनात्मक प्रकार बदल देता है।

2. **ज्याँ ब्लोण्डेल** (Jean Blondel) ने इस दृष्टिकोण की निम्नलिखित तीन खामियों का जिक्र किया है—

(i) जहाँ तालकोट पारसंस-जैसे संरचनात्मक-कार्यात्मवादियों ने सामाजिक संरचनाओं की भूमिकाओं के साथ-साथ कर्ताओं पर भी ध्यान देकर समाज में प्रचलित मानकों तथा मूल्यों का महत्त्व भी स्थापित किया है, वहाँ आमंड ने अपने प्रतिमान में मानकों (norms) का महत्त्व गौण कर दिया है।

(ii) मानकों पर पूरा ध्यान नहीं देने के कारण आमंड यह बताने में असफल हो जाता है कि विभिन्न प्रकार के समाजों में संरचनाएँ मानकों से किस हद तक संबद्ध हैं।

(iii) उपर्युक्त खामियों का एक परिणाम यह भी है कि आमंड का विश्लेषण कतिपय समाज में प्रचलित व्यवहारवादी प्रतिकृतियों के संदर्भ में सीमित रूप से उपयोगी है।

किंतु, जिन आधारों पर **ज्याँ ब्लोण्डेल** के अनुसार आमंड के प्रतिमान की यह खामी उसके उपयोग को सैद्धांतिक आधार पर सीमित कर देती है, वहाँ **कार्ल जे० फ्रेडरिक** तथा **डब्लू० जे० एम० मेकेञ्जी** ने आमंड के प्रतिमान में नवीनता का आभास पाया है और कहा है कि आमंड का प्रतिमान अभी तक तुलनात्मक राजनीति का सर्वोत्तम प्रतिमान है और इसका कोई विकल्प सामने नहीं आया है।

3. **अलेक्जेण्डर ग्रोथ** (Alexander Groth) नामक विद्वान ने संरचनात्मक-कार्यात्मवाद पर यह आरोप लगाया है कि यह समाजशास्त्रीय शब्दावलियों के माध्यम से प्राकृतिक कानून के सिद्धांत को व्यक्तिवादी अनुदारवाद पर स्थापित करना चाहता है। यह सही है कि **पारसंस** तथा **मेरियन लेवी**-जैसे संरचनात्मक-कार्यात्मवादियों के विश्लेषण में समाज में स्थायित्व एवं अस्तित्व की रक्षा पर बल दिया गया है, किंतु राजनीतिक वैज्ञानिकों, जैसे—**आमंड, एप्टर** तथा **लियानाड बाइण्डर** ने राजनीतिक परिवर्तन पर काफी ध्यान दिया है।

4. संरचनात्मक-कार्यात्मवाद यह बताने की चेष्टा नहीं करता कि कार्यों के संपादन से संरचनाओं का स्थायित्व बना रहता है, वरन यह बताता है कि विभिन्न संरचनाएँ कुछ कार्यों का संपादन करती हैं और इस संपादन के कारण पद्धति का अस्तित्व बना रहता है।

WWW.GRADESETTER.COM

5. कुछ विद्वानों ने इसके खिलाफ **यथास्थितिवाद** का पोषण करने का आरोप लगाया है। यह मूल्यनिरपेक्ष होने का दावा करता है, फिर भी मूल्यनिरपेक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि यह स्थायित्व तथा स्वस्थ परिवर्तन को प्रकारांतर से गुम मानकर चलता है।[1]

6. इस पर एक अन्य आरोप यह भी है कि जहाँ से यह प्रारंभ करता है, वहीं लौट जाता है। अतएव, इस प्रणाली की उपयोगिता सीमित है।

7. **प्लेनिगन** तथा **फोगेलमेन** ने इस संबंध में तीन अन्य आपत्तियाँ पेश की हैं—

(i) संरचनात्मक-कार्यात्मवाद का इस संबंध में विश्लेषण के एक संधार के रूप में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह बताने में सफल नहीं रहा है कि पद्धतियों को किस प्रकार कायम रखा जाता है।

(ii) संरचनात्मक-कार्यात्मवादियों ने पद्धति की विभिन्न संरचनाओं की परस्पर-निर्भरता पर बल दिया है, किंतु इनमें किसी ने यह बताने की कोशिश नहीं की है कि विशेष संरचनाओं की परस्पर-निर्भरता की प्रवृत्ति क्या है।

(iii) यद्यपि पारसंस ने कार्यात्मक आवश्यकताओं का जिक्र किया है तथा ऑमण्ड ने सात कार्यात्मक आवश्यकताओं की गणना की है, किंतु इन कार्यात्मक आवश्यकताओं को सटीक शब्दावलियों में व्यक्त नहीं किया गया है। यह वैज्ञानिकता की खोज में सबसे बड़ी बाधा है।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त आलोचनाओं के संदर्भ में संरचनात्मक-कार्यात्मवाद में आवश्यक संशोधन की आवश्यकता है, फिर भी इस विचारधारा में यह स्पष्ट किया गया है कि यह एक प्रकार की स्थिर अवस्थाओं से दूसरी स्थिर अवस्थाओं की ओर एक प्रक्रिया के रूप में सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को ले जाता है। यह समाज में बहुत ही व्यापक और तीव्र परिवर्तनों की व्याख्या की संभावना प्रस्तुत करता है। इसके माध्यम से राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण भलीभाँति हो सकता है। यह कुछ ऐसे केन्द्रीय विचारों को आधार मानकर चलता है जिनके फलस्वरूप विश्व के प्रत्येक देश में चल रही गतिविधियों पर प्रकाश पड़ सकता है। इसने जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, उन्हें अपनाने से क्षेत्र की समस्याओं, का भी अध्ययन हो सकता है। अर्थात, ग्राम-पंचायत, नगर, राजनीतिक दल इत्यादि अनेक बातों के संबंध में परिकल्पना (hypothesis) तैयार की जा सकती है।

प्रश्नावली

1. राजनीति-विज्ञान में प्रकार्यवाद क्या है ? इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करें।
   (What is functionalism in Political Science ? Discuss its main characteristics.)
2. आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण का आमंड के संरचनात्मक-कार्यात्मक उपागम का मूल्यांकन करें।
   (Evaluate Almond's structural-functional approach to modern Political Science.)
3. विकासशील देशों में राजनीति के अध्ययन के एक प्रतिमान के रूप में आमंड की राजनीतिक पद्धति का मूल्यांकन करें।
   (Make an assessment of Almond's concept of the political system as a model for the study of politics in developing countries.)
4. आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण को आमंड की देनों का वर्णन करें।
   (Discuss Almond's contributions to modern political analysis.)
5. हैरी एक्सटीन द्वारा संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण की व्याख्या कीजिए।
   (Give an explanation of Structural-Functional Analysis by Harry Eckstein.)

□ □ □

1. ALEXANDER GROTH: "*Structural Functionalism and Political Development*," Western Political Quarterly Vol. XXIII, No. 3 (September, 1970), p. 499

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 26

शक्ति, सत्ता, औचित्यपूर्णता एवं राजनीतिक संस्कृति

[POWER, AUTHORITY, LEGITIMACY AND POLITICAL CULTURE]

---

1. राजनीतिक शक्ति से राजकीय सत्ता धारण करनेवाले व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध तथा जनता के साथ उनके संबंध का बोध होता है।—एच० जे० मॉरगेंथाऊ

2. सत्ता अधीनस्थों के व्यवहार को प्रभावित करने का अधिकार है।—हरबर्ट साइमन

3. औचित्यपूर्णता का आधार विश्वास होता है—मैक्स वेबर

शक्ति की अवधारणा
(The Concept of Power)

विषय-प्रवेश (Introduction)

शक्ति-अवधारणा का राजनीतिशास्त्र में विशिष्ट स्थान है। यह आधुनिक राजनीतिशास्त्र का आधारभूत विचार है और इसका अध्ययन किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को समझने के लिए आवश्यक है। शक्ति-अवधारणा एक ऐसा विचार है जो स्पष्टतः दो मुख्य तत्त्वों—प्रकृति का नियंत्रण और मानव-नियंत्रण का विचार करता है। जहाँ प्रकृति के ऊपर शक्ति प्राप्त करना बौद्धिक शक्ति कहलाती है, वहाँ राजनीतिक शक्ति एक सामाजिक शक्ति है जो राज्य पर बल देती है। ऐसी शक्ति अन्य मानवों के नियंत्रण का विवेचन करती है जिससे राज्य विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका आदि द्वारा संपादित कार्यों और व्यवहारों को प्रभावित करता है। इस संदर्भ में राजनीतिक शक्ति की तुलना हम भौतिकशास्त्र की ऊर्जा से नहीं कर सकते। **बैकर** का विचार है कि राजनीति शक्ति से अपृथकनीय है। **कैटलिन** ने राजनीति को 'शक्ति का विज्ञान' स्वीकार किया है। **आर० एम० मैकिवर** का कहना है कि समस्त गति, सभी संबंध, सभी प्रक्रियाएँ, समस्त व्यवस्था और प्रकृति में घटनेवाली प्रत्येक घटना शक्ति की अभिव्यक्ति है। **व्हाटकिन्स** के अनुसार, राजनीतिशास्त्र केवल राज्य और विशिष्ट संस्थाओं मात्र का ही अध्ययन नहीं है, अपितु शक्ति की समस्या से अंतर्ग्रस्त सभी समुदायों की गवेषणा है। **विलियम ए० रॉब्सन** भी राजनीतिशास्त्र को समाज में शक्ति, उसकी प्रकृति, आधार, प्रक्रियाएँ, विषय-विस्तार तथा निष्कर्षों से संबद्ध मानता है। **बायर्सटेड** ने यहाँ तक कहा है कि **शक्ति** समाज की आधारभूत सुव्यवस्था का सहारा है। जहाँ कहीं सुव्यवस्था है, वहाँ शक्ति का अस्तित्व अवश्य पाया जाता है। शक्ति प्रत्येक संगठन और संस्था के पीछे है और यह प्रत्येक संरचना को बनाए रखती है। बिना शक्ति का कोई संगठन नहीं हो सकता तथा कोई सुव्यवस्था भी शक्ति की अनुपस्थिति में नहीं चल सकती। अतएव, शक्ति का अध्ययन आज अनेक समाजशास्त्रों द्वारा किया जाता है, किंतु वह राजनीतिशास्त्र का केन्द्रीय विषय है।

शक्ति का विकासात्मक दृष्टिकोण—शक्ति-अवधारणा का अध्ययन प्राचीनकाल से ही होता रहा है। **सुकरात, प्लेटो** आदि आदर्शवादी दार्शनिकों ने मानवीय दृष्टि से इसका विवेचन किया है, लेकिन **थ्रैसीमेकस, अरस्तू, हॉब्स, मैकियावेली** आदि विद्वानों ने शक्ति के विवेचन में यथार्थवाद का परिचय दिया है। उनके द्वारा प्रतिपादित शक्ति राज्य या समुदाय-विशेष के अंदर निहित तत्त्व के रूप में है। शक्ति-अवधारणा को विशेष बल राष्ट्र-राज्यों के विकास से मिला है और इस संदर्भ में मैक्स वेबर, कैटलिन, रसेल, लॉसवेल, रॉब्सन आदि विचारकों ने अपना चिंतन प्रस्तुत किया है। 'शिकागो-संप्रदाय' ने शक्ति-अवधारणा को केन्द्रीय तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। इसमें मैरियम, लॉसवेल, मॉरगेन्थाऊ आदि प्रमुख हैं। मॉरगेंथाऊ ने

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अंतरराष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में शक्ति का यथार्थवादी अध्ययन किया है। कैटलिन ने यह सुझाव दिया है कि 'शक्ति' या 'नियंत्रण' राजनीतिक एवं सामाजिक सिद्धांत की उचित मूल इकाई है। उसने शक्ति को एक वांछनीय लक्ष्य स्वीकार नहीं किया है। वह कहता है कि शक्ति नैतिक दृष्टि से 'लक्ष्य' होने के बजाय एक 'तटस्थ साधन' के समान है। किंतु, उसने उसे सामूहिक लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है और उसकी प्रशंसा की है। एक अन्य विचारक **आर्नल्ड ब्रेस्ट** ने शक्ति को निरंकुश एवं अमूर्त मूल्य बनाने की आलोचना की है। वह कहता है कि इस प्रकार का अमूर्तीकरण विभिन्न निर्वचनों को जन्म देता है। ऐसी विवादास्पद स्थिति में शक्ति-अवधारणा को स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

शक्ति-अवधारणा का महत्त्व (The Importance of Power-concept)

प्रारंभिक काल से ही राजनीतिशास्त्र का अध्ययन शक्ति के संदर्भ में होता आया है और मानव शक्ति-उत्प्रेरण (power drive) से प्रभावित रहा है। यही कारण है कि शक्ति का अध्ययन आज अनेक समाजशास्त्रों द्वारा किया जाता है। फिर भी, राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत शक्ति आज एक केन्द्रीय विषय है, क्योंकि शक्ति के अभाव में हम किसी भी व्यवस्था की कल्पना नहीं कर सकते हैं। इसीलिए, **एस॰ एस॰ अलमर** ने कहा है, "सारे सामाजिक शास्त्रों की तुलना में राजनीतिशास्त्र का संबंध शक्ति-अवधारणा से अधिक है।"[1] प्राचीन राजनीतिक विद्वानों से लेकर आधुनिक विद्वानों तक ने शक्ति के महत्त्व का अध्ययन किया है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, यूनानी विचारक सुकरात, प्लेटो, अरस्तू तथा आधुनिक विचारक हॉब्स, मेकियावेली आदि ने शक्ति का अध्ययन किया है। प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों में वर्णित **दंडनीति** का संबंध शक्ति से ही है। अतः, शक्ति आज राजनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। **कैटलिन** ने राजनीतिशास्त्र को 'शक्ति का विज्ञान' (science of power) कहा है और इसके महत्त्व को स्पष्ट किया है। **मैकिवर** के अनुसार, "समस्त गति, सारे संबंध, सारी प्रक्रियाएँ, सारी व्यवस्था तथा प्रकृति की हरेक घटना शक्ति की अभिव्यक्ति है।" **एच॰ जे॰ मॉरगेंथाऊ** (H J Morgenthau) ने अंतरराष्ट्रीय जगत में शक्ति के महत्त्व को दर्शाया है। उसके विचारानुसार, "शक्ति की राजनीति मानव की सत्ता-लिप्सा में निहित है और इस प्रकार यह सामाजिक जीवन का एक अभिन्न अंग बन गई है।"[2] प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व जर्मन दार्शनिक **एरिक कॉफमाँ** (Erich Kaufmann) ने लिखा था कि "राज्य शक्ति के विकास, वृद्धि एवं प्रदर्शन का प्रतीक है।"[3]

आधुनिक युग में **विलियम ए॰ रॉब्सन** (William A Robson) ने शक्ति, उसकी प्रकृति, प्रक्रियाओं तथा विषय-विस्तार का अध्ययन किया है। **मैक्स वेबर** (Max Weber), **वैडलिन, रसेल** आदि विद्वानों ने भी शक्ति का विशद अध्ययन किया है, लेकिन राजनीतिशास्त्र के केन्द्रीय तत्त्व के रूप में शक्ति का विवेचन शिकागो-संप्रदाय (Chicago school) के **मेरियम, लॉसवेल, मॉरगेंथाऊ** आदि विद्वानों ने किया है। **लॉसवेल** और **काप्लान** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **पावर एंड सोसाइटी** *(Power and Society)* में शक्ति-सिद्धांत का विस्तृत विवरण दिया है और कहा है, "शक्ति का सिद्धांत राजनीतिविज्ञान का सबसे मौलिक सिद्धांत है और यह राजनीतिक प्रक्रियाओं के निर्माण तथा शक्तियों के प्रयोग एवं वितरण में विशिष्ट तत्त्व के रूप में काम करता है।"[4] **एच॰ जे॰ मॉरगेंथाऊ** ने अपनी पुस्तक **पावर ऐज ए पॉलिटिकल कांसेप्ट** *(Power as a Political Concept)* में बताया है कि वर्तमान समाज में राजनीतिशास्त्र का अध्ययन शक्ति के इर्द-गिर्द हो रहा है और इस तरह की प्रवृत्ति निम्नलिखित दो उत्तरदायी कारणों से आई है—

(क) राजनीतिशास्त्र ने क्रमशः अपने को भौतिकवादी परंपरा (metaphysical system) से मुक्त कर लिया है जो उन्नीसवीं शताब्दी तक पश्चिमी विचारकों को प्रभावित करता रहा है।

(ख) आज सामाजिक विश्व (social world) के सूक्ष्म अध्ययन (empirical investigation) पर जोर दिया जा रहा है।

---

1. "Of all the social sciences, no one has been more concerned with the concept of power than Political Science."—S. S. ULMAR : *Introductory Readings in political Behaviour,* p. 332
2. "Power politics was looted in just for power which is common to all men and for this reason was inseparable from social life itself."—H. J. MORGENTHAU
3. The essence of state is Machtent falting (development, increase and display) of power."
—ERICH KAUFMANN
4. "The concept of power is perhaps the most fundamental, in the whole of political science, the political science is the shaping, distribution and exercise of power."— LASSWELL & KAPLAN

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अतएव, शक्ति-अवधारणा आज राजनीति-विज्ञान की एक प्रमुख अध्ययन-शाखा बन गई है। आज इस अवधारणा के अंतर्गत राजनीतिक शक्तियों के विभिन्न पहलुओं का विवेचन किया जा रहा है।

शक्ति का अर्थ एवं व्याख्या (Meaning and Concept of Power)

शक्ति की परिभाषा अनेक विद्वानों द्वारा दी गई है—

(क) काप्लान—"शक्ति संगठित क्रिया द्वारा किसी आयोजन को पूरा करने की एक योग्यता है।"[1]

(ख) एच० जे० मॉरगेंथाऊ—"राजनीतिक शक्ति से राजकीय सत्ता धारण करनेवाले व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध तथा जनता के साथ उनके संबंध का बोध होता है।"[2]

(ग) लॉसवेल और काप्लान—"एक सूक्ष्म अध्ययन के रूप में राजनीति-विज्ञान शक्ति के रूप-निर्माण तथा वितरण का एक अध्ययन है।"[3]

(घ) मैकिवर—"शक्ति से तात्पर्य व्यक्तियों या व्यवहार को नियंत्रित करने, विनियमित करने या निदेशित करने की क्षमता से है।"

(ङ) हॉब्स—"शक्ति भविष्य में कुछ निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने का एक वर्तमान साधन है।"[4]

(च) रॉबर्ट बायर्सटेड—"शक्ति बलप्रयोग की योग्यता है, न कि उसका वास्तविक प्रयोग।"

(छ) एम० जी० स्मिथ—"शक्ति व्यक्तियों, समूहों, नियमों या भौतिक दशाओं के प्रतिरोध के होते हुए भी स्वायत्ततापूर्ण कदम उठाने की क्षमता का नाम है।"

शक्ति-संबंधी विभिन्न परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि शक्ति राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की एक सजीव विषय-वस्तु है। **कार्लो इवेस्टिन** (Karlo Ewestein) ने अपनी पुस्तक *Political Power and Governmental Process* में शक्ति के संबंध में कहा है, "समाज एक ध्रुव की हैसियत से विभिन्न शक्ति-संबंधों; जैसे—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक इत्यादि की प्रणाली है।"[5] आज सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन शक्ति के संदर्भ में ही किया जा रहा है और यही कारण है कि शक्ति की अवधारणा इतिहास की आर्थिक व्याख्या-संबंधी (economic interpretation of history) सिद्धांत को बदलने जा रही है। जहाँ **कैटलिन** ने इसे शक्ति का विज्ञान कहा है, वहाँ **मैकिवर** ने बताया है कि समस्त गति, सभी संबंध, सभी प्रक्रियाएँ, विषय-विस्तार तथा व्यवस्था और प्रकृति में घटनेवाली प्रत्येक घटना शक्ति की अभिव्यक्ति है। **रॉब्सन** ने भी राजनीति-विज्ञान का संबंध समाज में शक्ति, उसकी प्रकृति, आधार, प्रक्रियाएँ, विषय-विस्तार तथा निष्कर्षों से माना है। अतएव, बिना शक्ति के कोई संगठन नहीं हो सकता और बिना शक्ति की कोई सुव्यवस्था नहीं हो सकती। **हॉब्स** के अनुसार, शक्ति भविष्य के उद्देश्यों को प्राप्त करने की एक कुंजी है, लेकिन **सी० जे० फ्रेडरिक** (C. J. Frederick) ने **हॉब्स** की इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुए कहा है कि यह परिभाषा अधिक विस्तृत ही नहीं है, वरन अधिक संकीर्ण भी है। **फ्रेडरिक** ने कहा है, "शक्ति प्रमुखता एक विचार नहीं है। यह केवल अधिकार ही नहीं, वरन एक संबंध भी है।"[6] अतएव, हम कह सकते हैं कि शक्ति कुछ हद तक संबंध (relation) है तो कुछ हद तक प्राप्ति (possession) भी। **लॉसवेल** (Lasswell) तथा **अब्राहीम काप्लान** (Abrahim Kaplan) ने शक्ति के अंतर्गत नियंत्रण के तत्त्व (element of control) को स्वीकार किया है, क्योंकि शक्ति में हमेशा अनुशक्ति (sanction) की भावना रहती

---

1. "Power is an ability to achieve results through concerted action."—KAPLAN
2. "By political power we refer to the mutual relations of control among holders of public authority and between the later and the people at large."—MORGENTHAU
3. "Political Science as an empirical discipline is the study of shaping and sharing of power."
—LASSWELL & KAPLAN
4. "Power is the present means to secure some future apparent good."—HOBBES
5. "Society as a pole is a system of power relations—political, social, economic, religious, moral, cultural and others."—KARLO EWESTEIN
6. "Power is not primarily a thing, a possession but rather a relation."—C. J. FREDERICK

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

है जिसे हम बलप्रयोग का तत्त्व (element of coercion) कह सकते हैं। इस प्रकार, **लॉसवेल, काप्लान, फ्रेडरिक** आदि विद्वानों ने शक्ति (power) और नियंत्रण (control) में स्पष्ट विभेद नहीं किया है, वरन शक्ति को नियंत्रण के रूप में स्वीकार कर लिया है (Power is synonymous with control)। लेकिन, **सी० जे० फ्रेडरिक** ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि प्रभाव (influence) भी शक्ति का एक प्रकार है।

रॉबर्ट ए० डैल ने शक्ति की व्याख्या करते हुए दो दृष्टिकोण अभिव्यक्त किए हैं—(क) शक्ति संबंध दूसरे विभिन्न प्रकार के राजनीतिक संबंधों में अपना विशिष्ट रूप लिए हुए हैं और इन पर बल दिया जाना अति आवश्यक है एवं (ख) शक्ति अन्य मानवीय गतिविधियों से पृथक उन क्रियाओं का नाम है जिन्हें 'राजनीति' कहा जाता है। अतएव **लॉसवेल, काप्लान** और **साइमन** ने शक्ति को 'प्रभाव-प्रक्रिया' (influence process) के रूप में परिभाषित किया है। इस प्रकार, शक्ति बलप्रयोग की योग्यता है, न कि उसका वास्तविक प्रयोग। **मैकिवर** ने इसी संदर्भ में शक्ति का मूल्यांकन किया है और कहा है कि इसका अर्थ व्यक्तियों को नियंत्रित करने की क्षमता से है।

लॉसवेल ने शक्ति के महत्त्व और परिभाषा के संबंध में कहा है कि शायद संपूर्ण राजनीति-विज्ञान में शक्ति की अवधारणा सबसे महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने शक्ति को 'प्रभाव' का पर्यायवाची माना है। **लॉसवेल** के विचारानुसार, "राजनीतिक क्रियाकलाप का प्रारंभ उस परिस्थिति में होता है जिसमें कर्ता विभिन्न मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और शक्ति जिसकी एक आवश्यक शर्त होती है।" लॉसवेल की इस परिभाषा में सबसे बड़ा दोष यह है कि मानव के सारे कार्य राजनीति-विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र में आ जाते हैं, जिनका आधार शक्ति है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक एवं अराजनीतिक क्रियाकलाप के बीच सीमा-रेखा का निर्धारण नहीं हो सकता।

शक्ति के स्त्रोत (Sources of Power)

शक्ति के स्त्रोत निम्नलिखित हैं—

1. **ज्ञान** (Knowledge)—ज्ञान शक्ति का पहला स्त्रोत है। इसके सहारे व्यक्ति अज्ञान से प्रकाश की ओर चलता है।

2. **संगठन** (Organisation)—शक्ति का दूसरा स्त्रोत संगठन है। शक्ति की दृष्टि से राज्य सबसे बड़ा संगठन है। आवश्यकतानुसार राज्य संपूर्ण समाज के समस्त साधनों को अपने हाथ में ले सकता है।

3. **सत्ता** (Authority)—शक्ति का तीसरा महत्त्वपूर्ण स्त्रोत सत्ता है। जिन तत्त्वों के कारण शक्ति अधिक शक्तिशाली बनती है, हम उसे सत्ता कहते हैं।

4. **बलप्रयोग** (Use of force)—बल या बल का प्रयोग भी शक्ति का एक स्त्रोत है। बल के प्रयोग द्वारा प्रतिक्रियाओं को रोका जा सकता है।

5. **आर्थिक साधन** (Economic sources)—आर्थिक साधन भी शक्ति का एक स्त्रोत है, क्योंकि इसका प्रयोग करके विपन्न लोगों को अपने प्रभाव में लाया जा सकता है। राजनेता इसके जरिए अशिक्षित जनता का मत खरीद लेते हैं।

6. **शस्त्रास्त्रों पर नियंत्रण** (Control over armaments)—कोई व्यक्ति किसी दूसरे पर नियंत्रण इसलिए पा लेता है कि उसके पास शस्त्रास्त्र हैं, जिससे लोग डर जाते हैं।

7. **प्रेम और प्रभाव** (Love and affection)—शक्ति की अभिव्यक्ति केवल ताकत या प्रत्यक्ष दबाव के माध्यम से ही नहीं होती, वरन प्रेम या प्रभाव के प्रदर्शन से भी होती है। प्रेम और प्रभाव से बड़ी-बड़ी शक्तियों को झुकाया जा सकता है, जैसे—महात्मा गाँधी ने अपने प्रेम और प्रभाव से अँगरेजों को झुका दिया।

8. **व्यक्तिगत आकर्षण** (Personal attraction)—कभी-कभी व्यक्ति-विशेष का आकर्षण भी शक्ति का स्त्रोत बन जाता है; जैसे—भारतवासी महात्मा गाँधी और सुभाषचन्द्र बोस को याद कर न सिर्फ शक्ति अर्जित करते हैं, वरन अपने को अनुशासित भी करते हैं।

9. **विश्वास** (Faith)—शक्ति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्त्रोत विश्वास है।

शक्ति के प्रकार (Kinds of Power)

चूँकि शक्ति के विभिन्न रूप हैं, इसलिए इसका मापन कठिन है। फिर भी, जिन विभिन्न आधारों पर शक्ति के मापन का प्रयास किया जाता है, उन्हें शक्ति के विभिन्न प्रकारों के साथ संयुक्त किया जाना आवश्यक है। विभिन्न विद्वानों ने अग्रलिखित आधारों पर शक्ति का वर्गीकरण किया है—

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. व्यावहारिक आधार पर शक्ति का वर्गीकरण—व्यवहार-परिवर्तन के आधार पर शक्ति तीन प्रकार की होती है—(क) बल, (ख) प्रभुत्व और (ग) छल-योजना।

2. औचित्य के आधार पर शक्ति का वर्गीकरण—औचित्य के आधार पर **मैक्स वेबर** ने शक्ति के तीन रूप बताए हैं—

(क) कानूनी या वैधानिक,
(ख) परंपरागत और
(ग) करिश्मावादी (Charismatic)।

3. शक्ति-प्रवाह के आधार पर शक्ति का वर्गीकरण—शक्तिप्रवाह के आधार पर शक्ति के जो तीन रूप होते हैं, वे हैं—(क) एकपक्षीय, (ख) द्विपक्षीय और (ग) बहुपक्षीय।

4. केन्द्रीयकरण के आधार पर शक्ति का वर्गीकरण—केंद्रीयकरण के आधार पर शक्ति के दो रूप होते हैं—(क) संकेंद्रित शक्ति और (ख) विकेंद्रित शक्ति।

5. क्षेत्रीयता के आधार पर शक्ति का वर्गीकरण—क्षेत्रीयता के आधार पर शक्ति के निम्नलिखित तीन रूप हो सकते हैं—

(क) अंतरराष्ट्रीय,
(ख) राष्ट्रीय और
(ग) भूखंड-विशेष से संबद्ध।

6. प्रयोग एवं परिणाम के आधार पर शक्ति का वर्गीकरण—प्रयोग एवं परिणाम के आधार पर शक्ति (क) ऐच्छिक (voluntary) और (ख) अनैच्छिक (involuntary)—दो प्रकार की होती है।

7. अन्य आधारों पर शक्ति का वर्गीकरण—अन्य निम्नलिखित आधारों पर भी शक्ति के अनेक रूप होते हैं—

(क) प्रच्छन्न एवं प्रकट,
(ख) कलात्मक एवं अदमनात्मक,
(ग) औपचारिक एवं अनौपचारिक तथा
(घ) प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष।

शक्तिसंपन्न व्यक्ति अपने व्यवहार को हमेशा न्यायोचित बताते हैं और जब लोगों द्वारा उनके शक्ति-प्रयोग का औचित्य स्वीकार कर लिया जाता है तब उसे हम औचित्यपूर्ण (legitimate power) कहते हैं और जब उसे उचित नहीं माना जाता तो वह दमन कहलाती है। जब शक्तिसंपन्न लोगों द्वारा बनाए गए कानून, निर्देशों आदि की वैधानिकता पर अधीनस्थ लोगों का विश्वास होता है तब वह औचित्यपूर्ण शक्ति वैधानिक कहलाती है। जब शक्तिशाली लोगों द्वारा प्रसारित आदेशों को परंपरा के आधार पर पवित्र माना जाता है अथवा परंपरा के कारण ही शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो उसे औचित्यपूर्ण शक्ति का परंपरागत रूप कहा जाता है। जब औचित्य की मान्यता का आधार शक्तिशाली के व्यक्तिगत गुण के प्रति भक्ति होती है तो उसे करिश्मावादी औचित्य-शक्ति कहा जाता है। अतएव, शक्ति के विभिन्न रूपों का विवेचन इसी संदर्भ में किया गया है।

शक्ति की प्रकृति—विभिन्न शक्ति-विचारकों, जैसे—**मैकियावेली, हॉब्स, ग्राहम वॉलास** आदि ने शक्ति को एक स्वतंत्र कारक या तत्त्व माना है। **कैटलिन** उसे तटस्थ, साधनात्मक एवं महत्त्वपूर्ण संबंध के रूप में स्वीकार करता है। उसने **हॉब्स** और **सिगमण्ड फ्रायड** के साथ सहमति प्रकट की है कि शक्ति की कामना जन्मजात है। उसने शक्ति के मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का अन्वेषण किया है। शक्ति विचार या इच्छा से उत्पन्न होकर उसकी पूर्ति के लिए संकल्प बनती है और यही स्थिति शक्ति की माँग के रूप में अभिव्यक्त होती है। **डैल** ने भी शक्ति को स्वयं अपने-आप में एक लक्ष्य माना है। प्रायः मनुष्य अपना प्रभाव बनाने के लिए राज्य के ऊपर नियंत्रण करने का प्रयास करता है। **बायर्सटेड** ने शक्ति को समस्त सामाजिक व्यवस्थाओं एवं अंतःक्रियाओं में अंतर्निहित माना है। उसके अनुसार, शक्ति सदैव प्रच्छन्न रहती है और कभी प्रकट नहीं होती। उसके प्रकट रूप बल तथा सत्ता हैं। **रोवे** शक्ति को पराक्रम पर आधारित मानता है। **कैटलिन** ने समस्त राजनीति को स्वभावतः शक्ति-राजनीति कहा है।

शक्ति-अन्वेषण के उत्तरदायी कारण (Responsible Factors for Power-seeking)

अग्रलिखित कारणों के चलते कोई भी व्यक्ति शक्ति के पीछे पागल रहता है—

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. शक्ति की प्रवृत्ति मानव-स्वभाव में निहित है (Power instinct is inherent in human nature)—शक्ति-प्राप्ति की प्रवृत्ति मानव-स्वभाव में निहित है। जब कभी मनुष्य को शक्ति मिलती है तब उस शक्ति से वह अलग नहीं होना चाहता। यही कारण है कि आज के राजनीतिज्ञ एक बार शक्ति हाथ में आने के बाद उसको छोड़ना नहीं चाहते। यह बात हर व्यक्ति और पदाधिकारी के साथ लागू होती है।

2. सामूहिक स्वार्थ की वृद्धि (Promotion of collective interest)—सामूहिक स्वार्थ की अभिवृद्धि के लिए लोग शक्ति के पीछे पागल रहते हैं। शक्ति में आकर वे अपने समुदाय और जाति के लोगों की अधिक-से-अधिक भलाई करना चाहते हैं।

3. निजी स्वार्थ की सचेतन खोज (Conscious pursuit of self-interest)—**हॉब्स, बेन्थम, मार्क्स** आदि राजनीतिशास्त्रियों ने यह तर्क दिया है, "मनुष्य निजी स्वार्थ के लिए भी शक्ति में आना चाहता है, क्योंकि आत्मस्वार्थ की सचेतन खोज व्यक्तियों को शक्ति प्राप्त करने के लिए उत्प्रेरित करती है (Conscious pursuit of self-interest leads to power)।"

4. शक्ति-प्राप्ति की अचेतन इच्छा (Unconscious desire for power motivation)—महान दार्शनिक **फ्रायड** ने कहा है, "मनुष्य की अचेतन इच्छा मनुष्य को शक्ति-प्राप्ति के लिए उत्प्रेरित करती है। मनुष्य के अचेतन मन में शक्ति की भूख उस शेर की तरह सोई हुई है, जो जागते ही अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने लगता है।"

5. वंचित इच्छाओं की पूर्ति के लिए (For the compensation of deprivation)—जो शक्ति के पीछे पागल रहते हैं, वे किसी-न-किसी रूप में अपनी वंचित इच्छाओं की पूर्ति चाहते हैं, जिसे हम 'compensatory device' कहते हैं। जो व्यक्ति बचपन में किसी चीज से वंचित रहता है, वह बड़ा होने पर उसको प्राप्त करना चाहता है और उसकी संतुष्टि के लिए शक्ति के पीछे पागल हो सकता है।

उपर्युक्त पाँचों कारणों का जब हम आलोचनात्मक विश्लेषण करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति-प्राप्ति के उपर्युक्त पाँचों कारणों में कोई संतोषप्रद नहीं है। यह कहना कि शक्ति की प्रवृत्ति मानव-स्वभाव में निहित है, उचित नहीं है; क्योंकि किसी विशेष प्रकार की चीज से वंचित मनुष्य किसी विशेष प्रकार की चीज की ही खोज करता है और किसी अन्य चीज की ओर उन्मुख (indulge) नहीं होता है। यह कहना कि मनुष्य अपने निजी स्वार्थ के लिए शक्ति की खोज करता है, न्यायसंगत तर्क नहीं है। **फ्रायड** का यह कथन कि मनुष्य की अचेतन प्रवृत्ति शक्ति की खोज करती है, हमेशा सही नहीं हो सकता है। जब हम शक्ति-अवधारणा की सूक्ष्म जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थिति कुछ भिन्न है, क्योंकि मनुष्य हमेशा सामूहिक स्वार्थ के लिए ही शक्ति का प्रयास नहीं करता।

रॉबर्ट ए० डैल का शक्ति-प्राप्ति के संबंध में विश्लेषण (Robert A Dahl's observation for power-seeking)—**रॉबर्ट ए० डैल** ने अपनी पुस्तक **आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण** *(Modern Political Analysis)* में शक्ति-प्राप्ति के कुछ प्रमुख कारणों का विवेचन किया है, जो निम्नलिखित हैं—

(क) कारण चाहे कुछ भी हो, कुछ लोग शक्ति-प्राप्ति के लिए अन्य लोगों से अधिक प्रयास करते हैं।

(ख) शक्ति-प्राप्ति की खोज करनेवालों के व्यक्तित्व और प्रवृत्ति की वैज्ञानिक जानकारी अपर्याप्त है।

(ग) यह स्पष्ट है कि व्यक्ति शक्ति की प्राप्ति केवल अपने लिए ही नहीं करता, वरन शक्ति के 'यांत्रिक महत्त्व' (instrumental value) को ध्यान में रखकर भी अपना प्रयास करता है।

(घ) अन्य व्यवहारों की तरह शक्ति-प्राप्ति की खोज एक संदेह नहीं है, प्रायः यह चेतन और अचेतन प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण है।

यदि हम शक्ति-प्राप्ति-संबंधी उपर्युक्त सारे तथ्यों का विवेचन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव शक्ति-प्राप्ति का प्रयास सामूहिक स्वार्थ की भावना से उत्प्रेरित होकर करता है। शक्ति-प्राप्ति की खोज करनेवाले अधिक-से-अधिक नागरिकों के स्वार्थों की रक्षा करना चाहते हैं। वे शक्ति की प्राप्ति राज्य की भलाई के लिए तथा राज्य के अंतर्गत जीवन, स्वतंत्रता तथा सुख की प्राप्ति के लिए करना चाहते हैं।

शक्ति-संबंधों के प्रकार

शक्ति-संबंधों के अनेक रूप हैं, जैसे—शक्ति, प्रभाव, सत्ता, अनुनय, दमन, दबाव तथा बल आदि। **बायर्सटेड** ने उक्त संबंधों का समाजशास्त्रीय विवेचन किया है। उसके अनुसार प्रभाव अनुनयात्मक है तथा

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

शक्ति दमनात्मक। प्रभाव को शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती है और शक्ति भी बिना प्रभाव के रह सकती है। किंतु, ये दोनों एक ही व्यक्ति में पाए जा सकते हैं। जहाँ **हिटलर** और **चंगेज खाँ** सिर्फ शक्ति के प्रतीक थे, वहाँ **नेपोलियन, लिंकन, जवाहरलाल नेहरू** आदि में शक्ति और प्रभाव दोनों मौजूद थे। शक्ति एवं प्रभाव दोनों प्रभावित व्यक्ति के व्यवहार को परिवर्तित करते हैं, किंतु वह व्यक्ति शक्ति के अनुसार परिवर्तित हुआ या प्रभाव के अनुसार, इसका निर्णय स्वयं वही कर सकता है।

प्रभुत्व मनोवैज्ञानिक अवधारणा है, जो मनुष्य की प्रकृति तथा उसके व्यक्तित्व पर निर्भर है। शक्ति बल का प्रमाण नहीं है, क्योंकि शक्ति प्रच्छन्न बल है और बल प्रकट शक्ति। शक्ति की पृष्ठभूमि में बल रहता है, किंतु वह अलग है। **बायर्सटेड** ने शक्ति के तीन रूप बताए हैं—बल, प्रभाव तथा प्रभुत्व। वह व्यवहार-कौशल या छल-योजना को शक्ति में शामिल नहीं करता, क्योंकि प्रभावित व्यक्ति को यह जानकारी नहीं है कि उसके व्यवहार को संचालित किया जा रहा है।

शक्ति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण रूप सत्ता है। सत्ता आदेश देने के अधिकार को कहा जाता है, जबकि शक्ति आदेश देने की क्षमता को। शक्ति सत्ता के बिना असंस्थाकृत रहती है। परंपरागत राज्यविज्ञान में संप्रभुता की कानूनी अवधारणा वास्तव में शक्ति के सन्निकट है। **लॉस्की** ने राज्य-संप्रभुता का आधार अपनी आज्ञा का पालन कराने के लिए सशस्त्र सेनाओं के प्रयोग की संभाव्य शक्ति को माना है।

राजनीतिक शक्ति और सैनिक शक्ति में अंतर—यद्यपि सैन्य-शक्ति और राजनीतिक शक्ति व्यापक दृष्टिकोण से शक्ति के ही प्रकार हैं, किंतु राजनीति में सैनिक शक्ति का स्थान बिल्कुल गौण रहता है, क्योंकि शक्ति वास्तविक बल-प्रयोग नहीं है। यह बल-प्रयोग की क्षमता है। **एच॰ जे॰ मॉरगेंथाऊ** ने राजनीतिक शक्ति को मनोवैज्ञानिक शक्ति माना है जिसके अनुसार मनुष्य दूसरे मनुष्यों की क्रियाओं और मस्तिष्कों पर नियंत्रण रखता है। सैनिक शक्ति दमन का वास्तविक प्रयोग है। ऐसी शक्ति का रूप आज पाकिस्तान और बँगलादेश में देखने को मिलता है। किंतु, **डायक** ने सैनिक शक्ति को भी राजनीतिक शक्ति के अंतर्गत रखने की वकालत की है। उसके अनुसार, संघर्ष राजनीति का मूल सार है, चाहे वह शब्दों द्वारा हो या हिंसा द्वारा। इस दृष्टि से सैनिक शक्ति राजनीतिक शक्ति का एक उपविभाग बन जाता है। फिर भी, सैनिक शक्ति राजनीतिक शक्ति की पृष्ठभूमि में ही रहती है। हिंसा द्वारा स्थापित सुव्यवस्था आदिकालीन समाज की प्रतीक है जो किसी भी सभ्य राजनीतिक समाज के लिए प्रतिष्ठा की वस्तु नहीं हो सकती।

शक्ति-प्रयोग और सीमाएँ (Use of Power and Limitations)

जब व्यक्ति शक्ति प्राप्त कर लेता है तब वह उसका प्रयोग विभिन्न रूपों में करता है। चूँकि कोई भी व्यक्ति शक्ति की खोज अपनी क्षति और वंचना की पूर्ति के साधन के रूप में करता है, इसलिए शक्ति-प्राप्त व्यक्ति या तो अपने स्वभाव को बदल देता है या उस वातावरण को ही वह बदल डालता है जिसमें वह कार्य करता है। राज्य या समाज शक्ति का प्रयोग विभिन्न स्थितियों में विभिन्न रूप से करता है। जब कोई शक्ति-प्रयोग में असफल हो जाता है तो दूसरी शक्ति या अन्य शक्ति द्वारा प्रतिस्थापित की जाती है। प्रयोग में शक्ति प्रतिशोधात्मक या सुधारात्मक होती है, अर्थात जब इसका रूप प्रतिशोधात्मक होता है तब इसके परिणाम भयानक होते हैं, जिसमें जेल, जुर्माना और पदच्युति शामिल हैं। अपने सुधारात्मक रूप में शक्ति का प्रयोग सुधार के लिए किया जाता है। जब शक्ति अमर्यादित और अनियंत्रित होकर काम करती है, तब उसका दुरुपयोग और अतिक्रमण होता है। ऐसी अनियंत्रित शक्ति के भयंकर परिणाम होते हैं। इसीलिए शक्ति को मर्यादित और नियंत्रित होना चाहिए।

शक्ति पर नियंत्रण (Limitations of Power)

शक्ति-प्रयोग के विवेचन के बाद यह स्पष्ट है कि एक बार शक्ति में आने के बाद कोई भी व्यक्ति शक्ति से अलग नहीं होना चाहता। इस संबंध में **लॉर्ड ऐक्टन** (Lord Acton) ने ठीक ही कहा है, "शक्ति मनुष्य को भ्रष्ट कर देती है और पूर्ण शक्ति पूर्ण रूप से भ्रष्ट करती है" (Power tends to corrupt a man and absolute power corrupts absolutely)। शक्ति की दमनात्मक प्रवृत्ति को देखते हुए यह भी कहा गया है कि शक्ति को उन्मुक्त, अमर्यादित तथा अनियंत्रित ढंग से नहीं होना चाहिए। उसके ऊपर अनेक प्रतिबंध होने चाहिए, क्योंकि जब कभी शक्ति का प्रयोग अमर्यादित ढंग से हुआ है तब उसके भीषण और भयावह परिणाम हुए हैं। व्यवहार में शक्ति का मर्यादित होना संरक्षण तथा उसके समुचित विकास के लिए आवश्यक है। शक्ति की सीमाएँ प्रयोगकर्ता के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों, उसकी दक्षता, पारस्परिक संबंधों, प्रतियोगिता,

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

कार्य-पद्धतियों इत्यादि से उत्पन्न होती है। निम्नलिखित प्रमुख तरीकों को अपनाकर शक्ति पर बंधन लगाए जा सकते हैं—

1. ऐतिहासिक परंपराएँ (Historical conventions)—शक्ति का कोई भी प्रयोगकर्ता अपनी ऐतिहासिक परंपराओं का हमेशा ध्यान रखता है। ऐतिहासिक परंपराओं के विरुद्ध वह कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाता।

2. नैतिकता (Morality)—शक्ति में आने के बाद नैतिकता ही शक्ति के प्रयोगकर्ता को शक्ति-प्रयोग के संबंध में सचेत करती है, जिसके कारण वह कोई गलत काम नहीं कर पाता।

3. समूहों का दबाव (Group pressures)—विभिन्न समूहों के दबाव के चलते भी शक्ति का प्रयोगकर्ता अमर्यादित तरीके से शक्ति का प्रयोग नहीं करता। विभिन्न समूह उस पर दबाव बनाए रखते हैं।

4. धर्म (Religion)—धर्म का शक्ति पर सबसे बड़ा बंधन होता है। कोई भी शक्ति-प्रयोगकर्ता धर्म के नाम पर अन्याय नहीं कर सकता और सोचता है कि यदि वह धर्म के विरुद्ध काम करता है, तो नरकगामी होगा।

5. राजनीतिक चेतना का विकास (Development of political consciousness)—आज जनता की राजनीतिक चेतना काफी विकसित हो गई है और जनता हमेशा शासक की गतिविधियों पर ध्यान रखती है, जिसके कारण उसकी शक्ति नियंत्रित रहती है।

6. सार्वजनिक सहमति (Public consent)—कोई भी शक्ति-प्रयोगकर्ता सार्वजनिक सहमति के विरुद्ध कोई निर्णय नहीं ले सकता। यदि वह ऐसा करता है तो स्वयं उसके विरुद्ध ही विनाशकारी प्रवृत्तियाँ जग जाती हैं।

7. बाहरी नियंत्रण (External control)—कभी-कभी बाहरी नियंत्रण भी शक्ति को अमर्यादित होने से बचाता है। जब किसी देश का शासक अपनी शक्ति का अमर्यादित ढंग से प्रयोग करने लगता है और अपने देश की पूर्वस्थापित मान्यताओं को समाप्त करने लगता है, तब अन्य देश उस पर अंकुश लगाते हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)—निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि शक्ति को संचालित करने के लिए कोई एक सर्वमान्य प्रणाली नहीं है। फिर भी, आज समस्त समाज का अध्ययन शक्ति के ही संदर्भ में किया जाता है। नेपोलियन, हिटलर, मुसोलिनी, तोजो, लिंकन इत्यादि महान नेता शक्ति-सिद्धांत में काफी विश्वास रखते थे। आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में शक्ति किसके हाथ में रहती है, इस संदर्भ में अनेक अनुसंधान हुए हैं। इन अनुसंधानों से सिद्ध हुआ है कि वास्तविक शक्ति जनता के हाथों में नहीं रहती, वरन एक अल्पसंख्यक जनता के हाथ में रहती है, जिसे हम राजनीतिक कुलीनतंत्र (political oligarchy) कहते हैं।

आज समाज के जितने भी संबंध हैं, उनमें शक्ति का प्रभाव दीख पड़ता है, क्योंकि समाज एक संपूर्ण की तरह शक्ति-संबंधों की एक प्रणाली है (Society as a whole is a system of power relations)। **बर्ट्रेण्ड रसेल** (Bertrand Russell) ने इसीलिए कहा कि शक्ति के संदर्भ में ही प्राचीन या आधुनिक इतिहास का अध्ययन संभव है। आज विधानसभाओं, कार्यपालिकाओं, न्यायालयों, सरकारी दफ्तरशाहियों, कानूनी संस्थाओं, राजनीतिक दलों इत्यादि सभी के व्यवहार को शक्ति की पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है। परिणामस्वरूप, शक्ति राजनीतिक गतिविधियों पर विचार करने का एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण है।

शक्ति-संबंधी उपर्युक्त विश्लेषण से हमारे समक्ष दो विचार आते हैं—

(क) शक्ति भ्रष्ट करती है (Power corrupts),

(ख) शक्ति भ्रष्ट नहीं करती (Power does not corrupt)।

जहाँ तक पहली धारणा का प्रश्न है, उसके अनुसार शक्ति का प्रयोग आमतौर से व्यक्ति को भ्रष्ट करता है जिसका समर्थन **लॉर्ड ऐक्टन** ने किया है। शक्ति के दुरुपयोग-संबंधी तर्क को ध्यान में रखकर **मॉण्टेस्क्यू** ने 'शक्ति-पृथक्करण' (separation of power) के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। उनका कहना था कि व्यक्ति शक्ति का दुरुपयोग कर सकता है, उसके औचित्य की अवहेलना कर सकता है; इसीलिए उसे रोका जाए। **रसेल** का कहना है कि शक्ति के इस्तेमाल से ऐसा लगता है कि वह व्यक्ति जिसके पास शक्ति है उसे शक्ति का हमेशा अभाव महसूस होता है, इसलिए वह और अधिक शक्ति के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहता है। वह शक्ति पर पूरी तरह नियंत्रण नहीं रख सकता। वह शक्ति-प्राप्ति के लिए गलत साधन अपनाता है और इस प्रकार शक्ति का दुरुपयोग करता है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

दूसरा विचार **रोगा** (Rogow) और **हैरोल्ड डी० लॉसवेल** का है, जिन्होंने **लॉर्ड ऐक्टन** के कथन का व्यावहारिक विधि से विश्लेषण किया है। अपने विश्लेषण में इन्होंने उन व्यक्तियों के जीवन की घटनाओं का अध्ययन किया जो ऊँचे पदों पर आसीन थे। इनका कहना है कि शक्ति व्यक्ति को हर परिस्थिति में भ्रष्ट नहीं करती। ऐसा भी देखा गया है कि वही व्यक्ति भ्रष्ट होता है, जिसके पास शक्ति का अभाव है। इसीलिए **हैरोल्ड डी० लॉसवेल** ने शक्ति के अध्ययन के लिए एवं व्यवहारवादी दृष्टिकोण की सफलता के लिए शक्ति-संबंधी बहुत-सी बातों की चर्चा की है। **हैरोल्ड डी० लॉसवेल** की विचारधारा को उसके 'वितरणात्मक विचारधारा' के माध्यम से समझा जा सकता है। उसने मूल्यों और लक्ष्यों को निर्धारित करने में वैज्ञानिक शोध को आधार बनाया एवं स्वीकारा है, "हमें आत्मसम्मान की व्यापक संस्थापना के लिए एक जनतंत्र का विज्ञान विकसित करने की आवश्यकता है।"

प्रभाव
(Influence)

विषय-प्रवेश (Introduction)—शक्ति से मिलती-जुलती एक अन्य अवधारणा को हम 'प्रभाव' कहते हैं। **रॉबर्ट ए० डैल** ने अपनी पुस्तक **आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण** की पृष्ठ-संख्या 40 में कहा है कि राजनीतिक विश्लेषण में शक्ति और प्रभाव समान रूप से केन्द्रीय अवधारणाएँ हैं। प्रभाव तो कभी-कभी शक्ति से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस संबंध में **रोवे** (Rowe) ने कहा है कि प्रभाव के महत्त्व को स्वीकार कर लेने के बाद शक्ति निरर्थक हो जाती है। वह राजनीतिक प्रभाव ही है जो राजनीतिज्ञों द्वारा प्राप्त किया जाता है। कुछ लोग प्रभाव को स्वयं अपने लिए तथा अन्य व्यक्ति उसे नीति को प्रभावित करने के लिए साधन के रूप में उपयोग में लाते हैं। शक्ति का प्रयोग असीम नहीं होता है। शक्ति कतिपय शास्तियों पर आधारित होती है। शक्ति विरोध और प्रतिशक्ति को आमंत्रित करती है, लेकिन शक्ति से सदैव कार्य नहीं लिया जाता। शक्ति की अपर्याप्तता प्रभाव की आवश्यकता को अभिव्यक्त करती है। वास्तव में प्रभाव एक प्रकार का स्वेच्छावाद है और उसका स्वरूप अदमनात्मक होता है। इसलिए इसे जनतंत्र का हृदय माना जाता है। जनतंत्र में प्रभाव की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। प्रभाव के बल पर ही अल्पसंख्यक अभिजनवर्ग राज्य-व्यवस्थाओं में नीति-निर्धारण तथा प्रशासन आदि में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रभाव के अभाव में विशाल कृषकवर्ग, निर्धन जनता आदि बहुसंख्यक होते हुए भी प्रभावशाली नहीं समझे जाते हैं। **लॉसवेल** ने प्रभाव और प्रभावक के अध्ययन को ही राजनीति का अध्ययन स्वीकार किया है। **फ्रेडरिक** नामक विद्वान ने कहा है कि प्रभाव एक प्रकार की शक्ति है, क्योंकि जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली में प्रभाव की ही महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

प्रभाव का अर्थ एवं प्रकृति (Meaning and Nature of Influence)

हैरोल्ड डी० लॉसवेल ने अपनी पुस्तक *Politics: Who Gets, What, When, How* में कहा है कि राजनीति का अध्ययन प्रभाव का अध्ययन है। **लॉसवेल** के अनुसार, "प्रभाव मूल्यस्थिति और किसी व्यक्ति या समूह की क्षमता है।" **रॉबर्ट ए० डैल** ने कहा है, "प्रभाव कर्ताओं के मध्य संबंध है।" **डैल** के अनुसार, "यह व्यक्तियों, समूहों, संघों, संगठनों, राज्य के मध्य संबंध है..... एक ऐसा संबंध जिसमें एक कर्ता दूसरे कर्ताओं को वह करने के लिए प्रेरित करता है जिसे वह पहले नहीं करता था।" **रोवे** के अनुसार प्रभाव सर्वत्र असमान रूप में बँटा होता है। यह राजनीतिक जीवन का एक तथ्य है। यह अनेक कारणों एवं परिस्थितियों में बदलता रहता है। अतएव, प्रभाव अनुनयात्मक तथा मनोवैज्ञानिक होता है। यह प्रभावित व्यक्ति की स्वीकृति है। व्यक्ति की तुलना में इसका प्रभाव व्यापक होता है। प्रभाव एक अमूर्त (abstract) अवधारणा है जिसके आधार पर व्यक्ति की गरिमा बढ़ती है।

प्रभाव के स्त्रोत (Sources of Influence)

प्रभाव के विभिन्न स्त्रोत होते हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

1. संपत्ति (Property)—संपत्ति के माध्यम से प्रभाव मुखरित और जागरित होती है। किसी को संपत्ति देकर उस पर प्रभाव स्थापित किया जा सकता है।

2. स्वास्थ्य (Health)—यह भी प्रभाव-संबंधी एक शर्त है, क्योंकि एक स्वस्थ व्यक्ति ही अपने प्रभाव को अभिव्यक्त कर सकता है। एक अस्वस्थ की तुलना में स्वस्थ व्यक्ति का प्रभाव अधिक होता है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

3. **शिक्षा** (Education)—शिक्षा प्रभाव का प्रमुख स्रोत है। एक शिक्षित व्यक्ति या प्राध्यापक का प्रभाव अशिक्षित व्यक्तियों और छात्रों पर व्यापक रूप से पड़ता है। शिक्षा के माध्यम से अच्छे-से-अच्छे लोगों को प्रभावित किया जा सकता है।

4. **व्यक्तित्व और व्यक्ति** (Personality and individual)—प्रभाव व्यक्तित्व और व्यक्ति से भी मुखरित होता है। उदाहरण के लिए, हिटलर ने अपने व्यक्तित्व से समस्त जर्मनी को प्रभावित किया। महात्मा गाँधी ने भी अपने व्यक्तित्व से भारतवासियों के साथ-साथ अँगरेजों को भी प्रभावित किया।

5. **आकर्षण** (Attraction)—आकर्षण से भी प्रभाव मुखरित होता है। किसी चीज के आकर्षण से व्यक्ति-विशेष प्रभावित हो जाता है।

6. **कुशलता** (Efficiency)—कुशलता भी प्रभाव का एक स्रोत है। अपनी राजनीतिक और व्यावहारिक कुशलता से ही एक राजदूत ने केवल विदेशी राज्याध्यक्षों को प्रभावित करता है, वरन समस्त विदेशियों को भी अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले लेता है।

प्रभाव के लक्ष्य (Objectives of Influence)

प्रभाव का लक्ष्य प्रभावी तथा प्रभावित दोनों के हितों में वृद्धि करना है। प्रभाव का उपयोग प्रभावक अपनी नीतियों को प्रभावित और निश्चित करने के लिए करता है। पिछड़े देशों की आम जनता के विचार, मूल्यों और रहन-सहन में सुधार लाने के लिए भी प्रभाव महत्त्वपूर्ण प्रयास करता है। यह उन देशों की जनता की राजनीतिक जागरूकता बढ़ाता है। सत्ता को सक्रिय बनाए रखने के उद्देश्य से भी प्रभाव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि सत्ता से प्रभाव को निकाल दिया जाए तो सत्ता निष्क्रिय हो जाती है। यदि व्यक्ति से प्रभाव को हटा दिया जाए तो वह मृत-सा हो जाता है। प्रभाव व्यक्ति, संस्था तथा किसी भी निकाय के लिए उस जल के समान है, जिसके न रहने से समाज में पूछ नहीं होती।

प्रभाव-संबंधी दो विभिन्न दृष्टिकोण—प्रभाव की व्यापकता के संबंध में दो दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं—

(क) शक्ति-दृष्टिकोण और
(ख) प्रभाव-दृष्टिकोण।

(क) शक्ति-दृष्टिकोण—इसके अनुसार प्रभाव शक्ति का एक प्रकार है जिसका समर्थन **लॉसवेल एवं डाल** आदि विद्वानों ने किया है। **फ्रेडरिक** ने भी कहा है कि प्रभाव एक प्रकार की अप्रत्यक्ष तथा अगठित शक्ति है। इस दृष्टिकोण को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(i) सामान्य (general) और (ii) विशिष्ट (specific)।

(i) सामान्य—सामान्य दृष्टिकोण **वेबर, मॉरगेंथाऊ, मैकिवर, बायर्सटेड** इत्यादि विद्वानों ने प्रतिपादित किया है। ये विचारक शक्ति को व्यापक रूप में देखते हैं। **वेबर** ने औचित्यपूर्ण शक्ति को ही अपने अध्ययन का विषय बनाया है। मॉरगेंथाऊ ने राजनीति को शक्ति-संघर्ष के रूप में देखा है।

(ii) विशिष्ट—विशिष्ट दृष्टिकोण शक्ति को दो स्वरूपों में बाँटता है। उसका पहला स्वरूप बल तथा दमन पर आधारित है। दूसरा स्वरूप अदमनात्मक है, जिसे प्रभाव कहा जा सकता है। इसी अदमनात्मक शक्ति का राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(ख) प्रभाव-दृष्टिकोण—इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रभाव सर्वव्यापी है। इसके भी दो रूप होते हैं—(i) सामान्य प्रभाव-दृष्टिकोण और (ii) विशिष्ट या आंशिक प्रभाव-दृष्टिकोण।

(i) सामान्य प्रभाव-दृष्टिकोण—सामान्य दृष्टिकोण के अनुसार प्रभाव एक व्यापक शब्द है जो दूसरों के व्यवहार-परिवर्तनों को सूचित करता है, अर्थात समस्त प्रकार के व्यवहार-परिवर्तन चाहे वे बल अथवा शक्तियों, सत्ता, नेतृत्व या नैतिक भावनाओं की समानताओं के कारण हों, प्रभाव के अंतर्गत आते हैं। **रॉबर्ट ए॰ डाल** ने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। **रोवे** ने कहा है कि प्रभाव एक छतरी की तरह है, जिसके अंतर्गत शक्ति (power) और सत्ता (authority) आते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार शक्ति दमनात्मक प्रभाव है।

(ii) विशिष्ट या आंशिक प्रभाव-दृष्टिकोण—यह दृष्टिकोण प्रभाव एवं शक्ति को स्वतंत्र कारक मानता है, अर्थात इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रभाव और शक्ति दोनों अलग-अलग हैं। इन दोनों के बीच अंतर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्रभाव-मापन (Measurement of Influence)

प्रभाव से संबद्ध एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि प्रभाव का मापन कैसे किया जाए। राजनीतिशास्त्र में प्रभाव-मापन एक कठिन समस्या है, क्योंकि प्रभाव के स्रोत प्रायः गुप्त और अस्पष्ट होते हैं। फिर भी, प्रजातंत्र में खुली प्रतियोगिता और स्वतंत्रता के कारण प्रभाव का मापन आवश्यक है। प्रजातंत्र में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि विशिष्ट राजनेताओं और नागरिकों के बीच प्रभाव की मात्रा क्या है? **रॉबर्ट ए॰ डैल** ने बताया है कि प्रभाव-मापन के समय कुछ सावधानियाँ बरतनी चाहिए, जैसे—पहले पूरी सूचनाएँ एकत्र कर लेनी चाहिए, उसके बाद उपलब्ध सूचनाओं के अनुसार तुलनात्मक विधि अपनानी चाहिए। स्पष्टता के लिए विचार-चित्र सामने रखना चाहिए। साधारण तौर पर प्रभाव को मापने के अनेक तरीके हैं, जिन्हें हम निम्नलिखित रूप से लिख सकते हैं—

(क) प्रभावित की स्थिति में परिवर्तन का पता लगाकर,
(ख) प्रभावित की मानसिक प्रक्रिया की जानकारी हासिल कर,
(ग) प्रभाव के अनुपालन की संभावना में भिन्नता का पता लगाकर तथा
(घ) वर्तमान अध्ययन-प्रणालियों के द्वारा भी प्रभाव को मापा जा सकता है।

प्रभाव और शक्ति (Influence and Power)

वैसे तो प्रभाव और शक्ति में अन्योन्याश्रय संबंध है और दोनों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, फिर भी दोनों के कार्य भिन्न हैं। शक्ति (power) दूसरों के व्यवहार में परिवर्तन करनेवाली क्षमता की परिचायिक संज्ञा (noun) है। किंतु, 'प्रभाव' शब्द का प्रयोग संज्ञा एवं क्रिया दोनों रूपों में किया जा सकता है। क्रिया के रूप में यह सभी प्रकार के व्यवहार में परिवर्तन करनेवाली प्रक्रियाओं का सूचक बन जाता है। इस संबंध में दो दृष्टिकोण हैं—पहले को शक्ति-दृष्टिकोण और दूसरे को प्रभाव-दृष्टिकोण कहा जाता है। जहाँ शक्ति-दृष्टिकोण में प्रभाव शक्ति का एक प्रकार है, वहाँ प्रभाव-दृष्टिकोण में शक्ति एवं प्रभाव दोनों अलग-अलग हैं। प्रभाव और शक्ति के **अंतर** को हम निम्नलिखित रूप से लिख सकते हैं—

(क) शक्ति दमनात्मक होती है, क्योंकि जब शक्ति का प्रयोग किया जाता है तब शक्ति का प्रयोग होनेवाले व्यक्ति या समूह के पास उसे स्वीकार करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं होता, लेकिन प्रभाव अनुनयात्मक, स्वेच्छापूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक होता है।

(ख) शक्ति प्रायः शक्तिधारक के पास एक स्वतंत्र परिवर्त्य के रूप में होती है और शक्ति का प्रयोग प्रभावित व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध तथा उसके प्रतिरोध के रहते हुए भी किया जा सकता है। लेकिन, प्रभाव संबंधात्मक होता है और उसकी सफलता का आधार प्रभावित व्यक्ति की सहमति होती है।

(ग) शक्ति अप्रजातंत्रात्मक होती है और वह प्रति-शक्ति (counter power) को आमंत्रित करती है तथा वह भय पर आधारित होती है, जबकि प्रभाव प्रजातंत्रात्मक होता है और उसका अनुपालन स्वेच्छापूर्वक किया जाता है।

(घ) शक्ति का प्रयोग कभी अत्यधिक मात्रा में नहीं किया जा सकता, उन पर अनेक सीमाएँ लगी रहती हैं, किंतु प्रभाव की शक्ति असीम होती है और प्रभाव अर्जित कर लेने पर उसका खुलकर लाभ उठाया जा सकता है। प्रभाव उपलब्ध हो जाने के बाद शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि कोई शक्ति का प्रयोग कर किसी स्त्री की इच्छा के विपरीत अपनी विषय-वासना की तृप्ति करना चाहे तो यह संभव नहीं हो सकता, लेकिन प्रभाव द्वारा वह किसी भी स्त्री के साथ मनोभावात्मक संबंध स्थापित कर ऐसा कर सकता है। इस प्रकार, प्रभाव और शक्ति में काफी अंतर है।

समानताएँ (Similarities)—उपर्युक्त असमानताओं के बावजूद शक्ति और प्रभाव में निम्नलिखित समानताएँ हैं—

(क) प्रभाव और शक्ति दोनों बौद्धिक एवं संबंधात्मक हैं और दोनों एक-दूसरे को बल देते हैं।

(ख) प्रभाव और शक्ति दोनों को एक-दूसरे की आवश्यकता रहती है, क्योंकि कभी-कभी यह जानना कठिन हो जाता है कि प्रभावित व्यक्ति में व्यवहार-परिवर्तन शक्ति के कारण हुआ है या प्रभाव के कारण। इसीलिए प्रभाव और शक्ति का कुशल प्रयोग एक कुशल राजनेता ही कर सकता है। सचमुच प्रभाव के बिना शक्ति का महत्त्व सहज मजाक बन जाता है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्रभाव और सत्ता (Influence and Authority)

प्रायः प्रभाव एवं सत्ता को पर्यायवाची मान लिया जाता है, लेकिन बात ऐसी नहीं है। दोनों में काफी अंतर है। प्रभाव एक गतिशील, तरल एवं अनिश्चित और अस्पष्ट उपलब्धि है, अतः राजनेता हमेशा अपने प्रभाव को सत्ता के रूप में बदलता रहता है। इसलिए प्रभाव का स्वाभाविक परिणाम सत्ता होता है। प्रभाव और सत्ता में निम्नलिखित अंतर है—

(क) जब एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति पर प्रभाव डाला जाता है तो वह आवश्यक रूप से सत्तापूर्ण नहीं होता। प्रभाव डालते समय व्यक्ति को समझाया-बुझाया जा सकता है तथा उसे सुझाव दिए जा सकते हैं और प्रभावित व्यक्ति सोच-समझकर निर्णय लेता है। लेकिन, सत्तापूर्ण संबंधों में अधिकारी-अधीनस्थ (authority-subordinate) संबंधों की उत्पत्ति होती है और सत्ता प्रभावित व्यक्ति अपने समस्त विकल्पों में से केवल उसी को चुनता है जो औपचारिक रूप उसके सामने उच्च अधिकारी द्वारा रखा गया है। चयन की यह प्रक्रिया प्रभाव के अंतर्गत नहीं होती।

(ख) **प्रभाव** जीवनपर्यंत रह सकता है, जबकि **सत्ता** प्रायः उसी समय तक रहती है जिस समय तक उसे अधीनस्थों द्वारा स्वीकार किया जाता है। अतः, प्रभाव स्थायी और सत्ता अस्थायी है।

(ग) प्रभाव सत्ता के बिना भी कायम रहता है, अर्थात सत्ता का प्रभाव के बनने-बिगड़ने से कोई संबंध नहीं होता, लेकिन प्रभाव के बिना सत्ता निष्क्रिय हो जाती है।

निष्कर्ष (Conclusion)—निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि सचमुच सत्ता (authority) और शक्ति (power) की तुलना में प्रभाव का अत्यधिक महत्त्व है। सत्ता और शक्ति दोनों की तुलना में प्रभाव का महत्त्व स्थायी होता है। इसलिए **रोवे** ने प्रभाव को एक छतरी कहा है, जिसमें शक्ति और सत्ता अपने-आप आ जाती है। प्रभाव को शक्ति और सत्ता की आवश्यकता नहीं होती। यह निश्चित एवं स्वतंत्र होता है और आवश्यक रूप से हमेशा अदमनात्मक होता है। एक बार जो व्यक्ति प्रभाव के क्षेत्रांतर्गत आ जाता है, उससे अलग होने में उसे काफी समय लगता है। चूँकि प्रभाव जटिल प्रश्नों का भी समाधान कर देता है, इसलिए राजनीतिशास्त्र में इसके अध्ययन की उपयोगिता आज बढ़ गई है।

सत्ता
(Authority)

परिचय (Introduction)—शक्ति एवं प्रभाव की तरह सत्ता भी आधुनिक राजनीतिशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। सत्ता राज्य-व्यवस्था की कुंजी है जो हर प्रकार के संगठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सत्ता को राज्य-व्यवस्थारूपी शरीर की आत्मा कहा गया है। यह विभिन्न राजनीतिक प्रक्रियाओं, जैसे—शक्ति, प्रभाव तथा नेतृत्व आदि का मूल उपकरण है। उसी के माध्यम से समन्वय, निर्णयनिर्माण, पदक्रम, अनुशासन, प्रत्यायोजन आदि प्रक्रियाएँ संभव होती हैं। सत्ता औपचारिक और अनौपचारिक दोनों प्रकार के संगठनों में महत्त्वपूर्ण होती है। सत्ता की अवहेलना नहीं की जा सकती। इसके बावजूद सत्ता के संबंध में विभिन्न विचारधाराएँ हैं। इसीलिए कुछ विद्वान इसे व्यवहार का सेट मानते हैं तो दूसरे कुछ परिस्थितियाँ-विशेष जिसमें वह व्यवहार प्रकट है।[1]

सत्ता का अर्थ (Meaning of Authority)

अंतरराष्ट्रीय सामाजिक विज्ञानों के ज्ञान-कोष *(International Encyclopaedia of Social Sciences)* में सत्ता को विभिन्न निम्नलिखित रूपों में परिभाषित किया गया है—

(क) किसी कार्यालय या व्यक्ति की सत्ता के रूप में इसे स्वीकार किया गया है।

(ख) कार्यालयों के वरिष्ठ एवं अधीनस्थ अधिकारियों के बीच संबंधों के रूप में सत्ता-संचार का यह गुण है जिसके आधार पर उसे स्वीकार किया जाता है।

(ग) **बायर्सटेड** ने कहा है कि सत्ता के प्रयोग का संस्थापक अधिकार है, स्वयं शक्ति नहीं।

---

1. Herbert Simon : *Administrative Behaviour*, 1937, p. XXXV

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(घ) **लॉसवेल** और **काप्लान** ने सत्ता को औपचारिक शक्ति कहा है।

(ङ) **हर्बर्ट साइमन** के अनुसार सत्ता अधीनस्थों के व्यवहारों को प्रभावित करने का अधिकार है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि सत्ता एक विशेष परिस्थिति की देन है। यह उस समय पैदा होती है, जबकि वरिष्ठ और अधीनस्थ व्यक्तियों के बीच में संबंध स्थापित होता है। सत्ता में सहमति और औचित्य का होना आवश्यक है। सत्ता का वास्तविक आधार अधीनस्थों अथवा जिन्हें निर्देश दिए जाते हैं, उनकी सहमति है। दूसरी बात है कि सत्ता औपचारिक होती है। इसका उपभोग संस्था के माध्यम से होता है। अर्थात, सत्ता के पीछे कानूनी शक्ति का होना आवश्यक है।

सत्ता शक्ति, प्रभाव एवं औचित्यपूर्णता से भिन्न है। जब शक्ति संस्थाकृत हो जाती है, अर्थात संस्था के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगती है, तब वह सत्ता का रूप लेती है। सत्ता का प्रत्यायोजन व्यक्तियों, संस्थाओं अथवा समूहों में हो सकता है। यही कारण है कि सत्ता निश्चित एवं स्पष्ट होती है। सत्ता की पहचान के लिए एक विशेष प्रकार का पहनावा, ताज और मुहर प्रदान किया जाता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है कि सत्ता के पीछे शक्ति होती है। इसी संदर्भ में **एम० जी० स्मिथ** ने कहा है कि शक्ति के बिना सत्ता प्रभावहीन होती है। इसीलिए सत्ता और शक्ति में एकीकरण राजनीतिक संगठनों के माध्यम से संभव है। अतएव, सत्ता और शक्ति में घनिष्ठ संबंध है, यद्यपि वे एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं।

सत्ता का विकास (Evolution of Authority)

सत्ता-तत्त्व राज्य से प्राचीन एवं मौलिक है । सत्ता की अवधारणा का विकास **सुकरात, प्लेटो, ऑगस्टाइन** आदि से ही प्रारंभ होता है। लेकिन, सत्ता का व्यापक विवेचन **मैक्स वेबर** ने 1922 ई० में किया और सत्ता के तीन स्वरूप बताए—(क) वैधानिक, (ख) परंपरागत, और (ग) करिश्मावादी। आज सत्ता का विकास इतना हो गया है कि राष्ट्र-राज्य से लेकर अंतरराष्ट्रीय संगठन सभी सत्ता द्वारा जुड़े हुए हैं। आज परिवार, समूह, चर्च, संगठन तथा हर संस्था में किसी-न-किसी रूप में सत्ता का निवास है।

सत्ता की विशेषताएँ (Features of Authority)

सत्ता की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

(क) सत्ता औपचारिक, निश्चित एवं विशिष्ट होती है,

(ख) सत्ता में अधिक भूमिका अधीनस्थों की होती है,

(ग) सत्ता कानूनी, वस्तुपरक (objective) और संगठनात्मक (organisational) होती है एवं

(घ) सत्ता का एक विशेष पहनावा, ताज और स्थिति होती है।

सत्ता की प्रकृति (Nature of Authority)

सत्ता की प्रकृति के संबंध में प्रचलित दो सिद्धांत हैं—

(क) औपचारिक सत्ता-सिद्धांत (Theory of formal authority) और

(ख) स्वीकृति सत्ता-सिद्धांत (Theory of accepted authority)।

(क) औपचारिक सत्ता-सिद्धांत—इस सिद्धांत के अनुसार सत्ता ऊपर से नीचे की ओर चलती है। ऊपर जो अधिकारी सत्ता में रहते हैं वे अधीनस्थों को आदेश देते हैं। यही **नौकरशाही** है।

(ख) स्वीकृति सत्ता-सिद्धांत—इस सिद्धांतानुसार सत्ता का केवल कानूनी रूप होता है। व्यवहारवादियों ने इस सिद्धांत का समर्थन किया है। सचमुच सत्ता के अधिकार की सफलता अधीनस्थों की स्वीकृति पर निर्भर है। जब अधीनस्थ अपनी समझ और योग्यता के दायरे में आदेशों को स्वीकार कर लेते हैं तब यह स्थिति सत्ता-स्थिति बन जाती है। **बर्नार्ड** के अनुसार इस विषय में चार शर्तें पूरी होनी आवश्यक हैं कि अधीनस्थ अधिकारी—(1) आदेश या सूचना को समझता या समझ सकता हो, (2) अपने निर्णय-ग्रहण के समय उसका यह विश्वास हो कि आदेश संगठन के उद्देश्यों के साथ असंगत नहीं है, (3) निर्णय के समय में वह यह सोचता हो कि समग्रता के रूप में संबंधित आदेश उसके व्यक्तिगत हितों के अनुकूल हैं तथा (4) वह मानसिक और शारीरिक दृष्टि से उस आदेश के अनुपालन में सक्षम हो। उपर्युक्त दोनों

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

विचारधाराएँ आनुभविक दृष्टि से अतिवाद दीख पड़ती हैं और इनमें अनेक दुर्बलताएँ हैं, किंतु इनके परिणामस्वरूप एक संतुलित दृष्टिकोण का विकास हुआ है, जिसके अनुसार अधीनस्थों की स्वीकृति एवं संस्थायीकृत औचित्यपूर्ण शक्ति दोनों को सत्ता की अवधारणा में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

सत्ता के प्रकार (Kinds of Authority)

मैक्स वेबर के अनुसार सत्ता के निम्नलिखित तीन रूप होते हैं—

(क) परंपरागत (traditional),
(ख) बौद्धिक एवं कानूनी (rational and legal) और
(ग) करिश्मात्मक (charismatic)।

(क) परंपरागत (Traditional)—परंपरागत सत्ता के अंतर्गत अधीनस्थ अपने अधिकारियों के आदेशों को इसलिए स्वीकार करते हैं कि हमेशा ऐसा होता आया है। यह सत्ता का परंपरागत स्वरूप है जिसके दर्शन राजतंत्रात्मक प्रणाली में होते हैं।

(ख) बौद्धिक एवं कानूनी (Rational and Legal)—बौद्धिक एवं कानूनी सत्ता के अंतर्गत अधीनस्थ किसी नियम या कानून को इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि वह औचित्यपूर्ण है। आधुनिक नौकरशाही के अंतर्गत सत्ता के इसी रूप के दर्शन होते हैं।

(ग) करिश्मात्मक (Charismatic)—जब अधीनस्थ अपने वरिष्ठ अधिकारी के आदेशों को इस आधार पर न्यायसंगत मानते हैं कि उन पर अधिकारी का व्यक्तिगत प्रभाव है, तब उस सत्ता को करिश्मात्मक सत्ता कहा जाता है। सत्ता के इस स्वरूप में कर्मचारी अपने अधिकारी के व्यक्तिगत सेवक हो जाते हैं।

सत्ता के कार्य (Functions of Authority)

सत्ता अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों को संपादित करती है। विभिन्न परिस्थितियों में उसके विभिन्न कार्य होते हैं। अपने वृहत अर्थ में सत्ता के निम्नलिखित पाँच कार्य होते हैं—

1. समन्वय (Co-ordination)—सत्ता विभिन्न विभागों की एकता के लिए उनमें समन्वय लाती है।

2. नियंत्रण (Control)—यह सत्ता की एक महत्त्वपूर्ण जिम्मेवारी है कि अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को अपने नियंत्रण में रखे। ऐसा करके ही वह सत्ता का सदुपयोग कर सकता है।

3. अनुशासन (Discipline)—सत्ता अपने अधीनस्थ कर्मचारियों में अनुशासन बनाए रखती है। इसके लिए सत्ता निष्पक्ष भाव से अपने अधीनस्थों की प्रशंसा और पदोन्नति करती है।

4. विकास (Development)—सत्ता अपने विभाग, क्षेत्र और देश के विकास के लिए भी विविध उपाय करती है। यदि सत्ता विकास-संबंधी कार्यों से मुँह मोड़ लेती है तो उसकी आलोचना होने लगती है।

5. निर्णय (Decision)—उपर्युक्त कार्यों के सफल संचालन के लिए सत्ता को हमेशा निर्णय लेने पड़ते हैं। सत्ता के निर्णय-संबंधी कार्यों को देखकर ही **हर्बर्ट साइमन** (Herbert Simon) ने 'विनिश्चय निर्माण-प्रक्रिया' (decision-making approach) पर बल दिया है।

सत्ता के आधार एवं सीमाएँ—सत्ता की अवधारणा यह बताती है कि राज्य-व्यवस्थाओं, संगठनों तथा संघों आदि में शक्ति को मनमाने, निरंकुश एवं निरुद्देश्य तरीके से परिचालित होने का अवसर नहीं दिया जा सकता। सत्ता का मूल आधार औचित्यपूर्णता है। फिर भी, सत्ता के परिचालन पर अनेक प्रतिबंध हैं, ताकि सत्ता का मनमाना प्रयोग न किया जा सके। यह प्रतिबंध आंतरिक, बाह्य, प्राकृतिक, उद्देश्यगत या प्रक्रिया-संबंधी हो सकते हैं। व्यवस्थाएँ संस्कृति, मूल्यों, परंपराओं, रूढ़ियों आदि नैतिक अवधारणाओं से बँधी रहती हैं। उन्हें सांविधानिक कारणों एवं राजनीतिक परिस्थितियों में रहकर कार्य करना पड़ता है। प्रत्येक व्यवस्था कुशल शासन के लिए अनेक नियम और उपनियम बना लेती है। उनके निश्चित उद्देश्य और लक्ष्य होते हैं। कार्य की सुगमता के लिए योजनाएँ एवं नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं। विभिन्न व्यवस्थाओं में प्रायः उनमें कार्य करनेवाले कर्मचारी अपने निजी हितों की वृद्धि के लिए संघ आदि बनाकर सामूहिक सौदेबाजी करते हैं। सत्ता का प्रयोग मनुष्यों द्वारा होता है और मनुष्य होने के नाते उनकी प्राणिशास्त्रीय सीमाएँ होती हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)—निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि सत्ता ने भी आधुनिक राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान हासिल कर लिया है। चूँकि सत्ता का संबंध प्रशासन और विनिश्चय-निर्माण

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(decision-making) से रहता है, इसलिए सत्ता को संतुलित और निष्पक्ष होना चाहिए। अपने अधीनस्थों में आज्ञाकारिता और अनुशासन बनाए रखनें की कला सत्ता का महत्त्वपूर्ण गुण है।

औचित्यपूर्णता
(Legitimacy)

'औचित्यपूर्णता' शब्द अँगरेजी भाषा के 'लेजिटिमेसी' (legitimacy) का हिंदी रूपांतर है। अँगरेजी के इस शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के *'legitimus'* से हुई, जिसका अर्थ वैधानिक या कानूनी होता है। **सिसरो** ने *'legimusm'* शब्द का प्रयोग कानून द्वारा गठित शक्तियों या न्यायाधीशों के लिए किया है। जहाँ तक 'औचित्यपूर्णता' के विकास का प्रश्न है, वैचारिक दृष्टि से इसका एक लंबा इतिहास है। **अरस्तू** ने 'औचित्यपूर्णता' का चित्रण विधिसम्मत शासन के रूप में किया है। आधुनिक युग में **मैक्स वेबर** ने औचित्यपूर्णता शब्द का प्रतिपादन पहली बार एक सार्वभौम धारणा के रूप में किया। **मैक्स वेबर** के अनुसार, ''औचित्यपूर्णता का आधार विश्वास होता है।''

औचित्यपूर्णता की अनुपस्थिति में सरकार के प्रति अविश्वास उत्पन्न होने लगता है। देश में विद्रोह और क्रांति होने लगती है और सत्तारूढ़ शासकों का तख्ता पलट दिया जाता है। इस प्रकार, यदि राज्य का व्यवस्था के सभी अंगों, कार्यों, नीतियों और अधिकारियों के प्रति नैतिक विश्वास हो जाता है तो इसको हम औचित्यपूर्णता कहते हैं। इसलिए औचित्यपूर्णता एक विशेष विचार-नियम है। इसके अभाव से शक्ति प्रभावहीन हो जाती है। किसी भी शक्ति के पीछे जन-समर्थन आवश्यक है। औचित्यपूर्णता का वस्त्र पहनाकर ही राजनेता अपने प्रभाव को सत्ता का रूप देता है। प्रजातंत्रात्मक शासन-व्यवस्था की सफलता के लिए औचित्यपूर्णता अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि प्रजातंत्र का आधार सहमति है। इस प्रकार का विश्वास राज्य-व्यवस्था की सभी संरचनाओं, क्रियाविधियों, कार्यों, निर्णयों, नीतियों, अधिकारियों, राजनेताओं आदि के प्रति प्राप्त होना चाहिए और इसी गुण को औचित्य या औचित्यपूर्णता कहा जाता है। इसमें यह जानना आवश्यक नहीं होता कि उनमें उनकी विषय-वस्तु आदि क्या है, अपितु औचित्यपूर्णता का गुण होना ही पर्याप्त है।[1] **डैल** का कहना है कि राजनेता-गण अपने कार्यों को औचित्यपूर्णता प्रदान करने का निरंतर प्रयास करते हैं।[2] वे अपने प्रभाव को औचित्यपूर्णता का वस्त्र पहनाते हैं और ऐसा हो जाने के बाद ही उन्हें सत्ता कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, वे अपने प्रभाव को सत्ता के रूप में स्थापित करना चाहते हैं, जो औचित्यपूर्णता के द्वारा ही संभव होता है।

औचित्यपूर्णता के स्त्रोत (Sources of Legitimacy)

मैक्स वेबर ने औचित्यपूर्णता के तीन स्त्रोत बताए हैं—

(क) परंपराएँ (traditions),
(ख) कानूनी-बौद्धिक सत्ता (legal-rational authority) और
(ग) राजनेताओं का व्यक्तिगत करिश्मा (personal charisma of statesmen)।

फ्रेडरिक ने औचित्यपूर्णता-संबंधी स्त्रोतों को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया है—

(क) धार्मिक (religious),
(ख) दार्शनिक और न्यायशास्त्र-संबंधी (philosophical and judicial),
(ग) क्रियाविधिक (procedural) और
(घ) परंपरागत (traditional)।

ग्रेस ए॰ जोन्स ने ब्रिटिश व्यवस्था के संदर्भ में औचित्यपूर्णता के निम्नलिखित स्त्रोत बताए हैं—

(क) राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं में भूतकालीन निरंतरता;
(ख) अहिंसा की परंपरा;
(ग) विभिन्न संकेत, प्रतीक एवं धार्मिक विधियाँ (rituals);

1. ROBERT A. DAHL: *Modern Political Analysis*, pp. 19-21
2. *Ibid.*

WWW.GRADESETTER.COM

(घ) वर्तमान राजनीतिक क्रिया-विधियों की प्रामाणिकता व अंतर्निहित मूल्यों में विश्वास;
(ङ) निर्वाचन-प्रक्रिया, स्वतंत्रता एवं मतैक्य;
(च) सामंजस्यपूर्ण तथा एकीकृत समाज और उसकी परंपराओं की निरंतरता;
(छ) अनुकूलतापरक राजनीतिक संस्कृति।

औचित्यपूर्णता का वर्गीकरण (Classification of Legitimacy)

विभिन्न प्रकार के शासकीय औचित्यपूर्णताओं को **डॉल्फ स्टर्नबर्जर** (Dolf Sternberger) ने दो भागों में विभाजित किया है—

(क) दैवी औचित्यपूर्णता (Nomistic legitimacy)—यह प्राचीन मिस्र में सम्राटों के देवतुल्य होने, ईसाई-जगत में ईसा के ईश्वरपुत्र होने आदि में देखने को मिलती है।

(ख) नागरिक औचित्यपूर्णता (Civil legitimacy) —जब सामान्य हित के लिए विभिन्न स्वायत्तशासियों के मध्य सहयोग के लिए समझौता होता है तब उसे हम नागरिक औचित्यपूर्णता कहते हैं; जैसे—मध्यकाल का आर्थिक संघ तथा आधुनिक सांविधानिक व्यवस्थाएँ।

मैक्स वेबर के अनुसार औचित्यपूर्णता के तीन प्रकार हैं—(क) परंपरागत, (ख) बौद्धिक एवं कानूनी, (ग) करिश्मात्मक। इन तीनों का विस्तृत विवरण पहले दिया जा चुका है।

रॉबर्ट ए॰ डैल के अनुसार औचित्यपूर्णता के दो—(क) उच्चस्तरीय और (ख) दुर्बलरूप होते हैं। वह उच्चस्तरीय औचित्यपूर्णता रखनेवाली सरकारों को एक वर्ग में रखता है और उसे औचित्यपूर्ण व्यवस्थाएँ कहता है। दूसरे वर्ग में वह दुर्बल औचित्यपूर्णता वाली सरकारों को रखता है जो अपने स्वरूप में अत्याचार-तंत्र के प्रतीक हैं।

अवधारणा का विकास—औचित्यपूर्णता के विचार का एक लम्बा इतिहास है। प्लेटो ने न्यायभावना के अंतर्गत इसके तत्त्वों का बीजारोपण कर दिया था। उसके अनुसार, प्रत्येक शासन का बुद्धिपूर्ण आधार होना चाहिए, जिसकी जड़ें नैतिक मूल्यों, दीर्घकालीन विश्वासों और सामान्य स्वीकृति की गहराई में गई हुई हों। अरस्तू ने कानून-सम्मत शासन या सांविधानिक शासन के रूप में इस अवधारणा को चित्रित किया है। अरस्तू से तर्क ग्रहण करते हुए **मार्सिलियो ऑफ पेडुआ** ने इस शब्द के धर्मशास्त्रीय विवेचन के स्थान पर उसकी सांविधानिक व्याख्या की। लॉक ने सहमति एवं समझौते के माध्यम से इस विचार का समर्थन किया। आधुनिक युग में एक सार्वभौमिक धारणा के रूप में इसका पहली बार प्रतिपादन **मैक्स वेबर** द्वारा किया गया। उसके अनुसार औचित्यपूर्णता विश्वास पर आधारित है और अनुपालन प्राप्त करती है। **कार्ल श्मिट** (Carl Schmitt) ने जनतंत्रात्मक औचित्यपूर्णता की समस्या पर विचार किया है। **गुग्लीमो फेरो** (Gugleimo Ferro) ने जनतंत्रात्मक औचित्यपूर्णता के दो आधार—1. बहुमत तथा 2. अल्पसंख्यक-विरोधी दल बताए हैं।

औचित्यपूर्णता एवं राजनीतिक दायित्व (Legitimacy and Political Liability)

औचित्यपूर्णता के कारण ही देश के नागरिक राज्य-व्यवस्था और संगठनों में विश्वास करते हैं। इसलिए यह शासकवर्ग की जिम्मेवारी हो जाती है कि वह 'औचित्य' की सीमाओं में रहकर ही काम करे जिससे उसके प्रति जनता का विश्वास बना रहे। अतएव, औचित्यपूर्णता की दृष्टि से शासन के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण दायित्व हैं—

(क) प्रगतिशील लक्ष्यों, मूल्यों एवं उद्देश्यों को जन-सहमति से निर्धारित करना।
(ख) सीमित, स्वीकृत एवं समय-समय पर शक्ति एवं सत्ता के प्रयोग का अनुमोदन प्राप्त करना।
(ग) वयस्क मताधिकार, स्वतंत्र तथा निष्पक्ष संचार-साधन और नागरिक शासन की स्थापना को बनाए रखना।
(घ) प्रजातंत्रात्मक शासन-व्यवस्था के अंतर्गत नौकरशाही, सेना तथा प्रशासकीय संघों को पूर्णतः राजनीतिक सत्ता के अधीन रखना।
(ङ) नागरिकों के न्यूनतम मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए स्वतंत्र तथा निष्पक्ष न्यायपालिका की व्यवस्था करना।
(च) सत्ता को विकेन्द्रित करना।
(छ) सुरक्षा और न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति तथा लोक-कल्याण आदि योजनाओं को कार्यान्वित करना।

WWW.GRADESETTER.COM

औचित्यपूर्णता की उपयोगिता—व्यवस्थाएँ अपने लक्ष्यों एवं प्रयोजनों की पूर्ति के लिए कुछ मानक निर्धारित कर लेती हैं और इन्हें कार्यरूप में परिणत करने के लिए कुछ नियम-उपनियम आदि बनाए जाते हैं। व्यवस्था के पीछे निहित शक्ति के दुर्बल हो जाने पर, या निरंतर प्रयोग न किए जाने पर, वह अपनी बुद्धि, मन या स्वार्थ के अनुसार कार्य करने लगता है, न कि निर्धारित मानकों एवं नियम-उपनियम के अनुसार। यदि वह व्यवस्था द्वारा निर्धारित मानकों में विश्वास रखता है तो वह स्वाभाविक रूप से सहभाग और सहयोग की भावना का प्रदर्शन करेगा। यही भावना औचित्यपूर्णता है। औचित्यपूर्णता ही प्रभाव को सत्ता के रूप में रूपान्तरित करती है। औचित्यपूर्णता-प्राप्त सत्ता एवं प्रभाव को शक्ति या राजनीतिक साधनों का अधिक व्यय नहीं करना पड़ता। विकासशील देशों के संदर्भ में देखा जाए तो ज्ञात होता है कि राजनीतिक साधन पहले से ही थोड़े होते हैं। प्रजातंत्र तो औचित्यपूर्णता के आधार पर ही अवस्थित होता है, अतः प्रजातंत्र में यह प्राणस्वरूप होता है।

निष्कर्ष (Conclusion)—औचित्यपूर्णता-संबंधी उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण के पश्चात यह स्पष्ट है कि किसी भी शासन-व्यवस्था के शुद्धिकरण के लिए औचित्यपूर्णता आवश्यक है, अर्थात जबतक उस शासन-व्यवस्था के प्रति जन-समुदाय का विश्वास नहीं बन जाता तबतक वह शासन-व्यवस्था सफल नहीं हो सकती। इसी कारण यह सुझाव दिया जाता है कि शासकवर्ग का राजनीतिक दायित्व हो कि वह कभी अपने 'औचित्य' की सीमाओं को पार न करे जिसके कारण जनता को क्रांति और विद्रोह का आश्रय लेना पड़े।

राजनीतिक संस्कृति
(Political Culture)

विषय-प्रवेश (Introduction)—राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा ने आधुनिक राजनीति-विज्ञान को एक नया रूप प्रदान किया है। राजनीतिक विकास के सामाजिक पहलू का यह एक आवश्यक अंग हो गया है। राजनीतिक पद्धति के रूपात्मक अध्ययन (morphological study) के लिए यही धारणा आज अनिवार्य हो गई है। प्रत्येक संस्कृति में व्यक्ति के व्यवहार के तरीके, उसकी मान्यताओं, विश्वासों, सम्मान, घृणा, कर्तव्य, अंतरात्मा, भौतिक उन्नति इत्यादि को शामिल किया जाता है। ये सारे तथ्य राजनीतिक क्षेत्र में अपना स्थान रखते हैं और राजनीतिक संस्कृति का निर्माण करते हैं। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की सम्यक जानकारी बिना उसकी राजनीतिक संस्कृति के समझ में नहीं आ सकती। प्रत्येक व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार पर उसके सांस्कृतिक व्यवहार का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इसलिए आधुनिक विचारकों ने राजनीतिक व्यवस्था को जानने के लिए 'राजनीतिक संस्कृति' नामक धारणा का सहारा लिया है।

अर्थ एवं व्याख्या (Meaning and Explanation)—राजनीतिक संस्कृति की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से की गई है—

ए॰ आर॰ बाल (A. R. Ball)—"राजनीतिक संस्कृति उन मनोवृत्तियों, विश्वासों, मनोभावों और मूल्यों का संकलन है जिनका संबंध राजनीतिक व्यवस्था और राजनीतिक समस्या से है।"[1]

आमंड और **पॉवेल** (Almond and Powell)—"यह किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के सदस्यों में राजनीति के प्रति पाई जानेवाली व्यक्तिगत मनोवृत्तियों और अभिमुखीकरण का स्वरूप है।"[2]

लूसियन डब्ल्यू॰ पाई (Lucian W. Pye)—"यह उन मनोवृत्तियों, विश्वासों और मनोभावों का संकलन है, जो किसी राजनीतिक पद्धति को व्यवस्थित करता है तथा अर्थ प्रदान करता है और जो राजनीतिक व्यवस्था में व्यवहार को संचालित करनेवाली मान्यताएँ और नियम प्रदान करता है।"[3]

---

1. A. Political Culture "is composed of the attitudes, beliefs, emotions and values of societies to the political system and to the political issues."
—A. R. Ball : *Modern Politics and Government* (London MacMillan, 1971), p. 56

2. "It is defined as the pattern of individual attitudes and orientations towards politics against the principles of political system."
—G. A. Almond and Powell : *Comparative Politics : A Development Approach* (Boston, Little Brown, 1966) p. 50

3. "It is said all attitudes, beliefs and sentiments that give order and meaning to a political process and that provides underlined assumptions and rules that govern behaviour in the political system."
—Lucian W. Pye : *Aspects of Political Development* (Boston, Little Brown), p. 104

WWW.GRADESETTER.COM

उल्लिखित तथ्यों से यह स्पष्ट है कि किसी भी समाज के लोगों में एक सामान्य मानव-स्वभाव पाया जाता है। उदाहरण के लिए, मनोभाव, बौद्धिक क्षमता और नैतिक दृष्टिकोण प्रायः एकसमान होते हैं। यह सामान्य मानव-स्वभाव कुछ मूल्यों, विश्वासों और मनोभावों के रूप में अपने को अवगत कराते हैं। ये मूल्य, विश्वास और मनोभाव पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहते हैं, उनमें केवल थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता रहता है। उसे ही साधारण शब्दों में हम समाज की सामान्य संस्कृति कहते हैं। इस सामान्य संस्कृति के कुछ पहलू केवल सरकार की संरचना और उसके उद्देश्य से संबद्ध रहते हैं। संस्कृति के इसी भाग को हम राजनीतिक संस्कृति कहते हैं। उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'राजनीतिक संस्कृति' एक व्यक्तिपरक विषय है जो राजनीतिक क्रियाओं को सार्थकता प्रदान करता है।

संस्कृति और राजनीतिक संस्कृति का दृष्टिकोण (Outlook of Culture and Political Culture)

राजनीतिक संस्कृति का अर्थ जानने के लिए सामान्य संस्कृति से उसका अंतर जानना आवश्यक है। राजनीतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। सामान्य संस्कृति अपने मूल्यों और विश्वासों से राजनीतिक संस्कृति को प्रभावित करती है। सामान्य संस्कृति के अंतर्गत मानव के सभी दृष्टिकोण उसके राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित नहीं करते, केवल उसके व्यक्तिगत मूल्य, विश्वास और मनोवृत्ति ही इस अर्थ में संगत हैं। अतएव, राजनीतिक संस्कृति का अध्ययन करते समय हमें राजनीति से संबद्ध अन्य तत्त्वों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। अंत में, हम कह सकते हैं कि सामान्य संस्कृति और राजनीतिक संस्कृति में घनिष्ठ संबंध है, फिर भी हम दोनों को पूर्णतः एक नहीं कह सकते हैं।

जहाँ तक राजनीतिक संस्कृति के दृष्टिकोण का प्रश्न है, **सिडनी वरबा** ने लिखा है कि आधुनिक शताब्दी में राजनीतिक जगत और राजनीति का अध्ययन-क्षेत्र, दोनों में ही तीव्र परिवर्तन हुए हैं। नए राष्ट्र पैदा हुए हैं, पुरानों में परिवर्तन हुआ है और ऐसी विभिन्न समस्याएँ उठी हैं जो राजनीतिज्ञों और वर्तमान संस्थाओं की क्षमता को एक चुनौती है। आज नए राष्ट्रों को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, वे समस्याएँ अन्य राष्ट्रों में अतीत में उत्पन्न हो चुकी होंगी और उनका न्यायसंगत समाधान भी हो गया होगा। इन समस्याओं और ऐसी ही अन्य समस्याओं पर विचार करने के लिए आज 'राजनीतिक संस्कृति' नामक दृष्टिकोण का प्रयोग होता है। राजनीतिक संस्कृति राजनीति को व्यक्तिनिष्ठ अभिमुखन (subjective orientation) प्रदान करती है। इसी दृष्टिकोण के सहारे आज राजनीतिक व्यवस्थाओं की व्याख्या की जा रही है। आज इस दृष्टिकोण पर विशेष बल इसलिए दिया जा रहा है कि किसी भी समाज की राजनीतिक संस्कृति वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसकी जानकारी के बिना उसे व्यवस्था का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव, राजनीतिक संस्कृति का दृष्टिकोण एक साधारण दृष्टिकोण नहीं है। राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन में मात्र यह कह देने से काम नहीं चलता कि राजनीतिक संस्कृति महत्त्वपूर्ण है। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह बताना है कि राजनीतिक संस्कृति के कौन-से पहलू किस घटना के निर्धारक हैं। यहाँ हम **ल्यूसियन डब्ल्यू० पाई** और **सिडनी वरबा** को ले सकते हैं जिन्होंने जापान, इंगलैंड, टर्की, भारत, सोवियत संघ आदि देशों के राजनीतिक परिवर्तन के साथ सांस्कृतिक पहलू को जोड़ा है। राजनीतिक संस्कृति के निम्नलिखित विशिष्ट पहलू हैं—

(क) राजनीति के अध्ययन के अधिकांश दृष्टिकोण राजनीतिक अंतःक्रियाओं और राजनीतिक संस्थाओं के प्रतिरूपों से संबद्ध हैं, जबकि राजनीतिक संस्कृति इन प्रतिरूपों के संबंध में विश्वासों की व्यवस्था करती है।

(ख) राजनीतिक संस्कृति राजनीतिक घटनाओं तथा उन घटनाओं की प्रतिक्रियाओं में लोगों के व्यवहार के बीच महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में काम करती है।

(ग) राजनीतिक संस्कृति नियंत्रण की व्यवस्था बनाम राजनीतिक अंतःक्रिया की व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करती है। यह इस बात को नियमित करती है कि किसने किससे बात की है और किसने किसको कितना प्रभावित किया है।

राजनीतिक संस्कृति के आयाम (Dimensions of Political Culture)

सिडनी वरबा ने राजनीतिक संस्कृति के निम्नलिखित आयामों तथा क्षेत्रों की विवेचना की है—

(i) राष्ट्रीय एकरूपता (National identity),
(ii) अपने साथी नागरिकों में एकरूपता (Identification with one's fellow citizens),
(iii) सरकारी दृष्टिकोण (Government outlook) एवं
(iv) निर्णयीकरण की प्रक्रिया (Process of decision-making)।

WWW.GRADESETTER.COM

राजनीतिक संस्कृति के रूप (Patterns of Political Culture)

आमंड और **वरबा** ने राजनीतिक संस्कृति के निम्नलिखित तीन रूपों का वर्णन किया है—

(i) संकीर्ण संस्कृति (Parochical culture),
(ii) प्रचारमूलक संस्कृति (Subjective culture) और
(iii) सहभागी संस्कृति (Participant culture)।

संकीर्ण राजनीतिक संस्कृति में शासितों की शासन में कोई अभिरुचि नहीं होती। वे राजनीतिक व्यवस्था के **निवेश** एवं **निर्गम** दोनों प्रकार के कार्यों के प्रति उदासीन रहते हैं। प्रचारमूलक राजनीतिक संस्कृति में शासित शासन की निवेश-प्रक्रिया में कोई योगदान नहीं देते, वे केवल निर्गतों की ओर ही सजग होते हैं। जहाँ तक सहभागी राजनीतिक संस्कृति का प्रश्न है, यह आधुनिक प्रजातंत्र का ही एक रूप है। प्रजातंत्र की भाँति इसमें शासक तथा शासित में कोई भेद नहीं होता। इसमें जनता **निवेश** और **निर्गत** (output and input) दोनों ही प्रकार की प्रक्रियाओं में सक्रिय भाग लेती है।

निष्कर्ष (Conclusion)—आज राजनीतिक संस्कृति दृष्टिकोण काफी उपयोगी प्रमाणित हुआ है। राजनीतिक संस्कृति मनुष्य के मनोभावों, मनोवृत्तियों और व्यक्तियों के ऊपर, चूँकि ध्यान देती है, इसलिए इसकी काफी उपयोगिता है। इसका महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि राजनीतिक संस्कृति की व्याख्या के आधार पर हम राजनीतिक मनोवृत्तियों और राजनीतिक संरचनाओं के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन कर राजनीतिक व्यवस्था में उपलब्ध असंतुलन के मुख्य कारणों को खोजने में सफल होते हैं। यह राजनीति का नवीनतम दृष्टिकोण है। यह राजनीतिक विकास के मनोवैज्ञानिक पक्ष की कार्यकारी रूप में व्याख्या करने में समर्थ सिद्ध हुआ है।[1]

प्रश्नावली

1. शक्ति की परिभाषा दें तथा आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण में उसके महत्त्व पर प्रकाश डालें।
   (Define power and explain its importance in modern political analysis.)
2. शक्ति के विभिन्न रूपों को स्पष्ट करें। शक्ति-प्राप्ति के विभिन्न उत्प्रेरक तत्त्व कौन-से हैं ?
   (Point out the different kinds of power. What are inspiring elements for power-seeking ?)
3. शक्ति-अवधारणा पर एक संक्षिप्त लेख लिखें।
   (Write a short essay on Power-concept.)
4. प्रभाव की परिभाषा दें और आधुनिक पद्धतियों के अंतर्गत इसका महत्त्व बताएँ।
   (Define influence and point out its importance in modern systems.)
5. शक्ति और प्रभाव के संबंधों को स्पष्ट करें।
   (Point out the relationship betwecn power and influence.)
6. औचित्यपूर्णता पर एक निबंध लिखें।
   (Write an essay on legitimacy.)
7. राजनीतिक संस्कृति से आप क्या समझते हैं ? राजनीतिक संस्कृति के कार्यों एवं उद्देश्यों को स्पष्ट करें।
   (What do you mean by political culture? Point out its objectives and functions.)
8. शक्ति, सत्ता तथा औचित्यपूर्णता के संबंध पर एक संक्षिप्त निबंध लिखें।
   (Write a brief essay on the relations among power, authority and legitimacy.)

□ □ □

1. "It can be used to specify in operational term the psychological aspect to political development."
—STEPHEN L. WASBY, *Political Science: The Discipline and its Dimension*, p. 512

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 27

व्यक्तिवाद

[INDIVIDUALISM]

अत्यधिक शासन व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का पूरा विकास नहीं होने देता, क्योंकि उसके चलते व्यक्ति अपनी इच्छा और विवेक के अनुसार कार्य नहीं कर सकता।—जे० एस० मिल

विषय-प्रवेश (Introduction)

राज्य के कार्यक्षेत्र-संबंधी सिद्धांतों में व्यक्तिवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यक्तिवादी विद्वानों के अनुसार, "राज्य एक अनिवार्य अभिशाप है" (State is a necessary evil)। वे चाहते हैं कि राज्य का कार्यक्षेत्र कम-से-कम हो और व्यक्ति को अधिकतम स्वतंत्रता प्राप्त हो। **फ्रीमैन** (Freeman) के अनुसार, "सबसे अच्छी सरकार वह है जो सबसे कम शासन करती हो।"[1] **स्पेन्सर** के अनुसार, "राज्य की सत्ता इसलिए आवश्यक है कि समाज में अपराध की भावना विद्यमान है, अतः राज्य का प्रमुख कर्तव्य रक्षा करना तथा मर्यादित करना है, न कि पोषण करना और समुन्नत करना।"[2]

व्यक्तिवाद का विकास—ऐतिहासिक दृष्टि से व्यक्तिवादी विचारधारा 19वीं शताब्दी की देन है, यद्यपि इसके पूर्ण-विकसित रूप की दृष्टि से इसे 19वीं शताब्दी की विचारधारा भी कहा जा सकता है। इस सिद्धांत की मान्यता है कि विश्व-इतिहास में 18वीं शताब्दी का अपना एक विशेष स्थान है। यदि हम अतिप्राचीन काल के पृष्ठों को उलटें तो सोफिस्ट व्यक्ति को स्वभावतः स्वार्थी और असामाजिक मानते थे, जिसके ऊपर राज्य का अंकुश अस्थिर है। ग्रीक लोग राज्य को एक नैतिक पुरुष भी मानते थे और कहते थे कि व्यक्ति राज्य का अभिन्न अंग है। उनकी मान्यता थी कि राज्य जो कुछ भी करता है वह व्यक्ति की भलाई के लिए करता है। मध्ययुग की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ व्यक्तिवादी सिद्धांत के अनुरूप नहीं रहीं। **हॉब्स** तथा **रूसो**-जैसे दार्शनिकों ने राज्य की सर्वोच्चता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमी यूरोप में औद्योगिक क्रांति हुई और व्यक्ति का स्थान स्वचालित कारखानों ने ले लिया। परोक्ष रूप में औद्योगिक क्रांति ने व्यक्ति की स्वतंत्रता और राज्य की अहस्तक्षेप-नीति का समर्थन किया। **जॉन स्टुवर्ट मिल, एडम स्मिथ, हर्बर्ट स्पेन्सर** सरीखे विचारकों का समर्थन पाकर यही विचारधारा व्यक्तिवादी विचारधारा के नाम से जानी गई।

व्यक्तिवाद की व्याख्या (Explanation of Individualism)

व्यक्तिवाद के अनुसार व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन, परंतु कोई श्रेष्ठ साधन नहीं है। राज्य एक आवश्यक बुराई है। व्यक्तिवादी सिद्धांत के अनुसार समाज व्यक्तियों का समूह है और व्यक्तियों के बिना समाज का अस्तित्व पूर्णतः निराधार है। समाज का निर्माण व्यक्तियों ने अपने अधिकारों के पूर्ण उपभोग के उद्देश्य से किया है, अर्थात समाज व्यक्ति से उच्च नहीं है। समाज साधनमात्र है और व्यक्ति साध्य। इसलिए राज्य का कर्तव्य है कि व्यक्ति के जीवन में न्यूनतम हस्तक्षेप करे।

व्यक्तिवादी सिद्धांत 'छेड़ो मत' सिद्धांत पर आधारित है। 'लेसेज-फेयर' *(laissez-faire)* फ्रेंच भाषा का शब्द है जिसका अर्थ 'अकेले रहने दो' होता है, अर्थात व्यक्ति ही अपने हित की बात अच्छी तरह समझ

1. "That government is the best which governs the least."—FREEMAN
2. "State exists merely because crime exists and its principal function, therefore, is to protect and restrain not to foster and promote."—SPENCER

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

सकता है। इसलिए व्यक्ति को अपने हित के कार्यों में पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए और राज्य को उसके कार्यों में न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिए। **वाहन** के विचारानुसार, "राज्य के काम केवल पुलिस-राज्य का काम होना चाहिए।" **हम्बोल्ड** (Humbold) के अनुसार, "राज्य को नागरिकों के कल्याण की समस्त चिंताओं से दूर रहना चाहिए।" आधुनिक व्यक्तिवादी सिद्धांत का प्रतिपादन यूरोप में 18वीं शताब्दी के अंतिम चरण में औद्योगिक क्रांति के बाद हुआ। बेन्थम, जॉन स्टुअर्ट मिल, हरबर्ट स्पेंसर तथा एडम स्मिथ इसके प्रमुख समर्थक बने।

व्यक्तिवादी सिद्धांत के आधार (Basis of Individualism)

व्यक्तिवादी सिद्धांत मुख्यतः निम्नलिखित पाँच धारणाओं पर आधारित हैं—

व्यक्तिवादी सिद्धांत के आधार

नैतिक आधार | आर्थिक आधार | वैज्ञानिक आधार | प्रयोगात्मक आधार | अनुभव का आधार

1. नैतिक आधार (Ethical basis)—**जॉन स्टुअर्ट मिल, काण्ट, हम्बोल्ट** तथा **ह्यूम** ने नैतिक आधार पर व्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया है और बताया है कि व्यक्ति अपने जीवन का लक्ष्य तभी प्राप्त कर सकता है जब राज्य का न्यूनतम हस्तक्षेप हो। इन लोगों का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग व्यक्तित्व होता है। अतएव, राज्य का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर प्रदान करे।

2. आर्थिक आधार (Economic basis)—**एडम स्मिथ** ने आर्थिक आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन किया है। उसने बतलाया है कि स्वतंत्रता के वातावरण में ही आर्थिक प्रगति संभव है। स्वतंत्र प्रतियोगिता के वातावरण में ही व्यापार और व्यवसाय विकसित होते हैं। उसके विचारानुसार, आर्थिक क्षेत्र में भी कुछ प्राकृतिक नियम कार्य करते रहते हैं। वस्तुओं का मूल्य माँग तथा पूर्ति के नियम के अनुसार निश्चित होता है। मनुष्य स्वयं अपना आर्थिक स्वार्थ समझता है, इसलिए राज्य को मनुष्य के आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

3. वैज्ञानिक आधार (Scientific basis)—वैज्ञानिक आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन हरबर्ट स्पेन्सर ने किया है। उसके अनुसार विज्ञान का यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि जीवन के हर क्षेत्र में संघर्ष होता रहता है जिसमें शक्तिशाली जीवित रहते हैं और कमजोर तथा दुर्बलों का नाश हो जाता है; जैसे—जंगल में दुर्बल पेड़ निष्प्राण होकर सूख जाता है। और मजबूत तथा शक्तिशाली पेड़ फैलते रहते हैं। इसलिए योग्य व्यक्तियों को ही समाज में रहने का अधिकार है। सरकार के कार्यक्षेत्र को सीमित करते हुए **स्पेन्सर** कहता है, "सरकार को गरीबी और गन्दे मकानों को अकेले छोड़ देना चाहिए जिससे दुर्बल वर्ग शीघ्र नष्ट हो जाए।" इससे अयोग्य तथा बेकार मनुष्यों का नाश होगा और एक बलवान, शक्तिशाली और प्रगतिशील राष्ट्र की स्थापना होगी।

4. प्रयोगात्मक आधार (Experimental basis)—व्यक्तिवादियों ने इतिहास द्वारा प्राप्त अनुभव और प्रयोग के आधार पर ही इस सिद्धांत का समर्थन किया है। उनका कहना है कि राज्य समाज-कल्याण के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। अपने हितों के संबंध में सर्वोत्तम निर्णय मनुष्य ही कर सकता है। इसके अलावा, राज्य सभी कार्यों का संचालन सफलतापूर्वक नहीं कर सकता। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में फेफड़े (lungs) आमाशय का काम नहीं कर सकते, उसी प्रकार राज्य व्यापार-संयोजन तथा उद्योग-प्रबंधक का कार्य नहीं कर सकता। राज्य एक राजनीतिक संगठन है इसलिए व्यवसाय का प्रबंध उचित रूप से करने में वह सर्वथा अयोग्य है। इन तथ्यों की जानकारी राजनीतिक घटनाओं में हो रहे प्रयोगों से होती है।

5. अनुभव का आधार (Experience basis)—व्यक्तिवादियों ने इतिहास द्वारा प्राप्त अनुभव के आधार पर भी इस सिद्धांत का समर्थन करते हुए कहा है कि जब कभी राज्य ने सामाजिक या आर्थिक जीवन को नियंत्रित और नियमित करने का प्रयत्न किया है, वह अपने प्रयत्नों में बुरी तरह असफल रहा। राज्य की सहायता, निषेध एवं संरक्षण विनाशकारी ही सिद्ध हुए। इंगलैंड में नौ-परिवहन एवं अन्य कानून और भारत में राशनिंग-व्यवस्था इस असफलता के ज्वलंत उदाहरण हैं। **बर्क** का कहना है, "शासनाधिकारी यह भूल करते आए हैं, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि उनके हस्तक्षेप के बिना कोई व्यापार समृद्ध नहीं हो सकता।"

व्यक्तिवाद की आलोचनाएँ (Criticisms of Individualism)

अग्रलिखित प्रमुख आधारों पर व्यक्तिवाद की आलोचना की गई है—

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. वर्ग-विभाजन के लिए जिम्मेवार—व्यक्तिवाद, चूँकि पूँजीवाद के प्रारंभिक काल की उपज है, यह वर्ग-विभाजन को प्रोत्साहित करता है। इसने मानव को मानव द्वारा शोषण सिखाया और पूँजीपतियों द्वारा गरीबों पर किए गए अत्याचारों का समर्थन किया। विश्व में दमन तथा अत्याचार के वातावरण को बढ़ाया।

2. भ्रांत धारणा पर आधारित—यह सिद्धांत इस धारणा पर आधारित है कि राज्य साधन है और व्यक्ति साध्य तथा दोनों का अलग-अलग अस्तित्व है। यह एक भ्रांत धारणा है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसका हित समाज तथा राज्य के हित में ही निहित है, इसलिए राज्य और व्यक्ति में भेदभाव करना भूल है।

3. राज्य को अनिवार्य अभिशाप मानना गलत—व्यक्तिवाद राज्य को अनिवार्य अभिशाप मानता है; लेकिन यह धारणा गलत है, क्योंकि राज्य का अस्तित्व समाज-विरोधी तत्त्वों के विरुद्ध सत्ता के प्रयोग के लिए नहीं है, वरन जीवन को सुखी बनाने के लिए है।

4. राज्य के उद्देश्यों का उचित स्पष्टीकरण नहीं—**हरबर्ट स्पेन्सर** ने बताया है कि राज्य का अस्तित्व केवल अपराधों के दमन के लिए है और जिस समाज में अपराध न हों, उसमें राज्य की आवश्यकता नहीं है। यह धारणा निराधार है, क्योंकि अपराधों के दमन के अतिरिक्त राज्य के और अन्य उच्च उद्देश्य तथा कार्य—रक्षा, प्रोत्साहन आदि—भी होते हैं।

5. स्वतंत्रता का उचित अर्थ नहीं—व्यक्तिवादियों का विश्वास है कि जैसे-जैसे राज्य के कार्यों में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता कम होती जाती है। उनकी दृष्टि में प्रशासकीय नियंत्रण द्वारा मनुष्य का व्यक्तित्व दुर्बल हो जाता है। लेकिन, उनका यह तर्क सारहीन है, क्योंकि स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ हस्तक्षेप का अभाव नहीं, वरन इच्छित तथा हितकर कार्यों को करने की इच्छा है।

6. आधारहीन तर्क—व्यक्तिवाद निराधार तर्क पर आधारित है। यह दावा गलत है कि व्यक्ति स्वयं अपना हित सबसे अधिक समझ सकता है और उसकी उचित रक्षा भी कर सकता है। अनुभव बताता है कि समाज के सभी मनुष्य समान रूप से बुद्धिमान नहीं होते।

7. विकास का मनमाना अर्थ—व्यक्तिवाद विकासवादी सिद्धांत का प्रतिपादन करता है और बताता है कि प्रकृति का नियम है कि संग्राम में केवल योग्यतम व्यक्ति ही सफल होते हैं और कमजोर विनष्ट हो जाते हैं। यहाँ व्यक्तिवाद हमें यह नहीं बताता है कि समाज में कौन व्यक्ति योग्यतम है। योग्यता की क्या कसौटी होगी—इस संबंध में वह मौन है।

8. आर्थिक दृष्टि से गलत—आर्थिक दृष्टि से व्यक्तिवादी सिद्धांत दोषपूर्ण है। व्यक्तिवाद पूर्ण स्वतंत्रता और हस्तक्षेप न करने की नीति का प्रतिपादन करता है जो पूँजीवादी व्यवस्था तथा वर्ग-विभाजन की उत्पत्ति का कारण है।

9. संकटकाल के लिए अनुपयोगी—संकटकाल में राज्य की आवश्यकता होती है। राज्य ही व्यक्तियों की संकट में रक्षा कर सकता है, इसलिए व्यक्तियों का यह कहना कि राज्य अनावश्यक है—उपयुक्त नहीं लगता।

10. प्रकृति का गलत चित्रण—व्यक्तिवाद प्रकृति का गलत चित्रण करता है। यह मनुष्य को मौलिक रूप में स्वार्थी मानता है लेकिन यह कहना गलत है, क्योंकि मनुष्य में स्वार्थ और परमार्थ—दोनों भावनाएँ साथ-साथ काम करती हैं।

11. नैतिक दृष्टि से गलत—आलोचकों ने नैतिक दृष्टि से व्यक्तिवाद को अपूर्ण बताया है। **लॉस्की** के शब्दों में, "व्यक्तिवाद का अर्थ है—क्षीण स्वास्थ्य, अविकसित मस्तिष्क, शोचनीय निवास-स्थान और ऐसा काम जिसमें अधिकांश व्यक्तियों की कोई रुचि न हो।"

12. गिलक्राइस्ट के अनुसार—**गिलक्राइस्ट** ने बताया कि आज लोकतंत्र की उन्नति के कारण व्यक्तिवाद की आवश्यकता लगभग समाप्त हो गई है।

13. हिंसा को प्रोत्साहन—व्यक्तिवाद हिंसा को प्रोत्साहित करता है और गरीबों को समाप्त करने का षड्यंत्र करता है।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि व्यक्तिवाद में अनेक दोष हैं, क्योंकि यह राज्य को अनावश्यक घोषित करके समाज-विरोधी कार्य करता है। यदि व्यक्तिवाद को हम स्वीकार करते हैं तो समाज में शक्ति नहीं रह सकती। इसलिए **लॉस्की** ने कहा है, "व्यक्तिवाद का परिणाम होगा—कमजोर

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

स्वास्थ्य, कमजोर बुद्धि, दरिद्र घर और अधिकांश जनता के लिए अप्रिय कार्य।"[1] ऐसी स्थिति में हम व्यक्तिवाद का समर्थन नहीं कर सकते।

आधुनिक व्यक्तिवाद
(Modern Individualism)

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति का प्रभाव घटने लगा । व्यक्ति के विरुद्ध उस समय तक प्रतिक्रिया पूर्णतया प्रकट हो गई थी। उसका स्थान आदर्शवादी सिद्धांत और समष्टिवाद ने लेना प्रारंभ कर दिया था। **सी० ई० एम० जोड** ने लिखा है, "व्यक्तिवाद या इसकी स्वतंत्रता के सिद्धांत को, जो राजनीति में बहुत मूल्यवान है, जब आर्थिक क्षेत्र में लगाया गया, तो अत्यधिक विनाशकारी सिद्ध हुआ। इस सिद्धांत के ह्रास का कारण उसका भ्रामक सिद्धांतों पर आधारित होना था। ये भ्रामक सिद्धांत निम्नलिखित तीन थे—

1. हर व्यक्ति समान रूप से दूरदर्शी है।
2. हर व्यक्ति में इच्छित वस्तु प्राप्त करने की शक्ति है और उसे चयन की स्वतंत्रता है।
3. प्रत्येक व्यक्ति की इच्छाओं की संतुष्टि और संपूर्ण समाज के कल्याण में समरूपता है।

आदर्शवाद तथा समाजवाद ने व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया है जो उसकी स्वतंत्रता के लिए घातक सिद्ध हुआ। परिणामस्वरूप, इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और व्यक्तिवाद नए रूप में पुनर्जीवित हो उठा। इसे ही आधुनिक व्यक्तिवाद कहा गया। **जोड** ने लिखा है, "व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया ने एक और प्रतिक्रिया पैदा की। पहिए ने पूरा चक्र लिया है और वर्तमान राज्य से उत्पन्न असंतुष्टि ने व्यक्तिवादी विचारधारा को पुनर्जीवित करने में सहायता पहुँचाई है। यदि यह स्वरूप में नहीं है तो आत्मा में 19वीं शताब्दी के व्यक्तिवाद से अवश्य मिलती-जुलती है।"[2]

आधुनिक व्यक्तिवाद के विकास के उत्तरदायी कारण

आधुनिक व्यक्तिवाद के विकास के निम्नलिखित कारण हैं—

1. समुदायों की मानव-समाज में वृद्धि और राज्य की तुलना में उनकी मान्यता और महत्त्व की स्वीकृति।
2. युद्धकाल में राज्यों के कार्य-क्षेत्र में वृद्धि के विरुद्ध प्रतिक्रिया।
3. बहुमत-शासन का खतरा।

उपर्युक्त उत्तरदायी कारणों ने आधुनिक व्यक्तिवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। आज समाज में अनेक संघों का जन्म हुआ है जिन्होंने व्यक्तियों के जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है और राज्य को धीरे-धीरे व्यक्ति के जीवन से बाहर निकाल फेंका है। परिणामस्वरूप, आज राज्य को अन्य संघों का एक संघ कहा जा सकता है। जहाँ तक दूसरी मान्यता का प्रश्न है, प्रथम विश्वयुद्ध में राज्य के कार्य में इतनी वृद्धि हुई कि व्यक्ति की स्वतंत्रता को गहरा धक्का लगा। इससे उत्पन्न हुई प्रतिक्रिया ने राज्य-शक्ति को सीमित करने की बात प्रारंभ की। युद्ध के बाद प्रजातांत्रिक देशों में बहुमत का शासन कायम हुआ जिसके चलते व्यक्तिगत विचार और जीवन के मूल्य समाप्त हो गए। इससे राज्य की शक्ति को सीमित करने और विकेन्द्रीकरण की बात चल पड़ी।

आधुनिक व्यक्तिवाद के प्रणेता—आधुनिक व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति अनेक दार्शनिकों के विचारों में पाई जाती है। **नार्मन एजेल** आधुनिक व्यक्तिवाद का प्रमुख विचारक है। उसने अंतरराष्ट्रीयतावाद का समर्थन किया है और अपनी पुस्तक *'The Great Illusion'* में राज्य की शक्तियों का विरोध किया है। उसकी दृष्टि में आर्थिक हितों के आधार पर व्यक्ति एक सामुदायिक भावना से संगठित है जो राष्ट्रीय और भौगोलिक सीमाओं को पार कर जाती है।

ग्राहम वॉलास ने अपनी पुस्तक *The Great Society* में अति विकसित राज्य की शक्ति में अविश्वास प्रकट किया है और आवश्यकता से अधिक राज्य की शक्तियों का घोर विरोध किया है। उसने सुझाव दिया

1. "While from the political point of view doctrine of *laissez-faire* has much to command in the economic sphere, it produced the disastrous consequences."—C E M JOAD
2. "But, the reaction against individulism has produced a reaction in its turn. The wheel has turned full circle and the present dissatisfaction with the state has promoted a revival of individualism thinking akin in spirit, though not in form to the individualism of 19th century."—JOAD

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

है कि, चूँकि संसद आधुनिक राज्य का प्रभावपूर्ण केंद्र है और इसके चुनाव की पद्धति अत्यंत दोषपूर्ण है, इसलिए संसद के द्वितीय सदन को व्यावसायिक आधार पर और प्रथम सदन को प्रादेशिक आधार पर संगठित किया जाए।

मिस फालेट ने अपनी पुस्तक *The New State* में आधुनिक व्यक्तिवाद का एक नया रूप हमारे सामने रखा है। वे बहुलवादियों से बहुत-कुछ सहमत हैं और समुदायों की महत्ता पर विशेष बल देती हैं। उन्होंने समुदायों में व्यक्ति को विशेष स्थान दिया है और कहा है कि व्यक्ति, समूह और राज्य में हम किसी की उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि सबका महत्त्व समान है। इस प्रकार, वे उन बहुलवादियों से सहमत नहीं हैं जो समूह में व्यक्तियों को स्थान देना नहीं चाहते या समूह के लिए राज्य को तिलांजलि देना चाहते हैं। उन्होंने कहा है कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास समुदाय में ही कर सकता है।

अन्य श्रेणी-समाजवादियों ने समाज में व्यावसायिक समुदायों की महत्ता पर जोर दिया है। उन्होंने मध्यकालीन श्रेणीवाद को अपनाने के लिए तर्क दिया है। उनकी मान्यता है कि प्रादेशिक आधार पर मनुष्य के विविध हितों की अभिव्यक्ति संसद द्वारा नहीं हो सकती।

आधुनिक व्यक्तिवाद की विशेषताएँ—आधुनिक व्यक्तिवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

1. आधुनिक व्यक्तिवाद बुद्धिवाद-विरोध की अभिव्यक्ति है। यह हीगेल और समष्टिवाद द्वारा प्रतिपादित राज्य के सिद्धांत का विरोध करता है।

2. यह समूह के व्यक्तित्व में विश्वास करता है और कहता है कि राज्य और समूह समस्तरीय हैं।

3. राज्य समूहों का समूह है। राज्य एक प्रशासकीय यंत्र है जो विभिन्न समूहों के कार्यों का समन्वय करता है।

आधुनिक व्यक्तिवाद और 19वीं शताब्दी के व्यक्तिवाद में समानता एवं अंतर—आधुनिक व्यक्तिवाद और पुराने व्यक्तिवाद में **समानता** यह है कि दोनों राज्य की शक्तियों को सीमित और नियंत्रित करना चाहते हैं। दोनों में अंतर यह है कि (i) जहाँ 19वीं शताब्दी का व्यक्तिवाद राज्य की तुलना में व्यक्ति को अधिक महत्त्व देता था, वहाँ आधुनिक व्यक्तिवाद समूहों के महत्त्व पर बल देता है। (ii) 19वीं शताब्दी का व्यक्तिवाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के लिए राज्य के कार्यों को सीमित करना चाहता था, जबकि आधुनिक व्यक्तिवाद राज्य की शक्तियों को विकेंद्रित कर उन्हें समुदायों को सौंपता है। (iii) पुराना व्यक्तिवाद व्यक्ति के हित की निजी, आर्थिक हितों तथा बहुमत-शासन के अत्याचारों से बचाने में असफल रहा जिसके चलते समूहों की स्थापना हुई। **सी॰ ई॰ एम॰ जोड** ने कहा है, "समूह उस वैयक्तिक स्वतंत्रता की एकमात्र प्रभावपूर्ण प्रत्याभूति है जो मिल द्वारा व्याख्या किए गए पुराने व्यक्तिवाद का सर्वाधिक मूल्यवान तत्त्व है।" इस प्रकार, आधुनिक व्यक्तिवाद अधिक व्यापक है और मानव के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयत्नशील है।

प्रश्नावली

1. राज्य के कार्य-संबंधी व्यक्तिवादी सिद्धांत का वर्णन करें।
   (Discuss the individualistic theory of the functions of the State.)
2. "सबसे उत्तम सरकार वह है जो कम-से-कम शासन करती है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
   ("The best government is that which governs the least." Discuss this statement.)
3. "राज्य एक आवश्यक बुराई है।" कैसे ?
   ("The State is a necessary evil !" How ?)
4. व्यक्तिवाद से आप क्या समझते हैं ? उसके गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।
   (What do you mean by individualism ? Discuss its merits and demerits.)
5. आधुनिक व्यक्तिवाद पर एक संक्षिप्त निबंध लिखें।
   (Write a brief essay on the modern individualism.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 28

आदर्शवाद
[IDEALISM]

आदर्शवादी एक केंद्रीय समाज-व्यवस्था से आगे बढ़ता है जिसमें व्यक्ति का निश्चित कर्तव्य होता है, न कि एक केंद्रीय व्यक्ति से।—बार्कर

विषय-प्रवेश (Introduction)

आदर्शवाद अँगरेजी भाषा के 'आईडियलिज्म' (Idealism) का हिंदी अनुवाद है। इसे दार्शनिक या आध्यात्मिक सिद्धांत भी कहा जा सकता है। एक अमेरिकी विद्वान ने आदर्शवाद को रहस्यात्मक सिद्धांत कहकर पुकारा है। आदर्शवादियों ने एक उच्चतम नैतिक सत्ता को स्वीकार किया है और मनुष्य के नैतिक विकास के लिए राज्य को आवश्यक बताया है। परंपरावादियों ने आदर्शवादी मान्यताओं की स्थापना पर बल दिया है। उन्होंने बताया है कि राज्य में रहकर ही व्यक्ति अपना सर्वांगीण विकास कर सकता है।

आदर्शवाद की व्याख्या (Explanation of Idealism)

आदर्शवाद के अनुसार मानव स्वभाव से ही एक सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी है। राज्य में रहकर ही मनुष्य अपने उन्नत जीवन की प्राप्ति कर सकता है। राज्य के अंतर्गत ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का आध्यात्मिक एवं सामाजिक विकास संभव है। राज्य में ही मनुष्य की नैतिक, शारीरिक एवं आर्थिक उन्नति हो सकती है। राज्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माता है। व्यक्ति की वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति राज्य में ही संभव है। आदर्शवादियों के अनुसार राज्य और व्यक्ति में कोई विरोध नहीं है और न दोनों के अधिकारों के बीच कोई संघर्ष है।

आदर्शवाद का विकास (Evolution of Idealism)

आदर्शवाद का विकास प्राचीन यूनान में हुआ था। यूनानी विचारक प्लेटो और अरस्तू ने इसका समर्थन किया था। उन लोगों ने राज्य को एक साध्य माना, साधक नहीं। उनके विचारानुसार, "राज्य एक आत्मनिर्भर सत्ता थी, जो स्वयं अपने लिए तथा अपने ही द्वारा जीवित थी और जिसमें एकरूपता थी।" राज्य केवल व्यक्तियों का ही प्रधान नहीं, बल्कि अन्य समुदायों का भी प्रधान था। **प्लेटो** और **अरस्तू** के बाद यूनान की राजनीतिक विचारधारा ने आदर्शवाद को अस्वीकार कर दिया। मध्ययुग में **प्लेटो** तथा **अरस्तू** के विचार पुनः प्रकाश में आए । वर्तमान युग में **ऑस्टिन, हीगेल, टी॰ एच॰ ग्रीन** तथा **रूसो** ने राज्य के नैतिक स्वरूप को स्वीकार किया। **रूसो** की 'सामान्य इच्छा' जो समाज के सदस्यों की उच्च तथा नैतिक इच्छा से मिलकर बनी है, आदर्शवाद का समर्थन करती है।

आदर्शवाद का स्वरूप (The Nature of Idealism)

आदर्शवाद के निम्नलिखित दो स्वरूपों के हमें दर्शन होते हैं—

1. उग्र आदर्शवादी सिद्धांत और
2. उदार आदर्शवादी सिद्धांत।

1. उग्र आदर्शवादी सिद्धांत—उग्र आदर्शवादी सिद्धांत को जर्मन सिद्धांत भी कहते हैं। इसका समर्थन **काण्ट, हीगेल, नीत्से, ट्राटस्की, बर्नहार्डी** इत्यादि विद्वानों ने किया है। जर्मन दार्शनिकों ने राज्य के आदर्शवादी

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

सिद्धांत के जिस रूप का प्रतिपादन किया है, वह अत्यंत ही उग्र है और इसलिए उसे उग्र आदर्शवाद के नाम से पुकारा जाता है। **काण्ट** तथा **हीगेल** ने राज्य को सर्वशक्तिमान, दोषशून्य तथा दैवी बताया है। उनके विचारानुसार मनुष्य की स्वतंत्रता, नैतिकता तथा व्यक्तित्व का विकास राज्य में ही संभव है। **हीगेल** ने "राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार" (The State is the march of God on earth) माना है। **गार्नर** का यह कहना है, "राज्य एक ईश्वरीय राज्यकृति है जो कभी कोई गलती नहीं कर सकता, जो सर्वशक्तिमान है और जो व्यक्तियों को हर एक बलिदान करने के लिए विवश कर सकता है।"[1]

2. उदार आदर्शवादी सिद्धांत—इस सिद्धांत का समर्थन **टी० एच० ग्रीन, ब्रैडले, बोसाँके** आदि विद्वानों ने किया। **ग्रीन** तथा **बोसाँके** के अनुसार राज्य एक नैतिक संस्था है और उसका चरम उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास है। आदर्शवाद के अनुसार, "राज्य एक आवश्यक दोषपूर्ण संस्था नहीं, अपितु एक प्राकृतिक तथा नैसर्गिक संस्था है और राज्य के अंतर्गत रहकर ही मनुष्य सदाचारपूर्ण तथा नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है।" यह सही है कि राज्य व्यक्तियों में नैतिक गुण उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि राज्य का संबंध मनुष्यों के बाह्य कर्तव्यों से होता है और नैतिकता मनुष्य स्वभाव का आंतरिक गुण है तथा उसका संबंध मनुष्य के भावनापूर्ण आचरण से है। लेकिन, मनुष्य के नैतिक विकास के मार्ग में अशिक्षा, दरिद्रता आदि अनेक बाधाएँ हैं। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अशिक्षा तथा दरिद्रता का नाश कर ऐसी व्यवस्था करे जिससे सभी व्यक्तियों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो। **ग्रीन** ने ठीक ही कहा है, "राज्य उन बाधाओं को केवल दूर करता है जो व्यक्ति के विकास के मार्ग में बाधाएँ डालती हैं।"[2]

उदार आदर्शवादियों ने अपने मत के समर्थन में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण तर्क दिए हैं—

(i) राज्य एक प्राकृतिक एवं नैसर्गिक संस्था है और मनुष्य स्वभावतः अपनी आवश्यकताओं के कारण एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी है। **ग्रीन** ने भी कहा है, "मनुष्य अपने स्वभाव के कारण ही स्वतंत्रता चाहता है। स्वतंत्रता की सत्ता अधिकारों के अभाव में असंभव है और अधिकारों की सत्ता राज्य के ही द्वारा संभव है।"[3]

(ii) राज्य-संस्था की सत्ता सदाचार की स्थापना के लिए है। राज्य ही सदाचार-संबंधी आदर्शों के पालन योग्य परिस्थितियाँ बना सकता है।

(iii) आदर्शवादी व्यक्ति और समाज में अटूट संबंध बताते हैं। उनके अनुसार राज्य में व्यक्ति का वह स्थान है जो शरीर में विभिन्न अंगों का है।

(iv) आदर्शवादियों के अनुसार राज्य और व्यक्ति के हित में कोई विरोध नहीं है, इसलिए दोनों में कोई संघर्ष नहीं हो सकता।

(v) **ग्रीन** ने कहा है, "राज्य का आधार बल या शक्ति नहीं, वरन इच्छा है।"[4] मनुष्य ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए राज्य का निर्माण किया है। मनुष्य राज्य की सत्ता को स्वेच्छा से स्वीकार करता है, क्योंकि राज्यशक्ति सार्वजनिक इच्छा का मूर्तरूप है।

आदर्शवाद के गुण (Merits of Idealism)

डॉ० आशीर्वादम के अनुसार आदर्शवाद के निम्नलिखित गुण हैं—

1. यह नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में घनिष्ठ संबंध स्थापित करता है।

2. यह समाज की सावयवी एकता का समर्थन करता है और बताता है कि राज्य को समाज का संगठन कैसे करना चाहिए।

3. आदर्शवाद स्वार्जित गुण की श्रेष्ठता में विश्वास करता है। यह प्रत्येक सुव्यवस्थित समाज में वैयक्तिक मौलिकता तथा स्वतः कार्य करने की प्रवृत्ति आदि के लिए पूर्ण स्वतंत्रता चाहता है।

4. यह मनुष्य की सर्वोच्च विशेषता को उसके मस्तिष्क और इच्छा की विशेषता मानता है।

---

1. "The state is a God state, incapable of wrong, infallible omnipotent and entitled to every sacrifice which its interests may require of the individual."—GARNER
2. "The function of the state is the hindrance of hindrances to the best life."—GREEN
3. "Human consciousness postulates liberty, liberty involves rights, rights demand the State."—GREEN
4. "Will, not force, is the basis of State."—GREEN

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

5. आदर्शवाद मानव की नैतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक भावनाओं को सर्वोत्कृष्ट मानता है।
6. यह एक लक्ष्य निर्देशित करता है जिसकी प्राप्ति के लिए प्रयास होना चाहिए।

आदर्शवाद की आलोचनाएँ (Criticisms of Idealism)

आदर्शवाद की निम्नलिखित आलोचनाएँ हैं—

1. समाज और राज्य को एक मानना भ्रामक है—आदर्शवाद समाज और राज्य में अंतर नहीं करता। समाज तथा राज्य को एक ही मानना भ्रामक तथा गलत है। इन दोनों का अलग-अलग अस्तित्व है।

2. व्यक्ति से पृथक राज्य का व्यक्तित्व नहीं—आदर्शवाद व्यक्ति से पृथक राज्य का व्यक्तित्व स्वीकार करता है। जीवित व्यक्ति की तरह राज्य का अपना एक व्यक्तित्व तथा इच्छा नहीं हो सकती है। **मैकिवर** तथा **ड्यूग्वी** ने इसको व्यर्थ तथा मानसिक कल्पना बताया है।

3. उग्र आदर्शवाद निरंकुशता का पोषक—उग्र आदर्शवाद राज्य को इतना महत्त्वपूर्ण बना देता है कि व्यक्ति की स्थिति गौण हो जाती है और राज्य निरंकुश हो जाता है।

4. सामाजिक और नैतिक सुधारों का विरोधी—आलोचकों का कहना है कि आदर्शवादी सिद्धांत में राज्य को सामाजिक तथा नैतिक जीवन में सुधार करने का पर्याप्त अधिकार नहीं होता है। परिणामस्वरूप, यह सिद्धांत मनुष्य के यथार्थ जीवन को भुला कर काल्पनिक जीवन की विवेचना करता है।

5. नैतिकता-संबंधी सिद्धांत भ्रामक—आदर्शवादी नागरिकों की नैतिकता का स्रोत राज्य को बताते हैं। अर्थात् राज्य ही नागरिकों की नैतिकता का नियमन करता है। उनके अनुसार, राज्य किसी भी नैतिकता के बंधन से परे है। वे राज्य को अंतरराष्ट्रीय नैतिकता से भी परे मानते हैं। **बोसाँके** के अनुसार, "राज्य कोई अनैतिक कार्य नहीं कर सकता, वह अनैतिकता से परे है।" लेकिन, अंतरराष्ट्रीय नैतिकता के बंधनों को अस्वीकार करने का अर्थ अंतरराष्ट्रीय युद्ध एवं अशांति को प्रोत्साहित करना है।

6. वैयक्तिक स्वतंत्रता का विरोधी—आदर्शवाद वैयक्तिक स्वतंत्रता का विरोधी है। यह बताता है कि प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य राजकीय आदेशों का पूर्णतः पालन करना है। परिणामस्वरूप, यह राज्य के गलत आदेशों को भी मान्यता देता है। इससे वैयक्तिक स्वतंत्रता की समाप्ति होती है।

निष्कर्ष (Conclusion)—निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि आदर्शवाद काल्पनिक मान्यताओं पर अधिक ख्याल करता है। यह यथार्थ को भूलकर राज्य को एक महान संस्था स्वीकार करता है। राज्य एक महान संस्था हो सकता है, लेकिन कभी गलत आदेश भी जारी कर सकता है। इसलिए यह व्यक्ति के प्रति उदासीन दृष्टिकोण अपनाता है।

आदर्शवादी दार्शनिक
(Idealist Thinkers)

आदर्शवाद के पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए प्रमुख आदर्शवादी दार्शनिकों के विचारों का अध्ययन आवश्यक है। इन प्रमुख आदर्शवादी विचारकों में **इमेनुअल काण्ट, फिक्टे, एफ० एच० ब्रैडले, हीगेल, टॉमस हिल ग्रीन, बर्नार्ड बोसाँके** आदि प्रमुख हैं। इन दार्शनिकों के प्रमुख विचारों का संक्षिप्त अध्ययन आवश्यक है—

इमेनुअल काण्ट (1721–1804)

काण्ट का जीवन अत्यंत साधारण था। वह विश्व के प्रमुख दार्शनिकों में एक था और उसकी गणना सुकरात, प्लेटो, अरस्तू तथा हीगेल के साथ होती है। काण्ट ने निम्नलिखित प्रमुख ग्रंथों की रचना की—

(i) *Critique of Pure Reason,*
(ii) *Judgement,*
(iii) *Practical Reason,*
(iv) *Metaphysical, First Principles of the Theory of Law,*
(v) *Eternal peace.*

उपर्युक्त रचनाओं से काण्ट प्रमुख दार्शनिक बन गया। काण्ट ने बताया कि जगत के वास्तविक स्वरूप तथा उसके भाषित होनेवाले स्वरूप में अंतर है। मनुष्य में विशुद्ध सैद्धांतिक विवेक के अलावा व्यावहारिक

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

विवेक भी होता है जो उसके नैतिक अनुभव का मूल है। अपने नैतिक अनुभव के द्वारा ही व्यक्ति उचित कार्यों को करता है। वह एक महान व्यक्तिवादी है जो व्यक्ति को राज्य के अधीन नहीं करता। वह कहता है कि राज्य को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जो व्यक्ति द्वारा अपनी सच्ची स्वतंत्रता की अनुभूति में बाधक हो। स्थायी शांति तथा प्रगति के नियम के संबंध में भी काण्ट ने अपना विचार दिया है। प्रकृति के नियम का सर्वोत्तम वर्णन काण्ट ने किया है और बताया है कि मानव जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, पतन का इतिहास नहीं। **काण्ट** के ही शब्दों में, "जब मानव-इच्छा की स्वतंत्रता के खेल का मानव इतिहास के बड़े पैमाने पर परीक्षण किया जाता है तो उसकी गतियों में एक नियमित धारा दिखाई पड़ती है और इस प्रकार जो चीज व्यक्तियों की स्थिति में उलझी हुई और अनियमित दिखाई पड़ती है, वह चीज संपूर्ण मानव के इतिहास में अपनी मूल शक्तियों के निरंतर प्रगति, यद्यपि मंथर विकास, के रूप में मानी जाएगी"। संक्षेप में, प्रगति का नियम यह है कि ऐसी शक्ति वर्तमान है, चाहे उसे परमात्मा कहो, चाहे प्रकृति जो कि इस विश्व के घटना-चक्र को नियंत्रित करती है और यह देखती है कि व्यक्तियों के विभिन्न शक्तियों का धीरे-धीरे निरंतर विकास होता जाए और मानवजाति उन्नति करके उच्चतर स्तरों पर पहुँच जाए। **काण्ट** ने स्पष्ट कहा कि लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि अलग-अलग राज्य मिलकर एक शक्तिशाली अंतरराष्ट्रीय संगठन में मिल जाएँ जो कि स्थायी शांति कायम रख सके। इस प्रकार, वह एक संघात्मक विश्व-व्यवस्था का हिमायती था।

फिक्टे (1762–1814)

फिक्टे एक जर्मन आदर्शवादी था। काण्ट की अपेक्षा आदर्शवादी सिद्धांत को उसने कुछ अधिक अतिवादी रूप दिया। उसने व्यक्तिगत इच्छा तथा सामान्य इच्छा की चर्चा की। उसने बताया कि समुदाय या राज्य का निर्माण रूसो के अनुबंध द्वारा ही संभव है। उसके अनुसार अनुबंध तीन हैं—

(i) संपत्ति-संबंधी समझौता,
(ii) रक्षा-संबंधी समझौता और
(iii) संगठन-संबंधी समझौता।

अधिकार के संबंध में **फिक्टे** का विचार है कि कोई भी व्यक्ति समाज में रहकर ही अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे के समान अधिकारों की आवश्यकता है। शासन के स्वरूप के संबंध में उसका विचार है कि वह राजतंत्रात्मक, वंशगत या निर्वाचित हो।

ब्रैडले

ब्रैडले ब्रिटिश आदर्शवादी था। उसने प्लेटो के न्याय-सिद्धांत और हीगेल के सामाजिक नैतिकता के विचारों को मिलाने का प्रयत्न किया। प्लेटो और हीगेल की तरह ब्रैडले भी राज्यों को नैतिक सावयव प्राणी मानता है। उसके अनुसार व्यक्ति जो कुछ भी है, समुदाय का सदस्य होने के नाते ही ऐसा है। व्यक्तियों का नैतिक जीवन इसी बात में निहित है कि समाज के सदस्य के रूप में अपने स्थान से संबद्ध कर्तव्यों का समुचित पालन करे।

हीगेल (1770–1831)

हीगेल का जन्म 1770 ई॰ में दक्षिणी जर्मनी में स्ट्राटगार्ड के एक मध्यम वर्ग के परिवार में हुआ था। हीगेल ने अनेक ग्रंथों का प्रकाशन किया जिनमें—*'The Philosophy of Right'* और *'The Philosophy of History'* महत्त्वपूर्ण हैं।

हीगेल का विश्वास था कि वास्तविक सत्य आत्मा है, पदार्थ नहीं। उसने इसे निरपेक्ष भाव (absolute idea) या प्रज्ञा (reason) या आत्मा (spirit) कहकर पुकारा है। उसके अनुसार प्रज्ञा या आत्मा स्थिर चीज नहीं है, वरन गतिशील है। उसने द्वंद्ववाद पर भी अध्ययन किया, जिसका विवरण उसके *'Science of Logic'* में मिलता है। द्वंद्ववादी पद्धति के अनुसार प्रगति अथवा विकास किसी एक सीधे दिशा में नहीं होता, वरन तिरछे, बाँके और उतार-चढ़ाव के रूप में होता है जिसे हम वाद (thesis), प्रतिवाद (antithesis) तथा संश्लेषण (synthesis) के सूत्र से समझ सकते हैं। **हीगेल** कहता है कि ब्रह्माण्ड और मानव का इतिहास उस प्रक्रिया का विवरण मात्र है जिसके द्वारा विश्व-शुद्धि अथवा आत्मा अपने विकास के लक्ष्य पर पहुँचती है। वह कहता है कि ब्रह्म का सार स्वतंत्रता है, स्वतंत्रता की चेतना की प्रगति ही संसार का इतिहास है।

WWW.GRADESETTER.COM

हीगेल के अनुसार राज्य स्वयं एक साध्य है। वह व्यक्ति से उच्चतर है। राज्य के विकास तथा ऐतिहासिक प्रक्रिया में व्यक्ति का कोई भाग नहीं है। ऐतिहासिक प्रक्रिया में राष्ट्र महत्त्वपूर्ण इकाई है। हीगेल व्यक्ति को राज्य का दास इसलिए बना देता है कि—

1. किसी समुदाय का राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं।
2. संविधान भी राज्य की सर्वोच्च शक्ति को कम नहीं कर सकता।
3. राज्य सर्वोच्च नैतिक मूल्यों का पालक है।
4. वह रूसो की इस धारणा को स्वीकार करता है कि कानून सामान्य इच्छा की उत्पत्ति है।
5. अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में दूसरे राज्यों के साथ व्यवहार करने में भी राज्य को नैतिक मूल्यों से स्वतंत्र रखने की कोशिश करता है।

हीगेल निस्संदेह राज्य को एक अत्यंत उच्च स्थान प्रदान करता है। उसके अनुसार, राज्य की तीन अवस्थाएँ होती हैं—

1. उसका संविधान,
2. अंतरराष्ट्रीय कानून और
3. सार्वभौमिक इतिहास।

इस प्रकार, आदर्शवाद के क्षेत्र में **हीगेल** का महान योगदान है। फिर भी, आलोचकों ने कहा है कि हीगेल के द्वंद्ववाद की पद्धति अस्पष्ट है और उसने स्वतंत्रता के सिद्धांत को मरोड़कर आज्ञाकारिता बना दिया है। समानता-सिद्धांत को मरोड़कर समानता का अनुयायी, शासन का पर्यायवाची और व्यक्तित्व-सिद्धांत को परिवर्तित करके मनुष्यों को राज्य में आत्मसात कर दिया है। फिर भी, हीगेल को विश्व का एक महानतम दार्शनिक समझा जाता है।

टॉमस हिल ग्रीन (1846—82)

ग्रीन का जन्म 17 अप्रैल, 1846 को यार्कशायर के एक पादरी-परिवार में हुआ। शिक्षा प्राप्त करने के बाद ग्रीन का आध्यात्मिक जीवन प्रारंभ हुआ। अपने आध्यात्मिक सिद्धांत के आलोक में **ग्रीन** इस परिणाम पर पहुँचता है कि हमारे चारों ओर का ब्रह्मांड एक बोधगम्य या आदर्श तथ्य है। इसका स्वरूप आध्यात्मिक है। रूसो तथा काण्ट की भाँति **ग्रीन** ने भी अपने राजनीतिक दर्शन का आरंभ स्वतंत्रता की समीक्षा के साथ किया है। वह कहता है कि स्वतंत्रता की धारणा प्रत्येक व्यक्ति में निहित है। उसकी मान्यता है कि राज्य को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे व्यक्ति को अपने आदर्श चरित्र-निर्माण की स्वतंत्रता में बाधा पड़ती हो। उसने अधिकार के संबंध में भी अपना विचार दिया है। उसके अनुसार अधिकारों का तात्पर्य जीवन के भौतिक तथा बाह्य स्थितियों से है जो कि व्यक्तियों द्वारा अपने नैतिक आदर्श के लिए आवश्यक है। प्राकृतिक कानून के संबंध में **ग्रीन** का विचार है कि प्राकृतिक कानून वह है जिसका पालन मनुष्य को एक नैतिक प्राणी होने के नाते करना चाहिए। संप्रभुता के संबंध में उसका विचार है कि राज्य के अस्तित्व के लिए सर्वोच्च बाध्यकारी शक्ति आवश्यक है, परंतु यह कहना गलत है कि राज्य अपनी बाध्यकारी शक्ति द्वारा जीवित रहता है। **ग्रीन** ने लिखा है, "राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं (Will, not force, is the basis of the State)। इसके अलावा, **ग्रीन** ने सामान्य इच्छा, व्यक्ति और समाज, राज्य द्वारा रक्षित अधिकार, युद्ध, अंतरराष्ट्रवाद, दंड, संपत्ति आदि पर भी अपना महत्त्वपूर्ण विचार दिया है।

बर्नार्ड बोसाँके

बर्नार्ड बोसाँके का जन्म 16 जून, 1848 को हुआ। उसने अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाओं के माध्यम से अपना कीर्तिमान स्थापित किया। अन्य ग्रंथों के अलावा अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ *The Philosophical Theory to the State* में **बोसाँके** ने अपने राज्य के सिद्धांत को दार्शनिक कहकर पुकारा है जिसके अनुसार राज्य का अपना निजी स्वरूप होता है जो स्वयं अपने लिए विचार का पात्र है। वह कहता है कि समाज के घटकों की बुद्धि तथा इच्छाएँ सामान्य इच्छा में एक अविभाजनीय संपूर्ण में मिल जाती हैं। राज्य मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। वह ग्रीन के सदृश अपने राज्य के सिद्धांत को इस तथ्य पर आधारित करता है कि व्यक्ति पूर्ण रूप से सामान्य इच्छा में व्याप्त है। **ग्रीन** की भाँति वह इस बात पर भी जोर देता है कि यद्यपि राज्य के कार्य का तात्कालिक रूप नकारात्मक होता है, तथापि अपनी वास्तविक क्रियाओं तथा अंतिम उद्देश्य

WWW.GRADESETTER.COM

में वह विधेयात्मक होता है। **बोसाँके** के लिए राज्य समस्त नागरिकों की बुद्धियों का सामान्य तथ्य है। इसके अलावा उसने राष्ट्र, राज्य, दंड-व्यवस्था आदि के संबंध में भी अपना मंतव्य दिया है। उसके राजनीतिक दर्शन के विरुद्ध आपत्तियाँ भी उठाई गई हैं। फिर भी, राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। **बोसाँके** के राजनीतिक दर्शन की आलोचनाओं के निम्नलिखित आधार हैं—

1. उसके राज्य के उस सिद्धांत की, कि राज्य की अपनी इच्छा होती है और उसका एक अपना व्यक्तित्व होता है, इस आधार पर आलोचना की जाती है कि इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति पूर्ण रूप से राज्य के अधीन हो जाता है।
2. उसकी इस दूसरी धारणा की भी आलोचना की गई है कि राज्य के मुख्य हितों की रक्षा करने के लिए उसके घटकों को अपने रक्त का अंतिम बूँद भी बहा देना चाहिए।
3. उसके इस विचार की भी आलोचना की गई है कि अपने घटकों के साथ व्यवहार करने में राज्य के हाथ व्यक्तिगत नैतिकता के नियमों से नहीं बाँधे जा सकते।
4. उसके विचार की यह भी एक आलोचना की जाती है कि उसने अंतरराष्ट्रीय विश्व-व्यवस्था की संभावनाओं से इनकार किया है, जबकि आज द्रुतगति से जनमत का विकास राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हो रहा है।

प्रश्नावली

1. आदर्शवाद से आप क्या समझते हैं? इसके स्वरूप की विवेचना कीजिए।
   (What do you mean by Idealism? Discuss its nature.)
2. आदर्शवाद की मुख्य विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।
   (Explain the main features of idealism.)
3. आदर्शवाद के गुण और दोषों की विवेचना कीजिए।
   (Examine the merits and defects of idealism.)
4. आदर्शवादी दार्शनिकों की मूल विचारधाराओं की विवेचना संक्षेप में करें।
   (Examine in brief the basic notions of the idealist thinkers.)
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें—
   1. काण्ट 2. हीगेल 3. ग्रीन और 4. ब्रैडले
   (Write brief notes on the following:
   1. Kant 2. Hegel 3. Green and 4. Bradley)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 29

मार्क्सवाद

[MARXISM]

मार्क्स समाज की उन्नति चाहता था और उसके विचारानुसार उन्नति का अभिप्राय और अधिक स्वतंत्रता, समानता, न्याय, सुरक्षा, जीवन का उच्चतर स्तर और विशेषकर श्रम के घंटों में कमी करना था, जिससे श्रमिकों को वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त होती है ..... मार्क्स ऐसा वैज्ञानिक था, जिसने यह बताया कि समाजवाद विवेकपूर्ण साधनों द्वारा प्राप्त होगा और साथ ही उसने उसकी प्रगति के मार्ग पर भी प्रकाश डाला।—पॉपर

विषय-प्रवेश (Introduction)

राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में मार्क्सवाद की अवधारणा न सिर्फ 19वीं शताब्दी में, वरन 20वीं शताब्दी के चिंतन में भी अपना स्थान रखती है। अपने चिंतन में वैज्ञानिक समाजवाद को अपनाकर मार्क्स ने एक ऐसे महान जन आंदोलन को जन्म दिया जो ईसाई-धर्म के आविर्भाव के बाद अब तक न हुआ था। **कार्ल मार्क्स** ने अपने समाजवाद, दर्शन तथा सामाजिक क्रांति के कार्यक्रम का नाम साम्यवाद रखा था। रूस में नए नाम का संगठन करते हुए **लेनिन** ने इस नाम को स्वीकार कर लिया। साम्यवाद मार्क्सवाद के पदचिह्नों पर चलते हुए सोवियतवाद के पीछे कार्य करनेवाली सामाजिक तथा राजनीतिक विचारधारा है। इस प्रकार, साम्यवाद समाजवाद का वैज्ञानिक रूप है। जहाँ तक इसके वास्तविक स्वरूप का प्रश्न है, **कार्ल मार्क्स** ने प्रारंभिक पृष्ठभूमि तैयार की। **एङ्गिल्स** ने **कार्ल मार्क्स** की विचारधारा में दार्शनिक दृष्टि से योगदान किया। बाद में **ट्राटस्की** (Trotsky) **लेनिन, स्टालिन तथा माओत्से-तुंग** (Mao Tse-Tung) ने मार्क्सवादी विचारधारा को आगे बढ़ाया। साम्यवादी विचारधारा का सफल प्रयोग रूस और चीन तथा कुछ अन्य देशों में हुआ है। मार्क्स के व्यक्तिगत महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए **सैलिगमैन** ने कहा है, "मार्क्स के औद्योगिक समाज के विश्लेषण से हम भले ही सहमत न हों, इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि मार्क्स का अध्ययन तब तक नहीं हो सकता जब तक यह स्वीकार नहीं कर लिया जाए कि शायद रिकार्डो को छोड़कर अर्थविज्ञान के समूचे इतिहास में मार्क्स से बढ़कर भौतिक, शक्तिमान और तीक्ष्ण बुद्धि का मनुष्य पैदा नहीं हुआ।" मार्क्सवाद के अध्ययन की कठिनाई की ओर संकेत करते हुए **मैक्सी** ने कहा है, "मार्क्स जैसे व्यक्तित्व के संबंध में ठंढे दिल से विचार करना कठिन है जिसे एक तरफ करोड़ों मानव देवता की तरह पूजते हैं तो दूसरी ओर करोड़ों व्यक्ति उसे दानव कहकर उसकी आलोचना करते हैं।"

मार्क्स के पूर्ववर्ती विचारक—मार्क्स आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद का प्रतिपादक है। उसके पूर्ववर्ती समाजवादियों को कल्पनावादी समाजवादी कहा जाता है। सामान्यतः कल्पनावादी सिद्धांत वह है जो एक ऐसे आदर्शलोक की कल्पना करता है जिसमें उसके अभीष्ट मूल्यों का साम्राज्य रहता है और प्रस्तुत समाज के दोषों से बच निकलने का प्रयास होता है। **प्लेटो** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **रिपब्लिक** में कुटुंब तथा संपत्ति के समाजीकरण के संबंध में जो विचार दिया है, उसमें भी साम्यवाद की झलक दीख पड़ती है, यद्यपि प्लेटो की साम्यवादी कल्पना और आधुनिक साम्यवाद की विचारधारा एक-सी नहीं है। 16वीं शताब्दी में इंगलैंड के **टॉमस मूर** ने **कल्पना लोक** *(Utopia)* नामक विश्वविख्यात कृति की रचना की। **मूर** के आदर्श राज्य में भी सभी के स्वामित्व का विचार दिया गया है। **सेंट सिमन** (1760—1825) ने समाजवाद, सकारात्मक वस्तुनिष्ठवाद, अंतरराष्ट्रवाद आदि अनेक उल्लेखनीय विचारों का प्रतिपादन किया है। उसका विश्वास था कि एक नवीन युग का आविर्भाव होनेवाला है। **चार्ल्स फेरियर** (1772—1837) ने अपने दर्शन में अराजकतावाद का आभास किया है। वह राज्य की सत्ता के केन्द्रीकरण की तुलना में उसके विघटनीकरण के पक्ष में था। **फेरियर** का दर्शन इस मान्यता पर आधारित था कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है, लेकिन समाज उसकी स्वाभाविक भावनाओं का शोषण कर उसे कुमार्ग पर ले आता है। उसने एक नवीन सामाजिक

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

व्यवस्था की कल्पना की जिसमें प्रत्येक को अपने इच्छानुसार कार्य करने की स्वतंत्रता हो। लेकिन, **फेरियर** के जीवनकाल में ही उसकी योजनाएँ कल्पनामात्र ही रह गईं। **रॉबर्ट ओवेन** (Robert Owen, 1771-1858) को 'अँगरेजी समाजवाद का जनक' कहा जाता है। उसके संबंध में **जी० डी० एच० कोल** ने भी ऐसी ही बातें कही हैं कि रॉबर्ट ओवेन अँगरेजी समाजवाद को लाने में अग्रणी है। **रॉबर्ट ओवेन** के विचार में दरिद्रता मानव-जीवन के लिए अभिशाप है। उसने छोटे-छोटे समुदायों के स्वावलंबन पर जोर दिया है। इन विचारकों के अलावा, मार्क्स के पूर्ववर्ती समाजवादी दार्शनिकों में **चार्ल्स हॉल, टॉमस हाक्सकिंग, विलियम थॉम्पसन** और **जॉन ग्रे** का भी नाम आता है।

कार्ल मार्क्स का जीवन-परिचय—मार्क्स का जन्म एक सुखी यहूदी परिवार में 5 मई, 1818 को प्रशा के ट्रीविज में हुआ था। उसका पिता एक साधारण वकील और प्रशियन था और माता एक यहूदी महिला थी। मार्क्स की बचपनावस्था में ही उसके परिवार ने यहूदी धर्म छोड़कर ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। इस धर्म-परिवर्तन ने मार्क्स के भाव-जगत में क्रांति उत्पन्न कर दी जिसके चलते वह यहूदी धर्म का विरोधी हो गया। मार्क्स प्रारंभ से ही मेधावी और प्रचंड अध्येता था। 1835 ई० में लीव विश्वविद्यालय में वह न्यायशास्त्र का अध्ययन करने के लिए गया। जौनी वान बेस्टफेलेन के साथ उसका विवाह हुआ। 1836 ई० में न्यायशास्त्र के अध्ययन के लिए बर्लिन विश्वविद्यालय में भरती हुआ। लेकिन, न्यायशास्त्र की अपेक्षा वह इतिहास और अर्थशास्त्र का अध्ययन करने लगा। यहीं पर मार्क्स हीगेल के दर्शन से काफी प्रभावित हुआ। 1841 ई० में जेना विश्वविद्यालय से उसने डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की। उसने अपना प्रारंभिक जीवन एक पत्रकार के रूप में प्रारंभ किया। बाद में वह संपादक भी बना। राजविद्रोही नीतियों के चलते उसे बार-बार स्थान-परिवर्तन करना पड़ा। निष्कासन-काल में पेरिस और ब्रुसेल्स में उसका अनेक प्रसिद्ध समाजवादियों तथा उग्र सुधारवादियों; जैसे—केवट, प्रोधाँ, बाकुनीन, मैजिनी, फ्रेडरिक एङ्गिल्स आदि विचारकों से संपर्क बढ़ा। उदारचित्त एङ्गिल्स ने मार्क्स की आर्थिक कठिनाइयों को हल किया जिसके अभाव में मार्क्स अपने ग्रंथों का प्रकाशन नहीं कर पाता। सरकार-विरोधी निबंध लिखने के चलते उसे पेरिस से भी निकाल दिया गया। वह ब्रुसेल्स गया और साम्यवादी लीग का सदस्य बन गया। यहीं एङ्गिल्स के साथ मिलकर उसने लोकप्रिय ग्रंथ *Communist Manifesto* की रचना की और वर्ग-संघर्ष के सूत्र से इतिहास की व्याख्या कर यूरोपीय साम्यवादी दलों को हिंसात्मक क्रांति के लिए प्रोत्साहित किया। 1848 ई० की बौद्धिक क्रांति का उसने समर्थन किया तथा उसमें भाग लेने का असफल प्रयास किया। तत्पश्चात क्रांति का संदेश लेकर वह जर्मनी पहुँचा। वहाँ उसने एक क्रांतिकारी पत्र **न्यू रीनिश टाइम्स** का प्रकाशन प्रारंभ किया और राजद्रोह के अपराध में पुनः देश से निकाल दिया गया। अंत में, वह घूमते-घूमते लंदन पहुँचा और वहाँ अपने जीवन के शेष 34 वर्ष दरिद्रता में बिताया। वहीं उसने अनेक ग्रंथों का अनुशीलन कर **कैपिटल** नामक तीन खंडों की रचना की। 1883 ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

कार्ल मार्क्स की रचनाएँ—मार्क्स ने निम्नलिखित प्रमुख कृतियों की रचना की—

1. *The Poverty of Philosophy* (1847),
2. *The Communist Manifesto* (1848),
3. *The Critique of Political Economy* (1859),
4. *Inaugural Address of the International Workingmen's Association* (1864),
5. *Value, Price and Profit* (1865),
6. *Das Kapital* (1867),
7. *The Civil War in France* (1870—71),
8. *The Gotha Programme,*
9. *Class-Struggle in France.*

इन ग्रंथों में सर्वाधिक प्रमुख ग्रंथ *Das Kapital* तथा *Communist Manifesto* हैं। **दास कैपिटल** तो आज के श्रमिकों का धर्मग्रंथ हो गया है। **कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो** साम्यवादी दर्शन और क्रांति का मूलाधार है। इन पुस्तकों में सर्वहारा क्रांति की भविष्यवाणी की गई है।

मार्क्स के विचारों के स्रोत (Sources of Marxian thought)—मार्क्स के विचारों पर हीगेल और फ्यूअरबेक (Feurbach) के दर्शन और फ्रांस तथा अँगरेजी समाजवाद का प्रभाव पड़ा। हीगेल से उसने यह सीखा कि विश्व का स्वरूप गतिशील है। इतिहास विकास की एक क्रमिक प्रक्रिया है। विकास द्वंद्वात्मक रूप में वैषम्य और संघर्ष के द्वारा होता है। हीगेल ने विकास की तीन आवश्यकताओं की ओर संकेत किया

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

है—वाद (thesis), प्रतिवाद (antithesis) तथा सामंजस्य (synthesis)। अंतर्विरोध के कारण 'वाद' से 'प्रतिवाद' और दोनों के मिलने से 'सामंजस्य' का जन्म होता है। विकास की यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। मार्क्स हीगेल की द्वंद्वात्मक पद्धति को स्वीकार करता है, लेकिन उसका प्रयोग वह भिन्न ढंग से करता है। फ्यूअरबेक ने हीगेल के अमूर्त विचारों के स्थान पर मानवतावाद को अपनाया है। मार्क्स ने हीगेल के द्वंद्वात्मक विचारवाद और फ्यूअरबेक के भौतिकवाद का समन्वय किया है। **मार्क्स** ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसका द्वंद्ववाद हीगेल से में केवल भिन्न है, बल्कि उसका ठीक उलटा है।[1] **सेबाइन** ने इस संबंध में कहा है, "हीगेल के विचारों में द्वंद्वात्मक चिंतन शीर्षासन कर रहा है।"[2] इस प्रकार, मार्क्स ने हीगेलवाद को क्रांतिकारी उग्रवाद का एक नया और शक्तिशाली दर्शन बना दिया । इसके अलावा, मार्क्स पर फ्रेंच समाजवाद का भी प्रभाव पड़ा। सेंट साइमन, चार्ल्स फेरियर तथा प्रोधा आदि के विचारधाराओं से वह परिचित था। मार्क्स फ्रांस की साम्यवादी परंपरा और केबेट के साम्यवाद की ओर अधिक आकर्षित हुआ। केबेट की तरह मार्क्स का भी विचार था कि उत्पादन के साधनों पर राज्य का नियंत्रण होना चाहिए। इस प्रकार, निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि मार्क्सवाद हीगेल, फ्यूअरबेक, एडम स्मिथ, रिकार्डो, सेंट साइमन आदि विभिन्न विचारों का संग्रहीत रूप है। मार्क्स ने इन बिखरे हुए विचारों को एकत्र कर उसमें तर्कबद्धता उत्पन्न की। **एलेक्जेंडर ग्रे** ने लिखा है, "मार्क्स के विचारों का निर्माण करनेवाले तत्त्वों का मूल बहुत-से स्रोतों में खोजा जा सकता है। उसने अपने ईंटों को बहुत-से स्थानों से एकत्र किया था।"[3]

मार्क्सवाद के मूल तत्त्व—मार्क्सवादी समाजवाद को सर्वहारा समाजवाद तथा वैज्ञानिक समाजवाद के नाम से संबोधित किया जाता है। मार्क्स इस दृष्टि से अपने विचार (समाजवाद) को वैज्ञानिक कहता है कि यह ऐतिहासिक अध्ययन पर आधारित है। मार्क्सवादी विचारधारा के निम्नलिखित चार आधारस्तंभ हैं—

1. द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (dialectical materialism),
2. इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (materialistic interpretation of history),
3. वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत (theory of class-struggle),
4. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत (theory of surplus value)।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद
(Dialectical Materialism)

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत मार्क्स के विचारों का मूलाधार है। मार्क्स के अनुसार, विश्व की सभी समस्याओं में यह सिद्धांत यथार्थ पथ-प्रदर्शन करता है, क्योंकि इस सिद्धांत के माध्यम से न केवल हमें वर्तमानकाल में अपितु भविष्य में भी समाज में होनेवाले परिवर्तनों की दिशा का संकेत मिलता है। मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संबंध में सेबाइन ने लिखा है, "मार्क्स के सामाजिक दर्शन में सबसे प्रमुख उसका द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत है।"[4] मानवीय इतिहास के अध्ययन में कार्ल मार्क्स ने वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया है। मार्क्स ने यह पता लगाया था कि समाज में क्यों परिवर्तन होते हैं और भविष्य में ये परिवर्तन किस प्रकार और किस दिशा में होंगे।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का अर्थ—कार्ल मार्क्स ने कहीं भी इस सिद्धांत का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं किया है। इस 'संबंध में एङ्गिल्स, लेनिन और स्टालिन ने अधिक विवेचन किया है। ऐसे द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में दो शब्द हैं—पहला शब्द तो उस प्रक्रिया को स्पष्ट करता है जिसके अनुसार सृष्टि का विकास हो रहा है और दूसरा शब्द, अर्थात भौतिकवाद इस सृष्टि के मूल तत्त्व को सूचित करता है। अब हमें विचार करना है कि भौतिकवाद क्या है ?

---

1. "My dialectic is not only different from the Hegelian but is its direct opposite."—*Das Kapital*
2. "In Hegel, the dialectic stands on its head."—GEORGE H. SABINE
3. "It is doubtless true that the component parts of Marxian thought can be traced to a multitude of sources. He collected his bricks from many mason's yards."—ALEXANDER GRAY: *The Socialist Tradition*, p. 299
4. ".....the most important part of Marx's social philosophy was dialectical materialism..."
—GEORGE H. SABINE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

जड़ प्रकृति का स्वरूप और विशेषताएँ—मार्क्स विशुद्ध अद्वैतवादी है। वह इस सृष्टि का एकमात्र मूल तत्त्व जड़ प्रकृति (matter) को समझता है। जड़ प्रकृति को सृष्टि का मूल तत्त्व माननेवाला सिद्धांत भौतिकवाद (materialism) कहलाता है। एञ्जिल्स का कहना है कि जो प्रकृति को मूल मानता है, ऐसे वाद को भौतिकवाद कहते हैं। मार्क्स के विचार में आत्मा का हम अनुभव नहीं कर सकते, इसलिए उसका हमारे लिए कोई अस्तित्व नहीं है। इनके विपरीत मिट्टी, पेड़-पौधे, मकान आदि वस्तुएँ प्रत्यक्ष दीख पड़ने के चलते हमारे लिए सर्वथा सत्य हैं। मार्क्स ने इस जड़-प्रकृति के स्वरूप के संबंध में निम्नलिखित विशेषताओं और नियमों का उल्लेख किया है—

1. **गतिशीलता**—अर्थात, जड़-प्रकृति हमेशा स्वतः गतिशील है। निरंतर गति में बना रहना प्रकृति का स्वभाव है।

2. **परिवर्तनशीलता**—प्रकृति निरंतर गतिशील होने के कारण परिवर्तनशील है। उसमें सदैव कुछ वस्तुओं का उद्भव और विकास होता रहता है। कुछ वस्तुओं का ह्रास और विनाश होता है।

3. **संबद्धता**—भौतिक जगत की सब वस्तुएँ और घटनाएँ एक-दूसरे से संबद्ध हैं तथा एक-दूसरे पर निर्भर हैं।

4. **विरोधी तत्त्वों का संगम**—अर्थात, प्रत्येक जड़ पदार्थ में हमेशा विरोधी तत्त्वों का संगम होता है या उपस्थिति बनी रहती है।

5. **आंतरिक असंगतियाँ**—मार्क्स ने इस सिद्धांत को हीगेल से ग्रहण करते हुए इसे सामाजिक परिस्थितियों पर सर्वथा नवीन ढंग से लागू किया है। उसने कहा है कि सृष्टि का विकास इन आंतरिक विरोधों के चलते होता है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु में उसका विरोधी तत्त्व निहित होता है।

द्वंद्ववाद (Dialecticalism)—**सी॰ एल॰ वेपर** ने लिखा है—"द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में विकास प्रकृति में परिवर्तन है।"[1] यह बात सही है कि हीगेल के द्वंद्ववाद से मार्क्स प्रभावित है, फिर भी हीगेल से पूर्व प्लेटो ने भी अपने दर्शन में द्वंद्ववाद का उल्लेख किया है। अपनी शिक्षा-प्रणाली में प्लेटो ने द्वंद्ववाद की बात बताते हुए कहा है कि इसके माध्यम से हम विचारों की प्रकृति का ज्ञान कर सकते हैं।

हीगेल और मार्क्स के द्वंद्वात्मक प्रणाली में अंतर—वैसे तो मार्क्स हीगेल के द्वंद्वात्मक प्रणाली से अधिक प्रभावित था, लेकिन दोनों की प्रणालियों में काफी अंतर है—

1. **सिडनी हूक** (Sidney Hook) के विचार में हीगेल के द्वंद्ववाद का उद्देश्य आत्मा की पवित्रता है, जबकि मार्क्स का द्वंद्ववाद आत्मा पर ध्यान न देकर जड़-प्रकृति पर ध्यान देता है।

2. हीगेल आत्मा पर जोर देता है, जबकि मार्क्स पदार्थ पर।

3. हीगेल के अनुसार अवश्यंभावी उद्देश्य विचारों की चेतना है, लेकिन मार्क्स के अनुसार अवश्यंभावी उद्देश्य वर्गहीन समाज है। **सी॰ एंल॰ वेपर** ने भी इसका समर्थन किया है।[2]

इस प्रकार, मार्क्स तथा हीगेल के द्वंद्ववाद में काफी अंतर है। मार्क्स स्वयं कहता है, "मैंने हीगेल के दर्शन को सिर के बल खड़े पाया, मैंने उसे पैरों के बल खड़ा कर दिया।"[3]

द्वंद्वात्मक विकास के नियम—द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार संसार का आधार भौतिक तत्त्व या पदार्थ है। यह तत्त्व विकसित होकर भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है। यह भौतिक विकास आंतरिक विरोध के कारण तीन क्रमों—वाद, प्रतिवाद तथा संश्लेषण से गुजरता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के निम्नलिखित तीन प्रमुख नियम हैं—

1. एकता का नियम तथा विपरीत में संघर्ष (the law of the unity and struggle of the opposite),

2. मात्रात्मक से गुणात्मक परिर्वतनों के रूपांतर का नियम (the law of transformation from quantitative into qualitative changes) एवं

3. विपरिणाम का विपरिणाम नियम (the law of the negation of negation)।

---

1. "In dialectical materialism evolution is the development of matter."—C. L. WAYPER

2. "For Hegel, the inevitable goal is the idea fully conscious of itself, for Marx, the inevitable goal is the classless society."—C. L. WAYPER

3. "I found the Hegelian dialectic standing on its head, I put it on its foot."—KARL MARX

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

1. एकता का नियम तथा विपरीत में संघर्ष (The law of the unity and struggle of the opposite)—द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के पहले नियम के अनुसार दो विपरीत चीजों में हमेशा एकता होती है और ये विरोधी चीजें सदा एक-दूसरे से संघर्ष में लगी रहती हैं। इस पहले नियम को अच्छी तरह समझने के लिए इसे निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) विरोधी चीजों में एकता (the unity of the opposites) एवं

(ii) विरोधी चीजों में संघर्ष (the struggle of the opposites)।

जहाँ तक दो विरोधी चीजों में एकता का प्रश्न है, इसका यह अभिप्राय हुआ कि प्रत्येक वस्तु में विरोधी तत्त्व और गुण मौजूद रहते हैं। उसमें एकता और विरोधी तत्त्वों का मिश्रण रहता है। इसे हम चुंबक के उदाहरण से समझ सकते हैं। एक ही चुंबक के दो सिरे (poles) **उत्तरी** और **दक्षिणी** ध्रुव (north and south poles) हैं। ये सिरे यद्यपि एक-दूसरे के विरोधी हैं और दोनों स्पष्ट रूप से भिन्न रहते हैं, तथापि वे पृथक रूप में अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकते। अर्थात, किसी भी हालत में इन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। दो विरोधी दिशाओं को बताने के बावजूद दोनों पोलों को एक साथ ही रहना पड़ता है। ठीक यही स्थिति हमारे समाज में भी लागू होती है। हमारे समाज में दो विरोधी वर्ग—पूँजीपति और मजदूर हमेशा मौजूद रहते हैं। इनके अपने-अपने विभिन्न उद्देश्य होते हैं। आज के समाज में धनी और गरीब लोगों के अपने-अपने उद्देश्य हैं और मौका पाते ही वे एक-दूसरे पर प्रहार कर सकते हैं। फिर भी, समाज में वे एक साथ रहते हैं। यह मार्क्स द्वारा प्रतिपादित **दो विरोधी चीजों में एकता का सिद्धांत है।**

जहाँ तक **दो विरोधी चीजों में संघर्ष** (struggle of the opposites) का प्रश्न है, जब तक विरोधी तत्त्व संतुलित रहते हैं तब तक परिवर्तन नहीं होता। लेकिन, जब एक तत्त्व प्रबल होने लगता है तब परिवर्तन आरंभ हो जाता है। इस नियम की प्रधान विशेषता यह है कि दो विरोधी चीजों में हमेशा संघर्ष बना रहता है और इसी संघर्ष से विकास होता है। हमारे शरीर में इसका निर्माण करनेवाले कोषों के निर्माण और विध्वंस की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है और इसी से शरीर का विकास होता है। इस विश्व में भी यह प्रक्रिया चलती रहती है। इस नियम के अनुसार एक वस्तु के विरोधी पहलू निःसंदेह एक साथ रहते हैं, लेकिन वे एक-दूसरे से संघर्ष करते रहते हैं। इसी तरह आज भी पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपति और मजदूर वर्ग के बीच लगातार संघर्ष चल रहा है जिसके चलते वर्गसंघर्ष होता है।

2. मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों के रूपांतर का नियम (The law of the transformation from quantitative to qualitative changes)—मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों के नियम का जहाँ तक प्रश्न है, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में विकास का यह नियम है कि मात्रा (quantity) में बड़ा अंतर होने से गुण (quality) में भी अंतर पड़ जाता है। यह नियम प्रकृति में होनेवाले आकस्मिक परिवर्तनों की व्याख्या करता है। वैसे तो सभी वस्तुओं में मात्रा के थोड़े-बहुत परिवर्तन हमेशा होते रहते हैं, इससे इनके स्वरूप में कोई अंतर नहीं आता। किंतु, एक विशेष मात्रा में परिवर्तन होने पर उनके गुणों में अंतर आ जाता है। एक विशेष मात्रा तक पहुँचने पर परिवर्तन सहसा छलाँग (leap) की भाँति होता है। यह छलाँग ही मार्क्स के अनुसार, सामाजिक क्रांति का सूचक है। उदाहरण के लिए, यदि हम पानी को गर्म करें तो यह अनंत मात्रा तक अधिकाधिक गर्म नहीं होगा, लेकिन एक निश्चित बिंदु (100°C) पर एकदम वाष्प बनकर उड़ने लगेगा। यह एक गुणात्मक परिवर्तन है। इसी तरह यदि पानी को निरंतर ठंढा करते जाएँ तो 0°C के तापमान पर जमकर वह बर्फ बन जाएगा जो पानी का गुणात्मक परिवर्तन है।

सामाजिक क्षेत्र में इस प्रकार से सहसा होनेवाले परिवर्तनों को हम क्रांति कहते हैं, जैसे औद्योगिक क्रांति, फ्रांसीसी क्रांति, रूसी क्रांति आदि। मार्क्सवादी इस नियम के आधार पर कहते हैं कि विशेष दशाओं में जड़-जगत में जिस प्रकार का परिवर्तन होता है, उसी प्रकार का परिवर्तन समाज में भी होता है। आज का मजदूर वर्ग पूँजीवाद के विनाश में लगा हुआ है। एक रोज ऐसी स्थिति आएगी कि पूँजीवाद अपने-आप समाप्त हो जाएगा और समाजवाद की स्थापना 'छलाँग' की तरह होगी। ऐसी स्थिति में परिवर्तन अचानक होता है। इसी प्रकार, पूँजीवाद का विकास और विस्तार सामाजिक क्रांति में होगा। लेकिन, मार्क्स से भिन्न समाजवादियों का विचार है कि पूँजीवाद की समाप्ति अपने-आप समाजवाद के रूप में होगी और उसमें सामाजिक क्रांति की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

3. विपरिणाम का विपरिणाम नियम (The law of the negation of negation)—द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का तीसरा नियम इस मान्यता पर आधारित है कि इस भौतिक जगत में हमेशा पुरानी चीजें

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

समाप्त हो रही हैं और उसके स्थान पर नई चीजें जन्म ले रही हैं। पुरानी चीजों की समाप्ति और नई चीजों का आगमन 'negation of negation' कहलाता है। कार्ल मार्क्स ने इस नियम को हीगेल से अपनाया है। मार्क्स के विचार में, इस विश्व में किसी भी क्षेत्र में तब तक विकास नहीं हो सकता जब तक कि नई चीजें पुरानी चीजों को नहीं बदल देतीं। इस सिद्धांत के अनुसार, किसी चीज में परिवर्तन की प्रक्रिया ऊपर से नहीं थोपी जाती, वरन उसमें परिवर्तन आंतरिक संघर्ष से होती है। प्राकृतिक जगत में पृथ्वी का विकास इसी प्रक्रिया के अनुसार हुआ है। हमारे समाज में भी आदिम साम्यवाद (primitive communism) को दास-समाज (slave society) ने बदल दिया। बाद में दास-समाज को सामंतशाही (feudalism) ने बदल दिया और बाद में पूँजीवाद (capitalism) ने भी सामंतशाही (feudalism) को बदल दिया। इस आधार पर कार्ल मार्क्स ने कहा है कि आज का पूँजीवाद भी कल के समाजवाद (socialism) के द्वारा बदल दिया जाएगा। यहाँ पर हर बादवाली राजनीतिक प्रणाली ने पहली प्रणाली को बदल (negate) दिया।

दार्शनिक संदर्भ में जिस प्रकार प्रतिवाद (antithesis) का विपरिणाम (negation) है, उसी प्रकार संश्लेषण (synthesis) प्रतिवाद का विपरिणाम है (Just as anti-thesis is the negation of thesis, so the synthesis is the negation of thesis)। **एङ्गिल्स** ने पौधे का उदाहरण देकर इसका स्पष्टीकरण किया है। उनके अनुसार, बीज **वाद** (thesis) है। इसे भूमि में बोने पर तथा जलवायु की अनुकूल परिस्थितियाँ होने पर इसका विकास होता है। यह नष्ट होकर अंकुरित होता है और पौधा बनता है। पौधे के विकास की दूसरी कड़ी **प्रतिवाद** (antithesis) है जो इसका विपरिणाम है। तीसरी कड़ी पौधे में गेहूँ की बाली का आना है, इसके पकने पर गेहूँ के दाने बनना तथा पौधे का सूखकर नष्ट होना—यह तीसरी दशा **संश्लेषण** (synthesis) विपरिणाम का विपरिणाम (negation of negation) हुआ। प्राकृतिक जगत में, उदाहरण के लिए, हम चट्टान को भी ले सकते हैं। तेज धूप, प्रबल आँधी और भीषण ठंढ के प्रभाव से चट्टानें टूटती हैं और चूर्ण बनती हैं—यह वाद (thesis) हुआ। इसी चूर्ण का वर्षा के जल के साथ बहना प्रतिवाद (antithesis) हुआ। बहुत काल तक समुद्र में रहने के बाद अनेक प्राकृतिक कारणों से इसका मिट्टी में बदलना संश्लेषण (synthesis) हुआ। इसी प्रकार, पूँजीवाद 'वाद' है तो उत्पादन के समाजीकरण की प्रक्रिया 'प्रतिवाद' है जो पूँजीवाद का negation है। समाजवाद संश्लेषण है जो negation of negation है। इसी संदर्भ में **एलेक्जेंडर ग्रे** ने कहा है कि प्रत्येक वाद अपने प्रतिवाद की प्रतिक्रिया है जिससे संश्लेषण की उत्पत्ति होती है जो वाद और प्रतिवाद का संयोग है।[1]

आलोचनाएँ—कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की निम्नलिखित आधारों पर आलोचनाएँ की जाती हैं—

1. भौतिकवाद की **पहली आलोचना** यह है कि यह आत्मतत्त्व की घोर उपेक्षा करता है। मार्क्स इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान को प्रामाणिक मानता है। चूँकि हम आत्मा को देख नहीं सकते, इसलिए मार्क्स के अनुसार यह भ्रममात्र है। लेकिन, आलोचकों का कहना है कि इन्द्रियों से न दिखाई देने पर भी हमें अपनी आत्मा की अनुभूति इतनी प्रबलता से होती है कि इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कोई भी व्यक्ति पूरी ईमानदारी से यह नहीं कह सकता है कि वह अपने अस्तित्व में विश्वास नहीं रखता या उसकी कोई सत्ता नहीं है। अतः, मार्क्स का भौतिकवाद पूर्ण रूप से सत्य नहीं है।

2. मार्क्स के द्वंद्ववाद की आलोचना करते हुए यह भी कहा जाता है कि द्वंद्ववाद के संदर्भ में मार्क्स की विचारधारा **मौलिक** नहीं है। उसने इसे हीगेल के दर्शन से प्राप्त किया।

3. कार्ल मार्क्स के विचारानुसार प्रगति के लिए संघर्ष बहुत आवश्यक है, जिसके अभाव में मानव का विकास नहीं हो सकता। लेकिन, इसके विपरीत **बर्ट्रैण्ड रसेल** ने अपनी प्रतिक्रिया जाहिर की है।[2]

4. कार्ल मार्क्स हीगेल की दार्शनिक विचारधारा के क्रांतिकारी पहलुओं से प्रभावित है। हीगेल ने प्राकृतिक अधिकार के सिद्धांत का खंडन किया है। आलोचकों की राय में मार्क्स का हीगेल के द्वंद्ववाद से प्रभावित होने के चलते उसकी क्रांति-संबंधी धारणा अविश्वसनीय है।

5. कार्ल मार्क्स के विचार में पदार्थ (matter) ही अंतिम सत्य है। आत्मा अंतिम सत्य नहीं है। इस प्रकार, अंतिम सत्य पदार्थ हो तो इसकी गति तर्कसंगत कैसे हो सकती है ? आलोचकों की दृष्टि में यह संदेहात्मक है।

---

1. "Every thesis reacts to its antithesis, which leads to the synthesis combining both thesis and antithesis."—ALEXANDER GRAY : *The Socialist Tradition*
2. "Mankind must go in a state of immobility. This is because dialectical progress will come to a resting place."—BERTAND RUSSELL

WWW.GRADESETTER.COM

6. मार्क्स द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की व्याख्या करते हुए बहुत आशावादी हो जाता है और कहता है कि (क) पूँजीपति और मजदूरवर्ग के संघर्ष में तथा साम्यवाद तथा पूँजीवाद के संघर्ष में साम्यवाद, अर्थात मजदूरों की जीत निश्चित रूप से होगी। (ख) साम्यवाद और मजदूरों की इस विजय से वैज्ञानिक साम्यवाद के एक वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी। कार्ल मार्क्स के इन दोनों आशावादी तर्कों का खंडन **बर्ट्रैण्ड रसेल** ने अपनी पुस्तक *Freedom and Organisation* में किया है और कहा कि आधुनिक युद्ध की भयानकता कार्ल मार्क्स के इन आशावादी सिद्धांतों पर पानी फेर सकती है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है, "We know that the modern war is a somewhat serious matter." इसीलिए यह प्रतीत होता है कि मार्क्स के आशावादी विचार व्यर्थ हैं।

7. पुनः, कार्ल मार्क्स की आलोचना करते हुए **बर्ट्रैण्ड रसेल** ने कहा है कि मार्क्स जिसे भौतिकवाद कहता है, वह ऐसा नहीं है।[1] इसी संदर्भ में **एलेक्जेंडर ग्रे** ने भी कहा है कि इतिहास की व्याख्या एकमात्र आर्थिक तत्त्वों के आधार पर नहीं की जा सकती।[2] मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवादी सिद्धांतों की कमियों और विरोधों को देखते हुए **सी॰ एल॰ वेपर** ने अपनी पुस्तक **पॉलिटिकल थॉट** में कहा है कि मार्क्स को अपने सिद्धांतों को त्याग देना चाहिए था।[3] मार्क्स के इस सिद्धांत की पुनः आलोचना करते हुए कहा गया है कि विश्व में विरोध और संघर्ष अवश्य मिलता है।

8. आलोचकों का यह भी कहना है कि द्वंद्वात्मक पद्धति को पुष्ट करने के लिए केवल दृष्टांत दिए गए हैं, प्रमाण नहीं। इन दृष्टांतों में भी बड़ी मनमानी है। यदि कुछ समय के लिए इन्हें सही भी मान लिया जाए तो यह भी कल्पना करना ठीक नहीं है कि भौतिक जगत में जो नियम काम करते हैं, वही नियम उसी रूप में मानव-स्वभाव में भी लागू हो सकते हैं, क्योंकि प्राणिशास्त्र और जीवशास्त्र के नियम इतिहास और अर्थशास्त्र के नियमों से भिन्न प्रकार के हैं। **एङ्गिल्स** तथा **लेनिन** ने भी इस प्रवृत्ति का विरोध किया था। लेनिन के विचार में भी जीवशास्त्रों के विचारों को हमें सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में नहीं लाना चाहिए।

निष्कर्ष—द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की उपर्युक्त कमियों के बावजूद राजनीतिशास्त्र के एक महान दर्शन के रूप में आज यह सिद्धांत मार्गदर्शन कर रहा है। इतिहास की आर्थिक व्याख्या में मार्क्स ने मजदूरों की विजय की आशा प्रकट की है। इसी सिद्धांत के आधार पर मार्क्स अपने प्रमुख वर्ग-संघर्ष सिद्धांत को भी जन्म देता है। मार्क्स के तमाम दर्शन की यह बुनियाद है।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या
(Materialistic Interpretation of History)

वैसे तो कार्ल मार्क्स का संपूर्ण राजनीतिक दर्शन द्वंद्ववाद के सिद्धांत पर आधारित है, फिर भी उसके दर्शन का द्वितीय महत्त्वपूर्ण सिद्धांत इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या है। मार्क्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या से अपने समाजवाद को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है। इतिहास की द्वंद्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या करने के लिए उसने उसे 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' या 'इतिहास की भौतिक व्याख्या' नाम दिया है। अपने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद सिद्धांत का उपयोग करते हुए मानव-इतिहास में होनेवाले विभिन्न परिवर्तनों के बारे में उसने यह बताया है कि ये सभी परिवर्तन भौतिक तथा आर्थिक कारणों से होते हैं। इसीलिए उसका यह सिद्धांत इतिहास की आर्थिक या भौतिकवादी व्याख्या कहलाता है।

अनेक विद्वानों का कहना है कि मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का नाम भ्रमपूर्ण है। **सी॰ एल॰ वेपर** ने कहा है कि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के सिद्धांत के अंतर्गत मार्क्स ने जो बात कही है उसके लिए यह नाम भ्रमपूर्ण है और इस सिद्धांत को भौतिकवाद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'भौतिक' शब्द का अर्थ चेतनहीन पदार्थ होता है, जबकि इस सिद्धांत में मार्क्स चेतनहीन पदार्थ-संबंधी कोई बात नहीं करता है। इस सिद्धांत के अंतर्गत मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन की बात करते हुए कहा है कि यह परिवर्तन आर्थिक कारणों से होता है। इसीलिए उसके सिद्धांत का नाम 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' होना चाहिए।

---

1. "Marxist's instrumentalistic theory, though, he called it materialistic, is really not so."—BERTRAND RUSSELL: *Freedom and Organisation*, p. 224
2. "Marx was almost criminally careless in neglecting to define his term."—ALEXANDER GRAY
3. "He would have to abandon his theory."—C. L. WAYPER : *Political Thought.*

WWW.GRADESETTER.COM

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का मुख्य तत्त्व है—आर्थिक नियतिवाद (economic determinism), अर्थात मनुष्य जो कुछ करता है, वह केवल भौतिक नहीं है वरन उसका निर्माण आर्थिक-भौतिक कार्यों के द्वारा होता है। परिणामस्वरूप, मनुष्य पूर्ण रूप से आर्थिक शक्तियों का दास है। उत्पादन की शक्तियों में निम्नलिखित तीन चीजें सम्मिलित हैं—

1. प्राकृतिक साधन,
2. मशीन, यंत्र या अतीत की उत्पादन-कला और
3. युग-विशेष में मनुष्यों के मानसिक तथा नैतिक गुणों के विकास तथा सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव-बुद्धि से उत्पन्न मशीन, यंत्र और उत्पादन-कला का विकसित रूप मनुष्य को प्रकृति पर विजय दिलाने में अधिकाधिक भाग लेते हैं।

सिद्धांत की व्याख्या—पूँजीवादी समाज कैसे संगठित हुआ, मार्क्स इसकी खोज करता है और इसका स्पष्टीकरण उसे इतिहास में मिलता है। मार्क्स का कहना है कि वैध संबंधों और साथ-साथ राज्य के रूपों को न तो स्वतः उनके द्वारा समझा जा सकता है, न ही मानव-मस्तिष्क की सामान्य प्रगति द्वारा उनकी व्याख्या की जा सकती है, बल्कि वह तो जीवन की भौतिकवादी अवस्था में मूल में स्थिर होती है। भौतिक जीवन में उत्पादन की विधि, जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक स्थितियों के सामान्य स्वरूप को निश्चय करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व का निश्चय नहीं करती, वरन उनका सामाजिक अस्तित्व ही उनकी चेतना को निश्चय करता है। इस सिद्धांत के अनुसार, सामाजिक और राजनीतिक क्रांतियाँ जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के कारण, अर्थात उत्पादन तथा वितरण के तरीकों में परिवर्तन के कारण होती हैं। इसलिए, मार्क्स का दर्शन ऐतिहासिक सिद्धांत है जो विकास के स्वाभाविक रूप को स्पष्ट करता है। मार्क्स अपने सिद्धांत को विशेषतः दो क्रांतियों पर ही लागू करता है—एक तो भूतकाल की और दूसरी भविष्य की। भूतकाल की क्रांति सामंतवादियों के विरुद्ध बुर्जुआवादियों की थी और मार्क्स के अनुसार यह फ्रांस की क्रांति के रूप में दीख पड़ी। मार्क्स जिस भावी क्रांति की भविष्यवाणी करता है, वह बुर्जुओं के विरुद्ध सर्वहारावर्ग की क्रांति होगी और यह क्रांति समाजवादी कॉमनवेल्थ की स्थापना करेगी। इस प्रकार, मार्क्स ने इतिहास की जो भौतिकवादी व्याख्या की है, उसका विश्लेषणात्मक विवरण निम्नलिखित तथ्यों के स्पष्टीकरण से दिया जा सकता है।

1. **भोजन की आवश्यकता**—अपने ऐतिहासिक सिद्धांत का प्रारंभ मार्क्स इस सामान्य सत्य से करता है कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए भोजन की आवश्यकता है। अतः, मनुष्य का जीवन बहुत-कुछ इस तथ्य पर निर्भर है कि वह किस प्रकार इन वस्तुओं का उत्पादन करे, जिन्हें वह प्रकृति से चाहता है। इस प्रकार, मार्क्स के अनुसार समस्त मानवीय क्रियाकलाप की आधारशिला उत्पादन-प्रणाली है।

2. **उत्पादन की शक्तियाँ**—ये भौतिक वस्तुएँ जिन्हें मार्क्स ऐतिहासिक विकास के लिए क्रियाशील एवं निर्णायक मानता है, उत्पादन की शक्तियाँ हैं। मार्क्स के अनुसार, मानव और सामाजिक इतिहास को निर्धारित करनेवाली ये शक्तियाँ आर्थिक हैं—सांस्कृतिक तथा राजनीतिक नहीं। **मार्क्स** का कहना है, "जीवन के भौतिक साधनों के उत्पादन की पद्धति सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन की संपूर्ण प्रक्रिया की विधि निर्धारित करती है और इन्हीं से सामाजिक ढाँचे के साथ-साथ धार्मिक विश्वासों और दर्शन की रूपरेखा का भी निश्चय होता है।" अतएव, उत्पादन की शक्तियाँ ही उत्पादन के संबंधों को स्वरूप प्रदान करती हैं और उत्पादन के संबंधों पर ही सामाजिक संस्थाओं और दर्शन का ढाँचा खड़ा होता है।

मार्क्स उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के संबंधों में विभेद करता है। उत्पादन की शक्तियों में प्राकृतिक साधन, मशीन तथा औजार, उत्पादन-कला और मनुष्यों की मानसिक तथा नैतिक आदतें सम्मिलित हैं जिन्हें आधुनिक भाषा में यांत्रिकी तथा वैधानिक ज्ञान कहा जा सकता है। इन उत्पादन की शक्तियों के आधार पर ही सामाजिक और राजनीतिक ढाँचा खड़ा किया जा सकता है। यह सामाजिक तथा राजनीतिक ढाँचा मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों को निश्चित करता है। इन्हीं पारस्परिक संबंधों को मार्क्स ने 'relation of production' कहा है।

3. **परिवर्तनशील उत्पादन-शक्तियों का सामाजिक संबंधों पर प्रभाव**—मार्क्स का कहना है कि जीवन के भौतिक साधनों की उत्पादन-पद्धति सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन की संपूर्ण क्रिया को निर्धारित करती है। निरंतर परिवर्तित होती रहनेवाली उत्पादन-शक्तियाँ सामाजिक संबंधों में भी परिवर्तन लाती हैं। इस प्रकार, मार्क्स के अनुसार सामाजिक संगठन का एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तन उत्पादन के साधनों के

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अनुसार होता है, क्योंकि मार्क्स का विचार है कि उत्पादन में उत्पादन-शक्तियों का विकास समानांतर चलता है और कृत्रिम साधनों द्वारा इस विकास को रोकने का प्रयत्न करने पर स्वाभाविक रूप से संकट उत्पन्न होने का भय हो जाता है। जब उत्पादन लोगों की क्रयशक्ति से अधिक हो जाता है तब लाभ की कोई आशा न रहने के कारण पूँजीपति अपने माल को नष्ट कर देते हैं और मजदूरों को पैसा देकर पुनः माल उत्पन्न करवाते हैं। मार्क्स का कहना है कि ऐसा संकट साम्यवादी व्यवस्था में उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि इस व्यवस्था में उत्पादन लाभ के लिए नहीं, बल्कि सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए होता है।

4. उत्पादन और उत्पादन-शक्ति के विकास की द्वंद्ववाद से प्राप्ति—कार्ल मार्क्स के विचार में उत्पादन और उत्पादन-शक्ति का विकास एक निश्चित नियम है जिसकी प्राप्ति द्वंद्ववाद से हो सकती है। द्वंद्ववाद के आधार पर मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इतिहास के विकास की दशा निश्चित रूप से समाजवाद की ओर है।

5. आर्थिक व्यवस्था और धर्म—मार्क्स का कहना है कि धर्म दोषपूर्ण आर्थिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब-मात्र है। यह अफीम के नशे के समान है। इस प्रकार, मार्क्स धर्म का पूर्णतया खंडन करते हुए केवल उत्पादन पर ही अधिक बल देता है।

6. इतिहास की अनिवार्यता में विश्वास—हीगेल और मार्क्स दोनों की ही यह मान्यता है कि इतिहास का निर्माण मनुष्यों के प्रयत्नों से सर्वथा स्वतंत्र रूप में होता है। अतएव, इतिहास के प्रवाह को मानव-प्रयत्नों द्वारा रोका नहीं जा सकता।

7. इतिहास का काल-विभाजन—मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत के अनुसार इतिहास की प्रायः प्रत्येक संस्था वर्ग-संघर्ष का परिणाम है। विभिन्न युगों में ऐतिहासिक काल में परिवर्तन होता आया है। मार्क्स का विश्वास है कि पूँजीपतियों के अत्यधिक शोषण के फलस्वरूप श्रमिकों में जागरूकता आएगी और तब दोनों वर्गों के बीच संघर्ष एक ऐसी क्रांति को जन्म देगा जिसमें पूँजीपतिवर्ग की हार निश्चित होगी और श्रमिकवर्ग विजयी होंगे। इस प्रकार, उत्पादन के समस्त साधनों का समाजीकरण कर दिया जाएगा। यह आदर्श समाज होगा जिसमें राज्य की समाप्ति होगी। इस राज्यविहीन और वर्गविहीन समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा और आवश्यकतानुसार प्राप्त करेगा। इतिहास की भौतिकवादी व्यवस्था के इस काल-विभाजन के मूल में मार्क्स की यही धारणा है कि जब तक पूर्ण उत्पादन की स्थिति नहीं आएगी तबतक समस्त समाज की स्थिति बदलती रहेगी।

8. मानव-इतिहास की पूँजी वर्ग-संघर्ष—मार्क्स द्वारा विभाजित ऐतिहासिक काल में यह स्पष्ट है कि समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है और प्रत्येक युग में दो परस्पर-विरोधी वर्ग विद्यमान रहे हैं और उनके पारस्परिक संघर्ष से ही उस युग का निर्माण हुआ है।

आलोचनाएँ—मार्क्स ने इतिहास की जो भौतिकवादी व्याख्या की है, उसमें द्वंन्द्वात्मक भौतिकवाद, वर्ग-संघर्ष एवं अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत की अपेक्षा सत्यता अधिक है। उसके इस सिद्धांत की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर हुई है—

1. आलोचकों की राय में मार्क्स का यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण है कि परिवर्तन सिर्फ आर्थिक तत्त्वों के चलते होता है। आलोचकों का कहना है कि सामाजिक परिवर्तनों पर मानव के अच्छे-बुरे गुणों तथा मनोविकारों एवं सामाजिक वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है।

2. मार्क्स का यह कथन कि उत्पादन-शक्तियों से उत्पादन-संबंध निर्धारित होते हैं, उचित नहीं है। आज के इस वैज्ञानिक युग में अमेरिका और रूस में लगभग एकसमान उत्पादन-यंत्र और प्राविधिक आधार होने पर भी उत्पादन-संबंध में काफी अंतर है। अमेरिका में जहाँ बड़े उद्योगों पर पूँजीपतियों का हाथ है, वहाँ पूर्व सोवियत संघ में उनपर राज्य का स्वामित्व था।

3. मार्क्स का यह कहना भी सत्य नहीं है कि जिसके पास आर्थिक शक्ति होती है, राजनीतिक शक्ति का उपभोग भी वही करता है। शक्ति प्राप्त करने का साधन केवल आर्थिक ही नहीं होता, वरन बुद्धिमत्ता, साहस, कपट आदि तत्त्व भी शक्ति प्राप्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

4. मार्क्स ने यूरोप के लगभग दो हजार वर्षों के इतिहास को ही अपना अध्ययन-क्षेत्र बनाया है। संभवतः भारत, चीन और मिस्र की प्राचीन सभ्यताओं पर उसकी दृष्टि नहीं गई। अतएव, आदिम साम्यवाद का वर्णन उसकी एक कल्पना है जिसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

WWW.GRADESETTER.COM

5. मार्क्स ने इतिहास का जिन चार युगों—**आदिम, दासत्व, सामंत** और **पूँजीवाद**—में विभाजन किया है, वह संतोषप्रद नहीं है। आज का मानवशास्त्र मार्क्स के आदिम साम्यवाद के वर्णन के साथ सहमत नहीं है।

6. मार्क्स ने इतिहास की आर्थिक व्यवस्था में धर्म को अत्यंत ही निम्न स्तर प्रदान किया है। वह भूल जाता है कि मानव में उच्चतम आध्यात्मिक मूल्यों के विकास के लिए धर्म ही एकमात्र आधार है और स्वयं रूस में भी आज तक धर्म का लोप नहीं हो पाया है। मानव केवल भौतिक वस्तुओं का ही दास नहीं, बल्कि आध्यात्मिक सुख का भी भूखा है।

7. उसके सिद्धांत में एक अंतर्विरोध भी है। एक स्थान पर वह कहता है कि इतिहास का क्रम एक आंतरिक आवश्यकता के कारण स्वतः ही निश्चित होता है और अपने प्रयत्नों से मनुष्य उसे प्रभावित नहीं कर सकता, तो दूसरे स्थान पर वह यह भी कहता है कि श्रमिक क्रांति से ही समाजवाद की स्थापना संभव है। मार्क्स की विचारधारा का यह एक अंतर्विरोध है।

8. मार्क्स का कहना है कि इतिहास की धारा राज्यविहीन समाज पर जाकर रुक जाएगी, जिसपर हम कभी विश्वास नहीं कर सकते, क्योंकि उत्पादन के साधन तथा सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ वर्ग-विहीन तथा राज्यविहीन समाज का प्रतिवाद उत्पन्न होता है जहाँ मार्क्स पुनः मौन है।

9. मार्क्स के विचार में ऐतिहासिक विकास के पूँजीवादी युग में बुर्जुआ एवं श्रमिक वर्ग के बीच कटुता बढ़ जाएगी और पूँजीपति अधिक धनी तथा निर्धन अधिक निर्धन होते जाएँगे। यह उचित नहीं है, क्योंकि अमेरिका जैसे पूँजीवादी देश में भी पूँजीपतियों और श्रमिकों के बीच कटुता उत्पन्न हुई है और श्रमिकवर्ग अधिक धन कमाने लगा है।

निष्कर्ष (Conclusion)—इस प्रकार, मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या में अनेक त्रुटियाँ हैं, किंतु इतिहास की इस आर्थिक व्याख्या से सहमत न होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि मार्क्स ने सामाजिक संस्थाओं में आर्थिक कारणों पर बल देकर समाजशास्त्र की महान सेवा की है। इतिहास को बदलने में आर्थिक शक्तियाँ एकमात्र कारण भले ही न रही हों, लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इतिहास को बदलने में आर्थिक शक्तियों का योग सर्वाधिक अवश्य है। मार्क्स द्वारा ऐतिहासिक आर्थिक व्याख्या उसके दर्शन का महत्तम बिंदु है जिसके द्वारा बदलते हुए समाज का अध्ययन किया जा सकता है।

वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत
(Theory of Class-struggle)

वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत कार्ल मार्क्स का एक प्रमुख सिद्धांत है। यह समाज में होनेवाले परिवर्तनों की प्रक्रिया को सूचित करता है, जबकि इतिहास की आर्थिक व्याख्या इनके मौलिक सिद्धांतों पर प्रकाश डालता है। इस प्रकार, मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत ऐतिहासिक भौतिकवाद की उपसिद्धि (corollary) है और साथ-ही यह अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत के भी अनुरूप है। मार्क्स ने ऐतिहासिक नियतिवाद की सबसे महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति इस बात में देखी कि समाज में हमेशा विरोधी आर्थिक वर्गों का अस्तित्व रहा है। एक वर्ग वह है जिसके पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व है और दूसरा वर्ग वह है जो केवल शारीरिक श्रम करता है। पहला वर्ग सदा दूसरे वर्ग का शोषण करता है। समाज के शोषक और शोषित दो वर्ग हमेशा आपस में संघर्षरत रहते हैं और इनमें समझौता संभव नहीं है।

अर्थ एवं अवधारणा—अब प्रश्न है कि वर्ग-संघर्ष किसे कहते हैं? इतिहास की आर्थिक व्याख्या के संदर्भ में मार्क्स इसका लक्षण बताते हुए कहता है कि जिस समूह के आर्थिक हित एक-से होते हैं, उसे वर्ग कहते हैं, जैसे जमींदारों का, मिल-मालिकों तथा मजदूरों का। संघर्ष का अर्थ सिर्फ लड़ाई नहीं, बल्कि इसका व्यापक अर्थ असंतोष, रोष और आंशिक असहयोग भी है।

कार्ल मार्क्स के विचार में, समाज में **एक वर्ग** उत्पादन के साधनों पर अधिकार रखता है और **दूसरा वर्ग** इन पर आश्रित रहनेवाला तथा परिश्रम करके जीनेवाला मजदूरवर्ग है। **पहला वर्ग** बिना कुछ परिश्रम किए **दूसरे वर्ग** के परिश्रम से लाभ उठाता है और मार्क्स ने इसी को **शोषण** कहा है। इस संदर्भ में पहला **शोषकवर्ग** तथा दूसरा **शोषितवर्ग** कहा जाता है। इन वर्गों के स्वरूप और शोषण के प्रकार में परिवर्तन आता रहता है। *Communist Manifesto* में कहा गया है, "अब तक इतिहास में जो भी समाज विद्यमान रहे हैं, उनमें निरंतर वर्ग-संघर्ष होता रहा है। स्वतंत्र मनुष्य और दास, कुलीन तथा साधारण जनता, सामंत और

WWW.GRADESETTER.COM

उसकी रैयत, गिल्ड या उसके स्वामी और उसके अधीन काम करनेवाले कारीगर—एक वाक्य में कहें तो शोषक और शोषित—सदा एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े होकर कभी प्रत्यक्ष तथा कभी परोक्ष विधि से अनवरत युद्ध करते रहे हैं।'' मार्क्स का कहना है, ''जिन शस्त्रों से बुर्जुओं ने सामंतवाद का अंत किया, वे ही शस्त्र अब संपत्तिशालीवर्ग के विरुद्ध प्रेरित हो रहे हैं।'' **एङ्गिल्स** का कहना है, ''श्रमजीवीवर्ग समाज का वह वर्ग है जो अपने जीवकोपार्जन के लिए पूर्ण रूप से अपने श्रम के विक्रय पर निर्भर होता है, न कि पूँजी के द्वारा प्राप्त लाभ पर। उसका सुख-दुःख, जीवन-मरण और उसका संपूर्ण अस्तित्व उसकी श्रम की माँग पर निर्भर होता है।'' बुर्जुआ के संबंध में **लेनिन** ने कहा है कि वह उस संपत्ति का स्वामी है जिसका उपयोग वह श्रमजीवी के श्रम से अवैध लाभ प्राप्त करने के लिए करता है। वह श्रमिकों से काम लेने के लिए उन्हें अपनी संपत्ति पर नियुक्त करता है, लेकिन उन्हें उनके श्रम का उचित मजदूरी नहीं देता।

वर्ग-संघर्ष के मूल कारणों पर प्रकाश डालते हुए यह कहा गया है कि श्रमिकों और पूँजीपतियों में हमेशा तनाव और प्रतिद्वंद्विता की भावना होती है। एक कम मजदूरी देकर अधिक-से-अधिक श्रम करवाना चाहता है तो दूसरा अपने श्रम का उचित लाभ प्राप्त करना चाहता है। इन विभिन्न स्वार्थों के बावजूद दोनों वर्गों को दोनों की आवश्यकता है, क्योंकि एक की अनुपस्थिति में दूसरा अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता। फिर भी, दोनों के हितों में विरोध है, इसलिए उनमें संघर्ष होना आवश्यक है।

मार्क्स की यह अटल धारणा है कि पूँजीपतियों और मजदूरों के संघर्ष का अनिवार्य परिणाम पूँजीवाद का विनाश और सर्वहारावर्ग की विजय है। पूँजीवाद अपने अंदर ही अपने विनाश का बीज रखता है, क्योंकि—

1. पूँजीवाद में व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से उत्पादन किया जाता है।
2. पूँजीवाद में विशाल उत्पादन और एकाधिकार की प्रवृत्ति रहती है।
3. पूँजीवाद आर्थिक संकटों का जन्मदाता है।
4. पूँजीवाद में अतिरिक्त मूल्य पूँजीपतियों के साथ चला जाता है।
5. पूँजीवाद श्रमिकों की एकता में सहायक है।
6. यह अंतरराष्ट्रीय श्रमिक आंदोलन का जन्मदाता है।

उपर्युक्त अंतर्निहित कारणों से यह स्पष्ट है कि पूँजीवाद स्वतः अपने विनाश की ओर बढ़ता जा रहा है। मार्क्स का कहना है कि श्रमजीवीवर्ग की क्रांति के बाद श्रमजीवीवर्ग का अधिनायकतंत्र स्थापित हो जाएगा जिसमें शनैः-शनैः संपत्तिवादी वर्ग के अंतिम अंश भी समाप्त कर दिए जाएँगे और उसके पश्चात एक वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना होगी।

इस प्रकार, मार्क्स तथा एङ्गिल्स ने *Communist Manifesto* में वर्गयुद्ध के सिद्धांत का वर्तमान समाज के समस्त नियमों को समझने की कुंजी के रूप में प्रयोग किया है। इसमें क्रांतिकारी सर्वहारावर्ग के लिए एक कार्यक्रम की रूपरेखा भी प्रस्तुत की गई है और पूँजीवादी वर्ग पर उन्हें अंतिम विजय का आश्वासन दिया गया है। **प्रो॰ लॉस्की ने** *Communist Manifesto* के संबंध में कहा है कि यह सभी समयों के लिए एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।[1] **प्रो॰ लॉस्की** ने इसकी तुलना अमेरिकी स्वतंत्रता-उद्घोषणा, 1776 और फ्रांसीसी अधिकार की उद्घोषणा, 1789 से की है।

इस प्रकार, अंत में यह कहा जा सकता है कि मार्क्स का कार्यक्रम कुल मिलाकर विकासवादी और क्रांतिकारी दोनों है। यह विकासवादी इस रूप में है कि मार्क्स के विचारानुसार पूँजीवादी समाज से समाजवादी समाज का आविर्भाव क्रमिक रूप से और पूँजीवादी समाज के उत्तरोत्तर और स्वाभाविक ह्रास के फलस्वरूप होगा। यह इस सीमा तक भी विकासवादी है कि मार्क्स के अनुसार जनतांत्रिक परंपरा वाले देशों तक में श्रमिक अपने उद्देश्य की पूर्ति शांतिमय उपायों से कर सकते हैं। उसका कार्यक्रम क्रांतिकारी इस रूप में है कि वह वर्तमान प्रणाली के शव पर नवीन प्रणाली की स्थापना के लिए हिंसा और क्रांति को आवश्यक समझता है। उसका कार्यक्रम क्रांतिकारी इसलिए भी है कि वह बलपूर्वक प्रस्थापित करता है कि पूँजी और श्रम के हितों में कभी न मिटनेवाला विरोध है तथा वर्ग-संघर्ष एक अटल ऐतिहासिक आवश्यकता है। यह क्रांतिकारी इसलिए भी है कि यह अपने आदर्श के विरुद्ध विशिष्ट हितों के लिए कोई सम्मान नहीं रखता और परिस्थिति अनुकूल होने पर अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए कोई भी कदम उठाने के लिए तैयार है। औपचारिक अथवा परंपरावादी औचित्य की धारणाएँ इसे रोक नहीं सकतीं; क्योंकि *Communist Manifesto* में कहा गया है, ''श्रमजीवी वर्ग के पास श्रृंखलाओं के अतिरिक्त खाने को और कुछ भी नहीं है, इसलिए विश्व के श्रमिक संगठित हों।''

1. "It is one of the outstanding political documents of all times."—LASKI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

आलोचनाएँ—मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत की निम्नलिखित आधारों पर आलोचनाएँ की गई हैं—

1. एकांगी और दोषपूर्ण—आलोचकों का कहना है कि यह सिद्धांत संघर्ष के तत्त्व पर आवश्यकता से अधिक बल देने के कारण एकांगी और दोषपूर्ण है। *Communist Manifesto* में कहा गया है, "अब तक के समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।" आलोचकों की राय में यदि वास्तव में मानव-समाज में ऐसा संघर्ष होता तो यह कभी का समाप्त हो गया होता। समाज में संघर्ष की अपेक्षा सहयोग, प्रेम, सहानुभूति की भावनाएँ अधिक प्रबल हैं। मार्क्स ने इस सहयोग की उपेक्षा करते हुए संघर्ष के तत्त्व पर अधिक बल देकर एक बड़ी भूल की है।

2. वर्ग की अस्पष्ट और दोषपूर्ण परिभाषा—आलोचकों का कहना है कि मार्क्स की वर्ग की परिभाषा बहुत अस्पष्ट तथा दोषपूर्ण है। मार्क्स ने अपनी सभी रचनाओं में समाज के दो प्रधान वर्गों—बुर्जुआ या पूँजीपति तथा सर्वहारा—का कोई स्पष्ट तथा सुनिश्चित लक्षण नहीं बताया है। इसके आधार पर वर्तमान समाज में मजदूरों और पूँजीपतियों के दो स्पष्ट वर्ग निश्चित नहीं किए जा सकते।

3. समाज में दो ही वर्ग नहीं है—आलोचकों के विचार में समाज में एक बड़ी संख्या मध्यमवर्ग के लोगों—अध्यापकों, वकीलों, कारखानों के प्रबंधकों, अभियंताओं तथा उच्च सरकारी सेवा करनेवाले कर्मचारियों की भी है। इस वर्ग की सत्ता और संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। अतएव, इस वर्ग की सत्ता मार्क्स के दो वर्गों में होनेवाले संघर्षों के सिद्धांत का खंडन करती है।

4. मानव-इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास नहीं है—यह सही है कि इतिहास में युद्ध हुए हैं, लेकिन इन युद्धों को हम उस अर्थ में वर्ग-संघर्ष नहीं कह सकते जिस अर्थ में मार्क्स ने बताया है। अतः, मार्क्स का यह कथन कि मानव-इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है—अतिशयोक्तिपूर्ण है।

5. धनी और निर्धन का अंतर अनैतिहासिक है—समाज के धनी और निर्धन का अंतर संभवतः मानव-समाज के आरंभ से ही चला आ रहा है। इस आधार पर इसके शाश्वत संघर्ष की मार्क्सवादी कल्पना सर्वथा अनैतिहासिक है। **बर्ट्रैण्ड रसेल** ने अपनी पुस्तक *Freedom and Organisation* में कहा है कि मार्क्स ने जिस वर्ग-संघर्ष की भविष्यवाणी की थी, उसे उसने अपनी शिक्षाओं से ही ग्रहण किया है।

6. आशाओं और आकांक्षाओं पर आधारित है—मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष में मजदूरों की विजय को ध्रुव सत्य माना है। आलोचकों का कहना है कि उसका विश्वास समाजवाद में उसकी गहरी आस्था को भले ही प्रकट करे, किंतु वह ऐतिहासिक सत्य को अभिव्यक्त नहीं करता।

7. संघर्ष आर्थिक कारणों से नहीं होते—आलोचकों के अनुसार मार्क्स की एक भूल यह भी है कि वह सामाजिक श्रेणियों को आर्थिक आधार पर संगठित वर्ग मानकर इनमें संघर्ष की कल्पना करता है। यह बात सही है कि समाज में संघर्ष चलता रहता है, लेकिन यह संघर्ष आंतरिक कारणों से नहीं, वरन राजनीतिक सत्ता पाने के लिए होता रहा है।

8. पूँजीवाद का विनाश संभव नहीं है—मार्क्स का यह विश्वास था कि पूँजीवाद का विकास होने से उसका पतन अनिवार्य है, लेकिन अभी तक पूँजीवादी व्यवस्था का विकास करनेवाले इंगलैंड और अमेरिका आदि देशों में पूँजीवाद का विनाश नहीं हुआ है।

इसी तरह से मार्क्स के वर्गहीन समाज की कल्पना सत्य नहीं है, क्योंकि मजदूरवर्ग अपने सामान्य शत्रु पूँजीवाद का विरोध करने के लिए एक वर्ग संगठित कर सकता है, लेकिन पूँजीवाद के विनाश के बाद भी उनमें एकता बनी रहेगी, इसकी संभावना बहुत कम प्रतीत होती है।

इस प्रकार, मार्क्स के वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत हानिकारक है। यह घृणा के प्रचार की शिक्षा देता है। सच पूछा जाए तो मार्क्स के वर्ग-संघर्ष-सिद्धांत के चलते ही आधुनिक समाजों में तनाव तथा अशांति बढ़ी है।

मार्क्स की राज्य-संबंधी धारणा
(Marxian Theory of State)

कार्ल मार्क्स ने अपने दर्शन में राज्य के संबंध में भी बहुत-सी बातें बताई हैं। उसका राज्य-सिद्धांत उसके इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की एक उपसिद्धि-मात्र है। मार्क्स राज्य के परंपरागत और प्राचीन सिद्धांतों में विश्वास नहीं करता, क्योंकि राज्य का परंपरागत और प्राचीन सिद्धांत उसे एक निगमात्मक समूह

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(a corporate group) लगता है जिसमें विभिन्न समूह अथवा वर्ग सबके सामान्य कल्याण के लिए परस्पर सहयोग करते हैं। इस प्रकार, परंपरावादी सिद्धांत के अनुसार राज्य एक सार्वजनिक समुदाय या सर्वव्यापी समूह है, जो समाज के विभिन्न तत्त्वों में एक उचित संतुलन बनाए रखने का प्रयास करता है। लेकिन, मार्क्सवादी सिद्धांत राज्य के परंपरावादी सिद्धांत से असहमत है और उसका कहना है कि राज्य सर्वकल्याण को अपना उद्देश्य समझनेवाला समुदाय न कभी रहा और न कभी हो सकता है। मार्क्स के अनुसार, यह हमेशा एक ऐसा संगठन रहा है और हमेशा ऐसा ही रहेगा जिसके द्वारा प्रधान आर्थिक वर्ग अन्य आर्थिक वर्गों के ऊपर शासन एवं उनका शोषण करता है। सारांश में, राज्य एक सार्वजनिक समुदाय अथवा सर्वव्यापी समूह है जो समाज के विभिन्न तत्त्वों में एक उचित संतुलन बनाए रखने का प्रयास करता है। **लॉस्की** के अनुसार, राज्य नागरिकों के संबंध को इस तरह संतुलित करने का प्रयास करता है जिससे प्रत्येक नागरिक यदि वह ऐसा चाहे, तो अपने व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास कर सकता है।[1]

मार्क्सवादी सिद्धांत राज्य के इस परंपरावादी सिद्धांत का खंडन करता है और कहता है कि राज्य सर्वकल्याण को अपना उद्देश्य समझनेवाला समुदाय न कभी रहा है और न कभी हो सकता है। यह सदैव एक ऐसा संगठन रहा है और ऐसा ही रहेगा जिसके द्वारा प्रधान आर्थिक वर्ग दूसरे आर्थिक वर्गों के ऊपर शासन करता है और शोषण करता है।

Communist Manifesto में कहा गया है कि आधुनिक राज्य की कार्यपालिका सभी पूँजीपतियों के सामान्य मामलों के प्रबंध की एक समितिमात्र है। **एङ्गिल्स** ने कहा है कि राज्य एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग के दमन का एक मंचमात्र है।

मार्क्स और **एङ्गिल्स** राज्य को **प्लेटो** और **अरस्तू** के समान स्वाभाविक समुदाय नहीं मानते, वे राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धांत में भी विश्वास नहीं करते। मार्क्सवादी धारणा के अनुसार राज्य का जन्म उस समय इतिहास की प्रक्रिया में होता है जब समाज ऐसे दो विरोधी गुटों में विभक्त हो जाता है, जिनके हित परस्पर-विरोधी होते हैं और जिनके हितों में कोई सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता। अर्थात, राज्य वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति है। मार्क्स कहता है कि शासन द्वारा शासकवर्ग अपनी इच्छाओं को शासितों पर थोपते हैं। शासन का प्रयोग बुर्जुआ लोग निम्नवर्ग के शोषण के लिए करते आए हैं। राज्य एक ऐसी संस्था है जो श्रमिकों के अतिरिक्त मूल्य को छीनने में पूँजीपतियों का सहायक है। पूँजीवाद के हितों की रक्षा के लिए राज्य न सिर्फ पुलिस और सैनिक रखता है, वरन राज्य की न्यायपालिका भी इसी काम में प्रयुक्त होती है। राज्य के राजद्रोह-विषयक कानून ऐसे बनाए जाते हैं जिससे श्रमिकों का पूँजीपतियों के विरुद्ध विद्रोह करना कठिन हो जाता है। आधुनिक राज्य धर्म-संस्थाओं के माध्यम से श्रमिकों की जागती हुई चेतना को दबाते हैं और उनके मन में यह भावना प्रस्थापित करते हैं कि राज्य के विरुद्ध विद्रोह ईश्वर के प्रति पाप है। पूँजीवादी राज्य की शैक्षणिक संस्थाएँ भी श्रमिकों में आज्ञापालन और समर्पण की भावना भरने का काम करती हैं। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार राज्य का उद्देश्य प्रधान वर्ग को अधीनस्थ वर्गों का शोषण करके अपनी संपत्ति की रक्षा करने और उसे चुनौती देनेवाले समस्त विचारों को कुचलने की शक्ति प्रदान करना है। **एफ० एङ्गिल्स** ने अपनी पुस्तक *The Origin of the Family, Private Property and State* में राज्य की उत्पत्ति का विश्लेषण करते हुए लिखा है—"Rather it is the product of the society of the certain stage of development."

मार्क्सवादी राज्य की विशेषताएँ

मार्क्सवाद के अनुसार राज्य की विशेषताओं के संबंध में निम्नलिखित तीन मान्यताएँ हैं—

1. राज्य की उत्पत्ति तब होती है जब समाज का विभाजन होता है।
2. राज्य वर्ग-शासन का एक उपकरण है।
3. जब समाज वर्गविहीन हो जाता है तब राज्य की आवश्यकता समाप्त हो जाती है।

जहाँ तक पहली मान्यता का प्रश्न है, **एङ्गिल्स** का कहना है कि राज्य की आवश्यकता उस समय महसूस की गई जिस समय जनसंख्या में काफी वृद्धि हुई और जनसंख्या में वृद्धि के चलते कार्य-विभाजन तथा

1. "The state strives to hold a just balance between the different elements in society. It strives, by its policy, of effect such an adjustment of the relationship between citizen as well as enable each of them to realize, if he so desires, the fullest implication of human personality."—LASKI : *Communism*, p. 124

WWW.GRADESETTER.COM

समाज का विभिन्न वर्गों में विभाजन हुआ। इसके परिणामस्वरूप निजी स्वामित्व का खंडन हुआ और वर्ग-संघर्ष की भावना में वृद्धि हुई और तब कानून की व्यवस्था के लिए राज्य की आवश्यकता महसूस की गई।

मार्क्सवादी धारणा के अनुसार संक्रमणकाल के इन दिनों में राज्य निरंकुश और शक्तिशाली संस्था के रूप में कार्य करेगा और श्रमिकवर्ग राज्य को हथिया लेने के बाद इसका प्रयोग प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के विरुद्ध करेगा। संक्रमणकाल की इस अवधि में सांविधानिक तरीके समाप्त हो जाएँगे और बुर्जुआवर्ग को कुचल दिया जाएगा। इससे श्रमिकवर्ग की तानाशाही स्थापित होगी और इस प्रकार समाज का नया पुनर्गठन होगा। इसमें राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। राज्य की समाप्ति के बाद वर्गविहीन आर्थिक समाज की स्थापना होगी। इससे श्रमिकों को स्थायी स्वतंत्रता प्राप्त होगी। वर्गविहीन आर्थिक समाज के इस नए युग में साधन की कोई कमी नहीं होगी और वितरण की एक नई पद्धति अपनाई जाएगी। इस समाज में 'प्रत्येक को अपनी योग्यता और आवश्यकता के अनुसार' (from each according to his ability to each according to his need) का नारा बुलंद होगा और यही साम्यवादी राज्य की स्थापना का नया चिह्न होगा। यह एक ऐसा समय होगा जब वर्ग-विभेद की बात नहीं होगी और राज्य, जो एक शोषण के साधन के रूप में काम करता है, उसकी समाप्ति होगी।

इस प्रकार, मार्क्स के राज्य-संबंधी धारणा के निम्नलिखित परिणाम हैं—

1. राज्य वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति है। यह हमेशा ऐसा समुदाय रहा है और रहेगा जिसके द्वारा एक आर्थिक वर्ग दूसरे आर्थिक वर्ग का नियंत्रण और शोषण करता है।

2. वर्तमान पूँजीवादी राज्य में श्रमजीवी वर्ग कभी आस्था नहीं रख सकता, क्योंकि पूँजीपति उसका शोषण करते हैं।

3. राज्य एक दमनकारी समुदाय है जो वर्ग-विभेदों को भी बनाए रखता है और वर्ग-विशेषाधिकारों को पालता है।

4. द्वंद्ववाद के सिद्धांत के आधार पर मार्क्स ने बताया है कि भविष्य में राज्य नहीं रहेगा एवं एक वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना होगी। जब श्रमजीवी वर्ग की विजय के परिणामस्वरूप पूँजीवादी संस्था के रूप में राज्य नष्ट हो जाएगा तब सार्वजनिक कार्यों का "राजनीतिक स्वरूप जाता रहेगा और वे सच्चे सामाजिक हितों की देखभाल के लिए साधारण प्रशासकीय कारण बन जाएँगे।"

5. पूँजीवादी समाज, वर्ग-संघर्ष एवं श्रमिकों के शोषण का शीघ्रातिशीघ्र अंत करने के लिए एकमात्र उपाय क्रांति है, क्योंकि राज्य पूँजीवादी व्यवस्था के शोषक वर्ग की सहायता करता है और इस सहायता के लिए वह पूरी शक्ति और बल का प्रयोग करता है। अतएव, राज्य का अंत उससे अधिक शक्ति और बल के द्वारा ही किया जा सकता है। **मार्क्स** कहता है कि राज्य को समाप्त करने के लिए पहले उसपर पूँजीपतियों का आधिपत्य क्रांति के द्वारा समाप्त किया जाए और जब तक पूँजीपति-तत्त्वों का पूर्णतया विनाश न हो जाए तबतक राज्य पर श्रमिकों का अधिनायकत्व बना रहे, क्योंकि उस शक्ति को प्राप्त करने से कोई लाभ नहीं, यदि वह छिन जाए। शक्ति को छिने जाने से रोकने के लिए शक्ति का प्रयोग आवश्यक है।

6. श्रमिकों का अधिनायकत्व वर्गविहीन समाज की स्थापना से पूर्व की संक्रांतिकालीन (transitional) अवस्था है। मार्क्स ने इस संबंध में अपने *Criticism of the Gotha Programme* में लिखा है।[1]

7. सर्वहारावर्ग के अधिनायकत्व के अंतर्गत आधुनिक राज्यों में वर्ग-विरोध का अंत हो जाएगा और समाज के सभी व्यक्तियों का स्वतंत्र विकास होगा। मार्क्स के अनुसार, सर्वहारावर्ग का अधिनायकत्व एक प्रकार से मजदूरों के प्रजातंत्र का रूप धारण करता है। लेकिन, सर्वहारावर्ग का राज्य कितने दिनों तक कायम रहेगा—यह बात पूरी तरह से कल्पना पर छोड़ दी गई है।

आलोचनाएँ—मार्क्स के राज्य-संबंधी विचारों की निम्नलिखित आधारों पर आलोचनाएँ की गई हैं—

1. राज्य-उत्पत्ति के संबंध में **जॉन प्लामेनाज** *(John Plamenatz)* ने अपनी पुस्तक Man and Society की पृष्ठ-संख्या 366 पर एङ्गिल्स द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पत्ति-संबंधी सिद्धांत का खंडन किया है। इनके विचारानुसार, राज्य की उत्पत्ति पहले हुई और तब वर्गों का आविर्भाव हुआ। **एफ० एङ्गिल्स** ने ठीक इसके

1. "Between capitalist and communist society lies the period of the revolutionary transformation of the one into the other. There corresponds to this also a political transition period in which the state can be nothing but the revolutionary dictatorship of the proletariate."—MARX

WWW.GRADESETTER.COM

विरुद्ध तर्क दिया है। **जॉन प्लामेनाज** ने यह भी कहा है कि श्रम-विभाजन का परिणाम ग्रूप हो सकता है, मार्क्सवाद द्वारा प्रतिपादित वर्ग नहीं।

2. मार्क्सवाद के अनुसार बुर्जुआवर्ग की समाप्ति के बाद श्रमिकवर्ग की तानाशाही स्थापित होगी और श्रमिकवर्ग की यह तानाशाही बुर्जुआवर्ग को हमेशा के लिए समाप्त कर देगी। लेकिन, श्रमिकवर्ग की इस तानाशाही से मजदूरवर्ग में भी मतभेद उत्पन्न हो सकता है और बाद में जब विभिन्न राजनीतिक दलों का निर्माण होगा तब श्रमिकवर्ग के प्रतिनिधियों का समापन हो जाएगा। **डारविन** ने अपनी पुस्तक *Politics of Democratic Socialism* में इसी विचार को प्रतिपादित किया है, क्योंकि एक वर्ग में भी विभिन्न दलों का संगठन हो सकता है और इस प्रकार राजनीतिक नेतृत्व के लिए इन राजनीतिक दलों में हमेशा संघर्ष एवं प्रतिद्वंद्विता की भावना बनी रहेगी।

3. सर्वहारा राज्य (Proletariate State) की समाप्ति के संबंध में भी संदेह व्यक्त किए गए हैं। **स्टालिन** ने कहा है कि एक साम्यवादी राज्य उस समय तक समाप्त नहीं होगा, जब तक पूँजीवादी राज्यों द्वारा वह घेर नहीं लिया जाता और ऐसी स्थिति में साम्यवादी राज्य की समाप्ति हो सकती है।

4. राष्ट्रीयता की भावना के चलते भी मार्क्स का राज्य-संबंधी विचार आज के युग में मेल नहीं खाता। यदि हम स्वीकार भी कर लें कि पूँजीवाद की समाप्ति हो जाएगी तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि अनेक साम्यवादी राष्ट्र आपस में लड़ते रहेंगे। उनकी राष्ट्रीयता की भावना मार्क्सवादी सिद्धांत की अवहेलना करने लगेगी। इस संदर्भ में सोवियत रूस और चीन के मतभेद को समझा जा सकता है।

5. आज सोवियत संघ और अमेरिका में या अन्य विभिन्न शक्तियों में कभी भी आणविक युद्ध हो सकते हैं।[1] यदि यह आणविक युद्ध हुआ तो सारे विश्व की समाप्ति हो जाएगी और तब भविष्य में समाज-विहीन राज्य की कल्पना अपने-आप चूर हो जाती है।

6. **मार्क्स** तथा **एङ्गिल्स** ने 'government' और 'organisation' में विभेद किया है, जो न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि किसी भी स्थिति में सरकार और संगठन में अंतरभेद नहीं किया जा सकता।

7. **प्रो॰ विलियम इबेंस्टीन** (William Ebenstein) ने अपनी पुस्तक *Today's Isms* में मार्क्स के सिद्धांत का खंडन करते हुए कहा है कि अमेरिका तथा ब्रिटेन द्वारा प्रतिपादित निर्वाचक सुधारों (electoral reforms) पर **मार्क्स** ने कोई ध्यान नहीं दिया है।[1] आज बिना क्रांति किए हुए भी समाजवाद की स्थापना-संबंधी मार्ग प्रशस्त हो रहे हैं।

मार्क्स की यह धारणा है कि राज्य-परिवर्तन हिंसा द्वारा ही हो सकता है। आज के कल्याणकारी राज्यों पर उसे आरोपित नहीं किया जा सकता। आज शांतिमय तरीकों से साम्यवादी कानून बनाए जा रहे हैं और अनेक राज्यों में समाजवाद बिना हिंसा के ही द्रुतगति से विकसित हो रहा है।

निष्कर्ष—मार्क्स के राज्य-संबंधी-सिद्धांत में उपर्युक्त सारे दोष विद्यमान हैं, फिर भी **मार्क्स** के विचारों की सत्यता और तार्किक विवेचन से हम मुँह नहीं मोड़ सकते। इतिहास की गति को समझकर उसे बदल देने का कष्टसाध्य प्रयास **मार्क्स** की अनुपम देन है। उसने क्रांति का संदेश देकर दलित, पीड़ित, शोषित तथा कमजोर जनता में संगठन का संदेश फूँका और उन्हें गतिशील बनाया। यह **मार्क्स** की ही देन है कि उसने भविष्य की साम्यवादी, वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की कल्पना की है जिसमें विशुद्ध समानता होगी और युग-युगांतर से कुचले गए श्रमिक वर्गों को अपना औचित्य प्राप्त होगा और इस प्रकार उनके समाज की सार्थकता सिद्ध होगी।

मार्क्स का मूल्य और अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत
(Marxian Theory of Value and Surplus Value)

इस सिद्धांत के माध्यम से मार्क्स ने यह बताया है कि पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों का किस प्रकार शोषण किया जाता है। मार्क्स ने अपने इस सिद्धांत का विवेचन अपनी पुस्तक 'दास कैपिटल'

1. "If Marx had accorded the political factor in due weight, if he had fully grasped the importance of the Reform Act in England and of the Jacksonian Revolution in the United States, he might have realised that socialism, too, might be accomplished without violence in countries that possessed democratic traditions."—WILLIAM EBENSTEIN

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

में किया है। उसका मूल्य कीमतों का सिद्धांत नहीं है। उसके मूल्य सिद्धांत का प्रधान उद्देश्य यही प्रकट करता है कि पूँजीपति श्रमिक को यथायोग्य पारिश्रमिक नहीं देते। श्रमिकों के श्रम का मनमाना मूल्य लगाकर पूँजीपति उनका शोषण करते हैं। मार्क्स के मूल्य-सिद्धांत पर रिकार्डो के सिद्धांत का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। मूल्य का श्रम-सिद्धांत भी रिकार्डो से ग्रहण करके वह उसे समाजवादी आशय व्यक्त करनेवाला बताता है। फिर भी, अपनी मौलिकता दर्शाने के लिए मार्क्स कहता है कि रिकार्डो को श्रम-मूल्य के बदले श्रम-शक्ति के संबंध में विचार करना चाहिए था।

मार्क्स का कहना है कि प्रत्येक वस्तु का प्रयोग-मूल्य (use value) इस बात पर निर्भर नहीं होता कि उसपर कितना मानव-श्रम खर्च किया गया है। उदाहरण के लिए, वायु और जल पर कोई मानव-श्रम खर्च नहीं किया जाता। अतः, उनका प्रयोग या उपयोग-मूल्य होता है। किन्तु, किसी वस्तु का विनिमय-मूल्य (exchange value) इसलिए होता है कि उस वस्तु के उत्पादन में मानव-श्रम खर्च किया जाता है। उदाहरण के लिए, घड़ी को बनाने के लिए मजदूर को काफी खर्च करना पड़ता है, अतः उसका विनिमय-मूल्य ज्यादा होता है।

मार्क्स ने पूँजीपतिवर्ग और श्रमिकवर्ग में चलनेवाले सतत संघर्ष का मुख्य कारण अपने 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत' में माना है। उसका तर्क इस प्रकार है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसपर खर्च किए गए श्रम के अनुसार होता है। जिस वस्तु पर हमें जितना कम श्रम करना पड़ता है, वह उतनी ही सस्ती होती है। अर्थात, प्रत्येक वस्तु को उसका मूल्य देनेवाला उसके श्रमिक का श्रम है। इसमें जिस कीमत पर वस्तु बिकती है, उसमें अंतर है। मार्क्स इस अंतर को वस्तु का अतिरिक्त मूल्य (surplus value) मानता है। अतिरिक्त मूल्य की परिभाषा में **मार्क्स** ने लिखा है—"यह उन दो मूल्यों का अंतर है जिन्हें एक मजदूर पूरा करता है तथा पाता है" (Surplus value is the difference between the value of the wages which a labour produces and which he actually receives)। **प्रो॰ सेबाइन** ने मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य-सिद्धांत के संबंध में कहा है,

"पूँजीवाद की रक्षा में श्रम-शक्ति दो रूपों में कार्य करती है। वह एक पदार्थ है जिसके लिए मजदूर निर्वाह-मजदूरी प्राप्त करता है। इसके साथ ही वह मूल्य का स्रष्टा भी है। पूँजीपति निर्वाह-मजदूरी देने के बाद संपूर्ण मूल्य स्वयं ग्रहण कर लेते हैं। मजदूर उत्पादन में चाहे कितनी ही निपुणता, योग्यता और निष्ठा से कार्य क्यों न करे, उसे उसके बदले में केवल निर्वाह-मजदूरी मिलती है। शेष सारा लाभ पूँजीपति की जेब में जाता है।" अतिरिक्त मूल्य के उपर्युक्त सिद्धान्त के विश्लेषण से यह पता चलता है कि **मार्क्स** ने इसके द्वारा तीन नियमों का प्रतिपादन किया है—

1. पूँजी-संचय का सिद्धांत (the law of capital accumulation),
2. पूँजी के केंद्रीकरण का सिद्धांत (the law of concentration of capital) तथा
3. कष्टों की वृद्धि का सिद्धांत (the law of increasing misery)।

आलोचनात्मक मूल्यांकन—कार्ल मार्क्स के मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत का महत्त्व आर्थिक सत्य की अपेक्षा एक राजनीतिक तथा सामाजिक नारा के रूप में अधिक है। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से यह सिद्धांत सही नहीं है, बल्कि गलत मान्यताओं पर आधारित है। उत्पादन में श्रम को ही एकमात्र सक्रिय और आवश्यक तत्त्व मानना तथा श्रम की मजदूरी को ही उत्पादन का मूल्य निश्चित करने में न्यायोचित समझना एक गलत धारणा है। यह बात सर्वविदित है कि श्रम के अलावा अनेक ऐसे तत्त्व हैं जिनके कारण एक वस्तु का मूल्य निश्चित होता है और ये तत्त्व हैं—भूमि, पूँजी, संगठन तथा संस्था। **मार्क्स** एक गंभीर भूल यह करता है कि वह सिर्फ शारीरिक श्रम को ही श्रम मानता है। मानसिक श्रम की वह उपेक्षा करता है।

प्रो॰ जी॰ डी॰ एच॰ कोल ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है—"मार्क्स का सिद्धांत काफी सीमा तक ऐसा वादानुवाद था, शास्त्रार्थपूर्ण है जो अपनी निरंतर गलतफहमियों के परिणामस्वरूप, जिन्हें मार्क्स के शिष्यों ने फैलाया, बढ़ता तथा फूलता-फलता जा रहा है।"

जेम्स बोनर का कहना है—"मार्क्स की रचनाओं का जादू मुख्य रूप से संभवतः उसका चिपकाव तथा विश्वास है जिसके द्वारा वह अपनी चाभी को एक ताले से दूसरे ताले में प्रयुक्त करता है। उसे इस बात का कभी संदेह नहीं होता है कि उसकी चाभी तालों को खोल देगी।"

बर्ट्रैण्ड रसेल के अनुसार, "वर्तमान पद्धति के विषय में मार्क्स के अनुसार अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत का अनुवाद शुद्ध सिद्धांत के लिए देन की अपेक्षा घृणा की परिभाषा के सारांश रूप में किया जाए तो

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अधिक युक्तिसंगत होगा। अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत के विरुद्ध आर्थिक सिद्धांत की बहुत-सी अव्यावहारिक चर्चा अपेक्षित है। समाजवाद के व्यावहारिक, पूर्ण या मिथ्या होने के संबंध में इस सिद्धांत में यह कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं।''

निष्कर्ष—उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य-सिद्धांत की यद्यपि तरह-तरह की आलोचनाएँ कीं गई हैं तथापि यह एक गंभीर और नग्न सत्य है कि अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत एक ऐसा मूल तत्त्व है, जो पूँजीवाद को आंदोलित कर देनेवाली विभीषिकाओं को उद्घाटित करता है। मार्क्स का मूल्य-सिद्धांत निश्चित रूप से श्रमिकों को अपने श्रम का समुचित मूल्य दिलाएगा—ऐसी संभावनाएँ हैं।

लेनिनवाद
(Leninism)

विषय-प्रवेश (Introduction)—लेनिनवाद को मार्क्सवाद का रूसी संस्करण भी कहा जाता है। लेनिनवाद मार्क्सवाद के उन सिद्धांतों का नाम है जिन्हें रूस की विशेष तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल ढाल दिया गया है। कुछ लेखकों ने लेनिनवाद को समाजवाद एवं श्रमजीवी क्रांति के युग का मार्क्सवाद कहा है। **स्टालिन** ने कहा है—"Leninism is Marxism of the epoch of imperialism and proletarian's revolution." **लेनिन** एक व्यावहारिक क्रांतिकारी था और रूस में श्रमिकवर्ग की क्रांति लाना चाहता था। उसका विश्वास था कि पूँजीवाद से साम्यवाद की ओर परिवर्तन शांतिपूर्ण उपायों से नहीं लाया जा सकता। वह क्रांति में विश्वास करता था और इसीलिए उसने साम्यवाद के विकासवादी तत्त्व पर अत्यधिक जोर दिया है। लेनिनवाद की दूसरी विचारधारा में यह कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद के क्रांतिकारी पक्ष का, जिसे पश्चिमी यूरोपीय देशों के विकासवादी समाज ने दबा दिया था, पुनरुत्थान है। **लेनिन** ने मार्क्सवाद में पाए जानेवाले उन क्रांतिकारी तत्त्वों को जीवन दिया है, जिन्हें द्वितीय अंतरराष्ट्रीय अवसरवादियों ने धूमिल कर दिया था। सचमुच, लेनिनवाद साम्राज्यवाद तथा सर्वहारा क्रांति के युग का मार्क्सवाद है। **जी० एच० सेबाइन** ने कहा है कि **लेनिन** ने मार्क्सवाद को आधुनिक रूप दिया है।

लेनिनवाद मार्क्सवाद का संशोधित रूप (Leninism is Inverted Marxism)

लेनिन ने **मार्क्स** के सिद्धांतों में गहरी दिलचस्पी लेते हुए उनका प्रयोग रूस में क्रांति को सफल बनाने के लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही किया है। अतः, **लेनिन** ने क्रांति करने की पद्धतियों और विधियों पर अधिक जोर दिया है। उसने विशेष रूप से इस समस्या पर ध्यान दिया है कि पूँजीवाद को समाजवाद के रूप में कैसे बदला जा सकता है। इस क्षेत्र में **लेनिन** ने **मार्क्स** और **एङ्गिल्स** के सिद्धांतों में कई बातें जोड़ी हैं। उसने संशोधनवादियों द्वारा मार्क्सवाद पर किए जानेवाले आक्षेपों का उत्तर दिया है और ऐसी समस्याओं पर प्रकाश डाला है जिसका **मार्क्स** और **एङ्गिल्स** ने बहुत कम प्रतिपादन किया था। **स्टालिन** ने लिखा है कि **लेनिन** का एक बड़ा कार्य यह था कि उसने **मार्क्स** के सिद्धांत को आधुनिक (up-to-date) बनाने का प्रयास किया। मार्क्सवाद को उसने रूस की परिस्थितियों के अनुसार ढाला। ऐसा करते हुए **लेनिन** ने मार्क्स के सिद्धांतों में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया है। **लेनिन** द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का निम्नलिखित रूप में विश्लेषण किया जा सकता है।

लेनिन की साम्राज्यवादी-पूँजीवादी विचारधारा

मार्क्स ने द्वंद्वात्मक प्रणाली के आधार पर यह भविष्यवाणी की थी कि विकास की इस प्रक्रिया में पूँजीवाद विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है और समाजवाद की स्थापना एक अवश्यंभावी सत्य है। लेनिनवाद की ऐतिहासिक घटनाओं ने उसकी भविष्यवाणी को पुष्ट नहीं किया। जब 1914 ई० में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ा तब यूरोप के साम्राज्यवादी दल अपने अंतरराष्ट्रीय नीति से विमुख होते गए और वे **कार्ल मार्क्स** के इस सिद्धांत को भूल गए कि **श्रमिकों का कोई देश नहीं होता है।**

लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की अंतिम दशा मानते हुए उसके विकास का विस्तार से प्रतिपादन किया है। उसका कहना है कि पूँजीवाद का अधिकाधिक विकास होने से उसमें केंद्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती है। विभिन्न उद्योगों में बड़े-बड़े संगठन, ट्रस्ट, मूल्य-निर्धारक संघ आदि बनने लगते हैं। सारे उद्योग मुट्ठीभर पूँजीपतियों के हाथों में रहने लगते हैं और इस प्रकार इनका विभिन्न उद्योगों पर एकाधिपत्य स्थापित हो जाता

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

है। बैंकों पर भी उद्योगपति अपना नियंत्रण स्थापित करने लगते हैं। वास्तव में **लेनिन** ने अपनी व्याख्या द्वारा यह प्रदर्शित करने की कोशिश की है कि **मार्क्स** को जिन परिणामों को निकालने की उम्मीद थी, वे वास्तव में अपना परिणाम दिखाए। लेकिन, कुछ लिखित घटनाओं के चलते वे ओझल हो गए। **लेनिन** की दृष्टि में साम्राज्यवाद पूँजीवाद का ही एक रूप है और उसकी अंतिम मंजिल है, जिसका अंत होते ही समाजवाद का युग आएगा। **लेनिन** की दृष्टि में साम्राज्यवाद के निम्नलिखित पाँच लक्षण हैं—

(i) साम्राज्यवाद में उत्पादन का केंद्रीकरण और पूँजी का विस्तार उस अवस्था तक पहुँच जाता है कि एकाधिकार का विस्तार होता है।

(ii) बैंक की पूँजी का औद्योगिक पूँजी के साथ मिश्रण होने से वित्तीय पूँजीवाद और पूँजीपतियों का विस्तार होता है।

(iii) पहले से केवल उत्पादित वस्तुओं का निर्यात होता है और बाद में पूँजी का निर्यात प्रारंभ हो जाता है।

(iv) अंतरराष्ट्रीय पूँजीवादी एकाधिकार-संपन्न पूँजीपति अपनी मुनाफाखोरी के लिए विश्व को विभाजित कर लेते हैं।

(v) पूँजीवाद का असमान विस्तार होता है। कभी तो पूँजीवादी व्यवस्था में पूरी रोजगारी रहती है तो कभी बेरोजगारी के कारण आर्थिक स्थिरता दिखाई देती है।

स्पष्ट है कि लेनिन ने साम्राज्यवाद का जो विश्लेषण किया है, उसमें तीन अंतर्विरोध दिखाई देता है—**पहला विरोध** श्रम और पूँजी का है तो **दूसरा विरोध** साम्राज्यवाद के अंतर्गत विभिन्न देशों के उद्योगों द्वारा प्रतियोगिता और अपने-अपने हितों के लिए संघर्ष पाया जाता है। युद्धों में राष्ट्र निर्बल हो जाते हैं तथा मजदूर-क्रांति की संभावना बढ़ जाती है। साम्राज्यवाद में **तीसरा विरोध** यह है कि शोषक राष्ट्रों का शोषित राष्ट्रों से संघर्ष हो जाता है। सारांश यह है कि **लेनिन** ने यह बताना चाहा है कि साम्राज्यवाद उन स्थितियों का जनक है जो पूँजीवादी दुर्ग पर हमला बोलने के लिए सर्वाधिक अनुकूल होती हैं। साम्राज्यवाद अंतरराष्ट्रीय युद्धों को जन्म देता है तथा वर्ग-संघर्ष को जागृत कर सैनिकों को यह बता देता है कि वे अपने कल्याण की प्राप्ति एक अंतरराष्ट्रीय सामाजिक शक्ति द्वारा ही कर सकते हैं।

लेकिन, **लेनिन** द्वारा पूँजीवादी साम्राज्यवाद का जो विश्लेषण किया गया है, उसमें अनेक गंभीर दोष हैं—

1. ऐतिहासिक घटनाक्रम को मनमाने ढंग से तोड़-मरोड़कर और उलटा करके उपस्थित करना था। यह आपत्ति उठाई जाती है कि पूँजीवाद के साम्राज्यवादी तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए **लेनिन** ने मार्क्सवादी विश्लेषण की जो पुनर्व्याख्या की है, उसके अनुसार मजदूरवर्ग की क्रांति ब्रिटेन-जैसे औद्योगिक देश में होनी चाहिए थी, न कि रूस में जो उद्योग-धंधों में एक पिछड़ा हुआ देश था।

2. मार्क्स के इस सिद्धांत का खंडन करना है कि आर्थिक कारण ही राजनीतिक घटनाओं के विकास को निर्धारित करते हैं। **लेनिन** कहता है कि अंतरराष्ट्रीय युद्धों का मूल कारण यह है कि विश्व की मंडियों का बँटवारा तथा साम्राज्यों का निर्माण विभिन्न देशों की राजनीतिक शक्ति के आधार पर होता है। यह बात **लेनिन** के मुँह से ठीक नहीं प्रतीत होती, क्योंकि वह मार्क्स के इतिहास की आर्थिक व्याख्या के मौलिक सिद्धांत पर कुठाराघात कर देता है।

3. **लेनिन** ने स्वीकार किया है कि पूँजी के निर्यात तथा साम्राज्य में अभिन्न संबंध है, लेकिन **सी॰ एल॰ वेपर** लेनिन के इस कथन को असत्य ठहराता है। उदाहरण के लिए, प्रतिव्यक्ति पूँजी निर्यात करने की दृष्टि से स्विट्जरलैंड सब देशों से आगे है, पर स्विसजनों का संसार में कोई साम्राज्य नहीं है। **लेनिन** ने यह भी कहा है कि जिन देशों में पूँजी का निर्यात होता है, वहाँ गरीबी फैलती है। **लेनिन** के इस कथन में भी पूर्ण सत्यता नहीं है, क्योंकि अमेरिका में काफी समय से पूँजी-निर्यात हो रहा है, पर वहाँ अभी तक गरीबी नहीं आई है।

इन सब कारणों से **सी॰ एल॰ वेपर** यह परिणाम निकालता है कि मार्क्सवाद की पुष्टि के रूप में **लेनिन** का सिद्धांत असत्य एवं बेईमानी है और जहाँ तक वह सत्य है, वह मार्क्सवाद का खंडन करता है।

क्रांतिकारी मार्क्सवाद पर बल (Emphasis on Revolutionary Marxism)

लेनिन ने अपनी पुस्तक **स्टेट एण्ड रिवोल्यूशन** (*State and Revolution*) में लिखा है कि उनका उद्देश्य **मार्क्स** की वास्तविक शिक्षाओं को पुनर्जीवित करना था। इसे **लेनिन** ने दो प्रकार से किया है—

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(क) उसने मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के मौलिक सिद्धांतों का पुनः प्रतिवादन अपनी *Materialism and Empiro Criticism* नामक रचना में किया है। इसमें **लेनिन** की कोई नई देन या प्रतिवादन की नवीनता नहीं है। **लेनिन** की यह रचना **सी० एल० वेपर** के शब्दों में **अत्यंत शुष्क, नीरस, पुनरावृत्तिप्रधान तथा कट्टर सिद्धांतवादी** है। (ख) लेनिन का दूसरा कार्य इस बात पर बल देना था कि समाजवाद की स्थापना क्रांतिकारी साधनों से ही हो सकती है। उस समय **बर्न्सटाइन** का तथा ब्रिटेन के फेबियन दल का विश्वास था कि शांतिपूर्ण साधनों से शनैः-शनैः एक विकासवादी प्रक्रिया द्वारा समाजवाद स्थापित किया जा सकता है, किंतु **लेनिन** इस सिद्धांत का प्रबल विरोधी था। उसके अनुसार इसकी स्थापना क्रांति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से नहीं हो सकती थी। अतः, मार्क्स की शिक्षाओं से उसने क्रांतिकारी तत्त्वों पर ही अधिक बल दिया है। **लेनिन** ने मार्क्स के सिद्धांतों के निम्नलिखित क्रांतिकारी तत्त्वों पर बल दिया है—

1. क्रांति की अनिवार्यता—मार्क्स अपने जीवन के अंतिम वर्षों में यह जानने लगा था कि ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका-जैसे देशों में समाजवाद की स्थापना शनैः-शनैः क्रांति के बिना हो सकती है, लेकिन **लेनिन** इसका प्रबल विरोध करते हुए क्रांति की अनिवार्यता पर बल दिया है। उसने न केवल क्रांति की अनिवार्यता पर बल दिया है, अपितु क्रांति करने की कार्यपद्धति, कला और दाँव-पेंच पर भी प्रकाश डाला है तथा रूस में साम्यवादी क्रांति को सफलतापूर्वक संपन्न किया।

2. क्रांतिकारी कार्य-पद्धति और कला—लेनिन ने क्रांतियों की सफलता के लिए तीन नियम बताया है। **पहला नियम** है कि क्रांति को खेल-तमाशा समझकर नहीं करना चाहिए, वरन सोच-समझकर करना चाहिए तथा इसके सफल होने तक निरंतर प्रयत्न करते रहना चाहिए। **दूसरा नियम** एक निश्चित समय पर और निश्चित स्थल पर अपनी समूची शक्ति लगा देना है। **तीसरा नियम** है कि शत्रु पर उस समय अप्रत्याशित हमला करना है जब उसकी सेनाएँ विभिन्न स्थानों पर बिखरी हुई हों।

3. पेशेवर क्रांतिकारियों के संगठित दल की महत्ता—प्रो० इबेन्सटीन (Ebenstein) ने कहा है कि **लेनिन** की सबसे बड़ी देन उसका 'पेशेवर क्रांतिकारी' (professional revolutionary) का विचार है। पेशेवर क्रांतिकारी का अभिप्राय उस व्यक्ति से है जिसे क्रांति करना है और जिसने क्रांति को अपने जीवन का पेशा बना लिया है। **लेनिन** ने इस बात पर बल दिया है कि इस प्रकार प्रशिक्षित पेशेवर क्रांतिकारियों से बना हुआ दल ही क्रांति का सफल नेतृत्व कर सकता है। वह संख्या की अपेक्षा गुणों पर विशेष ध्यान देता है। इस संगठित दल को **लेनिन** ने क्रांति का अग्रदूत कहकर पुकारा है। इस प्रकार, **लेनिन** का विचार है कि पूँजीवादी राज्य के स्थान पर सर्वहारा राज्य की स्थापना हिंसात्मक क्रांति के बिना असंभव है।

लेनिन की दल-संबंधी धारणा—क्रांति को सफल बनाने के लिए **लेनिन** ने एक विशेष प्रकार के साम्यवादी दल के निर्माण पर बल दिया है। **लेनिन** का दल-संबंधी सिद्धांत **मार्क्स** के सिद्धांत से कुछ भेद रखता है। **मार्क्स** यह मानता था कि पूँजीवाद से उत्पन्न परिस्थितियों से असंतुष्ट मजदूर क्रांति का नेतृत्व करेगा। किंतु, **लेनिन** इससे सहमत नहीं है। उसके अनुसार, मजदूरों में क्रांति की मनोवृत्ति नहीं होती है, इनमें केवल श्रमिक संघ की ही मनोवृत्ति का विकास होता है। **लेनिन** द्वारा प्रतिपादित साम्यवादी दल के इस सिद्धांत से तीन परिणाम निकलते हैं—

1. पहले परिणाम के अनुसार क्रांति विचारों के प्रचार से होती है, किंतु **मार्क्स** के मत में उत्पादन की भौतिक परिस्थितियाँ ही क्रांति को उत्पन्न करती हैं।

2. दूसरा परिणाम शक्ति के प्रयोग का प्रबल समर्थन है। **मार्क्स** तथा **एङ्गिल्स** ने शांतिपूर्ण साधनों पर बल दिया था, किंतु **लेनिन** शक्ति को शांतिपूर्ण साधन से अधिक महत्त्व देता था।

3. तीसरा परिणाम क्रांति का सदैव हिंसात्मक साधनों से संपन्न होना था, जबकि **मार्क्स** का यह कहना था कि क्रांतिकारी जनता के हाथों में इतनी शक्ति होगी कि उन्हें अधिक हिंसात्मक कार्य करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

सर्वहारावर्ग की अधिनायकता—मार्क्स के इस मौलिक सिद्धांत में भी **लेनिन** ने अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर इसे बिल्कुल नवीन रूप प्रदान किया है। **मार्क्स** राज्य को एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण का साधन समझता है। अतः, क्रांति के बाद पूँजीवाद की समाप्ति कर देने पर वह मजदूर-वर्ग की अधिनायकता स्थापित करता है। यह अधिनायकता किसी विशेष दल की नहीं, **मार्क्स** इस अधिनायकता को लोकतंत्रात्मक रूप प्रदान करता है। किंतु, **लेनिन** यह मानता है कि मजदूरों में न तो क्रांतिकारी भावना होती है और न वे क्रांति के आ जाने पर उसका नियंत्रण करने का सामर्थ्य रखते हैं। ऐसा कार्य पेशेवर

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

क्रांतिकारी ही कर सकते हैं। **लेनिन** कहता है कि इस पेशेवर दल को अवसर आने पर क्रांति करने की सारी शक्ति अपने हाथ में लेनी चाहिए और क्रांति को सफल बनाना चाहिए। यह कार्य वह अपनी अधिनायकता स्थापित करके ही कर सकता है। **लेनिन** इसे सर्वहारावर्ग की अधिनायकता कहता है। पुनः **मार्क्स** के सिद्धांत के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए **लेनिन** यह घोषणा करता है कि सर्वहारावर्ग का राज्य ही 'पूर्णतम प्रजातंत्र है', क्योंकि पूर्ण प्रजातंत्र की स्थापना तभी हो सकती है, जब वर्तमान पूँजीवादी राज्य समाप्त हो जाए।

लेनिन की इस अधिनायकता की अनेक विशेषताएँ हैं—(1) अधिनायकता किसी भी प्रकार के नियमों से नियंत्रित नहीं होती। (2) इसमें लोकतंत्र और स्वतंत्रता का अभाव है। (3) अधिनायकता पुरानी व्यवस्था का समापन तथा नवीन व्यवस्था की स्थापना करती है। (4) साम्यवादी दल के शासन को मजदूरवर्ग की अधिनायकता कहा जाता है।

मार्क्स और लेनिन के सिद्धांतों में अंतर

मार्क्स एवं लेनिन में प्रधान सैद्धांतिक भेद निम्नलिखित हैं—

1. मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद के पूर्ण रूप से विकसित होने के बाद ही साम्यवादी क्रांति होती है, किंतु **लेनिन** इसे क्रांति के लिए आवश्यक नहीं मानता था। (2) **मार्क्स** ने आर्थिक नियतिवाद पर बल देते हुए यह कहा था कि पूँजीवाद के आंतरिक विरोधों से इसका पतन अनिवार्य है, लेकिन **लेनिन** का यह कहना था कि यह क्रांति आर्थिक घटनाओं के कारण स्वतः नहीं आएगी, उसे हमें अपने प्रयत्नों से लाना होगा। (3) **मार्क्स** के अनुसार क्रांति का नेतृत्व कारखानों में काम करनेवाले मजदूर करेंगे, लेकिन **लेनिन** कहता है कि मजदूर साम्यवादी क्रांति का नेतृत्व नहीं कर सकते हैं, वरन इसका नेतृत्व पेशेवर क्रांतिकारियों का सुदृढ़ साम्यवादी दल ही कर सकता है। (4) **मार्क्स** ने कहा था कि क्रांति के बाद भूमि पर राज्य का स्वामित्व स्थापित होना चाहिए, किंतु **लेनिन** ने रूस में साम्यवादी क्रांति होने पर ऐसा नहीं किया, क्योंकि इससे रूस के अधिकांश किसानों के क्रांति-विरोधी हो जाने की संभावना थी। (5) **लेनिन** ने पूँजीवाद की चरम दशा को सूचित करनेवाले साम्राज्यवाद के नवीन क्रांति सिद्धांत का प्रतिपादन किया, लेकिन **मार्क्स** ने इसका कोई प्रतिपादन नहीं किया है। (6) मार्क्स साम्यवादी क्रांति के बाद श्रमिक की अधिनायकता को संक्रमणकालीन व्यवस्था मानता था और लोकतंत्र के सिद्धांत पर बहुत बल देता था। **लेनिन** इस अधिनायकता को विशुद्ध शक्ति पर आधारित मानता था। इसमें लोकतंत्र के सिद्धांतों का कोई स्थान नहीं है।

उपर्युक्त मौलिक मतभेदों को देखते हुए **जी० एच० सेबाइन** ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्यूरी' (*A History of Political Theory*) में कहा है कि **लेनिन** ने **मार्क्स** के मूल सिद्धांतों में बहुत बड़ी मात्रा में परिवर्तन किया। जिस प्रकार **मार्क्स** ने दावा किया था कि उसने **हीगेल** के द्वंद्ववाद को उलटा करके पैरों के बल खड़ा कर दिया, उसी प्रकार **लेनिन** ने भी **मार्क्स** के सिद्धांतों का शीर्षासन करा दिया। पुनः **सेबाइन** ने कहा है—"**लेनिन** ने **मार्क्स** के सिद्धांतों और सूत्रों का अनुसरण किया, किंतु लेनिनवाद मार्क्सवाद से भिन्न हो गया।"

निष्कर्ष (Conclusion)—**लेनिन** मार्क्सवाद को कोई स्थायी और शाश्वत सिद्धांत न मानकर एक सजीव, प्रगतिशील और परिवर्तनशील मत मानता था। उसने समयानुकूल संशोधन करके रूसी क्रांति को सफल बनाया और यह उसकी सबसे बड़ी देन थी। इसलिए साम्यवादी दर्शन में **मार्क्स** के साथ **लेनिन** को, मार्क्सवाद के साथ लेनिनवाद को समान महत्त्व दिया जाता है। **सी० एल० वेपर** ने लिखा है—"लेनिन ने भले ही मार्क्सवाद के विशुद्ध स्वरूप में बहुत मिलावट की हो, फिर भी उसने रूस को तथा दुनिया को जो कुछ दिया है, उसके कारण उसके महत्त्व को किसी भी प्रकार कम नहीं किया जा सकता।" इस प्रकार, उसने मार्क्सवाद को आधुनिक रूप प्रदान किया है।

स्टालिनवाद
(Stalinism)

स्टालिन का जन्म 1879 ई० में जार्जिया नामक प्रांत में हुआ था। एक मोची का पुत्र होते हुए भी वह अपनी असाधारण योग्यताओं के बल पर एक रोज रूस-जैसे महान राष्ट्र का सर्वेसर्वा बन बैठा। अपनी युवावस्था में ही वह बोलशेविकों का नेता रहा था। जनवरी, 1924 में **लेनिन** की मृत्यु के बाद सोवियत

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

संघ में शासन के नेतृत्व के प्रश्न पर **लेनिन** के दो महान सहायकों—**स्टालिन** तथा **ट्राटस्की** में कटु संघर्ष प्रारंभ हो गया, लेकिन स्टालिन की सूझ-बूझ के आगे उसके विरोधी की एक भी नहीं चली और इस प्रकार 1924 ई० तक उसने दल में अपनी सर्वोच्चता स्थापित कर ली।

लेनिन के विकास में **स्टालिन** का प्रमुख योगदान रहा। 1924 ई० में उसने उद्घोषणा की कि समाजवाद एक देश में ही संभव है। नीति के इस परिवर्तन के चलते उसके लिए यह आवश्यक हो गया कि वह क्रांति के सिद्धांत की पुनः परीक्षा करता और अपनी नीति को मार्क्सवादी-लेनिनवादी साँचे में ढालता। **ट्राटस्की** पर **स्टालिन** की विजय के चलते साम्यवादी दल ने 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया। मार्क्सवाद-लेनिनवाद को स्टालिन ने जो नई देन दी, उसका हम निम्नलिखित दो शीर्षकों के अंतर्गत अध्ययन कर सकते हैं—

1. एक देश में समाजवाद का सिद्धांत,
2. स्टालिन का क्रांति-सिद्धांत।

जहाँ तक 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धांत का प्रश्न है, स्टालिन ने अपनी पुस्तक **लेनिनवाद की समस्याएँ** में यह स्पष्ट किया है कि शेष संसार में पूँजीवाद के रहते हुए भी एक देश में समाजवाद की स्थापना हो सकती है।

स्टालिन का यह सिद्धांत **लेनिन** के विचारों के प्रतिकूल ही मालूम पड़ता है, क्योंकि **लेनिन** ने यह कभी नहीं कहा था कि एक देश में भी समाजवाद की स्थापना हो सकती है, जबकि शेष संपूर्ण विश्व में पूँजीवादी व्यवस्था हो। फिर भी, **स्टालिन** ने अपने इस सिद्धांत को **लेनिन** के विचारों के अनुकूल बताया था। इस संबंध में **सेबाइन** ने कहा है—"यह निश्चित नहीं है कि यदि **लेनिन** जीवित रहता तो क्या वह भी **स्टालिन** के समान ही अपनी नीति को न बदल देता।" **लेनिन** ने अपने जीवन के अंतिम दिनों में जो लिखा था, उससे यह मालूम पड़ता है कि उसका भी बहुत-कुछ यही दृष्टिकोण था। **लेनिन** यह समझने लगा था कि रूस में समाजवाद का विकास देश की आंतरिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर है। **स्टालिन** मानता था कि जब तक रूस पूँजीवादी देशों से घिरा हुआ रहेगा तब तक समाजवाद की विजय को पूर्ण नहीं समझा जा सकता। **स्टालिन** द्वारा प्रतिपादित 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धांत में बुनियादी बात यह थी कि रूस अपने निजी अधिकारों में एक शक्ति था, विश्व-क्रांति के लिए मात्र सहारा नहीं। **स्टालिन** के लिए रूस विश्व का केंद्र था।

स्टालिन के 'एक देश में समाजवाद' ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांत को अनेक दृष्टियों से प्रभावित किया—

1. स्टालिन ने अपने 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धांत से विश्व-क्रांति के विचार के प्रभाव को शिथिल कर दिया।
2. उसकी नीति का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि रूस में एक ऐसे सर्वहारा राज्य का विकास हुआ जिसमें अपेक्षाकृत एक व्यक्ति के अधिनायकत्व को बल मिला।
3. 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धांत को अपनाने के कारण **स्टालिन** को **मार्क्स** के राज्य-सिद्धांत का परित्याग करना पड़ा।
4. स्टालिन के 'एक देश में समाजवाद' का महत्त्वपूर्ण पहलू राष्ट्रीय साम्यवाद का उदय था। **स्टालिन** ने जिस राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहित किया एवं जिस नई कृषि-नीति को अपनाया, वह **लेनिन** की शिक्षाओं से एकदम भिन्न था।
5. स्टालिन ने आय की समानता के संबंध में भी **मार्क्स** और **लेनिन** के सिद्धांतों का समर्थन नहीं किया। **लेनिन** ने कहा था कि राज्य से कर्मचारियों को कुशल मजदूरों से अधिक वेतन नहीं लेना चाहिए। किंतु, **स्टालिन** ने इस धारणा का खंडन करते हुए कहा कि समानता के मार्क्सवादी सिद्धांत का उद्देश्य आय की समानता न होकर वर्ग-विशेष के विशेषाधिकारों का उल्लंघन है।

स्टालिन की क्रांति-संबंधी धारणा का जहाँ तक प्रश्न है, वह अपने जीवन-पर्यंत क्रांति में विश्वास करता रहा और कभी भी विश्व-क्रांति के अपने अटल विश्वास का उसने परित्याग नहीं किया। उसने कहा कि जब तक अनेक देशों में सफल क्रांति न हो, तब तक कोई भी देश प्रतिक्रियावादी क्रांति की संभावना से सुरक्षित नहीं रह सकता। स्टालिन विश्व-क्रांति की आवश्यकता को स्वीकार करता था। अपने शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

ट्राटस्की से उसका मुख्य मतभेद इसी बात पर था। **ट्राटस्की** सिर्फ यूरोप को क्रांति के लिए परिपक्व मानता था जबकि **स्टालिन** इस बात से सहमत नहीं था।

क्रांति में अटूट विश्वास रखते हुए स्टालिन इस बात में विश्वास नहीं करता था कि समाजवादी परिवर्तन शांतिपूर्ण ढंग से हो ही नहीं सकता। स्टालिन के शांतिमय परिवर्तन का उदाहरण हमें उस ढंग से मिल जाता है, जिसके द्वारा पोलैंड, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, बुल्गेरिया, रूमानिया आदि देशों में समाजवाद की स्थापना की गई।

यह कहा जा सकता है कि **मार्क्स** के विपरीत स्टालिन क्रांति को सामाजिक और आर्थिक स्थितियों का स्वाभाविक परिणाम नहीं मानता था। वह **लेनिन** और **ट्राटस्की** के इस सिद्धांत में भी विश्वास रखता था कि रूसी ढंग का अनुसरण करते हुए अन्य यूरोपीय देशों में भी क्रांति आएगी। **स्टालिन** का यही विश्वास था कि क्रांति का आगमन रूस की शक्ति द्वारा होगा। इस प्रकार, **स्टालिन** की विश्व-क्रांति एक तरह से रूसी विश्व-क्रांति थी। अब रूस साम्राज्यवाद के प्रसार का आकांक्षी हो गया था। स्टालिन की मृत्यु के बाद (मार्च, 1953) सोवियत रूस में ख्रुश्चेव और उसके बाद कोसीजिन प्रमुख नेता हुए। ख्रुश्चेव ने स्टालिन की नीतियों एवं व्यक्तित्व-पूजा की आलोचना की। उनका विचार था कि यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद की भावना के विरुद्ध है कि किसी व्यक्ति को देवता की तरह ऊँचा उठा दिया जाए। **ख्रुश्चेव** का यह भी विचार था कि समाजवाद को लोकतंत्रीय देशों में संसदीय ढंग से ही लाया जा सकता है। उसकी यह भी मान्यता थी कि विश्व में पूँजीवादी तथा साम्यवादी देशों का सह-अस्तित्व संभव है और इस प्रकार उनके बीच युद्ध अनिवार्य नहीं है। ख्रुश्चेव के मन में कभी तृतीय विश्वयुद्ध का विचार नहीं आया। 15 अक्तूबर, 1964 को ख्रुश्चेव को हटाकर अलेक्सी कोसीजिन प्रधानमंत्री हुआ। उसने भी ख्रुश्चेव के व्यक्तिगत नेतृत्व, क्यूबा में सोवियत रूस की असफलता और कृषि की बिगड़ती दशा की आलोचना की।

माओवाद
(Maoism)

साम्यवादी चीन के भूतपूर्व अध्यक्ष **माओ-त्से-तुंग** की साम्यवादी धारणाओं को **माओवाद** के नाम से पुकारा जाता है। माओ मार्क्सवाद-लेनिनवाद का पक्का समर्थक था। उसने साम्यवादी सिद्धांतों को चीनी परिस्थितियों के अनुसार संशोधित किया। **माओ** के नेतृत्व में चीन की साम्यवादी सरकार ने सामंतवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद पर कठोर प्रहार किए हैं। उसने मजदूरों और किसानों को समान महत्त्व दिया और किसानों की दशा सुधारने के लिए सामूहिक फार्मों की व्यवस्था की। कम्यून और सांस्कृतिक क्रांति **माओ-त्से-तुंग** की देन है। कम्यून उद्योगों में मजदूरों का सामूहिक संगठन है। कम्यून में रहनेवाले को सामूहिक जीवन व्यतीत करना पड़ता है। जहाँ तक सांस्कृतिक क्रांति का प्रश्न है, इसके द्वारा नए सिरे से साम्यवाद का प्रचार किया जाता है। चीन में विचार की यांत्रिक एकरूपता कायम करने में 'मस्तिष्क शुद्धि' का तरीका अपनाया गया। माओ-त्से-तुंग ने देश के विभिन्न वर्गों को साम्यवादी दल में शामिल कर सर्वहारावर्ग की प्रभुता के पुराने विचार को वर्गों के सहयोग की दिशा में संशोधित किया।

माओ का विचार था कि सेना को असैनिक सत्ता के अधीन होना चाहिए। उसने विचारों और संस्थाओं के क्षेत्र में **हीगेल** और **मार्क्स** के 'अंतःविरोधों के सिद्धांत' को स्वीकार किया है। मार्क्स की तरह माओ का विश्वास है कि विचारों का विकास पदार्थों से होता है। माओ के नेतृत्व में चीनी साम्यवादी अपने-आपको मार्क्सवादी-लेनिनवादी स्वीकार करते हैं। वे अपने दल को 'ऐतिहासिक मुक्ति का दलाल' और सर्वाधिकारवाद को 'लेनिनवादी जागरण की निहित प्रवृत्ति' मानते हैं। माओ और उनके अनुयायी युद्ध एवं क्रांति द्वारा पूँजीवाद के विनाश में विश्वास करते हैं। उनलोगों ने विस्तार की नीति अपनाई है। 1962 ई० का भारत पर चीनी आक्रमण इसका सबसे बड़ा प्रमाण है।

माओवाद के प्रमुख सिद्धांत (Main Principles of Maoism)

माओवाद के प्रमुख सिद्धांतों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. शक्ति का दर्शन (Philosophy of power)—माओवाद शक्ति का दर्शन है। **माओ** की मान्यता है कि राजनीतिक शक्ति के संपूर्ण प्रयोग से मानवों के मन परिवर्तित किए जा सकते हैं तथा समस्त सामाजिक शक्तियों को नियंत्रित किया जा सकता है। इससे मनुष्य प्रकृति पर पूर्ण अधिकार स्थापित कर सकने में

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

समर्थ हो सकता है। माओ की यह शक्तिवादी विचारधारा **मार्क्स** की इस धारणा से भिन्न है कि आर्थिक परिस्थितियाँ मानव-विचारों और संस्थाओं को निर्मित करती हैं। माओ के अनुसार विचार से समाज का निर्माण होता है। विचारों के पश्चात माओ ने सैनिक शक्ति को महत्त्व प्रदान किया है। उसने सैनिक शक्ति और राजनीतिक शक्ति को घनिष्ठ रूप से संबद्ध माना है। माओ के विचारानुसार, "राजनीतिक शक्ति बंदूक की नली से उत्पन्न होती है। बंदूक से कोई भी वस्तु उत्पन्न की जा सकती है।"

2. सामंतवाद, पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद का विरोध (Opposition of feudalism, capitalism and imperialism)—माओ सामंतवाद, पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद का विरोधी है। **मार्क्स** के **इतिहास की आर्थिक व्याख्या** तथा **वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत** को स्वीकार करते हुए **माओ** ने **कृषकवर्ग** को महत्त्व प्रदान किया है। रूस की भाँति उसने श्रमिकवर्ग के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया है।

3. युद्ध की अनिवार्यता (Inevitability of war)—**माओ** के लिए शांति और सह-अस्तित्व की धारणाएँ कोई महत्त्व नहीं रखतीं। उसने यह विश्वास प्रकट किया है कि नया विश्वयुद्ध साम्राज्यवादी शिविर का तथा संपूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था का पूर्ण विध्वंस करनेवाला होगा।

4. विश्व का दो भागों में विभाजन (Division of the world in two camps)—इस समय विश्व दो शिविरों में विभक्त है—**एक** साम्राज्यवादियों का शिविर है जिसमें अमेरिकासहित उसके साथी और विश्व के सभी देशों के प्रतिक्रियावादी व्यक्ति हैं। **दूसरा** शिविर साम्राज्यविरोधी राज्यों का है। इसमें पूर्व सोवियत संघ, पूर्वी यूरोपीय लोकतंत्र तथा चीन है। इन दोनों शिविरों से पृथक तथा स्वतंत्र बने रहनेवाले तटस्थ राष्ट्रों का कोई स्थान नहीं है। 1949 ई० में **माओ** ने घोषणा की थी, "तटस्थता धोखे की टट्टी है और तृतीय वर्ग की कोई सत्ता नहीं है।"

5. नवीन लोकतंत्र (New democracy)—माओ ने अपनी पुस्तक **नवीन लोकतंत्र** में यह सिद्धांत प्रतिपादित किया था कि साम्यवाद अपने सही रूप में नहीं आ सकता। यह आवश्यक है कि उसकी तैयारी के लिए पहले एक संक्रमणकालीन दशा आए। इसी दशा को **माओ** ने **नवीन लोकतंत्र** कहा है। इस नवीन लोकतंत्र द्वारा पूँजीवाद को प्रोत्साहन प्राप्त होगा जो साम्यवाद के न्यूनतम कार्यक्रम चलाएगा।

6. पूँजीवादी और समाजवादी अवस्थाओं में आधारभूत अंतर (Fundamental difference between the capitalistic and socialistic systems)—दोनों के काम में महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि पूँजीवाद में निहित अंतर्विरोध सिर्फ युद्ध और क्रांति द्वारा ही ठीक किए जा सकते हैं। इसके विपरीत, समाजवादी व्यवस्था के अंतर्विरोधों के समाधान शांतिपूर्वक दूर किए जा सकते हैं।

7. लोकतांत्रिक अधिनायकता (Democratic dictatorship)—**माओ** ने लोकतांत्रिक अधिनायकता की वकालत की है। **माओ** व अन्य चीनी साम्यवादी घोषणापत्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राज्य एक विशेष वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर शासन करने का साधन है। अतः, राज्य का यह कर्तव्य है कि वह जनता, विशेष तौर पर 'मजदूरवर्ग' के हितों के विरोधी तत्त्वों को कुचल दे। इस दृष्टि से शासन करनेवाला उसका नवीन लोकतंत्र एक ही साथ लोकतंत्रीय तथा अधिनायकवादी हो जाता है।

8. लोकतंत्रीय केंद्रीयता (Democratic centralism)—नवीन लोकतंत्र में लोकतंत्रीय व्यवस्था को अत्यधिक महत्त्व दिया जाएगा। इसके साथ-साथ यह ध्यान भी रखा जाएगा कि इससे प्राप्त होनेवाली स्वतंत्रता का दुरुपयोग क्रांतिविरोधी व्यक्ति अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए न कर सकें। सिर्फ उन्हीं व्यक्तियों को, जो जनता के नवीन लोकतंत्र के पोषक हैं, स्वतंत्रता तथा लोकतंत्र का लाभ दिया जाएगा। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि स्वतंत्रता और लोकतंत्र की व्यवस्था पूर्ण तथा उन्मुक्त व प्रतिबद्ध रूप में नहीं होगी। इसे केंद्रीय सत्ता के पथ-प्रदर्शन और निरीक्षण में किया जाना उचित है। लोकतंत्रीय केंद्रीयवाद का यही मूल तत्त्व है।

9. क्रांतिकारी वर्गों से संयुक्त अधिनायकतंत्र (Joint dictatorship of revolutionary classes)—चीन में **माओ** ने उद्योग-धंधों का विकास बड़े पैमाने पर न देखकर यह धारणा बना ली कि अभी वहाँ का श्रमिकवर्ग इतना शक्तिशाली व समर्थ नहीं है कि वहाँ पर श्रमिकों की अधिनायकता स्थापित की जा सके। अतः, क्रांति की संक्रमणकालीन दशा में यह आवश्यक है कि सर्वहारावर्ग इस क्रांति को सफल बनाने हेतु उन समस्त वर्गों का सहयोग प्राप्त करते रहें जिनको उनसे सहानुभूति है।

10. चार क्रांतिकारी वर्ग (Four revolutionary classes)—माओ के अनुसार संयुक्त अधिनायकतंत्र स्थापित करने के लिए चार क्रांतिकारीवर्ग आवश्यक हैं—1. मजदूर, 2. कृषक, 3. दूकानदार या छोटे पूँजीपति तथा 4. राष्ट्रीय पूँजीपति। ये चारों वर्ग साम्यवादी दल के नेतृत्व में काम करते हैं।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

11. कृषकवर्ग को महत्त्व (Importance of the peasants)—**माओ** का विचार था कि चीन के ग्रामीण क्षेत्रों में क्रांतिकारी अड्डों की स्थापना की जाए। **माओ** के अनुसार, कृषकों को अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए तथा उन्हें श्रमिकों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए।

12. गुरिल्ला-युद्ध (Guerilla war)—**माओ** ने कृषकों का संगठन स्थापित कर गुरिल्ला युद्ध द्वारा अविकसित एशियाई देशों में मार्क्सवाद-लेनिनवाद की धारणा का समाजवाद स्थापित किया।

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि **माओ** एक दार्शनिक व शास्त्री होने के स्थान पर एक प्रतिभासंपन्न तथा कुशल राजनीतिक नेता था। **कोहन** ने इसका समर्थन करते हुए कहा है कि **माओ** ने अनेक क्षेत्रों में नवीनताएँ स्पष्ट कीं जो प्रायः पद्धति व कार्यप्रणाली से संबंध रखती हैं। यह विचारधारा पूर्ण रूप से मार्क्सवाद का चीनी संस्करण है। कभी-कभी तो, जैसा कि **कोहन** ने भी स्वीकारा है, उसमें **कास्से** के विचारों की खोज करना भी कठिन हो जाता है।

माओ की आलोचना करते हुए यह भी कहा गया है कि उसे विशिष्ट वर्ग, आयोजन, शहरीकरण, संगठन तकनीक आदि में विश्वास नहीं था। माओ को जनभावनाओं, बहुसंख्यक कृषकों तथा ग्रामों में आस्था थी। उसकी क्रांति श्रमिकों व श्रमजीवियों की न होकर गरीब व शून्य लोगों की थी। वे ही सच्चे सर्वहारा हैं। उनसे ही बुद्धिजीवियों, शहरियों आदि को शिक्षा ग्रहण करनी है।

माओवाद मार्क्सवाद से भी काफी भिन्न है। जहाँ मार्क्सवाद उत्पादन-शक्तियों तथा उत्पादन-संबंधों के मध्य द्वंद्वात्मक अंतःसंबंध के साथ-साथ उत्पादन-संबंधों की अपेक्षाकृत स्वतंत्रता और उत्पादन-शक्तियों पर उनके प्रबल प्रभाव को भी स्वीकार करता है, वहाँ माओ इस द्वंद्वात्मक एकता के दोनों पक्षों के दोहरे संबंध पर विचार करने के बजाय उन्हें यंत्रवत घुमाता रहता है। वह कभी उत्पादन-शक्तियों की तो कभी उत्पादन-संबंधों को समाज की आर्थिक व्यवस्था का निर्धारण करनेवाला मुख्य तत्त्व बताता है। **ए॰ कोबाशे** का कहना है कि कोई मार्क्सवादी-लेनिनवादी दल अपनी आर्थिक नीति में तभी सफलता प्राप्त कर सकती है जब इसका कार्यकलाप एक वैज्ञानिक कार्यक्रम पर आधारित हो। इस दृष्टि से माओ की आर्थिक नीति बिलकुल उल्टी है। विकास की वस्तुनिष्ठ स्थितियों का विश्लेषण करने के स्थान पर माओ ने क्रांतिकारी नारे प्रस्तुत किए कि किसी आर्थिक समस्या का समाधान करने के लिए प्रबल इच्छा ही पर्याप्त है। **कोबाशे** ने यह भी लिखा है कि माओ और अन्य चीनी नेताओं ने एक या दूसरे दौर में अपने कार्यभारों की एक आम रूपरेखा जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने से अधिक कुछ नहीं किया है।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण के बावजूद यह स्पष्ट है कि माओ ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद का चीनी संस्करण किया। उन्होंने सोते हुए चीन को जगा दिया और उसे एक कठोर शक्ति में बदल दिया है। आधुनिक चीन के निर्माता का श्रेय सिर्फ माओ को है। माओ के साथ दुर्भाग्य यही है कि उसने युद्ध की अनिवार्यता पर अत्यधिक बल देकर अंतरराष्ट्रीय शांति के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया। जहाँ रूस परिवर्तित परिस्थितियों के संदर्भ में 'सह-अस्तित्व' की बात करने लगा है, वहाँ माओवादी आज भी युद्ध की अनिवार्यता पर बल देते हैं।

साम्यवादी सिद्धांत
(Communist Doctrine)

साधारण अर्थ में लेनिन, स्टालिन तथा माओ-त्से-तुंग द्वारा विकसित मार्क्स के राजनीतिक सिद्धांत को 'साम्यवाद' कहकर पुकारा जाता है। आज बहुत-से साम्यवादी अपने देश में तथा अन्यत्र इस साम्यवादी विचारधारा का जोरदार प्रचार कर रहे हैं। यहाँ सर्वप्रथम हमें जानना होगा कि 'साम्यवाद' तथा 'साम्यवादी' राष्ट्र क्या हैं। **कार्ल मार्क्स** ने समाजवादी क्रांति की दो अवस्थाओं को सूचित किया है। **पहली अवस्था** का नाम समाजवादी अवस्था और **दूसरी** का साम्यवादी अवस्था है। पहली अवस्था में उत्पादन के भौतिक साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अंत हो जाता है और सारे उद्योगों का समाजीकरण किया जाता है। यहाँ श्रमजीवीवर्ग का भेद समाप्त हो जाता है। सभी संगठनों का एक ही नियम 'प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसके कार्य के अनुसार' होता है। पूर्णरूप से विकसित साम्यवादी अवस्था में राज्य समाप्त हो जाएगा और धन के वितरण में अधिक समानता होगी, क्योंकि प्रत्येक को उनके आवश्यकतानुसार प्राप्त होगा—न कम और न अधिक। इस सिद्धांत के प्रयोग में, अर्थात पहली अवस्था में पूर्व सोवियत संघ का

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

उदाहरण है। अभी तक दूसरी अवस्था नहीं आ पाई है, क्योंकि न तो राज्य का अंत हो पाया है, और न पूर्ण समानता ही आ पाई है। इसीलिए 'साम्यवादी रूस' या 'साम्यवादी चीन' में हम 'साम्यवादी' शब्द का प्रयोग उसके पारिभाषिक अर्थों में नहीं कर सकते। 'साम्यवादी' शब्द उनके अंतिम लक्ष्य, अर्थात आदर्श समाज की ओर इशारा करता है। यह उसकी वर्तमान सफलता की ओर इंगित नहीं करता। यही कारण है कि आज का 'साम्यवाद' शब्द जिस अर्थ में प्रचलित है, साध्य को इतना नहीं बताता जितना कि उन साधनों को, जिनके द्वारा उनकी प्राप्ति होती है। आज साम्यवादी वे हैं जो श्रमजीवी तानाशाही की स्थापना करके पूँजीवाद को समाप्त करना चाहते हैं और समस्त विश्व में पूँजीवाद के स्थान पर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना में विश्वास करते हैं। वे आज निम्नलिखित **कार्यक्रमों** को अपना आधार मानते हैं—

1. आज के साम्यवादी पूँजीवाद पर आक्रमण करते हुए समाज की दारुण स्थिति का चित्र खींचते हैं जिसे पूँजीपतियों ने श्रमिकवर्ग का निर्मम शोषण करके उत्पन्न कर दिया है। उनकी मान्यता है कि पूँजीवादी व्यवस्था की सबसे बड़ी बुराई शक्ति की असमानता है।

2. साम्यवादी शक्ति को सरकार का मुख्य शस्त्र स्वीकार करते हैं और उनकी इस व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का कोई विशेष स्थान नहीं है। समाज की अंतिम विजय पूँजीवादी वर्ग के विनाश के बिना असंभव है और इसके लिए शक्ति और हिंसा के प्रयोग की आवश्यकता है। साम्यवादी यह मानते हैं कि लोकप्रिय सरकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता एक संगतिबद्ध सामाजिक नीति को कुशलता से लागू करने के मार्ग में बाधाएँ हैं।

3. साम्यवादियों की यह भी धारणा है कि वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था को एक समाजवादी व्यवस्था में शांतिमय तथा वैधानिक साधनों द्वारा बदला नहीं जा सकता। पूँजीवाद को समाप्त करने तथा समाजवाद की स्थापना करने के लिए एक हिंसात्मक क्रांति की आवश्यकता है।

4. साम्यवादियों की सबसे अधिक दिलचस्पी समाज के आर्थिक संगठन में तो है ही, साथ-ही-साथ नागरिकों के बौद्धिक-सांस्कृतिक जीवन के उत्थान में भी है। वे धर्म को अपने सिद्धांतों से असंगत तथा अपने भावी कार्यक्रमों की सफलता में बाधा समझते हैं। **मार्क्स** ने कहा है कि धर्म जनता के लिए अफीम है।

5. साम्यवादी मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की आर्थिक व्याख्या में विश्वास करते हैं और संपूर्ण सामाजिक विकास में वर्ग-संघर्ष को आधारभूत तथ्य समझते हैं।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि साम्यवादी विचारधारा के आधुनिक रूप की आधारशिला मार्क्सवादी विचार हैं, यद्यपि उनके संशोधन तथा परिवर्तन में लेनिन, स्टालिन और माओ-त्से-तुंग ने अत्यधिक योगदान किया है। अतएव मार्क्स, लेनिन, स्टालिन तथा माओ के विचारों के समन्वयीकरण से साम्यवाद का जो रूप हमारे सामने उपस्थित होता है, उसे हम समाजवाद का एक ऐसा क्रांतिकारी तथा उग्र रूप कह सकते हैं, जिसका उद्देश्य एक ऐसे वर्गरहित तथा राज्यरहित समाज की स्थापना करना है जिसके व्यवस्था का आधार शक्ति न होकर समाज के लोगों का पारस्परिक सहयोग तथा सबके हितों का उचित संरक्षण हो, जिसमें उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक स्वामित्व व वितरण की व्यवस्था पर सार्वजनिक नियंत्रण हो। ऐसे समाज में सभी अपने योग्यतानुसार कार्य करें और सभी आवश्यकतानुसार प्राप्त करें। अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही साम्यवाद उग्र तथा हिंसात्मक उपायों का सहारा लेना चाहता है।

प्रश्नावली

1. मार्क्सवाद क्या है ? मार्क्स के प्रमुख विचारों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
   (What is Marxism ? Point out in brief the basic principles of Marxism.)
2. मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
   (Critically examine the dialectical materialism of Karl Marx.)
3. मार्क्स द्वारा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या पर एक संक्षिप्त निबंध लिखें।
   (Write a brief essay on the materialistic interpretation of history of Karl Marx.)
4. मार्क्स के वर्ग-संघर्ष-सिद्धांत की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
   (Critically examine the Marxian theory of class-struggle.)

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

5. मार्क्स द्वारा प्रतिपादित राज्य-संबंधी धारणा की विवेचना कीजिए।
(Examine Marxian theory of State.)
6. लेनिनवाद पर एक संक्षिप्त निबंध लिखें।
(Write a brief essay on Leninism.)
7. "लेनिन ने मार्क्स को आधुनिक बनाया।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
("Lenin brought Marx up-to-date." Examine this statement.)
8. स्टालिन और माओवाद पर एक निबंध लिखें।
(Write an essay on Stalinism and Maoism.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 30

विकासवादी समाजवाद
[EVOLUTIONARY SOCIALISM]

विकासवादी समाजवाद एक ऐसा सिद्धांत है जिसका उद्देश्य आर्थिक जीवन के नियमन द्वारा उस व्यक्तिगत असमानता को दूर कर देना है जो अधिकतर सामाजिक बुराइयों की जड़ है तथा जिसकी समाप्ति से समाज का सामूहिक कल्याण हो सकता है।—लेखक

विषय-प्रवेश (Introduction)

विकासवादी समाजवाद का जन्म मार्क्सवाद से हुआ है। लेकिन, **मार्क्स** ने समाजवादी कार्यक्रम के संबंध में स्पष्ट और क्रमबद्ध विचार नहीं दिया था। परिणामस्वरूप, उसके जीवनकाल में ही उसके अनुयायियों में मतभेद प्रारंभ हो गए। 1816 ई० में **प्रथम अंतरराष्ट्रीय** ने मार्क्स के सिद्धांतों और कार्यक्रमों को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया था। लेकिन, 1870 ई० के बाद प्रथम अंतरराष्ट्रीय का विघटन हो गया। 1877 ई० में फिलाडेल्फिया में इसका अंतिम अधिवेशन हुआ और आपसी मतभेदों के चलते प्रथम अंतरराष्ट्रीय को भंग कर दिया गया। मार्क्स की मृत्यु के बाद अर्थात 1885 ई० में **द्वितीय अंतरराष्ट्रीय** की स्थापना की गई। द्वितीय अंतरराष्ट्रीय में मार्क्स के अनुयायी स्पष्टतः दो गुटों में विभाजित हो गए—1. क्रांतिकारी समाजवादी और 2. संशोधनवादी समाजवादी। पहला वर्ग पूँजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष और क्रांति का हिमायती था। दूसरा वर्ग पूँजीवादी व्यवस्था में शांतिपूर्वक और सांविधानिक ढंगों से संशोधन लाकर समाजवाद की स्थापना के पक्ष में था। पहले वर्ग को **साम्यवाद** और दूसरे वर्ग को **समाजवाद** कहा गया। अर्थपूर्ण नाम देने के उद्देश्य से 'समाजवाद' को 'विकासवादी समाजवाद' (evolutionary socialism) के नाम से पुकारा जाने लगा।

विकासवादी समाजवाद के भिन्न-भिन्न नाम—जर्मनी में **एडवर्ड बर्नस्टीन** द्वारा प्रतिपादित समाजवादी सिद्धांतों को पुनर्विचारवाद (revisionism) कहा गया। **इंगलैंड** में **जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, सिडनी वेब, ग्राहम वॉलास, एनी बेसेंट** तथा **जी० डी० एच० कोल** ने **फेबियनवाद** (fabianism) की स्थापना की। जहाँ इंगलैंड में मजदूर दल की नीतियों और कार्यक्रमों को **संसदीय समाजवाद** (parliamentary socialism) कहा जाता है, वहाँ फ्रांस, बेल्जियम, स्वीडेन, जर्मनी आदि देशों में इसे **लोकतांत्रिक समाजवाद** (democratic socialism) और भारत में इसे **समाज का समाजवादी प्रतिरूप** (socialistic pattern of society) के नाम से पुकारा जाता है। आज के लोक-कल्याणकारी राज्य विकासवादी समाजवाद के ही प्रतिरूप हैं।

विकासवादी समाजवाद की व्याख्या
(Evolutionary Socialism Explained)

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि विकासवादी समाजवाद मार्क्सवादी समाजवाद का एक विकसित तथा संशोधित रूप है। आधुनिक युग की यह सर्वाधिक लोकप्रिय अवधारणा है। विश्व के अधिकांश देशों ने इसे सामाजिक एवं आर्थिक आदर्श के रूप में अपनाया है। तृतीय विश्व के देशों में इसका तीव्र गति से प्रसार हुआ है। अनेक उदारवादी पूँजीवादी देशों ने भी समाजवाद को पूर्ण या आंशिक रूप में अपना लिया है। इसीलिए आज विश्व का प्रत्येक देश अपने को समाजवादी कहने में गौरवान्वित अनुभव करता है।

साम्यवाद की भाँति विकासवादी समाजवाद भी पूँजीवादी व्यवस्था को अन्यायपूर्ण मानता है और निजी मुनाफे के स्थान पर सामाजिक हित को प्रधानता देता है। यह एक ऐसे समाज की रचना करना चाहता है,

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

जिसमें भूमि और उद्योगगत पूँजी को व्यक्तिगत स्वामित्व से मुक्त करके समाज के स्वामित्व में रखा जाए। इससे उद्योगों में होनेवाले लाभ को श्रम के लाभ में बदला जा सकता है। यह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए क्रांतिकारी तरीकों को नहीं अपनाता, वरन सांविधानिक उपायों में विश्वास करता है। यह शनैः-शनैः क्रमिक विकास द्वारा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना चाहता है। यह वर्गसंघर्ष में विश्वास न कर व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित में सामंजस्य स्थापित करना चाहता है।

विकासवादी समाजवादी दर्शन को भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रूपों में अपनाया गया है और इसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा गया है; जैसे—राजकीय समाजवाद या समष्टिवाद, पुनर्विचारवाद, प्रजातांत्रिक समाजवाद, संसदीय समाजवाद आदि।

परिभाषाएँ (Definitions)

समाजवाद के समर्थकों की संख्या अनगिनत है। उन्होंने अपने-अपने ढंग से इसे परिभाषित किया है। इसीलिए यह कहा जाता है कि जितने समाजवादी हैं, उतनी ही समाजवाद की परिभाषाएँ हैं। **सी॰ ई॰ एम॰ जोड** ने यह शायद इसीलिए कहा है, "समाजवाद उस टोप की तरह है जिसकी हर किसी द्वारा पहने जाने के कारण कोई शक्ल ही नहीं रही है।" अतः, समाजवाद की सर्वसम्मत परिभाषा देना अब असंभव हो गया है। **ब्रेडेले, एलेक्जेंडर ग्रे, सेलर्स, रैम्जे मैकडोनाल्ड, बर्ट्रेण्ड रसेल, आचार्य नरेंद्र देव** आदि अनेक विद्वानों ने समाजवाद को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। इन तमाम विद्वानों की परिभाषाओं के विश्लेषण से यह लगता है कि **समाजवाद एक ऐसा सिद्धांत है जिसका उद्देश्य आर्थिक जीवन के नियमन द्वारा उस व्यक्तिगत असमानता को दूर कर देना है जो अधिकतर सामाजिक बुराइयों की जड़ है तथा जिसकी समाप्ति से समाज का सामूहिक कल्याण हो सकता है।**

समाजवाद के दर्शन इतने लुभावने हैं कि विभिन्न देशों में अनेक दार्शनिकों द्वारा इसे विभिन्न रूपों में प्रकट किया गया है, जिसकी विवेचना हम निम्नलिखित रूपों में कर सकते हैं।

फेबियनवाद
(Fabianism)

विषय-प्रवेश—इंगलैंड में समाजवादी विचारधारा का विकास फेबियनवाद के रूप में हुआ। फेबियन सोसाइटी द्वारा प्रचारित किए जानेवाले सिद्धांतों को फेबियनवाद का नाम दिया जाता है। इस सोसाइटी की स्थापना लंदन में 4 जनवरी, 1884 को हुई थी। इसकी स्थापना का उद्देश्य 'सब लोगों का कल्याण एवं सुख प्रदान करने के लिए समाज का पुनर्निर्माण' करना था। फेबियन समाज चाहता है कि भूमि और औद्योगिक पूँजी पर से व्यक्तियों या वर्ग-विशेष का स्वामित्व समाप्त हो।

फेबियन सोसाइटी के जन्मदाताओं में अनेक बुद्धिजीवियों एवं सुधारकों के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रमुख हैं—**सिडनी वेब, जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, सिडनी आलिवियर, प्रो॰ ग्राहम वालॉस, श्रीमती एनी बेसेंट, ह्यूबर्ट ब्लैंड, विलियम क्लार्क, एडवपिज, एच॰ डब्ल्यू मेंसिघम, एच॰ जी॰ वेल्स, ब्रिटिश वेब, राम्जे मैकडोनाल्ड, पेथिक लॉरेन्स, जी॰ डी॰ एच॰ कोल** इत्यादि।

फेबियनवाद के स्त्रोत (Sources of Fabianism)

19वीं शताब्दी के समाज-सुधारकों तथा विचारकों, विशेषकर **कार्ल मार्क्स, लावेल, प्रोधा, रॉबिन स्मिथ, रिकार्डो, मिल, लेस्ली** तथा **केरन्स** का फेबियनवाद पर प्रभाव पड़ा। फेबियनवाद ने कार्ल मार्क्स के इस सिद्धांत को स्वीकार किया कि उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व का होना सामाजिक कल्याण के लिए आवश्यक है। **फेबियनवाद** ने अपने समाज को मार्क्स की भाँति आर्थिक और ऐतिहासिक आधारों पर रखा। **बर्नार्ड शॉ** ने आर्थिक आधार और **सिडनी वेब** ने ऐतिहासिक आधार की चर्चा की है।

फेबियनवाद के प्रमुख विचार—फेबियन सोसाइटी एक अवसरवादी विचारधारा है जिसका प्रमुख उद्देश्य क्रमिक विकास है। उनकी दृष्टि में समाजवाद की स्थापना शनैः-शनैः और क्रमिक रूप से होती है। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए फेबियन समाज चाहता है कि समस्त समाज में समाजवादी विचारों का प्रचार हो और तदनुरूप समस्त विश्व में राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन हो। वे सभी स्थानों पर औरतों और पुरुषों

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

को समान नागरिक अधिकार दिलाने के हिमायती हैं। फेबियनवादी विचारधारा की विस्तृत व्याख्या निम्नलिखित तथ्यों के विश्लेषण से हो सकती है—

1. समाजवाद का ऐतिहासिक आधार (Historical basis of socialism)—फेबियनवादियों ने अपने समाजवादी सिद्धांत के लिए ऐतिहासिक और आर्थिक आधार स्थापित करने में मार्क्सवादी परंपरा का अनुसरण किया है। उनके अनुसार इतिहास साक्षी है कि समाज स्थिर नहीं, बल्कि गतिशील है। **सिडनी वेब** ने बताया है कि इतिहास लोकतंत्र की अदम्य प्रगति और समाजवाद की प्रायः निरंतर प्रगति को स्पष्ट करता है। उसके अनुसार इतिहास हमें निम्नलिखित तथ्यों की जानकारी देता है—

(i) महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन लोकतंत्रात्मक पद्धति के द्वारा ही किए जा सकते हैं।

(ii) सामाजिक परिवर्तन हमेशा शनैः-शनैः किए जाने चाहिए ताकि उनसे कोई अव्यवस्था उत्पन्न न हो।

(iii) परिवर्तन जनसामान्य की दृष्टि में नैतिक समझे जाने चाहिए।

(iv) परिवर्तन सांविधानिक एवं शांतिपूर्ण ढंग से होना चाहिए।

इस प्रकार, **सिडनी वेब** ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इंगलैंड में समाजवाद का क्रमिक गति से एवं शांतिपूर्ण ढंग से विकास हो रहा है। इसके पीछे किसी क्रांति का हाथ नहीं है।

2. फेबियन समाजवाद का औद्योगिक आधार (Industrial basis of Fabian socialism)—**विलियम क्लार्क** के निबंधों में फेबियन समाजवाद के औद्योगिक आधार की चर्चा मिलती है। उसने अपने निबंधों में इस बात पर जोर दिया है कि यदि पूँजीपतियों के शोषण से श्रमिकों को बचाना है, तो कारखानों के संबंध में अधिक नियम बनाना आवश्यक है। आज व्यवसाय-प्रबंध और व्यवसाय-स्वामित्व दोनों अलग-अलग हो गए हैं। व्यवसाय के विशाल पैमाने के कारण व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की समाप्ति हो गई है। इस अनियंत्रित पूँजीवाद के विकास के चलते आर्थिक व्यक्तिवाद का अंत हो गया है। इसलिए आधुनिक समाज में जनतंत्र और स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए बड़े व्यक्तिगत उद्योगों को समाप्त कर देना चाहिए। **क्लार्क** ने कहा है कि **पूँजीवाद का लोकतंत्र से मेल नहीं खाता।**

3. फेबियन समाज का आर्थिक आधार (Economic basis of Fabian socialism)—फेबियनवादियों ने **मार्क्स** तथा अन्य अर्थशास्त्रियों के श्रम-मूल्य के सिद्धांत को अस्वीकार किया है। उन्होंने समष्टिवादियों के इस सिद्धांत को मान्यता प्रदान किया है कि वस्तु का मूल्य समाज निश्चित करता है। अतएव, वस्तु के मूल्य पर समाज का अधिकार होता है जिसका पूँजीपतियों द्वारा हड़प लिया जाना चोरी है। फेबियनवादियों के अनुसार, समाज में वर्ग-संघर्ष श्रमिकों और पूँजीपतियों के बीच नहीं, वरन संपूर्ण समाज और पूँजीपतियों के बीच होता है। अतः, समाजवाद का उद्देश्य समाज के समस्त सदस्यों के लिए उन मूल्यों को प्राप्त करना है जिनका वह निर्माण करता है और इस उद्देश्य की सिद्धि क्रमशः भूमि तथा औद्योगिक पूँजी को समाज के अधिकार में लाने और साथ ही राज्य को समाज का अधिक पूर्ण प्रतिनिधि बनाने से होगी। इस प्रकार, फेबियनवादी समाज के समस्त उत्पादन को किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग को सौंपने के लिए तैयार नहीं है, वरन वे इन्हें संपूर्ण समाज को सौंपना चाहते हैं। **लॉस्की** ने उद्योगों के अपने समाजीकरण की योजना में समस्त उद्योगों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—

(i) सामाजिक जीवन की प्रारंभिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उद्योगों का समाजीकरण।

(ii) सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक लेकिन जिनका अभाव अत्यधिक हानिकर नहीं, ऐसे उद्योगों पर निजी स्वामित्व लेकिन सामाजिक नियम।

(iii) ऐसे उद्योगों पर, जो समाज के लिए महत्त्वहीन हैं, निजी स्वामित्व।

4. राज्य के प्रति दृष्टिकोण (Fabian's view-points towards state)—फेबियनवादियों का राज्य में पूर्ण विश्वास था। वे राज्य को जनता का प्रतिनिधि एवं संरक्षक, जनता का अभिभावक, व्यवसायी, प्रबंधकर्ता, सचिव और यहाँ तक कि साहूकार भी कहते हैं। उनका कहना है कि वर्तमान राज्य को बिना किसी क्रांतिकारी परिवर्तन के निर्दोष तथा विश्वासप्रद बनाया जा सकता है। इसके लिए मताधिकार का विस्तार, अधिक प्रशिक्षित लोकसेवा और सबके लिए शिक्षा का समान अवसर आवश्यक है। वे स्थानीय जनतांत्रिक संस्थाओं को अधिक-से-अधिक कार्यक्षेत्र प्रदान करना चाहते हैं। केन्द्रीय सरकार का कार्य स्थानीय संस्थाओं को सूचनाओं तथा अनुदान द्वारा केवल सहायता प्रदान करना था। 1920 ई० में प्रकाशित ब्रिटिश मजदूर दल

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

ने **मजदूर और नई सामाजिक व्यवस्था** में इस विचारधारा का प्रतिपादन किया। इसमें कहा गया था कि स्थानीय संस्थाओं को यथासंभव अपना गैस, बिजली, यातायात, शिक्षा, पुलिस आदि को विकसित करने तथा स्वतंत्रतापूर्वक चलाने का अधिकार मिलना चाहिए।

पद्धति और कार्यक्रम

फेबियनवाद पूँजी और भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व का अंत कर इनका समाजीकरण चाहता है। इसके लिए फेबियनवादी समाजवादी विचारों का प्रचार करते थे और अपने प्रचार के लिए उन्होंने व्याख्यानों, लेखों और शांतिपूर्ण तरीकों का सहारा लिया। 1888-89 ई० में फेबियन सोसाइटी के सदस्यों ने 700 से अधिक व्याख्यान दिए। **फेबियन निबंध** नामक एक अमर ग्रंथ प्रकाशित किया गया। उन्होंने सामूहिक वितरण, उत्पादन तथा विनिमय के प्रयोगों का अध्ययन करने के लिए 1912 ई० में एक अनुसंधान विभाग और **फेबियन समर स्कूल** की स्थापना की। राजनीतिक दलों में **फेबियन कोष्ठों** की स्थापना कर वे अपने राजनीतिक विचारों का प्रचार करते थे।

फेबियनवाद का उद्देश्य (Aims and objects)—**एलेक्जेंडर ग्रे** के शब्दों में, "फेबियनवाद मुख्य रूप से एक नीति है, युद्धकला है, सिद्धांत-समूह नहीं है।" सही अर्थ में फेबियनवाद में कोई ऐसा सिद्धांत नहीं है जिसकी तुलना मार्क्सवाद के द्वंद्ववाद, भौतिकवाद और वर्ग-संघर्ष से किया जा सके। 1884 ई० में **जॉर्ज बर्नार्ड शॉ** ने फेबियन समाज का घोषणा-पत्र तैयार किया, जिनमें निम्नलिखित कार्यक्रम घोषित किए गए—

1. फेबियन समाज चाहता है कि समाज यथाशीघ्र पुनर्गठित हो।
2. समाज की माँग है कि पूँजी और भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त हो।
3. समाज की माँग है कि औद्योगिक पूँजी समाज को हस्तांतरित कर दी जाए।

उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए फेबियन समाज चाहता है कि समस्त समाज में समाजवादी विचार का प्रचार हो और सारे विश्व में तदनुसार राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन हो। 1887 ई० में पुनः फेबियनवादी समाज के उद्देश्यों को लिपिबद्ध करते हुए कहा गया कि "फेबियन समाज समाजवादियों का समाज है। अतः, इसका उद्देश्य समाज का नवसंगठन करना है। यह नया संगठन भूमि तथा उद्योग-धंधों को व्यक्तिगत तथा वर्ग के स्वामित्व से निकालकर समाज को उसका स्वामी बनाकर बनाया जाएगा जिससे यह सार्वजनिक लाभ के लिए कार्य करे। केवल इस रीति से ही प्रकृति तथा मनुष्य के द्वारा किए हुए कामों को समस्त जनता में समानता के आधार पर वितरण किया जा सकेगा।"

आलोचनाएँ (Criticisms)—यह बात सही है कि फेबियनवादी एक समाजवादी राज्य की स्थापना करना चाहते थे और मार्क्सवादियों की तरह वर्ग-संघर्ष तथा बलपूर्वक क्रांति में विश्वास नहीं करते थे। वे समाज का इस प्रकार का क्रमिक विकास चाहते थे कि पूँजीवादी प्रथा की उग्र असमानताएँ समाप्त हो जाएँ। फिर भी, फेबियनवादी सिद्धांत की आलोचनाएँ की गई हैं—

1. आलोचकों के विचारानुसार फेबियनों के विचार और भाव स्पष्ट नहीं हैं। समाजवाद की परिभाषा करते समय वे उसका कुछ अर्थ बताते हैं, परंतु इसका उदाहरण खोजते समय वे अपने परिभाषित अर्थ को बदल देते हैं।

2. **बार्कर** ने फेबियनवाद की आलोचना करते हुए लिखा है—"फेबियन समाज समाजवादी संगठन का सबसे कम स्पष्ट तथा निश्चित सिद्धांत है। फेबियन अपनी सफलता के लिए केवल चालाकी पर निर्भर करते हैं।"[1]

3. **स्केलटन** ने फेबियनों को **अवसरवादी समाजवादी** कहकर पुकारा है। **एङ्गिल्स** ने कहा है कि फेबियनों की योजना उदारवादियों के साथ संघर्ष करने की है। अतः, केवल वे कुर्सी के समाजवादी हैं।

4. फेबियनों पर एक अन्य आरोप **ईसामसीही समाजवाद** कहकर लगाया जाता है, क्योंकि उनका कहना था कि ईसाई धर्म के सिद्धांतों का व्यावहारिक रूप ही समाजवाद है।

फेबियनवाद के गुण—उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद फेबियनवाद का अपना प्रभाव है। इसका सैद्धांतिक महत्त्व भले न हो, व्यावहारिक अवश्य है। **बर्नार्ड शॉ** ने लिखा है, "फेबियनवाद में विश्वास

1. "The Fabian society is the least open and least straightward socialist organisation."—BARKER

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

करनेवाले व्यक्ति समाजवादियों में सबसे कम क्रांतिकारी थे और वे किसी भी प्रकार की हिंसा के समर्थक नहीं थे।" **कोकर** ने बताया है कि फेबियन सोसाइटी ने सिद्धांत के क्षेत्र में उतना योगदान नहीं किया जितना कि व्यावहारिक क्षेत्र में। जिस प्रतिभा और बुद्धिमत्ता के साथ उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन के आर्थिक एवं सामाजिक अवस्थाओं के संबंध में तथ्य एकत्र करके उनकी व्याख्या की है, उसी के कारण ब्रिटेन की राष्ट्रीय तथा स्थानीय सरकारें बड़ी सावधानी के साथ समाजवाद के नाम-रूप को व्यावहारिक रूप दे सकी हैं।

फेबियनवाद और मार्क्सवाद

फेबियनवाद तथा मार्क्सवाद के प्रधान उद्देश्यों में बड़ी समानताएँ हैं। दोनों वर्तमान आर्थिक विषमता को दूर कर समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं। किंतु, समानता के बावजूद दोनों में निम्नलिखित अंतर हैं—

1. फेबियनवाद शांति का उपासक है, मार्क्स क्रांति में विश्वास करता है।

2. फेबियन राज्य को समाजवाद की स्थापना का प्रधान साधन समझते हैं जबकि मार्क्सवादी वर्तमान राज्य को पूँजीपतियों के शोषण का यंत्रमात्र समझते हैं तथा इसका विनाश चाहते हैं।

3. फेबियन मूल्य के विषय में मार्क्स द्वारा प्रतिपादित श्रम-संबंधी (labour theory of value) तथा अतिरिक्त मूल्य (surplus value) के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते, अपितु इसके स्थान पर समाज को वस्तुओं का मूल्य उत्पन्न करने का प्रधान कारण समझते हैं।

4. फेबियनों ने मार्क्स की भाँति इतिहास के गंभीर अध्ययन पर बल दिया था, किंतु दोनों भिन्न-भिन्न परिणामों पर पहुँचे थे। मार्क्स ने इतिहास के आधार पर वर्ग-संघर्ष (class struggle) और क्रांति को तथा सर्वहारावर्ग की अधिनायकता को आवश्यक समझा था, किंतु फेबियन यह समझते थे कि इतिहास की प्रगति लोकतंत्र और समाजवाद की दिशा में हो रही है।

5. मार्क्सवाद वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत में दृढ़ आस्था रखता है, किंतु फेबियनों के मतानुसार यह संघर्ष समाज अथवा समुदाय में तथा सामाजिक परिस्थितियों से अनुचित लाभ उठानेवाले व्यक्तियों में है।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से यह कहा जा सकता है कि फेबियनवाद की यह कमजोरी थी कि उसने पूँजीपतियों से लड़ने के लिए **कार्ल मार्क्स** की भाँति श्रमिकों का आह्वान नहीं किया है, किंतु व्यावहारिक दृष्टि से और साथ ही सैद्धांतिक दृष्टि से यह फेबियनवाद की कमजोरी न होकर इसका एक प्रधान गुण है, क्योंकि उसने इस बात पर बल दिया है कि राष्ट्रीय धन का वितरण संपूर्ण समाज को हित में रखकर होना चाहिए, न कि श्रमिक-वर्ग-सरीखे किसी एक वर्ग-विशेष के हित के लिए। अतः, फेबियनवाद की सबसे बड़ी देन यही है कि उसने वैधानिक उपायों द्वारा समाजवाद की स्थापना करना चाहा है और विनाश की अपेक्षा सुधार को अधिक महत्त्व दिया है।

राजकीय समाजवाद
(State Socialism)

विषय-प्रवेश—राजकीय समाजवाद को विभिन्न नामों, जैसे—समष्टिवाद, राज्य समाजवाद तथा लोकतंत्रीय समाजवाद आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया है। इसके संबंध में कहा गया है कि यह भूमि तथा उद्योग पर व्यक्तिगत स्वामित्व को नष्ट करके उन्हें राज्य के अधिकार में लाना चाहता है। **इनसाइक्लोपिडिया ब्रिटानिका** में इसकी परिभाषा करते हुए कहा गया है, "यह वह नीति अथवा सिद्धांत है जो केन्द्रीय प्रजातांत्रिक सत्ता द्वारा आजकल की अपेक्षा श्रेष्ठतम वितरण तथा उसके अधीन धन का श्रेष्ठतम उत्पादन की व्यवस्था करना चाहता है।"[1]

विशेषताएँ—राजकीय समाजवाद के निम्नलिखित सिद्धांत या विशेषताएँ हैं—

1. ध्येय—यह भूमि तथा खनिज पदार्थ जैसी प्राकृतिक वस्तुओं पर संपूर्ण समाज का स्वामित्व चाहता है।

2. राज्य के प्रति दृष्टिकोण—साम्यवादियों की भाँति यह राज्य को समाप्त करना नहीं चाहता। यह उसका स्वरूप बदलकर राज्य की अच्छाइयों में विश्वास करता है।

1. "Collectivism is that policy or theory which aims at securing by the action at central democratic authority a better distribution and in due subordination there to a better production of wealth."
—ENCYCLOPAEDIA BRITANICA

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

3. व्यक्तिवाद का विरोध—व्यक्तिवादी समाज खुली प्रतियोगिता का समर्थक है। समष्टिवादी इसके विरुद्ध हैं। वे पूँजीपति तथा मजदूरों में खुली प्रतियोगिता नहीं चाहते हैं, क्योंकि भूखे मजदूर पूँजीपतियों का मुकाबला नहीं कर सकते। समष्टिवादी अंततः पूँजीवाद का अंत करने के हिमायती हैं।

4. साम्यवाद का विरोध—व्यक्तिवाद की भाँति समष्टिवादी साम्यवाद का भी विरोध करते हैं। वे **मार्क्स** के इस विचार से सहमत हैं कि पूँजीवाद एक बुरी वस्तु है, क्योंकि वह मजदूरों का शोषण करता है। अतः, इसकी समाप्ति आवश्यक है। लेकिन, इसकी समाप्ति कैसे हो, इस विषय पर वे **मार्क्स** से भिन्न विचार रखते हैं। इस प्रकार, समष्टिवादियों तथा मार्क्सवादियों में मौलिक भेद है।

5. पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद का विरोध—समष्टिवादी पूँजीवाद का नाश कर समाज की स्थापना करना चाहते हैं। अतः, वे राष्ट्रीयकरण के पक्ष में हैं। वे पूँजीवाद के परिणाम साम्राज्यवाद का भी विरोध करते हैं।

6. लोकतंत्र में विश्वास—समष्टिवादी सरकार के लोकतंत्रीय स्वरूप के समर्थक हैं। वे सामाजिक समानता में विश्वास करते हैं तथा हर प्रकार के भेदभाव को मिटा देने के पक्ष में हैं।

समस्याएँ—समष्टिवाद की निम्नलिखित समस्याएँ हैं—

1. यह स्पष्ट नहीं करता कि किन-किन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाए।

2. उत्पादन के साधनों पर आधिपत्य और नियंत्रण करनेवाली शासन की समुचित इकाई कौन-सी है, इस संबंध में किसी एक निश्चित सिद्धांत का अनुकरण नहीं किया जा सकता।

3. समष्टिवादियों को इस समस्या को सुलझाने में कठिनाई हुई है कि उनलोगों को, जिनकी भूमि या उद्योग राज्य अपने अधिकार में ले लेता है, प्रतिकार मिलना चाहिए या नहीं।

4. समष्टिवादियों को यह भी निश्चित करना होगा कि सरकार अपने नागरिकों को जो सेवाएँ देती है और उनके लिए जो वस्तुएँ बनवाती है, उनका वह क्या मूल्य ले।

मूल्यांकन—समष्टिवाद के **पक्ष** और **विपक्ष** में अनेक तर्क दिए गए हैं। जहाँ तक **पक्ष** का प्रश्न है—

(i) समष्टिवादी नियोजित समाज और जनोपयोगी उद्योगों पर राज्य के नियंत्रण और स्वामित्व के समर्थक हैं।

(ii) एकाधिकार की प्रवृत्तिवाले उद्योगों पर वे राजकीय नियंत्रण के हिमायती हैं।

(iii) जिन उद्योगों में एकाधिकार की प्रवृत्ति नहीं है, उन पर वे राज्य के स्वामित्व की माँग करते हैं।

(iv) समष्टिवाद के अंतर्गत उन बुराइयों के पनपने की संभावना नहीं है जो व्यक्तिवादी व्यवस्था के अंतर्गत पूँजीवाद के चलते उत्पन्न होती है।

(v) समष्टिवादी समाजवाद की स्थापना के लिए क्रांति की आवश्यकता नहीं है।

(vi) वे सर्वसाधारण के जीवन में सुधार लाने के समर्थक हैं।

(vii) उनका उद्देश्य लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है।

(viii) समष्टिवाद में जनसाधारण का नैतिक, आध्यात्मिक और चारित्रिक उत्थान होने की संभावना है।

(ix) इसमें समाजवाद तथा लोकतंत्र के गुणों का समावेश है।

विपक्ष में तर्क—समष्टिवाद के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

(i) साम्यवादियों के विचार में वैधानिक एवं शांतिमय उपायों से छोटे-छोटे परिवर्तन अवश्य किए जा सकते हैं, पर मौलिक परिवर्तन के लिए समाज में क्रांति अनिवार्य है। जनप्रतिनिधियों द्वारा पूँजीवाद का अंत संभव नहीं है।

(ii) समष्टिवाद के विरुद्ध साम्यवादियों का अन्य तर्क यह है कि इसके कार्यक्रम मार्क्स के सच्चे सिद्धांत पर आधारित नहीं हैं, जिसके चलते पूँजीवाद से समाजवाद का परिवर्तन असंभव-सा लगता है।

(iii) आलोचकों का कहना है कि समष्टिवाद के अंतर्गत राज्य की सत्ता अत्यधिक व्यापक हो जाएगी; नौकरशाही शक्तिशाली हो जाएगी। यह नागरिक-हित में उचित नहीं है।

(iv) समष्टिवाद के अंतर्गत उत्पादन के संपूर्ण अंगों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित हो जाने से नागरिकों के व्यक्तिगत प्रयत्नों के मुख्य प्रोत्साहन नष्ट हो जाएँगे।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(v) समष्टिवाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता का दुश्मन है। **हिलोरे वेलौक** ने कहा है कि इसमें **व्यक्ति राज्य का दास बन जाएगा**। इससे ऐसा लगता है कि समष्टिवादी-सिद्धांत व्यर्थ की वस्तु है, लेकिन बात ऐसी नहीं है। इन आलोचनाओं से हम सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि हर राजकीय हस्तक्षेप मानव-स्वाधीनता का नाश नहीं करती।

(vi) आलोचकों की राय में समष्टिवाद के उत्पादन की वृद्धि के लिए स्वस्थ प्रतियोगिता और व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा-शक्ति का अभाव होगा। इससे उत्पादन में क्षति या शिथिलता आएगी। लेकिन, इस आलोचना से भी हम सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि राज्य में रूस और चीन-जैसे देशों के अनुभव से यह ज्ञात होता है कि समष्टिवाद में उत्पादन घटता नहीं है और लोग अधिक रुचि से कार्य करते हैं।

(vii) आलोचकों का यह भी आरोप है कि इस अवस्था में राजनीतिक दलों में एकाधिकारी भावना अधिक तीव्र हो जाएगी और प्रत्येक राजनीतिक दल अपने व्यक्तिगत हित के लिए कार्य करेगा।

(viii) आलोचकों ने समष्टिवाद पर यह भी आरोप लगाया है कि यह राजकीय पूँजीवाद का दूसरा नाम है।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त आलोचनाओं के आलोक में ऐसा लगता है कि समष्टिवाद एक दोषपूर्ण सिद्धांत है। लेकिन, बात ऐसी नहीं है। समाजवाद के समस्त विचारधाराओं में सबसे अधिक व्यावहारिक यही विचारधारा है। साम्यवाद के अलावा जिस किसी भी देश में आज समाजवाद की प्रगति हुई है, उसका रूप समष्टिवादी है। अतएव, अंत में निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि आज की प्रतियोगितापूर्ण औद्योगिक व्यवस्था के लिए समष्टिवाद ही एक रामवाणीय औषधि है।

पुनर्विचारवाद
(Revisionism)

विषय-प्रवेश—पुनर्विचारवादियों ने कार्ल मार्क्स के सिद्धांत की कटु आलोचना की है। इन लोगों ने इस बात पर बल दिया है कि मार्क्सवाद के क्रांतिकारी पहलू की अपेक्षा विकासवादी पहलू पर बल दिया जाना चाहिए और परिवर्तित परिस्थितियों में मार्क्सवादी सिद्धांतों में आवश्यकतानुसार संशोधन किया जाना चाहिए।

विकास और समर्थक (Evolution and Exponents)—यूरोप में पुनर्विचारवादियों, संशोधनवादियों और सुधारवादियों के इस नर्म तथा व्यापारिक समाजवाद के सिद्धांत प्रथम विश्वयुद्ध से 25 वर्ष पूर्व प्रकट हुए। जर्मनी में एडवर्ड बर्न्सटाइन (Edward Bernstein), फ्रांस में जीन जोरेस (Jean Jaures), बेल्जियम में अन्सीले (Edward Ansiele), इटली में लियोनेडो बिस्सोलाटी (Leonido Bissolati), रूस में टुगन बेरोनोस्की (Tugan Baronowsky) तथा स्वीडेन में कार्ल ब्रेंटिंग (Karl Branting) के कार्यों तथा भाषणों में, बेल्जियम मजदूर दल, दक्षिणी जर्मन राज्यों के समाजवादी प्रजातांत्रिक दलों, फ्रांस के स्वतंत्र समाजवादी दलों, इटली के समाजवादी दलों के सिद्धांतों तथा युक्तियों में पुनर्विचारवाद का विकास हुआ।

एडवर्ड बर्न्सटाइन को संशोधनवादी तथा पुनर्विचारवादी आंदोलन का प्रणेता कहा जाता है। इन्होंने मार्क्सवाद के विकासवादी पहलू पर जोर दिया है। **मार्क्स** द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को तथ्यों की दृष्टि से दोषी पाया है और यह कहा है कि **मार्क्स** के बुद्धिमान शिष्यों को अपने गुरु की प्रत्येक बात को आँख बंद करके स्वीकार नहीं करना चाहिए, बल्कि उसमें जो सत्य है, उसे ग्रहण करना चाहिए और जो असत्य है, उसका परित्याग कर देना चाहिए। **बर्न्सटाइन** ने मार्क्सवाद पर *Problems of Socialism* नामक लेखमाला में अपने आक्रमणकारी विचार प्रकाशित किए हैं।

विकासवादी समाजवाद *(Evolutionary Socialism)* नामक ग्रंथ में **बर्न्सटाइन** के विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने मार्क्सवाद की अपनी आलोचना का सार एक लम्बे पत्र में प्रस्तुत किया था जो 1898 ई० में उसने जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी को लिखा था। **बर्न्सटाइन** के अविश्वासों और मार्क्सवादी आलोचनाओं का मुख्य तर्क यह था कि **मार्क्स** ने समाज का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया था, वह विश्लेषण समाज द्वारा गलत प्रमाणित हो चुका था तथा घटनाओं के क्रम के अनुसार **मार्क्स** की भविष्यवाणियाँ भी सत्य सिद्ध नहीं हुईं। इसलिए यह सर्वथा उचित था कि **मार्क्स** के सिद्धांतों में संशोधन किया जाए और उन बातों को निकाल फेंका जाए जो गलत सिद्ध हो चुकी हों।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

बर्न्सटाइन द्वारा मार्क्स की आलोचना (Bernstein's criticism of Marx)

बर्न्सटाइन ने **समाजवाद की समस्याएँ** *(Problems of Socialism)* नामक लेखमाला में **मार्क्स** पर स्वप्नलोकीय (utopian) होने का आरोप लगाया है। **मार्क्स** ने पूर्ण विश्वास के साथ यह कहा था कि समाज आकस्मिक तथा तीव्र परिवर्तन के फलस्वरूप पूँजीवाद से समाजवाद का रूप धारण कर लेगा। **बर्न्सटाइन** ने **मार्क्स** के इस विचार की आलोचना करते हुए उसे कल्पनालोकीय तथा स्वप्नमय बताया है। उसने कहा है कि **मार्क्स** की इस प्रकार की धारणा बनाना यथार्थ को दूर फेंकना था। **बर्न्सटाइन** के अनुसार यह विचार गलत था कि पूँजीवादी समाज का अंत निकट आ रहा था और वह उस अंतिम संकट में चरम बिंदु पर था जिसके परिणामस्वरूप श्रमिकवर्ग को शांति प्राप्त हो जाती थी। **मार्क्स** द्वारा ऐसे विचारों को प्रकट करना भ्रांतिपूर्ण था।

बर्न्सटाइन ने यह भी आरोप लगाया कि **मार्क्स** के उपर्युक्त स्वप्नलोकीय विचारों का ही यह दुष्परिणाम था कि जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी में निष्क्रियता व्याप्त थी। इस पार्टी ने क्रांति के पूर्व कोई रचनात्मक कार्य करना उचित नहीं समझा। चूँकि **बर्न्सटाइन** को **मार्क्स** द्वारा कथित क्रांति के कोई भी लक्षण सन्निकट नहीं दिखाई दे रहे थे, अतः उसने यह तर्कसंगत शंका प्रस्तुत की कि क्या श्रमिकों के लिए यह उचित है कि वे उन सुधारों के लिए कोई प्रयत्न नहीं करें जो पूँजीवादी राज्य में पूँजीवादी ढाँचे के अंतर्गत भी प्राप्त हो सकते हैं, और क्या उनके लिए उचित है कि उन सुधारों को पाने के लिए प्रयत्नशील होने की अपेक्षा प्रत्याशित क्रांति की प्रतीक्षा करते रहें? **बर्न्सटाइन** ने आग्रहपूर्वक यह विचार प्रस्तुत किया है कि क्रांति की अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करना श्रमिकों के हितों के दृष्टिकोण से लाभप्रद नहीं है। उन्होंने बताया है कि उचित और तर्कसंगत राह यही है कि पूँजीवाद के विकास की प्रतीक्षा में न बैठकर श्रमिक पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत अधिकतम रियायतें लेने को सचेष्ट हों।

बर्न्सटाइन ने अनुभव किया कि मार्क्स की भविष्यवाणी के विपरीत वर्ग-संघर्षों में कमी होने के कारण क्रांति की संभावना निरंतर घटती जा रही है। **मार्क्स** ने कहा था कि ज्यों-ज्यों पूँजीवाद की अभिवृद्धि होगी त्यों-त्यों वर्ग-संघर्ष बढ़ता जाएगा और क्रांति सन्निकट होती जाएगी। किंतु, **मार्क्स** की कल्पना के विरुद्ध, समाज दो घोर परस्पर-विरोधी वर्गों में विभक्त नहीं हो पा रहा था। श्रमिक स्वयं किसी एक संगठित वर्ग में आबद्ध नहीं थे। उनका विभाजन कुशल-अकुशल आदि अनेक वर्गों में हो रहा था। **बर्न्सटाइन** ने कहा है कि सामाजिक धन की भारी वृद्धि ने बड़े पूँजीपतियों की संख्या में कमी नहीं की थी, वरन समस्त श्रेणी के पूँजीपतियों में वृद्धि हुई थी। ज्यों-ज्यों राज्य का लोकतांत्रिक स्वरूप उन्नत हो रहा था, त्यों-त्यों श्रमिकवर्ग की राजनीतिक क्रांति के द्वारा समाजवाद के आने की संभावना कम हो रही थी। **बर्न्सटाइन** का कहना है, "कारखानों के बारे में अधिनियम, स्थानीय शासन का जनतंत्रीकरण, उसके कार्य-क्षेत्र का विस्तार, वैधानिक प्रतिबंधों से ट्रेड यूनियनों और सहयोगी व्यापारी संस्थाओं की मुक्ति, सार्वजनिक सेवाओं के द्वारा व्यर्थ किए जाने के एक निश्चित स्तर का विचार—ये समस्त विचारधारा विकास की विशेषताएँ हैं। वर्तमान राष्ट्र का राजनीतिक संगठन जितना ही अधिक जनतंत्रीय होता है उतनी ही अधिक राजनीतिक संकट की आवश्यकताएँ तथा अवसर कम होते हैं।"

उपर्युक्त परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए **बर्न्सटाइन** इस निष्कर्ष पर पहुँचता है—"समाजवाद का कार्य श्रमिकवर्ग को राजनीतिक रूप से संगठित करना और उन्हें एक लोकतंत्र में विकसित करना तथा राज्य में उन समस्त सुधारों के लिए लड़ना है जो कि श्रमिक वर्ग को ऊँचा उठा सकते हैं और राज्य को लोकतंत्र की दिशा की ओर परिणत कर सकते हैं।"

स्पष्टतः **बर्न्सटाइन** के मतानुसार पूँजीवाद से समाजवाद पर आवर्तन शनैः-शनैः ही हो सकता है। स्थायी सफलता के लिए बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि इन क्रांतिकारी परिवर्तन के बजाय धीरे-धीरे परंतु निश्चित विकास की ओर बढ़ा जाए। उन्होंने कहा है कि समाजवाद की स्थापना वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप नहीं होगी, बल्कि श्रमिक सुधारों के संयम द्वारा होगी। इसलिए श्रमिकों को चाहिए कि वे अपने राजनीतिक अधिकारों की माँग करें। श्रमिकों को ग्रामों और नगरों में अपने वर्ग के हितों के लिए राजनीतिक संघर्ष करना चाहिए और श्रमिकों के औद्योगिक संगठन के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

एक युग से दूसरे युग पर आकस्मिक छलाँग की आलोचना—बर्न्सटाइन को **मार्क्स** के इतिहास की एक युग से दूसरे युग पर आकस्मिक छलाँग की धारणा में कोई विश्वास न था। फेबियनवाद भी ऐसा ही विचार रखता है। **जी॰ डी॰ एच॰ कोल** ने कहा है कि **सिडनी वेब** तथा **बर्न्सटाइन** ने एक विकासवादी

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्रक्रिया के दर्शन किए जिसमें आकस्मिक छलाँगें अपवादस्वरूप थीं और सामान्य नियम क्रमिक तथा संचयशील परिवर्तनशीलता का था। **वेब** तथा **बर्न्सटाइन** ने कहा है कि वर्ग-संघर्ष परिवर्तन का वास्तविक महत्त्वपूर्ण यंत्र नहीं है, परिवर्तन इसलिए होता है क्योंकि जीवन की मूलभूत स्थितियाँ बदल जाती हैं।

इतिहास की आर्थिक व्याख्या की आलोचना—बर्न्सटाइन ने **मार्क्स** के इतिहास की आर्थिक व्याख्या को भी अपने आक्रमण का निशाना बनाया है। उन्होंने मार्क्सवाद की इस व्याख्या को अत्यंत संकीर्ण बताया है और यह मत प्रकट किया है कि इतिहास के निर्धारण में केवल आर्थिक तत्त्व ही सब-कुछ नहीं है। **बर्न्सटाइन** ने अपने ग्रंथ **विकासवादी समाजवाद** *(Evolutionary Socialism)* में बताया है, "आधुनिक समाज प्रारंभिक समाजों के आदर्शों से कहीं अधिक ऊँचा उठा हुआ है। ये आदर्श केवल आर्थिक तत्त्वों तक ही सीमित नहीं हैं, वरन विज्ञान, कला तथा अन्य सामाजिक संबंध भी इन आदर्शों के क्षेत्र में आते हैं। ये विभिन्न तत्त्व आज आर्थिक तत्त्वों पर इतने आधारित नहीं हैं जितने कि प्राचीन काल में थे।"

बर्न्सटाइन ने इस बात पर जोर दिया है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की आर्थिक शक्तियों के निर्देशन की शक्ति बढ़ती जाती है तथा प्राकृतिक-आर्थिक शक्ति मानव की सेविका बन जाती है। उसने कहा है कि आज व्यक्तिगत हित के विरुद्ध सामान्य हित अधिक प्रबल होता जा रहा है, इसलिए आर्थिक शक्तियों का प्रारंभिक नियम आज खंडित होता जा रहा है।

मार्क्स के मूल्य-सिद्धांत का खंडन—बर्न्सटाइन ने **कार्ल मार्क्स** के मूल्य-सिद्धांत का भी खंडन किया है। उसका यह विचार है कि श्रम-निर्मित मूल्य के किसी भी सिद्धांत के आधार पर हम वितरण के लिए कोई उपयुक्त प्रणाली स्थापित नहीं कर सकते। **प्रो॰ कोकर** ने बर्न्सटाइन के विचारों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है, "मूल्य-सिद्धांत श्रम के उत्पादन के विभाजन में न्याय या अन्याय का निर्णय करने के लिए किसी आदर्श को स्थापित करने में उतना ही असफल है जितना कि किसी मूर्ति की सुंदरता या कुरूपता का निर्णय करने के लिए अणुसिद्धांत।" आज हमें जिन उद्योगों में अतिरिक्त मूल्य (surplus value) की दर बहुत अधिक ऊँची है, उनमें श्रेष्ठतम अवस्थावाले मजदूर दिखाई देते हैं। जिन उद्योगों में अतिरिक्त मूल्य की दर बहुत निम्न है, उनमें मजदूर अत्यंत दलित अवस्था में हैं।

पूँजी के केन्द्रीकरण की आलोचना—बर्न्सटाइन ने **मार्क्स** के इस प्रश्न का भी परीक्षण किया है कि पूँजी केवल थोड़े-से हाथों में केन्द्रित होती जाती है। **मार्क्स** ने कहा था कि शीघ्र ही ऐसा समय आएगा कि सारी पूँजी बड़े-बड़े पूँजीपतियों के हाथ में आ जाएगी। छोटे-छोटे पूँजीपतियों को बड़े पूँजीपति अपने में समेट लेंगे और इस प्रकार अंत में नगण्य मात्रा में पूँजीपति शेष रहेंगे। **बर्न्सटाइन** ने **मार्क्स** के इस कथन का खंडन किया है और कहा है कि यद्यपि यह सही है कि व्यापार-संगठन उत्तरोत्तर बृहत्तर होते जा रहे थे, किंतु साथ ही तथ्य यह भी है कि पूँजीपतियों की संख्या घट नहीं रही थी, प्रत्युत मिश्रित कंपनियों के उदय होने के कारण उनकी संख्या में वृद्धि हो रही थी।

श्रमिकों के अधिनायकवाद-संबंधी विचारधारा की आलोचना—मार्क्स ने श्रमिकों के अधिनायकवाद की स्थापना की बात कही थी, किंतु **बर्न्सटाइन** ने अपनी पुस्तक *Evolutionary Socialism* में समाजवाद और लोकतंत्र के पारस्परिक संबंध की चर्चा करते हुए **मार्क्स** के विचार का खंडन किया है, क्योंकि यह जनतंत्री सिद्धांतों के प्रतिकूल है। **बर्न्सटाइन** का कहना है कि जनतंत्र का अर्थ सबके लिए समान न्याय और वर्ग-शासन का अभाव होता है। उसके शब्दों में ही, "जनतंत्र में मत देने का अधिकार उसके सदस्यों को समाज में नाममात्र की साझेदारी प्रदान करता है। यह नाममात्र की साझेदारी अंत में वास्तविक साझेदारी हो जाती है। जिस समाज में अधिकांश श्रमिक अविकसित हों उसमें सामान्य मताधिकार से प्रारंभ में यह प्रतीत होता है कि श्रमिकों को केवल शासन करनेवालों के निर्वाचन करने का अधिकार प्राप्त है, परंतु श्रमिकों की बढ़ती हुई संख्या तथा ज्ञान की वृद्धि से जनता के प्रतिनिधि स्वामियों के स्तर से हटकर जनता के सेवक का रूप धारण कर लेंगे।"

बर्न्सटाइन ने यह स्पष्ट कहा है कि किसी भी बहुसंख्यक वर्ग को चाहे वह पूँजीपतियों का हो, चाहे मजदूरों का, अल्पसंख्यकों को कुचलने का अधिकार नहीं है। जनतंत्र का अर्थ वर्ग-शासन को समाप्त करना है, एक वर्ग के स्थान पर दूसरे वर्ग का शासन स्थापित करना नहीं है।

'मजदूरों का कोई देश नहीं होता'—संबंधी विचारों की आलोचना—बर्न्सटाइन ने खंडन किया है कि मजदूरों का कोई देश नहीं होता। यह धारणा 1840 ई॰ तक कुछ हद तक सही हो सकती थी, क्योंकि उस समय श्रमिकवर्ग मत देने के अधिकार से वंचित था और वह राजनीति में सक्रिय भाग नहीं ले सकता

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

था, लेकिन आज जब श्रमिकवर्ग को मताधिकार मिल गया है, तो यह धारणा आंशिक रूप से असत्य सिद्ध हो गई है। **बर्न्सटाइन** ने बताया है कि भविष्य में जबकि श्रमिक राजनीति में पूर्णतः भाग लेने लगेंगे तो यह धारणा पूर्णतः असत्य सिद्ध हो जाएगी।

बर्न्सटाइन ने मजदूरों और पूँजीपतियों—दोनों को राष्ट्र की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील रहने का आह्वान किया है; क्योंकि राष्ट्र को क्षति पहुँचानेवाली परिस्थितियों से दोनों का नुकसान होगा। राष्ट्र की रक्षा का कर्तव्य मजदूरों का भी उतना ही है जितना कि पूँजीपतियों का है।

जीन जोरेस (Jean Joures)—जहाँ **बर्न्सटाइन** जर्मनी में संशोधनवादी आंदोलन का महान नेता था, वहाँ **जीन जोरेस** और **बिनाय मैलन** (Benoit Malon) फ्रांस में संशोधनवादी आंदोलन के सर्वोत्तम प्रतिनिधि थे। **बर्न्सटाइन** की तरह ही **जीन जोरेस** ने मार्क्सवादी भविष्य को अस्वीकार किया है। उसने कहा है कि आर्थिक संकट यद्यपि पूँजीवादी अव्यवस्था के प्रमाण हैं, तथापि इस व्यवस्था का अंत करके किसी अन्य प्रणाली को जन्म नहीं दे सकते। **बर्न्सटाइन** की तरह ही वह **मार्क्स** के विचारों का खंडन करता है।

पुनर्विचारवाद या संशोधनवाद के इस वर्णन से हमने यही देखा कि **बर्न्सटाइन, जीन जोरेस** एवं अन्य संशोधनवादी विद्वान मार्क्सवादी सिद्धांतों का खंडन करते थे। किंतु, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मार्क्सवाद में उनकी कोई आस्था ही नहीं थी। बात यह है कि वे सचाई के साथ **मार्क्स** के कुछ आधारभूत आर्थिक एवं विकासात्मक सिद्धांतों को मानते थे और उनका यह दावा था कि **मार्क्स** के सिद्धांत में जो बातें सारभूत हैं, वे सही हैं। इस तरह स्पष्ट है कि मजदूरों तथा अन्य सहानुभूतिपूर्ण वर्गों के मध्य सहयोग को स्वीकार करते हुए, अथवा उसका समर्थन करते हुए भी संशोधनवादियों ने इस बात पर सहमति प्रकट की कि आर्थिक विषमताओं में समाजवाद का औचित्य सिद्ध होता है। **बर्न्सटाइन** ने यह स्पष्ट कहा है कि इस बात पर किसी को कोई आपत्ति नहीं है कि सरकार पर मजदूरों का अधिकार होना चाहिए। सर्वहारावर्ग के समाजवादी दल का निर्माण लोकतंत्र की ओर पहला अनिवार्य कदम है।

जीन जोरेस ने साधारण समाजवादी आंदोलन में सामान्य हड़ताल (general strike) को एक साधन के रूप में स्वीकार किया और यह माना था कि जब निर्दयी पूँजीवादी सत्ता-सुधारों को बार-बार टालती रहे तो हिंसात्मक सामान्य हड़ताल ही श्रमिकों के हाथों में एकमात्र शक्तिशाली हथियार होगा। इस प्रकार, यदि **जीन जोरेस** ने हिंसात्मक सामान्य हड़ताल को अंतिम अपरिहार्य उपाय माना है तो **बर्न्सटाइन** ने क्रांति करने के अधिकार को ऐसे अधिकार के सामान्य अर्थ के रूप में स्वीकार किया था जो कानून द्वारा छीना नहीं जा सकता और जिसके सुधार के मार्ग पर अग्रसर होने पर उतनी ही आवश्यकता रह जाएगी जितनी कि आत्मरक्षा के अधिकार की उस समय रह जाती है जबकि हम स्वयं अपने सांपत्तिक तथा व्यक्तिगत विवादों का नियमन करने के लिए नियम बनाते हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)—निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि **बर्न्सटाइन** के अनुसार **मार्क्स** के वैज्ञानिक होने के दावे के बावजूद उसकी विचारधारा का एक बहुत बड़ा भाग वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि वह तथ्यों पर आधारित नहीं है। **मार्क्स** ने अपने ऐतिहासिक विकास के सिद्धांत में आर्थिक तत्त्व पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया है तथा उसके द्वारा प्रतिपादित अतिरिक्त-मूल्य का सिद्धांत तो पूर्णतः काल्पनिक सिद्ध हुआ है। **मार्क्स** की भविष्यवाणी के अनुसार न तो मध्यमवर्ग समाप्त हुआ और न मजदूरवर्ग के कष्टों में वृद्धि हुई, और न पूँजीपतियों की संख्या में कोई कमी आई। **बर्न्सटाइन** ने बदलती हुई परिस्थितियों में और **मार्क्स** की अनेक भविष्यवाणियों के गलत हो जाने की दशा में विकासवादी प्रक्रिया में विश्वास करते हुए मार्क्सवाद पर पूर्ण विचार करके उसमें संशोधन करने का आग्रह किया और यह घोषित किया है कि क्रांतिकारी साधन केवल वहीं अपनाए जाने चाहिए जहाँ सुधारवादी साधन काम न दे।

संसदीय समाजवाद
(Parliamentary Socialism)

संसदीय समाजवाद इंगलैंड के मजदूर दल की देन है। इस दल की नीतियों और कार्यक्रमों को संसदीय समाजवाद कहा जाता है। संसदीय समाजवाद की मुख्य विशेषता है कि वह समाजवाद की स्थापना के लिए संसदीय पद्धति का मार्ग अपनाता है।

समाजवाद की स्थापना के उद्देश्य के लिए बहुत-से दल अलग-अलग तरीके अपनाते हैं; जैसे—संसदीय तरीके और गैर-संसदीय तरीके। संसदीय तरीकों के अंतर्गत केवल संसद के चुनाव द्वारा बहुमत प्राप्त कर

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

सरकार का निर्माण कर या अल्पमत में रहने पर विरोधी दल की भूमिका अदा कर समाजवाद की स्थापना का प्रयास किया जाता है।

इंगलैंड के मजदूर दल ने हमेशा से सांविधानिक तरीकों में अटल विश्वास प्रकट किया है। **रैल्फ मिलिबैंड** ने ठीक ही कहा है—"समाजवाद को अपने उद्देश्य के रूप में दावा करनेवाले राजनीतिक दलों में मजदूर दल ने बहुत ज्यादा हठधर्मी दिखाई है, समाजवाद के बारे में नहीं बल्कि संसदीय पद्धति के बारे में।" 1921 ई० में मजदूर दल के संविधान के संबंध में एक प्रश्नावली में जोर दिया गया कि "दल का उद्देश्य संसदीय प्रजातंत्र द्वारा लोगों का राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उत्थान करना है।"

संसदीय समाजवाद **मार्क्स** के वर्ग-संघर्ष में विश्वास नहीं करता है बल्कि **रॉबर्ट ओवेन** के मानव बंधुत्व के सिद्धांत में विश्वास करता है। संसदीय शासन के द्वारा सभी वर्गों को संतुष्ट किया जा सकता है और मजदूरों तथा पूँजीपतियों के हितों को ध्यान में रखते हुए समस्त समाज के कल्याण के लिए कानून बनाए जा सकते हैं। संसदीय समाजवाद आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में व्यावहारिक दृष्टिकोण रखता है।

संसदीय समाजवाद बड़े-बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण चाहता है। यह औद्योगिक संगठनों पर कठोर नियंत्रण का समर्थक है। कृषि-योग्य और शहरी भूमि, कोयला और शक्ति का उत्पादन तथा वितरण, संचार तथा यातायात के साधनों आदि पर यह राज्य के स्वामित्व का हिमायती है। निजी उद्योगों पर यह नियंत्रण का समर्थक है। इसकी मान्यता है कि बैंक, साख-व्यवस्था या छोटे-छोटे उद्योगों का कानून बनाकर इतना नियंत्रित कर देना चाहिए कि वे समाज-विरोधी कार्य न कर सकें। जनस्वास्थ्य अधिनियम, फैक्ट्री अधिनियम, न्यूनतम वेतन अधिनियम, जनशिक्षा अधिनियम-जैसे कानूनों के द्वारा सभी वर्गों का कल्याण किया जा सकता है।

निष्कर्ष (Conclusion)—निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि संसदीय समाजवाद पूँजीवादी लोकतंत्र के विरुद्ध है। यह निजी उद्योग के एकाधिकार को समाप्त कर सार्वजनिक स्वामित्व को बढ़ावा देता है। यह आर्थिक स्वामित्व के मामले में हठधर्मी या उग्र नहीं है। यह निजी और सार्वजनिक स्वामित्व से समझौता करना चाहता है। यह एक सुधारवादी समाजवाद बन गया है जो इस सिद्धांत में विश्वास करता है कि समाजवादी समाज क्रमिक, सांगठनिक और सामाजिक सुधारों द्वारा स्थापित किया जा सकता है।

लोकतांत्रिक समाजवाद
(Democratic Socialism)

विषय-प्रवेश (Introduction)—प्रजातांत्रिक समाजवाद की अवधारणा 20वीं सदी के आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में आई क्रांति का परिणाम है। 1884 ई० में **कार्ल मार्क्स** और **एङ्गिल्स** ने जब **साम्यवादी घोषणापत्र** की रचना की तब समस्त विश्व में द्रुत गति से समाजवादी विचारधारा का प्रसार प्रारंभ हुआ। समाजवादी विचारधारा को आगे बढ़ाने में औद्योगिक क्रांति का अभूतपूर्व योगदान रहा। 1917 ई० में **सोवियत रूस** द्वारा साम्यवादी व्यवस्था को अंगीकार करने तथा साम्यवाद का बढ़ते प्रभाव के आलोक में इंगलैंड-जैसे देशों ने समाजवाद को मार्क्सवाद से भिन्न जिस वैचारिक पृष्ठभूमि में अपनाया, उसे **प्रजातांत्रिक समाजवाद** के नाम से पुकारा गया।

अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition)—प्रजातांत्रिक समाजवाद पूँजीवाद और साम्यवाद के दुर्गुणों से मानव-समाज की रक्षा करता है। इस विचारधारा के उदय की न तो कोई निश्चित तिथि है और न इसके साहित्य के लिए कोई उच्च ग्रंथ, जिसे **बाइबिल** की भाँति प्रेरणास्रोत के रूप में रखा जा सके। इस संबंध में **विलियम इबंन्स्टीन** ने लिखा है, "इंगलैंड में अधिकांश प्रभावशाली समाजवादी वैसे विचारक रहे हैं जिन्हें दल या शासन में कोई महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त नहीं थी। उनका प्रभाव एकमात्र उनकी नैतिक शक्ति एवं उनके लेखन-शैली के कारण था।"[1]

इंगलैंड जनतांत्रिक समाजवाद का न सिर्फ प्रेरणास्रोत, वरन जन्मभूमि रहा है। चूँकि ब्रिटिश लोग स्वभाव से मध्यमवर्गीय होते हैं, इसलिए वे उग्र सुधारों या क्रांतिकारी परिवर्तनों में विश्वास नहीं करते। 'सहमति द्वारा सरकार एवं सहमति द्वारा परिवर्तन' (Government by consent and change by consent) के ये हिमायती रहे हैं और ये दोनों इनके जीवन के आधारभूत नियम हैं। प्रजातांत्रिक समाजवाद की विभिन्न मान्यताओं,

1. WILLIAM EBENSTEIN : *Modern Political Thought* (1960), p. 596.

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

आधारभूत सिद्धांतों, लोकतांत्रिक साधनों, मूलभूत मानवीय एवं सामाजिक मूल्यों तथा महत्तम उद्देश्यों के आलोक में इसकी परिभाषा के रूप में कहा जा सकता है कि **प्रजातांत्रिक समाजवाद विश्व में सांविधानिक एवं शांतिपूर्ण उपायों द्वारा एक ऐसे समाज की स्थापना चाहता है, जिसमें व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए संपत्ति की गंभीर विषमताओं को दूर कर मानवीय मूल्यों की स्थापना की जा सके।**

प्रजातांत्रिक समाजवाद के प्रमुख प्रतिपादक

जिन विभिन्न विचारकों की रचनाओं में हमें जनतांत्रिक समाजवाद की ढीली-ढाली व्याख्या मिलती है, उनमें उल्लेखनीय हैं—ब्रिटेन में **रॉबर्ट ओवेन, सिडनी** और **ब्रैट्रिस वैब, आर० एच० टॉनी, वेल्सफोर्ड, रैम्जे मैकडोनॉल्ड, हैरोल्ड जे० लॉस्की, क्लेमेण्ट, आर० एटली, इवान एफ० एम० डर्विन** एवं **फ्रांसिस विलियम्स,** अमेरिका में **नार्मन थॉमस** तथा भारत में **पं० जवाहरलाल नेहरू।** संक्षेप में इनमें कुछ प्रमुख चिंतकों के विचारों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

आर० एच० टॉनी (R. H. Toney)

टॉनी ने 1921 ई० में अपनी पुस्तक *The Aguisitive Society* की रचना की, जिसे ब्रिटिश समाजवादी विचारधारा का महान ग्रंथ कहा गया है। इस पुस्तक में **क्रियाहीन संपत्ति** (functionless property) के दोषों पर प्रकाश डाला गया है। **टॉनी** ने उस संपत्ति को क्रियाहीन कहा है जो बिना किसी क्रिया अथवा सेवा के आय-लाभ और सत्ता उत्पन्न करती है। क्रियाहीन संपत्ति के दोषों को दूर करने के लिए **टॉनी** ने निम्नलिखित सुझाव दिया है—

1. उद्योगों का उद्देश्य सिर्फ लाभ-प्राप्ति न होकर सामाजिक सेवा होना चाहिए।
2. उद्योगों के हितों को सामाजिक हितों के अधीनस्थ होना चाहिए।
3. उद्योगों को समाज के प्रति उत्तरदायी रहना चाहिए।
4. सेवा प्रदान करनेवाले लोगों को अच्छे वेतन मिलना चाहिए।

क्लेमेंट आर० एटली (Clement R. Attlee)

ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधानमंत्री (1945—50) और मजदूर दल के नेता **क्लेमेंट आर० एटली** ने भी **प्रजातांत्रिक समाजवाद** के विकास में योगदान किया है। उन्होंने **ईसाई धर्म** और **बाइबिल** को ब्रिटिश समाजवाद की प्रेरणास्रोत के रूप में स्वीकार किया है। उनके शब्दों में, "ब्रिटिश समाजवादी आंदोलन के निर्माण में सर्वप्रथम स्थान धर्म के प्रभाव का है।"[1] उन्होंने इस बात पर बल दिया कि राष्ट्रों के द्वारा अपनी राष्ट्रीय परंपराओं के अनुरूप ही विचारधाराओं को अपनाया जा सकता है। जिस प्रकर ब्रिटेन में निरंकुश राजतंत्र से प्रजातंत्र की दिशा में शांतिपूर्ण परिवर्तन किया गया, उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद से समाजवाद की ओर परिवर्तन भी शांतिपूर्ण और वैध उपायों के आधार पर होना चाहिए।

हैरोल्ड जे० लॉस्की (Harold J. Laski)

प्रजातांत्रिक समाजवाद के अन्य प्रमुख चिंतकों में **हैरोल्ड जे० लॉस्की** का नाम भी उल्लेखनीय है। वह 'सहमति से क्रांति' (Revolution by Consent) का हिमायती है। प्रजातांत्रिक समाजवाद के संदर्भ में **लॉस्की** की निम्नलिखित मान्यताएँ हैं—

1. समाज का उद्देश्य राज्य से उच्चतर है।

2. जब सरकार कोई निर्णय ले तब उसके बाद पूछताछ और समझौता-वार्ता के लिए राज्य को उचित स्थान प्रदान करे।

3. स्वयंसेवी संस्थाओं के प्रतिनिधि सामान्य हित के राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों पर परामर्श देने के लिए सरकार के साथ रहें।

4. सरकार के कार्यों में शक्ति-विकेन्द्रीकरण को रोकने के लिए कानून बनाने की शक्ति प्रादेशिक और कार्यात्मक सभाओं को दी जानी चाहिए।

---

1. "The first place in the influence that built up the socialist movement must be given to religion."
—C R Attlee

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

5. राष्ट्र की तानाशाही के स्थान पर आर्थिक एवं व्यावसायिक समूहों का राष्ट्रमंडल बनना चाहिए जो सरकार के साथ कार्य कर सके।

इवान एफ० एम० डर्विन (Evan F. M. Durbin)

इवान एफ० एम० डर्विन ने अपनी रचना **प्रजातांत्रिक समाजवाद की राजनीति** *(The Politics of Democratic Socialism)* में मार्क्सवादी विचारधारा को गलत बताते हुए कहा है कि वांछित परिवर्तन लाने के लिए गृह-युद्ध अवश्यंभावी नहीं है। **डर्विन** के विचारानुसार, किसी भी प्रकार का अधिनायकवाद सामाजिक न्याय की प्राप्ति नहीं कर सकता। मार्क्स की विचारधारा को अपने-आप में महत्त्वपूर्ण मानते हुए **डर्विन** का विचार है कि उसे हमेशा के लिए सत्य नहीं मान लेना चाहिए। उसे संशोधित करते हुए बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप उसकी व्याख्या की जानी चाहिए। **डर्विन** के संबंध में **विलियम इबेंस्टीन** ने लिखा है, "मार्क्सवादी क्रांतिकारी साम्यवाद की सर्वाधिकारितावाद को अस्वीकार करते हुए डर्विन को विश्वास था कि प्रजातांत्रिक समाजवाद के मार्ग से न सिर्फ ब्रिटेन अपनी समस्याएँ हल कर लेगा, वरन वह विश्व को राजनीतिक स्वतंत्रता और आर्थिक समानता के एक नवीन समाज की दिशा में अग्रसर करेगा।"

फ्रांसिस विलियम्स (Francis Williams)

ब्रिटिश श्रमिक आंदोलन के नेता **फ्रांसिस विलियम्स** ने प्रजातांत्रिक समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन अपनी पुस्तक *'The Moral Case for Socialism'* (1959) में किया है। उसके अनुसार, पूँजीवाद और साम्यवाद पूर्णतया भौतिक दर्शन है। इससे भिन्न वह मनुष्य को एक नैतिक प्राणी मानता है। व्यक्ति सिर्फ भौतिक विचारों से ही नहीं, वरन आदर्शों और आशाओं से प्रभावित होकर सहयोग, सामाजिकता तथा भ्रातृत्व की भावनाओं के आधार पर कार्य करता है। समाजवाद मानवीय प्रकृति के संबंध में इसी आशावादी दृष्टिकोण को अपनाता है तथा व्यक्तियों के नैतिक विकास पर बल देता है।

नार्मन थॉमस (Norman Thomas)

अमेरिका में समाजवादी विचारधारा के प्रतिपादकों में **नार्मन थॉमस** का नाम सबसे प्रमुख रूप से लिया जाता है। अपनी पुस्तक *'Democratic Socialism—A New Appraisal,* (1953) में **नार्मन थॉमस** ने परिस्थितियों के अनुसार पूँजीवाद में परिवर्तन करने तथा सीमित क्षेत्र में सामाजिक स्वामित्व को अपनाने की बात पर बल दिया है। उसने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि व्यवहार में समाजवाद वहीं सफलता प्राप्त कर सकता है, जहाँ पर प्रजातंत्र की जड़ें गहरी जमी हुई हैं।

जवाहरलाल नेहरू (Jawaharlal Nehru)

पं० जवाहरलाल नेहरू स्वयं को समाजवाद का समर्थक मानते थे। उनका कहना था कि साम्यवाद और फासीवाद दोनों पर पश्चिम की हवाएँ हैं जो भारत के अपने जीवन के मूल्यों और आदर्शों के अनुकूल नहीं है। भारत के सामने दो माँगें हैं—लेनिन या मुसोलिनी को मानो अथवा महात्मा गाँधी के बताए मार्ग पर चलो। नेहरू ने स्पष्टतः कहा कि साम्यवादी तरीकों में हिंसा भरी है, अतः इसे हम नहीं अपना सकते। पं० नेहरू ने जिन कदमों का समर्थन किया है, वे मूलतः प्रजातांत्रिक समाजवाद के अनुकूल हैं। इस संबंध में उनकी मान्यताएँ थीं—

1. धन का समान वितरण होना चाहिए, लेकिन इससे पूर्व उत्पादन बढ़ाना जरूरी है।

2. रक्षा-उत्पादन एवं मूल उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। उन पर राज्य-कर, स्वामित्व एवं नियंत्रण होना चाहिए। इसके अलावा, नदी-घाटी योजना आदि क्षेत्रों में जहाँ निजी उद्यम नहीं पहुँच पाते, वहाँ भी राज्य को प्रबंध करना चाहिए।

3. अन्य क्षेत्रों में राज्य को नए उद्योग खोलना चाहिए, लेकिन पुराने उद्योगों को भी चलने देना चाहिए।

4. मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाई जानी चाहिए। इससे प्रत्येक व्यक्ति को विकास के समान अवसर मिलेंगे।

5. जब देश का उत्पादन पर्याप्त बढ़ जाए तो प्रत्येक व्यक्ति को विकास के समान अवसर दिए जाएँ और राष्ट्रीय संपत्ति का न्यायपूर्ण वितरण किया जाए।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

जवाहरलाल नेहरू ने आजीवन इन नीतियों को राष्ट्रीय जीवन में उतारने की चेष्टा की। **ए० अप्पादोराय** के मतानुसार, ''राजनीतिक शब्दावली में नेहरू के लिए यही जनतांत्रिक समाजवाद था।''

प्रजातांत्रिक समाजवाद के मूल सिद्धांत एवं विशेषताएँ (Basic Principles and Features of Democratic Socialism)

ब्रिटिश, अमेरिकी एवं भारतीय समाजवादियों द्वारा अभिव्यक्त विचारों के विश्लेषण से प्रजातांत्रिक समाजवाद के निम्नलिखित लक्षण प्रतीत होते हैं—

1. **पूँजीवाद और साम्यवाद का विरोध**—प्रजातांत्रिक समाजवाद पूँजीवाद और साम्यवाद—दोनों विचारधाराओं का विरोधी है। इसके अनुसार, जहाँ पूँजीवाद असमानता और सामान्य जनता के शोषण पर आधारित है, वहाँ साम्यवाद में धर्म एवं नैतिकता का विरोध, वर्ग-संघर्ष एवं हिंसक क्रांति की धारणा में विश्वास एवं सर्वहारावर्ग के अधिनायकवाद को अपनाया गया। प्रजातांत्रिक समाजवाद आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के क्षेत्र में एक नया मार्ग प्रशस्त करता है।

2. **सर्वाधिकारवाद का विरोध और जनतंत्र का समर्थक**—प्रजातांत्रिक समाजवाद सर्वाधिकारवाद के सभी रूपों का विरोध करता है, क्योंकि इसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता और गरिमा का कोई महत्त्व नहीं है। यह जनतंत्र और स्वतंत्रता का उपासक है। **नार्मन थॉमस** के अनुसार, ''समाजवाद प्रजातंत्र की ही पूर्ण सिद्धि है'' (Socialism itself is the fulfilment of democracy)। यह प्रजातांत्रिक पद्धति के माध्यम से आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में परिवर्तन का हिमायती है।

3. **व्यक्ति एक नैतिक प्राणी है**—पूँजीवाद और साम्यवादी विचारधाराएँ व्यक्ति को एक आर्थिक प्राणी के रूप में वर्णित करती हैं। इससे भिन्न प्रजातांत्रिक समाजवाद व्यक्ति को एक नैतिक प्राणी मानता है। इसकी मान्यता है कि समस्त सामाजिक व्यवस्था धर्म और नैतिकता पर आधृत है।

4. **वर्ग-सामंजस्य में विश्वास**—प्रजातांत्रिक समाजवाद के अनुसार, वर्ग-संघर्ष की भावना दूषित और हिंसात्मक वातावरण को जन्म देती है। इसीलिए यह पूँजीपति एवं मजदूरवर्ग के हितों में एकता स्थापित करना चाहता है।

5. **आर्थिक, बौद्धिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का प्रतिपादन**—यह व्यक्तियों की आर्थिक स्वतंत्रता के साथ-साथ बौद्धिक और राजनीतिक स्वतंत्रता का भी प्रतिपादन करता है।

6. **अर्थ-व्यवस्था पर प्रजातांत्रिक नियंत्रण का समर्थक**—प्रजातांत्रिक समाजवाद अर्थ-व्यवस्था पर जनतांत्रिक नियंत्रण की वकालत करता है और जोर देता है कि सामान्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित संसद द्वारा अर्थ-व्यवस्था पर नियंत्रण रखा जाना चाहिए। ब्रिटिश समाजवादी **आर० एच० एस० क्रॉसमेन** ने भी इसका समर्थन किया है।

7. **समाजीकरण पर बल**—प्रजातांत्रिक समाजवाद राष्ट्रीयकरण के स्थान पर समाजीकरण का हिमायती है। समाजीकरण का तात्पर्य यह है कि उद्योग चाहे सार्वजनिक क्षेत्र में हो या निजी क्षेत्र में, उन पर नियंत्रण की अवस्था राज्य के आदेशानुसार होना चाहिए। उद्योगों का स्वामित्व चाहे किन्हीं हाथों में क्यों न हो, उनका संचालन सामाजिक हित में होना चाहिए।

8. **लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना पर बल**—प्रजातांत्रिक समाजवाद अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सिर्फ लोकतांत्रिक पद्धति में ही अपनी आस्था व्यक्त नहीं करता, वरन इस बात पर भी बल देता है कि राज्य के द्वारा मानव-कल्याण तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास से संबद्ध सभी कार्यों को भी करना चाहिए।

9. **सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर बल**—प्रजातांत्रिक समाजवाद सत्ता के विकेन्द्रीकरण का समर्थक है। यह स्थानीय संस्थाओं के जिम्मे अधिकाधिक सत्ता सौंपने का हिमायती है। इसके अनुसार, सार्वजनिक स्वामित्व की छोटी इकाइयों की स्थापना की जानी चाहिए जिससे स्थानीय प्रजातंत्र पुनर्जीवित हो सके।

10. **विश्वशांति और मानवतावाद में विश्वास**—प्रजातांत्रिक समाजवाद विश्वशांति की कामना करता है और इसके माध्यम से विश्व-बंधुत्व की स्थापना चाहता है। सही अर्थ में यह मानवतावाद का समर्थन करता है।

11. **व्यक्ति की अपेक्षा समाजवाद की प्रधानता**—यह समाज को एक इकाई मानता है कि व्यक्ति समाज में पूर्णता प्राप्त कर सकता है। समाज में ही व्यक्ति का हित सन्निहित है। यह समस्त समाज के हित-साधन की बात करता है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

12. उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर राज्य का नियंत्रण—इसके अनुसार आर्थिक समानता के लिए, सामाजिक शोषण के अंत के लिए तथा सभी लोगों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन एवं वितरण के साधनों का नियमन आवश्यक है।

13. व्यक्तिगत लाभ का अंत—समाजवाद का उद्देश्य संपूर्ण समाज का हित है। अतएव, यह अव्यवस्थित उत्पादन को योजनाबद्ध करने के पक्ष में है, जिससे जनता की आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादन हो सके और उत्पादन का उद्देश्य निजी लाभ न होकर समाज-हित हो।

14. समानता—समाजवाद का मूल तत्त्व आर्थिक एवं सामाजिक समानता है। **लॉवेल** ने लिखा है कि समाजवादी सिद्धांतों का ध्येय है कि सामाजिक व्यवस्थाओं में आर्थिक समानता लाई जाए। जनतांत्रिक समाजवाद सबको समान स्तर पर लाने का संकल्प करता है।

15. सहयोग की स्थापना—व्यक्तिवादी व्यवस्था स्वतंत्र प्रतियोगिता में विश्वास करती है, जिसके अनेक दूषित आर्थिक एवं सामाजिक परिणाम होते हैं। जनतांत्रिक समाजवाद प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग स्थापित करता है। **डॉ॰ हाडेन गेस्ट** ने लिखा है, "समाजवाद स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय मामलों में प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर सहयोग स्थापित करने का हिमायती है।"[1]

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि समाजवाद आधुनिक शताब्दी का सबसे लोकप्रिय सिद्धांत है।

प्रजातांत्रिक समाजवाद के साधन

प्रजातांत्रिक समाजवाद शनैः-शनैः विकास की प्रजातांत्रिक पद्धति में विश्वास करता है। यह समाज को सावयव मानता है, जिसका धीरे-धीरे विकास होना चाहिए। यह समाज के सभी वर्गों के सहयोग से समाजवाद लाना चाहता है। प्रजातांत्रिक समाजवादियों का विचार है कि भाषण, प्रेस, मंच, साहित्य के प्रकाशन और अन्य प्रचार-साधनों के आधार पर समाजवादी विचारधारा का प्रचार किया जाना चाहिए। इसके बाद समाजवादी दलों को **मत-पेटी** के आधार पर सत्ता प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार, वैधानिक साधनों द्वारा सत्ता प्राप्त करने के बाद कानूनों और प्रशासनिक कार्यों के आधार पर समाजवाद की स्थापना करनी चाहिए। इस संबंध में निम्नलिखित कानूनों एवं प्रशासनिक कार्यों पर जोर देना चाहिए—

1. उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दर से आयकर लगाना चाहिए और प्राप्त धन-राशि का प्रयोग निर्धन जनता के हित में होना चाहिए।
2. संपत्ति-कर लगाना चाहिए तथा उत्तराधिकार की व्यवस्था समाप्त होनी चाहिए।
3. भूमि पर अधिकार जोतनेवालों का होना चाहिए।
4. मूलभूत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए।
5. निजी क्षेत्र में कार्यरत उद्योगों का संचालन सामाजिक हित के संदर्भ में होना चाहिए।
6. आर्थिक समानता के लिए हरसंभव प्रयास होना चाहिए
7. सभी लोगों को उनके योग्यतानुसार रोजगार, उचित पारिश्रमिक व अवकाश की व्यवस्था होनी चाहिए।
8. नागरिकों के सुखी जीवन के लिए राज्य द्वारा अधिकाधिक कल्याणकारी व्यवस्था होनी चाहिए।
9. आर्थिक विकास हेतु नियोजन की पद्धति को अपनाया जाना चाहिए।

प्रजातांत्रिक समाजवाद का मूल्यांकन (Evaluation of Democratic Socialism)

प्रजातांत्रिक समाजवाद का सही मूल्यांकन इसके गुण-दोषों के आधार पर किया जा सकता है।

गुण—सर्वप्रथम इसके गुणों का उल्लेख हम निम्नलिखित रूपों में कर सकते हैं—

1. व्यक्ति और समाज दोनों का हित—यह व्यक्ति और समाज दोनों का हित चाहता है। परिणामस्वरूप, यह दोनों के हितों के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है।

2. पूँजीवाद एवं साम्यवाद दोनों में अविश्वास—प्रजातांत्रिक समाजवाद पूँजीवाद एवं समाजवाद दोनों के दोषों से परिचित होकर मानवता को इनसे मुक्ति दिलाता है।

---

1. "Socialism is the substitution of co-operation of competition in local, national and international affairs."—HADEN GUEST

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

3. व्यक्तियों के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में विश्वास—पूँजीवादी एवं साम्यवादी व्यवस्थाओं से भिन्न प्रजातांत्रिक समाजवाद व्यक्तियों के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में विश्वास करता है और इसके लिए उन्हें आर्थिक, नागरिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रता प्रदान करता है।

4. निजी संपत्ति के संबंध में यथार्थवादी दृष्टिकोण—प्रजातांत्रिक समाजवाद निजी संपत्ति के संबंध में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए सामाजिक हित के आलोक में उसे सिर्फ सीमित करने का हिमायती है।

5. धर्म एवं नैतिकता को बढ़ावा—प्रजातांत्रिक समाजवाद मानवीय जीवन को व्यवस्थित रखने में धर्म एवं नैतिकता के महत्त्व को स्वीकारता है। इससे मानवीय चरित्र का उत्थान होता है।

6. आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण—यह केंद्रीकृत सत्ता के दोषों से परिचित होकर आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण का हिमायती है।

7. समाजीकरण पर बल—वर्तमान काल में प्रजातांत्रिक समाजवाद राष्ट्रीयकरण के स्थान पर समाजीकरण पर बल देता है।

8. सत्ता का सामान्य जनता द्वारा निर्वाचित संसद के प्रति उत्तरदायी होना—प्रजातांत्रिक समाजवाद चाहता है कि राजनीतिक सत्ता का सामान्य जनता द्वारा निर्वाचित संसद के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।

9. समानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना—प्रजातांत्रिक समाजवाद समानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए हिंसा या बल-प्रयोग को आवश्यक नहीं मानता है।

10. लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना—यह नागरिकों के सर्वांगीण विकास के लिए लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना चाहता है, जो 'पालने से कब्र तक' (from cradle to grave) व्यक्ति की सेवा करे।

प्रजातांत्रिक समाजवाद के दोष—निम्नलिखित तर्कों के आधार पर प्रजातांत्रिक समाजवाद की आलोचनाएँ की गई हैं—

1. निश्चित दर्शन पर आधारित नहीं—साम्यवादी विचारधारा की भाँति प्रजातांत्रिक समाजवाद के पीछे कोई ठोस दर्शन नहीं है।

2. विरोधाभासयुक्त दर्शन—**ई॰ एम॰ बर्न्स** ने अपनी पुस्तक *Ideas in Conflict* में प्रजातांत्रिक समाजवाद को विरोधाभासयुक्त दर्शन माना है। इनके अनुसार, प्रजांतत्र और समाजवाद—इन दोनों में विरोधाभास है और इन दोनों में किसी एक को ही अपनाया जा सकता है।

3. नैतिक दृष्टि से अनुचित—आलोचक प्रजातांत्रिक समाजवाद को नैतिक दृष्टि से अनुचित मानते हैं। यह समानता की अवधारणा पर आधृत है, लेकिन प्रकृति की दृष्टि से व्यक्ति में शारीरिक शक्ति, बुद्धि एवं चरित्रबल का भेद होता है। इसके चलते उनमें समानता लाना असंभव है।

4. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोषपूर्ण—आलोचकों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी प्रजातांत्रिक समाजवाद को दोषपूर्ण बताया है। उनका यह कहना सही है कि संपत्ति-धारण की इच्छा मानव का स्वाभाविक गुण है। सामाजिक हित में संपत्ति को सीमित कर देने का विपरीत प्रभाव व्यक्ति पर पड़ सकता है।

5. सर्वाधिकारवाद को प्रोत्साहन—प्रजातांत्रिक समाजवाद राज्य की शक्तियों में वृद्धि लाकर सर्वाधिकारवाद को प्रोत्साहित करता है।

6. अन्य आधार पर आलोचनाएँ—उपर्युक्त तथ्यों के अलावा निम्नलिखित आधारों पर भी प्रजातांत्रिक समाजवाद की आलोचनाएँ की जाती हैं—

1. चूँकि पूँजीपतियों से शांतिपूर्वक आर्थिक शक्ति नहीं छीनी जा सकती, अतः पूँजीपतियों को पंक्ति पर लाने के लिए श्रमिकों को संगठित विरोध का आश्रय लेना होगा।

2. आलोचकों का कहना है कि समाजवाद कभी भी प्रजातांत्रिक नहीं हो सकता। समाजवाद लाने के लिए प्रतिबंध, नियंत्रण, नियमन और दमन आवश्यक है। इन सबके लिए शक्तिशाली सरकार की आवश्यकता है, न कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पाठ पढ़ानेवाले शिक्षकों की।

3. जनतांत्रिक समाजवाद के समर्थक नागरिकों को विभिन्न स्वतंत्रताएँ देकर आर्थिक समानता स्थापित करने की कामना करते हैं। यह मृगमरीचिका मात्र है। पूँजीवादी समाज में जो नागरिक और राजनीतिक

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

स्वतंत्रताएँ आम नागरिकों को दी जाती हैं, उनका वास्तव में उपयोग पूँजीपतिवर्ग ही करता है। गरीब, अशिक्षित, कमजोर, श्रमिक उनका. उपयोग करने की क्षमता, अवसर एवं योग्यता नहीं रखते हैं।

4. आलोचकों की राय में उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर सरकार के नियंत्रण एवं स्वामित्व से नौकरशाही पनपती है।

5. आलोचक यह भी कहते हैं कि जनतांत्रिक तरीके से समाजवाद लाने का मार्ग देखने में सत्य तो है, लेकिन व्यवहार में कठिन अवश्य है।

6. आलोचकों की दृष्टि में जनतांत्रिक समाजवाद राज्य के माध्यम से ही समाजवाद लाने का स्वप्न देखता है। वह वर्तमान राज्य के हाथ में उत्पादन और वितरण का स्वामित्व एवं प्रबंध सौंपना चाहता है, किंतु इसका परिणाम पूँजीवाद से भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि राज्य मुख्यतः पूँजीपतियों के हितों का संरक्षक है।

7. आलोचकों ने यह भी कहा है कि प्रजातांत्रिक समाजवाद में व्यक्तिगत प्रेरणा नहीं रहने से उत्पादन घटेगा। यहाँ 'प्रत्येक का कार्य किसी का कार्य नहीं' की स्थिति हो जाएगी।

8. समाजवाद यद्यपि साधनों के अपव्यय को रोकना चाहता है, किंतु प्रजातांत्रिक समाजवाद में तो साधनों का अपव्यय होगा, क्योंकि व्यक्तिगत स्वार्थ एवं लोभ की प्रेरणा के अभाव में लोग आलसी हो जाएँगे।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद प्रजातांत्रिक समाजवाद वर्तमान समय में विकासशील देशों के लिए आर्कषण का केंद्र है। ब्रिटिश एवं भारतीय शासन-व्यवस्थाएँ प्रजातांत्रिक समाजवाद के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हरसंभव प्रयास कर रही हैं। यदि इसके दोषों को ध्यान में रखकर परिस्थितियों के अनुकूल इसे अंगीकार किया जाए तो निश्चित रूप से प्रजातांत्रिक समाजवाद पूँजीवाद एवं साम्यवाद की तुलना में आधुनिक सभ्यता के लिए वरदान बन सकता है।

प्रश्नावली

1. समाजवाद से आप क्या समझते हैं ? व्याख्या करें।
   (What do you mean by Socialism? Explain.)
2. जनतांत्रिक समाजवाद के बुनियादी सिद्धांतों की विवेचना कीजिए।
   (Examine the basic principles of democratic socialism.)
3. पुनर्विचारवाद पर एक निबंध लिखें।
   (Write an essay on 'Revisionism'.)
4. फेबियनवाद क्या है ? इसके प्रमुख सिद्धांतों की व्याख्या करें।
   (What is Fabianism ? Discuss its basic principles.)
5. फेबियनवाद की कार्य-पद्धति की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
   (Critically examine the working of Fabianism.)
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें—
   1. राजकीय समाजवाद, 2. संसदीय समाजवाद, 3. समाजवाद का महत्त्व।
   (Write brief notes on the following :
   1. State socialism, 2. Parliamentary socialism, 3. The importance of socialism.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 31

फासीवाद
[FASCISM]

उन्नीसवीं शताब्दी यदि समाजवाद तथा जनतंत्रवाद का युग था, तो बीसवीं शताब्दी को अधिकार, समष्टिवाद, फासीवाद तथा एकाधिकारी राज्यों का युग होना चाहिए।—मुसोलिनी

विषय-प्रवेश (Introduction)

प्रथम विश्वयुद्ध का यह उद्देश्य था कि विश्व में जनतंत्रवाद स्थापित हो और तानाशाही की समाप्ति हमेशा के लिए हो जाए। युद्ध-समाप्ति के बाद ऐसा पवित्र उद्देश्य साकार नहीं हो सका। परिणामस्वरूप, जनतंत्र के स्थान पर अधिनायकतंत्र के विभिन्न रूप अंतरराष्ट्रीय जगत में प्रकट हुए। फासीवाद इन विभिन्न रूपों में एक था। इसकी उत्पत्ति विश्वयुद्ध के बाद इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में हुई। इसके उदय के पूर्व इटली में बहुत पहले से ही परिस्थितियाँ पैदा हो रही थीं। इटली मध्ययुग से ही छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों में बँटा चला आ रहा था। यहाँ राजनीतिक दलों की संख्या अनेक थी और यहाँ की जनता अनपढ़ थी। परिणामस्वरूप, संसदीय लोकतंत्र के प्रति निष्ठा एवं विश्वास का वहाँ सर्वथा अभाव रहा। वैसे 1861 ई० में राजा **विक्टर इमैनुअल** के नेतृत्व में इटली ने अपने ऐतिहासिक जीवन में संसदीय लोकतंत्र का अध्याय प्रारंभ किया था और इसकी शासन-व्यवस्था वर्तमान ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के अनुरूप थी। लेकिन, सही अर्थ में यह शासन-व्यवस्था इटली की राजनीतिक परंपरा से बिल्कुल भिन्न थी।

स्रोत (Sources)—फासीवाद-संबंधी उपर्युक्त मान्यताओं के विश्लेषण के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि फासीवादी दर्शन अनेक विचारों का संयोग है। **प्रो० मैक्सी** ने ठीक ही लिखा है कि फासीवाद दर्शन में अनेक तत्त्वों का बड़ी चतुराई से मिश्रण किया गया है और इसलिए इसके स्रोतों को खोज निकालना सरल कार्य नहीं है। **मैकियावेली, हॉब्स, नीत्शे, मार्क्स, सोरेल, मोस्का, जेम्स पैरोटो** आदि अनेक दार्शनिकों के विचारों से यह प्रभावित हुआ है। संक्षेप में, इसके स्रोतों का उल्लेख हम निम्नलिखित तथ्यों से कर सकते हैं—

1. **सामाजिक डारविनवाद—चार्ल्स डारविन** ने प्रकृति में निरंतर चलनेवाले विकट जीवन-संघर्ष के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। इसी विचार से प्रभावित होकर मुसोलिनी और हिटलर ने भी कहा कि संघर्ष ही मानव-समाज की प्रगति का मूल मंत्र है।

2. **अबौद्धिकवाद** (Irrationalism)—अबौद्धिकवाद से प्रेरणा लेते हुए मुसोलिनी ने अंधभक्ति को अपनाने पर जोर दिया है। **मुसोलिनी** ने कहा है, "हमारी अंधश्रद्धा हमारा राष्ट्र है, हमारी अंधभक्ति हमारे राष्ट्र की महानता है। विश्वास ही पर्वतों को हिला सकता है, तर्क नहीं।"

3. **परंपरावाद** (Traditionalism)—फासीवाद **मेजिनी** और **ट्राटस्की** के परंपरावादी दर्शन से बहुत अधिक प्रभावित है। इटली का इतिहास गौरवपूर्ण रहा है। अतः, **मुसोलिनी** ने कहा था, "इटली को पुनः तीसरी बार मानवता का नेतृत्व करना है।"

4. **आदर्शवाद** (Idealism)—फासीवादी विचारधारा पर सबसे अधिक प्रभाव **रूसो, काण्ट, फिक्टे** और **हीगेल** के आदर्शवाद का रहा है। इसे हीगेल के आदर्शवाद का राजनीतिक शिशु कहा जा सकता है।

5. **व्यवहारवाद** (Pragmatism)—मुसोलिनी ने कहा था कि फासीवादी दर्शन का मूल आधार व्यवहारवाद ही है। वह **जेम्स** के व्यवहारवाद से अधिक प्रभावित है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

फासीवाद का विकास (Evolution of Fascism)

जिस विचारधारा को राजनीतिशास्त्र में हम फासीवाद के नाम से पुकारते हैं, उसका उदय इटली में (जैसाकि ऊपर बताया गया) प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुआ। प्रथम महायुद्ध में इटली ने ब्रिटेन, फ्रांस आदि मित्रराष्ट्रों की ओर से भाग लिया था। उसे यह लालच युद्ध के प्रारंभ में ही दिया गया था कि युद्ध से होनेवाले लाभ में उसे अन्य मित्रराष्ट्रों के समान ही हिस्सा प्राप्त होगा। उसे उम्मीद थी कि ऑस्ट्रिया के साम्राज्य के केवल वे अंग ही उसे न मिलेंगे, जिन्हें राष्ट्रीयता की दृष्टि से वह अपना अभिन्न अंग समझता था, वरन उसे यह भी उम्मीद थी कि अफ्रीका में भी उसे अनेक ऐसे प्रदेश मिलेंगे, जिनसे इटली का साम्राज्य विस्तृत हो सकेगा। लेकिन, **वर्साय-संधि** के परिणामस्वरूप उसकी इन उम्मीदों पर पानी फिर गया। मित्रराष्ट्रमंडली में उसे वह सम्मान नहीं मिल सका, जिसकी उसे उम्मीद थी। इटली में विद्यमान लोकतंत्रीय शासन की यह एक ऐसी असफलता थी जिसके कारण वहाँ की जनता बड़ी असंतुष्ट थी और वह कोई ऐसा नेतृत्व चाहती थी, जो इटली को विश्व में उचित सम्मान दिला सके।

विश्वयुद्ध के कारण इटली की आर्थिक दशा अत्यंत खराब हो गई थी और युद्धव्यय के कारण वह अत्यधिक ऋणी हो गया था और वहाँ की तत्कालीन लोकतंत्रीय सरकार लगातार घाटे का बजट प्रस्तुत कर रही थी। देश आर्थिक अस्थिरता की ओर जा रहा था। युद्ध बंद हो जाने के कारण कारखानों में काम करनेवाले मजदूर बड़ी संख्या में बेकार हो गए थे। अतः, यह स्वाभाविक था कि रूस से प्रारंभ होनेवाली साम्यवाद की लहर का प्रभाव इटली में भी हो और ऐसा हुआ भी। मार्क्स तथा लेनिन के समाजवादी सिद्धांतों को इटली में भी पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ; क्योंकि नवम्बर, 1919 के संसदीय चुनावों में समाजवादी दल को 25 प्रतिशत से अधिक स्थान प्राप्त हुए। समाजवादी मान्यताओं का समर्थन निरंतर जोर पकड़ता गया और समाजवादियों के क्रियाकलाप संसद के बाहर भी बढ़ने लगे। उन्होंने अनेक स्थानों पर कारखानों में हड़तालें कराईं और अनेक कारखानों पर श्रमिकों का अधिकार कराकर उनकी समितियों द्वारा उनका संचालन कराने का प्रयत्न किया। इस तरह, समाजवादियों की इच्छा थी कि इटली में भी रूस की तरह साम्यवादी क्रांति हो।

उसी समय वहाँ मुसोलिनी के नेतृत्व में एक नई शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। मुसोलिनी वस्तुतः उन्हीं लोगों की ओर था जो साम्यवादी कहे जाते थे, लेकिन समाजवादियों के अनुयायियों से उसका मतभेद था। वह वर्ग-संघर्ष पर आधारित समाजवाद का रूसी स्वरूप पसंद नहीं करता था। मार्च, 1919 में मुसोलिनी ने अपने अनुयायियों की एक सभा स्थापित की, जिसका रूप एक क्लब का था। उसका नाम **फैसियो** रखा गया। मुसोलिनी द्वारा स्थापित इस संस्था का उद्देश्य रूसी समाजवाद का विरोध था। इसके अलावा, उसका तत्कालीन अंतरराष्ट्रीय स्वरूप इटली के राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से हानिकारक था। अतः, **फैसियो** का उद्देश्य वर्गहित पर आधारित अंतरराष्ट्रीय समाजवाद की स्थापना न होकर राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय समाजवाद की स्थापना करना था।

सर्वप्रथम **फैसियो** की स्थापना मिलान में हुई। शीघ्र ही इटली के प्रायः सभी नगरों में ऐसे ही फैसियो स्थापित हुए। फैसियो के सदस्य 'फासिस्ट' तथा उनका मत 'फासिज्म' कहलाया। इस प्रकार, फासिस्ट लोगों के एक राजनीतिक दल का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अलावा, दल का स्वयंसेवक संघ भी बना। इसके सदस्य विशेष प्रकार के वस्त्र पहनते थे। वे सैनिक अनुशासन में रहते थे और **मुसोलिनी** उनका नेता व सेनापति था।

फासिस्ट दल इस प्रकार लगातार शक्तिशाली होता गया तथा इटली की जनता का समर्थन उसे अधिकाधिक प्राप्त होता गया। 1919 ई॰ में जहाँ इटली में सिर्फ 22 फैसियो थे, वहाँ 1921 ई॰ में लगभग 2200 हो गए और 1923 ई॰ में उसकी सदस्य-संख्या 30,000 तक पहुँच गई। 1922 ई॰ में इसकी एक काँगरेस नैपिल्स में हुई जिसमें 40,000 स्वयंसेवकों ने भाग लिया। खुले अधिवेशन में मुसोलिनी ने यह घोषणा की, "या तो इटली का शासन स्वयं मेरे हाथ में आ जाएगा और नहीं तो मुझे रोम पर आक्रमण करना पड़ेगा।" तत्कालीन प्रधानमंत्री नियोलिती ने समझ लिया कि अब सत्ता उसके हाथ में नहीं रह सकती और परिणामस्वरूप 27 अक्तूबर, 1922 को उसने प्रधानमंत्री-पद से त्यागपत्र दे दिया। विवश होकर इटली के तत्कालीन राजा को मुसोलिनी को अपने नेतृत्व में मंत्रिपरिषद बनाने के लिए आमंत्रित करना पड़ा। इस तरह, मुसोलिनी इटली का प्रधानमंत्री बन गया। प्रधानमंत्री बनने के बाद इटली में राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक सभी दृष्टियों से फासीवादी व्यवस्था की स्थापना हो सके, इसके लिए मुसोलिनी ने अथक प्रयास किया।

WWW.GRADESETTER.COM

मुसोलिनी—मुसोलिनी ने इटली की जनता को दो नारे दिए। पहला नारा था कि इटली एक महान परंपराओंवाला देश है। दूसरा नारा था कि जब तक इटली आंतरिक दृष्टि से सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था को स्थापित नहीं कर लेता और अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में सम्मानजनक स्थान प्राप्त नहीं कर लेता, वह चुप नहीं रहेगा। मुसोलिनी ने यह उद्घोषणा की कि मेरा कार्य आदर्शवादी सिद्धांतों का प्रतिपादन करना नहीं है, बल्कि सक्रिय तथा रचनात्मक कार्य करना है। उसका कहना था कि फासीवाद किसी भी तथ्य को गुप्त रखना नहीं चाहता। स्वयं उसने स्वीकार किया है, "हमारा कार्यक्रम बहुत ही सरल है। हम इटली पर शासन करना चाहते हैं, इटली के मोक्ष के लिए कार्यक्रम की कमी नहीं है, बल्कि कमी है इच्छा शक्ति से सम्पन्न व्यक्तियों की।"[1] मुसोलिनी ने हिटलर से दोस्ती की और बाद में इटली, जर्मनी और जापान ने आपस में मिलकर 'Rome-Berlin-Tokyo Axis' का निर्माण किया। इस धुरी में बँधकर वे शक्ति-प्रदर्शन से आतंक फैलाना चाहते थे। अनुकूल अवसर पाकर मुसोलिनी ने 1935 ई० में अबीसीनिया पर हमला कर दिया। राष्ट्रसंघ कुछ भी नहीं कर सका और मुसोलिनी का मन बढ़ता गया। जब उसने सुमालीलैंड, मिस्र, केनिया आदि पर आक्रमण किया और पस्त होने लगा तब हिलटर ने उसे बचा लिया। फासीवाद की लोकप्रियता दिनोदिन घटने लगी। फासीवादी दल में ही मुसोलिनी का विरोध होने लगा। जून, 1943 में जब मित्रराष्ट्रों ने **सिसली** पर आक्रमण किया तब यह तथ्य बिल्कुल स्पष्ट हो गया। 24 जुलाई, 1943 के दिन फासीवादी **महापरिषद** की संकटकालीन बैठक हुई और **मुसोलिनी** के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित हुआ। दूसरे दिन राजा विक्टर इमैनुअल ने मुसोलिनी को कैद करने का आदेश निकाला और इस प्रकार से उसे पदच्युत कर दिया गया। फासिस्ट दल विघटित कर दिया गया और रोम में एक अन्य मंत्रिमंडल का निर्माण किया गया जिसका नेतृत्व पिट्रो बडोलियो के हाथ में सौंपा गया। ऐसे मौके पर **हिटलर** ने **मुसोलिनी** का साथ दिया और अपनी सेना को उसने रोम पर आक्रमण करने का आदेश दिया। रोम हिटलर के अधिकार में आ गया। हिटलर के स्वयंसेवक पैराशूट से जेल में उतर गए और मुसोलिनी को मुक्त कर दिया। पिट्रो बडोलियो ने मुसोलिनी और हिटलर के विरुद्ध सेना को संगठित किया और जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की उद्घोषणा कर दी। मुसोलिनी की सरकार वस्तुतः हिटलर की सहायता पर दो साल तक चलती रही। अप्रैल, 1945 में मित्रराष्ट्रों की सेनाओं ने पो घाटी पर कब्जा कर लिया। चूँकि मुसोलिनी भी अपने साथियों का विश्वास खो चुका था, इसलिए उनलोगों ने मुसोलिनी को पकड़ लिया और पति-पत्नी की हत्या 27 अप्रैल, 1945 के दिन कर दी।

फासीवाद का अर्थ तथा परिभाषा (Meaning and Definition of Fascism)

जैसाकि ऊपर बताया गया है, फासिज्म, इटली भाषा के 'फैसियो' शब्द से निकला है। इटालियन भाषा में 'फैसियो' का अर्थ लकड़ियों का बँधा हुआ बोझ होता है। प्राचीन काल में रोम का राज्य-चिह्न 'फैसियो' अर्थात लकड़ियों का बँधा हुआ बोझ एवं कुल्हाड़ी होता था। लकड़ियों का बँधा हुआ बोझ राष्ट्रीय एकता का तथा कुल्हाड़ी राजकीय शक्ति का द्योतक मानी जाती थी। इस प्रकार, रोम का प्राचीन राज्य-चिह्न राजकीय नियंत्रण के अंतर्गत राजकीय एकता का बोध कराता था। **मुसोलिनी** के नेतृत्व में इटालियन फासीवाद ने इसी चिह्न का प्रयोग किया और वर्ग-संघर्ष पर आधारित साम्यवादी समाज-व्यवस्था के स्थान पर राजकीय नियंत्रण के अंतर्गत राष्ट्रीय एकता पर आधारित फासीवादी समाज-व्यवस्था को अपना उद्देश्य माना। इस प्रकार यह अनुशासन, एकता और शक्ति का प्रतीक है। फासीवाद अपने पूर्ण रूप में एक दलीय पद्धति है जिसपर एक नेता का नियंत्रण होता है और इसके अंतर्गत सर्वाधिकारवाद होता है। सच पूछा जाए तो देश के युवकों के लिए फासीवाद वस्तुतः एकता की प्रेरणा देनेवाला एक संदेश और कार्यक्रम था जिसमें वाद-विवाद की तुलना में कार्य को अधिक महत्त्व दिया जाता था। मुसोलिनी ने स्वयं स्वीकार किया है, "फासीवाद वास्तविकता पर आधारित है, हम निश्चित तथा वास्तविक उद्देश्य को प्राप्त करना चाहते हैं। मेरा कार्यक्रम कार्य करना है, केवल बातें करना नहीं।"[2]

फासीवाद के दार्शनिक आधार (Main Principles of Fascism)

फासीवाद को पहले प्रयोगात्मक या अनुभवमूलक कहकर समझा जाता था, क्योंकि फासीवाद की कोई निश्चित धारणा नहीं थी, जिसका आधार लेकर फासीवाद की परिभाषा की जाती। इसका सैद्धांतिक आधार

1. "Our programme is simple. We wish to govern Italy, it is not programme that are wanting for the salvation of Italy, but men with will-power."—MUSSOLINI
2. "Fascism is based on reality, we want to be definite and real, our programme is action not talk."—MUSSOLINI

WWW.GRADESETTER.COM

अनुभव तथा कार्य है, तर्क नहीं।[1] यद्यपि फासीवाद की शुरुआत किसी निश्चित दर्शन के आधार पर नहीं हुई, तथापि इसके बृहत सिद्धांतों को **मुसोलिनी, रोक्को** (Rocco), **जियोवारी** तथा **जेण्टाइल** (Gentile) की रचनाओं में पाया जा सकता है। रोक्को फासीवाद में 'नागरिक जीवन की एक नई धारणा' और 'नई संस्कृति का आरंभ' पाता है। जेण्टाइल फासीवाद में मेजिनी के आदर्शों को पाता है। फासीवादी **सोरेल** से प्रत्यक्ष कार्यवाही के तरीके, **नीत्से** के संकल्प से शक्ति (will to power), **बर्गेस** से बुद्धि-विरोध तथा **हीगेल** से राष्ट्रवाद और सर्वाधिकारवाद को अपनाते हैं। इस प्रकार, फासीवादी अनेक राजनीतिक दार्शनिकों के ऋणी हैं। इसलिए **सेबाइन** ने कहा है—"फासीवाद विभिन्न स्रोतों से लिए गए विचारों का समूह है जिसपर **मैकियावेली, हॉब्स, फिक्टे, हीगेल, नीत्से, मार्क्स, सोरेल** तथा **बर्गेस** के प्रभाव विशेष/रूप से परिलक्षित होते हैं।"[2]

(i) फासीवाद वास्तविकता पर आधारित है, सिद्धांत पर नहीं (Fascism is based on reality and not on doctrines)—जैसाकि हमलोग ऊपर देख चुके हैं, फासीवाद का आधार अनुभव और वास्तविकता है, कोई दार्शनिक सिद्धांत नहीं। **मुसोलिनी** के ही शब्दों में, "फासीवाद पूर्वविचारित किसी सिद्धांत का पोषण नहीं करता है। यह क्रियात्मक आवश्यकता के परिणामस्वरूप पैदा हुआ। प्रारंभ से ही यह सैद्धांतिक होने की बजाय व्यावहारिक है।"[3] उसने आगे कहा था—"फासीवाद वास्तविकता पर आधारित है जबकि बोल्शेविकवाद सिद्धांत पर।..... हम निश्चित और यथार्थवादी होना चाहते हैं। हम विवाद और सिद्धांत के बादलों में से निकलना चाहते हैं। मेरा कार्यक्रम कार्य है न कि बातचीत।"[4]

(ii) काल और परिस्थिति के अनुकूल (According to the exigencies of the situation)—फासीवादियों में सैद्धांतिक जटिलता नहीं पाई जाती है। समय, देश और आवश्यकता के अनुसार वे अपने कार्य को निश्चित करते हैं। इसलिए **सेबाइन** ने कहा था—"फासीवाद विभिन्न स्रोतों से लिए गए उन विचारों का योग है जो परिस्थिति की आवश्यकताओं के अनुसार एकत्रित किए गए हैं।"[5] इस प्रसंग में मुसोलिनी ने कहा था—"समय, स्थान और वातावरण की परिस्थितियों के अनुकूल हम कुलीनतंत्रीय और जनतंत्रीय, रूढ़िवादी और प्रगतिवादी, प्रतिक्रियावादी और क्रांतिकारी तथा नियमवादी और अनियमवादी हो सकते हैं।"[6]

(iii) प्रबल राष्ट्रवाद (Strong nationalism)—फासीवादी प्रबल राष्ट्र में विश्वास करते हैं। वे राष्ट्र या राष्ट्र की महानता को कल्पित धारणा (myth) मानते हैं। उनके अनुसार संप्रभुता राष्ट्र में निहित है, किसी व्यक्ति या संघ में नहीं।

(iv) व्यक्तिवाद का विरोध (Opposition to individualism)—फासीवाद व्यक्तिवाद के ठीक विपरीत है। यह व्यक्ति को साधन और राज्य को साध्य मानता है। फासीवाद राज्य को एक आध्यात्मिक अवयव (spiritual organism) मानता है जिसमें व्यक्तियों का वही स्थान है जो शरीर में अंगों का। राज्य से बाहर व्यक्ति का कोई स्थान नहीं।

(v) लोकतंत्र का विरोध (Opposition to democracy)—फासीवादी लोकतंत्र में नहीं, बल्कि कुलीनतंत्र में विश्वास करते थे। मुसोलिनी के अनुसार सच्चा प्रजातंत्र संख्यात्मक नहीं, बल्कि गुणात्मक होगा। जिन

---

1. "Thus fascism is described and widely applauded as empirical and pragmatic, acting first, theorizing when it does theorize, afterwards deriving its seed from experience, not from reasoning fascist doctrine the philosophers explain, is to be found not primarily in formal treaties but rather in that deeds and proposals of men actively engaged in realizing the fascist aims."
—F. W. COKER : *Recent Political Thought*, pp. 473-74

2. "It is compound of many ingredients which have been blended together with great ingenuity, we can perceive, among others, borrowings from Machiavelli, Hobbes, Fichte, Hegel, Neitzsche, Marx, Sorel, Burgess."—SABINE

3. "Fascism is not nursing of a doctrine worked before hand with detailed elaboration. It was born of the need for action and was from beginning practical rather than theoretical."—MUSSOLINI

4. "Fascism is based on reality; Bolshevism is based on theory. We want to be definite and real. We want to come out of the cloud of discussion and theory. My programme is action and not talk."—MUSSOLINI

5. "Fascism is a body of ideas taken from different sources put together to fit the exigencies of the situation."—SABINE

6. "We permit ourselves the luxury of being aristocrats and democrats, conservatives and progressives, reactionaries and revolutionaries, legalitarians and illegalitarians according to circumstances of time, place and environment."—MUSSOLINI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

व्यक्तियों में राजनीतिक योग्यता हो, केवल उन्हीं को शासन-अधिकार मिलना चाहिए, सर्वसाधारण को नहीं। इस प्रकार, फासीवादी कुलीनतंत्र में विश्वास करते थे। वे व्यक्तिगत अधिकार और स्वतंत्रता के भी विरोधी थे। वे लोकतंत्रात्मक नारों 'स्वतंत्रता, समता एवं भ्रातृत्व' के स्थान पर 'उत्तरदायित्व, अनुशासन और उच्चवर्ग' को मान्यता देते थे। व्यक्तिगत अधिकार में उनकी आस्था नहीं। **रोक्को** के शब्दों में, "फासीवादियों को व्यक्ति के अधिकारों का घोषणापत्र स्वीकार नहीं है, जो व्यक्ति को राज्य से श्रेष्ठतर बना देता है और समाज के विरुद्ध कार्य करने का अधिकार प्रदान करता है। हमारा स्वतंत्रता-संबंधी विचार यह है कि व्यक्ति राज्य की ओर से अपना विकास करे।"[1]

(vi) फासीवादी राज्य में एक दल और नेता होता है (Single party and single leader)—फासीवादी राज्य में एक दल रहता है जिसमें राज्य की संपूर्ण शक्तियाँ केंद्रित रहती हैं। यह नीतियों का निर्धारण करता है तथा संपूर्ण प्रशासन को नियंत्रित करता है। अन्य अतिरिक्त दलों को कुचल दिया जाता है। फासीवादी दल एक नेता के निर्देशन और नियंत्रण में कार्य करता है।

(vii) सर्वाधिकारवादी राज्य का सिद्धांत (The theory of totalitarian state)—फासीवादी राज्य को पूर्ण तथा सर्वशक्तिशाली मानते हैं। वे राज्य को एक नैतिक और जीवित प्रणाली के रूप में देखते हैं जो केवल वर्तमान में ही जीवित नहीं रहता, वरन अतीत और भविष्य में वैध है।[2] हर क्षेत्र में—आर्थिक, प्रशासन और शिक्षा में—अनुशासन स्थापित करता है। मुसोलिनी का कहना था—"सब राज्य के अंतर्गत हैं, राज्य के बाहर कुछ भी नहीं तथा कोई भी राज्य का विरोध नहीं करता।"[3]

(viii) अंतरराष्ट्रीयता का विरोध (Opposition to internationalism)—फासीवाद पक्के राष्ट्रवादी होते हैं। वे अंतरराष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करते । उनके अनुसार भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के हितों में सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता। यही कारण था कि मुसोलिनी और हिटलर ने युद्ध की नीति को अपनाया, छोटे-छोटे राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्यों का विस्तार किया तथा राष्ट्रसंघ की सदस्यता को त्याग दिया।

(ix) युद्ध और साम्राज्यवाद में विश्वास (Faith in war and imperialism)—फासीवादी हिंसक तरीकों में विश्वास करते थे। वे अंतरराष्ट्रीय झगड़ों का फैसला शांतिपूर्वक नहीं, बल्कि युद्ध के द्वारा करने के पक्ष में थे। **मेनकार्ली** ने लिखा है—"फासीवाद का उद्भव युद्धों से होता है और युद्ध से उनका विकास होना आवश्यक है।"[4] **फासीवादी** "युद्ध में मानवता का विकास पाते हैं।"[5]

(x) फासीवाद और धर्म (Fascism and Religion)—धर्म फासीवादियों के हाथ में उद्देश्य-प्राप्ति के लिए हथकंडा है। मुसोलिनी ने कैथोलिक चर्च का उपयोग अपने उद्देश्यों के लिए किया।

(xi) बुद्धिवाद का विरोध (Irrationalism)—फासीवादी बौद्धिकता के विरोधी थे। वे यह मानते थे कि जीवन का विवेक पर नियंत्रण होता है, न कि विवेक का जीवन पर।

(xii) आर्थिक व्यवस्था (Economic system)—फासीवादी आर्थिक व्यवस्था का निर्धारण राष्ट्रहित के लिए किया गया था। व्यवस्था केवल अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण चाहती है। शेष सभी उद्योगों पर यह निजी स्वामित्व का समर्थन करती थी। इसके अंतर्गत सारा आर्थिक जीवन मजदूरों और मालिकों के संघों द्वारा स्वविनियमित था। किंतु, उस पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण था। मजदूर और मालिकों के बीच उठनेवाले सभी विवादों का निर्णय करनेवाले न्याय के नियम निर्धारित किए गए थे। मजदूरों को हड़ताल करने और मालिकों को कारखाना बंद करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया था।

---

1. "We do not, however, accept a Bill of Right which tends to make individual superior to the State and empower him to act in opposition to society. Our concept of freedom is that the individual must be allowed to develop his personality on behalf of the State."—ROCCO
2. "And the State is not only living reality of present, it is also linked with past and above all with future and thus transcending the brief limits of individual life, represent the immanent spirit of the nation."—MUSSOLINI
3. "All within the State, nothing outside the State and nothing beyond the State."—MUSSOLINI
4. "Fascism is from war and in war it must find its outlet."—MANO CORLI
5. "War alone brings up to its highest tension all human energy and puts the stamp of mobility upon the people, who have the courage to meet it..... Thus a doctrine which is founded upon this harmful postulate of peace is hostile to Fascism."—MUSSOLINI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

(xiii) निगमनात्मक राज्य का सिद्धांत (Doctrine of corporate state)—फासीवादी राज्य में निगम सामाजिक और राजनीतिक जीवन की इकाई है। अनेक निगमों के मिलने से राज्य का गठन होता है। इसी कारण से फासीवादी विभिन्न व्यवसायवालों का पृथक-पृथक संगठन करा देने में विश्वास करते हैं।

आलोचनाएँ (Criticisms)—कुछ ऐसे भी लोग हैं जो मुसोलिनी की प्रशंसा करते हैं और यह तर्क देते हैं कि फासीवादी व्यवस्था के अंतर्गत इटली की औद्योगिक व्यवस्था में काफी सुधार हुआ और अंतरराष्ट्रीय जगत में उसकी प्रतिष्ठा में अत्यधिक वृद्धि हुई। लेकिन, इसका यह अर्थ नहीं कि उसके द्वारा अपनाए गए जघन्य हथकंडे बिल्कुल सही थे। निम्नलिखित आधारों पर हम फासीवाद की आलोचनाएँ कर सकते हैं—

1. **फासीवाद एक निरंकुश अधिनायकवाद है**—फासीवाद शक्ति और धोखा के माध्यम से शीघ्र ही सत्ता को हाथ में कर लेता है और जनता के सामने इस तरह झूठे तथा काल्पनिक वायदे करता है कि जनता गुमराह हो जाती है और उसका समर्थन करते लगती है।

2. **फासीवाद सिद्धांतहीन है**—फासीवाद का कोई सिद्धांत और दर्शन नहीं है। सिर्फ आतंक और मनोवैज्ञानिक भीड़तंत्र ने इसका नाम चढ़ा रखा है। इसने सर्वनाश, संहार और भय का साम्राज्य स्थापित किया है।

3. **फासीवाद मैकियावेलीवाद है**—फासीवाद पर **मैकियावेली** का प्रभाव दीख पड़ता है, क्योंकि मैकियावेली ने कहा है—"राजा को राज्य कायम रखने के लिए हरसंभव उपाय करना चाहिए और उसके लिए चाहे जो भी साधन अपनाए जाएँ, सब उचित ही कहा जाएगा।" मुसोलिनी ने अपने फासीवादी राज्य के निर्माण-विस्तार में मैकियावेली के इस उपदेश का अक्षरशः पालन किया है।

4. **हिंसात्मक युद्ध का कट्टर समर्थक**—फासीवादी हिंसा और कत्लेआम में विश्वासकर अपनी सफलता का दावा करते हैं, जो उचित नहीं है।

5. **लोकतंत्र-विरोधी और जातीयता का पोषक**—आलोचकों की सबसे बड़ी आपत्ति है कि फासीवाद लोकतंत्र-विरोधी है और जातीयता का नारा उद्घोषित करता है। हिटलर ने भी जर्मन जाति की एकता और संगठन का नारा दिया था। मुसोलिनी का यह दावा था कि उसे और उसके सहयोगी साथियों को शासन करने का जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त है।

6. फासीवाद **स्वतंत्रता** व **भ्रातृत्व**-जैसी उन सब मान्यताओं का विरोधी है जिनका समर्थन लोकतंत्रवाद करता है। उसमें व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता अधिनायक की इच्छा पर बलिदान कर देनी पड़ती है।

7. फासीवाद में शिक्षा, कला तथा साहित्य का स्वतंत्र विकास संभव नहीं है। व्यक्ति के विचारों के स्वतंत्र विकास के स्थान पर साम्यवादियों की तरह फासीवादी भी राज्य द्वारा व्यक्तियों के विचारों के निर्माण (indoctrination) में विश्वास करते हैं। **क्रोकर** (Crocker) ने कहा है, "राष्ट्र के सार्वजनिक तथा सांस्कृतिक जीवन को केंद्रीकृत किए जाने पर उनके देश-विशेष की साहित्य, कला तथा ज्ञान की उत्पत्ति समाप्त हो जाती है।"[1]

8. फासीवाद साम्राज्यवाद का समर्थन करता है जिसका परिणाम व्यक्ति द्वारा व्यक्ति को दास बनाकर शक्तिशाली द्वारा अशक्त का शोषण करना होता है।

9. फासीवादी व्यवस्था में व्यक्ति को राज्य के अंकुश में इतना अधिक नियंत्रित जीवन बिताना पड़ता है कि वह अपने व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास नहीं कर सकता।

10. फासीवादी व्यवस्था में शक्ति का केंद्रीकरण हो जाता है और इस प्रकार संपूर्ण सामाजिक जीवन का संचालन एक केन्द्र से होता है, जो उचित नहीं है।

11. फासीवाद सैद्धांतिक दृष्टि से एक दुर्बल दर्शन है। **प्रो॰ सेबाइन** ने भी लिखा है, "फासीवाद के लिए यह बहुत कठिन था कि वह **हीगेल** की राष्ट्रीयता, **प्लेटो** की कुलीनतंत्रात्मक सरकार और **बर्गेस** के बुद्धिवाद इत्यादि को एक दर्शन में सम्मिलित कर सके और व्यवहार में उसे सफलतापूर्वक कार्यान्वित कर सके।"[2]

---

1. "A highly centralized doctrine of public and cultural life of a Nation destroys the possibility of learning, literature and art."—CROCKER

2. "It was difficult for Fascism to combine Hegalian Nationalism, Plato's Government Aristocracy, Burgesian intellectualism etc. and to work them successfully in actual practice."—SABINE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

12. फासीवाद इटली में भी सफल नहीं रहा—कुछ विद्वानों ने हर दृष्टि से यह सिद्ध कर दिया है कि मुसोलिनी किसी भी उद्देश्य से अपने दृष्टिकोण में सफल नहीं रहा। **आन्टोनिओ बर्जीज** (Antonio Burgese), **मैक्स अस्कोली** (Max Ascoli), **गेतना साल्मिनी** (Gaetana Salvemini) आदि विद्वानों का नाम इसी श्रेणी में आता है जिन्होंने कहा है कि मुसोलिनी अपने देश अर्थात इटली में भी फासीवादी विचारधारा को उतार नहीं सका, क्योंकि उसके साथियों ने ही अंतिम दिनों में उसका विरोध किया था। ऐसे भी फासीवाद का अपना कोई व्यावहारिक पहलू नहीं।

महत्त्व—फासीवादी विचारधारा की आलोचनाएँ सर्वत्र की जाती हैं, फिर भी इसके महत्त्व और प्रभाव की हम अवहेलना नहीं कर सकते। जहाँ मुसोलिनी और हिटलर के व्यक्तित्व का प्रश्न है, 25 वर्षों तक वे यूरोपीय क्षितिज पर छाए रहे और उनकी बहादुरी और पुरुषार्थ की गाथा गाई जाती रही। आज मुसोलिनी का जीवधारी शरीर भले न हो, लेकिन जिस विचारधारा को उसने विश्व के सामने लाया, वह आज और कल भी बनी रहेगी और विद्वानों में चर्चा का विषय रहेगी और इस अर्थ में फासीवादी विचारधारा अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण हो जाती है। फासीवाद ने तुर्की, चीन, जापान, स्पेन, ब्राजील आदि अनेक देशों को प्रभावित किया है। **प्रो॰ मैक्सी** का कहना है—"इसने पशु-बल पर रहस्यवादी आदर्श का पर्दा चढ़ा दिया, हिंसा के लिए एक नैतिक औचित्य प्रस्तुत किया, देश-भक्ति की भावना का अनुचित लाभ उठाया, बड़ी चालाकी से इसने अल्पतंत्रात्मक शासन को विवेकी सिद्ध किया। इसने सर्वत्र व्याप्त समाजवाद के होने तथा लोकतंत्र और आर्थिक हस्तक्षेप की नीति के प्रति फैले व्यापक असंतोष के कारण अपने प्रभाव की पूँजी बना ली और साधारण जनता को पूजा में निमित्त एक नवीन विधाता के साथ नवीन धर्म प्रदान किया।"

फासीवाद जनतंत्रीय व्यवस्था से असंतुष्ट जनमानस को नवीन विकल्प प्रदान करता है और इसकी व्यर्थ बकवास, शोर-गुल तथा क्रियाहीन प्रस्तावों में विश्वास नहीं करता।

फासीवाद ने अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार अमेरिका में भी किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व अमेरिका में राष्ट्रवादियों का एक ऐसा वर्ग बन गया था जिसका नियमन, नियंत्रण और संचालन रोम और बर्लिन कर रहा था। वहाँ **जो मैकविलियम्स** (Jeo MacWilliams) नामक एक व्यक्ति था जो राष्ट्रवादी होते हुए हिंसात्मक तोड़-फोड़ में विश्वास करता था और जिसे अमेरिकन हिटलर का नाम दिया गया। वह यहूदियों को मेडागास्कर भगाने का नारा लगाता था। **लॉर्ड डेनिस** ने अपनी पुस्तक *The Coming of American Fascism* में श्रेष्ठ व्यक्तियों के शासन की आवाज दी है।

इसके अलावा, फासीवाद ने इटली को आर्थिक सुदृढ़ता प्रदान की और अंतरराष्ट्रीय जगत में उसके प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार किया। मुसोलिनी एक वीर था जिसने अपने पुरुषार्थ का परिचय दिया। उसका फासीवाद आज इतिहास के पन्नों में अंकित हो चुका है, जिसे हम चाहते हुए भी नहीं भूल सकते। उसमें अनेक गुण थे जिसके चलते उसे सर्वाधिकारवादी, परंपरावादी, निरंकुशतावादी, रहस्यवादी आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। उसके गुणों के चलते ही उसे ड्यूस द्वितीय की उपाधि दी गई। कुछ लोगों ने यह भी कहकर उसका गुणगान किया है कि मुसोलिनी ने **इटली** को साम्यवादी प्रभाव से बचाया। संक्षेप में, फासीवाद के महत्त्व को निम्नलिखित तथ्यों में रख सकते हैं—

(i) फासीवाद उन दोषों से समाज की रक्षा करता है जो लोकतंत्रवादी शासन से उत्पन्न होते हैं। लोकतंत्रवादी शासन दल-व्यवस्था पर आधारित होता है। फासीवाद समाज को उस कुव्यवस्था से बचाता है जो लोकतंत्रवादी दलदल से उत्पन्न होती है।

(ii) फासीवादी व्यवस्था आपातकालीन दशा के लिए अत्यंत उपयोगी है, क्योंकि फासीवादी व्यवस्था में ही यह संभव है कि परिस्थितियों के अनुसार शीघ्र निर्णय लिए जा सकें।

(iii) फासीवाद राष्ट्रीय एकता और वर्ग-समन्वय का पोषक है। यह न सिर्फ वर्ग-हित के आधार पर उत्पन्न होनेवाली संकीर्णता का दमन कर राष्ट्रीय हित का प्रतिपादन करता है, वरन सामाजिक एकता की भावना को भी प्रोत्साहित करता है।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि फासीवाद का अपने क्षेत्र में विशिष्ट महत्त्व है। **एफ॰ डब्लू॰ कोकर** ने कहा है कि वर्तमान काल के यूरोपीय महादेश में जितनी तानाशाही प्रवृत्तियाँ आईं, उन सबका साँचा इटली की फासीवादी प्रणाली ही था। उन सबका विचार उग्र राष्ट्रवाद तथा अन्य सभी प्रकार के विरोधों का दमन करने में था। जर्मनी ने भी फासीवाद का ही अनुकरण किया। **कार्लो स्फोर्जा** ने इस संबंध में ठीक ही कहा है कि मुसोलिनी के जीवन का अंत इटालियन जनता की नीचता और महानता दोनों का

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

सबसे बड़ा प्रमाण है। मुसोलिनी ने इटली के लोगों को एक जीवन-दर्शन देकर कुछ समय के लिए इटलीवासियों के व्यक्तित्व को उभार दिया।

फासीवाद और साम्यवाद—जैसाकि ऊपर बताया गया, फासीवाद एवं साम्यवादी विचारधाराएँ 19वीं शताब्दी के लोकतंत्रवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आईं। अतः, इन दोनों की मान्यताओं में अनेक समानताएँ तथा असमनाताएँ हैं।

समानताएँ (Similarities)—1. दोनों विचारधाराएँ एकाधिकारवादी हैं जिनके अनुसार राज्य की सत्ता और उसके अधिकारों की कोई सीमा नहीं है। यहाँ यह स्मरणीय है कि साम्यवाद के अनुसार राज्य की आवश्यकता केवल संक्रमणकालीन है।

2. दोनों विचारधाराएँ व्यक्तिवाद का विरोधी हैं, क्योंकि दोनों राज्य के असीम अधिकारों का समर्थन करती हैं।

3. आर्थिक क्षेत्र में भी ये दोनों विचारधाराएँ औद्योगिक प्रतियोगिता की उपादेयता में विश्वास नहीं करतीं। उनके मतानुसार समाज के आर्थिक जीवन पर पूर्ण राजकीय नियंत्रण रहना चाहिए, जिससे आर्थिक व्यवस्था को सार्वजनिक हितसाधना की दृष्टि से चलाया जा सके।

4. दोनों अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वैध व शांतिमय उपायों के प्रयोग के पक्ष में नहीं हैं। दोनों का यह विश्वास है कि समाज की जो दशा है, उसमें बिना शक्ति-प्रयोग के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती।

5. लोकतंत्र और उसकी संसदीय प्रणाली में दोनों की आस्था नहीं है। दोनों का कहना है कि लोकतंत्र व उसकी संसदीय प्रणाली राज्य को दलीय दलदल में फँसा देते हैं।

असमानताएँ (Dissimilarities)—1. दोनों के उद्देश्य भिन्न हैं। फासीवाद का अंतिम उद्देश्य एक ऐसे राष्ट्रीय समाज की स्थापना करना है, जो संपूर्ण सामाजिक जीवन पर आवश्यक नियंत्रण रखकर समाज का सर्वांगीण विकास कर सके। साम्यवादियों का अंतिम उद्देश्य एक ऐसे राज्यविहीन समाज की स्थापना करना है, जिसमें सब योग्यतानुसार कार्य करे और सबको आवश्यकतानुसार प्राप्त हो सके।

2. साम्यवाद वर्ग-संघर्ष के अस्तित्व को स्वीकार कर एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है, जो वर्गविहीन हो, लेकिन फासीवाद वर्ग-संघर्ष के स्थान पर वर्ग-सहयोग और विभिन्न वर्गों के अस्तित्व को बनाए रखने का हिमायती है।

3. साम्यवाद पूँजीवाद का विरोधी है, जबकि फासीवाद पूँजीवाद पर आधारित अर्थव्यवस्था को अनुचित न मानकर उसे उपयोगी मानता है।

4. साम्यवाद वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना चाहता है, जबकि फासीवाद वर्तमान सामाजिक व्यवस्था यथावत बनाए रखकर उसका प्रयोग राष्ट्रीय हित-साधना की दृष्टि से करना चाहता है।

5. साम्यवाद नास्तिकता का पोषक है जो फासीवाद की आधारशिला है।

6. साम्यवाद के अनुसार नस्ल, जाति व लिंग भेद का कोई महत्त्व नहीं है और वह स्त्री-पुरुष का भेद न करके व्यक्तिमात्र को समान अधिकार देने का पक्षपाती है। फासीवाद नस्ल की पवित्रता, जातीय श्रेष्ठता में विश्वास करता है और स्त्री को पुरुष के समान नहीं मानता।

7. साम्यवाद अंतरराष्ट्रवादी है। इसके प्रभाव-क्षेत्र का दिनोदिन विकास होता जा रहा है। यह विश्व के तमाम श्रमिकों को एक होने का आह्वान करता है। फासीवाद साम्यवाद की इस अंतरराष्ट्रीय प्रवृत्ति को उचित नहीं समझता और कहता है कि पूँजीपति और श्रमिक सभी को राष्ट्र का हित सर्वोपरि मानना चाहिए और उसके लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर देने के लिए तैयार रहना चाहिए। इस प्रकार, साम्यवाद अंतरराष्ट्रवादी है तो फासीवाद राष्ट्रवादी है।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है—"यदि साम्यवाद जीवन का दर्शन है तो फासीवाद मृत्यु का । यदि एक जीयो और जीने दो में विश्वास करता है तो दूसरा दूसरों को मार कर जीने में।"

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

प्रश्नावली

1. फासीवाद को परिभाषित करें। इसके दार्शनिक आधार की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
   (Define Fascism. Discuss critically the main principles of Fascism.)
2. फासीवाद के मुख्य सिद्धांतों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
   (Examine critically the basic principles of Fascism.)
3. "सब कुछ राज्य के अंदर है।" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
   ("All is within the State." Critically examine this statement.)
4. फासीवाद के स्रोत क्या हैं ? इसका विकास कैसे हुआ ? फासीवाद और साम्यवाद की तुलना कीजिए।
   (What are the sources of Fascism ? How did it evolve ? Compare Fascism and Communism.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

अध्याय 32

गाँधीवाद

[GANDHISM]

गाँधीवाद नाम की कोई वस्तु नहीं है और मैं अपने पीछे कोई संप्रदाय छोड़ना नहीं चाहता, मैं कभी इस बात का दावा नहीं करता कि मैंने कोई नया सिद्धांत चलाया है। मैंने मूल सत्यों को केवल अपने ढंग से अपने नित्यप्रति के जीवन और समस्याओं पर लागू करने की चेष्टा की है। आप इसे गाँधीवाद के नाम से न पुकारें, इसमें कोई वाद नहीं है।—महात्मा गाँधी

विषय-प्रवेश (Introduction)

महात्मा गाँधी के राजनीति-संबंधी विचारों के लिए 'गाँधीवादी राजनीतिक विचारधारा', 'गाँधीवादी दर्शन', 'गाँधीवादी साहित्य', 'गाँधीवाद' आदि अनेक नामों का हम प्रयोग करते हैं। इन विभिन्न नामों के प्रयोग से ऐसा लगता है कि अन्य राजनीतिक दार्शनिकों की भाँति महात्मा गाँधी ने भी राजनीति-संबंधी कोई सुसंबद्ध सिद्धांत प्रस्तुत किया है। लेकिन, गाँधीजी आदर्शवादी **प्लेटो, एक्विनॉस** तथा **रूसो** की भाँति सिर्फ विचार-संसार के व्यक्ति नहीं थे, वरन वे एक महान कर्मयोगी थे, जिन्होंने भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में अपने जीवन को बलिदान किया। चूँकि भारतीय स्वतंत्रता-आंदोलन का उन्होंने आजीवन नेतृत्व किया, अतः उनके समक्ष जितनी राजनीतिक समस्याएँ आईं, उनके संबंध में महात्माजी ने चिंतन किया। महात्माजी के इन्हीं विचारों को हम गाँधीवादी राजनीतिक दर्शन, गाँधीवादी राजनीतिक विचारधारा या गाँधीवाद के नाम से पुकारते हैं।

महात्मा गाँधी एक आदर्शवादी, अराजकतावादी, मानवतावादी, अध्यात्मवादी तथा कर्मवादी थे। उन्होंने धर्म तथा राजनीति, रहस्यवाद, व्यवहारवाद और प्राचीन भारतीय दर्शन तथा अर्वाचीन पाश्चात्य दर्शन का अद्‌भुत सम्मिश्रण किया। यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि आधुनिक युग की सभी समस्याएँ नैतिक हैं। यदि व्यक्ति अपनी नैतिक आस्थाओं के प्रति जागरूक बन जाए, तो सिर्फ व्यक्ति ही नहीं, संपूर्ण संसार की अधिकांश समस्याओं का समाधान अपने-आप हो जाए। राजनीति और नीतिशास्त्र का आपस में घनिष्ठ संबंध है। यदि एक पक्ष खराब है तो दूसरा कभी भी अच्छा नहीं हो सकता। यदि मानव-प्रकृति विकृत है तो समूची राजनीति भी गंदी होगी। गाँधीवादी दर्शन राजनीति के इसी पक्ष का हिमायती है।

गाँधीवाद क्या है ?

महात्मा गाँधी वास्तविकता के एक निष्पक्ष छात्र थे और उनका ढंग मूलतः प्रयोगात्मक और वैज्ञानिक था। **जवाहरलाल नेहरू** ने इस संबंध में लिखा है, "हमलोगों में और गाँधीजी में शायद ही कभी किसी प्रश्न पर वाद-विवाद, बहस-मुबाहसा या दर्शनशास्त्रीय स्तर पर विचार-विमर्श होता था। हमलोग मिलकर काम करते थे।" अर्थात, महात्माजी के जीवन की विशेषता आत्मप्रेरणा और कार्य-संपादन था, न कि तर्क-पद्धति थी। इसीलिए उन्होंने अपने विचारों को कभी भी क्रमबद्ध करने का प्रयास नहीं किया और अपने विचारों को संकलित कर किसी वाद को जन्म नहीं दिया। उन्होंने स्वयं एक बार स्वीकार किया था—"गाँधीवाद नाम की कोई वस्तु नहीं है।" सिर्फ एक अवसर पर गाँधीजी ने कहा था, "गाँधी मर सकता है, परंतु गाँधीवाद सदैव जीवित रहेगा।"[1] यद्यपि गाँधीजी ने स्वयं 'गाँधीवाद' शब्द का प्रयोग किया था, लेकिन उनका अभिप्राय एक वाद का जन्म देना नहीं था। उनके कहने का तात्पर्य था कि वे इस विश्व में रहें या न रहें, सत्य और अहिंसा की ज्योति सदा जलती रहेगी।

1. "Gandhi may die, but Gandhism may live for ever."—B. P. SITARAMAYYA : *Gandhi and Gandhism*, p. 37

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि महात्माजी ने किसी वाद को जन्म नहीं दिया। उन्होंने अपने विचारों को कभी भी पूर्ण नहीं माना। वे आजीवन 'सत्य का प्रयोग' करते रहे। कभी अपने विचारों को उन्होंने अंतिम रूप नहीं दिया। उन्होंने विश्व को एक नया आदर्श देने का प्रयास किया। जीवन, राजनीति तथा धर्म के प्रति उनका अपना विशिष्ट दृष्टिकोण था। **डॉ० पट्टाभि सीतारमैया** के शब्दों में, "गाँधीवाद सिद्धांतों का, मतों का, विनिमयों का और आदर्शों का समूह नहीं है, प्रत्युत वह एक जीवन-शैली और जीवन-दर्शन है।"[1] स्वयं महात्मा गाँधी ने, जैसाकि ऊपर बताया गया है, गाँधीवाद को जन्म नहीं दिया है। उनके अनुयायी उनके विचारों और दृष्टिकोणों को क्रमबद्ध कर गाँधीवाद का निर्माण कर रहे हैं। अतः, गाँधीवाद आज एक प्रचलित वाद हो गया है और राजनीतिक विचारधारा के इतिहास में उसने एक श्रेष्ठ स्थान ग्रहण कर लिया है। इस संबंध में **आचार्य कृपलानी** ने कहा है, "वास्तव में समस्त वाद उन आदमियों के द्वारा जन्म धारण नहीं करते जिनके नाम पर वे चलाए जाते हैं, वरन उन सीमाओं के प्रत्युत उत्पन्न होते हैं जो उनके अनुयायियों द्वारा इनके प्रारंभिक विचारों पर लगाई जाती है। रचनात्मक योग्यता न रखने पर अनुयायी लोग सब विचारों को क्रमबद्ध कर लेते हैं। ऐसा करने में वे प्रारंभिक सिद्धांतों को कठोर, लोचहीन, एकपक्षीय और कट्टर बना देते हैं और उन्हें उनकी मौलिक नवीनता से वंचित कर देते हैं जो युवावस्था के चिह्न हैं।"

गाँधीजी के विचारों के स्रोत (Sources of Gandhian Thought)

इसके पूर्व कि हम गाँधीजी के दर्शन पर विचार करें, हमारे लिए यह जानना उपयुक्त होगा कि गाँधीजी की विचारधारा पर किन-किन विचारों, व्यक्तियों और तत्त्वों का प्रभाव पड़ा। गाँधीजी की विचारधारा को प्रभावित करनेवाले निम्नलिखित मुख्य तत्त्व हैं—

1. प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथ—अपने जीवन के प्रारंभ से ही गाँधीजी भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धा और प्रेम रखते थे। उन्होंने भारतीय धर्मग्रंथों का भलीभाँति अध्ययन किया। रामायण, महाभारत तथा गीता की शिक्षाओं का उनपर काफी प्रभाव पड़ा। उनकी सत्य और अहिंसा-संबंधी धारणा प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों पर ही आधारित है।

2. अन्य धार्मिक ग्रंथ—प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों के अलावा महात्मा गाँधी पर कुरान, बाइबिल और बौद्ध धार्मिक ग्रंथों का भी बड़ा प्रभाव पड़ा। चीनी कन्फ्यूशनवाद से भी वे प्रभावित थे। ऐसा कहा जाता है कि बाइबिल का **सर्मन ऑन दी माउण्ट** नामक अध्याय पढ़कर उनकी आत्मा जाग उठी। इन्हीं के आधार पर उन्होंने सत्याग्रह तथा अहिंसा के सिद्धांतों की प्रस्थापना की।

3. विविध विचार—गाँधीजी के विचारों पर **रस्किन** और **टॉल्सटाय** का भी व्यापक प्रभाव पड़ा। **रस्किन** की अमर रचना **'अण्टु दिस लास्ट'** (*Unto This Last*) के चलते ही महात्मा गाँधी सर्वोदयी बने। राजनीति के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण **रस्किन** की ही देन है। रस्किन की तरह **टॉल्सटाय** का भी प्रभाव गाँधीजी के दर्शन पर पड़ा। **टॉल्सटाय** अहिंसावादी थे और यह विश्वास करते थे कि मनुष्य का दुःख से छुटकारा केवल प्रेम के द्वारा ही हो सकता है। प्रेम, सहानुभूति और अहिंसा से परिपूर्ण टॉल्सटाय के नैतिक दर्शन का प्रभाव गाँधीजी पर बहुत अधिक पड़ा। इन दार्शनिकों के अलावा पुरुषोत्तम रामचंद्रजी का प्रभाव गाँधीजी के जीवन पर पड़ा।

गाँधीवाद की धार्मिक विचारधारा

धर्म गाँधीजी का मुख्य आधार था। यह उनकी समस्त क्रियाओं का प्रेरक था। उन्होंने 'यंग इंडिया' में एक बार लिखा था, "अपने सार्वजनिक जीवन के आरंभ से ही मैंने जो कुछ कहा और जो कुछ किया, उसके पीछे एक धार्मिक उद्देश्य रहा है।" एक अन्य प्रसंग में गाँधीजी ने पुनः कहा है, "बहुत-से धार्मिक लोग जिनसे मैं मिला हूँ, छद्मवेश में राजनीतिज्ञ हैं, किंतु मैं, जो कि राजनीतिज्ञ का वेश रखता हूँ, हृदय से एक धार्मिक व्यक्ति हूँ।"[2]

---

1. "Gandhism is thus 'not a set of doctrines or dogmas, rules or regulations, injunctions but it is a way of life."—B P SITARAMAYYA : *op. cit*, p. 35

2. "At the back of every word that I have uttered since I have known what public life is, and of every act I have done, there has been a religious consciousness and a down right religious motive."

—GANDHIJEE

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

गाँधीजी का विचार था कि धर्म का संबंध जीवन के किसी एक भाग या अंश-विशेष से नहीं होता, वरन मनुष्य का सारा जीवन बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक धर्म से प्रेरित होना चाहिए। गाँधीजी जीवन को एक अविभाज्य इकाई समझते थे जिसकी विभिन्न क्रियाओं को एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं में धर्म को उन्होंने एक विशिष्ट स्थान दिया। धर्म से उनका आशय किसी विशेष मत या धर्म से नहीं था। हिंदू-धर्म, इस्लाम-धर्म या ईसाई-धर्म-जैसा उनका कोई विशेष धर्म नहीं था, वरन उनका धर्म सार्वभौमिक था जो समस्त विशेष धर्मों का अतिक्रमण करता हो। उनके धर्म को किसी पैगम्बर या अवतार द्वारा प्रतिपादित विश्वास में या **वेद, बाइबिल या कुरान** के उपदेशों में नहीं पाया जा सकता। धर्म तो एक जीवन-पद्धति है जिसे सत्य के निष्काम खोज और हृदय की पवित्रता में पाया जा सकता है। धर्म की सिद्धि केवल प्रेम और सत्य के द्वारा की जा सकती है।

गाँधीजी के धर्म का मुख्य आधार था ईश्वर में अटूट विश्वास। उनके शब्दों में, "मैं यह कह सकता हूँ कि मैं वायु और जल के बिना शायद रह सकता हूँ, लेकिन ईश्वर के बिना मैं नहीं रह सकता। तुम मेरी आँख निकाल सकते हो, लेकिन उससे भी मैं नहीं मर सकता। तुम मेरी नाक बंद कर सकते हो, इससे भी मैं नहीं मर सकता। परंतु, ईश्वर से मेरा विश्वास गया और मैं मरा।"[1] उन्होंने बताया कि ईश्वर एक सर्वव्यापक और रहस्यमयी शक्ति है। वह एक अदृश्य शक्ति है जिसे महसूस किया जा सकता है। वह मानव तथा विश्व में अंतर्निहित रहता है। उन्होंने सत्य और ईश्वर को एक-दूसरे का रूप माना। उनके अनुसार, "ईश्वर सत्य है और सत्य ही ईश्वर है।" ईश्वर अपरिवर्तनशील और नित्य है। गाँधीजी का धर्म नैतिकता का दूसरा नाम है। महात्मा गाँधी के लिए समस्त जीवन एक अविभाज्य इकाई है। इनकी विभिन्न क्रियाओं को अलग-अलग टुकड़ों में नहीं बाँटा जा सकता। समस्त मानव-क्रियाओं का नैतिक आधार धर्म है। गाँधीजी के अनुसार, "यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूँ तो इसका केवल यही कारण है कि राजनीति हम सबसे एक साँप की भाँति लिपटी हुई है, जिससे चाहे कोई कितनी ही चेष्टा करे, बाहर नहीं जा सकता। मैं उस सर्प से युद्ध करना चाहता हूँ।"[2] इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि गाँधीजी धर्म और राजनीति को एक-दूसरे से अलग नहीं समझते थे। उनके अनुसार, जो लोग यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई संबंध नहीं है, वे धर्म का सच्चा अर्थ नहीं जानते। अतएव, उन्होंने राजनीति को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयास किया।

महात्मा गाँधी के राजनीतिक विचार

सत्य और अहिंसा—महात्मा गाँधी व्यक्ति और समाज को नैतिक बनाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने अनेक सिद्धांतों का अन्वेषण किया जिनमें सत्य और अहिंसा प्रधान हैं। सत्य और अहिंसा एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों का एक अविभाज्य संबंध है। सत्य क्या है? इसके उत्तर में गाँधीजी ने कहा था, "यह एक कठिन प्रश्न है, पर स्वयं अपने लिए मैंने हल कर लिया है। तुम्हारी अंतरात्मा जो कहती है, वही सत्य है।" सत्य को ग्रहण करने के लिए अंतरात्मा शुद्ध होनी चाहिए, क्योंकि शुद्ध अंतरात्मा की वाणी ही सत्य हो सकती है। गाँधीजी के अनुसार, मानव स्वभावतः अहिंसाप्रिय है और वह हिंसावान सिर्फ परिस्थितिवश ही होता है। उनका मत था कि मानव-समाज का इतिहास उसकी आध्यात्मिकता के विकास का इतिहास है, क्योंकि उसके विकास का इतिहास यह बताता है कि वह निरंतर अहिंसा की ओर अग्रसर होता है। गाँधीजी के अनुसार अहिंसा का अर्थ केवल हत्या न करना ही नहीं है, वरन अहिंसा से उनका तात्पर्य अन्य किसी प्रकार से भी विरोधी को कष्ट न पहुँचाना है। वे अहिंसा के समर्थक थे और यह मानते थे कि अहिंसा पर आधारित मानव-समाज ही आदर्श समाज हो सकता है।

साध्य तथा साधन—गाँधीजी ने बताया कि साध्य और साधन अभिन्न हैं। साधन सदा साध्य के अनुरूप होना चाहिए। गाँधीजी ने बताया, "उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किसी तरह के साधन प्रयुक्त नहीं किए जा सकते। साधन एक बीज की तरह है और साध्य एक पेड़ है। साधन और साध्य में वही संबंध है, जो बीज और पेड़ में है।" अगर कोई व्यक्ति साधनों का ख्याल रखता है तो उद्देश्य स्वयं अपना ध्यान रखेगा। इसीलिए गाँधीजी ने कहा था कि साध्य का नैतिक होना ही पर्याप्त नहीं है, साधन को भी नैतिक होना

1. "I can also testify that I may live without air and water but not without Him, you may pluck out my eyes, but that will not kill me. You may chop off my nose, but that will not kill me. But blast my faith in God and I am dead."—GANDHIJEE

3. "If I take part in politics, it is only because politics today encircles us like coils of the snake which one cannot get out no matter how one tries, I wish to wrestle with the snake."—M. GANDHI

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

चाहिए। साधनों की नैतिकता निश्चित रूप से साध्य की नैतिकता को नष्ट कर देती है। एक व्यक्ति गलत रास्ते पर चलकर अपने सही उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता है। इसीलिए महात्मा गाँधी ने राजनीति में साधनों की नैतिकता पर विशेष जोर दिया और स्वराज्य की प्राप्ति के लिए हिंसा और असत्य का दामन नहीं पकड़ा और हमेशा सत्य और अहिंसा के नैतिक अस्त्रों का ही प्रयोग किया।

सत्याग्रह क्या है ?

महात्मा गाँधी ने सत्य और अहिंसा के सिद्धांत को मूर्त रूप देने के लिए राजनीतिक क्षेत्र में जिस कार्यपद्धति का प्रयोग किया है, वह सत्याग्रह है। व्यक्ति और समाज को नैतिक बनाने के दृष्टिकोण से महात्मा गाँधी ने सत्य, अहिंसा और उचित एवं न्यायपूर्ण साधन आदि का प्रयोग किया है। सत्याग्रह ने न केवल युद्ध की कला को प्रभावित किया है, वरन इसने आए दिन होनेवाली क्रांतियों को भी दिशा प्रदान की है। इसने मानवी विचारधारा और मानवी ज्ञान को भी प्रभावित किया है।

प्रारंभ—इसके नाम और मौलिक सिद्धांतों का विकास दक्षिणी अफ्रीका में किया गया। वहाँ की गोरी सरकार भारतीयों के प्रति अन्यायपूर्ण कानून पारित कर रही थी। उस अन्यायपूर्ण कानून से वहाँ बसे भारतीयों में तीव्र असंतोष और रोष था। उन्होंने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में उस अन्याय का अहिंसात्मक प्रतिरोध करने का दृढ़ संकल्प किया। प्रारंभ में इस आंदोलन को निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) का नाम दिया गया। लेकिन, महात्मा गाँधी ने इस शब्द को इसीलिए पसंद नहीं किया कि (1) यह अँगरेजी शब्द था और भारतीयों को इसका पूरा अर्थ समझ में नहीं आ रहा था और (2) इस शब्द में गाँधीजी द्वारा प्रतिपादित विचारों का पूरा समावेश नहीं था। एक अन्य कारण यह भी था कि महात्मा गाँधी को अँगरेजी के इस 'Passive Resistance' शब्द का प्रयोग करने में लज्जा और ग्लानि का आभास होता था। गाँधीजी को इसके लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिला। अतः, उन्होंने अपने पत्र *Indian Opinion* में यह घोषणा प्रकाशित की कि इसके लिए जो व्यक्ति अच्छा शब्द बनाएगा, उसे इनाम दिया जाएगा। श्री भजनलाल गाँधी ने 'सदाग्रह' शब्द बनाया जिसका अर्थ अच्छे काम में निष्ठा होता है। गाँधीजी को यह शब्द पसंद आया और उसमें संशोधन करके इसका नाम उन्होंने 'सत्याग्रह' रखा। सत्य के लिए प्रेम और अहिंसा ही सत्याग्रह का मूलमंत्र है।

सत्याग्रह का आधारभूत सिद्धांत सत्य की ही जीत होती है। सत्य पर चलनेवाला कभी झूठ नहीं बोलता तथा धोखे और चालों का प्रयोग भी नहीं करता। एक सत्याग्रही अपनी गतिविधियों को छिपाने का प्रयत्न नहीं करता और अपनी त्रुटियों को भी स्वीकार करने को हमेशा तैयार रहता है। सत्य का यह सिद्धांत जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू होता है। सत्य और अहिंसा ही सत्याग्रह के दो मूलभूत सिद्धांत हैं।

(i) सत्याग्रह एक नया विज्ञान है जो कर्मयोग तथा व्यावहारिक दर्शन पर जोर देता है। इसने केवल युद्ध की कला को ही प्रभावित नहीं किया है, बल्कि आए दिन होनेवाली क्रांतियों को भी दिशा प्रदान किया है।

(ii) सत्यांग्रह आध्यात्मिक तरीका है जिसमें अपने अत्याचारियों के विरुद्ध कोई द्वेष-भाव न रखते हुए अपनी अन्तरात्मा की आवाज का अनुसरण किया जाता है और किसी भी परिस्थिति में सत्य के प्रतिपादन से पीछे नहीं हटा जाता। महात्मा गाँधी का सत्याग्रह कहता है कि जिस मनुष्य के हाथ में शक्ति होती है, उसे भी प्रेम और असहयोग द्वारा शक्ति छोड़ने के लिए विवश किया जा सकता है। आत्मा के अस्तित्व और उसकी वास्तविकता में विश्वास करना ही सत्याग्रह के नैतिक शस्त्र हैं।

(iii) महात्मा गाँधी ने यह उद्घोषणा की है कि प्रेम और सत्य के बल पर तथा अहिंसा का अस्त्र धारण कर एक सत्याग्रही विरोधी को अपने पक्ष में कर लेता है। सत्याग्रह का उद्देश्य विरोधों का अंत करना है न कि विरोधियों का। उसके सामने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श रहता है। गाँधीजी का कहना है कि आंतरिक चरित्र के अभाव में सत्याग्रही अपने उद्देश्य और कार्य में सफलीभूत नहीं हो सकता।

(iv) सत्याग्रह स्वचालित है जिसका प्रयोग करने से पूर्वविरोधी की अनुमति की आवश्यकता नहीं होती। सत्याग्रही के संग्राम में मृत्यु मोक्ष होती है और कारागार स्वतंत्रता का द्वार।

नियम—सत्याग्रह के शस्त्र का प्रयोग बड़ी सावधानी और बुद्धिमत्ता के साथ उस समय करना चाहिए, जब शांतिपूर्ण रीति से अन्याय का प्रतिकार करने के अन्य साधनों का प्रयोग विफल हो चुका हो। अन्याय को दूर करने के पहले प्रार्थना करनी चाहिए। उन्हें तथा जनता को शांतिपूर्वक युक्तियों द्वारा अपने पक्ष का समर्थन करना चाहिए। इस विषय में आम जनता में अनुकूल मत जागरित करने का प्रयास करना चाहिए।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

इन उपायों के विफल होने पर तथा जनमत तैयार करने के बाद ही सत्याग्रह आरंभ करना चाहिए। सत्याग्रह आरंभ करने के पहले अपनी न्यूनतम माँग निश्चित कर लेनी चाहिए। इस माँग को पूरा करने का आग्रह करना चाहिए तथा घोर अत्याचार और दमन होने पर भी इस माँग को पूरा होने तक आंदोलन जारी रखना चाहिए। सत्याग्रह का काम विरोधी को हराना या नीचा दिखाना नहीं है, वरन उसका हृदय-परिवर्तन करके उसे अपने अनुकूल बनाना है। सत्याग्रही के स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहने से तथा अपनी बात पर दृढ़तापूर्वक डटे रहने से ही विरोधी का हृदय द्रवित होता है। उन्होंने पुनः कहा है—"सत्याग्रह में अपनी ही बलि देनी होती है।" सत्याग्रही अधिकारियों द्वारा किए गए दंडों को अंगीकार करता है, इनसे बचने के लिए भागने या छिपने का प्रयत्न नहीं करता। उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह अधिकारियों का विरोध सीमित मात्रा में करे, इसे अन्यायपूर्ण कानूनों के विरोध तक ही सीमित रखे, क्योंकि इसे व्यापक बनाने से समाज में अराजकता बढ़ने की संभावना है। गाँधीजी ने सत्याग्रही को निम्नलिखित नियम पालन करने की सलाह दी है—

1. वह गुस्से को कोई स्थान नहीं देगा।
2. वह विरोधियों के रोष को सहन करेगा।
3. बदले की भावना से वह विरोधियों पर हाथ नहीं उठाएगा।
4. वह पकड़ाने के प्रयास में गिरफ्तार हो जाएगा।
5. यदि सत्याग्रही किसी संपत्ति का ट्रस्टी है तो वह उसे सरकार के नियंत्रण में देने से इनकार करेगा।
6. सविनय कानून भंग करनेवाला विरोधियों का अपमान भी नहीं करेगा।
7. इस संघर्ष में यदि कोई किसी अधिकारी का अपमान करता है या उस पर हमला करता है तो सविनय आज्ञा भंगकारी अपने प्राणों को संकट में डालकर भी उस अधिकारी तथा उन अधिकारियों की इस अपमान से रक्षा करेगा।

सत्याग्रह की प्रविधियाँ (Techniques of Satyagrah)

गाँधीजी ने सत्याग्रह की निम्नलिखित विभिन्न प्रविधियों के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक पहलुओं पर प्रकाश डाला है—

1. असहयोग (Nonco-operation)—महात्मा गाँधी का कहना था कि अत्याचार और शोषण लोगों के सहयोग के चलते उत्पन्न होता है। अतः, यदि सभी लोग अन्यायपूर्ण तरीकों का असहयोग करें तो शीघ्र ही अन्याय की समाप्ति हो सकती है। असहयोग के अनेक तरीके हैं; जैसे—हड़ताल, सामाजिक बहिष्कार और धरना। हड़ताल के अंतर्गत विरोध के रूप में सत्याग्रही कार्य को बंद कर देते हैं। सामाजिक बहिष्कार समाज के कलंकी लोगों का बहिष्कार है, जो जनमत की अवेहलना करते हैं और सहयोग नहीं करते। धरना का अर्थ गाँधीजी के विचार में जन-निंदा द्वारा समाज के कलंकियों को लज्जित करना और सचेत करना है।

2. सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience)—गाँधीजी ने कहा कि सविनय अवज्ञा सबसे अधिक सशस्त्र क्रांति का रक्तहीन रूप है। इसका उद्देश्य अनैतिक नियमों को तोड़ना है। इसके अंतर्गत अधिकारी की आज्ञा की अवहेलना की जाती है, लेकिन इसके पीछे घृणा और शत्रुता की भावना नहीं रहनी चाहिए। इसका प्रयोग करते समय गुण पर सबसे पहले ख्याल रखना चाहिए और इसी से सत्याग्रह की भावना सफल हो सकती है।

3. हिजरत (Hizrat)—इसका अर्थ है—स्थायी निवास-स्थान से दूसरी जगह चला जाना। गाँधीजी ने इस तरह गृह-त्याग की सलाह उनलोगों को दी है जो अत्यंत दुःख अनुभव करते हैं और एक स्थान पर आत्मसम्मान के साथ नहीं रह सकते। गाँधीजी ने बारदोली, जूनागढ़ और बिट्ठलगढ़ के सत्याग्रहियों को गृह-त्याग की सलाह दी थी।

4. उपवास (Fasting)—महात्मा गाँधी के विचार में उपवास सत्याग्रह का अग्निबाण है। सार्वजनिक जीवन की शुद्धि के लिए उपवास एक आवश्यक शर्त है, लेकिन उपवास के लिए बहुत उच्चकोटि की पवित्रता, नम्रता और अटल विश्वास की आवश्यकता है।

5. हड़ताल (Strikes)—गाँधीजी ने कहा है कि हड़ताल अपने वैध कष्टों को दूर करने का श्रमिकों के अधिकार में एक शस्त्र है जो हड़ताल के माध्यम से समाज में परिवर्तन चाहते हैं। लेकिन, गाँधीजी का

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

आदर्श है कि सत्याग्रहियों की हड़ताल-भावना और व्यवहार पूर्णतः अहिंसात्मक होनी चाहिए। हड़ताल के माध्यम से सत्याग्रही अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है।

उपर्युक्त तत्त्वों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि महात्माजी ने सत्याग्रह की सफलता के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण साधनों को स्वीकार किया है। अहिंसा की प्रतिरोधक शक्ति में महात्माजी की बड़ी आस्था थी। भारत में अँगरेजों के विरुद्ध जब उन्होंने अहिंसा और सत्याग्रह-जैसे नवीन साधनों का प्रयोग किया तो अँगरेजी सिपाही चक्कर में पड़ गए और महात्मा गाँधी के सम्मुख उन्हें झुकना पड़ा। इस प्रकार, गाँधीजी ने अहिंसात्मक प्रतिरोध से अपने उद्देश्य की प्राप्ति पर जोर दिया है।

सत्याग्रह के विभिन्न रूप—महात्मा गाँधी ने भारत के राजनीतिक आंदोलनों में सत्याग्रह का निम्नलिखित तीन रूपों में प्रयोग किया है—

1. असहयोग (Nonco-operation),
2. सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience) और
3. व्यक्तिगत सत्याग्रह (Individual Satyagrah)।
4. व्यक्तिगत सत्याग्रह से पहले दक्षिणी अफ्रीका में उनके द्वारा चलाए गए आंदोलन को निष्क्रिय प्रतिरोध का नाम दिया गया है। महात्मा गाँधी ने इसे सत्याग्रह से भिन्न माना है।

1920 ई० में महात्मा गाँधी द्वारा चलाए गए आंदोलन को असहयोग का नाम दिया गया जिसके अंतर्गत भारतीयों द्वारा ब्रिटिश सरकार की नौकरियों, अदालतों, स्कूलों तथा कॉलेजों का बहिष्कार करना था। 1930-31 ई० में गाँधीजी का दूसरा आंदोलन सविनय अवज्ञा का था। जब ब्रिटिश सरकार ने काँगरेस के प्रस्ताव के अनुसार भारत को पूर्ण स्वराज्य देना स्वीकार नहीं किया तब महात्मा गाँधी ने ब्रिटिश सरकार के अन्यायपूर्ण कानूनों की अवहेलना करने के लिए सविनय-अवज्ञा आंदोलन चलाया। 1940-41 ई० में अँगरेजों द्वारा भारत को द्वितीय विश्वयुद्ध में घसीटने के बाद महात्मा गाँधी ने ब्रिटिश सरकार के विरोध में व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन प्रारंभ किया और स्वर्गीय **विनोबा भावे** को इसमें प्रथम सत्याग्रही बनाया गया।

सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध (Satyagrah and Passive Resistance)—इन दोनों का प्रयोग शत्रु के अत्याचारों का मुकाबला करने, संघर्ष सुलझाने और सामाजिक, राजनीतिक आंदोलन लाने के लिए किया जाता है। इन दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं होता, क्योंकि सत्याग्रह एक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जानेवाला शस्त्र है और निष्क्रिय प्रतिरोध उसका एक अंग है। सत्याग्रह यदि सत्य के लिए आग्रह है तो निष्क्रिय प्रतिरोध असत्य का विरोध करने के लिए प्रयुक्त होता है। फिर भी, महात्मा गाँधी ने दोनों में निम्नलिखित अंतर बताया है—

1. निष्क्रिय प्रतिरोध शीघ्र राजनीतिक परिवर्तन का शस्त्र है, जबकि सत्याग्रह नैतिकता का वह शस्त्र है जिसे आत्मशक्ति के बल पर संचालित किया जाता है।
2. निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बलों और शक्तिहीनों का शस्त्र है, जबकि सत्याग्रह बलवानों का, जो बिना हानि पहुँचाए स्वयं हानि सहन करने के लिए तैयार रहते हैं।
3. निष्क्रिय प्रतिरोध का उद्देश्य दुश्मन पर दबाव डालकर उसे अन्याय का प्रतिकार करने के लिए विवश करना है, किंतु सत्याग्रही प्रेम और अहिंसा की शक्ति से दुश्मन का प्रतिकार करना चाहता है।
4. निष्क्रिय प्रतिरोध में शत्रु के प्रति प्रेम का अभाव हो सकता है, जबकि सत्याग्रह में घृणा-जैसी भावना का भी नामोनिशान नहीं रहता।
5. निष्क्रिय प्रतिरोध में व्यक्ति की आंतरिक शुद्धि-जैसी कोई भावना नहीं होती है, लेकिन सत्याग्रह में आत्मशुद्धि के नैतिक प्रयत्न निहित हैं।
6. निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग सीमित क्षेत्र में किया जाता है जबकि सत्याग्रह का प्रयोग विश्वव्यापी होता है।

सत्याग्रह और युद्ध—सत्याग्रह का प्रयोग युद्ध के विकल्प के रूप में किया जा सकता है। सत्याग्रह और एक सामान्य युद्ध में जहाँ तक **समानता** का प्रश्न है, दोनों का उद्देश्य (1) शत्रु पर विजय प्राप्त करना, (2) सामूहिक तथा वैयक्तिक रूप में लड़ाई करना, (3) सेनापतियों के अनुशासन में रहते हुए तथा आज्ञापालन करते हुए संघर्ष जारी रखना तथा (4) प्राणों तक की आहूति देने के लिए तैयार रहना है। जहाँ तक दोनों में **असमानताओं** का प्रश्न है, (1) युद्ध में शत्रु-देश और विरोधी सैनिकों के शरीर पर

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

हमला किया जाता है। सत्याग्रह में इसके स्थान पर दुश्मन की बुराई पर हमला किया जाता है। युद्ध का उद्देश्य शत्रु के भौतिक शरीर पर विजय पाना है तो सत्याग्रह का उद्देश्य उसके दिल को जीतना है। (2) युद्ध में एकमात्र उद्देश्य दुश्मन पर विजय प्राप्त करना होता है, भले ही वह किसी भी साधन से प्राप्त की जाय। उसमें नैतिक और अनैतिक साधनों में अंतर नहीं किया जाता, क्योंकि कहावत है कि "All is fair in love and war". किंतु महात्मा गाँधी का कहना है कि साध्य और साधन दोनों की पवित्रता आवश्यक है।

मूल्यांकन—गाँधीजी के सत्याग्रह विषयक विचारों में पवित्रता तथा नैतिकता की भावना के बावजूद आलोचकों ने इसकी काफी आलोचनाएँ की हैं। उनका कहना है कि महात्मा गाँधी का सत्याग्रह भ्रामक सिद्धांतों पर आधारित है। सत्याग्रह में निहित उपवास, हड़ताल, असहयोग आदि की भावनाएँ समाज में संघर्ष उत्पन्न कर सकती हैं, क्योंकि एक भूखा व्यक्ति साधनों की पवित्रता का ख्याल नहीं कर सकता। अतः, गाँधीजी ने अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक क्रांति का आह्वान किया है। आलोचक भारत में गाँधीजी के सत्याग्रह के प्रयोग की विफलताओं की आलोचना करते हैं और कहते हैं कि गाँधीजी ने 1920 ई० में असहयोग-आंदोलन से एक ही वर्ष में स्वराज्य दिलाने का आश्वासन भारतीयों को दिया था, जो पूरा नहीं हुआ। ब्रिटिश सरकार ने 1920-22 ई० का असहयोग-आंदोलन, 1930-32 ई० के सविनय अवज्ञा आंदोलन तथा 1942 ई० के भारत छोड़ो आंदोलन को बुरी तरह दबा दिया। फिर भी, यह कहा जाता है कि सत्याग्रह-आंदोलन तथा अहिंसा ने भारतीय राजनीति को आदर्शवाद के उच्चतम धरातल पर बिठा दिया है।

निष्कर्ष—निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि सत्याग्रह एक आध्यात्मिक तरीका है जिसमें अपने अत्याचारियों के विरुद्ध कोई द्वेष-भाव न रखते हुए अपनी अंतरात्मा की आवाज का अनुसरण किया जाता है। सत्याग्रह के द्वारा प्रबलतम शक्तिशाली साम्राज्य का भी सामना किया जा सकता है। आनेवाला दिन सत्याग्रह की सार्थकता को समझेगा—ऐसी संभावनाएँ हैं।

राज्य के प्रति दृष्टिकोण

गाँधीजी के राज्य-संबंधी विचार मूलतः अराजकतावादी थे। उनका कहना था कि राजकीय शक्ति की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि मानव अपूर्ण है। यदि मानव-जीवन पूर्ण हो जाए कि वह स्वयं संचालित हो सके तो फिर राज्य और राजकीय शक्ति को समाज की कोई आवश्यकता न रहे। गाँधीजी का कहना है कि ऐसी स्थिति मानव की प्राकृतिक स्वतंत्रता की स्थिति होगी, क्योंकि ऐसी दशा में एक ऐसी विवेकपूर्ण अराजकता स्थापित हो सकेगी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के हित-साधन में बाधा न डालते हुए, स्वयं अपना शासक बन जाएगा। गाँधीजी के अनुसार वह समाज, जिसमें राज्य व राजनीतिक शक्ति का अभाव होगा और व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध सत्य व अहिंसा पर आधारित होंगे, आदर्श समाज होगा, क्योंकि ऐसी ही सामाजिक स्थिति में मानव वास्तविक रूप से स्वतंत्र होगा। यहाँ गाँधीजी का राज्य-संबंधी विचार **प्लेटो** के आदर्श राज्य से मिलता-जुलता है। गाँधीजी ने कहा है कि स्वतंत्रता और स्वराज्य का अर्थ है व्यक्ति की बाह्य, अर्थात सरकारी नियंत्रण से मुक्ति। उनका विचार था कि यदि व्यक्ति अधिकांश बातों के लिए राज्य और सरकार पर ही निर्भर रहा, तो वह वास्तविक स्वतंत्रता तथा स्वराज्य नहीं है। उन्होंने कहा कि आत्मनिर्भरता ही स्वतंत्रता का मूल है। इस प्रकार, गाँधीजी के अनुसार समाज की आदर्श दशा वही होगी, जिसमें व्यक्ति राज्य का दास नहीं होगा तथा जिसमें व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध सत्य तथा अहिंसा के आधार पर स्वयं संचालित होंगे।

महात्मा गाँधी सिर्फ विचार-जगत के व्यक्ति नहीं थे। उनका संबंध वास्तविक जगत का था। अतः, उन्होंने हमेशा आदर्श के साथ-साथ यथार्थ का भी ध्यान रखा। वे यह मानते थे कि वास्तविक मानव-जीवन में पूर्ण अराजकता की व्यवस्था स्थापित होना संभव नहीं है। अतः, व्यक्तिवादियों की तरह महात्मा गाँधी भी यह मानते थे कि एक आवश्यक बुराई के रूप में राज्य और सरकार का बना रहना आवश्यक है, लेकिन उसका कार्य-क्षेत्र न्यूनतम होना चाहिए, जिससे व्यक्ति को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त रहे और उसे स्वावलंबनपूर्ण जीवन बिताने का अवसर प्राप्त हो। गाँधीजी ने कहा था, "राज्य की शक्तियों की वृद्धि को मैं बड़ी आशंका से देखता हूँ। ऊपर से जान पड़ता है कि बढ़ती हुई राज्य की शक्ति शोषण को रोककर लोगों का भला कर रही है, लेकिन वास्तव में इससे मानव-जाति की बड़ी हानि होती है, क्योंकि व्यक्ति का व्यक्तित्व, जो सभी प्रकार की उन्नति का मूल है, नष्ट हो जाएगा।" व्यक्ति के जीवन का पूर्ण विकास हो सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का जीवन अधिक-से-अधिक राज्य के नियंत्रण से मुक्त हो।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

गाँधीजी के अनुसार अपने वर्तमान स्वरूप में राज्य केंद्रीकृत संगठित हिंसा का प्रतीक है। जितनी अधिक शक्ति उसके हाथ में होती है, वह व्यक्ति के स्वाभाविक विकास में उतना ही अधिक बाधक होता है। अतः, यदि व्यक्ति को अपने स्वाभाविक विकास का अवसर मिलता है और उसके लिए वे परिस्थितियाँ सुलभ होती हैं, जिनमें वह जीवन के चरम उद्देश्य की प्राप्ति कर सके, तो यह आवश्यक है कि सामाजिक व्यवस्था प्रधानतः सत्य और अहिंसा पर आधारित हो तथा राजकीय शक्ति का प्रयोग न्यूनतम हो।

महात्मा गाँधी के राज्य के स्वरूप की कल्पना उन सब कल्पनाओं से भिन्न है, जो किसी भी प्रकार व्यक्ति के नैतिक व्यक्तित्व व उसकी नैतिक शक्ति की तुलना में राज्य के व्यक्तित्व तथा उसकी शक्ति को अधिक महत्त्व देती है। वे न तो राज्य के स्वरूप-संबंधी इस आदर्शवादी कल्पना में विश्वास करते हैं कि राज्य मनुष्य की सामाजिकता तथा उसकी नैतिकता का सर्वोत्तम रूप है और वे न इस एकत्ववादी विचार के समर्थक हैं कि वह मनुष्य समाज की सर्वोच्च सत्ताधारी संस्था है। उनके अनुसार राज्य की स्थिति व्यक्ति के प्रभु की स्थिति नहीं है, वरन वह व्यक्ति के जीवन के चरम उद्देश्य की प्राप्ति का एक साधनमात्र है। इस प्रकार, चूँकि, राज्य व्यक्ति का प्रभु न होकर उसके हितों का साधन-मात्र है, इसलिए गाँधीजी के अनुसार राज्य में समाज की सब शक्तियों का केंद्रीकरण नहीं होना चाहिए, क्योंकि शक्ति का जितना अधिक केंद्रीकरण होता है, उतना ही उसका दुरुपयोग होता है। गाँधीजी की कल्पना के समाज में राज्य को स्वयं पर्याप्त स्वशासित ग्रामों की इकाइयों का संघ होना चाहिए और उसमें सत्ता का विकेन्द्रीकरण अधिक-से-अधिक होना चाहिए।

मूल्यांकन—गाँधीजी के राज्य-संबंधी विचारों को आदर्श में अराजकतावादी तथा व्यवहार में व्यक्तिवादी कहा जा सकता है। लेकिन, उनका व्यक्तिवाद वह पाश्चात्य व्यक्तिवाद नहीं है, जिसका परिणाम पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना होता है। राज्य के अहस्तक्षेप के आधार पर उनका ध्येय व्यक्तिगत स्वेच्छाचारिता का समर्थन करना नहीं है, वरन उनका मतलब है कि व्यक्ति स्वयं अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करे कि वे सामाजिक दोष उत्पन्न न होने पाएँ, जिनके लिए पाश्चात्य व्यक्तिवाद बदनाम है। गाँधीजी वह आर्थिक विषमता नहीं चाहते हैं, जो अहस्तक्षेप *(laissez faire)* की व्यक्तिवादी नीति के परिणामस्वरूप समाज में अनिवार्यतः उत्पन्न हो जाती है। इसके साथ ही, वे यह भी नहीं चाहते कि आर्थिक विषमता की समाप्ति बलपूर्वक की जाए। इस संबंध में गाँधीजी का विचार था कि सभी सामाजिक विषमताओं का निराकरण व्यक्तियों के विवेक तथा हृदय-परिवर्तन द्वारा किया जाए।

महात्मा गाँधी के मतानुसार राज्य का एकमात्र उद्देश्य सर्वोदय, अर्थात सभी का सर्वांगीण विकास है। राज्य किसी वर्गविशेष के हितों का साधन नहीं हो सकता। गाँधीजी की कल्पना के राज्य में ऐसा कोई वर्ग नहीं होगा जिसे जीवन की आवश्यक वस्तुएँ सुलभ न हो। इस संबंध में गाँधीजी ने लिखा है "मेरा स्वराज्य का स्वप्न गरीबों के स्वराज्य का है। उन्हें भी जीवन की आवश्यक वस्तुएँ उसी प्रकार प्राप्त होनी चाहिए, जैसे वे धनिकों तथा राजाओं को होती हैं। लेकिन, इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनको राजाओं-जैसे महल होने चाहिए। सुखी जीवन के लिए महल आवश्यक नहीं है। मैं या आप उसमें रास्ता ही भूल जाएँगे। लेकिन, जीवन की साधारण सुविधाएँ—धनिकों की तरह ही सबको सुलभ होनी चाहिए।..... जब तक ये सुविधाएँ सबको सुलभ नहीं होंगी, तब तक स्वराज्य पूर्ण स्वराज्य नहीं हो सकता।"

महात्मा गाँधी का कहना है कि राज्य का उद्देश्य सभी को जीवन की आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध बनाकर सर्वोदय का मार्ग प्रशस्त करना अवश्य था, लेकिन गाँधीजी का मत यह कदापि नहीं था कि जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के नाम पर सामाजिक जीवन में विलासित भर दी जाए। जिन लोगों के पास अधिक धन है, उनसे गाँधीजी का कहना था कि उनके पास जो कुछ है, वह उनकी व्यक्तिगत संपत्ति नहीं है, वरन वह समाज की धरोहर है। अतः, उस संपत्ति में से उन्हें अपने ऊपर उतना ही व्यय करना चाहिए जितना नितांत आवश्यक हो। ऐसा न करके अपने ऊपर आवश्यकता से अधिक व्यय करनेवाला, गाँधीजी के मतानुसार चोरी करता है, क्योंकि वह दूसरे के धन का प्रयोग करता है। गाँधीजी का विचार था कि इस प्रकार विश्व में जो कुछ उपलब्ध हो, उसका उपभोग सभी यदि त्यागपूर्वक करें और उसमें से सभी यदि आवश्यकतानुसार ही अपने प्रयोग के लिए लें, तो सर्वोदय का उद्देश्य सरलतापूर्वक प्राप्त हो सकता है। लेकिन, यदि कुछ धनिक लोग इस बात को न मानकर गाँधीजी द्वारा बताए गए अस्तेय (nonstealing) तथा अपरिग्रह (nonpossession) के मार्ग पर न चलें तो गाँधीजी के अनुसार, उन्हें ऐसा करने के लिए राजकीय शक्ति द्वारा बाध्य नहीं किया जाना चाहिए, वरन सत्याग्रह द्वारा उनका हृदय-परिवर्तन करके उनमें ऐसी भावना जगानी चाहिए कि वे स्वयं अस्तेय तथा अपरिग्रह के मार्ग पर चलने लगें।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि गाँधीजी का भावी आदर्श समाज का राजनीतिक स्वरूप अहिंसात्मक लोकतंत्र होगा। वह मार्क्सवादियों तथा अराजकतावादियों की तरह राज्यविहीन तथा वर्गविहीन होगा। उसमें सत्ता का विकेन्द्रीकरण होगा तथा ग्राम-स्वराज्य के मुख्य राजनीतिक सत्ता का आधार नैतिकता होगी, हिंसा नहीं। व्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण में अहिंसात्मक तथा नैतिक आधार पर समन्वय स्थापित किया जाएगा।

राष्ट्रवाद तथा अंतरराष्ट्रवाद—गाँधीजी एक सच्चे राष्ट्रवादी थे। उन्होंने आजीवन राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए आंदोलन किया। इसके लिए उन्होंने राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय पोशाक, राष्ट्रीय शिक्षा आदि के संबंध में देशवासियों का मार्गदर्शन किया। इसके साथ ही, वे अंतरराष्ट्रवादी भी थे। उन्होंने स्वीकार किया था कि "मेरी राष्ट्रीयता गहरी अंतरराष्ट्रीयता है।" इस प्रकार, महात्मा गाँधी ने सत्य तथा अहिंसा का संदेश देकर विश्ववाद का मार्ग आगे बढ़ाया। यद्यपि उन्होंने अंतरराष्ट्रीय संबंधों और कर्तव्यों के संबंध में पूर्ण सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया, फिर भी जैसाकि **रोम्या रोलाँ** ने कहा है कि युद्ध और विप्लवों से ग्रस्त सारा विश्व शांति के लिए गाँधीजी की ओर निहारता था।

गाँधीजी के सामाजिक विचार

महात्मा गाँधी एक महान समाज-सुधारक थे। उन्होंने भारतीय समाज के सर्वांगीण विकास के लिए अनेक कदम उठाए। अछूतोद्धार, नारियों का उत्थान, हिंदू-मुस्लिम एकता, मादक द्रव्य-निषेध, शिक्षा का प्रसार आदि उनके प्रमुख नारे थे। महात्मा गाँधी समाज के सभी पीड़ित वर्ग, दलित तथा अन्य संतप्त प्राणियों के लिए देवदूत के समान थे। वे अस्पृश्यता को हिंदू-जाति का सबसे बड़ा कलंक मानते थे। उन्होंने कहा है, "ईश्वर ने किसी को ऊँच-नीच के निशान के साथ पैदा नहीं किया है और कोई धार्मिक ग्रंथ जन्म से किसी मनुष्य की ऊँचाई का निर्णय करता हो, इसमें हम विश्वास नहीं कर सकते।"

हरिजनों के उद्धार के लिए गाँधीजी ने बड़ा आंदोलन चलाया। अछूतों को हिंदू समाज का अंग बनाए रखने के लिए उन्होंने आमरण अनशन भी किया था। हिंसू-मुस्लिम एकता के लिए ही उन्होंने अपने जीवन का बलिदान किया। औरतों की स्थिति सुधारने के लिए उन्होंने उनमें शिक्षा का प्रसार किया। वे स्त्री-पुरुष को समान अधिकार देना चाहते थे। महात्मा गाँधी बाल-विवाह के विरोधी और विधवा-विवाह के हिमायती थे। चूँकि वे एक आदर्श जीवन में विश्वास करते थे, इसलिए वे मादक-द्रव्यों के सेवन के विरोधी थे।

गाँधीजी के आर्थिक विचार

गाँधीजी के आर्थिक विचारों को बहुतों ने अप्रगतिशील माना है और कहा है कि गाँधीजी वैज्ञानिक तथा आर्थिक विकास के प्रवाह से भारत को अलग रखना चाहते थे, लेकिन बात ऐसी नहीं है। गाँधीजी मशीन-युग के विरोधी थे, मशीन के नहीं। उनका विश्वास था कि मशीन उसी समय तक अच्छी है जिस समय तक वह मनुष्य की सेवा करती है। जब मशीन मनुष्य को गुलाम बनाने का प्रयास करती है तब अच्छी नहीं रह जाती है। मशीन के प्रसार तथा उद्योगीकरण के प्रसार से समाज में भ्रष्टाचार और अनैतिकता का प्रसार होता है। अतः, गाँधीजी की मान्यता है कि मशीन के साथ-साथ शारीरिक विकास पर भी जोर दिया जाना चाहिए।

महात्मा गाँधी के आर्थिक विचारों की दूसरी विशेषता यह है कि वे ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था का पुनरुद्धार चाहते थे। वे कुटीर उद्योगों के विकास के हिमायती थे और उनका विकास कर वे भारतीयों को स्वावलंबी बनाना चाहते थे। उनका कहना था कि उत्पादन का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए तथा जहाँ तक संभव हो, उत्पादन मनुष्यों के हस्तकौशल तथा पशुओं के श्रम द्वारा संचालित कुटीर उद्योगों के माध्यम से होना चाहिए। वे चरखे द्वारा सूत की कताई तथा खद्दर की बुनाई को मुख्य कुटीर-उद्योग समझते थे, क्योंकि इसके द्वारा मनुष्य की वस्त्र-संबंधी आवश्यकता की पूर्ति होती है और इससे करोड़ों लोग जीविका कमा सकते हैं। इसके अलावा, आटे की पिसाई, चावल-कुटाई, गुड़-बनाई, मधु-मक्खियों का पालन, तेल पेरना, टोकरियाँ बनाना, खिलौने, मिट्टी के बरतन, ईंट बनाना आदि उद्योगों को वे प्रोत्साहित करना चाहते थे।

महात्मा गाँधी के आर्थिक विचारों में ट्रस्टीशिप (Trusteeship) का सिद्धांत प्रमुख स्थान रखता है। गाँधीजी का कहना था कि जमींदार और पूँजीपति कृषकों के **ट्रस्टी** के रूप में कार्य करते हैं। ट्रस्टियों के रूप में जमींदारों और पूँजीपतियों को अपनी योग्यताओं और अपनी पूँजी को अपने हित में प्रयोग नहीं करना

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

चाहिए, अपितु समाज की भलाई के लिए ट्रस्टी के रूप में प्रयोग करना चाहिए। उन्हें उपार्जित धन में से एक उचित आधार पर कुछ मिलना चाहिए और शेष अन्य लोगों में विभाजित कर देना चाहिए। इस प्रकार, गाँधीजी वर्ग-संघर्ष में विश्वास नहीं करते थे वरन वे विभिन्न वर्गों की सहकारिता तथा एकीकरण के हिमायती थे। महात्मा गाँधी के ट्रस्टीशिप-सिद्धांत का सारांश निम्नलिखित है—

1. यह समाज की वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में परिवर्तन करने का साधन प्रदान करता है और पूँजीवाद को कोई आश्रय नहीं देता।
2. ट्रस्टीशिप संपत्ति के संबंध में किसी भी निजी स्वामित्व को स्वीकार नहीं करता सिवाय इसके कि जहाँ तक इसको अपनी निजी कल्याण के लिए आज्ञा देता हो।
3. यह स्वामित्व के संबंध में विधि द्वारा नियंत्रित संचालन और संपत्ति के प्रयोग का निषेध नहीं करता।
4. राज्य-संचालित ट्रस्टीशिप में एक व्यक्ति अपनी संपत्ति को अपने स्वार्थ के संतोष के लिए अथवा समाज के हितों का ध्यान न करके प्रयोग करने या रखने को स्वतंत्र नहीं होगा।
5. न्यूनतम और अधिकतम आय का भेद उचित न्याय होना चाहिए और समय-समय पर बदलते रहना चाहिए जिससे इसका स्वभाव इस भेद को दूर करने की ओर हो जाए।
6. ट्रस्टीशिप-व्यवस्था में उत्पत्ति की मात्रा को समाज की आवश्यकताएँ निर्धारित करेंगी, व्यक्तिगत इच्छाएँ नहीं।

महात्मा गाँधी के विचारों के संबंध में जो कुछ ऊपर कहा गया है, उसमें उनका संपूर्ण दर्शन आ गया हो, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः उनका दर्शन जीवनव्यापी है और जीवन के सभी पहलुओं पर उन्होंने अपने विचार दिए हैं। उन्होंने सिर्फ राजनीतिक और आर्थिक विषयों पर ही अपना विचार नहीं दिया, वरन भोजन-विज्ञान, स्वास्थ्य-रक्षा, बुनियादी शिक्षा आदि अनेक विषयों पर भी बहुमूल्य विचार प्रदान किए हैं। गाँधीजी का दर्शन वस्तुतः ऐसे विचारों का एक विशाल पुँज है जिनमें हमें व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक, सामाजिक तथा राजनीतिक, राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय जीवन के सभी पक्षों का आदर्श प्राप्त हो सकते हैं।

गाँधीवाद की आलोचनाएँ

यह बात सही है कि महात्मा गाँधी की विचारधारा सैद्धांतिक दृष्टि से इतनी अधिक तर्कसंगत है कि उसकी आलोचना नहीं की जा सकती। यह आलोचना राजनीतिक सिद्धांतों के व्यावहारिक तत्त्वों पर ही अधिक निर्भर करती है। गाँधीवादी विचारधारा एक ऐसा आदर्श है, जिसकी तुलना प्लेटो के रिपब्लिक से की जा सकती है। लेकिन, जिस प्रकार 'रिपब्लिक' की स्थापना व्यावहारिक दृष्टि से नहीं की जा सकती, उसी प्रकार गाँधीवादी दर्शन के आधार पर समाज नहीं चल सकता। आज गाँधीवाद की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है—

1. मौलिकताविहीन दर्शन—आलोचक गाँधीवाद को एक अव्यावहारिक तथा मौलिकताविहीन दर्शन का नाम देते हैं। उनके अनुसार गाँधीवादी विचारधारा स्वयं कोई मौलिक विचारधारा नहीं है, वरन वह विभिन्न लेखकों, विद्वानों तथा दार्शनिकों के विचारों का संकलन है। इसके साथ ही प्लेटो की तरह यह विचारधारा व्यावहारिक भी नहीं है।

2. पूँजीवाद का समर्थक—आलोचक महात्मा गाँधी पर यह आरोप लगाते हैं कि वे पूँजीपतियों के प्रति सहानुभूति रखते थे, क्योंकि उन्होंने पूँजीवादियों तथा श्रमिकों के सहयोग की बात कही है।

3. साम्यवाद के पोषक—महात्मा गाँधी पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि वे साम्यवाद के भी पोषक थे, क्योंकि उन्होंने संपत्ति के समान विभाजन और समान वितरण के सिद्धांत में अपनी आस्था प्रकट की है। आलोचक कहते हैं कि गाँधीवाद यह भूल जाता है कि संपत्ति मानव-स्वभाव में निहित है और इसका उन्मूलन करना आसान नहीं है।

4. सत्याग्रह और अहिंसा एक मखौल—कुछ क्रांतिकारी आलोचक महात्मा गाँधी के अहिंसा और सत्याग्रह को हास्यास्पद समझते हैं। उनका दावा है कि अहिंसा और सत्याग्रह से हम कभी भी सफलता के सोपान पर नहीं पहुँच सकते हैं। आज के आणविक युग में जब बड़ी शक्तियों में चाँद और सितारों पर पहुँचने की होड़ लग रही है, सत्याग्रह और अहिंसा का सिद्धांत निरर्थक है। साथ-ही-साथ सत्याग्रह से समाज में अशांति फैलने की अधिक संभावनाएँ हैं। आज जगह-जगह पर जो प्रदर्शन और हड़तालें हो रही हैं, उनमें महात्माजी का दर्शन आग में घी का काम कर रहा है।

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

5. यह व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक अच्छा मानता है—आलोचकों ने यह सही कहा है कि गाँधीवाद व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक अच्छा मानकर चलता है। वह यह भूल जाता है कि व्यक्ति वस्तुतः दैवी तथा पाशविक दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का मिश्रण है।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद गाँधीवाद की अपनी सार्थकता है। यह आज भी न सिर्फ भारत का वरन विश्व की एक महान विचारधारा है। महात्माजी व्यक्ति से घृणा न कर व्यक्ति के दुर्गुणों से घृणा करते थे। अतएव, जो लोग उनपर पूँजीवादी और साम्यवादी होने का आरोप लगाते हैं, उनके दिमाग के दिवालिएपन का यह सूचक है। गाँधीवादी दर्शन की सबसे मुख्य विशेषता यह है कि वह साधन तथा साध्य की पवित्रता पर बल देता है। गाँधीजी के शब्दों में—"यदि साधन अपवित्र हैं, तो पवित्र-से-पवित्र साध्य को भी सिद्ध किया जा सकता है।" अतः, हम कह सकते हैं कि सिर्फ गाँधीवाद ही आज के मानव के दुःखों को दूर करनेवाला रामबाण औषधि है। आज सत्य, अहिंसा और प्रेम के द्वारा ही मानवता तृतीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से अपनी रक्षा कर सकती है।

प्रश्नावली

1. गाँधीवाद क्या है ? इस कथन की विवेचना कीजिए।
   (What is Gandhism ? Examine this statement.)
2. राज्य के कार्य-संबंधी गाँधीवादी सिद्धांत का मूल्यांकन कीजिए।
   (Evaluate Gandhian theory of State activity.)
3. गाँधीवाद की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
   (Describe the main features of Gandhism.)
4. सत्याग्रह और अहिंसा पर गाँधीजी के विचारों की विवेचना कीजिए।
   (Examine Gandhian thought on Satyagrah and Non-violence.)
5. गाँधीवाद के धार्मिक और सामाजिक विचारों को स्पष्ट कीजिए
   (Clarify the religious and social views of Gandhism.)

□ □ □

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

ग्रंथ-सूची

[BIBLIOGRAPHY]

Asirvadham, E. : *Political Theory*

Aristotle : *Politics*

Almond, Gabriel A. and Coleman, James S. (eds.) : *The Politics of Developing Areas* (Princeton, 1960)

Almond, Gabriel A. and Powell G. Bingham : *Comparative Politics: A Developmental Approach* (Boston, Little Brown, 1966)

Almond, Gabriel A. and Verba, Sidney : *The Civic Culture* (Princeton, 1963)

Apter, David E. : *The Politics of Modernization* (Chicago, 1965)

Aveneri, S. : *The Social and Political Thought of Karl Marx* (London, 1968)

Bhave, Vinoba : *Sarvodaya Ke Adhar*

Barker, Earnest : *Principles of Social and Political Theory* (Oxford, 1951)
: *Politics of Aristotle* (Oxford University Press, 1948)
: *Reflection on Government*

Ball, A. R. : *Modern Politics and Government* (London, 1971)

Bentley, Arthur : *The Process of Government*

Bell, Roderick, Edwards, David V. and Wagner, Harrison R. : *Political Power: A Reader in Theory and Research* (New York, 1969)

Beer, Sannel H. : 'Pressure Groups and Parties in Britain', *American Political Science Review,* vol I, No. 3, 1956

Binder, Leonard : *Religion and Politics in Pakistan* (Berkeley, 1965)

Bluhm, William, T. : *Theories of the Political System, Classics of Political Thought and Modern Political Analysis* (Prentice-Hall, 1965)

Brecht, Arnold : *Political Theory* (1959)

Bosanquet, B. : *The Philosophical Theory of State*

Bottomore, T. B. : *Elites and Society* (Penguin Books, 1964)

Blondel, Jean : *An Introduction to Comparative Government*

Burns, C. D. : *Democracy, Its Effects and Advantages*

Carter and Herz : *Government and Politics in the Twentieth Century*

Catlin, George E. Gordon : *Systematic Politics* (University of Toronto Press, 1962)
: *The Science and Methods of Politics*
: *A Study of the Principles of Politics*

Charlesworth, James C. (ed.) : *Contemporary Political Analysis,* (New York, 1967)

WWW.GRADESETTER.COM

charles, Andrian R. : *The American Politics Process*

Cohen, Morris R. and Nagel, Earnest : *An Introduction to Logic and Scientific Method* (New York, 1934)

Coal, G. D. H. : *World of Labour*

Cohen, Percy S. : *Modern Social Theory* (London, 1968)

Coleman, James S. : *Nigeria : Background to Nationalism* (Berkeley, 1959)
(ed.) : *Education and Political Development* (Princeton, 1965)

Cocker, F. W. : *Recent Political Thought*

Crick, Bernard : *The American Science of Politics, Its Origin and Conditions* (Berkeley and Los Angels University Press, 1959)

Dahl, Robert A. and Neubauer, Deane E. : *Readings in Modern Political Analysis* (New Jersey, 1968)
(eds.) : 'The Behavioural Approach', *American Political Review,* 55 (1961)
(eds.) : *Who Governs ? Democracy and Power in an American City* (New Haven, 1961)
(eds.) : *Modern Political Analysis* (New Delhi, 1965)

Dahl, Robert A. : *Epitaph for Monument to a Successful Prutest* (Guild and Palmer ed.)

De Jouvenel, Bertrand : *Sovereignty* (Cambridge University Press, 1957)

Deutsch, Karl W. : *The Nerves of Government* (New York, 1964)
: *Nationalism and Social Communication* (Cambridge, 1962)

Diwakar, R. R. : *Constitutional Assembly Debates,* VII, P. 291

Djilas, Milovan : *The New Class : An Analysis of the Communist System* (New York, 1957)

Dragnich, Alex N. and *Wahike, John C. (eds.)* : *Government and Politics : An Introduction to Political Science* (New York, 1966)

Dyke, Vernon Van : *Political Science : A Philosophical Analysis* (London, 1960)

Duverger : *The Idea of Politics* (London, 1969)

Easton, David : *The Political System* (New York, 1953)
: *A Framework for Political Analysis* (New York, 1960)
: (ed.) *Varieties of Political Theory* (Englewood, 1966)
: *The Current Meaning of Behaviouralism in Contemporary Political Analysis*

Ebenstein, William : *Modern Political Thought : The Great Issues* (New Delhi, 1970)

Eulau, H. : *Requisites of Political Analysis—Political Behaviour* (New York, 1956)

Eulau, Heinze, Eldersveld, Samuel J. and Morris, Janowitz : *Political Behaviour : A Reader in Theory and Research* (New York, 1956)

Joad, C. E. M. : *A Guide to Philosophy of Morals and Politics*
: *Modern Political Theory*

Feith, Herbert : *The Decline of Constitutional Democracy in Indonesia* (Ithaca, 1962)

Florinsky, Michael T. : *Government of Continental Europe*

WWW.GRADESETTER.COM

Friederich, Carl J. : *Man and His Government, An Empirical Study of Politics*
: *Constitutional Government and Democracy* (1966)

Fyodorov, B. : *Theory of Politics and Lenin's Legacy* (New York,1963)

Garner, J. W. : *Principles of Political Science*
: *Political Science and Government* (1932)

Gandhi, Mohandas Karamchand : *The Story of My Experiments With Truth* (Ahmedabad)

Gettell, Raymond G. : *History of American Political Thought* (New York, 1928)

Gould, James A. and Thursby, Vincent V. : *Contemporary Political Thought* (New York, 1969)

Gupta M. G. : *Modern Governments : Theory and Practice* (1967)

Grinker, Roy R. (ed) : *Toward a United Theory of Human Behaviour* (New York, 1956)

Gray, Alexander : *The Socialist Tradition*

Gilchrist, R. N. : *Principles of Political Science*

Green, T. H. : *Lectures on the Principles of Political Obligation*

Hacker, Andrew : *Political Theory : Philosophy, Ideology, Science* (MacMillan, 1969)

Hasio : *Political Pluralism*

Hass, Michael and Becker, Theodore, L. : *The Behavioural Revolution and After, An Approach to the Study of Political Science*

Hass, Michael and Kariel, Henry, S. (eds.) : *Approaches to the Study of Political Science* (Pennsylvania, 1970)

Hobbes, Thomas : *Leviathan* (Oxford : Bluckwell, 1946)

Holt, Robert T. and Turner, John E. (eds.) : *The Methodology of Comparative Research* (New York, 1970)

Huntington, Samuel P. : *Political Order in Changing Societies* (London, 1968)

Hyneman, C. S. : *The Study of politics : The Present State of American Political Science* (Urban, 1959)

Hymn, Herbert H. : *Political Socialization : A Study in the Psychology of Political Behaviour* (Glencee, 1959)

Hayes, Carlton J. H. : *Essays on Nationalism* (MacMillan, 1926)
International Encyclopaedia of Social Sciences, 1968

Johari, J. C. : *Comparative Politics*

Jones, Grace : *The Political Structure* (London, 1969)

Jones, Roy E. : *Functional Analysis of Politics* (London, 1967)

Jouvennel, Bertrand de : *The Pure Theory of Politics* (Cambridge, 1963)

Key Jr., V. O. : *Politics, Parties and Pressure Groups* (New York, 1958)

Kothari, Rajni : *Politics in India* (Orient Longmans Ltd. 1970)

La Palombara, Joseph,(ed): *Bureaucracy and Political Development* (Princeton, 1963)
: *Interest Groups in Italian Politics* (Princeton, 1964)
: *An Introduction to Politics*

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

Laski, H. J. : *A Grammar of Politics Communism*
: *Communism*
: *Liberty in the Modern State*

La Palombara, Joseph, Weiner, Myron : *Political Parties and Political Development* (Princeton, 1965)

Lasswell, Harold D. : *Psychopathology and Politics* (Chicago, 1930)
: *Politics; Who Gets What, When, How* (New York, 1936)
: *Power and Personality* (New York, 1948)
: *The Future of Politcal Science* (New York, 1963)

Lasswell, Harold D. and Kaplan, Abraham : *Power and Society, A Framework for Political Enquiry* (New Haven, 1950)

Leacock, S. : *Elements of Political Science*

Lerner, Daniel : *The Passing of Traditional Society : Modernizing the Middle East* (Glencoe, 1958)

Levy, Marion J. : *Structure of Society* (Princeton, 1952)

Lipson, L. : *The Great Issues of Politics* (Bombay, 1970)

Lipset, Seymour Martin : *Political Man, The Social Bases of Politics* (New York, 1960)

Lord, A. R. : *The Principles of Politics*

MacIver, R. M. : *The Web of Government* (New York, 1947)
: *The Modern State*

Mackenzie, W. J. M. : *Politics and Social Change* (Penguin Books, 1967)
: 'Pressure Groups: The Conceptual Framework', *Political Studies* (1955)

Macridis, Roy C. : *The Study of Comparative Government* (New York, 1955)

Marx, Karl and Engles, Friederich : *Selected Works* (Mascow, 1955)

Mayo, Henery B. : *An Introduction to Democratic Theory* (New York, 1960)

Meehan, Eugene J. : *The Theory and Method of Political Analysis* (Illinois, 1965)
: *Contemporary Political Thought : A Critical Study* (Illinois, 1967)

Merrian, Charles E. : *Political Power* (New York, 1934)
: *New Aspects of Politics* (Chicago, 1924)
: *Systematic Politics* (Chicago, 1945)

Merton, Roberton K. : *Social Theory and Social Structure* (New York, 1949)

Michels, Robert (Trans) Paul, Eden and Cedar : *Political Parties : A Sociological Study of the Oligarchical* (New York, 1915)

Miller, J. D. B. : *The Nature of Politics* (London, 1962)

Mills, C. Wright : *The Power Elite* (New York, 1957)

Mill, John Stuart : *On Liberty*
: *Utilitarianism Liberty and Representative Government* (New York, 1926)

WWW.GRADESETTER.COM

WWW.GRADESETTER.COM

Neumann, Sigmond : *Modern Political Parties*

Oakeshott, Michael : *Political Education* (Cambridge, 1952)

Oppenheim, Flix E. : *Dimensions of Liberty* (New York, 1961)

Organski, A. F. K. : *The Stages of Political Development* (New York, 1965)

Odegard, P. : Pressure Politics : The Story of the Antisaloon League (Columbia, 1928)

Parsons, Talcott : *The Social System* (Glencoe, 1951)

Palmer and Perkins : *International Relations* (Calcutta, 1970)

Pennock, J. Roland and Smith, David D. : *Political Science : An Introduction* (New York, 1964)

Plamenatz, John : *Ideology* (London, 1970)

Potter, A. : *Organized Groups in British National Politics* (London, 1961)

Polangi, Karl : *The Great Transformation* (New York, 1944)

Pool, Ithiel de Sola (ed) : *Contemporary Political Science : Towards Empirical Theory* (New York, 1967)

Price, J. H. : *Comparative Government* (Bombay, 1974)

Pye, Lucian W. & Verba, Sidney (ed.) : Political Culture and Political Development (Princeton, 1965)

Pye, Lucian W. : *Politics, Personality and Nation Building : Burma's Search for Identity* (New Haven, 1962)

: *Aspects of Political Development* (Boston)

(ed.) : *Communications and Political Development* (Princeton, 1965)

(ed.) : *Communications and Political Development* (Princeton, 1963)

Ranney, Austin : *The Governing of Men* (New York, 1966)

Ranney, Austin (ed.) : Essays on the Behavioural Study of Politics (University of Illinous Press, 1954)

Ranney, Austin and Kendall, Willmoor : *Democracy and American Party System* (New York, 1956)

Riggs, Fred W : *Thailand : The Modernization of Bureaucrat Polity* (Honolulu, 1966)

: *Administration in Developing Countries*

: *The Theory of Prismatic Society* (Boston, 1964)

Rocco, Alfredo : *The Political Doctrine of Fascism* (New York, 1926)

Roseman, Cyril, mayo, Charles G. and Collinge, F. B. : *Dimensions of Political Analysis, An Introduction of the Contemporary Study of Politics* (New Jersey, 1966)

Rowe, Eric : *Modern Politics, An Introduction to Behaviour and Institutions* (London, 1968)

Russell, Bertrand : *Freedom and Organisation*

Robinson, James A. and Majak R. Roger : *The Theory of Decision-making*

WWW.GRADESETTER.COM

Rousseau, J. J. : *The Social Contract*

Roy, Gandhijee : *Rajnitik Sidhanta* (Patna, 1988)

: *Comparative Government and Politics,* Hindi (Patna, 1988)

Soltaw, R. H. : *An Introduction to Politics* (1954)

Sabine, G. H. : *A History of Political Theory*

Sartori, Giovanni : *Democratic Theory* (Calcutta, 1965)

Sidgwick, H. : *Elements of Politics*

Shils, Edward : *Political Development in New States* (London, 1962)

Seeley, J. R : *Introduction to political Science*

Simon, Herbert A. : *Administrative Behaviour* (New York, 1957)

Sitaramayya, B. P. : *Gandhi and Gandhism*

Sorauf, Francis J. : *Political Science, An Informal Overview* (Columbus, 1965)

Spiro, Herbert J. : *Government by Constitution : The Political System of Democracy* (New York, 1959)

Storing, Herbert J. (ed.) : *Essays on the Scientific Politics* (New York, 1961)

Strauss, Leo : *Natural Rights and History* (Chicago, 1953)

: *What is Political Philosophy ? and Other Studies* (New York, 1959)

Thorson, Thomas Longdam : *The Logic of Democracy* (New York, 1962)

Truman, David B. : *The Governmental Process* (New York, 1951)

Verma, V. P. : *Rajniti Aur Darshan* (Patna, 1956)

Verma, Shyam Lall : *Contemporary Political Theory* (Delhi, 1974)

Walllas, Graham : *Human Nature in Politics* (New York, 1921)

Wasby, Stephen L. : *Political Science, The Discipline and Its Dimension* (Calcutta, 1970)

Wooton : *Interest Groups* (Euglewood, 1970)

Wilson, W. : *The State*

Ward, Robert E. and Rustow Dankwart A. : *Political Modernization in Japan and Turky* (Princeton, 1964)

Watkins, Frederick M. : *The Age of Ideology* (1964)

Wayper, C. L. : *Political Thought*

Weber, Max : *From Max Weber : Essays in Sociology* (1946)

Weiner, Myron : *The Politics of Scarcity : Public Pressures and Political Response in India* (Chicago, 1962)

Weldon, T. D. : *The Vacubulary of Politics* (England, 1953)

White, L. D. : *The State of the Social Sciences* (Chicago, 1956)

Wiseman, H. V. : *Political Systems : Some Sociological Approaches*

Young, Roland (ed.) : *Approaches to the Study of Politics* (Evaston, 1958)

Zeigler, H. : *Interest Groups in American Society*

□ □ □